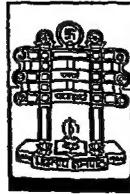
भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : संस्कृत ग्रन्थांक–३८

महाकवि-हरिचन्द्र-विरचित

धर्मशर्माभ्युदय

सम्पादन-अनुवाद

पं. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

वीर नि० संवत् २४९७ . वि० संवत् २०२८, सन् १९७१

प्रथम संस्करण . मूल्य तीस रुपये

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें तत्सुपुत्र साहू शान्तिप्रसादजी द्वारा

संस्थापित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओंमें उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन-साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन भण्डारोंकी सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो रहे हैं।

•

ग्रन्थमाला सम्पादक

डॉ. हीरालाल जैन, एम. ए., डी. लिट्.

डॉ. आ. ने. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

•

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रधान कार्यालय : बी/४५-४७, कनॉट प्लेस, नयी दिल्ली

प्रकाशन कार्यालय : दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी

•

स्थापना : फाल्गुन कृष्ण ९, वीर नि० २४७०, विक्रम सं० २०००, १८ फरवरी १९४४

सर्वाधिकार सुरक्षित



स्व० मूर्तिदेवी, मातेश्वरी श्री शान्तिप्रसाद जैन

प्रधान सम्पादकीय

साहित्य-शास्त्र विषयक काव्य-प्रकाश नामक ग्रन्थमें काव्यके उद्देश्य वतलाते हुए मम्मटाचार्यने कहा है—

काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्य परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥

अर्थात् काव्य-रचनाके हेतु हैं, यश व धन प्राप्त करना, लोक-व्यवहारका ज्ञान प्राप्त करना व कराना, अमंगलको दूर कर कल्याणकी स्थापना करना, शीघ्र परमसुखकी अनुभूति प्राप्त करना और लोगोको धर्म व नीतिका उपदेश कान्ताके समान मधुर वचनोमें देना । काव्यके इन हेतुओमे से धनार्जन करनेकी भावनाको छोड शेष सभी गुण प्रस्तुत महाकाव्यमें पाये जाते है । यहाँ पन्द्रहवें तीर्थंकर भगवान् धर्मनाथका चरित्र वर्णित है । प्राचीन महापुरुषोके जीवनकी रूपरेखा तो परम्परागत पुराणो द्वारा सुनिश्चित है, किन्तु उसके पल्लवित करनेमें कविको अपनी प्रतिभानुसार कितना अवकाश है, यह प्रस्तुत महाकाव्यके अवलोकनसे भली प्रकार समझा जा सकता है । कविने यद्यपि यह नही वतलाया कि उन्होने इस चरित्रकी कथावस्तु कहाँसे ली है । तथापि यह निश्चित है कि उनके सम्मुख गुणभद्र-आचार्य द्वारा रचित सस्कृत उत्तरपुराणका ६१वाँ पर्व उपस्थित था, और सम्भवत पुष्पदन्त कृत अपभ्रश महापुराणकी ५९वी सन्धि भी उपस्थित रही होगी । इनमें धर्मनाथ तीर्थंकरका चरित्र वर्णित है । इन पूर्व पुराणोमें वर्णित चरित्रकी जब हम प्रस्तुत महाकाव्यसे तुलना करते है तब हमें पता चलता है कि इस रचनामें कविकी मौलिकता और प्रतिभा कितनी विशाल रही है । उत्तर-पुराणमे एक श्लोकमे मगलाचरण करके दूसरे पद्यमें धातकीखण्ड, पूर्वविदेह, वत्सदेश व सुसीमनगरका उल्लेख मात्र कर दिया गया है । तथा तीसरे व चौथेमें राजा दशरथ और उनके राज्यका । अगले दो श्लोकोमें ही उनके चन्द्रग्रहणको देखकर वैराग्यकी बात समाप्त हो गयी है और फिर अगले एक श्लोकमें ही उनके अपने पुत्र महारथको राज्य देकर दीक्षा ग्रहणकी बात भी कह दी गयी है। आगे एक ही श्लोकमें ही उनके ग्यारह अगोके अध्ययन व सोलह कारण भावनाओ द्वारा तीर्थंकर गोत्रबन्ध व समाधिमरण-की बात आ गयी है और अगले ३ श्लोकोमें उनके सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र पदका वृत्तान्त आ गया है । वहाँ अपनी आयु पूर्ण कर मनुष्य-लोक, जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्रके रतनपुर नगरमें कुरुवशी काश्यपगोत्री राजा भानुकी रानी सुप्रभा द्वारा स्वप्न-दर्शन और फिर धर्मनाथका गर्भावतरण वृत्तान्त मात्र छह श्लोकोमे पूरा हो गया है । तत्पश्चात् उनके जन्म-कल्याणक, कुमारकाल व राज्यकालका वर्णन १२ पद्योमें पूर्ण किया गया है । और अगले ७ पद्योमें उल्कापात देखकर उनके वैराग्यका । वे अपने पुत्र सुधर्मको राज्य देकर मुनि हो गये तथा मन पर्यय ज्ञानकी प्राप्तिके पश्चात् उन्होने पाटलिपुत्रमें धनसेन राजाके यहाँ आहार ग्रहण किया, इसका विवरण अगले ५ श्लोकोमें समाप्त हो गया है । और फिर अगले ८ श्लोकोमें उनके केवलज्ञानकी प्राप्ति तथा अरिष्टसेन आदि गणधरों, सुव्रतादि आर्यिकाओ व श्रावक-श्राविकाओ सहित चतुर्विध सघका वृत्तान्त ८ श्लोकोमें आ गया है । तत्पश्चात् मात्र एक श्लोकमें उनके धर्मोपदेशका उल्लेख कर एव ३ श्लोकोंमें शुक्ल-ध्यान तथा मोक्षकल्याणकका निर्देश कर अन्तिम २ श्लोकोमें उनके दोनों जन्मोके जीवनचरित्रका उपसहार कर दिया गया है । इस प्रकार गुणभद्राचार्यने केवल ५५ श्लोकोमें धर्मनाथ तीर्थंकरके पूर्व-जन्म, स्वर्गवास और तीर्थंकर-अवतारका विवरण समाप्त कर दिया है । इसी प्रकार यही सब वृत्तान्त, कुछ अधिक सरसताके साथ, नाना छन्दोमें महाकवि पुष्पदन्तने अपने अपभ्रश महापुराणकी ५९वी सन्धिके प्रथम ७ कडवकोके

अन्तर्गत मात्र १४१ पंक्तियोमे पूरा वर्णित कर डाला है। बात इतनी ही है। परन्तु इसका विस्तार आप प्रस्तुत महाकाव्यमे देखकर चकित हुए बिना नही रहेगे। जितनी बात सुसीमनगरके उल्लेखतक उत्तर-पुराणके २ श्लोकोमें आ गयी है वही यहाँ सुललित, मनोहर, अलकारयुक्त शैलीमें विस्तारसे प्रथम सर्गके ८६ श्लोकोमे कही गयी है। फिर राजा दशरथ व उनकी रानी तथा उनकी पुत्र-प्राप्तिकी अभिलाषाके वर्णनमें इस महाकाव्यके द्वितीय सर्गमे ७९ श्लोक रचे गये हैं। इसी प्रकार तीसरे सर्गके ७० श्लोकोमें उनके मुनि-दर्शनका तथा चतुर्थ सर्गके ९३ श्लोकोमें धर्मनाथके पूर्वभवका शेष वर्णन समाप्त हुआ है। फिर पांचवें सर्गके ९० श्लोकोमें उनके गर्भकल्याणकका, छठे सर्गके ५३ श्लोकोमें उनके जन्मकल्याणकके हेतु देवोके आगमन-का वर्णन है। सप्तम सर्गके ६८ श्लोकोमें पाडुकवनका व आठवें सर्गके ५७ पद्योमें जन्माभिषेकका वर्णन है। बाल्यकाल व कुमारकाल तथा विदर्भ राजकुमारीके स्वयवरार्थ विन्ध्य पर्वततक पहुँचनेका वर्णन नवें सर्गके ८० पद्योमें होकर दसवें सर्गके ५७ पद्योमें गिरिका, ग्यारहवेके ७२ पद्योमें ऋतुका व बारहवें सर्गके ६३ पद्योमें उद्यानक्रीडा व पुष्पचयनादिका वर्णन है। तेरहवें सर्गके ७१ पद्योका विषय राजाका जलविहार है। चौदहवे सर्गके ८४ श्लोकोमे सन्ध्या वर्णन, पन्द्रहवेंके ७० पद्योमें किन्नरोकी रतिक्रीडा तथा सोलहवें सर्गके ८८ श्लोकोमें विदर्भकी नगरीमे पहुँचकर प्रभात-वर्णन किया गया है। सत्रहवें सर्गके ११० श्लोकोमें स्वयवरका वर्णन है। अठारहवें सर्गके ६७ श्लोकोमें उनके राज्याभिषेकका वर्णन हुआ है और उन्नीसवे सर्ग-के १०४ श्लोकोमें युद्ध और पराक्रमका। तत्पश्चात् बीसवें सर्गके-१०१ श्लोकोमे उनके उल्कापात-दर्शन, वैराग्य, दीक्षा, तप और केवलज्ञान प्राप्तिका वर्णन आया है और अन्तिम इक्कीसवें सर्गके १८५ श्लोकोमें भगवान्की दिव्यध्वनि द्वारा जैन सिद्धान्तका निरूपण, उनके सघकी सख्या तथा मोक्षगमन होकर ग्रन्थका वर्णन पूरा हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस चरित्रको उत्तरपुराणमें ५५ श्लोकोके अन्तर्गत तथा अपभ्रश महापुराणमें ७ कडवकोकी १४१ पंक्तियोमें पूरा किया गया है उसे यहाँ इक्कीस सर्गोके अन्तर्गत १७५५ श्लोकोमें विस्तृत कर वर्णित किया गया है।

यह विस्तार किस आधारसे हुआ और उसमें कविका क्या हेतु रहा? इसके दो आधार हमें स्पष्ट दिखाई देते है। सस्कृत एव अपभ्रश महापुराणोमें सबसे अधिक विस्तारसे वर्णन आदिनाथ ऋषभदेवके जीवन-चरित्रका दिया गया है जिसमें सस्कृत आदिपुराणके बडे-बड़े सैतालीस (४७) पर्व एव अपभ्रश महापुराण की सैतीस (३७) सन्धियां पूर्ण हुई है। इनमें प्राय वह सब वर्णन-वैचित्र्य पाया जाता है जो हमें प्रस्तुत काव्य में दिखाई देता है। किन्तु इनके अतिरिक्त यहाँ कविने अनेक प्रसगो, घटनाओ, कल्पनाओ, उक्तियो व रसभाव वर्णनमें एव उन्नीसवें सर्गके चित्रात्मक काव्यरचनामे जैनेतर महाकवि कालिदास, भारवि व माघादि-की रचनाओका भी उपयोग किया है, यह भी हमें स्पष्ट दिखाई देता है। कविको महाकाव्यके उन गुणोका स्मरण है जिनका साहित्यशास्त्रकार दण्डीने उल्लेख किया है। महाकाव्यमें नायकके चरित्रके प्रसंगानुसार नगर, उपवन, पर्वत एव ऋतुओ, चन्द्रोदय, रतिविलासादि प्रकृतिकी विचित्रताओ एव जीवनकी अनुभूतियोके वर्णनका समावेश आवश्यक है। तदनुसार कविने अपनी प्रस्तुत रचनाको सभी दृष्टियोसे एक परिपुष्ट व सर्वांगसम्पन्न महाकाव्य बनानेका प्रयत्न किया है। उन्होने अपने पूर्ववर्ती महाकवियोकी रचनाओसे प्रेरणा अवश्य ग्रहण की है। परन्तु जिसे काव्यकी चोरी कहा जा सके, ऐसा कार्य उन्होने नही किया। सभी सन्दर्भोमें उनकी मौलिकता अभिव्याप्त है। शब्द और अर्थकी गरिमा वैदर्भी-गौडी शैलियोका यथोचित निर्वाह, रसो एव भावोका समावेश एव तदनुकूल अलकारो और छन्दोका उपयोग प्रस्तुत महाकविकी अपनी विशेषता है। इस रचनाके द्वारा महाकविने धर्मनाथ तीर्थंकरके चरित्रको भी गौरवशाली साहित्यिक रीतिसे प्रस्तुत किया है, और साथ ही साथ अपने उच्चस्तरीय कवित्व-शक्तिका भी भलीभाँति परिचय दिया है। उनकी काव्य-प्रौढताका अन्य उदाहरण वह जीवन्धरचम्पू भी है जो इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो चुका है।

काव्यके अन्तमें ग्रन्थकर्ताकी प्रशस्ति पायी जाती है। उसके अनुसार कवि नोमक वशीय व कायस्थ जातिके थे, तथा उनके पिताका नाम आर्द्रदेव, माताका रथ्यादेवी या राधादेवी तथा छोटे भाईका नाम

लक्ष्मण था। लक्ष्मणने घर-गृहस्थीका सब काम सँभाल लिया था। इसी कारण उनके बड़े भ्राता हरिचन्द्र निश्चिन्त होकर अपने जीवनको काव्य-साधनामें लगा सके। नोमकवशका अर्थ सम्भवत वही कुलनाम है जो आज भी कायस्थोमें निगमके रूपमें प्रयुक्त किया जाता है। यह प्रशस्ति प्रस्तुत काव्यकी सभी उपलब्ध प्रतियोमें नही पायी जाती। इसका सम्भवत. एक कारण यह भी हो सकता है कि उसका कायस्थ नामाकित होना उन लिपिकारोको अच्छा नही लगा और इस कारण उन्होने प्रशस्ति-को जानबूझकर छोड दिया हो ? किन्तु यही प्रशस्ति इस दृष्टिसे बडी महत्त्वपूर्ण है कि उसके द्वारा सिद्ध होता है कि जैनधर्म किसी एक जाति कुल वश या जनसमुदायमें सीमित नही था। सभी वर्गो व जातियोके प्रबुद्ध लोग उसे स्वीकार करते थे, और उससे अपने को सम्बद्ध बतलाने में गौरवका अनुभव करते थे। निश्चित रीतिसे महाकवि हरिचन्द्रका रचनाकाल ज्ञात नही है। किन्तु विद्वान् सम्पादकने जो इसे यशस्तिलकचम्पूके रचनाकाल विक्रम स० १०१६ के पश्चात् तथा इस ग्रन्थकी एक प्राचीन प्रतिमे उल्लिखित स० १२८७ के मध्यवर्ती कालको रचना अनुमानित की है, वह ठीक प्रतीत होता है।

इस काव्यका प्रथम विवरण पोटर्सनने अपनी एक सस्कृत ग्रन्थोकी खोज सम्बन्धी रिपोर्टमे दिया था और फिर बम्बईकी काव्यमाला सीरीजके अष्टम ग्रन्थके रूपमें इसका प्रथम बार प्रकाशन सन् १८८८ मे हुआ था। उसी सस्करणकी और भी दो-तीन आवृत्तियाँ हो चुकी। फिर इधर अनेक वर्षोसे यह ग्रन्थ दुर्लभ था। बडे सौभाग्यकी बात है कि इस पूर्व प्रकाशित सस्करणके अतिरिक्त सात अन्य प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोके आधारसे प० पन्नालालजी साहित्याचार्यने प्रस्तुत सम्पादन किया है, उन विविध प्रतियोके पाठान्तर भी अकित किये हैं तथा समस्त ग्रन्थका सुपाठ्य हिन्दी अनुवाद भी उपस्थित किया है। इसके अतिरिक्त उन्होने एक प्राचीन सस्कृत टीकाको भी शुद्ध कर एव उसके खण्डित अशोकी सुचारुरूपसे पूर्ति कर इस सस्करणमें समाविष्ट कर दिया है। उन्होने समस्त ग्रन्थके श्लोकोकी वर्णानुक्रमणी, उसके सुभाषितोका सकलन तथा पारिभाषिक, व्यक्तिवाचक, भौगोलिक एव विशिष्ट साहित्यिक शब्दोकी वर्णानुक्रमणियाँ तैयार कर उन्हें ग्रन्थके परिशिष्टोके रूपमें जोड दिया है। अपनी प्रस्तावनामें .उन्होने अपनी आधारभूत प्रतियोका परिचय ग्रन्थके विषयोका सर्गानुसार साराश, ग्रन्थकर्ताका उपलभ्य परिचय, काव्यकी साहित्यिक विशेषताओ एव सस्कृत टीकाके विषयमें सारगर्भित विवरण भी दे दिया है। इस सब सामग्रीके द्वारा ग्रन्थ सर्वांगपूर्ण तथा पाठको एवं विद्वानोको बहुत उपयोगी बन गया है। पण्डितजीकी सस्कृत भाषा एव साहित्यमें प्रगाढ विद्वत्ता तथा उनके हिन्दी अनुवादोके सौष्ठवसे इस ग्रन्थमालाके पाठक भलीभाँति परिचित है, क्योकि इससे पूर्व अनेक पुराण और काव्य उनके द्वारा सम्पादित व अनूदित होकर इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो चुके है। उनकी इस देनके लिए ग्रन्थमालाके प्रधान सम्पादक उनके बहुत अनुग्रहीत है तथा उनसे उन्हे भविष्यमें भी बडी आशाएँ है।

ये जो प्राचीन साहित्यकी महत्त्वपूर्ण निधियाँ आज ऐसे सुन्दररूपमें सम्पादित और प्रकाशित हो रही हैं, इसका भारी श्रेय भारतीय ज्ञानपीठके सस्थापक श्री शान्तिप्रसादजी तथा श्रीमती रमाजीको है जो इस साहित्योद्धारके कार्यमें अपनी पूर्ण उदारता और अभिरुचि दिखलाते है। और उनकी इच्छाको उतनी ही अभिरुचिके साथ कार्यान्वित करनेका श्रेय सस्थाके मन्त्री श्री लक्ष्मीचन्द्र जैनको है। जिनके हम बहुत आभारी है।

हीरालाल जैन
आ. ने. उपाध्ये
प्रधान सम्पादक

प्रस्तावना

सम्पादन सामग्री

धर्मशर्माभ्युदयका सम्पादन निम्नाकिन ९ प्रतियोंके आधारपर हुआ है—

१ क—यह प्रति श्री ऐलक पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वतीभवन बम्बईको है। श्री प० कुन्दनलालजी और सेठ निरजनलालजी कालाके सौजन्यसे प्राप्त हुई है। श्री मण्डलाचार्य ललितकीर्तिके शिष्य श्री प० यशस्कीर्तिके द्वारा रचित सस्कृत टीकासे युक्त है। इसमे १९६½ पत्र है। प्रतिपत्रमें १२ पक्तियाँ है और प्रतिपक्तिमें ५५-६० अक्षर है। पत्रोंकी साईज ११×५ इच है। लेखन काल १६५२ सवत् है। इसमें ग्रन्थकर्ताकी प्रशस्ति नही है। अन्तमें पुस्तक लिखानेवालेकी लम्बी प्रशस्ति है। यह पुस्तक लिखाकर आचार्य लक्ष्मीचन्द्रको प्रदान की गयी है। अन्तिम लेख इस प्रकार है—

'शुभमस्तु, श्रीरस्तु, कल्याणमस्तु, श्रीस्वस्ति श्री सम्वत् १६५२ वर्षे भाद्रपदमासे शुक्लपक्षे चतुर्थ्यां तिथौ गुरुवासरे अम्बावतीवास्तव्ये राजाधिराज महाराज श्रीमान् सिंहजी राजे श्रीनेमिनाथचैत्यालये श्री-मूलसघे नन्द्याम्नाये बलात्कारगणे, सरस्वतीगच्छे, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री पद्मनन्दि देवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री शुभचन्द्रदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री प्रभाचन्द्रदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्रीचन्द्रकीर्तिस्तदाम्नाये खण्डेल-वालान्वये गोधागोत्रे सा० पचाइण, भार्या पुहुसिरि तत्पुत्रौ द्वौ प्रथम सा० नूना द्वितीय सा० पूना। नूनाभार्या नूनसिरि, तत्पुत्राश्चत्वार प्रथम सा० वीरदास, भार्या लीहुकन, द्वितीय सा० जिनदास, भार्ये द्वे प्रथमा स्वरूपदे द्वितीया लहुडी, तत्पुत्र चिरजी सगा, तृतीयपुत्र सा० विमल, भार्या बहुरङ्गदे, तत्पुत्रास्त्रय प्रथम सा० जीवा, भार्ये द्वे प्रथमा जीवलदे, तत्पुत्र सा० दुर्गा, भार्या दुर्गादे, द्वितीया भार्या प्रतापदे, द्वि० पु० सा० डीडा, भार्यास्तिस्र प्र० दाडिमदे, तत्पुत्र सा० रायमल, भार्या रायवदे, द्वि० भार्या सुहागदे, तत्पुत्र चि० साहिमल, तृतीय भार्या सिंगारदे, तत्पुत्र सा० विमला, तृतीयपुत्र सा० केशव, भार्या कसमीरदे, तत्पुत्र चिरजीव दामोदर भार्या जूना, चतुर्थपुत्र सा० चौहथ भार्ये द्वे, प्र० भार्या चादणदे, तत्पुत्र सा० कौजू, भार्या कौतिगदे तत्पुत्रौ द्वौ प्र० पु० चिरजीव नरहरदास, द्वि० चि० देवसी, द्वितीयभार्या लहुडी, तत्पुत्र चि० सलहरी सा० पचाइण, द्वितीय पुत्र सा० पूना भार्या पुनसिरि, तत्पुत्रौ द्वौ प्र० सा० मल्लिदास द्वि० सा० कचरू, मल्लिदास भार्ये द्वे, प्रथमभार्या मलिसिरि तत्पुत्र सा० जाटू, भार्या लाहुमदे, तत्पुत्र चि० नारायणदास, द्वितीयभार्या महिमादे, तत्पुत्रास्त्रय. प्रथम सा० नेतसी, भार्ये द्वे, प्र० नेतलदे द्वितीयभार्या लहुडी सा० महिमादे, द्वि० तत्पुत्र जिणदत्त भार्या जौणादे, तृ० पु० तेजपाल सा० पूना द्वि० पु० सा कचरू, भार्ये द्वे प्रथम भार्या कौतिगदे द्वितीयभार्या कोडमदे, एतेषा मध्ये सा० नूना पुत्र० सा० वीरदास भार्या ल्हीकन, चादणदे सिंगारदे एताभिर्मिलित्वा धर्मशर्माभ्युदय काव्यस्य टीका लिखाप्य आचार्य लक्ष्मीचन्द्राय प्रदत्ता, शुभ भवतु, कल्याणमस्तु। 'ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानत.। अन्नदानात्सुखी नित्य निर्व्याधिर्भेषजाद् भवेत्।' लेखकस्य शुभम्।

२ ख—यह प्रति जयपुरके किसी शास्त्रभाण्डार की है। डॉ० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवालके सौजन्यसे प्राप्त हुई है। इसमें १०×६ साईजके १२२ पत्र है। प्रतिपत्रमें १० पक्तियाँ और प्रतिपक्तिमें ३२-३८ तक अक्षर हैं। अक्षर बडे तथा सुवाच्य है। प्रारम्भके ७ पत्रोमें आजू बाजूमें टिप्पण दिये गये है जो किसी अध्येताके लगाये जान पडते है। इसमें ग्रन्थकर्ताकी प्रशस्तिके श्लोक नही है। लिपिकाल सवत् १८३२ शकाब्द १६९७ है। अन्तिम लेख इस प्रकार है—

'सवत् १८३२ शाके १६९७ प्रवर्तमाने मासोत्तममासे उत्तममासे आसोजकृष्णपक्षे तिथौ दशम्या भौमवासरे सवाई जयनगर मध्ये महाराजाधिराज श्रीसवाईस्यघ (सिंह) राज्ये प्रवर्तमाने इद पुस्तक लिखापितम् । रामस्यघ जी पाटणी तेरापथी स्वपुत्रफतेचन्द पठनार्थं लिपीकृतम् । महात्मा सवाईराम । शुभ भवतु ।'

पुस्तककी दशा अच्छी है ।

३ ग—यह प्रति पूज्यमाताजी ब्र० चन्दाबाईजीके सत्प्रयत्नसे जैनसिद्धान्तभवन आरासे प्राप्त हुई है। इसमें १२×६ साईजके १५७ पत्र हैं। प्रतिपत्रमें ७ पंक्तियाँ और प्रतिपंक्तिमें ३२-३७ अक्षर हैं। अक्षर सुवाच्य हैं, आजू-बाजूमें टिप्पण भी दिये गये हैं। इसमें ग्रन्थकर्तृप्रशस्तिके श्लोक नहीं हैं। सम्वत् १८८९ कार्तिकशुक्ल ५ रविवारको लिखकर पूर्ण हुई है। दशा अच्छी है।

४ घ—यह प्रति स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीके सरस्वतीभवनकी है। श्रीमान् प० कैलाशचन्द्र-जी शास्त्रीके सौजन्यसे प्राप्त हुई है। इसमें ११×६ साईजके ८३ पत्र हैं। प्रतिपत्रमें १० पंक्तियाँ और प्रतिपंक्तिमें ४८-५२ तक अक्षर हैं। अक्षर सुवाच्य हैं, दशा अच्छी है। १९५४ वि० स० की लिखी हुई है। यह निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे प्रकाशित मूल धर्मशर्माभ्युदयपरसे की गयी लिपि जान पड़ती है। पं० गगाधर गौड़ने इसकी लिपि की है। मुद्रित प्रतिकी अशुद्धियाँ इसमें ज्योंकी त्यों अवतीर्ण हैं।

५ ङ—यह प्रति श्री प० कुन्दनलालजी और सेठ निरजनलालजी काला बम्बईके सौजन्यसे प्राप्त हुई है। ऐलक पन्नालाल सरस्वतीभवनकी प्रति है। इसमें प्रारम्भसे लेकर चतुर्थसर्गके ३२वें श्लोक तकका भाग है जो १-१७ पत्रोंमें अंकित है। दशा अच्छी है। प्रतिपत्रमें ९ पंक्तियाँ और प्रतिपंक्तिमें ३५-४० तक अक्षर हैं। अपूर्ण होनेसे इसका पूरा उपयोग नहीं हो सका है। ऐसा लगता है कि यह इतना भाग सुविधाके लिए किसीने अलग वेष्टनमें बाँध रखा है, शेष भाग दूसरे वेष्टनमें बँधा हो और काल पाकर दोनों वेष्टन पृथक्-पृथक् हो गये हों।

६ च—यह प्रति भण्डारकर रिसर्च इस्टीटयूट पूनासे प्राप्त है। इसमें १०×५ इचकी साईजके ५६ पत्र हैं, प्रतिपत्रमें १९ पंक्तियाँ हैं और प्रतिपंक्तिमें ४५-५० तक अक्षर हैं। अक्षर छोटे और सघन हैं। लिपि सुवाच्य है। दोनों ओर सूक्ष्माक्षरोंमें टिप्पण दिये गये हैं। ४७½ पत्रमें ग्रन्थ पूरा हुआ है। उसके बाद विशिष्ट श्लोकोंका टिप्पण है। यह टिप्पण यशस्कीर्ति भट्टारककी टीकासे लिया जान पड़ता है। ग्रन्थमें लिपिकाल नहीं है पर कागजकी जीर्णतासे जान पड़ता है कि पाण्डुलिपि प्राचीन है।

७ छ—यह प्रति भण्डारकर रिसर्च इस्टीटयूट पूनासे प्राप्त है। इसमें १२×५ साईजके ११५ पत्र हैं। प्रतिपत्रमें १० पंक्तियाँ और प्रतिपंक्तिमें ३४-४० तक अक्षर हैं। लिपि सुवाच्य है। पुस्तकका लिपि काल १५३५ सवत् है। कविप्रशस्ति है तथा ग्रन्थके अन्तमें निम्न लेख है—

'सम्वत्सरे ज्ञानगुप्तिसयमपृथिवीमिते माघमासे सितेतरपक्षे दर्शतिथौ श्रीमूलसघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये खण्डेलवालान्वये भट्टारक श्रीमच्चन्द्रकीर्तिस्तत्पट्टे भट्टारक श्रीमद्देवेन्द्र-कीर्तिस्तत्पट्टे भट्टारक श्रीमन्नरेन्द्रकीर्तिस्तच्छिष्याचार्यवर्य श्रीमदुदयभूषणस्तदन्तेवासि मनस्विश्रीमत्तुलसी-दासैर्लिखितमिद स्वशयेन दीक्षितत्रिलोकचन्द्रपठनार्थम्। श्रीमन्मालवदेशे कविलासनाम्नि दुर्गे श्रीमत्कूर्मान्वय विभूषणराजा श्रीमदमरसिंहराज्ये प्रवर्तमाने श्रीचन्द्रप्रभजिनचैत्यालये चातुर्मास्य कृतम्। लेखक पाठको चिर जीवताम्। श्री।'

स्याहीमें कोशीसका उपयोग अधिक होनेसे बीच-बीचके पत्र गल गये हैं।

८ ज—यह प्रति भण्डारकर रिसर्च इस्टीटयूट पूनासे प्राप्त है। इसमें १४×६ साईजके १४५ पत्र हैं। प्रतिपत्रमें ८ पंक्तियाँ और प्रतिपंक्तिमें ३४-३८ तक अक्षर हैं। बीच-बीचमें टिप्पण दिये गये हैं। लिपि प्राचीन है, पड़ी मात्राओंका प्रयोग किया गया है। लिपिकाल सवत् १५६४ बुधवासर है। अन्तिम लेख इस प्रकार है—

'संवत् १५६४ वर्षे श्रावणसुदि बुधवासरे
श्रीमान् सरस्वतीगच्छे मूलसङ्घे महोत्तमा ।
बलात्कारगणोपेता यत्र मान्ति यतीश्वरा ॥
आम्नायो यत्र सम्भूत कुन्दकुन्दगणेशिन. ।
तत्रासीच्छुद्धबुद्धात्मा पद्मनन्दिगणाधिप. ॥'

इस लेखके अतिरिक्त एक लेख और है—

'१८७१ माघशुक्ल १५ दिने भट्टारक श्रीविद्याभूपणजी तत्पट्टे भ० धर्मचन्द्रेण प० शिवजीरामाय दत्त सूरतिबन्दरे ।'

इस प्रतिके पत्र बडे है और उनपर लगाया हुआ गत्ता छोटा रहा है इसलिए पत्रोके किनारे जीर्ण-प्राय हो गये है ।

९ म—यह निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे प्रकाशित मूलमात्र प्रति है । इसके तीन सस्करण यहाँ से छप चुके है । सम्पादन श्री प० दुर्गाप्रसादजी और काशीनाथजी शर्माने किया है । निर्णयसागर प्रेस सुन्दर और शुद्ध छपाईके लिए प्रख्यात है । जहाँ-तहाँ पादटिप्पण भी दिये हुए है । ये टिप्पण यशस्कीर्तिभट्टारककी सस्कृत-टीकासे लिये गये है ।

इस प्रकार धर्मशर्माभ्युदयका यह सस्करण उल्लिखित ९ प्रतियोके आधारपर तैयार किया गया है । इसमें पाठ 'क' प्रतिके आधारपर रखे गये है । शेप प्रतियोके पाठ पादटिप्पणमें दिये गये है । दक्षिण भारतके शास्त्र भाण्डारोमें भी इसकी ताडपत्रीय बहुत सी प्रतियाँ है, इससे जान पडता है कि वहाँ भी इसका पर्याप्त प्रचार रहा है । उपलब्ध प्रतियोमें 'ब' प्रति सबसे अधिक प्राचीन है और उसके बाद दूसरे नम्बरपर 'ज' प्रति । इनका लेखन काल क्रमश १५३५ और १५६४ विक्रम सवत् है । धर्मशर्माभ्युदयकी सर्वाधिक प्राचीन प्रति पाटण (गुजरात) के सघवी पाडाके पुस्तक भाण्डारमें १२८७ विक्रमसवत्को लिखी हुई है । दु ख है कि सम्पादनार्थ मैं उसे प्राप्त नही कर सका ।

महाकाव्य 'धर्मशर्माभ्युदय'

धर्मशर्माभ्युदय, महाकाव्यके लक्षणोसे युक्त एक उच्चकोटिका महाकाव्य है । कोमलकान्तपदावली और नवीन-नवीन अर्थ इस महाकाव्यकी सुषमा बढा रहे है । इस काव्यका कवि, कल्पनाके अन्तरिक्षमें उडान भरनेमें सिद्धहस्त है तो इसके अगाध सागरमें डुबकी लगानेमें भी अतिशय निपुण है । इसके प्रत्येक श्लोकमें भावका वह अनुपम माधुर्य प्रकट हो रहा है जिसे देख, काव्यमर्मज्ञका हृदय बासो उछलने लगता है । यह महाकाव्य २१ सर्गोमें समाप्त हुआ है जिनका विषय निम्न प्रकार है—

सर्ग १—लवणसमुद्रके मध्यमें ठीक कमलके समान शोभा देनेवाला जम्बूद्वीप है । इसके बीचमें सुवर्णमय मेरु पर्वत है । दक्षिणकी ओर भरतक्षेत्र है । उसके आर्यखण्डमें उत्तर कोसल नामका एक देश है और उस देशमें सुशोभित है रत्नपुर नामका नगर ।

सर्ग २—रत्नपुरके राजा महासेन थे । महासेन, अपनी महती सेनाके कारण सचमुच ही महासेन थे । उनकी रानी थी सुव्रता । सुव्रता, जहाँ शील सयम आदि गुणोके द्वारा अपने नामको सार्थक करती थी वहाँ सौन्दर्य सागरकी एक अनुपम वेला भी थी वह । अवस्था ढल गयी फिर भी सुव्रताके पुत्र उत्पन्न नही हुआ इसलिए राजा महासेनका मन चन्द्ररहित गगनके समान श्यामल रहने लगा । पुत्रके बिना राजा चिन्ता-निमग्न थे, उसी समय वनमालीने वनमें वरुण नामक मुनिराजके आगमनकी सूचना दी । मुनिआगमन-का सुखद समाचार पाकर राजाका सारा शरीर रोमाचित हो गया तथा नेत्रोमे हर्पके अश्रु बरस पडे ।

सर्ग ३—वह रानी सुव्रताके साथ गजेन्द्रपर आरूढ हो मुनिदर्शनके लिए चल पडा । साथमें उसके नगरवासियोंकी बडी भीड भी व्यवस्थितरूपसे चल रही थी । वनके निकट पहुँचते ही राजाने राजकीय वैभव—छत्र, चमर आदिका त्याग कर दिया और पैदल ही चलकर मुनिराजके समीप पहुँचा । प्रदक्षिणा और

नमस्कारकी प्रक्रियाको पूरा कर राजाने उनके मुखारविन्दसे धर्मका उपदेश सुना और अन्तमे सकुचाते हुए सुव्रताके पुत्र न होनेका कारण पूछा। मुनिराजने कहा कि तुम्हारो इस रानोके गर्भसे तोर्थंकर पुत्र होनेवाला है। चिन्ता क्यो करते हो ? इतना कहकर उन्होने तीर्थंकरके पूर्वभवोका भी निम्न प्रकार वर्णन सुनाया—

सर्ग ४—धातकीखण्ड द्वोपके वत्स देशमें सुसीमा नामका नगर था। वहाँ राजा दशरथ राज्य करते थे। एक दिन रात्रिमें चन्द्रग्रहण देखकर उनका भीरु मन ससार शरीर और भोगोसे विरक्त हो गया। उन्होने राज्य-वैभवको छोडकर मुनिदीक्षा लेनेका विचार सभामे रखा। जिसे सुनकर चार्वाकमतका पक्षपाती सुमन्त्र मन्त्री परलोकका खण्डन करता हुआ राजाके प्रयत्नको मूर्खतापूर्ण बतलाने लगा। परन्तु राजाने सार-गर्भित युक्तियो द्वारा सुमन्त्रको मन्त्रणाका निरसन कर विमलवाहन मुनिराजके पास दीक्षा धारण कर ली। घोर तपश्चर्या की और दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओका चिन्तनकर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। आयुके अन्तमें वे सर्वार्थसिद्धि विमानमे अहमिन्द्र हुए। हे राजन् ! छह माहके बाद उसी अहमिन्द्रका जीव तुम्हारी रानी सुव्रताके गर्भमें अवतीर्ण होगा और पन्द्रहवे धर्मनाथ तीर्थंकरके रूपमें प्रसिद्ध होगा। मुनिराजके इन वचनोसे राजा महासेन और रानी सुव्रताकी प्रसन्नताका पार नही रहा। अन्तमें मुनिराजको नमस्कार कर राजदम्पती अपने घर गये।

सर्ग ५—इन्द्रकी आज्ञा पाकर श्री, ह्री आदि देवियोका समूह जिनमाताकी सेवा करनेके लिए गगन-मार्गसे पृथिवीतलपर अवतीर्ण हुआ और राजाकी आज्ञासे अन्त पुरमें प्रविष्ट हो रानी सुव्रताकी सेवा करने लगा। रानीने नियोगानुसार ऐरावत हाथी आदि सोलह स्वप्न देखे और राजा महासेनने उनका उत्तम फल सुनाकर उसे सन्तुष्ट किया। रानी सुव्रता गर्भवती हुई।

सर्ग ६—गर्भावस्थाके कारण रानी सुव्रताके शरीरकी शोभा निराली हो गयी। माघशुक्ल त्रयोदशीको पुण्यवेलामें पुष्य नक्षत्रके रहते हुए धर्मनाथ तीर्थंकरका जन्म हुआ। तीर्थंकरका जन्म होते ही समस्त लोकमे आनन्द छा गया। सौधर्म इन्द्र, चतुर्विध देवोके साथ नाना प्रकारके उत्सव करता हुआ रत्नपुर नगर आया।

सर्ग ७—इन्द्राणीने प्रसूतिकागृहमें स्थित जिनमाताकी गोदमें मायानिर्मित बालकको रखकर जिनबालकको उठा लिया तथा इन्द्रको सौप दिया। इन्द्र भी जिनबालकको लेकर ऐरावत हाथीपर सवार हुआ और देवसेनाके साथ-साथ आकाशमार्गमे सुमेरु पर्वतपर पहुँचा। सुमेरु पर्वतकी अद्भुत शोभा देख इन्द्रका हृदय बाग-बाग हो गया। देवोकी सेना पाण्डुक वनमें ठहर गयी। विक्रिया निर्मित हाथी, घोडे आदि अपनी विविध चेष्टाओसे दर्शकोका मन मोहने लगी। पाण्डुक वनमे स्थित पाण्डुक शिलाको देखकर इन्द्र बहुत ही सन्तुष्ट हुआ।

सर्ग ८—पाण्डुक शिलापर स्थित मणिमय सिंहासनपर इन्द्रने जिनबालकको विराजमान किया। कुबेर अभिषेककी सब तैयारियाँ करने लगा। अभिषेकका जल लानेके लिए देवोकी पक्तियाँ क्षीरसागर गयी। क्षीरसागरकी अद्भुत शोभा देखकर देव बहुत ही प्रसन्न हुए। क्षीर सागरके जलसे भरे हुए एक हजार आठ कलशोंके द्वारा सौधर्मेन्द्र तथा ऐशानेन्द्रने जिनबालकका अभिषेक किया। इन्द्रने भगवान्‌की स्तुति की। इन्द्राणीने आभूषण पहिनाये। तदनन्तर वापस आकर जिनबालकको माताकी गोदमें सौपकर इन्द्रने अद्भुत नृत्य किया और यह सब कर चुकनेके पश्चात् देव लोग अपने-अपने स्थानोपर चले गये।

सर्ग ९—विक्रिया ऋद्धिसे बालवेषको धारण करनेवाले देवोके साथ भगवान् धर्मनाथ बालक्रीडा करने लगे। क्रम क्रमसे धर्मनाथने यौवन-अवस्थामें पदार्पण किया। उनके शरीरकी सुषमा यद्यपि जन्मसे ही अनुपम थी तथापि यौवनकी मधुर वेलामें पहलेसे सहस्रगुणी हो गयी। विदर्भदेशके राजा प्रतापराजने अपनी पुत्री शृंगारवतीके स्वयवरमें कुमार धर्मनाथको बुलानेके लिए खास दूत भेजा। पिताकी आज्ञा पाकर कुमार धर्मनाथ सेना सहित विदर्भकी ओर चल पडे। बीचमें गगा नदी मिली, उसे पार करते हुए वे विन्ध्याचलपर पहुँचे।

सर्ग १०—विन्ध्याचलके प्राकृतिक सौन्दर्यसे मुग्ध हो उन्होंने वहाँ निवास किया। प्रभाकर मित्रने विन्ध्याचलकी अद्भुत शोभाका वर्णन किया। किन्नरदेवने विक्रियासे सुन्दर आवासकी रचना कर वहाँ ठहरनेकी प्रार्थना की।

सर्ग ११—उनके पुण्योदयसे विन्ध्याचलपर एक साथ छहों ऋतुएँ प्रकट हो गयी जिससे वनकी शोभा विचित्र हो गयी।

सर्ग १२—साथके स्त्री पुरुष वन क्रीडाके लिए वनमें बिखर गये। पुष्पित पल्लवित लताओंके निकुंजोंमें स्त्री पुरुषोंने विविध क्रीडाएँ की, पुष्पावचय किया।

सर्ग १३—थकनेपर नर्मदाके नीरमें सबने जलक्रीडा की। जलशकुन्तोंसे व्याप्त, लहराती हुई नर्मदामें जलक्रीडा कर युवा-युवतियोंने अपूर्व आनन्दका अनुभव किया।

सर्ग १४—सायंकाल आया, संसारको अनित्यताका पाठ पढाता हुआ सूर्य अस्त हो गया। रात्रिका सघन अन्धकार सर्वत्र फैल गया, थोडी देर बाद प्राची-पुरन्ध्रीके ललाटपर सफेद चन्दन बिन्दुकी शोभाको प्रकट करता हुआ चन्द्रमा उदित हुआ। चाँदनीकी रजत छायामें दम्पतियोंने मधुपान किया, स्त्रियोंने नये-नये प्रसाधन धारण किये।

सर्ग १५—पान गोष्ठियाँ हुई, स्त्री-पुरुषोंने विविध प्रकारकी क्रीडाओंसे रात्रि पूर्ण की।

सर्ग १६—धीरे धीरे प्राचीमें उषाकी लाली छा गयी, प्रातःकाल हुआ और कुमार धर्मनाथने आगेके लिए प्रस्थान किया। नर्मदा नदीको पार कर वे विदर्भ देशमें पहुँचे। वहाँ कुण्डिनपुरके राजा प्रतापराजने उनका बहुत स्वागत किया।

सर्ग १७—स्वयंवर मण्डपमें अनेक राजकुमार पहलेसे बैठे थे। कुमार धर्मनाथके पहुँचनेपर सबकी दृष्टि इनकी ओर आकृष्ट हुई। अपनी सखियोंके साथ राजपुत्री शृंगारवती भी वहाँ आयी। सखीने क्रम-क्रमसे सब राजाओंका वर्णन किया परन्तु शृंगारवतीकी दृष्टि किसीपर स्थिर नहीं हुई। अन्तमें धर्मनाथकी रूपमाधुरीपर मुग्ध होकर शृंगारवतीने उनके गलेमें वरमाला डाल दी। धर्मनाथने कुण्डिनपुरकी सडकोंपर जब प्रवेश किया तब वहाँकी नारियाँ कुतूहलसे प्रेरित हो अपने-अपने कार्य छोड झरोखोंमें आ डटी। धर्मनाथका विधिपूर्वक विवाह हुआ। उसी समय पिताका पत्र पाकर धर्मनाथ कुबेर द्वारा निर्मित विमान द्वारा अपने घर आ गये और सेनाका सब भार सुषेण सेनापतिके अधीन कर आये।

सर्ग १८—रत्नपुरमें कुमार धर्मनाथका बहुत सत्कार हुआ। इसी बीच उनके पिता महासेन महाराज संसारसे विरक्त हो गये। उन्होंने युवराज धर्मनाथके लिए नीतिका उपदेश देकर उनका राज्याभिषेक कराया और स्वयं वनमें जाकर दीक्षा धारण कर ली। धर्मनाथने राज्यका अच्छी तरह पालन किया।

सर्ग १९—सुषेण सेनापति अपनी सेनाके साथ सकुशल वापस आ गया। एक दूतने अनेक राजाओंके साथ हुए सुषेणके युद्धका वर्णन धर्मनाथको सुनाया। जिसे सुनकर उन्होंने सुषेणकी बहुत प्रशंसा की।

सर्ग २०—दीर्घकाल तक राज्य करनेके बाद उल्कापात देखकर भगवान् धर्मनाथका मन संसारसे विरक्त हो गया जिससे समस्त राज्यको तृणके समान छोडकर वे वनमें दीक्षित हो गये। केवलज्ञान प्राप्त होनेपर इन्द्रकी आज्ञासे कुबेरने समवसरणकी रचना की। उसके मध्यमें सिंहासनपर अन्तरिक्ष विराजमान श्रीधर्मनाथ भगवान्‌का अष्टप्रातिहार्यरूप दिव्य ऐश्वर्य सबको आकृष्ट कर रहा था।

सर्ग २१—भगवान् धर्मनाथने दिव्यध्वनिके द्वारा जैनसिद्धान्तका प्रतिपादन किया। अन्तमें सम्मेदशिखरसे मोक्ष प्राप्त किया।

कथाका आधार

धर्मशर्माभ्युदयकी कथाका आधार गुणभद्राचार्यका उत्तर पुराण जान पडता है। उसके ६१वें पर्वमें धर्मनाथ तीर्थंकरके पंच कल्याणात्मक वृत्तका वर्णन है परन्तु उसमें उनके माता पिताके नाम दूसरे

दिये है । धर्मशर्माभ्युदयमे पिताका नाम महासेन और माताका नाम सुव्रता बतलाया है जब कि उत्तर पुराणमे पिताका नाम भानु महाराज और माताका नाम सुप्रभा बतलाया है । उत्तरपुराणमें स्वयवरका भी वर्णन नही है । धर्मशर्माभ्युदयके कविने काव्यकी शोभा या सजावटके लिए उसे कल्पना शिल्पिनिर्मित किया है । स्वयवर यात्राके कारण काव्यके कितने ही अगोका अच्छा वर्णन बन पडा है । अन्तमें समवसरण-के मुनियोकी जो सख्या दी है उसमें भी जहाँ कही भेद मालूम पडता है ।

धर्मशर्माभ्युदयके कर्ता महाकवि हरिचन्द्र

धर्मशर्माभ्युदयके प्रत्येक सर्गके अन्तमें दिये हुए पुष्पिका वाक्यो तथा उन्नीसवें सर्गके ९८-९९ श्लोकोके द्वारा रचित षोडशदल कमलबन्धमे सूचित 'हरिचन्द्रकृत धर्मजिनपतिचरितम्' पदसे एवं उसी सर्गके १०१-१०२ श्लोकोसे निर्मित चक्रबन्धसे निर्गत 'आर्द्रदेवसुतेनेद काव्य धर्मजिनोदयम् । रचित हरिचन्द्रेण परम रम्यमन्दिरम्' इस उक्तिसे और उसी सर्गके १०३-१०४ श्लोकोसे निर्मित चक्रबन्धसे निर्गत 'श्रीधर्मशर्माभ्युदय हरिचन्द्रकाव्यम्' इस उल्लेखसे सिद्ध होता है कि इसके रचयिता महाकवि हरिचन्द्र है । यह हरिचन्द्र कौन हैं ? किसके पुत्र है ? इसका पता धर्मशर्माभ्युदयके अन्तमें प्रदत्त प्रशस्तिसे चलता है । यद्यपि यह प्रशस्ति सम्पादनके लिए प्राप्त सब प्रतियोमें नही है । 'क' प्रति, जो कि सस्कृत टीकासे युक्त है उसमें भी यह प्रशस्ति नही है । इससे सशय होता है कि सम्भव है यह प्रशस्ति महाकवि हरिचन्द्रके द्वारा रचित न हो, पीछेसे किसीने जोड दी हो । किन्तु १५३५ सवत्की लिखी 'छ' प्रतिमें यह मिलती है इससे इतना तो फलित होता है कि यह प्रशस्ति यदि पीछेसे किसीने जोडी भी है तो १५३५ सवत्के पूर्व ही जोडी है । इसके सिवाय अपने पिता 'आर्द्रदेव' का उल्लेख ग्रन्थकर्ताने स्वय ग्रन्थमें किया ही है । प्रशस्तिके श्लोकोकी भाषा, महाकविकी भाषासे मिलती-जुलती है अत बहुत कुछ सम्भव यही है कि यह ग्रन्थकर्ताकी ही रचना हो । प्रशस्ति ग्रन्थान्तमें द्रष्टव्य है ।

उक्त प्रशस्तिसे विदित होता है कि नोमकवशके कायस्थकुलमें आर्द्रदेव नामक एक श्रेष्ठ पुरुषरत्न थे । उनकी पत्नीका नाम रथ्या था । महाकवि हरिचन्द्र इन्हीके पुत्र थे । प्रशस्तिके पचम श्लोकमे उपमालकारके द्वारा इन्होने अपने छोटे भाई लक्ष्मणका भी उल्लेख किया है । जिस प्रकार रामचन्द्रजी अपने भक्त और समर्थ छोटे भाई लक्ष्मणके द्वारा निर्व्याकुल हो समुद्रके पारको प्राप्त हुए थे उसी प्रकार महाकवि हरिचन्द्रजी भी अपने भक्त तथा समर्थ छोटे भाई लक्ष्मणके द्वारा गृहस्थीके भारसे निर्व्याकुल हो शास्त्ररूपी समुद्रके द्वितीय पारको प्राप्त हुए थे । कविने यह तो लिखा है कि गुरुके प्रसादसे उनकी वाणी निर्मल हो गयी थी पर वे गुरु कौन हैं यह नही लिखा । प्रतिपाद्य पदार्थोंके वर्णनसे विदित होता है कि यह दिगम्बर सम्प्रदायके अनुयायी थे ।

हरिचन्द्र नामके अनेक विद्वान्

'कर्पूरमजरी' नाटिकामें महाकवि राजशेखरने प्रथम यवनिकाके अनन्तर एक जगह विदूषकके द्वारा[1] हरिचन्द्र कविका उल्लेख किया है । एक हरिचन्द्रका उल्लेख बाणभट्टने 'श्रीहर्षचरित'[2] में किया है । एक हरिचन्द्र विश्वप्रकाश कोषके कर्ता महेश्वरके पूर्वज चरक सहिताके टीकाकार साहसाकनृपतिके प्रधान वैद्य भी थे । पर इन सबका धर्मशर्माभ्युदयके कर्ता हरिचन्द्रके साथ कोई एकीभाव सिद्ध नही होता । क्योकि धर्मशर्माभ्युदयके २१वें सर्गमें जैनसिद्धान्तका जो वर्णन है वह यशस्तिलकचम्पू और चन्द्रप्रभचरितसे

---

१ विदूषक (ऋज्वेव तत्कि न भण्यते, अस्माक चेटिका हरिचन्द्र-नदिचन्द्र-कोटिशहाल-प्रभृतीनामपि सुकविरिति)

२. पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थिति ।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते ॥

प्रभावित है अतः उसके कर्ता आचार्य सोमदेव और आचार्य वीरनन्दीसे परवर्ती है पूर्ववर्ती नही। जब कि 'कर्पूरमजरी' के कर्ता राजशेखर और 'श्रीहर्षचरित' के कर्ता बाणभट्ट पूर्ववर्ती हैं। 'जीवन्धरचम्पू' की प्रस्तावनामें धर्मशर्माभ्युदय तथा जीवन्धरचम्पूके तुलनात्मक उद्धरण देकर मैने यह सिद्ध करनेका प्रयास किया है कि धर्मशर्माभ्युदयके कर्ता हरिचन्द्र ही 'जीवन्धरचम्पू' के कर्ता है। जीवन्धरचम्पूका कथानक जहाँ वादीभसिंहसूरिकी क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिसे लिया गया है वहाँ गुणभद्राचार्यके उत्तर-पुराणसे भी वह प्रभावित है अत हरिचन्द्र गुणभद्रसे परवर्ती है। साथ ही इसमें श्रावकके जो आठ मूल गुणोका वर्णन किया गया है वह यशस्तिलकचम्पूके रचयिता सोमदेवके मतानुसार है इसलिए सोमदेवसे परवर्ती है। सोमदेवने यशस्तिलकचम्पूकी रचना १०१६ वि० स० मे पूर्ण की है। धर्मशर्माभ्युदयकी एक प्रति पाटणके सघवी पाडाके पुस्तक भडारमें वि० स० १२८७ की लिखी विद्यमान है इससे यह निश्चय होता है कि महाकवि हरिचन्द्र उक्त सवत्से पूर्ववर्ती है। इस तरह पूर्व और पर अवधियोपर विचार करनेसे जान पडता है कि हरिचन्द्र ११-१२ शताब्दीके विद्वान् है। धर्मशर्माभ्युदयपर कालिदासके रघुवश, भारविके किरातार्जुनीय और माघके शिशुपाल वधकी शैलीका प्रभाव है, इसका आगे विचार किया जावेगा।

महाकवि हरिचन्द्रको रचनाएँ

महाकवि हरिचन्द्र द्वारा रचित ग्रन्थोमें धर्मशर्माभ्युदय उनका निर्भ्रान्त ग्रन्थ है। 'जीवन्धरचम्पू'के विषयमें आदरणीय स्व० प्रेमीजीका खयाल था कि यह किसी दूसरे कविकी रचना है पर दोनोके[1] तुलनात्मक अध्ययनसे सिद्ध होता है कि दोनो ग्रन्थोके रचयिता एक ही हरिचन्द्र है। आग्ल विद्वान् डॉ० कीथने भी हरिचन्द्रको ही जीवन्धरचम्पूका कर्ता माना है। धर्मशर्माभ्युदय पाठकोके हाथमें है और जीवन्धरचम्पू भी प्रकाशित हो चुका है। वास्तवमे जीवन्धरचम्पूकी रचनामे कविने बडा कौशल दिखाया है। अलकारकी पुट और कोमलकान्तपदावली बरबस पाठकके मनको अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

धर्मशर्माभ्युदयका काव्य-वैभव

पण्डितराज जगन्नाथने काव्यके प्राचीन-प्राचीनतर लक्षणोका समन्वय करते हुए अपने रसगङ्गाधर-में काव्यका लक्षण लिखा है—'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्द काव्यम्'—रमणीय अर्थका प्रतिपादन करनेवाला शब्दसमूह काव्य है। वह रमणीयता चाहे अलकारसे प्रकट हो, चाहे अभिधा, लक्षणा या व्यजना से। मात्र सुन्दर शब्दोसे या मात्र सुन्दर अर्थसे काव्य, काव्य नही कहलाता, किन्तु दोनोके सयोगसे ही काव्य, काव्य कहलाता है। महाकवि हरिचन्द्रने धर्मशर्माभ्युदयके अन्दर शब्द और अर्थ दोनोको बडी सुन्दरताके साथ सँजोया है। वे लिखते है—

'भले ही सुन्दर अर्थ कविके हृदयमें विद्यमान रहे परन्तु योग्य शब्दोके बिना वह रचनामें चतुर नही हो सकता। जैसे कि कुत्ताको गहरेसे गहरे पानीमें भी खडा कर दिया जावे पर जब भी वह पानी पीवेगा तब जीभसे चाँट-चाँट कर ही पीवेगा। अन्य प्रकारसे उसे पीना आता ही नही है।' (१।१४)

'इसी प्रकार सुन्दर अर्थसे रहित शब्दावली विद्वानोके मनको आनन्दित नही कर सकती। जैसे कि थूवरसे झरती हुई दूधकी धारा नयनाभिराम होनेपर भी मनुष्योके लिए रुचिकर नही होती। (१।१५)

'शब्द और अर्थके सन्दर्भसे परिपूर्ण वाणी ही वास्तवमें वाणी है और वह बडे पुण्यसे किसी विरले कविको ही प्राप्त होती है। देखो न, चन्द्रमाको छोड अन्य किसीकी किरण अन्धकारको नष्ट करने वाली और अमृतको झराने वाली नही है। सूर्यकी किरणमें अन्धकारको नष्ट करनेकी शक्ति है पर भीषण आतापका भी

१ देखो, भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसीसे प्रकाशित जीवन्धरचम्पूकी प्रस्तावना पृष्ठ ३७–४० तक।

कारण है और मणिकी किरणें यद्यपि आतापका कारण नहीं हैं परन्तु सर्वत्र व्याप्त अन्धकारको दूर हटानेकी क्षमता उनमें कहाँ है ? यह उभयविध क्षमता तो चन्द्रकिरणमें ही उपलब्ध होती है।' (१।१६)

उक्त सन्दर्भोका तात्पर्य यही है कि धर्मशर्माभ्युदयमें शब्द और अर्थ, दोनोंका बडा सुन्दर सन्दर्भ बन पडा है।

उपमालंकारकी अपेक्षा उत्प्रेक्षालंकार कविकी प्रतिभाको अत्यधिक विकसित करता है। हम देखते हैं कि धर्मशर्माभ्युदयमें उत्प्रेक्षालंकारकी धारा महानदीके प्रवाहकी तरह प्रारम्भसे लेकर अन्त तक अजस्र गतिसे प्रवाहित हुई है। उपमा, रूपक, विरोधाभास, श्लेष, परिसंख्या, अर्थान्तरन्यास और दीपक आदि अलंकार भी पद-पदपर इसकी शोभा बढा रहे हैं। उदाहरणके लिए देखें—

श्लेष (१।१०)

लब्धात्मलाभा बहुधान्यवृद्ध्यै निर्मूलयन्ती घननीरसत्वम्।
सा मेघसंघातमपेतपङ्का शरत्सतां संसदपि क्षिणातु ॥

जिसने अनेक प्रकारके अन्नकी वृद्धिके लिए स्वरूप लाभ किया है, जो मेघोंमें जलके सद्भावको दूर कर रही है तथा जिसने कीचडको दूर कर दिया है ऐसी शरद् ऋतु मेघोंके समूहको नष्ट करे और जिसने अनेक प्रकारसे दूसरोंकी वृद्धिके लिए जन्म धारण किया है, जो अत्यधिक नीरसपनेको दूर कर रही है तथा जिसने पापको नष्ट कर दिया है ऐसी सज्जनोंकी सभा भी मेरे पापसमूहको नष्ट करे।

उत्प्रेक्षा (१।६३)

संक्रान्तबिम्बः स्रवदिन्दुकान्ते नृपालये प्राहरिकैः परीते।
हृता नवश्रीः सुदृशां चकास्ति कारागतो यत्र रुदन्निवेन्दुः ॥

जिसमें चन्द्रकान्त मणिसे पानी झर रहा था तथा जो पहरेदारोंसे घिरा हुआ था ऐसे राजमहलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमा ऐसा जान पडता है मानो स्त्रियोंके मुखकी शोभा चुरानेके कारण उसे जेलमें डाल दिया हो और इसीलिए मानो रो रहा हो।

और भी (२।३९)

प्रयाणलीलाजितराजहंसकं विशुद्धपार्ष्णिं विजिगीषुवत्स्थितम्।
तदङ्घ्रिमालोक्य न कोषदण्डभाग्भियेव पद्मं जलदुर्गमत्यजत् ॥

जिसने अपनी सुन्दर चालसे राजहंस पक्षीको जीत लिया है। (पक्षमें जिसने अपने प्रयाणमात्रकी लीलासे बडे-बडे राजाओंको जीत लिया है) जिसकी एडी निर्दोष है (पक्षमें जिसकी रिजर्वसेना छलरहित-निर्दोष है) तथा जो किसी विजयाभिलाषी राजाके समान स्थित है ऐसे कमलने कुड्मल और दण्डसे युक्त होनेपर भी (पक्षमें खजाना और सेनासे सहित होने पर भी) उस रानीके पैरको देखकर भयसे ही मानो जलरूपी किलेको नहीं छोडा था।

रूपक और उपमाका सम्मिश्रण (२।५९)

अनिन्द्यदन्तद्युतिफेनिलाधरप्रवालशालिन्युरुलोचनोत्पले।
तदास्यलावण्यसुधोदधौ बभुस्तरङ्गभङ्गा इव मञ्जुरालकाः ॥

उत्तम दाँतोंकी कान्तिसे फेनयुक्त, अधर रूपी प्रवालसे सुशोभित और नेत्र रूपी बडे-बडे नीलकमलोंसे सुशोभित उसके मुखके सौन्दर्यरूपी अमृतके समुद्रमें उसके घुँघुराले बाल लहरोंकी सन्ततिके समान सुशोभित हो रहे थे।

श्लेषोपमा (४।२३)

स्वस्थो धृताच्छद्मगुरूपदेशः श्रीदानवारातिविराजमानः।
यस्यां करोल्लासितवज्रमुद्रः पौरो जनो जिष्णुरिवावभाति ॥

जिस नगरीमें नगरवासी लोग इन्द्रके समान शोभायमान हैं क्योंकि जिस प्रकार इन्द्र स्वस्थ है—स्वर्गमे स्थित है उसी प्रकार नगरवासी लोग भी स्वस्थ हैं—नीरोग हैं, जिस प्रकार इन्द्र छलरहित गुरु—बृहस्पतिके उपदेशको धारण करता है उसी प्रकार नगरनिवासी लोग भी छलरहित गुरुजनोके उपदेशको धारण करत हैं, जिस प्रकार इन्द्र श्रीदानवारातिविराजमान—लक्ष्मीसम्पन्न उपेन्द्रसे सुशोभित रहता है उसी प्रकार नगरनिवासी लोग भी श्रीदानवारा + अतिविराजमान—लक्ष्मीके दानजलसे अत्यन्त शोभायमान है और इन्द्र जिस प्रकार करोल्लासितवज्रमुद्र—हाथमें वज्रायुधको धारण करता है उसी प्रकार नगर-निवासी लोग भी करोल्लासितवज्रमुद्र—किरणोसे सुशोभित हीरेकी अगूठियोसे सहित हैं ।

अर्थान्तरन्यास (७।५३)

स वारितो मत्तमरुद्द्विपौघ प्रसह्य कामश्रमशान्तिमिच्छन् ।
रजस्वला अप्यभजत्स्रवन्ती रहो मदान्धस्य कुतो विवेक ॥

जिस प्रकार कोई कामोन्मत्त मनुष्य रोके जानेपर भी बलात्कारसे कामश्रमकी शान्तिको चाहता हुआ रजस्वला स्त्रियोका भी उपभोग कर बैठता है उसी प्रकार देवोके मदोन्मत्त हाथियोका समूह वारित—पानीसे अपने अत्यधिक श्रमको शान्तिको चाहता हुआ जबर्दस्ती रजस्वला—धूलिसे व्याप्त नदियोका उपभोग करने लगा सो ठीक ही है क्योंकि मन्दान्ध मनुष्यको विवेक कैसे हो सकता है ?

परिसख्या (२।३०)

निशासु नून मलिनाम्बरस्थितिः प्रगल्भकान्तासुरते द्विजक्षति ।
यदि क्विप सर्वविनाशसस्तव प्रमाणशास्त्रे परमोहसभव ॥

यदि मलिनाम्बर स्थिति—मलिन आकाशको स्थिति थी तो रात्रियोमें ही थी, वहांके मनुष्योमें मलिनाम्बर स्थिति—मैले वस्त्रोकी स्थिति नही थी । द्विजक्षति—दांतोके घाव यदि थे तो प्रौढ स्त्रीके सभोगमें ही थे, वहांके मनुष्योमें द्विज-क्षति—ब्राह्मणादिका घात नही था । यदि सर्वविनाशका अवसर आता था तो व्याकरणमें प्रसिद्ध क्विप् प्रत्ययमें ही आता था (क्योंकि उसीमें सब वर्णोंका लोप होता है), वहांके मनुष्योमें किसीका सर्वनाश नही होता था । और परमोह सम्भव—परम + ऊह उत्कृष्टव्याप्तिज्ञान प्रमाणशास्त्र—न्यायशास्त्रमें ही था वहांके मनुष्योमें परमोहसभव—दूसरोको मोह उत्पन्न करना अथवा अत्यधिक मोहका उत्पन्न होना नही था ।

विरोधाभास (२।३३)

महानदीनोऽप्यजडाशयो जगत्यनष्टसिद्धि परमेश्वरोऽपि सन् ।
बभूव राजापि निकारकारण विभावरीणामभयमद्भुतोदय ॥

यह राजा ससारमें महानदीन—महासागर होकर भी अजडाशय—जलसे रहित था, परमेश्वर होता हुआ भी अणिमा आदि आठ सिद्धियोसे रहित था और राजा—चन्द्रमा होकर भी विभावरी—रात्रियोके दु खका कारण था । परिहार पक्षमें—वह राजा महान्—अत्यन्त उदार अदीन—दीनतासे रहित तथा प्रबुद्ध आशयवाला था । अत्यन्त सम्पन्न होता हुआ अनष्ट सिद्धि था—उसकी सिद्धियाँ कभी नष्ट नही होती थी और राजा—नृपति होकर भी वह अरीणा विभो—शत्रुराजाओके दु खका कारण था । इस तरह वह अद्भुत उदयसे सहित था ।

और भी (३।५१)

चित्रमेतज्जगन्मित्रे नेत्रमैत्रीं गते त्वयि ।
यन्मे जडाशयस्यापि पङ्कजात निमीलति ॥

यह बडा आश्चर्य है कि आप जगत् के मित्र सूर्य है और मैं जडाशय—तालाब हूं, आप मेरे नयन गोचर हो रहे हैं फिर भी मेरा पङ्कजात—कमल निमीलित हो रहा है । पक्षमें जगत्के मित्रस्वरूप आपके दृष्टिगोचर होते ही मुझ मूर्खका भी पापसमूह नष्ट हो रहा है ।

दीपक (२।७२)

नभो दिनेशेन नयेन विक्रमो वनं मृगेन्द्रेण निशीथमिन्दुना ।
प्रतापलक्ष्मीबलकान्तिशालिना विना न पुत्रेण च भाति न. कुलम् ॥

सूर्यके बिना आकाश, नयके बिना पराक्रम, सिहके बिना वन, चन्द्रमाके बिना रात्रि और प्रताप, लक्ष्मी, बल तथा कान्तिसे सुशोभित पुत्रके बिना हमारा कुल सुशोभित नही होता ।

धर्मशर्माभ्युदयके कौतुकावह स्थल

धर्मशर्माभ्युदय अनेक कौतुकावह स्थलोसे परिपूर्ण है । महाकाव्यके लक्षणमें लिखा है कि कही कही प्रारम्भमें सज्जन प्रशसा और दुर्जनकी निन्दा की जाती है । इस लक्षणको दृष्टिगत रखते हुए प्राय. सभी गद्यपद्य काव्योमें सज्जन प्रशसा और दुर्जननिन्दाका प्रकरण रखा गया है परन्तु धर्मशर्माभ्युदयका यह प्रकरण (प्रथमसर्ग १८-३१ सस्कृत साहित्यमें अपनी शानी नही रखता । गृहस्थ दम्पतीके हृदयमें पुत्रकी स्वाभाविक स्पृहा रहती है उसके बिना उसका गार्हस्थ्य अपूर्ण रहता है । रघुवशमें कालिदासने राजा दिलीपके पुत्राभाव सम्बन्धी दु खका वर्णन किया है । बाणभट्टने कादम्बरीमें इसका विस्तृत और मार्मिक उल्लेख किया है और चन्द्रप्रभचरितमें महाकवि वीरनन्दीने भी इसकी चर्चा की है पर धर्मशर्माभ्युदयके द्वितीय सर्गके अन्तमें (६८–७४) महाकवि हरिचन्द्रने सुव्रतारानीके पुत्र न होनेके कारण राजा महासेनके मुखसे जो दु ख प्रकट किया है वह पढते ही हृदयमें घर कर लेता है । उदाहरणके लिए उसके दो श्लोक देखिए—

सहस्रधा सत्यपि गोत्रजे जने सुत विना कस्य मन प्रसीदति ।
अपीद्धताराग्रहगर्भित भवेद्दते विधोर्ध्यामलमेव दिङ्मुखम् ॥ २।७० ॥
न चन्दनेन्दीवरहारयष्टयो न चन्द्ररोचीषि न चामृतच्छटा ।
सुताङ्गसस्पर्शसुखस्य निस्तुलां कलामयन्ते खलु षोडशीमपि ॥ २।७१ ॥

तृतीय सर्गका वर्णन कविके वैदुष्यको वर्णन करनेमें अपनी शानी नही रखता । इस प्रकरणके निम्नाङ्कित श्लोक देखिए और कविके श्लेषविषयक वैदुष्यकी श्लाघा कीजिए—

कान्तारतरवो नैते कामोन्मादकृत परम् ।
अभवन्न प्रीतये सोऽप्युद्यन्मधुपराशय ॥ २३ ॥
अनेकविटपस्पृष्टपयोधरतटा स्वयम् ।
वदत्युद्यानमालेयमकुलीनत्वमात्मन. ॥ २४ ॥
उल्लसत्केसरो रक्तपलाश कुञ्जराजित ।
कण्ठीरव इवाराम क न व्याकुलयत्यसौ ॥ २५ ॥
एता. प्रवालहारिण्यो मुदा भ्रमरसंगता. ।
मरुन्नर्तकतालेन नृत्यन्तीव वने लता. ॥ ३४ ॥

चतुर्थ सर्ग (४१-४४) में चन्द्रग्रहणका जो कौतुकावह वर्णन महाकवि हरिचन्द्रने किया है वह अन्यत्र नही मिलता । स्वर्गीय पूज्य क्षुल्लक श्री गणेशप्रसादजी वर्णीको यह वर्णन बडा प्रिय था । वे चाहे जब बडे हर्षसे निम्नाकित श्लोकोको सुनाया करते थे—

अथैकदा व्योम्नि निरभ्रगर्भक्षणक्षपाया क्षणदाधिनाथम् ।
अनाथनारीव्यथनैनसेव स राहुणा प्रेक्षत गृह्यमाणम् ॥४१॥
किं सीधुना स्फाटिकपानपात्रमिद रजन्याः परिपूर्णमाणम् ।
चलद्द्विरेफोच्चयचुम्ब्यमानमाकाशगङ्गास्फुटकैरव वा ॥४२॥

ऐरावणस्याथ करात्कथंचिच्च्युत सपङ्को विसकन्द एषः ।
किं व्योम्नि नीलोपलदर्पणाभे सश्मश्रु वक्त्रं प्रतिविम्बितं मे ॥४३॥
क्षणं वितर्क्येति स निश्चिकाय चन्द्रोपरागोऽयमिति क्षितीशः ।
दृङ्मीलनाविष्कृतचित्तखेदमचिन्तयच्चैवमुदारचेताः ॥४४॥

चन्द्रग्रहणका निमित्त पाकर राजाका चित्त संसार, शरीर और भोगोंमे निर्विण्ण हो जाता है। उसी दशामें वह वृद्धावस्थाका भी चिन्तन करता है। वृद्धावस्थामें मनुष्यके दांत झड जाते हैं, बाल सफेद हो जाते हैं, शरीरमें सिकुडनें पड जाती हैं और कमर झुक जाती है। इन सबका वर्णन महाकविके शब्दोंमें देखिए कितना सुन्दर बन पडा है—

अन्याङ्गनासंगमलालसानां जरा कृतेर्ष्येव कुतोऽप्युपेत्य ।
आकृष्य केशेषु करिष्यते न पदप्रहारैरिव दन्तभङ्गम् ॥५५॥
क्रान्ते तवाङ्गे वलिभिः समन्ताद्भयत्यनङ्गः किमसावितीव ।
वृद्धस्य कर्णान्तगता जरेयं हसत्युदञ्चत्पलितच्छलेन ॥५६॥
आकर्णपूर्णं कुटिलालकोर्मि रराज लावण्यसरो यदङ्गे ।
वलिच्छलात्सारणिधोरणीभिः प्रवाह्यते तज्जरसा नरस्य ॥५८॥
असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेर्नष्टं क्व मे यौवनरत्नमेतत् ।
इतीव वृद्धो नतपूर्वकायः पश्यन्नधोऽधो भुवि बम्भ्रमीति ॥५९॥ (चतुर्थ सर्ग)

चन्द्रप्रभचरितके द्वितीय सर्गका विस्तृत न्यायवर्णन काव्यके अनुरूप न होकर एक स्वतन्त्र दर्शन शास्त्र सा हो गया है परन्तु धर्मशर्माभ्युदयके चतुर्थ सर्गमें (६२-७६) जो चार्वाक सिद्धान्तका सुमन्त्र मन्त्रीके द्वारा मण्डन और राजा दशरथके द्वारा खण्डन किया गया है वह काव्यकी अनुरूपताको नही छोड सका है। सप्तम सर्गका (२०-३८) सुमेरु वर्णन कविके अनुपम पाण्डित्यको सूचित करता है। इस प्रकरणके निम्न श्लोक द्रष्टव्य हैं—

मरुद्ध्वनद्वंशमनेकतालं रसालसंभावितमन्मथैलम् ।
धृतस्मरातङ्कमिवाश्रयन्ते वनं च गानं च सुराङ्गनानाम् ॥३०॥
विशालदन्तं घनदानवारिं प्रसारितोद्दामकराग्रदण्डम् ।
उपेयुषो दिग्गजपुङ्गवस्य पुरो दधानं प्रतिमल्ललीलाम् ॥३२॥
अधिश्रियं नीरदमाश्रयन्तीं नवाम्बुदन्तीमतिनिष्कलामान् ।
स्वनैर्भुजङ्गाच्छिखिनां दधानं प्रगल्भवेश्यामिव चन्दनालीम् ॥३३॥

यहाँ देवोंके वाहनोंके रूपमें आगत हाथियों, घोडों तथा बैलों आदिका स्वभावोक्तिमय वर्णन माघकी शैलीका स्मरण कराता है। अष्टम सर्ग व्यापी क्षीरसमुद्र एवं जन्माभिषेकका वर्णन मालिनी छन्दमें बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है।

नवम सर्गका निम्नांकित पुत्रस्पर्शन वर्णन

पुत्रस्य तस्याङ्गसमागमक्षणे निमीलयन्नेत्रयुगं नृपो बभौ ।
अन्तः कियद्गाढनिपीडनाद्वपुः प्रविष्टमस्येति निरूपयन्निव ॥१०॥
उत्सङ्गमारोप्य तमङ्गजं नृपः परिष्वजन्मीलितलोचनो बभौ ।
अन्तर्विनिक्षिप्य सुखं वपुर्गृहे कपाटयोः संघटयन्निव द्वयम् ॥११॥

कालिदासके निम्नांकित वर्णनसे कहीं अधिक सुन्दर जान पडता है।

तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि ।
उपान्तसंमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ॥२६॥ (रघुवंश तृतीय सर्ग)

युवराज धर्मनाथ शृगारवतीके स्वयवरमें सम्मिलित होनेके लिए दक्षिण दिशाकी ओर प्रयाण कर रहे है उस समयका श्लेपमय वर्णन देखिए—

तां नेत्रपेया विनिशम्य सुन्दरीं सुधामलकामयमान उत्सुक ।
क्रामन्नपाचीं हरिसेनया वृतो बभौ स काकुत्स्थ इवास्तदूषण ॥९।५१॥

ऐसा जान पडता है कि 'सुधामल कामयमान' की मनोज्ञ सुरभि नैषधके 'चेतो नल कामयते मदीय' तक जा पहुँची है। नवम सर्गका (६६-७७) गगावर्णन साहित्यिक दृष्टिसे बहुत ही उच्चकोटिका है। दशम सर्गका नाना छन्दोमें रचा हुआ विन्ध्यगिरिका वर्णन माघके चतुर्थ सर्गमें व्याप्त नानावृत्तमय रैवतकगिरिके वर्णनका स्मरण कराता है। दोनो ही जगह यमकालकारको अनुपम छटा छिटकी हुई है। माघमें 'दारुक' के द्वारा और इसमे 'प्रभाकर'के द्वारा पर्वतका वर्णन कराया गया है।

कालिदासने रघुवशके नवम सर्गमें चतुर्थ पाद सम्बन्धी यमकके साथ द्रुतविलम्बित छन्दका अवतार कर काव्यसुधाकी जो मन्दाकिनी प्रवाहित की है उसका अनुसरण माघके षष्ठ सर्ग तथा धर्मशर्माभ्युदयके एकादश सर्ग सम्बन्धी ऋतुवर्णनमे भी किया गया है। जिसप्रकार नाकपर पहने हुए मोतीसे किसी शुभ्रवदनाका मुखकमल खिल उठता है उसीप्रकार इस एक पादव्यापी दो पदोके यमकसे द्रुतविलम्बित छन्द खिल उठा है।

बारहवे सर्गकी वनक्रीडा छन्द और अलकारको अनुकूलताके कारण माघकी वनक्रीडाकी अपेक्षा कही अधिक सुन्दर बन पडी है। समग्र त्रयोदश सर्गमें व्याप्त जलक्रीडाने भारविकी किरातार्जुनीयके अष्टम सर्गमें व्याप्त जलक्रीडाको निष्प्रभ कर दिया है। चतुर्दश सर्गका सायकाल, रात्रि तथा चन्द्रोदयका वर्णन पाठकको आनन्दविभोर कर देता है। चन्द्रोदय होनेपर कमलोकी लक्ष्मी चन्द्रमाके पास चली गयी इसका वर्णन देखिए कितना मनोरम है—

तावत्सती स्त्री ध्रुवमन्यपुसो हस्ताग्रसंस्पर्शसहा न यावत् ।
स्पृष्टा कराग्रै कमला तथाहि त्यक्तारविन्दामिलसार चन्द्रम् ॥१४।५२॥

पचदश सर्गका मधुपान काव्यकी दृष्टिसे बहुत ही उच्चकोटिका है। मदिराकी नशामें जिसकी आवाज लडखडा रही है ऐसी एक स्त्रीका वर्णन देखिए कितना हृदयहारी है—

त्यज्यता पिपिपिपिपिप्रिय पात्रं दयितां सुसुसुखासव एव ।
इत्थमन्थरपदस्खलितोक्ति. प्रेयसी मुदमदाद्दयितस्य ॥२२॥

षोडश सर्गका प्रात कालका वर्णन माघके एकादश सर्गका स्मरण कराता है। माघके प्रात कालके वर्णनमें मालिनी छन्दने यद्यपि अधिक शोभा ला दी है पर धर्मशर्माभ्युदयकी कल्पनाएँ उसकी स्वभावोक्तियो की अपेक्षा अधिक सुन्दर जान पडती हैं। देखिए, चन्द्रमा अस्तोन्मुख है, पूर्वदिशामें अरुणकी लाली छा रही है और दुन्दुभिका शब्द हो रहा है। इसका वर्णन धर्मशर्माभ्युदयमें कितना हृदयहारी हुआ है—

राजान जगति निरस्य सूरसूतेनाक्रान्ते प्रसरति दुन्दुभेरिदानीम् ।
यामिन्या प्रियतमविप्रयोगदु खैर्हृत्सन्धेः स्फुटत इवोद्भट प्रणाद ॥१६।८॥

इसी सोलहवे सर्गका सेना प्रस्थान माघके द्वादश सर्गमें वर्णित श्रीकृष्णकी सेनाके प्रयाणका स्मरण कराता है। सप्तदश सर्गमें शृगारवतीके स्वयवरका जो वर्णन है वह कालिदासके इन्दुमतीके स्वयवर वर्णनको पीछे छोड देता है। स्वयवर सभामें आते ही शृगारवती राजाओके मनमें प्रविष्ट हो गयी इसका श्लेपात्मक वर्णन देखिए कितना कौतुकावह है ?

पयोधरश्रीसमये प्रसर्पद्धारावलीशालिनि सप्रवृत्ते ।
सा राजहसीव विशुद्धपक्षा महीभृता मानसमाविवेश' ॥१७।१६॥

स्वयवरके बाद शृगारवतीके साथ राजपथमें जाते हुए धर्मनाथको देखनेके लिए स्त्रियोका कौतूहल यथार्थमें कौतूहलकी चीज बन गयो है। धर्मशर्माभ्युदयके इस वर्णनने कुमारसम्भव और रघुवशके इस वर्णन-को पीछे छोड दिया है। विवाह दीक्षाके बाद धर्मनाथ अपनी दुलहिन शृगारवतीके साथ चौकके बीच

सुवर्णसिंहासनको अलकृत कर रहे थे उसी समय उन्हें पिताका एक पत्र मिला, जिसे पढकर वे एकदम कुवेर निर्मित विमानपर आरूढ हो रत्नपुरकी ओर चल देते हैं। यहाँ ऐसा लगता है जैसे कविने रसका अकाण्ड-च्छेद कर दिया हो। पाठकके हृदयमे वहती हुई रसकी धारा असमयमें ही शुष्क होती जान पडती है। स्वयवरके बाद होनेवाले युद्धसे अछूता रखनेके लिए ही जान पडता है कविने धर्मनाथको सीधा विमान द्वारा रत्नपुर भेजा है और युद्धका दायित्व सुषेण सेनापतिके ऊपर निर्भर किया है।

अष्टादश सर्गमें (६-४३) ससारकी माया ममतासे विरक्त हो राजा महासेन दीक्षा लेनेके लिए कृत सकल्प है। वे युवराज धर्मनाथको राज्याभिषेकके पूर्व जो उपदेश देते है वह कादम्बरीके शुकनासोपदेश और गद्यचिन्तामणिके आर्यनन्द्युपदेशका सक्षिप्त सस्करण सा जान पडता है। उन्होने युवराज धर्मनाथके लिए गुणार्जनका जो उपदेश दिया है उसे देखिए, कविने श्लेषोपमाके द्वारा कितना आकर्षक वना दिया है—

भृशं गुणानर्जय सद्गुणो जनै क्रियासु कोदण्ड इव प्रशस्यते।
गुणच्युतो बाण इवातिभीषण प्रयाति वैलक्ष्यमिह क्षणादपि ॥१८।११ ॥

उन्नीसवें सर्गमें युद्धवर्णनके लिए कविने जो छन्द और चित्रालकार चुना है वह रसके अनुकूल नही है। यमक और चित्रालकार कविके काव्यकौशलको परखनेके लिए कसौटीका काम देते है। महाकवि हरिचन्द्रका कौशल उनपर खरा उतरा है पर वीररसकी धारा उससे अवरुद्ध हो गयी है। यद्यपि भारवि और माघने भी इस वर्णनके लिए अनुष्टुप् छन्द ही चुना है तथापि आगे-पीछेके सर्गोमे अन्य छन्दोके द्वारा वीररसका वर्णन होनेसे उसके प्रवाहमें न्यूनता नही आ पायी है परन्तु धर्मशर्माभ्युदयमें वीररसके लिए वही एक सर्ग होनेसे अनुकूल छन्दके अभावमें उसकी धारा पूर्ण विकसित नही हो सकी है।

बीसवें सर्गमें कविने धर्मनाथके राज्य, वैराग्य, तपश्चरण और समवसरणका जो वर्णन किया है वह यद्यपि अपने-आपमें परिपूर्ण है तथापि ऐसा लगता है कि कवि, काव्यके इस प्रमुख कथानकको जल्दी निपटाना चाहता है। इक्कीसवे सर्गका उपदेश विस्तृत और अनुरूप छन्दसे युक्त है। इसप्रकार धर्मशर्माभ्युदय, काव्यके वैभवसे युक्त उच्चकोटिका महाकाव्य है।

संस्कृतटीका

धर्मशर्माभ्युदयकी यह 'सन्देहध्वान्तदीपिका'[1] नामक सस्कृत टीका है जो मण्डलाचार्य ललितकीर्तिके शिष्य प० यशस्कीर्तिके द्वारा रचित है। टीका यद्यपि सक्षिप्त है तो भी व्याख्येय अशको उसमे कही छोडा नही गया है। सस्कृत काव्योकी टीकामें मल्लिनाथकी पद्धतिका विशेष समादर है क्योकि उसमें अध्येताओ के बुद्धि-विकासपर दृष्टि रखते हुए उन्होने कोष, विग्रह, समास, व्याकरण आदि सभी उपयोगी विषयोका स्पर्श किया है परन्तु इस सस्कृतटीकामें मात्र ग्रन्थका भाव प्रदर्शित करनेका अभिप्राय रखा गया है। इस पद्धतिमें संक्षेप होता है पर अध्येताकी आवश्यकता पूर्ण नही होती। धर्मशर्माभ्युदय जिस उच्चकोटिका काव्य है उसकी संस्कृतटीका भी उसी कोटिकी होती तो अच्छा होता। मैं इसकी सस्कृत टीका स्वय लिखना चाहता था और १-६ सर्गकी लिख भी चुका था परन्तु आदरणीय डॉ० हीरालालजी की यह उक्ति मेरे हृदयमें घर कर गयी कि अपनेसे पूर्ववर्ती विद्वानोके प्रयासको आगे बढाना—प्रकाशमें लाना परवर्ती विद्वान्‌का कर्तव्य है। फलत मैंने नवीन टीका निर्माणकी योजना स्थगित कर दी और यह प्राचीन टीका सम्पादित कर प्रकाशमें लानेका उपक्रम किया। इतना अवश्य किया है कि कही-कही द्व्यर्थक श्लोकोको टिप्पण तथा सक्षिप्त सुगम व्याख्यासे स्पष्ट करनेका प्रयास किया है। उन्नीसवें सर्गके कुछ श्लोकोंको सस्कृत टीकाकारने

---

१ सन्देहध्वान्तदीपिकाके सिवाय इसपर देवर कविकी एक टीका और है जिसकी प्रतियाँ मूडबिद्री-के जैनमठमें विद्यमान हैं। इन टीकाओके अतिरिक्त एक विषम पाद टिप्पणी भी है। इन्हें मै देख नही सका हूँ।

बीच-बीचमें छोड दिया है सम्भव है कि उन्हें सरल समझ कर छोड दिया हो परन्तु इससे व्याख्याकी धारा खण्डित सी हो गयी है। जहाँ 'स्पष्टोऽयम्' लिखकर छोड दिया है वहाँ तो कोई बात नही है परन्तु जहाँ दो-चार श्लोकोको एक साथ अवतीर्ण कर एककी व्याख्या कर बाकीको छोड दिया है वहाँ व्याख्या खण्डित दिखती है। ऐसे स्थलोंपर मैंने [ ] इस कोष्ठकके भीतर स्वरचित पंक्तियाँ देकर व्याख्याकी कडी जोडनेका प्रयत्न किया है और उसकी सूचना टिप्पणमें दे दी है। इस सस्कृतटीकासे सारभूत अशको लेकर किसीने टिप्पण तैयार किया है जो निर्णयसागर प्रेस बम्बईकी काव्यमालामें मुद्रित धर्मशर्माभ्युदय मूलके साथ दिया गया है। इस सस्करणमें अविरल सस्कृतटीका साथमें रहनेसे टिप्पणकी सार्थकता नही रह गयी थी इसलिए उसे नही दिया है।

सस्कृतटीकाकार यशस्कीर्ति कब हुए इसका मैं कुछ निर्णय नही कर सका परन्तु पुष्पिका वाक्योमें इन्होने अपने-आपको मण्डलाचार्य ललितकीर्तिका शिष्य घोषित किया है। एक भट्टारक ललितकीर्ति वह हैं जिन्होने आदिपुराण और उत्तरपुराणपर सस्कृत टीका लिखी है वे काष्ठासघस्थित माथुर गच्छ और पुष्करगणके विद्वान् तथा जगत्कीर्तिके शिष्य थे। इन्होने आदिपुराणकी टीका सवत् १८७४ के मार्गशीर्ष शुक्ला प्रतिपदा रविवारके दिन समाप्त की है तथा उत्तर पुराणकी टीका सवत् १८८८ में पूर्ण की है। सस्कृतटीकाकार यदि इन्ही ललितकीर्तिके शिष्य हैं तो उनका समय भी यही ठहरता है। परन्तु सम्पादन-के लिए प्राप्त प्रतियोमें श्रीऐलक पन्नालाल सरस्वतीभवन बम्बईसे जो सस्कृतटीका सहित प्रति प्राप्त हुई है और जिसका साकेतिक नाम 'क' दिया गया है उसका लेखन काल १६५२ सवत् लिखा हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि धर्मशर्माभ्युदयके सस्कृतटीकाकार आदिपुराणके टीकाकार ललितकीर्तिके शिष्य न होकर अन्य किसी ललितकीर्तिके शिष्य हैं तथा १६५२ सवत्से तो पूर्ववर्ती है ही।

धर्मशर्माभ्युदयका यह संस्करण और आभार प्रदर्शन

जैनकाव्योमें धर्मशर्माभ्युदय सबसे अधिक लोकप्रिय काव्य है। इसकी लोकप्रियता जैनो तक ही सीमित हो सो बात नही, जैनेतर जनतामें भी इसका अच्छा आदर है। निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे इसकी तीन-चार आवृत्तियाँ निकल चुकी हैं यही इसका प्रमाण है। छोटी अवस्थामें चन्द्रप्रभ काव्यका एक हिन्दी-अनुवाद प० रूपनारायण पाण्डेयका देखा था उसकी सरल शैलीका मेरे हृदयपर बहुत प्रभाव पडा था। उसीके फलस्वरूप मैंने भी धर्मशर्माभ्युदयका एकमात्र हिन्दी अनुवाद लिखा था जो कि भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित हो चुका है।

६ मई १९६० को मान्यवर स्व० देशरत्न डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी भूतपूर्व राष्ट्रपतिको जब मैंने अपना साहित्य भेंट किया था तब धर्मशर्माभ्युदयके उस अनुवादको हाथमें लेकर उन्होने इच्छा प्रकट की कि इसका मूल भी तो होगा? अनन्तर सस्कृत और हिन्दी टीकासे अलकृत जीवन्धर चम्पूका सस्करण देख बोले कि यह पद्धति मुझे पसन्द आयी। इसी पद्धतिसे ग्रन्थ प्रकाशित होना चाहिए। मूलके बिना सस्कृतज्ञको मात्र हिन्दी अनुवादसे तृप्ति नही होती और हिन्दीके जानकारको मात्र हिन्दी पढ लेने से मूलको जाने बिना सन्तोष नही होता। उन्होने कहा था कि अब स्वतन्त्र भारतमें सस्कृतके प्रति लोगोकी निष्ठा बढ़ रही है। ऐसे सस्करण लोगोकी अभिरुचिको बढावेंगे, ऐसा मैं समझता हूँ।

राष्ट्रपतिकी अनुभवपूर्ण सम्मतिसे मेरे हृदयमें जैन काव्योंके सस्कृतटीका और हिन्दी अनुवाद सहित संस्करण निकालने की उत्कट अभिलाषा जागृत हुई। उसीके फलस्वरूप धर्मशर्माभ्युदयका यह सस्करण तैयार हुआ है। उसके मूलभागको ९ प्रतियोंके आधारपर शुद्ध किया गया है। मुद्रित प्रतिमें कही-कहीपर श्लोकोका क्रम भी गडबड हो गया है, हस्तलिखित प्रतियोंके आधारसे वह इस सस्करणमें ठीक किया गया है। मूल श्लोकोंके नीचे सस्कृतटीका और उसके बाद हिन्दी अनुवाद दिया गया है। खास-खास स्थलोपर टिप्पण भी दिये गये हैं। परिशिष्टमें पद्यानुक्रमणिका, और आवश्यक शब्द कोष भी सकलित किये गये हैं।

इस तरह बुद्धिपूर्वक इसे सर्वोपयोगी बनाने का प्रयास किया है। संस्कृत टीकाके अविकल अवलोकन और सशोधित पाठोकी उपलब्धिमें यत्र-तत्र हिन्दी अनुवादमें भी संशोधन किया गया है। प्रारम्भके कुछ श्लोकोमें सस्कृतटीकाकारने खीच-तान कर कितने ही अन्य अर्थ निकाले है उनका समावेश हिन्दी अनुवादमें नही हो सका है, जिज्ञासु सस्कृत टीकासे ही उस भावको ग्रहण करें। समूचे ग्रन्थमें बहुत स्थल तो ऐसे ही है जहाँ सस्कृत और हिन्दी टीकाका भाव एक सदृश है परन्तु कुछ स्थल ऐसे भी है जहाँ दोनोके भावमें कुछ भिन्नता है। मूल ग्रन्थ पाठकोके सामने है उससे वे यथार्थभावको ग्रहण करनेका प्रयास स्वयं करें।

इस काव्यका प्रकाशन उदारचेता श्रीमान् सेठ शान्तिप्रसादजीके द्वारा सस्थापित भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसीसे हो रहा है इसलिए मैं उसके सचालकोके प्रति विनम्र कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। उनके औदार्यके विना इन बडे-बडे ग्रन्थोका प्रकाशन दुर्भर था। जैनकाव्यग्रन्थोमें अब भी अनेक ग्रन्थ ऐसे है जो आधुनिक रीतिसे प्रकाशित होनेके योग्य हैं। सोमदेवका यशस्तिलकचम्पू, हस्तिमल्लके नाटक, वीरनन्दीका चन्द्रप्रभ-चरित, अर्हद्दासका पुरुदेव चम्पू, अजितसेनका अलकारचिन्तामणि, वाग्भटका वाग्भटालकार तथा वादीभ-सिंहका क्षत्रचूडामणि आदि ग्रन्थ सुसम्पादित होकर यदि प्रकाशमें लाये जाये तो उनसे जैन सस्कृत साहित्यकी गरिमामें अवश्य ही वृद्धि होगी। आशा है ग्रन्थमालाके सचालक इन ग्रन्थोकी ओर भी अपनी उदार दृष्टि अर्पित करेंगे।

मैं बुद्धिपूर्वक तो यही प्रयास करता हूँ कि जिनवाणीकी सेवामें मेरे द्वारा कही त्रुटि न रह जाये—पुरातन आचार्यों और कवियोका भाव कुछ-का-कुछ प्रकट न हो जाये फिर भी अल्पज्ञताके कारण अनेक त्रुटियोंका रह जाना सम्भव है। उन त्रुटियोके लिए मैं विद्वानोसे क्षमा प्रार्थी हूँ।

वर्णीभवन सागर

विदुषा वशवद
पन्नालाल जैन

विषयानुक्रमणिका

विषय	श्लोक	पृष्ठ
प्रथम सर्ग		
मङ्गलाचरण	१– ८	१– ४
पूर्वकवि प्रशसा	९–१०	४– ५
कविका आत्मलाघव	११–१३	५– ६
हृद्य अर्थ और हृद्य शब्दावलीकी प्रशंसा	१४–१७	६– ७
सज्जन प्रशंसा और दुर्जन निन्दा	१८–३१	७–१०
जम्बूद्वीपका वर्णन	३२–३७	११–१२
जम्बूद्वीप स्थित सुमेरुपर्वतका वर्णन	३८–४०	१२
भरतक्षेत्र और आर्यखण्डका वर्णन	४१–४२	१३
उत्तरकोशल देशका वर्णन	४३–५५	१३–१६
रत्नपुर नगरका वर्णन	५६–८६	१६–२३
द्वितीय सर्ग		
रत्नपुर नगरके राजा महासेनका वर्णन	१–३४	२४–३२
महासेनकी रानी सुव्रताका वर्णन	३५–६२	३२–३८
राजा महासेनके द्वारा सुव्रता रानीके सौन्दर्य आदिका चिन्तन	६३–६८	३८–३९
राजा महासेनके द्वारा पुत्राभावजनित दु ख	६९–७४	३९–४१
वनपाल द्वारा प्रचेतस् मुनिके आगमनको सूचना	७५–७९	४१–४२
तृतीय सर्ग		
परिकर सहित राजा महासेनका मुनि वन्दनाके लिए प्रस्थान	१–२१	४३–४६
राजा महासेनके द्वारा वनालीका वर्णन	२२–३५	४६–४८
राजाके वनप्रवेशका वर्णन	३६–३७	४८
प्रचेतस् मुनिका दर्शन	३८–४७	४९–५०
राजा द्वारा प्रचेतस् मुनिकी स्तुति	४८–५५	५०–५१
राजाने प्रचेतस् मुनिसे पूछा कि सुव्रताके पुत्र कब होगा ?	५६–६०	५२
प्रचेतस् मुनिने सान्त्वना देते हुए कहा कि सुव्रता रानीकी कुक्षिसे पन्द्रहवें तीर्थंकरका जन्म होगा ।	६१–७४	५२–५४
मुनिका उत्तर सुनकर राजाका प्रसन्न होना तथा पन्द्रहवे तीर्थंकरके पूर्वभवोका पूछना	७५–७७	५४–५५

चतुर्थ सर्ग

प्रचेतस् मुनि द्वारा पन्द्रहवे तीर्थंकर धर्मनाथके पूर्वभव वर्णनके प्रसङ्गमें धातकीखण्ड द्वीपके पूर्वविदेहमें स्थित वत्स देशका वर्णन	१–१२	५६–५८
वत्स देशमें स्थित सुसीमानगरीका वर्णन	१३–२५	५८–६१
सुसीमानगरीके राजा दशरथका वर्णन	२६–४०	६१–६४
राजा दशरथ द्वारा चन्द्रग्रहणका दर्शन और उससे वैराग्यकी उत्पत्तिका वर्णन	४१–५४	६४–६७
वैराग्य चिन्तनके अन्तर्गत वृद्धावस्थाका वर्णन	५५–६०	६७–६८
राजा दशरथ द्वारा मन्त्रियो तथा बन्धुवर्गसे दीक्षा लेनेकी बात पूछनेपर सुमन्त्र मन्त्रीने जीवतत्त्व तथा परलोकका खण्डन करते हुए राजाके तपश्चरणको निरर्थक बतलाया।	६१–६६	६८–७०
राजा द्वारा सुमन्त्र मन्त्रीके कथनका खण्डन और जीवतत्त्वकी सिद्धि	६७–७६	७०–७२
राजा दशरथने वनमें जाकर विमलवाहन मुनिसे दीक्षा लेकर तपश्चरण किया, उसका वर्णन	७७–८२	७२–७३
दशरथ मुनि समाधिमरणकर सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुए उसका वर्णन	८३–९०	७३–७५
प्रचेतस् मुनिने राजा महासेनसे कहा कि वही अहमिन्द्र छह माह बाद सुव्रता रानीके गर्भमें अवतीर्ण होगा। यह सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न होता हुआ नगरमें वापस लौटा	९१–९३	७५–७६

पञ्चम सर्ग

राजा महासेनकी सभामें कुछ देवियाँ आकाशमें अवतीर्ण हुईं उनका वर्णन	१–१०	७७–७८
देवियोने आकर राजा महासेनको देखा इसका वर्णन	११–२३	७८–८१
राजाने देवियोंसे आगमनका कारण पूछा	२४–२६	८१–८२
देवियोमें प्रधान लक्ष्मी देवीने कहा कि, 'हम लोग इन्द्रकी आज्ञासे आपकी सुव्रता रानीकी सेवाके लिए आयी हैं क्योकि उनके गर्भमें धर्मनाथ तीर्थंकर अवतीर्ण होनेवाले हैं।' यह सुनकर राजाने प्रसन्न होकर उन देवियोको अन्त पुरमें भेज दिया	२७–३७	८२–८३
देवियोने रानी सुव्रताको देखकर उनकी सेवा किस प्रकार करें यह विचार किया तथा सुव्रता रानीको अपना परिचय दिया	३८–४६	८४–८६
देवियो द्वारा सुव्रता रानीकी सेवाका वर्णन	४७–५७	८६–८८
सुव्रता रानीके स्वप्नदर्शनका वर्णन	५८–७७	८८–९३
स्वप्न देखकर प्रात काल सुव्रता रानी स्वप्नोका फल पूछनेके लिए पतिके पास गयी। पतिने समस्त स्वप्न सुनकर उनका फल बताया	७८–८६	९३–९५

स्वप्नोका फल सुनकर रानी अत्यन्त प्रसन्न हुई। उसी समय सर्वार्थसिद्धिसे च्युत होकर अहमिन्द्रने सुव्रताके गर्भमें अवतार लिया। देवोने आकर गर्भ कल्याणकका उत्सव मनाते हुए राजदम्पतीका सन्मान किया	८७–९०	९५– ९६

षष्ठ सर्ग

सुव्रता रानीकी गर्भावस्थाका वर्णन	१–१२	९६–१००
माघशुक्ल त्रयोदशीके दिन भगवान् धर्मनाथका जन्म हुआ। जिसके फलस्वरूप चारो निकायके देवोके भवनोमें अतिशय प्रकट हुए	१३–१९	१००–१०२
राजा महासेनने पुत्र जन्मका उत्सव मनाया ससारमें आनन्द छा गया	२०–२८	१०२–१०४
आसनके कम्पित होनेसे इन्द्र तीर्थंकरके जन्मको ज्ञातकर चतुर्निकायके देवोके साथ पृथिवीपर आया। और जन्माभिषेकके लिए जिन बालकको लेकर सुमेरु पर्वतकी ओर चला	२९–५३	१०४–१११

सप्तम सर्ग

प्रसूतिकागृहमें स्थित जिनमाताकी गोदमें, मायानिर्मित बालकको रखकर इन्द्राणी जिनबालकको ले आयी। जिनबालकको देख सुर-असुरोका समूह हर्षसे खिल उठा। इन्द्राणीने वह बालक प्रणाम करते हुए इन्द्रके लिए सौंप दिया	१– ५	११२
इन्द्र उस बालकको गोदमें लेकर ऐरावत हाथीके मस्तकपर आरूढ हुआ और अभिषेक करनेके लिए सुर-असुरोके साथ सुमेरुकी ओर चला	६–१९	११३–११५
मार्गमें देवसेनाका वर्णन, सुमेरुपर्वतका वर्णन, सुमेरुपर्वतपर देवसेनाओके ठहरनेका वर्णन, तदन्तर्गत हाथी घोडा आदिका वर्णन	२०–६८	११५–१२७

अष्टम सर्ग

इन्द्रने सुमेरुपर्वतके मस्तकपर स्थित मणिमय सिंहासनपर जिनबालकको विराजमान किया। देवोने अभिषेककी तैयारी की	१–११	१२८–१३१
क्षीर समुद्रका वर्णन	१२–२७	१३१–१३५
देव लोग जलसे भरे हुए कलश लेकर आकाशमार्गसे सुमेरुपर्वतपर पहुँचे। इन्द्रने एक हजार कलशोसे जिनबालकका अभिषेक किया	२८–४२	१३६–१३९
इन्द्रादि देवोंने भगवान्का स्तुति की। अभिषेकके बाद इन्द्र भगवान्को लेकर सुरसेनाके साथ वापस आया। माताकी गोदमें जिनबालकको सौपकर तथा जन्मोत्सव कर इन्द्र सुरसेना सहित स्वर्ग चला गया	४३–५७	१३९–१४३

नवम सर्ग

धर्मनाथकी बाल्यावस्थाका वर्णन	१–१४	१४४–१४६
धर्मनाथके यौवनका वर्णन	१५–२७	१४६–१४९
यौवराज्य प्राप्तिका वर्णन	२८–३०	१४९
विदर्भ देशके राजा प्रतापराजने अपनी पुत्री शृंगारवतीके स्वयवरमें कुमार धर्मनाथको बुलानेके लिए दूत भेजा	३१–३२	१४९
दूतने शृंगारवतीका चित्रपट दिखाया	३३–३५	१४९–१५०
राजा महासेनकी आज्ञासे धर्मनाथ, सेनाके साथ विदर्भ देशके प्रति गये इसका वर्णन	३६–६७	१५०–१५६
मार्गमें गगा नदीका वर्णन	६८–८०	१५६–१५९

दशम सर्ग

विन्ध्याचलका विविध छन्दो द्वारा वर्णन	१–५७	१६०–१७४

एकादश सर्ग

कुमार धर्मनाथने विन्ध्यगिरिपर निवास किया उनके सम्मानके लिए छह ऋतुओका आगमन हुआ	१– ६	१७५
वसन्त ऋतुका वर्णन	७–२९	१७६–१८०
ग्रीष्म ऋतुका वर्णन	३०–३१	१८०
वर्षाऋतुका वर्णन	३२–४४	१८०–१८२
शरद्ऋतुका वर्णन	४५–५२	१८२–१८४
हेमन्तऋतुका वर्णन	५३–५६	१८४
शिशिरऋतुका वर्णन	५७–६२	१८४–१८६
यमकालकार द्वारा षट्ऋतुओका पुन सक्षिप्त वर्णन	६३–७२	१८६–१८८

द्वादश सर्ग

वनक्रीडा, पुष्पावचय आदिका वर्णन	१–६३	१८९–२००

त्रयोदश सर्ग

नर्मदा नदीमें जलक्रीडाका वर्णन	१–७१	२०१–२१३

चतुर्दश सर्ग

सायकालका वर्णन	१–२०	२१४–२१७
अन्धकारका वर्णन	२१–३१	२१७–२१९
चन्द्रोदयका वर्णन	३२–५२	२१९–२२३
स्त्रियोके प्रसाधन—साजशृगारका वर्णन	५३–६०	२२३–२२४
दूतीप्रेषण आदिका वर्णन	६१–८४	२२४–२२९

पञ्चदश सर्ग

पानगोष्ठीका वर्णन	१–२७	२३०–२३४
रतिक्रीडाका वर्णन	२८–७०	२३५–२४२

षोडश सर्ग

प्रभात और मागधोकी जागरणवाणीका वर्णन	१– ४१	२४३–२५०
युवराज धर्मनाथकी यात्रा तथा नर्मदाको पारकर विदर्भ देश पहुँचनेका वर्णन	४२– ६६	२५१–२५५
विदर्भ देशका वर्णन	६७– ७२	२५५–२५६
विदर्भ देशके कुण्डिनपुर नगरमें वहांके राजा प्रतापराजके साथ समागमका वर्णन	७३– ८८	२५६–२५९

सप्तदश सर्ग

कुमार धर्मनाथने स्वयवर मण्डपमें प्रवेश किया	१– १०	२६०–२६१
कन्याने स्वयवर मण्डपमें प्रवेश किया। कन्याके शरीर सौष्ठवका वर्णन	११– ३१	२६१–२६५
प्रतिहारी द्वारा राजाओका वर्णन	३२– ७९	२६५–२७४
कन्याने युवराज धर्मनाथके कण्ठमें स्वयवरमाला डाली इसका वर्णन	८०– ८२	२७४–२७५
युवराज धर्मनाथका नगर प्रवेश, तथा स्त्रियोकी चेष्टाका वर्णन	८३–१०४	२७५–२७८
युवराज धर्मनाथके विवाहका वर्णन	१०५–१०५	२७९–२७९
पिताके पाससे युवराज धर्मनाथको बुलानेके लिए दूत आया इसलिए वे सेनाका सब भार सेनापतिको सौपकर विमानसे वधूसहित अपने नगरमें वापस आ गये इसका वर्णन	१०६–११०	२७९–२८०

अष्टादश सर्ग

रत्नपुरनगरमें युवराज धर्मनाथके वापस आनेपर पिता राजा महासेनने बहुत उत्सव किया तथा माता-पिताने परमसुखका अनुभव किया	१– ५	२८१
राजा महासेनने युवराज धर्मनाथके लिए पृथिवीका भार सौंपनेकी इच्छासे सदुपदेश दिया और स्वय दीक्षा लेनेका भाव प्रकट किया	६– ४३	२८२–२८९
धर्मनाथके राज्याभिषेकका वर्णन	४४– ५३	२८९–२९०
राजा महासेनकी दीक्षाका वर्णन	५४–	२९०
राजा धर्मनाथके राज्यका वर्णन	५५– ६७	२९०–२९३

एकोनविंश सर्ग

सुषेण सेनापतिका अनेक राजाओके साथ जो युद्ध हुआ उसका चित्रालकार द्वारा वर्णन	१–१०४	२९४–३१३

विंश सर्ग

पाँच लाख वर्षतक भगवान्ने राज्य किया। तदनन्तर एक दिन उल्कापात देखनेसे वैराग्य उत्पन्न हुआ। वैराग्यका वर्णन। लौकान्तिक देवोने स्वर्गसे आकर भगवान्की स्तुति की	१– २६	३१४–३१८

पुत्रको राज्य देकर भगवान्‌ने माघ शुक्ला त्रयोदशीको अपराह्न-कालमें दीक्षा धारण की। देवोंने दीक्षा-कल्याणकका उत्सव किया। दीक्षाके बाद पाटलीपुत्रके राजा धन्यसेनके घर भगवान्‌का प्रथम आहार हुआ	२७– ३४	३१८–३१९
भगवान्‌के तपश्चरणका वर्णन। एक वर्षतक छद्मस्थ अवस्थामें विहार करनेके बाद माघ शुक्ल पूर्णिमाके दिन उन्हें केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ। देवोंने ज्ञानकल्याणकका उत्सव किया	३५– ६८	३१९–३२६
कुबेर द्वारा निर्मित समवसरण सभाका वर्णन, अष्ट प्रतिहार्योंका वर्णन	६९–१०१	३२७–३३२

एकविंश सर्ग

गणधरने भगवान्‌से तत्त्वका स्वरूप पूछा उसके फलस्वरूप दिव्य-ध्वनिके द्वारा भगवान्‌का उपदेश हुआ। तदन्तर्गत जैन-सिद्धान्तका वर्णन	१–१६६	३३३–३५०
भगवान्‌के विहारका वर्णन	१६७–१७५	३५०–३५१
भगवान्‌के शरीरकी ऊँचाई, वर्ण तथा गणधर आदिकी संख्या-का वर्णन	१७६–१८५	३५१–३५२

ग्रन्थकर्तृ प्रशस्ति	१– १०	३५३–३५४

परिशिष्ट

१ चित्र	३५५–३५६
२ श्लोकानुक्रम	३५७–३७२
३. सुभाषित	३७३–३७४
४. पारिभाषिक शब्दकोष	३७५–३७८
५ व्यक्तिवाचक शब्दकोष	३७९
६ भौगोलिक शब्दकोष	३८०
७ विशिष्ट साहित्यिक शब्दकोष	३८१–३९०

धर्मशर्माभ्युदयम्

ॐ नमो वीतरागाय

श्रीधर्मशर्माभ्युदयं महाकाव्यम्

[प्रथम सर्ग]

श्रीनाभिसूनोश्चिरं[1] मह्लियुग्मनखेन्दवः कौमुदमेधयन्तु ।
यत्रानमन्नाकिनरेन्द्रचक्रचूडाश्मगर्भप्रतिबिम्बमेणः ॥१॥

[संस्कृतटीका]

जयति जगति मोहध्वान्तविध्वंसदीपः स्फुरत्कनकमूर्तिर्ध्यानलीनो जिनेन्द्रः ।
यदुपरि परिकीर्णस्कन्धदेशा जटाली विगलितसरलान्तः कज्जलाभा विभाति[2] ॥
जयति शिवपुरस्त्रीस्मेरनेत्रावपातस्तवकितवपुरुच्चैर्नाभिसूनुर्जिनेन्द्रः ।
सरसविकसिताम्भोजातपूजोपचारः कृतसरसिजमालामन्तरेणापि यस्य ॥
शक्तिरूपस्थितं ज्ञानं येन संक्षिप्तसूत्रवत् । विस्तार्यानन्ततां नीतं तस्मै सद्गुरवे नमः ॥
हारिचन्द्रं महाकाव्यं गम्भीरार्थमनेकशः । विवृणोमि यथाबुद्धि मन्दबुद्धिविबुद्धये ॥

तत्रादाविष्टदेवतानमस्कारार्थं साधुसमाचारप्रतिपादनार्थं निर्विघ्नेन ग्रन्थसमाप्त्यर्थमनन्तपुण्योपार्जनार्थं च वृत्तमिदमुच्यते—श्रीनाभीति—एधयन्तु । के कर्तारः । अह्लियुग्मनखेन्दवः, नखा एव इन्दवो नखेन्दवश्चन्द्रमसः, अह्लियुग्मस्य नखेन्दवस्ते तथाविधाः । किं कुर्वन्तु । कौ पृथिव्यां मुदं हर्षं वितन्वन्तु । कस्य । नाभिसूनोरादितीर्थकरस्य चरमकुलकरतनूजस्य । श्रीशब्दो मङ्गलाभिधायी । यदि वा श्रीः सर्वसम्पत् तया उपलक्षितो नाभिरादीक्ष्वाकुवंशभूः क्षत्रियविशेषः । चिरं सर्वकालम् । उत्तरार्द्धेन नखानामिन्दोश्च साम्यं प्रतिपादयन्नाह—यत्र येषु एणो मृगो वर्तत इत्यध्याहार्यम् । किमेणः । आनमन्नाकिनरेन्द्रचक्रचूडाश्मगर्भप्रतिबिम्बम्—नाकिनो देवास्ते च नरेन्द्राश्च तेषां चक्रं समूहः आ सामस्त्येन नमच्च तन्नाकिनरेन्द्रचक्रं च तस्य चूडा मकुटं तत्राश्मगर्भं मरकतं तस्य प्रतिबिम्बं तत्तथाभूतम् । ननु सर्वपार्षदत्वान्महाकाव्यस्य जैनैकपर्षदीयस्य युगादिदेवस्यैव नमस्कारविधानमनुचितमिवोपलभ्यते । महाकाव्यस्य च शृङ्गाराख्यव्यवहारमूलत्वात् । शृङ्गाररसव्यवहारस्तु काममूलस्तस्याप्यत्र नमस्कारयोग्यता । निःकामाना हि महाकाव्ये रचनानादरात्, तेषां शान्तरस एव परिणामः । न वाच्यमित्थम् अत्र हि हरिहरप्रभृतिसकलसुरसार्थज्येष्ठस्य कमलवसतेः श्लेषोल्लेखेन नमस्कारप्रतिपादनमुद्भाव्यते तथाहि नाभिर्मध्यं, श्रीर्लक्ष्मीर्नाभौ मध्ये यस्य तत् श्रीनाभिकमलं तस्य सूनुः कमलभूरित्यर्थः । यदि वा श्रिया उपलक्षिता नाभिः श्रीनाभिस्तस्याः सूनुर्नाभिजात इति प्रसिद्धः 'ब्रह्मापि नाभिजातः' इति श्लेषवचनात् तथा कामस्यापि श्रीर्लक्ष्मीस्तस्या इनः स्वामी श्रीनो नारायणस्तस्याभि सामस्त्येन सूनुः 'कामो विष्णु-

[हिन्दी अनुवाद]

श्री नाभिराजाके सुपुत्र – भगवान् वृषभदेवके वे चरणयुगल सम्बन्धी नखरूपी चन्द्रमा चिरकाल तक पृथिवीपर आनन्दको बढ़ाते रहें, जिनमें सब ओरसे नमस्कार करनेवाले देवेन्द्रों और नरेन्द्रोंके मुकुटोंमें संलग्न मरकत मणियोंका प्रतिबिम्ब हरिणके समान

१ मह्लि ख, ग, ङ, छ, च, ज । २ विभर्ति क० ।

चन्द्रप्रभ नौमि यदीयभासा नून जिता चान्द्रमसी प्रभा सा।
नो चेत्कथ तर्हि [1]तदङ्घ्रिलग्न नखच्छलादिन्दुकुटुम्बमासीत् ॥२॥
दुरक्षरक्षोदधियेव धात्र्या मुहुर्मुहुर्घृष्टललाटपट्टा।
य स्वर्गिणोऽनल्पगुण प्रणेमुस्तनोतु न. शर्म स धर्मनाथ ॥३॥

पुत्र' इति पौराणिका। अभिशब्दो निरर्थक इति चेत्, तन्न अभिशब्द परिच्छेदको वा एक एव सूनु। यदि वा वाक्यालकारे यथा सुमेरु सुपुत्र इति। एतेनैतदुक्त भवति श्रीनाभिसूनोरादिनाथस्य कमलवसतेर्वा चरणयुगलनखचन्द्रा भूमौ हर्ष विस्तारयन्तु इति तात्पर्यार्थ। ननु कुशब्देन मध्यभुवनमेव लभ्यते नोर्ध्वभुवन नाधोभुवन वा तत ऊर्ध्वाधोभुवनाभ्या किमपराद्ध येनेदमुच्यते। सत्यमेवोक्तम्। तथापि भगवतो युगादिदेवस्य जन्मकल्याणादिमहोत्सवे भुवनत्रयलोकस्याप्येकसवास। यदि वा मध्यभुवनमेव चतुर्थपुरुषार्थसाधनस्थान मोक्षहेतुत्वात् सकलभव्यपङ्क्तेश्च।[2] अथ चोक्तिलेश। अन्येऽपि ये किल चन्द्रा भवन्ति ते कौमुद कुमुदाना समूहमुल्लासयन्ति। कामचरणनखेन्दवोऽपि कौमुदमेधयन्तु पुष्पायुधत्वात्तस्य। यदि वा श्रीनाभिसूनोरादिजिनस्वामिनश्चरणद्वयनखचन्द्रा एँ[3] विष्णौ मुद हरहरिरित्युक्तिभरानुस्यूतानुस्मरणप्रवाहिका प्रीतिं कौ पृथिव्या वयन्तु पिबन्तु समूलकाप कपन्त्वित्यर्थ। कस्य नाम भगवच्चरणसदर्शने हि हरिहरहिरण्यगर्भादिषु मन प्रमोदमुद्वहति। यदुक्तम् 'मन्ये[4] वर हरिहरादय एव दृष्टा' इत्यादि। एतेन मिथ्यात्वनिरसनद्वारेण सम्यक्त्वमुद्रोन्निद्राणाशसनात् सकलजगज्जन्तूनामात्मनश्च मुक्तिश्रीकुचकुम्भसङ्गसुभगमन्यतावाप्तिराशसिता भवतीति तात्पर्यार्थ। इन्दव इति बहुवचनत्वादत्र एणप्रतिबिम्बेऽपि बहुवचन प्राप्नोतीति चेत्, तन्न, जातिवाच्यत्वात् यथा 'सपन्नो यव' इति। नखानामिन्दुरूपकता सुवृत्तत्वात्कान्तिमत्त्वात्तापापहारकत्वादाह्लादकत्वाच्च। अत्राशीर्द्वारेण नमस्क्रियानिर्देश। अत्रावसरगर्भो रूपकोऽयमलकार। चिरकालमितिपदोपादानेन व्यतिरेकाभासोऽपि नखा एव चिरमेधयन्तु न चन्द्रा इति ॥१॥[5] चन्द्रप्रभमिति—नौमि नमस्करोमि। कम्। चन्द्रप्रभम् अष्टमतीर्थनाथम्। यदीयभासा यस्य कान्तिकलापेन, जिता पराभूता। कासौ। प्रभा। कस्य सबन्धित्वेन। चन्द्रमस इय चान्द्रमसी। सा शीतत्वाह्लादकप्रकाशकादिप्रभावप्रसिद्धा। ननु सितत्वाभिधायकविशेषणमन्तरेण नैतल्लभ्यत इति चेत्, तन्न, चन्द्रस्य प्रभेव प्रभा यस्येति विशेष्यव्युत्पत्तिद्वारेणैव सिद्धसाध्यत्वात्। नून निश्चित नोचेदित्याक्षेपवचनम्। चेद्यदि नैतत्पूर्वोक्त घटत इत्यनुमानेन दृढयन्नाह—कथ केन प्रकारेण। तर्हि तद् इन्दुकुटुम्ब चन्द्रगोत्रम् आसीदभवत् तदङ्घ्रिलग्न तत्पादप्रणतितत्पर नखच्छलादुद्वृत्तकान्तिमन्नखव्याजात्। अनेनैव श्लोकेन शम्भोरपि नमस्क्रिया। तथाहि चन्द्रप्रभ चन्द्रेण चूडामणिस्थानो येन प्रभातीति चन्द्रप्रभ चन्द्रमौलिम्। यदि वा चन्द्रस्येव प्रभा यस्य स चन्द्रप्रभस्तस्य भस्मावधूलितत्वात् शुद्धस्फटिकवर्णत्वाच्च त तथाभूतम्। यदीयभासा यस्य तेजसा जिता। का। प्रभा, किंविशिष्टा। चान्द्रमसी चन्द्र मस्यति मित्रत्वान्निजकार्ये परिणामयति चन्द्रमस कामस्तस्य 'चन्द्रो मित्रम्' इति प्रसिद्धि। यस्येय चान्द्रमसी कान्दर्पी। अलीकमिति चेत्। कथ तर्हि कामदाहप्रस्तावे तत्प्रणामैकरसिकचन्द्रकुटुम्ब तथासीत्। अनुमानोऽयमलकार ॥२॥ दुरक्षरेति—स प्रसिद्धो धर्मनाथ पञ्चदशतीर्थकर। शर्म सौख्य तनोतु विस्तारयतु। केषाम्।

सुशोभित होता था ॥१॥ मैं उन चन्द्रप्रभ स्वामीकी स्तुति करता हूँ, जिनकी प्रभासे चन्द्रमाकी वह प्रसिद्ध प्रभा – चाँदनी मानो जीत ली गयी थी, यदि ऐसा न होता तो चन्द्रमाका समस्त परिवार नखोंके बहाने उनके चरणोंमें क्यों आ लगता ॥२॥ दुष्ट अक्षरोंको नष्ट

१ तदङ्घ्रिलग्न ख, ग, ड, घ, च, ज। २ प्रत्तैश्च क०। ३ अ वासुदेवो विष्णुरित्यर्थ। अशब्दस्य सप्तम्येकवचने 'ए' इति रूपम्। ४ 'मन्ये वर हरिहरादय एव दृष्टा दृष्टेषु येषु हृदय त्वयि तोषमेति। किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्य कश्चिन्मनो हरति नाथ भवान्तरेऽपि।' भक्तामरस्तोत्रे मानतुङ्गस्य। ५ इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोर्मेलनादुपजातिवृत्तम् 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ ग' 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' 'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ता' इति लक्षणात्।

सप्रत्यपापा' स्म इति प्रतीत्यै वह्नाविवाह्नाय मिथ प्रविष्टा ।
यत्कायकान्तौ कनकोज्ज्वलाया सुरा विरेजुस्तमुपैमि शान्तिम् ॥४॥
भूयादगाध स विवोधवार्धिर्वीरस्य रत्नत्रयलब्धये वा ।
स्फुरत्पयोवुद्वुदविन्दुमुद्रामिद यदन्तस्त्रिजगत्तनोति ॥५॥
निर्मार्जिते यत्पदपङ्कजाना रजोभिरन्त प्रतिविम्बितानि ।
जना स्वचेतोमुकुरे जगन्ति पश्यन्ति तान्नौमि मुदे जिनेन्द्रान् ॥६॥

नोऽस्माकम् । अनल्पगुण प्रभूतानन्तगुणम् । य स्वर्गिणो देवा महेन्द्रा, प्रणेमुर्नमश्चक्रु । तेपा विशेषणद्वारेण भक्तिभार दर्शयन्नाह—कथभूता । घृष्टललाटपट्टा अतिशयसश्लिष्टभालतटा । कथम् । मुहुर्मुहुर्वारवारम् । कस्याम् । धात्र्या पादपीठपृथिव्याम् । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—दुरक्षरक्षोदधियेव दुष्टदेवाक्षरविनाशाभिप्रायेण । नहि परमेश्वरपादपीठघर्पणमन्तरेण भालपट्टलिखितदैवदुष्टाक्षराणा निर्मार्जनमित्यभिप्राय । ननु दारिद्र्यादि-दु खोपद्रुतमनुजानामेव दैवलिपिर्वर्ण्यते न सुखाद्वैतप्रासाना देवानाम् । न वाच्यमेतत् ससारित्वमेव तेषा दैवलिपि-रिति । यदि वा सधर्मनाथ सह धर्मैर्नववनवतियज्ञैर्वर्त्तत इति सधर्मा वलि त,नाथते याचते इति सधर्मनाथो विष्णु । शर्म तनोतु य देवा प्रणेमु किमर्थमित्याह—दुरक्षरेत्यादि—दुष्टोऽक्ष सघातो येपा, तानि च तानि रक्षासि च तानि द्यति शातयतीति ।- सा चासौ धीश्च तयेव सज्ञयेव । तत्तद्भयाद् भूमिघृष्टललाटपट्टस्पष्ट-सज्ञयेति कथयन्तोऽत्र भूमौ ये रक्ष सघातास्तान् निजहतीति तात्पर्यम्[1] ॥३॥ सप्रतीति—शान्ति पोडशतीर्थनाथम् उपैमि आश्रयामि । यत्कायकान्तौ यस्य देहप्रभाया कनकोज्ज्वलाया सुवर्णभासुराया सुरा देवा विरेजु शुशुभिरे । अर्थत प्रतिविम्बिता इति गम्यते, अतश्चोत्प्रेक्षते वह्नाविवाग्नाविव ज्वालाकलाप इव प्रविष्टा, मिथ परस्पर प्रतीत्यै शुद्धिदानाय, अह्नाय शीघ्रम् अशुद्धो हि काल क्षेपयति । इतिशब्दो हेत्वर्थे सप्रति साप्रत भगवद्दर्शनमारभ्य अपापा स्म पापदोपनिर्मुक्ता वर्तामहे[2] ॥४॥ भूयादिति—स प्रसिद्धो महानगाधोऽ-लब्धमध्यो वीरस्यान्तिमतीर्थनाथस्य विवोधवार्द्धिर्ज्ञानसमुद्रो भूयात् प्रवर्तिपोष्ट प्रभवत्विति यावत् । केपाम् । वो युष्माकम्, कस्यै । रत्नत्रयलब्धये, रत्नानीव रत्नानि सागरतारतम्यविश्रान्तिमूलत्वात्सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्रलक्षणानि तेपा त्रय रत्नत्रय, 'समुद्रसेवा हि रत्नार्थ'मिति लोकानुवाद । अगाधधर्मत्व दृढयन्नाह—यदन्तर्यन्मध्ये इद त्रिजगत् त्रिभुवन कर्तृ, तनोति विभर्त्ति, काम् । स्फुरत्पयोबुद्बुदविन्दुमुद्रा स्फुरन्तश्च ते पयोवुद्बुदविन्दवश्च तेपा मुद्रा मूर्तिस्ताम् विलसज्जलबुद्बुदपर्यन्तसूक्ष्मबिन्दुच्छायाम् । ननु ज्ञानस्य त्रिभुवनमेव ज्ञेयम्, तद्वहिर्भूत ज्ञेयमपि नास्ति तत्कथ ज्ञेयव्यतिरेकेण ज्ञानाधिक्य दर्शितवान् । सत्य, न नाम दीपस्यैकघटप्रकाशिकैव शक्ति किन्तु यावत्सभवद्घटप्रकाशिका तथा भगवतोऽपि ज्ञान त्रिभुवन-शतसहस्रप्रकाशकमेव ततस्तस्यैक त्रिभुवनज्ञेय न किंचिदित्यर्थ । रूपकावसरगर्भोऽतिशयालकार ॥ ५ ॥ निर्मार्जित इति—नौमि नमामि, कान् । जिनेन्द्रान् जयन्ति कर्मारातीन् जिना गणधरदेवादयस्तेषामिन्द्रा परमैश्वर्ययुक्तास्तान् । कस्यै । मुदे अनन्तप्रमोदाय । तेषा परमानन्दप्रभावत्व स्थापयन्नाह—जना भव्यलोका

करनेकी भावनासे ही मानो जिन्होने पृथिवीपर बार-बार अपना ललाटतट घिसा है, ऐसे देवलोक, जिन बहुगुणधारी धर्मनाथको नमस्कार करते थे, वे धर्मनाथ हमारे सुखको बढावें ॥ ३ ॥ जिनकी सुवर्णके समान उज्ज्वल शरीरकी कान्तिके बीच देवलोक ऐसे सुशोभित होते थे मानो इस समय हम निर्दोष हैं ऐसा परस्पर विश्वास करानेके लिए अग्निमे ही प्रविष्ट हुए हों—अग्नि परीक्षा दे रहे हों मैं उन शान्तिनाथ भगवान्‌की शरणको प्राप्त होता हूँ ॥४॥ श्री वर्द्धमानस्वामीका वह सम्यग्ज्ञान रूपी गहरा समुद्र तुम सबकी रत्नत्रयकी प्राप्तिके लिए हो जिसके भीतर यह तीनों लोक प्रकट हुए पानीके बबूलेकी शोभा बढाते हैं ॥ ५ ॥ जिनके चरणकमलोंकी परागसे साफ किये हुए अपने चित्तरूपी दर्पणके भीतर प्रतिबिम्बित

---

१ उत्प्रेक्षालकार । २ उत्प्रेक्षालकार ।

रत्नत्रय तज्जननार्त्तिमृत्युसर्पत्रयीदर्पहर नमामि ।
यद्भूपण प्राप्य भवन्ति शिष्टा मुक्तेर्विरूपाकृतयोऽप्यभीष्टा ॥७॥
त्वद्भक्तिनम्र जनमाश्रयाव साक्षादिति प्रष्टुमिवोपकर्णम् ।
चन्द्राश्मताटङ्कपदात्पदार्थौ यस्या स्थितौ ध्यायत भारती ताम् ॥८॥
जयन्ति ते केऽपि महाकवीना स्वर्गप्रदेशा इव वाग्विलासा ।
पीयूषनिस्यन्दिपु येपु हर्पं केपा न धत्ते सुरसार्थलीला ॥९॥

जगन्ति भुवनानि पश्यन्ति अवलोकयन्ति । किंविशिष्टानि । अन्त प्रतिविम्बितानि अन्तर्मध्ये प्रतिफलितानि । क्व । स्वचेतोमुकुरे स्वमात्मीय चेत स्वचेतो यत्तदेव मुकुरस्तस्मिन् । कथभूते । निर्मार्जिते निर्मलीकृते पवित्रिते । कै । रजोभि पासुभि । केपाम् । यत्पदपङ्कजाना यच्चरणकमलानाम् । अथ चोक्तिलेग अन्यस्मिन्नपि मुकुरे रजोनिर्मार्जिते यथावद्वस्तु प्रतिफलति । ननु चेतो [चेतसो] अमूर्त्तत्वाद्रजसश्च मूर्तिमत्त्वात्कथ शोध्यशोधकभाव । न वाच्यम्, न नाम भगवत्पादाना रजोऽपि घटते गगनगामित्वात् । पदाना कमलरूपकतया रज प्रस्ताव कविधर्मत्वान्नैप दोप । किं च ज्ञानरूप भगवन्त चेतसि ध्यायन्तो जना ज्ञानिनो भवन्तीत्यर्थ । खण्डरूपकोऽयमलकार ॥ ६ ॥ रत्नत्रयमिति—नमामि नमस्करोमि । किम् । तत् तत्प्रसिद्ध रत्नत्रय सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणम् । किंविशिष्टम् । जननार्त्तिमृत्युसर्पत्रयीदर्पहरं जनन जन्म, आर्त्ति सासारिकी पीडा मृत्युर्मरण त एव सर्पास्तेपा त्रयी तस्या दर्पो मदस्त हरति विनाशयतीति तत् तथाभूतम् । तन्माहात्म्य वर्णयन्नाह—यद्भूपण यद्रत्नत्रयमलकरण प्राप्य शिष्टा महाव्रतधारिण साधवो मुक्तेर्मोक्षलक्ष्म्या विरूपाकृतयोऽपि अभीष्टा वल्लभतमा भवन्ति । अथ च विगता नष्टा रूपाकृतिर्येपा ते विरूपाकृतय सिद्धा । अथवा तद् रत्नत्रयमह न मामि न परिच्छेत्तु शक्नोमि यत किंविशिष्टम् । जननार्तिमृत्यून् सर्पति जननार्तिमृत्युसर्पा सा चासौ त्रयी च तस्या दर्पोऽहकारस्त हरतीति तत्तथाभूत ससारमार्गस्यैकान्तवादिदर्पहरमित्यर्थ । विविधा कपालकमण्डलुयज्ञोपवीतादिभिरुपलक्षिता रूपाकृतिर्येषा ते तथाविधा मिथ्यादृष्टयोऽपि यद् रत्नत्रयभूपण नवाद्भुतप्रभाव प्राप्य लब्ध्वा शिष्टा सन्तो मुक्तेरभीष्टा भवन्तीत्यर्थ । यदि वा यस्य भूर्यद्भू यद्भुवि ऊपण यद्भूषण रोगित्वमरोचकत्वमिति यावत् । न मुक्तिरमुक्ति शिष्टैस्तत्त्ववेदिभिरभिहितामुक्ति शिष्टामुक्तिस्तस्या शिष्टामुक्ते ससारस्य अभीष्टा भवन्ति तद्विपयमरोचकत्व प्राप्य विविधवैषमतानुसारिण ससारिणो भवन्तीत्यर्थ[1] ॥७॥ त्वद्भक्तीति—ता भारती सरस्वती यूय ध्यायत स्मरत यस्या उपकर्ण श्रवणसमीपे पदार्थौ पद चार्थश्च पदार्थौ स्थितौ । कस्मात् । चन्द्राश्मताटङ्कपदात् चन्द्रकान्तकुण्डलव्याजात् । किं कर्तुमिव । प्रष्टुमिव आलोचयितुमिव, कथम् । साक्षात् मूर्तिमत्त्वेन । इतिशब्द समाप्त्यर्थे । हे भगवति ! आवा पदार्थौ त्वद्भक्तिनम्र त्वदाराधनावनत जनम् आश्रयावोऽधिष्ठाव तद्वशवर्तिनौ भवाव इत्यर्थ । अनेन श्रियोऽपि नमस्या प्रतीयते ता लक्ष्मी भरतस्याद्यचक्रवर्तिन इव भारती ता चिन्तयत यस्या कर्णसमीपे पदार्थौ स्थितौ पद चक्रवर्तित्वलक्षण अर्थो नवनिधानचतुर्दशरत्नादि । शेष पूर्ववत्, उत्प्रेक्षालकार ॥८॥ जयन्तीति—जयन्ति नन्दन्ति ते केऽपि अनिर्वाच्याचिन्त्याद्भुतप्रभावा । महाकवीना वाग्विलासा.

तीनों लोकोंको मनुष्य अच्छी तरह देखते है—जिनके चरण प्रसादसे मनुष्य सर्वज्ञ हो जाते हैं मै आनन्द प्राप्तिके लिये उन चतुर्विंशति तीर्थंकरोकी स्तुति करता हूँ ॥६॥ मैं जन्म, सांसारिकी पीड़ा और मृत्युरूपी तीन सर्पोंके मदको हरनेवाले उस रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको नमस्कार करता हूँ, जिसका आभूपण प्राप्त कर साधुजन विरूप आकृतिके धारक होकर भी मुक्तिरूपी स्त्रीके प्रिय हो जाते हैं ॥७॥ तुम्हारी भक्तिसे नम्रीभूत मनुष्यका हम शरण ले, यह साक्षात् पूछनेके लिए ही मानो जिसके कानोंके समीप चन्द्रकान्तमणिनिर्मित कर्णाभरणोंके बहाने शब्द और अर्थ उपस्थित हैं, उस सरस्वतीका ध्यान करो ॥८॥ स्वर्ग प्रदेशकी सुपमाको धारण करनेवाले महाकवियोंके वे कोई अनुपम

---

१. रूपकालकार ।

लब्धात्मलाभाबहुधान्यवृद्ध्यै निर्मूलयन्ती घननीरसत्वम् ।
सा मेघसघातमपेतपङ्का शरत्सता ससदपि क्षिणोतु ॥१०॥
वियत्पथप्रान्तपरीक्षणाद्वा तदेतदम्भोनिधिलङ्घनाद्वा ।
मात्राधिक मन्दधिया मयापि यद्वर्ण्यते जैनचरित्रमत्र ॥११॥
पुराणपारीणमुनीन्द्रवाग्भिर्यद्वा ममाप्यत्र गतिर्भवित्री ।
तुङ्गेऽपि सिध्यत्यधिरोहिणीभिर्यद्वामनस्यापि मनोऽभिलाष ॥१२॥

सहजप्रतिभोक्तिभङ्गा । अत सभाव्यते स्वर्गप्रदेशा इव स्वर्गभूमिप्रदेशा इव । तेषामुभयेषा साम्यं निरूपयन्नाह—येषु पीयूषनिस्यन्दिषु अमृतनिर्झरेष्वाधारभूतेषु या सुरसार्थलीला रसश्चार्थश्च रसार्थौ सुललितौ च तौ रसार्थौ च तयोर्लीला सौभाग्यभङ्गी सा केषा चतुरचिन्तामणीना हर्ष न धत्ते न पुष्णाति अपि तु पुष्णात्येव । द्वितीयपक्षे सुरा देवास्तेषा सार्थ समूहो लीयते यस्या सा सुरसार्थलीला । यदि वा देवसार्थस्य लीला प्रसिद्धा । श्लेषोपमालकृति ॥९॥ लब्धेति—सा विदितलक्षणा सता साधूना ससत् सभा मे मम हरिचन्द्रस्य अघसघात दोषसमुच्चय क्षिणोतु निहन्तु । न केवल सा शरदपि सा शरद् मेघसघात जलदपटलम् । वर्णश्लेषेण साम्यमाह—या कथभूता । लब्धात्मलाभा लब्धात्मप्रतिष्ठा । किमर्थम् । बहुधा अनेकप्रकारेण अन्यवृद्ध्यै परोपकाराय 'सता हि जन्म परार्थ'मिति सिद्धान्त । कि कुर्वन्ती । निर्मूलयन्ती घननीरसत्व नीरसो मूर्खस्तस्य भावो नीरसत्व घन च तन्नीरसत्व च तथाविध, घनाना बहूना वा नीरसत्व, घन क्रियाविशेषण वा बहुजाडयमित्यर्थ । अपेतपङ्का गतदोषा । शरत्पक्षे बहुधान्यवृद्ध्यै प्रचुरान्नवर्द्धनाय घना मेघास्तेषा नीर जल तस्य सत्त्वमस्तित्वम्, नष्टकर्दमा । श्लेषालकार[1] ॥१०॥ वियदिति—अत्रास्मिन् भरतक्षेत्रे कलिकालकलङ्कितेऽपि यज्जैनचरित्र मया हरिचन्द्रेण वर्ण्यते विस्तार्यते मन्दधिया अल्पधिया अल्पबुद्धिविभवेन । तदेतत् कथम् । मात्राधिक मात्रया कलयाधिक मात्राधिक सविशेषतरम् अशक्यानुष्ठानम् । कुत । अम्भोनिधिलङ्घनात् समुद्रतरणात्, यदि वा समुद्रोऽपि सुतर किमनेन । वियत्पथप्रान्तपरीक्षणाद् वियतो गगनस्य पन्था वियत्पथस्तस्य प्रान्त तस्य परीक्षण तस्माद्वा आकाशान्तदर्शनादप्येतद्गरीय इत्यर्थ । अत्र वा शब्दावनियमार्थौ । व्यतिरेकालकार ॥ ११ ॥ पूर्वोक्तस्याशक्यानुष्ठानत्व संक्षिपन्नाह—पुराणेति—यद्वेत्युपायस्मरणे । मम हरिचन्द्रस्याप्यत्र चरित्रे गति प्रवृत्तिर्भवित्री भविष्यति । काभि । पुराणपारगताश्च ते मुनीन्द्राश्च ते तद्विधास्तेषा वाचस्ताभि । अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन दृढयन्नाह—यद्यस्माद्धेतोर्वामनस्य खर्वशाखस्यापि मनोऽभिलाषश्चित्तेच्छा सिध्यति सिद्धि याति । क्व विषये । तुङ्गेऽपि दुरारोहेऽपि उच्चतरप्रासादशृङ्गेऽपि । काभि । अधिरोहिणीभिर्निश्रेणिकाभि । दृष्टान्तोऽयमलकार

वचनोंके विलास जयवन्त हैं जिन अमृतप्रवाही वचनोमे उत्तम रस और अर्थकी लीला किन पुरुषोंको आनन्द उत्पन्न नहीं करती। पक्षमे–देवसमूहसे युक्त भूमि अथवा देव समूहकी लीला किन्हें आनन्दित नहीं करती ॥९॥ विविध धान्यकी वृद्धिके लिए जिसने स्वरूप लाभ किया है, जो मेघ सम्बन्धी जलके अस्तित्वको दूर कर रही है और जिसमें कीचड नष्ट हो गया है वह शरद् ऋतु मेघोके समूहको नष्ट करे। साथ ही जिसने सुविधानुसार अन्य पुरुषोंकी वृद्धिके लिए जन्म धारण किया है, जो अत्यन्त नीरसपनेको दूर कर रही है और जिसने समस्त पाप नष्ट कर दिये हैं, वह सज्जनोकी सभा भी मेरे पापसमूहको नष्ट करे ॥१०॥ मन्दबुद्धि होनेपर भी मेरे द्वारा जो इस भरतक्षेत्रमे जिनेन्द्र भगवान्‌का चरित्र वर्णित किया जाता है वह समुद्रको लाँघने अथवा आकाश मार्गके अन्तके अवलोकनसे भी कुछ अधिक है—उक्त दोनों कार्य तो अशक्य हैं ही पर यह उनसे भी कुछ अधिक अशक्य है॥११॥ अथवा पुराण-रचनामे निपुण महामुनियोंके वचनोंसे मेरी भी इसमे गति हो जायेगी, क्योंकि सीढियोंके द्वारा लघु मनुष्यकी भी मनोभिलाषा उत्तुङ्गभवनके शिखरके विषयमे पूर्ण हो जाती

१ अत्र प्रकृताप्रकृतयोरेकत्रस्थापनात्तुल्ययोगितालकार स च श्लेषानुप्राणित ।

निसर्गशुद्धस्य सतो न कश्चिच्चेतोविकाराय भवत्युपाधिः ।
त्यक्तस्वभावोऽपि विवर्णयोगात्कथं तदस्य स्फटिकोऽस्तु तुल्यः ॥२१॥
खलं विधात्रा सृजता प्रयत्नात्किं सज्जनस्योपकृतं न तेन ।
ऋते तमांसि द्युमणिर्मणिर्वा विना न काचैः स्वगुणं व्यनक्ति ॥२२॥
दोषानुरक्तस्य खलस्य कस्याप्युलूकपोतस्य च को विशेषः ।
अह्नीव सत्कान्तिमति प्रबन्धे मलीमसं केवलमीक्षते यः ॥२३॥
न प्रेम नम्रेऽपि जने विधत्से मित्रेऽपि मैत्रीं खल नातनोषि ।
तदेष किं नेष्यति न प्रदोषस्त्वामञ्जसा सायमिवावसानम् ॥ २४ ॥

क्रिया, गरिष्ठं महत्तरं च तद्धात्री प्रोद्धारकर्म च तत्र प्रवणो किं न भवति ? अपि तु भवत्येव । अथ च 'दत्तपृष्ठेन न किमपि कार्यं सार्यते' इति लोकानुवादः । दृष्टान्ताक्षेपोऽयमलंकारः ॥२०॥ दुर्जनैः 'सुजनोऽपि[1] दौर्जन्यं नीयते' इति निराकुर्वन्नाह—निसर्गेति—सतः साधोर्निसर्गशुद्धस्य स्वभावनिर्मलस्य कश्चिदुपाधिः कोऽपि बाह्योपरङ्गश्चेतोविकाराय मनःक्षोभाय न भवति, शतशोऽलीकवादिभिः प्रणोदितोऽपि स तदवस्थ एवेत्यर्थः । तस्यैतल्लक्षणस्य कथं केन प्रकारेण शुभ्राक्षमणिरपि तुल्यः सदृशोऽस्तु मा भूदित्यर्थः । अतोऽसौ विवर्णयोगादन्यजपादिवर्णप्रसङ्गात्त्यक्तस्वभावस्त्यक्तसहजच्छायः । आक्षेपगर्भो व्यतिरेकालंकारः ॥ २१ ॥ आक्षेपणीयनिरपेक्षं हि वस्तु नात्मत्वमपि लभत इति निवेदयन्नाह—खलमिति—तेन विधात्रा ब्रह्मणा खलं दुर्जनं सृजता निर्मापयता किं प्रयत्नात् महतादरेण सज्जनस्य नोपकृतम् अपि तूपकृतमेव तस्य सौजन्यं तेन स्थापितमित्यर्थः । केन दृष्टान्तेनेत्याह—द्युमणिरादित्यः स्वगुणं स्वस्यात्मनः प्रभावं न व्यनक्ति न प्रकटयति । कथम् । तमांसि ऋते ध्वान्तव्यतिरेकेण मणिर्वा रत्नं वा काचैर्विना न स्वगुणं व्यनक्ति । अर्थान्तरन्यासोऽलंकारः ॥ २२ ॥ असद्दोषोद्भाविनो दुर्जना इति स्पष्टीकुर्वन्नाह— दोषेति—कस्याप्यगृहीतनामधेयस्य खलस्य उलूकपोतस्य घूकबालस्य च को विशेषः । का परिच्छित्तिः । न कोऽपीत्यर्थः । द्वयोरपि वर्णश्लेषेण साम्यमाह—दोषानुरक्तस्य दोषेष्वनुरक्त आसक्तस्तस्य पक्षे दोषा रात्रिः । यः खलः केवलं मलीमसं दोषमेवेक्षते पश्यति । क्व । प्रबन्धे च उक्तसमुच्चये, सत्कान्तिमति प्रशस्तकान्तिलक्षणयुक्ते[2] । कस्मिन्निव । यथा सत्कान्तिमति सुप्रकाशे दिवसे घूको ध्वान्तमेव वीक्षते तथा सोऽपीत्यर्थः । खण्डश्लेषोपमा ॥२३॥ अदोषे दोषोद्भावाग्राहिणो दुर्जनानाक्षिपन्नाह—न प्रेमेति—हे खल ! स्वभावमत्सरिन् ! नम्रेऽनुद्धतेऽपि जने न प्रेम स्नेहं त्वं विधत्से करोषि तथा मित्रेऽपि निजरहस्यकथकेऽपि न मैत्रीं प्रीतिमातनोषि विस्तारयसि । किमि-

दत्तपृष्ठ है—विमुख है फिर भी क्या वह गुरुतर पृथिवी के धारण करनेमें समर्थ नहीं है ? अवश्य है ॥२०॥ सज्जन पुरुष स्वभावसे ही निर्मल होता है अतः कोई भी बाह्य पदार्थ उसके चित्तमें विकार पैदा करनेके लिए समर्थ नहीं है । परन्तु स्फटिक विविध वर्णवाले पदार्थोंके संसर्गसे अपने स्वभावको छोड़कर अन्य रूप हो जाता है अतः वह सज्जनके तुल्य कैसे हो सकता है ? ॥ २१ ॥ प्रयत्नपूर्वक दुर्जनकी रचना करनेवाले विधाताने सज्जनका क्या उपकार नहीं किया ? क्योंकि अन्धकारके बिना सूर्य और काँच के बिना मणि अपना गुण प्रकट नहीं कर सकता ॥२२॥ दोषोंमे अनुरक्त दुर्जन और दोषा—रात्रि मे अनुरक्त किसी उल्लूके बच्चेमे क्या विशेषता है ? क्योंकि जिस प्रकार उल्लूका बच्चा उत्तम कान्तिसे युक्त दिनमें केवल काला काला अन्धकार देखता है उसी प्रकार दुर्जन उत्तम कान्ति आदि गुणोंसे युक्त काव्यमें भी केवल दोष ही दोष देखता है ॥ २३ ॥ रे दुर्जन, तू नम्र मनुष्यपर भी प्रेम नहीं करता और मित्रमे भी मित्रताको नहीं बढ़ाता

१ स्वजनोऽपि क० । २ श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् । अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते ॥ नाट्यशास्त्रे अ० १६ श्लोक ९० ।

श्रव्य भवेत्काव्यमदूषण यन्न निर्गुण क्वापि कदापि मन्ये ।
गुणार्थिनो दूषणमाददानस्तत्सज्जनाद्दुर्जन एव साधु· ॥ २५ ॥
अहो खलस्यापि महोपयोग स्नेहद्रुहो यत्परिशीलनेन ।
आकर्णमापूरितपात्रमेता क्षीर क्षरन्त्यक्षत एव गाव ॥ २६ ॥
आ कोमलालापपरेऽपि या गा प्रमादयन्त कठिने खलेऽस्मिन् ।
शेवालशालिन्युपले छलेन पातो भवेत्केवलदु खहेतु ॥ २७ ॥
आदाय शब्दार्थमलीमसानि यद्दुर्जनोऽसौ वदने दधाति ।
तेनैव तस्याननमेव कृष्णं सता प्रवन्ध पुनरुज्ज्वलोऽभूत् ॥ २८ ॥

त्याक्षेपे तत्तस्मादेष प्रत्यक्ष सर्वोपतापातिशय पचेलिमपापफलविशेप प्रदोप प्रकटदोपस्त्वा दोपैकग्राहरसिकं किमवसान विनाश नेष्यति प्रापयिष्यति अपि तु नेष्यत्येव । किमिव । सायमिव यथा प्रदोपो रजनीमुख माय दिनावसान नेष्यति तथा त्वामपीत्यर्थ । खण्डश्लेपोपमा ॥२४॥ आत्मगुणैकान्तमथत्वेन निराकृतान्स्तुतिद्वारेण दुर्जनानुपहसन्नाह—श्रव्यमिति—यत्काव्यमदूपण निर्दोप तदेव श्रव्य श्रवणार्ह भवेत् न निर्गुण गुणरहित क्वापि कस्मिन्नपि बुधसनिधाने कदापि कस्मिन् प्रस्तावेऽपि । तत्तस्मादहमेव मन्ये इति विमृशामि, गुणार्थिनो गुणग्राहकात्सज्जनाद् दुर्जन एव सावु प्रशस्यतर । यतोऽसौ शल्यरूप दूपणमाकर्षन् काव्यमुपादेय करोतीत्यर्थ । अप्रस्तुतप्रशसेयमलकृति ॥ २५ ॥ भङ्गचन्तरेणापि पिशुनानेवोपहसन्नाह—अहो इति—अहो इति वितर्कोपहासे । स्नेहद्रुह स्नेहविनाशकस्य दुर्जनस्य महानुपयोगो गुरूपकार । यस्य परिशीलनेन यदुपचरणेन क उपयोग । इत्याह—एता कवीना गावो वाच, अक्षतमभिलपिताधिकममृतमेव वर्पन्ति । कथम् । यथा भवति उपचितरसभाजनजनम् । आकर्ण कर्णाविभिव्याप्य दुर्जनाभिशङ्कया कवय भाव्य श्लाघ्यतम विदधतीत्यर्थ । अत्र च पिण्याकस्य स्नेहत्यक्तस्योपयोगेन गावो धेनव क्षीर वर्द्धयन्त्याकण्ठ भृतदोहनीकमित्यर्थ । अर्थश्लेपोऽपमालकार ॥ २६ ॥ वचनमाधुर्यमात्रपिहितान्तर्दुष्टत्व दुर्जनाना प्रतिपादयन्नाह—आ इति—आ इति तद्गुणस्मरणानुतापे अन्तर्दुष्टे दुर्जन विश्वास मा गा मा गम । कस्तदवस्थ एव सगच्छत इत्याह—मधुरवचनप्रकाशकेऽपि तत्र प्रमाद गच्छता किं फल स्यादित्याह—यथा जम्बालजटिले शिलातले छलेन कोमलोऽयमिति व्याजेन सचरता यत्फल स्यात्तदेवेत्यर्थ । खलोपलयो शेवालकोमलालापयोरुपमानोपमेयभाव । तुल्ययोगितेयमलकृति ॥ २७ ॥ पिशुनजनपैशुन्य वितर्कयन्नाह—आदायेति—शब्दार्थावेव तयोर्वा मलीमसानि दूषणमपीरूपाणि गृहीत्वा यदसौ मुखमारोपयति । अतश्चोत्प्रेक्षते—तेन दोपमलावलेपेन तस्यानन तद्विध साधूना

अतः तेरा यह भारी दोष तुझे क्या उस प्रकार नाशको प्राप्त नहीं करा देगा जिस प्रकार कि रात्रिका प्रारम्भ सन्ध्याकाल को, क्योकि सन्ध्याकाल भी न नम्र मनुष्य के साथ प्रेम करता है और न मित्र के—सूर्य के साथ मित्रता बढाता है ॥ २४ ॥ यतश्च दूपणरहित काव्य ही सुनने योग्य होता है और निर्गुण काव्य कहीं भी कभी भी सुनने योग्य नहीं अतः मेरा विचार है कि गुणग्राही सज्जनकी अपेक्षा दोपग्राही दुर्जन ही अच्छा है ॥ २५ ॥ बड़े आश्चर्यकी वात है कि स्नेहहीन खल—दुर्जनका भी बडा उपयोग होता है, क्योंकि उसके ससर्गसे यह रचनाएँ बिना किसी तोडके पूर्ण आनन्द प्रदान करती हैं । [अप्रकृत अर्थ] कैसा आश्चर्य है कि तैलरहित खलीका भी बडा उपयोग होता है क्योंकि उसके सेवनसे यह गायें बिना किसी आघातके बर्तन भर-भर कर दूध देती हैं ॥ २६ ॥ अरे ! मैं क्या कह गया ? दुर्जन भले ही मधुर भाषण करता हो पर उसका अन्तरंग कठिन ही रहता है, अतः उसके विषय मे प्रमाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि शेवालसे सुशोभित पत्थर के ऊपर धोखे से गिर जाना केवल दुःख का ही कारण होता है ॥ २७ ॥ यतश्च दुर्जन मनुष्य शब्द और अर्थ के दोपोंको ले-लेकर अपने मुख मे रखता जाता

१ प्रमोद–छ ।

गुणानधस्तान्नयतोऽप्यसाधुपद्मस्य यावद्दिनमस्तु[1] लक्ष्मीः ।
दिनावसाने तु भवेद्गतश्री राज्ञः[2] सभासनिधिमुद्रितास्य[3] ।। २९ ।।
उच्चासनस्थोऽपि सतां न किंचिन्नीचः स चित्तेषु चमत्करोति ।
स्वर्णाद्रिशृङ्गाग्रमधिष्ठितोऽपि काको वराकः खलु काक[4] एव ।। ३० ।।
वृत्तिर्मरुद्द्वीपवतीव साधोः खलस्य वैवस्वतसोदरीव ।
तयोः प्रयोगे[5] कृतमज्जनो वः प्रबन्धबन्धुर्लभतां विशुद्धिम् ।। ३१ ।।

ग्रन्थविस्तरस्तु गतदोषत्वान्निर्मलः कान्तिमानेव बभूवेत्यर्थः । अत्र च परगुणदर्शनामपदिद्दुर्जनवदनं कृष्णमेवेति जनानुवादः । उत्प्रेक्षेयमलङ्कृतिः ।। २८ ।। निजसमयावष्टम्भेन दुर्जनो गुणानधिक्षिपन्न चिरं नन्दतीति सूचयन्नाह—गुणानिति—असाधुरेव पद्मोऽसाधुपद्मस्तस्य यावद्दिनं शुभदशावधि लक्ष्मीः प्रभुत्वसम्पत्तिरस्तु । कीदृशस्य । गुणानधः कुर्वतोऽपि शुभदशाप्रागल्भ्येन यथेष्टं चेष्टतामित्यर्थः । अस्यैव दुर्विलसितस्य फलं दर्शयन्नाह—पुण्यदशान्ते तु गतप्रतिष्ठो मीलितमुखः स्यान्नृपतेरधिसभम् । अथ चाधोनालकाण्डे तन्तून् सृजतो निन्द्यपद्मस्य दिवसमधिविकासोऽस्तु । सायं तु चन्द्रमः कान्तिसंनिधौ संकुचितकोशो विच्छाय इत्यर्थः । रूपकश्लेषालंकारः ।।२९।। वाक्चापलचातुरीचुञ्चवोऽपि नीचा न सतां पुरतः प्रतिभान्तीति निवेदयन्नाह—उच्चेति—सोऽधमाधमो नीचः सतां चित्तेष्वनेकगुणगरिममहिमगम्भीरेषु किंचिन्मनागपि न चमत्करोति न विशेषवत्तयात्मानं निवेशयतीति । किं तदवस्थ इत्याह—उच्चासनस्थोऽपि अविशेषज्ञजनैर्महागुणिपदं स्थापितोऽपि । अमुमेवार्थमर्थान्तरद्वारेण दृढयति—मेरुशिखरकोटिमधिरूढोऽपि ध्वाङ्क्षो निश्चयेन स तादृश एव न हि नाम बाह्याधारगुणवत्त्वेनाधेयस्यापि गुणवत्त्वमित्यर्थः । अर्थान्तरन्यासोऽलंकारः ।।३०।। यथा स्वरूपेण सुजनदुर्जनवृत्तिवर्णनं संक्षिपन्नाह—वृत्तिरिति—साधोः सज्जनस्य वृत्तिश्चारित्रं मरुद्द्वीपवतीव गङ्गेव निर्मलत्वात्कलङ्कतापापहारकत्वाच्च । खलस्य दुर्जनस्य च वृत्तिर्वैवस्वतसोदरीव यमुनेव मलिनच्छायत्वाद्भयोत्पादकत्वाच्च । तयोः स्व[सु]जनदुर्जनवृत्तिगङ्गायमुनयोः प्रयोगे संगमे कृतमज्जनः कृतावतारो नोऽस्माकं प्रबन्ध एव बन्धुः प्रबन्धबन्धुर्भवविपत्समुद्धरणधीरत्वात्सकीर्तिविभवोत्पादनसहायत्वाच्चास्य बन्धुता । विशुद्धिं निर्मलतां लभतां प्राप्नुयात् ।

है—मुख-द्वारा उच्चारण करता है अतः उसका मुख काला होता है और दोष निकल जानेसे सज्जनोंकी रचना उज्ज्वल—निर्दोष हो जाती है ।। २८ ।। गुणोंका तिरस्कार करनेवाले अथवा मृणालके तन्तुओंको नीचे ले जाने वाले दुर्जन रूप कमलकी शोभा तबतक भले ही बनी रहे जबतक कि दिन है अथवा पुण्य है परन्तु दिनका अवसान होते ही जिस प्रकार कमल चन्द्रमाकी किरणोंके सम्पर्कसे मुद्रित वदन—निमीलित होकर शोभा हीन हो जाता है उसी प्रकार दुर्जन मनुष्य दिन—पुण्यका अवसान होते ही किसी न्यायी राजाकी सभामें मुँह बन्द हो जानेसे शोभाहीन हो जाता है ।। २९ ।। नीच मनुष्य उच्च स्थानपर स्थित होकर भी सज्जन मनुष्योंके चित्तमें कुछ भी चमत्कार नहीं करता । सो ठीक हो है, क्योंकि कौआ सुमेरु पर्वत के शिखरके अग्रभाग पर भी क्यों न बैठ जावे पर आखिर नीच कौआ कौआ ही रहता है ? ।। ३० ।। यतश्च सज्जन मनुष्यका व्यवहार गंगा नदीके समान है और दुर्जनका यमुनाके समान, अतः उन दोनोंके संगमरूप—प्रयाग क्षेत्रमें अवगाहन करनेवाला हमारा काव्यरूपी बन्धु विशुद्धिको प्राप्त हो । [जिस प्रकार प्रयागमें गंगा और यमुना नदीके संगममें गोता लगाकर मनुष्य शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार सज्जन और दुर्जनकी प्रशंसा तथा निन्दाके बीच पड़कर हमारा काव्य विशुद्ध—निर्दोष हो जावे] ।। ३१ ।।

१ दिनं दिवसः पुण्यं च । २ राज्ञो नृपतेश्चन्द्रस्य च "राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे यक्षे क्षत्रियशक्रयोः ।" इति कोषः । ३ असाधुपक्षे सभासंनिधि—इत्येकं पदं पद्मपक्षे स इति पृथक् पदम् । ४ अर्थान्तरसंक्रमितवाक्यो ध्वनिः । ५ प्रयागे—म० ।

अथास्ति जम्बूपपद पृथिव्या द्वीप प्रभान्यक्कृतनाकलोक[3] ।
यो वृद्धया मध्यगतोऽपि लक्ष्म्या द्वीपान्तराणामुपरीव तस्थौ ॥ ३२ ॥
क्षेत्रच्छदै पूर्वविदेहमुख्यैरध स्थितस्फारफणीन्द्रदण्ड ।
चकास्ति रुक्माचलकर्णिको य सद्म श्रिय पद्म इवाब्धिमध्ये ॥ ३३ ॥
द्वीपेषु य कोऽपि करोति गर्व मयि स्थितेऽप्यस्तु स मे पुरस्तात् ।
इतीव येन ग्रहकङ्कणाङ्को हस्तो[2]ऽभ्युदस्तस्त्रिदशाद्रिदम्भात् ॥ ३४ ॥
पश्यन्तु ससारतमस्यपारे सन्तश्चतुर्वर्गफलानि सर्वे ।
इतीव यो द्विद्विदिवाकरेन्दुव्याजेन धत्ते चतुर प्रदीपान् ॥ ३५ ॥
अवाप्य सर्पाधिपमौलिमैत्री छत्रद्युति तन्वति यत्र वृत्ते ।
धत्ते समुत्तेजितशातकुम्भकुम्भप्रभा काचन काञ्चनाद्रि ॥ ३६ ॥

सगमकृतस्नानजना शुद्धयन्तीति प्रसिद्धि[1] ॥ ३१ ॥ अभिमतदेवस्तुत्यादिक सक्षिप्य प्रस्तुतावतारमाह—अथेति—अथानन्तर जम्बूद्वीपोपपदो जम्बूशब्दपूर्वो द्वीपोऽस्ति जम्बूद्वीप इत्यर्थ । प्रभापराभूतस्वर्गलोको यो द्वीपान्तराणामन्यद्वीपाना मध्यगतोऽपि नाभिभूतोऽपि उपरि शिरसीव तस्थौ आसाचक्रे। कयेत्याह—वृद्धयाऽदभुतप्रभावया लक्ष्म्या । इतरमेरूच्चतरसुदर्शनादिविभूत्या । अथ च यो मध्ये भवति स कथमुपरिस्थ स्यादिति विरोधालकार ॥ ३२ ॥ तस्यैव स्वरूप वर्णयन्नाह—क्षेत्रेति—क्षेत्राण्येव छदानि पत्राणि तै, कानि तानीत्याह—पूर्वविदेहमुख्यै पूर्वस्या विदेहनाम क्षेत्र पूर्वविदेह स एव मुख्य प्रधान येषा तानि तैस्तथाविधै । पद्मरूपकता परिपूर्णयन्नाह—अध स्थितस्फारस्तदनुरूप फणीन्द्र शेषाहिरेव दण्ड नाल यत्र स तद्विध । पुन कीदृक् । रुक्माचलकर्णिक सुवर्णाचल एव कर्णिका बीजकोशो यत्र स । अत पद्मसाधर्म्यात् सद्म गृह श्रिय पद्मवासाया । शुद्धरूपकोऽयमलकार ॥ ३३ ॥ तस्यैव महिमगाम्भीर्य वर्णयन्नाह—द्वीपेष्विति—मय्यपि जम्बूद्वीपे स्थिते ऊर्ध्वद्वीपेषु मध्ये य कोऽपि गर्व करोति स मे पुरस्ताद् आविर्भवतु इति गर्वोद्धुरद्वारेणेव येन हस्तोऽभ्युदस्तो बाहुरुर्ध्वीकृतस्त्रिदशाद्रिदम्भान्मेरुव्याजात् । ग्रहा एव कङ्कणानि तान्येवाङ्कोऽभिज्ञान यत्र स तादृक् पर्यन्तभ्रमत्सोमसूर्यादिमणिकटक इत्यर्थ । उत्प्रेक्षालकार ॥ ३४ ॥ पश्यन्त्विति—सर्वे साधवोऽपारेऽनन्ते ससारतमसि भवध्वान्ते चतुर्वर्गफलानि चत्वारश्च ते वर्गाश्च पुरुषार्थकाममोक्षलक्षणास्तेषा फलान्युपभोगस्वरूपाणि पश्यन्तु विभावयन्तु इतीव हेतोरिव यश्चतुर प्रदीपान् धत्ते उज्ज्वलयति। केनेत्याह—द्विद्विदिवाकरेन्दुव्याजेन द्वौ दिवाकरौ द्वौ च चन्द्रौ तेषा व्याजेन । अनन्ततमसि न किमपि कार्य प्रवर्तत इत्यर्थ ॥ ३५ ॥ तस्य छत्ररूपकता निरूपयन्नाह—अवाप्येति—यत्र काञ्चनाद्रिर्मेरु, समुत्तेजितशातकुम्भकुम्भप्रभाम् उज्ज्वलितसुवर्णकलशशोभा काचनानन्यत्र दृष्टा धत्ते धारयति। क्व सति। वृत्ते जम्बूद्वीपपरिधि-

इस पृथिवीपर अपनी प्रभाके द्वारा स्वर्गलोकको तिरस्कृत करनेवाला एक जम्बूद्वीप है जो यद्यपि सब द्वीपोंके मध्यमे स्थित है फिर भी अपनी बढी हुई लक्ष्मीसे ऐसा जान पडता है मानो सब द्वीपोंके ऊपर ही स्थित हो ॥ ३२ ॥ यह द्वीप पूर्वविदेह क्षेत्र आदि कलिकाओंसे युक्त है, उसके नीचे शेषनागरूपी विशाल मृणालदण्ड है और ऊपर कर्णिकाकी तरह सुमेरु-पर्वत स्थित है अतः ऐसा सुशोभित होता है मानो समुद्रके बीच लक्ष्मीका निवासभूत कमल ही हो ॥ ३३ ॥ मेरे रहते हुए भी द्वीपोंके बीच जो अहंकार करता हो वह मेरे सामने हो ऐसा कहनेके लिए ही मानो उस जम्बूद्वीपने सुमेरु पर्वतके बहाने ग्रहरूप ककणसे चिह्नित अपना हाथ ऊपर उठा रखा है ॥ ३४ ॥ अपार संसाररूप अन्धकारके बीच सभी सज्जन एक साथ चतुर्वर्गके फलको देख सकें—इसलिए ही मानो यह द्वीप दो सूर्य और दो चन्द्रमाओंके बहाने चार दीपक धारण करता है ॥ ३५ ॥ यह वर्तुलाकार जम्बूद्वीप

१ उपमागर्भो रूपकालकार । २ हस्तो भ्युदस्त–म० । ३. नाकि–म० ।

सम्यक्त्वपाथेयमवाप्यते चेदृजुस्तदस्मादपवर्गमार्ग ।
इतीव लोके निगदत्युदस्त शैलेन्द्रहस्ताङ्गुलिसज्ञया य ॥ ३७ ॥
पातु वहिर्मारुतमङ्कसुप्तलक्ष्मीलसत्कुङ्कुमपङ्कपीत ।
तदन्तरुद्भिद्य महीमहीनामभ्युत्थितो नाथ इवास्ति मेरु ॥ ३८ ॥
चकास्ति पर्यन्तपतत्पतङ्गे यत्राम्बर दीप इवोपरिष्टात् ।
कयापि शृङ्गाग्रघनाञ्जनाना जिघृक्षया पात्रमिव प्रदत्तम् ॥३९॥
द्यावापृथिव्यो पृथुरन्तरे य. कृतस्थिति. स्थूलरथाङ्गकान्त्यो ।
युगानुकारिध्रुवमण्डलश्रीरूर्ध्वो रथस्याक्ष इवावभाति ॥४०॥

मण्डले, कि कुर्वति । तन्वति विस्तारयति, छत्रद्युतिमातपत्रविस्तारम् । दण्डघटनामाह—किं कृत्वा । अवाप्य लब्ध्वा सर्वाधिपमौलिमैत्री सरलशेपाहिमस्तकस्थितिम् । अत्र दण्डोपमा शेपस्य, छत्रोपमा द्वीपमण्डलस्य, वृत्तविशेपणादनुक्ताप्यत्र झल्लरीस्थितिर्ज्ञेया समुद्रस्य, कुम्भोपमा सुमेरोरित्यर्थ ॥ ३६ ॥ तस्य मुक्तिसाधनस्थानत्व निरूपयन्नाह—सम्यक्त्वमिति—यो जम्बूद्वीपो निगदति कथयतीव । कया । उदस्तशैलेन्द्रहस्ताङ्गुलिसज्ञया शैलेन्द्र एव हस्ताङ्गुलिस्तस्या सज्ञा तया ऊर्ध्वितमेरुतर्जनीसमभिज्ञानेन, लोकेभ्य , किं तद् । इत्याह—अस्मादतो भूमिभागादपवर्गमार्गो मोक्षपथ ऋजु सुप्राप । चेत्, कि चेद्यदि सम्यक्त्वपाथेय रत्नत्रय सम्बल प्राप्यते । मानुपोत्तरवहिर्भूतेष्वसख्यातद्वीपेपु न मोक्ष इति वाक्यार्थ । खण्डरूपोत्प्रेक्षा ॥ ३७ ॥ तत्रादिभूते मेरुरिति ख्यापयन्नाह—पातुमिति—तदन्तस्तन्मध्ये मेरु शाश्वत सुवर्णशैलोऽस्ति । अतश्चोत्प्रेक्षते—अहीना फणिना नाथ शेप इव । कुतोऽत्र तस्य सभावनेत्याह—मही पृथ्वीम् उद्भिद्य ऊर्ध्व भित्त्वा अभ्युत्थित ऊर्ध्वमाजगाम । किं कर्तुमित्याह—पातु वहिर्मारुत बाह्यवायुपानाय । तस्य श्वेतत्वप्रसिद्धे कथ पीतत्वमित्याह—अङ्कसुप्तलक्ष्मीलसत्कुङ्कुमपङ्कपीत अङ्के सुप्ता चासौ लक्ष्मीश्च तस्या लसन् विगलन्योऽसौ कुङ्कुमपङ्कस्तेन पीत पिञ्जर तल्पीभूतशेपाङ्कशायिका हि लक्ष्मीरिति ॥ ३८ ॥ चकास्तीति—यत्र मेरावुपरिष्टादूर्ध्वमम्बरमाकाश चकास्ति शोभते । सुवर्णमयत्वादतश्चोत्प्रेक्ष्यते—दीप इव उपरि कयापि तद्दीपयोग्यया स्त्रिया प्रदत्त स्थापित पात्रमिव । दीपसाम्य समर्थयन्नाह—पर्यन्ते पतन् भ्राम्यन् पतङ्ग सूर्यो यस्य स तस्मिंस्तथाविधे, पक्षे पतङ्ग शलभ । किमर्थमित्याह—जिघृक्षया ग्रहीतुमिच्छया, शृङ्गाग्रे घना मेघा एवाञ्जनानि तेपाम्, पक्षे घन बहुलम् । श्लेपोपमा ॥३९॥ द्यावेति—यो मेरु कृतस्थिति कृतनिवेशोऽन्तरे मध्ये पृथुरुपचितो द्यावापृथिव्योर्गगनमण्डलयो । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—रथस्य स्यन्दनस्याक्ष इव मुख्यावयव इव । अक्षसाम्यमुद्भावयति—स्थूलरथाङ्गकान्त्यो स्थूलचक्रसदृशयोर्युगानुकारिध्रुवमण्डलश्रीर्यत्र स तथाविध ।

शेषनागके फणकी मित्रता प्राप्त कर—उसपर स्थित हो किसी छत्रकी शोभा बढाता है और सुमेरु पर्वत उसपर तपाये हुए सुवर्ण-कलशकी अनिर्वचनीय शोभा धारण करता है ॥ ३६ ॥ यह जम्बूद्वीप ऊपर उठाये हुए सुमेरुपर्वतरूपी हाथकी अङ्गुलिके संकेतसे लोकमे मानो यही कहता रहता है कि यदि सम्यग्दर्शनरूपी सम्बल प्राप्त कर लिया जावे तो यहाँसे मोक्षका मार्ग सरल हो जाता है ॥३७॥ इस जम्बूद्वीपके बीचमे सुमेरु पर्वत है जो ऐसा जान पडता है मानो गोदमे सोयी हुई लक्ष्मीके निकलनेवाले केशरके द्रवसे पीला-पीला दिखाई देनेवाला शेपनाग ही बाहरकी वायुका सेवन करनेके लिए पृथिवीको भेद कर प्रकट हुआ हो ॥ ३८ ॥ जिसके चारों ओर पतंग—सूर्य प्रदक्षिणा दे रहा है ऐसे सुमेरु पर्वतके ऊपर आकाश ऐसा मालूम होता है मानो शिखरके अग्रभागपर लगे हुए मेघरूपी अंजनको ग्रहण करनेकी इच्छासे किसी स्त्रीने जिसके चारों ओर—पतग—शलभ घूम रहे है ऐसे दीपकपर वर्तन ही औधा दिया हो ॥३९॥ पृथिवी और आकाश किसी रथके स्थूल पहियों की तरह सुशोभित हैं और उनके बीच उन्नत खडा हुआ सुमेरु पर्वत उसके ठीक भौरा की तरह जान पडता है। इसके पास ही जो ध्रुवताराओंका मण्डल है वह युगकी शोभा धारण करता है ॥४०॥

तद्दक्षिण भारतमस्ति तस्य क्षेत्र जिनेन्द्रागमवारिसेकात् ।
स्वर्गादिसपत्फलशालि यत्र निष्पद्यते पुण्यविशेषसस्यम् ॥४१॥
यत्सिन्धुगङ्गान्तरवर्त्तिनोच्चै शैलेन भिन्न विजयार्धनाम्ना ।
भारेण लक्ष्म्या इव दुर्वहेन वभूव पट्खण्डमखण्डशोभम् ॥४२॥
[1]तत्रार्यखण्ड त्रिदिवात्कथचिच्युत निरालम्वतयेव खण्डम् ।
ललामवन्मण्डयति स्वकान्त्या देशो महानुत्तरकोशलाख्यः ॥४३॥
अनेकपद्माप्सरसः समन्ताद्यस्मिन्नसख्यातहिरण्यगर्भा ।
अनन्तपीताम्वरधामरम्या ग्रामा जयन्ति त्रिदिवप्रदेशान् ॥४४॥

ऊर्ध्वोऽतिर्यग्रूप, अन्यस्याक्षस्य चक्रद्वय वामदक्षिण स्यादस्य तु न तादृक् किन्त्वध ऊर्ध्वम् । अतएव ऊर्ध्व इति भाव । रूपकोत्प्रेक्षा ॥ ४० ॥ तन्मध्ये विशेपस्थान निर्द्धारयन्नाह—तद्दक्षिणमिति—तस्य मेरोर्दक्षिण दक्षिणदिग्भागस्थ भारत नाम क्षेत्रमस्ति । क्षेत्रमिति शब्दसाम्यादर्थमपि स्थापयन्नाह—यत्र किं यत्र । पुण्यविशेपसस्य धान्य निष्पद्यते स्वर्गादिसपत्फलशालि स्वर्गादिसपदेव फल तेन सश्रीक शोभते तद् तद्विध जिनेन्द्रागमवारिसेकात् जिनश्रुतामृतवर्षात् । श्लेषरूपकम् ॥ ४१ ॥ तस्य सस्थान निरूपयन्नाह—यदिति—यद् विजयार्द्धनाम्ना शैलेन भिन्न विभक्त पट्खण्ड पड्भाग वभूव । कथमित्याह—सिन्धुगङ्गान्तरवर्तिना सिन्धुगङ्गानद्यौ तयोरन्तरे मध्ये वर्तते तेन पूर्वापरप्रवृत्तिनदीद्वन्द्वमध्यगेनेत्यर्थ । अतश्च ज्ञायते—लक्ष्म्या आत्मसपदो दुर्वहेन भारेण पट्खण्डता गतम्, अखण्डशोभ परिपूर्णशोभम् । अथ च यत् पट्खण्ड भवति तत्कथमखण्डशोभमिति विरोध ॥४२॥ तस्य क्षेत्रस्य पट्खण्डाना मध्ये शुभखण्ड निरूपयन्नाह—तत्रेति—तत्र भरतक्षेत्रे उत्तरकोशलाख्य उत्तरकोशलसज्ञो देशो मण्डयति अलकरोति ललामवत्तिलक इव । किं मण्डयतीत्याह—आर्यखण्डनामधेय भरतविभागम् । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—त्रिदिवात्स्वर्गात् च्युत खण्डमिव । कया । निरालम्वतया अनाधारतया । कथचिदज्ञातप्रकारेण ॥ ४३ ॥ देशवैभवमुद्भावयन्नाह—अनेकेति—यस्मिन् देशे ग्रामास्त्रिदिवप्रदेशान् स्वर्गभागान् जयन्ति पराभवन्ति । ग्रामाणा स्वर्गाधिक्य स्थापयन्नाह—अनेकपद्मैरुपलक्षिता आपो येपु तानि अनेकपद्माम्पि तथाभूतानि सरासि येपु ते तथाविधा । असख्यात हिरण्य सुवर्ण गर्भे येपा तथाविधा । अनन्त पीत पिहितमम्वरमाकाश यैस्तानि, पीताम्वराणि च तानि धामानि च । अनन्तपीताम्वरैर्धामभि कमनीया, पक्षे पद्मा लक्ष्मीरप्सरसो देवाङ्गना, एकया उपलक्षिताप्सरसो येपु तथाविधा

उस जम्बूद्वीपके दक्षिण भागमे स्थित वह जम्बूद्वीप है जो कि वास्तवमे किसी क्षेत्र—खेतकी तरह ही सुशोभित है और जिसमे तीर्थंकरोंके जन्मरूपी जलके सेचनसे स्वर्ग आदिकी सम्पत्ति रूपी फलसे सुशोभित पुण्यरूपी विशेष धान्य सदा उत्पन्न होता रहता है ॥ ४१ ॥ अखण्ड शोभाको धारण करनेवाला वह भरत क्षेत्र सिन्धु और गङ्गा नदीके मध्यवर्ती विजयार्ध नामक ऊँचे पर्वतसे विभाजित होकर छह खण्डवाला हो गया है, उससे ऐसा मालूम होता है मानो लक्ष्मीके भारी बोझसे ही चटक कर छह टूक हो गया हो ॥ ४२ ॥ उस भरत क्षेत्रमे एक आर्यखण्ड है जो ऐसा जान पड़ता है मानो निराधार होनेके कारण आकाशसे गिरा हुआ स्वर्गका एक टुकडा ही हो । उस आर्यखण्डको उत्तर कोशल नामका एक बडा देश आभूपण की तरह अपनी कान्तिसे सुशोभित करता रहता है ॥ ४३ ॥ उस देशके गॉव स्वर्गके प्रदेशोंको जीतते हैं, क्योंकि स्वर्गके प्रदेशोंमे तो एक ही पद्मा नामक अप्सरा है परन्तु उन गॉवोंमे अनेक पद्मा नामक अप्सराएँ हैं [पक्षमे कमलोंसे उपलक्षित जलके सरोवर हैं], स्वर्गके प्रदेशोंमे एक ही हिरण्यगर्भ—ब्रह्मा है परन्तु वहाँ असंख्यात हैं [पक्षमे असख्यात—अपरिमित हिरण्य—सुवर्ण उनके गर्भ—मध्यमे हैं] और

---

१ यत्रार्य–ग० ।

यन्त्रप्रणालीचषकैरजस्रमापीय पुण्ड्रेक्षुरसासवौघम् ।
मन्दानिलान्दोलितशालिपूर्णा विघूर्णते यत्र मदादिवोर्वी ॥४५॥
विस्तार्य तारा रभसान्निशि द्यौ पुन पुनर्यद्दिवसे प्रमार्ष्टि ।
उत्पुण्डरीकै किल यत्सरोभि स्व लब्धसाम्य तदमन्यमाना ॥४६॥
उत्पालिकाभ्रूस्तिमितैस्तडागचक्षु सहस्रैरिव विस्मयेन ।
यद्वैभव भूरपि वीक्ष्य धत्ते रोमाञ्चमुद्यत्कलमच्छलेन ॥ ४७ ॥
जनै प्रतिग्रामसमीपमुच्चै कृता वृषाढ्यैर्वरधान्यकूटा ।
यत्रोदयस्ताचलमध्यगस्य विश्रामशैला इव भान्ति भानो ॥ ४८ ॥
नीरान्तरात्तप्रतिमावतारास्तरङ्गिणीना तरवस्तटेपु ।
विभान्ति यत्रोर्ध्वगतार्कतापात्कृतप्रयत्ना इव मज्जनाय ॥ ४९ ॥

स्वर्गा । सख्यात परिच्छिन्न एक एव हिरण्यगर्भो येपु ते तद्विधा । असख्यात अन्तपरिच्छिन्न एकपीताम्बरस्य धाम प्रतापो येपु तथाविधा । ग्रामेपु स्वर्गस्थानाना प्राचुर्यमिति भाव श्लेपव्यतिरेक ॥ ४४ ॥ यन्त्रेति—यत्र यस्मिन् देशे उर्वी पृथिवी मदादिवापानोद्रेकादिव विघूर्णते सलील दोलायते । कथमित्याह—मन्दानिलेनान्दोलितै शालिभि शालिक्षेत्रै पूर्णा । आपीयास्वाद्य पुण्ड्रेक्षुरस कृष्णेक्षुरस मदिराप्रवाह कै पात्रैरित्याह—यन्त्रप्रणालीचषकै पानकप्रणालीकोशकै[१] ॥ ४५ ॥ विस्तार्येति—द्यौर्गगन निशि रात्रौ तारा नक्षत्राणि विस्तार्य पुन पुनरनवरत यद्दिवसे प्रमार्ष्टि भनक्ति तदह मन्ये यस्य देशस्य सरोभिरुत्पुण्डरीकै-रुद्गतसिताम्बुजै सह स्वमात्मान लब्धसाम्यम् अमन्यमानातर्कयन्ती उत्पुण्डरीकतडागसादृश्यावाप्तयेऽभ्यस्य-तीत्यर्थ । गगनसरसोस्तारापुण्डरीकयोश्चोपमानोपमेयभाव । अनुमानोऽयमलकार ॥४६॥ उत्पालिकेति—यस्य देशस्य वैभव विभवाश्चर्य वीक्ष्य भूरपि रोमाञ्च धत्ते । केनेत्याह—उद्गच्छत्कलमाङ्कुरव्याजेन । कैर्वीक्ष्येत्याह—तडागचक्षु सहस्रै कीदृशै । उच्चपालिबन्धभ्रूनिश्चलै[२] ॥ ४७ ॥ जनैरिति—यत्र देशे धान्यकूटा धान्यराशयो जनै कृता आरोपिता वृषाढ्यै पुण्योपचितै सवृषभैर्वा प्रतिग्राम ग्रामाणा सीमामभिव्याप्य । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते–भानोरादित्यस्य विश्रामशैला इव विश्रान्तिपर्वता इव उदयास्ताचलमध्यगस्य उदयश्च अस्त च तावचलौ तयोर्मध्यगतस्य । उदयास्ताचलसदृशा धान्यराशय इति भाव ॥ ४८ ॥ नीरान्तरेति—तरङ्गिणीना नदीना तटेपु तरवो वृक्षा विभान्ति नीरमध्यगृहीतप्रतिबिम्बावतारा । अतश्चोत्प्रेक्ष्यन्ते—मज्जनाय स्नानाय

स्वर्गके प्रदेश एक ही पीताम्बर—नारायणके धाम—तेजसे मनोहर है परन्तु गाँव अनन्त पीताम्बरोंके धामसे मनोहर है [पक्षमे अपरिमित उत्तुङ्ग भवनोसे सुशोभित है] ॥ ४४ ॥ मन्द-मन्द वायुसे हिलते हुए धान्यसे परिपूर्ण वहाँकी पृथिवी ऐसी जान पड़ती है मानो यन्त्रोंके पनाले रूप प्यालोंके द्वारा पौडा और इक्षुओंके रसरूपी मदिराको पीकर नशासे ही झूम रही हो ॥४५॥ यतश्च आकाश रात्रिके समय ताराओंको सहसा फैला देता है और दिनके समय उन्हें साफ कर देता है—मिटा देता है इसलिए ऐसा जान
८ पडता है मानो वह फूले हुए कमलोंसे सुशोभित उस देशके सरोवरोके साथ प्राप्त हुई अपनी सदृशताको स्वीकृत न कर ही मिटा देता है ॥४६॥ बन्धानरूपी भौहों तक निश्चल तालाबरूपी हजारों नेत्रोंके द्वारा जिस देशका वैभव देखकर पृथिवी भी उगते हुए धान्यके बहाने आश्चर्यसे मानो रोमांच धारण करती है ॥ ४७॥ जिस देशमे प्रत्येक गाँवके समीप लोगोंके द्वारा लगाये हुए धान्यके ऊँचे-ऊँचे ढेर ऐसे जान पड़ते है मानो उदयाचल और अस्ताचलके बीच गमन करने वाले सूर्यके विश्रामके लिए किन्हीं धर्मात्माओंके द्वारा बनाये हुए विश्राम पर्वत ही हों ॥ ४८ ॥ जहाँ नदियोंके किनारेके वृक्ष जलके भीतर प्रतिबिम्बित हो रहे है और उससे ऐसे जान पड़ते हैं मानो ऊपर स्थित

१ रूपकोत्प्रेक्षालकार । २ रूपकोत्प्रेक्षालकार ।

सस्यस्थलीपालकबालिकानामुल्लोलगीतश्रुतिनिश्चलाङ्गम् ।
यत्रैणयूथं पथि पान्थसार्था [1]सल्लेप्यलीलामयमामनन्ति ॥ ५० ॥
आस्कन्धमृज्वी तदनल्पपत्रप्रसूनशाखावलया द्रुमाली ।
मयूरपत्रग्रथितातपत्रश्रीर्यस्य देशाधिपतित्वमाह ॥ ५१ ॥
यत्रालिमालास्थलपङ्कजानां सौरभ्यलोभादभितो भ्रमन्ती ।
विभाति लोलाध्वगलोचनानां बन्धाय सिद्धायसशृङ्खलेव ॥ ५२ ॥
यं तादृशं देशमपास्य रम्यं यत्क्षारमब्धिं सरितः समीयुः ।
बभूव तेनैव [2]जलाशयानां तासां प्रसिद्धं किल [3]निम्नगात्वम् ॥ ५३ ॥
भूकण्ठलोल[4]न्नवपुण्डरीकस्रग्बन्धुरा[5] गोधनधोरणी या ।
सा यस्य दिङ्मण्डलमण्डनाय विस्तारिणी कीर्तिरिवावभाति ॥५४॥

कृतप्रयत्ना इवोर्ध्वगतार्कतापात् उपरिस्थितादित्यतापात्[6] ॥ ४९ ॥ सस्येति—यत्र पान्थसार्थाः पथिकसमूहा एणयूथं मृगकदम्बकं सल्लेप्यलीलामयं सद्वर्णोज्ज्वलपुस्तकर्मघटितमिव आमनन्ति वितर्कयन्ति । निश्चलकारणमाह—उल्लोलगीतश्रुतिनिश्चलाङ्गं तारगम्भीरगीतश्रवणैकाग्रचित्तं सस्यक्षेत्ररक्षकबालिकानाम् । भ्रान्तिमानलंकारः ॥ ५० ॥ आस्कन्धमिति—यस्य देशाधिपतित्वं देशराजत्वं द्रुमाली आह ब्रूते । मयूरपत्रग्रथितातपत्रश्रीः मयूरपत्रैर्मयूरपिच्छैर्ग्रथितं यदातपत्रं तस्येव श्रीराकृतिर्यस्याः सा तथाविधा । कथमित्याह—आस्कन्धमृज्वी स्कन्धं व्याप्य सरला दण्डवत् स्कन्धं यावत्सरलेत्यर्थः । तदनल्पेत्यादि—तैर्नीलिमकान्तिप्रसिद्धैरनल्पैः प्रचुरैः पत्रैः प्रसूनैश्च विचित्रपुष्पैरुपलक्षितं शाखामण्डलं यस्याः सा तथाविधा ॥ ५१ ॥ यत्रेति—यत्र स्थलपङ्कजसौरभतृष्णयाभितः सर्वतो भ्रमन्ती इतस्ततो विचञ्चूर्यमाणालिमाला विभाति । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—चञ्चलपथिकलोचनानां बन्धाय नियन्त्रणाय आयसशृङ्खलेव सिद्धा लोहहिञ्जीरवन्निष्पन्ना । स्थलनलिनखण्डोपरिभ्राम्यद्भ्रमरपङ्क्तिदर्शनरसनिर्निमेषाः पथिका इति भावः । असंगतिनामायमलंकारः ॥ ५२ ॥ यमिति—यं तादृशमनन्यसामान्यप्रभावं देशमपास्य त्यक्त्वा रम्यमनेकगुणगभीरं क्षारमब्धिं नामाख्यातगुणं यत् सरितो नद्यः समीयुः समाजग्मुः तेनैव हेतुना तासां निम्नगेति यथार्थाभिधानं प्रसिद्धिं ख्यातिं गतम् । विशेषणेन कारणमुद्भावयति—जलाशयानां जलमयीनां पक्षे मन्दाभिप्रायाणां किलेति सम्भाव्यते । उत्प्रेक्षागर्भोऽयमनुमानालंकारः ॥ ५३ ॥ भूकण्ठेति—या गोधनधोरणी गोवृन्दावली भूमिगललोलन्नवपुण्डरीकमालासदृशी सा यस्य देशस्य साक्षात्कीर्ति-

सूर्यके सन्तापसे व्याकुल होकर स्नानके लिए ही प्रयत्न कर रहे हों ॥ ४९ ॥ जिस देशके मार्गमें धानके खेत रखानेवाली लड़कियोंके अल्हड गीतोंके सुननेसे जिसका अंग निश्चल हो गया है ऐसे मृगसमूहको पथिक लोग उत्तम मिट्टीसे निर्मित-सा मानते हैं ॥ ५० ॥ नीचेसे लेकर स्कन्ध तक सीधी और उसके बाद बहुत भारी पत्तों, फूलों और शाखाओंके समूहसे वर्तुलाकार फैली हुई वृक्षोंकी कतार मयूरपिच्छसे गुम्फित छत्रोंके समान जान पडती थी और मानो वह कह रही थी कि यह देश सब देशोंका राजा है ॥ ५१ ॥ जिस देशमें गुलाबोंकी सुगन्धिके लोभसे चारों ओर घूमती हुई भ्रमरोंकी पङ्क्ति ऐसी जान पडती थी मानो पथिकोंके चंचल लोचनोंको बाँधनेके लिए प्रकट हुई लोहेकी जंजीर ही हो ॥ ५२ ॥ नदियाँ, ऐसे सुन्दर देशको छोडकर जो खारे समुद्रके पास गयी थीं उसीसे मानो उन मूर्खाओंका लोकमें निम्नगा नाम प्रसिद्ध हुआ है ॥५३॥ पृथिवीरूपी वनिताके कण्ठमें लटकती हुई नवीन सफेद कमलोंकी मालाकी तरह मनोहर जो गायोंकी पंक्ति सर्वत्र फैल रही

१ सल्लेप छ, ख । २ जडाशयानां म० । जलम् आशये मध्ये यासां तासाम्, पक्षे डलयोरभेदात् जडो मन्द आशयोऽभिप्रायो यासां तासाम् । ३ नीचैर्गामित्वं पक्षेऽध स्थानगामित्वं नदीत्वमिति यावत् । ४ लोठन्नव म० २ । ५. भुवः कण्ठः भूकण्ठः तत्र लोलन्ती चलन्ती या नवपुण्डरीकस्रग् नूतनश्वेतकमलमाला तद्वद्बन्धुरा मनोहरा । ६ उत्प्रेक्षालंकारः ।

कल्पद्रुमान्कल्पितदानशीलान् जेतु किलोत्तालपतत्रिनादै ।
आहूय दूराद्वितरन्ति वृक्षा. फलान्यचिन्त्यानि जनाय यत्र ।।५५।।
तत्रास्ति तद्रत्नपुर पुर यद्द्वारस्थलीतोरणवेदिमध्यम् ।
अलकरोत्यर्कतुरङ्गपङ्क्ति कदाचिदिन्दीवरमालिकेव ।।५६।।
मुक्तामया एव जना समस्तास्तास्ता स्त्रियो या नवपुष्परागा ।
वज्र द्विपा मूर्ध्नि नृपोऽपि यस्य वितन्वते नाम विनिश्चितार्थम् ।।५७।।
भोगीन्द्रवेश्मेदमिति प्रसिद्ध्या यद्वप्रवेष' किल पाति शेष ।
तथाहि दीर्घान्तिकदीर्घिकास्य निर्मुक्तनिर्मोकनिभा विभाति ।।५८।।
समेत्य यस्मिन्मणिवद्धभूमौ पौराङ्गनाना प्रतिविम्वदम्भात् ।
मन्ये न रूपामृतलोलुपाक्ष्य. पातालकन्या सविव त्यजन्ति ।।५९।।

रिवावभाति । विस्तारिणी प्रसरणीला, किमर्थमित्याह—दिक्चक्रालकरणाय ।।५४।। कल्पेति—यत्र देशे वृक्षा जनाय फलानि वितरन्ति ददति अचिन्त्यानि मनोरथाविकानि आहूय दूरात् आकार्य पतत्रिनादै पक्षिकोलाहलै किमर्थमाहूयाचिन्त्यानि ददतीत्याह—कल्पद्रुमान् जेतु पराभवितु चिन्तितमात्रदायिन. । आकारणाचिन्तिताभ्यामधिकदानगुणेन कल्पद्रुमेभ्यो वृक्षा अतिशायिन इति व्यतिरेक ।।५५।। द्वीपक्षेत्रखण्डदेशवर्णनक्रमेणापतित नगरवर्णनमुद्भावयन्नाह—तत्रेति—तत्र देशे तत्प्रसिद्ध रत्नपुरनामनगरमस्ति यद्द्वारस्थल्तोरणवेदिमध्य यस्य प्रतोलीतोरणस्तम्भिकामध्यम् अर्कतुरङ्गपङ्क्ति सूर्यरथाश्वश्रेणी भूपयति कदाचिन्मध्याह्ने। इन्दीवरमालिकेव नीलोत्पलवन्दनमालेव मध्याह्ने तोरणस्तम्भिकान्त समायाता तुरङ्गपङ्क्तिर्नीलत्वाद्वन्दनमालेव प्रतिभातीत्यर्थ । पर्यायोक्तिरलंकृति ।।५६।। मुक्तामयेति—यस्य रत्नपुरस्य नामाभिधान विनिश्चितार्थसार्थकमिति यावत् । एते वितन्वते कुर्वन्ति, के । इत्याह—मुक्तामया मुक्तरोगा जना , समस्ता सर्वास्तास्ता स्त्रियो या किम् । न वपुषि शरीरेऽरागा अश्रोका । राजापि शत्रूणा मस्तके कुलिश पक्षे मुक्तामया मुक्ताभिर्निर्वृत्ता नवपुष्परागा नवीनपुष्पमणिरागा वज्र हीरक मुक्तापुष्परागहीरकैर्भृतमिवेत्यर्थ ।।५७।। भोगीन्द्रेति—शेष फणिपतिर्यन्नगर पाति रक्षति वप्रवेष प्राकारव्याज । इतिशब्दो हेत्वर्थे किलेति सभावनायाम्, भोगीन्द्रा[1] फणीश्वरास्तेषा वेश्म स्थान भोगीन्द्रा विलासिन । तथाहीति प्रत्यक्षाभिधानदर्शने । अस्य शालस्य समीपे परिखा द्राघीयसी निर्मुक्तनिर्मोकनिभा विपर्यस्तकञ्चुकसदृशी । अत्र धवलप्राकारशेषयो परिखानिर्मोकयोश्चोपमानोपमेयभाव ।।५८।। समेत्येति—यत्र नगरे

थी वह ऐसी जान पड़ती थी मानो समस्त दिशाओंको अलंकृत करनेके लिए उस देशकी कीर्ति ही फैल रही हो ।।५४।। जिस देशके वृक्ष पक्षियोंके उत्कट शब्दोंके वहाने संकल्पित दान देनेवाले कल्पवृक्षोंको जीतनेके लिए ही मानो दूर-दूरसे बुला कर लोगोंको अचिन्त्य फल देते रहते हैं ।।५५।। उस उत्तरकोशल देशमें वह रत्नपुर नामका नगर है जिसके गोपुरकी तोरण-वेदिकाके मध्यभागको कभी—मध्याह्नके समय सूर्यके घोड़ोंकी पंक्ति, नीलकमलकी मालाकी भाँति अलंकृत करती है ।।५६।। उस नगरके समस्त जन मुक्तामय थे—मोतियोंके बने थे [पक्षमें आमय—रोगसे रहित थे], वहाँ वही स्त्रियाँ थीं जो नूतन पुष्पराग मणिकी बनी थीं [पक्षमें—शरीरमे रागरहित नहीं थीं] और वहाँका राजा भी शत्रुओंके मस्तकपर वज्र था—हीरा था [पक्षमे वज्र—अशनि था] इस प्रकार स्त्री, पुरुष तथा राजा—सभी उसके रत्नपुर नामको सार्थक करते हैं ।।५७।। ऐसी प्रसिद्धि है कि यह भोगीन्द्र—शेषनागका भवन है [पक्षमें वड़े-वड़े भोगियोंका निवासस्थान है] इसीलिए शेषनाग प्राकारका वेष धारण कर उस नगरकी रक्षा करता है और लम्बी-चौडी परिखा उसकी अभी ही छोड़ी हुई काचली की तरह सुशोभित होती है ।।५८।। उस नगरकी मणिखचित भूमिमे नगरवासिनी स्त्रियोंके

१ ततोऽग्रे इतिदेशवर्णनम् ख० ग० ड० च० घ० ज० । २ 'भोगी भोगान्विते सर्पे ग्रामण्या राज्ञि नापिते' इति विश्वलोचन ।

प्रासादशृङ्गेषु निजप्रियार्त्या हेमाण्डकप्रान्तमुपेत्य रात्रौ ।
कुर्वन्ति यत्रापरहेमकुम्भभ्रम द्युगङ्गाजलचक्रवाका ॥ ६० ॥
शुभ्रा यदभ्रलिहमन्दिराणा लग्ना ध्वजाग्रेषु न ता पताका ।
किंतु त्वचो घट्टनत सिताशोर्नोचेत्किमन्तर्व्रणकालिकास्य ॥ ६१ ॥
कृताप्यधो भोगिपुरी कुतोऽभूदहीनभूषेत्यतिकोपकम्प्रम् ।
यज्जेतुमेतामिव खातिकाम्भश्छायाछलात्क्रामति नागलोकम् ॥ ६२ ॥
सक्रान्तबिम्ब स्रवदिन्दुकान्ते नृपालये प्राहरिकै परीते ।
हृताननश्री सुदृशा चकास्ति काराधृतो यत्र रुदन्निवेन्दु ॥ ६३ ॥

पौराङ्गनाना सविध समीप पातालकन्या न मुञ्चन्ति । कि कारणम् । इत्याह—रूपामृतलोलुपाक्ष्य रूपमेवामृत तस्मिन् लोलुपे लम्पटे अक्षिणी यासा तास्तथाभूता । मणिवद्धभूमौ रत्नमयोत्तानपट्टपृथिव्या समेत्य आगत्य प्रतिबिम्बवदम्भात् । सहचारिप्रतिबिम्बपातालकन्ययोरुपमानोपमेयभाव । निजजातेरपि रूपावलोकनतृष्णातिरेक इत्यतिशयाभास ॥५९॥ प्रासादेति—यत्र नगरे स्वर्गनदीचक्रवाका द्वितीयकाञ्चनकलशभ्रान्तिमुत्पादयन्ति—प्रासादशृङ्गेषु हेमाण्डकप्रान्तमुपेत्य अग्रेतनसुवर्णकुम्भसमीपमागत्य निजप्रियार्त्या चक्रवाकीयमिति विरहपीडया । भ्रान्तिमानलकार ॥ ६० ॥ शुभ्रा इति—यस्याभ्रकपप्रासादाना केतुकोटिपु शुभ्रा या शुभ्ररूपा लग्ना अहमेव मन्ये न ता पताका तर्हि कास्ता इत्याह—किन्तु निर्धारणे सिताशोश्चन्द्रमसस्त्वच कृतयो घट्टनत उपरिगमनघर्षणाल्लग्ना नो चेदाक्षेपे, अस्य चन्द्रस्यान्तर्मध्ये व्रणकालिका लाञ्छनाभिधेयप्रसिद्धा किं कुतो बभूव । उत्तुङ्गध्वजाग्रोपरिगमनोच्चटितत्वगास्थानमस्य कृष्ण विभाति । अपह्नुति ॥ ६१ ॥ कृताप्यधो-इति—यन्नगर खातिकाम्भश्छायाछलात् परिखाजलान्तर्गतप्रतिबिम्बव्याजान्नागलोकमधोभुवन क्रामति गच्छतीव । किं कर्तुम् । इत्याह—जेतुमेता भोगिपुरी शेषराजधानीम् । यत् कथभूतम् । अति उत्कट कोपस्तेन कम्प्रम् । अतिकोपकारणमाह—इय भोगिपुरी अव कृतापि शतशो निर्जितापि कुतोऽहीनभूषा बभूव । अहीना अधिका भूषालकरण यस्या सा तथोक्ता, अधिकप्रभावेत्यर्थ । पक्षे अहीनामिन स्वामी अहीनस्तेन भूषा यस्या सा तथा । अव कृता तले कृता । अथ च खातिकाजलमध्यनगरप्रतिबिम्ब स्वभावतरलमेव कम्पमानमिव सभाव्यते[1] ॥ ६२ ॥ सक्रान्त इति—यत्रेन्दुश्चन्द्रमा रुदन्निव चकास्ति काराधृतो गुप्तिक्षिप्त । किमित्याह—सुदृशा मृगाक्षीणा हृताननश्रीर्मुषितमुखलक्ष्मीको, घटनामाह—नृपालये राजधामनि यत स्रवदिन्दुकान्ते श्चोतच्चन्द्रकान्ते सक्रान्तबिम्ब प्रतिफलितमूर्ति । चन्द्रकान्तमयराजगृहे चन्द्रकरस्पर्श-

प्रतिबिम्ब पड रहे थे उनसे ऐसा जान पडता था मानो पाताल-कन्याएँ सौन्दर्यरूपी अमृतमें लुभा कर उन स्त्रियोंकी निकटता नहीं छोड रही थीं ॥५९॥ उस नगरमें रात्रिके समय आकाशगङ्गाके जलके समीप रहनेवाले चक्रवाक पक्षी, अपनी स्त्रियोंके वियोगसे दु खी होकर मकानोंके शिखरोंपर स्वर्णकलशोंके समीप यह समझकर जा बैठते हैं कि यह चक्रवाकी है और इस तरह वे कलशोंपर लगे हुए दूसरे स्वर्णकलशोंका भ्रम उत्पन्न करने लगते हैं ॥६०॥ उस नगरके गगनचुम्बी महलोंके ऊपर ध्वजाओंके अग्रभागमे जो सफेद-सफेद वस्तुएँ लगी हुई हैं वह पताकाएँ नहीं हैं किन्तु सघर्षणसे निकली हुई चन्द्रमाकी त्वचाएँ हैं। यदि ऐसा न होता तो इस चन्द्रमाके बीच व्रणकी कालिमा क्यों होती ? ॥ ६१ ॥ जिस भोगिपुरीको मैंने तिरस्कृत कर दिया था [पक्षमे नीचे कर दिया था] वह उत्तम आभूषणोंसे युक्त [पक्षमे शेषनागरूप आभूषणसे युक्त] कैसे हो गयी ? —इस प्रकार अत्यन्त क्रोधसे कम्पित होता हुआ जो नगर परिखाके जलमे प्रतिबिम्बित अपनी छायाके छलसे मानो नागलोकको जीतनेके लिए ही जा रहा हो ॥ ६२ ॥ जिसके चन्द्रकान्त मणियोंसे पानी झर रहा है ऐसे पहरेदारोंसे घिरे हुए उस नगरके राजभवनमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमा ऐसा सुशोभित होता

१ श्लेषप्राणितोत्प्रेक्षालकार ।

विभाति रात्रौ मणिकुट्टिमोर्वी सजाततारा प्रतिमावतारा।
दिदृक्षया यत्र विचित्रभूतेरुत्तानिताक्षीव कुतूहलेन ॥ ६४ ॥
दृङ्निर्निमेषा द्युसदां पतन्ती दोषाय मा भूदिति यस्य रात्र्या।
उत्तार्यते मूर्ध्नि जितामरस्य नीराजनापात्रमिवेन्दुविम्वम् ॥ ६५ ॥
दन्दह्यमानागुरुधूमवर्ति[1]प्रवर्तिते व्योम्नि घनान्धकारे।
सौधेषु यत्रोर्ध्वनिविष्टहेमकुम्भप्रभा भाति तडिल्लतेव ॥ ६६ ॥
यत्रोच्चकैश्चैत्यनिकेतनानां कूटस्थलीकृत्रिमकेसरिभ्यः।
रात्रिंदिवं भीत इवान्तरिक्षे भ्राम्यत्युपात्तैकमृगो मृगाङ्कः ॥ ६७ ॥
यत्रोच्चहर्म्येषु पतत्सपद्मव्योमापगापूरसहस्रशङ्काम्।
वितन्वते काञ्चनकुम्भशोभा सभाव्यमाना सितवैजयन्त्यः ॥ ६८ ॥

संयोगेन समन्ततो द्रवति तन्मध्यप्रतिबिम्बितश्चन्द्रो रुदन्निव प्रतिभातीति भाव। चौरग्रहोऽपि प्राहरिकपरीते राजगृहे भवति नान्यत्रेति ॥ ६३ ॥ विभातीति—यत्र रात्रौ मणिकुट्टिमोर्वी रत्ननिबद्धा भू सजाततारा-प्रतिमावतारा सजातस्ताराप्रतिमानामवतारोऽध्यारोपो यस्या सा तथाविधा। अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—कुतूहलेनेव उत्तानिताक्षी प्रसारितनिर्निमेषलोचना। किमर्थमित्याह—विचित्रभूतेरनेकश्रियो दिदृक्षया ॥ ६४ ॥ दृङिति—यस्य नगरस्येन्दुविम्बं चन्द्रमण्डलं नीराजनापात्रमिव शृत्रटक (?) शरावसम्पुटमिव, रात्र्या रजन्या मूर्ध्नि के उत्तार्यते। किमर्थमित्याह—द्युसदां देवानां निर्निमेषा निमेषरहिता पतन्ती दृग् दृष्टिर्दोषाय माभून्माभवतु। देवदृष्टिदोषकारणमाह—जितामरस्य जितस्वर्गस्य ॥ ६५ ॥ दन्दह्यमानेति—यत्र नगरे सौधेषु उपरिस्थित-सुवर्णकुम्भदीप्तिस्तडिल्लतेव विद्युन्मालेव भाति, व्योम्नि गगने घनान्धकारे सति बहुलान्धकारे मेघान्धकारे च, अत्यर्थं दह्यमानागुरुधूमशिखोत्पादिते ॥ ६६ ॥ यत्रेति—मृगाङ्कश्चन्द्र उपात्तैकमृग उपात्तो गृहीत एक सर्वस्वस्थानं मृगो येन स तद्विध। अन्तरिक्षे आकाशे भ्राम्यति, किमित्याह—देवगृहाणां शृङ्गभूकृत्रिमसिंहेभ्यो भीत इव रात्रिंदिवमनवरत, देवगृहसिंहान् सजीवानिव मन्यमानस्तत्क्रमावपातभयान्नैकत्र तिष्ठतीति भाव। भ्रान्तिमानलंकार ॥ ६७ ॥ यत्रेति—यत्र सितवैजयन्त्यो धवलध्वजपटा हैमकलशशोभासंश्लिष्यमाणा वितन्वते जनयन्ति। का वितन्वत इत्याह—पतदित्यादि—सह पद्मैर्वर्तत इति सपद्मा सा चासौ व्योमापगा गङ्गा च तस्याः पूरसहस्रं प्रवाहसहस्रम्, एतच्च तत् सपद्मव्योमापगापूरसहस्रं च तस्य शङ्का भ्रमं सन्देहमिति बभूव तत्तथाभूतम्। अत्र ध्वजपटव्योमापगापूरयो काञ्चनकुम्भपद्मयोश्चोपमानोपमेयभाव ॥ ६८ ॥

है मानो स्त्रियोंके मुखकी शोभा चुरानेके अपराधसे जेलखानेमें बन्द किया गया हो और इसी दुःखसे रो रहा हो ॥ ६३ ॥ उस नगरकी मणिमय भूमिमे रात्रिके समय ताराओं के प्रतिबिम्ब पड़ते हैं जिससे वह ऐसी जान पड़ती है मानो वहाँकी अद्भुत विभूतिको देखनेकी इच्छासे उसने कुतूहलवश आँखे ही खोल रखी हों ॥ ६४ ॥ देवताओंकी टिमकार रहित पड़ती हुई दृष्टि कहीं दोष उत्पन्न न कर दे—नजर न लगा दे—यह सोचकर ही मानो रात्रि, स्वर्ग लोकको जीतनेवाले उस रत्नपुर नगरके ऊपर नीराजनापात्रकी तरह चन्द्रमाका मण्डल घुमाती रहती है ॥ ६५ ॥ उस नगरमे बार-बार जलती हुई अगुरु चन्दनकी धूम-वर्तिकाओंसे आकाशमे घना अन्धकार फैल रहा है (अथवा मेघरूप अन्धकार व्याप्त हो रहा है) और उस अन्धकारके बीच मकानोंके शिखरके अग्रभागपर लगे हुए सुवर्णकलशो की प्रभा बिजलीकी तरह मालूम होती है ॥ ६६ ॥ उस नगरके ऊँचे-ऊँचे जिनमन्दिरोंके शिखर प्रदेशमें जो कृत्रिम सिंह बने हुए हैं उनसे डरकर ही मानो सर्वस्वभूत एक मृगको धारण करनेवाला चन्द्रमा रात-दिन आकाशमे घूमता रहता है ॥ ६७ ॥ उस नगरमे ऊँचे ऊँचे-महलोंके ऊपर सुवर्णमय कलशोंसे सुशोभित जो सफेद-सफेद पताकाएँ फहरा रही हैं

१ प्रार्वतिते व० ।

यत्राश्मगर्भोज्ज्वलवेश्मभित्तिप्रभाभिराक्रान्तनभस्तलाभि ।
दिवापि वापीपुलिने वराकी रात्रिभ्रमात्ताम्यति चक्रवाकी ॥ ६९ ॥
मरुच्चलत्केतुकराङ्गुलीभि सर्तर्जितानीव सिषेविरे यत् ।
अतुच्छशाखानगरच्छलेन चर्तुदिगन्ताधिपपत्तनानि ॥ ७० ॥
रत्नाण्डकै शुभ्रसहस्रकूटान्याभान्ति यस्मिञ्जिनमन्दिराणि ।
तद्द्रष्टुमुर्वीतलनिर्गताहिभर्त्रा कृतानीव वपूषि हर्षात् ॥ ७१ ॥
उदेति पातालतलात्सुधाया सिरासहस्र सरसीषु यत्र ।
मन्ये ततस्तासु रसाधिकत्व मुञ्चत्युपान्त न च भोगिवर्ग ॥ ७२ ॥

यत्रेति—यत्र चक्रवाकी रात्रिभ्रमात्ताम्यति व्याकुलायते, वराकी मुग्धमानसा दिवापि दिवसेऽपि, काभिरित्याह—अश्मगर्भेत्यादि—मरकतमयोज्ज्वलगेहभित्तिदीप्तिभिर्व्याप्ताकाशाङ्गणाभि । हरिन्मणिकिरणैर्दिनमपि रात्रिमन्य विलोक्य गृहदीर्घिकापुलिनस्था रथाङ्गी खिद्यत इति भाव ॥ ६९ ॥ मरुदिति—यद्रत्नपुर चतुर्दिगन्ताधिपपत्तनानि इन्द्रदक्षिणेशवरुणधनदनगराणि सिषेविरे उपासाञ्चक्रिरे । केनेत्याह—अतुच्छशाखानगरच्छलेन प्रचुरपर्यन्तोपनगरव्याजेन सर्तर्जितानीव । काभिरित्याह—मरुच्चलत्केतुकराङ्गुलीभिर्वातलोलध्वजतर्जनीभि ॥ ७० ॥ रत्नाण्डकैरिति—यस्मिन् जिनमन्दिराणि जिनगृहाणि शुभ्रसहस्रकूटानि शुभ्राणि सहस्रसख्यानि शिखराणि येषा तानि तथोक्तानि । आभान्ति, कै रत्नाण्डकै रत्नकलशै । अतश्चोत्प्रेक्ष्यन्ते—तत्पुर द्रष्टुमिव हर्षात्प्रमोदाद् वपूषि शरीराणि कृतानि । केन कृतानीत्याह—उर्वीतलनिर्गताहिभर्त्रा रसातलनिर्गतशेषराजेन । एकस्थानस्थेन एकेन शरीरेण तद् द्रष्टु न पार्यत इति शेषेण बहुशरीराणि कृतानीति । अत्र रत्नाण्डकै सहानुक्तैरपि शेषमणिभिर्मन्दिरैस्तु शेषशरीराणा साम्यमिति भाव ॥ ७१ ॥ उदेतीति—यत्र सरसीषु गम्भीरतडागेषु सुधाया अमृतस्य सिरासहस्रम् अक्षीणधारासहस्रमुदेति निर्याति । कुत । पातालतलादमृतस्थानकुण्डात् । ततोऽह मन्येऽनुमामि, तासु रसाधिकत्व रसविशेषप्रभावत्व तत एव भोगिवर्गो विलासिसमूह उपान्त समीप न मुञ्चति । अथ चोक्तिलेश —यत्रामृतसम्भावना तत्रैव रसाधिक्य न नामामृतवदनादपि

वे ऊपरसे गिरनेवाले कमलो सहित आकाशगगाके हजारो प्रवाहोंकी शका बढा रही हैं ॥६८॥ उस नगरमे इन्द्रनील मणियोंसे बने हुए मकानोकी दीवालोंकी प्रभा आकाश तक फैल रही है जिससे वापिकाके किनारे रहनेवाली बेचारी चकवी दिनमे ही रात्रिका भ्रम होनेसे दुःखी हो उठती है ॥ ६९ ॥ उस नगरके चारो ओर बड़े-बड़े उपनगर है उनके बहाने ऐसा मालूम होता है मानो वायुसे कम्पित पताका रूप अगुलियोंसे तर्जित होकर चारों दिक्पालोके नगर ही उसकी सेवा कर रहे हो ॥ ७० ॥ सफेद-सफेद हजारों शिखरोसे युक्त उस नगरके जिनमन्दिर अपने रत्नमय कलशोंसे ऐसे जान पडते हैं मानो उस नगरको देखनेके लिए पृथिवीतलसे निकले हुए शेष नागके द्वारा हर्षसे बनाये हुए अनेक शरीर ही हो ॥ ७१ ॥ जिस नगरके सरोवरोंमे पातालतलसे अमृतकी हजारों अक्षीण धाराएँ निकलती हैं इसलिए मै समझता हूँ कि उनमे रस—जल [पक्षमे रसविशेष] की अधिकता रहती है और इसीलिए भोगिवर्ग—भोगीजनोका समूह [पक्षमे अष्टकुल नागोंका समूह] उनकी निकटताको नहीं छोडता है । भावार्थ—ऐसी प्रसिद्धि है कि पातालमे अमृतके कुण्ड है और उनकी रक्षाके लिए भोगी अर्थात् अष्टकुल नागोंका समूह नियुक्त है जो सदा उनके पास रहता है । रत्नपुरके सरोवरोंमे उन्हीं अमृतके कुण्डोंसे अमृतकी हजारों अक्षीण धाराएँ निकलती हैं इसलिए उनमे सदा रस अर्थात् जलकी अथवा अमृतोपम मधुर रसकी अधिकता रहती है और इसीलिए भोगिवर्ग—विलासी जनोंका समूह उनके उपान्त भागको नहीं छोडता है—सदा उनके तटपर क्रीडा किया करता है । [पक्षमे उनमे अमृतकी धाराएँ प्रकट होनेसे उनके रक्षक भोगियोंका]—कुल—नागोंका समूह उनके उपान्त भागको नहीं छोड़ता है ॥७२॥

मन्थाचलामूलविलोडितान्तर्लब्धैकसत्कौस्तुभदृष्टसारः ।
रत्नाकरः स्याज्जलधिः कुतस्तत्सेवेत नैतत्परिखामिषाच्चेत् ॥ ७३ ॥
अतीवभास्तम्भितकौस्तुभाना स्तूपान्निरूप्य ज्वलता मणीनाम् ।
आक्रीडशैलानिव यत्र लक्ष्म्याः प्रत्येति दूरापणिकोऽपि लोकः ॥ ७४ ॥
पदे पदे यत्र परार्थनिष्ठा रसस्थितिं कामपि नाटयन्त्यः ।
वाचः कवीनामिव कस्य नोच्चैश्चेतोमुदं कन्दलयन्ति वेश्याः ॥ ७५ ॥
संगीतकारम्भरसन्मृदङ्गा कैलासभासो वलभीनिवेशाः ।
वृन्दानि यत्र ध्वनदम्बुदानामनम्बुशुभ्राणि विडम्बयन्ति ॥ ७६ ॥
[2]रणज्झणत्किङ्किणिकारवेण सभाष्य यत्राम्बरमार्गखिन्नम् ।
मरुच्चलत्केतनतालवृन्तैर्हर्म्यावली वीजयतीव मित्रम् ॥ ७७ ॥

सुरसमस्तीति । तत्रैव च भोगिवर्गो रक्षानियुक्तोऽष्टकुलनागसमूहः ॥ ७२ ॥ मन्थेति—चेद्यदि एतन्नगर जलनिधिर्न सेवेत नोपासीत परिखामिषात् खातिकाच्छलात् तस्मात् कुतः कारणाज्जलधिः रत्नाकरो रत्नालयः स्यात् । रत्नास्तित्वं निराकुर्वन्नाह—मन् प्रशस्य कौस्तुभः सत्कौस्तुभो लब्धैकसत्कौस्तुभेन दृष्टः सारः कोशबलं यस्य सः, मन्थाचलेन मूलं तलं यावद् विलोडितं गाहितमन्तर्मध्यं यस्य सः । एककौस्तुभाकरस्य रत्नाकरत्वं तत्पुरोपासनयेत्यर्थः ॥ ७३ ॥ [3]अतीवेति— पद इति—यत्र नगरे वेश्या विलासिन्यः कस्य चेतोमुदं न कन्दलयन्ति विस्तारयन्ति । कवीनां वाच इव [4]पदे पदे स्थाने स्थाने [5]परार्थनिष्ठाः परद्रव्यतत्पराः पक्षे उत्तमवाच्ययुक्ताः । कामपि अनुभवैकसाध्यां रसस्थितिं नाटयन्त्यः प्रकटयन्त्यः ॥ ७५ ॥ संगीतकेति—यत्र वलभीनिवेशाः अलिवेदिका भूभागाः कैलासभासः शुभ्रदीधितयः संगीतकारम्भरसन्मृदङ्गाः प्रेक्षणारम्भवाद्यमानमर्दलाः । एवंविधगर्जन्मेघाला पटलान्यनुकुर्वन्ति । अनम्बुशुभ्राणि शारदानीत्यर्थः ॥ ७६ ॥ रणज्झणदिति—यत्र हर्म्यावली गृहपङ्क्तिर्मित्रमिव मित्रं सूर्यं

मन्दरगिरि-द्वारा मूल पर्यन्त मन्थन करनेपर भीतरसे प्राप्त हुए एक कौस्तुभ मणिसे जिसकी धनवत्ता कूती जा चुकी है ऐसा समुद्र यदि परिखाके बहाने इस रत्नपुर नगरकी सेवा नहीं करता तो रत्नाकर कैसे हो जाता ? एक कौस्तुभ मणिके निकलनेसे थोड़े ही रत्नाकर कहा जा सकता है ॥ ७३ ॥ अपनी उत्कृष्ट प्रभासे कौस्तुभ मणिको तिरस्कृत करनेवाले देदीप्यमान मणियोंके उन ढेरोंको जो कि लक्ष्मीके क्रीडागिरिके समान जान पड़ते हैं, देखकर बाजारसे दूर रहनेवाले लोग भी उस नगरको पहिचान लेते हैं ॥ ७४ ॥ जो पद-पदपर दूसरोंके धनमें आस्था रखती हैं [पक्षमें प्रत्येक पदमें उत्कृष्ट अर्थसे पूर्ण हैं] और किसी अनुभवैकगम्य स्नेहकी स्थितिका अभिनय करती हैं [पक्षमें शृंगारादि रसको प्रकट करती है] ऐसी वेश्याएँ उस नगरमें कवियोंकी भारतीकी तरह किसके हृदयका आनन्द नहीं बढाती ? ॥ ७५ ॥ जिनमें संगीतके प्रारम्भमें मृदंग बज रहे हैं ऐसी कैलासके समान उज्ज्वल उस नगरकी अट्टालिकाएँ पानीके अभावमें सफेद-सफेद दिखनेवाले—शरद ऋतुके गरजते मेघोंके समूहका अनुकरण कर रही है ॥ ७६ ॥ उस नगरके मकानोंकी श्रेणी, रुन-

१ इतीव म० । २ रणद्धणत् ग० । ३ अस्य श्लोकस्य व्याख्या समुपलब्धटीकापुस्तके न प्राप्ता । अतो व्याख्यान्तरं दीयते—अतीवेति—अतीवभासा सातिशयदीप्त्या स्तम्भितस्तिरस्कृतः कौस्तुभो मणिविशेषो यैस्तेषां ज्वलतां देदीप्यमानानां मणीनां रत्नानां लक्ष्म्याः श्रियाः आक्रीडशैलानिव उद्यानपर्वतानिव 'पुमानाक्रीड उद्यानं राज्ञः साधारणं वनम्' इत्यमरः । स्तूपान् राशीन् निरूप्य विलोक्य दूरापणिकोऽपि हट्टाद् दूरवर्त्यपि लोको जनः प्रत्येति प्रत्यभिजानीते यदिति शेषः । श्लिष्टोपमालंकारः ॥ ७४ ॥ ४ पदं स्थाने विभक्त्यन्ते शब्दे वाक्यैकवस्तुनोः । त्राणे पादे पादचिह्ने व्यवसायापदेशयोः ॥ इति हैमः । ५ परश्चासावर्थश्च परार्थः श्रेष्ठवाच्यस्तस्य निष्ठा यासु ताः पक्षे परेषामन्येषां पुंसामर्थे धने निष्ठा यासां ताः ।

हारावलीनिर्झरहारितुङ्गमवाप्य कान्तास्तनशैलदुर्गम् ।
यत्र त्रिनेत्रादपि निर्विशङ्क शङ्के स्मरो भूत्रयदुर्धरोऽभूत् ॥ ७८ ॥
केशेषु भङ्गस्तरलत्वमक्ष्णो सरागता केवलमोष्ठयोश्च ।
मुक्त्वा तदास्य सुदृशा न यत्र दोषाकरच्छायमवैमि किंचित् ॥ ७९ ॥
रात्रौ तम पीतसितेतराश्मवेश्माग्रभाजामसिताशुकानाम् ।
स्त्रीणा मुखैर्यत्र नवोदितेन्दुमालाकुलेव क्रियते नभ श्रीः ॥ ८० ॥
मद्वाजिनो नोर्ध्वधुरा रथेन प्राकारमारोढुममु क्षमन्ते ।
इतीव यल्लङ्घयितु दिनेश [1]श्रयत्यवाचीमथवाप्युदोचीम् ॥ ८१ ॥

वीजयतीव वातप्रचारेण सुखीकरोति । कैः । मरुच्चलत्केतनतालवृन्तैर्वातधूयमानध्वजव्यजनैः । अम्बरमार्गखिन्न गगनपथश्रान्त, किं कृत्वा । सभाष्य प्रियमालाप्य, केन । रणज्झणत्किङ्किणिकारवेण ॥ ७७ ॥ हारेति— यत्र नगरे स्मर कामो भूत्रयदुर्धरोऽभूत् भुवनत्रयजित्वरो बभूव । कथम् । इत्याह—तुङ्ग दुरभिभव कान्तास्तनशैलदुर्गं कामिनीस्तनपर्वतदुर्गम् अवाप्य लब्ध्वा हारावलीनिर्झरहारि मुक्तावलीनिर्झरमनोहरम् । अहमेव शङ्के त्रिनेत्रादपि विषमलोचनादपि निर्विशङ्को वीरोद्धुरा । अथ च यथा कश्चित्तोयपरिपूर्ण परानभिभूत दुर्ग प्राप्य शत्रोर्निर्विशङ्को विशेषजित्वरो भवति [तद्वदत्रापीति भाव] ॥ ७८ ॥ केशेष्विति—यत्र नगरे सुदृशा मृगाक्षीणा तत्प्रसिद्धमास्य मुखमपास्य त्यक्त्वा अन्यत्र किंचिद् दोषाकरच्छाय चन्द्रश्रीकमहमवैमि जानामि पक्षे दोषोत्पत्तिसदृशता । केशेष्वलकेषु भङ्गो वक्रता नान्यत्र नगरादौ भङ्ग इत्यर्थ । तरलत्व चञ्चलत्वमक्ष्णोर्लोचनयोरेव नान्यत्र पुरुषादौ । केवल सरागता ओष्ठयोरेव नान्यत्र पुरुषादौ परस्पर द्वेषिभाव । परिसख्येयमलकृति ॥ ७९ ॥ रात्राविति—यत्र स्त्रीणा मुखैर्नभ श्रीराकाशलक्ष्मी क्रियते । किंविशिष्टा । इत्याह—नवोदितेन्दुमालाकुलेव अदृष्टपूर्वोद्गतचन्द्रपङ्क्तिव्याप्तेव । यदि वा निष्कलङ्कत्वान्नवीनत्वम् । तासा शरीराद्यपह्नवमाह—असिताशुकाना कृष्णवाससा रात्रौ तम पीतसितेतराश्मवेश्माग्रभाजा ध्वान्तपिहितनीलमणिगेहाग्रस्थितानाम् । गेहवस्त्रादेस्तमोरूपत्वान्मुखेन्दव एव दृश्यन्ते इति भाव ॥ ८० ॥ मद्वाजिन इति—दिनेश आदित्यो यन्नगर लङ्घयितुमवाची दक्षिणामुदीचीमुत्तरा वा श्रयति । कथ सन्मुखीमेव पश्चिमा नाक्रामति । इत्याह—इति हेतोर्मनसि चिन्तयन्निव । मद्वाजिनो ममाश्वा अमु प्राकारमत्यूर्ध्वत्वादारोढु न क्षमन्ते न समर्था भवन्तीति । केनेत्याह—रथेन स्यन्दनेन ऊर्ध्वधुरा उत्तुङ्गिताग्रभागेन । अथ च दक्षिणायन-

झुन बजती हुई क्षुद्रघण्टिकाओंके शब्दो-द्वारा आकाशमार्गमे चलनेसे खिन्न सूर्यके साथ [पक्षमे मित्रके साथ] सम्भाषण कर वायुसे हिलती हुई पताकारूप पंखोके द्वारा उसे हवा करती हुई सी जान पड़ती है ॥ ७७ ॥ ऐसा जान पड़ता है कि हारावली रूपी झरनोंसे सुन्दर एव अतिशय उन्नत वहाँकी स्त्रियोंके स्तनरूपी पहाडी दुर्गको पाकर कामदेव महादेव जैसे भी निर्भय हो त्रिलोकविजयी हो गया था ॥ ७८ ॥ उस नगरमे यदि कुटिलता है तो स्त्रियोंके केशोंमे ही है अन्य किसीके हृदयमे कुटिलता [माया] नहीं है और सरागता [लालिमा] है तो स्त्रियोंके ओठोंमे ही है अन्य किसीके हृदयमे सरागता-[विषय] नहीं है। इसके सिवाय मुझे पता नहीं कि उन स्त्रियोंके मुखको छोडकर और कोई वहाँ दोषाकरच्छाय—चन्द्रमाके समान कान्तिवाला [पक्षमे—दोषोंकी खानरूप छायासे युक्त] है ॥७९॥ उस नगरमे रात्रिके समय अन्धकारसे तिरोहित नीलमणियोंके मकानोंकी छतपर बैठी हुई नीलवस्त्र पहननेवाली स्त्रियोंके मुखसे आकाशकी शोभा ऐसी जान पडती है मानो नवीन उदित चन्द्रमाओंके समूहसे व्याप्त ही हो रही हो ॥ ८० ॥ जिसकी धुरा बिलकुल ऊपरको उठ रही है ऐसे रथके द्वारा हमारे घोडे इस प्राकारको लाँघनेमे समर्थ नहीं है—यह

१ श्रयत्यपाची ज०, ख० ।

[१]नीलाश्मलीलावलभीपु [२]जालव्यालम्बमानैर्निशि चन्द्रपादैः ।
प्रतारिता यत्र न मुग्धवध्वो हारावचूलेष्वपि विश्वसन्ति ॥ ८२ ॥
उपर्युपारूढवधूमुखेन्दूनुदीक्ष्य मन्दाक्षमुपैति नूनम् ।
यत्रोच्चसौधोच्चयचूलिकाभ्यो नम्रीभवन्निन्दुरत प्रयाति ॥ ८३ ॥
प्रालेयशैलेन्द्रविशालशालश्रोणीसमालम्बितवारिवाहम् ।
विराजते निर्जरराजधानीमुड्डीय यज्जेतुमिवात्तपक्षम् ॥ ८४ ॥

अगुरुरिति सुगन्धिद्रव्यभेदे प्रसिद्धि
सततमविभवोऽपि प्रेक्ष्यते मेप एव ।
फलसमयविरुद्धा यत्र वृक्षानपास्य
क्वचिदपि न कदाचित्केनचित्केऽपि दृष्टा ॥ ८५ ॥

मुत्तरायण वा सूर्यस्येति ॥ ८१ ॥ नीलाश्मेति—यत्र मुग्धवध्वो हारावचूलेष्वपि मुक्ताकलापेष्वपि न विश्वसन्ति न हस्तान्प्रसारयन्ति । किं विशिष्टा । इत्याह—प्रतारिता विप्लाविताश्चन्द्रपादैश्चन्द्रकिरणदण्डैर्जालव्यालम्बमानैर्जालिकान्तरेण प्रसरद्भि । नीलाश्मलीलावलभीपु नीलमणिक्रीडागृहभित्तिपु ॥ ८२ ॥ उपरीति—यत्र नगरे इन्दुश्चन्द्रो मन्दाक्ष त्रपामुपैति याति । किं कृत्वेत्याह—उदीक्ष्य ऊर्ध्वं वीक्ष्य । कान् । उपर्युपारूढवधूमुखेन्दून् उपरिचटितकामिनीमुखचन्द्रान् । अत कारणान्नम्रीभवन्निम्न व्रजन् इन्दु प्रयाति पलायते । काभ्य । इत्याह—उच्चसौधोच्चयचूलिकाभ्य उदग्रप्रासादसमूहकोटिभ्य । अन्योऽपि सर्वदाध - कृतानुपरिस्थानवलोक्य लज्जमान उच्चासनादवरुह्य परिणश्यतीति भाव ॥ ८३ ॥ प्रालेयेति—यन्नगरमन्तरिक्षमाकाशमुत्प्लुत्य निर्जरराजधानी देवपुर जेतुमिव विराजते । आरूढपक्ष गृहीतपक्षम् । प्रालेयेत्यादि—प्रालेयस्य हिमस्य शैल प्रालेयशैलो हिमाचल इत्यर्थस्तद्विशालश्चासौ शालश्च प्राकारस्तस्य श्रोणी प्राग्भारस्तत्र समालम्बिता वारिवाहा मेघा यत्र तत्तथाभूत प्राकारभित्तिलग्नमेघपक्षं सुरपुरीजिगीपयोत्पित्सुरिवेत्यर्थ ॥८४॥ अगुरुरिति—यत्र नगरे अगुरुरिति प्रसिद्धि सुगन्धिद्रव्यभेदे । अन्य सर्वोऽपि सगुरुर्गौरवाधिष्ठितो वा । अवेर्मेषाद्भवतीति अविभवो मेप एव जनश्च सश्रीक एव प्रेक्ष्यते । फलसमये विभि पक्षिभी रुद्धा व्याप्तास्तद्विधा वृक्षा एव । पक्षे फलसमये विरुद्धा केऽपि न । तान्वृक्षानपास्य त्यक्त्वा क्वचिदपि प्रदेशे कदाचित्काले केनचिद्

विचार कर ही मानो सूर्य उस रत्नपुरको लाँघनेके लिए कभी तो दक्षिणकी ओर जाता है और कभी उत्तरकी ओर ॥ ८१ ॥ उस नगरमे रात्रिके समय नीलमणिमय क्रीडाभवनोमे झरोखोंसे आनेवाली चन्द्रमाकी किरणों-द्वारा छकायी हुई भोली-भाली स्त्रियाँ सचमुचके हारों मे भी विश्वास नही करतीं ॥ ८२ ॥ उस नगरमें मकानोके ऊपर बैठी हुई स्त्रियोंके मुखचन्द्रको देखकर चन्द्रमा निश्चित ही लज्जाको प्राप्त होता है। यही कारण है कि वह वहाँके मकानोकी चूलिकाके नीचे-नीचे नम्र होता हुआ चलता है ॥ ८३ ॥ उस नगरके हिमालयके समान विशाल कोटके मध्यभागमे मेघ आकर ठहर जाते हैं जिससे ऐसा जान पडता है मानो उड़कर देवोंकी राजधानी—स्वर्गको जीतनेके लिए उनमे पख ही लगा रखे हों ॥ ८४ ॥ उस नगरमे 'अगुरु' इस प्रकारकी प्रसिद्धि एक सुगन्धित द्रव्यमे ही है अन्य कोई वहाँ अगुरु [क्षुद्र] नहीं है, यदि वहाँ कोई अविभव [मेषसे उत्पन्न] देखा जाता है तो मेप ही देखा जाता है अन्य कोई अविभव [सम्पत्तिहीन] नहीं देखा जाता और इसी प्रकार वहाँ वृक्षोंको छोड़कर अन्य कोई पदार्थ कहीं भी फल समय विरुद्ध नहीं देखे जाते अर्थात् वृक्ष ही फल लगनेके समय विपक्षियों—द्वारा रुद्ध—व्याप्त होते है। वहाँके अन्य मनुष्य फल मिलनेके समय कभी भी विरुद्ध—विपरीत प्रवृत्तिवाले नहीं देखे जाते ॥८५॥

१ नीलाश्मभिर्निर्मिता लीलावलभ्यस्तासु । २ जालेपु वातायनेपु व्यालम्बन्त इति जालव्यालम्बमानास्तै ।

अन्त स्थितप्रथि राजविराजमानो
[1]यत्प्रान्तभूवलयित पृथुसालबन्ध ।
प्रत्यर्थिनाशपिशुन. परिपूर्णमूर्ति-[2]
रिन्दोरुदारपरिवेश इवावभाति ॥८६॥

[3]इति महाकवि-श्री-हरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये
नगरवर्णनो नाम प्रथम सर्ग ॥१॥

दिदृक्षुणा केऽपि न दृष्टा ॥ ८५ ॥ अन्तरिति—यन्नगरमिन्दोश्चन्द्रमस परिवेप इव उपाधिवहिर्मण्डलमिवावभाति । अन्त स्थितप्रथितराजविराजमानो मध्यप्रतिष्ठितविख्यातनृपतिशोभमान पक्षे राजा चन्द्र । प्रान्तभूवलयितो वाह्यपृथ्वीमण्डलीकृत पक्षे प्रकृष्टमन्त यस्या सा प्रान्तभूस्तस्या वलयितो दृश्यमान । पृथुर्महान् शालबन्धो यस्य स तथाविध । प्रत्यर्थिनाशे पिशुन शत्रुनाशकथन परिपूर्णमूर्तिरखण्डावयव । नगरपक्षे नपुसकत्व विशेषणानि ॥ ८६ ॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्य-श्री-ललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयश कीर्ति-विरचिताया
सदेहध्वान्तदीपिकाया धर्मशर्माभ्युदयटीकाया प्रथम सर्ग ॥१॥

अपने भीतर स्थित प्रसिद्ध राजासे [पक्षमें चन्द्रमासे] शोभायमान एवं समीपवर्ती भूमिको चारों ओरसे घेरनेवाला वहाँका विशाल प्राकार ऐसा मालूम होता है मानो शत्रुओंके नाशको सूचित करनेवाला, पूर्ण चन्द्रका विशाल परिवेष ही हो ॥ ८६ ॥

---

१ य प्रान्त—म० घ० ज० । २ मूर्ति ग० । ३ इति समाप्त्यर्थक 'इति स्वरूपे सानिध्ये विवक्षानियमेऽपि च । हेतौ प्रकारप्रत्यक्षप्रकर्षेष्ववधारणे ॥ एवमर्थे समाप्तौ स्यात्' इति हैम ।

द्वितीयः सर्गः

अभूदथेक्ष्वाकुविशालवशभूः स तत्र मुक्तामयविग्रह पुरे ।
नृपो महासेन इति स्वमेव य कुल द्विषन्मूर्धपदोऽप्यभूषयत् ॥ १ ॥

गतेऽपि दृग्गोचरमत्र शत्रवः स्त्रियोऽपि कदर्पमपत्रपा दधु ।
किमद्भुत [1]तद्धृतपञ्चसायके यदद्रवन्सगरसगताः क्षणात् ॥ २ ॥

न केवल दिग्विजये चलच्चमूभरभ्रमद्भूवलयेऽस्य जङ्गमै ।
श्रिताहितत्राणकलङ्कशङ्कितैरिव स्थिरैरप्युदकम्पि भूधरै ॥ ३ ॥

अभूदिति—अथानन्तर तत्र तस्मिन्नगरे स भुवनवलयोल्लसितप्रतापी महासेन इति नृपो बभूव । इक्ष्वाकुविशालवशभूरिक्ष्वाकुरेव विशालो महान् वशोऽन्वयस्तत्र भवतीति । मुक्तामयविग्रहस्त्यक्तरोगवपु । य किं चकारेत्याह—य स्व निज कुल गोत्रमभूषयदलमकरोत् । द्विषन्मूर्धपदोऽपि द्विषता शत्रूणा मूर्ध्नि पद चरणो यस्य तथाविधोऽपि । अथ च [2]वशोद्भव मुक्तामय मौक्तिकस्वरूप द्विषन्मूर्द्धस्थ स्वस्थानमेव भूषयति न स्थानकान्तरमिति व्यतिरेकाभास [3] ॥ १ ॥ गतेऽपीति—अत्रास्मिन् राज्ञि दृग्गोचर दृष्टिपथ गते प्राप्ते शत्रव प्रतिपक्षा कमहकार दर्प्पं दधुर्निरभिमानबभूवुर्न कमपोत्यर्थ । स्त्रियोऽपि कामिन्योऽपि कदर्प काम अपत्रपा निरर्गला निर्लज्जा एवविधा । तस्मिन् प्रवर्तमाने तत्किमद्भुत किमाश्चर्यं, धृतपञ्चसायके गृहीतपञ्चबाणे यदद्रवन् पलायामासु सगरसगता समरप्राप्ता पक्षे आविर्भूतस्मरे यदद्रवन् रसरहस्यममुचन् सगरस रतभाव प्राप्ता, यस्मिन् दृष्टेऽपि निरहकारा शत्रवस्तस्मिन् धृतास्त्रे नश्यन्ति स्मेति किं चित्रम् । पक्षे यस्मिन् दृष्टमात्रे निर्लज्जा कामावस्था नाटयन्ति तस्मिन् कामातुरे द्रवन्ति स्मेति किमाश्चर्यमिति भाव ॥२॥ न केवलमिति—न केवलमस्य दिग्विजये विजिगीपुयात्राया जङ्गमैर्भूधरै पृथ्वीपतिभिरुदकम्पि उच्चकम्पे स्थिरैरपि पर्वतैरपि चलच्चमूभरभ्रमद्भूवलये विचञ्चूर्यमाणसेनाभारकम्पमानभूमण्डले । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—श्रिताहितत्राणकलक-

उस रत्नपुर नगरमे इक्ष्वाकु नामक विशाल वंशमें समुत्पन्न मुक्तामय [नीरोग] शरीरके धारक वह महासेन राजा थे जो कि शत्रुओंके मस्तकपर स्थित रह कर भी [पक्षमे शत्रुओंके मस्तकको पदाहत करते हुए भी] अपने ही कुलको अलंकृत करते थे ॥ १ ॥ इस राजाके दिखते ही शत्रु अहंकाररहित हो जाते थे और स्त्रियाँ कामसे पीडित हो जाती थीं । शत्रु सवारियाँ छोड देते थे और स्त्रियाँ लज्जा खो बैठती थीं । जब दिखनेमें ही यह बात थी तब पाँच बाणोंके धारण करने पर युद्ध मे आये हुए शत्रु क्षणभरमे भाग जाते थे इसमे क्या आश्चर्य था । इसी प्रकार जब यह राजा स्वयं कामको धारण करता था तब स्त्रियाँ समागमके रसको प्राप्त होकर क्षणभरमे द्रवीभूत हो जाती थीं इसमे क्या आश्चर्य था ॥ २ ॥ चलती हुई सेना-के भारसे जिसमें समस्तभूमण्डल कम्पित हो रहा है ऐसे महाराज महासेनके दिग्विजयके समय केवल जङ्गम भूधर—राजा ही कम्पित नहीं हुए थे । किन्तु शरणागत शत्रुओंकी रक्षा

१ तद्धत—म० घ० । २ मुक्ताना वशेषु समुत्पत्तिर्लोकप्रसिद्धा । तथाहि—'द्विपेन्द्रजीमूतवराहशङ्खमत्स्याहिशुक्त्युद्भववेणुजानि । मुक्ताफलानि प्रथितानि लोके तेषा तु शुक्त्युद्भवमेव भूरि' इत्यगस्त्य । ३ प्रारम्भतश्चतु सप्ततितमं वृत्त यावत् वशस्थवृत्त 'जतौ तु वशस्थमुदीरित जरौ' इति लक्षणात् ।

तदङ्गरूपामृतमक्षिभाजनैर्यदृच्छयासेचनकं पपुः स्त्रियः ।
प्रमातुमन्तस्तदपारयन्मनाङ्मुदश्रुदम्भान्निरगादिवाङ्गतः ॥ ४ ॥
कुलेऽपि किं तात तवेदृशी स्थितिर्यदात्मजा श्रीर्न सभास्वपि त्यजेत् ।
तदङ्कलीलामिति कीर्तिरीर्ष्यया ययावुपालब्धुमिवास्य वारिधिम् ॥ ५ ॥
तदा तदुत्तुङ्गतुरङ्गमक्रमप्रहारमज्जन्मणिशङ्कुसहिताम् ।
न भूरिबाधाविधुरोऽप्यपोहितुं प्रगल्भतेऽद्यापि महीमहीश्वरः ॥ ६ ॥
विभान्त्यमी शत्रुनिमज्जनोत्थितास्तदादि[1] तस्यासिजलस्य बिन्दवः ।
न तारका व्योम्नि कुतोऽन्यथा भवेज्झषः कुलीरो मकरश्च तास्वपि ॥ ७ ॥

शङ्कितैरिव कन्दरादिस्थितशत्रुरक्षणराजद्विष्टदोषशङ्कितैरिव[2] ॥ ३ ॥ तदङ्गेति—तदङ्गरूपामृतं तस्याङ्गलावण्यसुधारसं स्त्रियः पपुरनुबभूवुः । कैरित्याह—अक्षिभाजनैर्नयनशिप्रापुटैः । यदृच्छया अप्रतिहतप्रसरम् [3]आसेचनकमतृप्तिकारणम् बाहुल्यपानप्रीतिमाह । तद्यदृच्छया पीतं रूपामृतमङ्गान्निरगान्निरगलत् मुदश्रुदम्भाद् हर्षबाष्पव्याजात् । अन्तर्मध्ये प्रमातुं समातुमपारयद् असमर्थं सत् । यथा केनचित्सुनृतेन मात्राधिकं किमपि पीतं तुच्छस्थानत्वान्निर्यातीति तथा[4] ॥ ४ ॥ कुलेऽपीति—अस्य कीर्तिर्वारिधिं समुद्रमुपालब्धुमुपालभनायेव ययौ जगाम । कया । ईर्ष्यया, साभ्यभिमानेन, किमुपालब्धुमित्याह—हे तात, समर्यादोपमान । तवापि कुले भवतोऽपि गोत्रे, ईदृशी लज्जामर्यादाबहिष्कृता स्थितिराचारता, किम् । यदात्मजा भवत्पुत्री लक्ष्मीः सभास्वपि महावृद्धबुधपरिषत्स्वपि तदङ्कलीलां तस्य महासेनस्यार्द्धासनोत्सङ्गक्रीडां न त्यजेत् न जह्यात् । पर्यायोक्तिरलङ्कृतिः[5] ॥ ५ ॥ तदेति—अद्यापि फणीश्वरः शेषराजो महीमपोहितुं त्यक्तुं न प्रगल्भते न समर्थः स्यात् । भूरिबाधाविधुरोऽपि शिरःशूलमहापीडाव्याकुलोऽपि । किं कारणमित्याह—तदुत्तुङ्गेत्यादि—तस्योत्तुङ्गतुरङ्गमास्तेषां क्रमप्रहाराः खुराभिघातास्तैर्मज्जयन्तो ब्रुडन्तश्च ते मणिशङ्कवः शिरोरत्नकीलकाश्च तैः सहिता प्रोता तां तथाविधाम्[6] ॥ ६ ॥ विभान्तीति—अमी प्रत्यक्षदृश्यमाना व्योम्नि गगने तस्य महासेनस्य असिजलस्य खड्गजलस्य बिन्दवः पृषतो विभान्ति । शत्रुनिमज्जनोत्थिताः शत्रुझम्पापातोच्छलिताः । न तारका न नक्षत्राणि । अथ तारका एव नामी बिन्दवः कथमिति चेदाह—कुतोऽन्यथा तासु तारकासु मध्ये झषो मीनः कुलीरः कर्को मकरश्चैते दृश्यन्ते । जलं विना जलचरा न भवन्तीति भावः[7] ॥ ७ ॥ वितीर्णेति—स राजा कस्य

रूप अपराधसे शंकित हुए स्थिर भूधर—पर्वत भी कम्पित हो उठे थे ॥ ३ ॥ स्त्रियोंने तृप्ति न करनेवाले राजाके शारीरिक सौन्दर्यरूपी अमृतको अपनी इच्छासे नेत्ररूपी कटोरोंके द्वारा इतना अधिक पी लिया था कि वह भीतर नहीं समा सका और हर्षाश्रुओंके बहाने उनके शरीरसे बाहर निकल पडा ॥ ४ ॥ हे तात ! क्या तुम्हारे भी कुलमें ऐसी रीति है कि पुत्री लक्ष्मी सभाओंमे भी उनके गोदकी क्रीडा नहीं छोड़ सकती—ऐसा उलाहना देनेके लिए ही मानो इस राजाकी कीर्ति समुद्रके पास गयी थी ॥५॥ उस समय राजा महासेनके ऊँचे-ऊँचे घोडोंकी टापोंके प्रहारसे धँसती हुई मणिरूपी कीलमे पृथिवी मानो खचित हो गयी थी, यही कारण है कि शेषनाग भारी बाधासे दुःखी होनेपर भी उसे अब तक छोडनेमे असमर्थ बना है ॥६॥ यह जो आकाशमे चमकीले पदार्थ दिख रहे हैं वह तारा नहीं हैं किन्तु शत्रुओंके डूबनेसे उचटी हुई महासेन राजाकी तलवारकी पानीकी बूँदे हैं यदि ऐसा न होता तो उनमे मीन,

१ तदा तत्समयमारभ्य, तदाहितस्य ग० च० । २ उत्प्रेक्षा । ३ 'तदासेचनकं तृप्तेर्नास्यन्तो यस्य दर्शनात्' । ४ रूपकोत्प्रेक्षा । ५ अत्रायमन्यकवीनामुत्प्रेक्षाप्रकारः—'लग्नः रागावृताङ्ग्या सुदृढमिह ययैवासियष्टयारिकण्ठे । मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती । तत्सक्तोऽयं न किंचिद्गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता । भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितुमिति गतेवाम्बुधिं यस्य कीर्तिः ॥' ६ अतिशयोक्तियमकयोः संसृष्टिः । ७ अपह्नुतिरलंकारः श्लेषानुप्राणितः ।

वितीर्णमस्मभ्यमनेन सयुगे पुन कुतो लब्धमितीव कौतुकात् ।
स कस्य पृष्ठ न नतारिभूभुज कराग्रसस्पर्शमिषाद् व्यलोकयत् ॥ ८ ॥
न मन्त्रिणस्तन्त्रजुपोऽपि रक्षितु क्षमा स्वमेतद्भुजगादसे क्वचित् ।
इतीव भीता शिरसि द्विषो दधुस्तदङ्घ्रिचञ्चन्नखरत्नमण्डलम् ॥ ९ ॥
अतुच्छमाच्छाद्य महो महस्विना पयोदकाले तदसौ समुद्यते ।
नवाम्बुधाराविनिपातजर्जरैर्न राजहसैर्न पलायित जवात् ॥ १० ॥
समुल्लसत्खड्गलतापहस्तितक्लम धरित्री समवाप्य तद्भुजम् ।
विषाग्निगर्भैः श्वसितैरिवाकुला मुमोच मैत्री फणिचक्रवर्तिन ॥ ११ ॥

नतारिभूभुज प्रणतशत्रुपृथिवीपते पृष्ठ न व्यलोकयन् नापश्यत् अपि तु सर्वस्यैव दृष्टवान् हस्तदानव्याजात् इति कौतुकाद् विस्मयादिव । संयुगे सग्रामे वितीर्ण दत्त पुन कुतो लब्धम् । दत्त वस्तु दातार परित्यज्य तिष्ठति एतच्च तदवस्थमेवास्य दृश्यत इति ॥ ८ ॥ नेति—द्विप शत्रव इतीव हेतोस्तदङ्घ्रिचञ्चन्नखरत्नमण्डल तस्याङ्घ्री तदङ्घ्री तयोश्चञ्चन्तो देदीप्यमाना नखा एव रत्नानि तेषा मण्डल दगक शिरसि मस्तके दधुर्बिभराबभूवु । भीता अलब्धान्यप्रतीकारा । किंविशिष्टा सन्त इत्याह—एतद्भुजगादस्य दोर्दण्डस्थादसे खड्गात् स्वमात्मान रक्षितु गोप्तु न क्षमा न प्रभविष्णव । मन्त्रिणोऽपि पञ्चाङ्गमन्त्रकोविदास्तन्त्रजुपोऽपि प्रकृत्यादिसर्वाङ्गोपचिता अपि । अथ यथा केचिन्मन्त्रिणो गारुडविद्याभ्यासिनोऽपि तन्त्रजुपोऽपि महौषधप्रयोगिणोऽपि भुजगादात्मान रक्षितुमपारयन्तो विषापहाररत्नमण्डल शिरसि दधतीति भाव ॥ ९ ॥ अतुच्छमिति—तदसौ तत्खड्गे समुद्यते उत्तम्भिते पयोदकाले मेघश्यामले न न राजहसैः समरशौण्डीरैः पलायितम् अपि तु द्रुतमेव द्रुतम् । नवाम्बुधाराविनिपातजर्जरैः नवेनाम्बुना तेज प्रभावेण तेनोपलक्षिता धारा तस्या विनिपातो वेगसपातस्तेन जर्जरा शतधाखण्डितास्तैस्तद्विधैः । किं कृत्वा समुद्यते इत्याह—आच्छाद्य महस्विना प्रतापोद्भटाना महस्तेजोऽतुच्छ परानभिभूतम् । अथ महस्विना चन्द्रादित्यादीना महस्तेज पराभूय पयोदकाले समुद्यते समुन्नते प्रथमशरधारासपातस्तिमितैर्हसैर्यथा पलाय्यते ॥ १० ॥ समुल्लसदिति—तद्भुज तद्दोर्दण्ड लब्ध्वा धरित्री फणिचक्रवर्तिनोऽहीश्वरस्य मैत्री फणशयनप्रीतिं मुमोच तत्याज । किं कारणमित्याह—आकुलेव

कर्क और मकर—ये जलके जीव [पक्षमें मीनादि राशियाँ] क्यों पाये जाते ॥ ७ ॥ अरे ! यह पीठ तो इसने युद्धमे मुझे दे दी थी, [पीठ दिखा कर भाग गया था] पुनः कहाँसे पा ली—इस कौतुक से ही मानो वह राजा अपने हाथके स्पर्शके बहाने किस नम्र राजाकी पीठको नहीं देखता था ॥८॥ इसकी भुजामे स्थित तलवारसे [पक्षमे तलवाररूपी सर्पसे] अपने-आपकी रक्षा करनेमें न मन्त्री [पक्षमे मन्त्रवादी] समर्थ हैं और न तन्त्री, [पक्षमें औषध अथवा टोटका करने वाले] ऐसा सोच कर ही मानो भयभीत हुए शत्रु इसके चरणोंमे शोभायमान नखरूपी रत्नमण्डलको सदा अपने मस्तकपर धारण करते हैं—चरणोंमें नमस्कार कर सदा इसे प्रसन्न रखते हैं ॥९॥ राजाका तलवाररूपी वर्षाकाल बडे-बडे तेजस्वी पुरुषों [सूर्य-चन्द्रमा आदि] के विशाल तेजको आच्छादित कर ज्योंही उद्यत हुआ त्योंही नूतन जलधाराके पडनेसे तितर-बितर हुए राजहस पक्षियोंकी तरह बडे-बडे राजा लोग नवीन पानीसे युक्त धाराके पडनेसे खण्डित होते हुए वेगसे भाग जाते थे ॥१०॥ पृथिवी विषरूपी अग्निसे मिले हुए शेषनागके श्वासोच्छ्वाससे व्याकुल हो उठी थी । अतः ज्योंही उसे चमकीली खड्गलतासे

१ मन्त्रजुपोऽपि ज० । २ तदङ्घ्रि म० घ० । ३ फण छ० । ४ उत्प्रेक्षा । ५ एतस्य भुज बाहु गच्छतीत्येतदभुजगस्तस्माद् एतद्बाहुस्थितादित्यर्थ, पक्षे भुजगात्सर्परूपादसे खड्गात् । ६ मन्त्रिण सचिवा पक्षे मन्त्रवेत्तार । ७ स्वराष्ट्रचिन्तका अपि पक्षे औषधसहिता अपि 'तन्त्र स्वराष्ट्रचिन्तायामावाप परचिन्तनम्' 'तन्त्र कुटुम्बकृत्ये स्यात्सिद्धान्ते चौषधोत्तमे' इति मेदिनी । ८. श्लेषानुप्राणितरूपकोत्प्रेक्षे ।

नियोज्य कर्णोत्पलवज्जयश्रिया कृपाणमस्योपगमे समिद्गृहे ।
प्रतापदीपा शमिता विरोधिनामहो सलज्जा नवसगमे स्त्रिय ॥ १२ ॥
असक्तमाकारनिरीक्षणादपि क्षणादभीष्टार्थकृतार्थितार्थिन ।
कुतश्चिदातिथ्यमियाय कर्णयोर्न तस्य देहीति दुरक्षरद्वयम् ॥ १३ ॥
उपासनायास्य बलाभियोगत प्रकम्पमाना कुलपर्वता इव ।
समाययुर्द्वारिमदाम्बुनिर्झरा क्षितीश्वरोपायनगन्धदन्तिन ॥ १४ ॥
निपीतमातङ्गघटाग्रशोणिता हठावगूढा सुरतार्थिभिर्भटै ।
किल प्रतापानलमासदत्समित्समृद्धमस्यासिलतात्मशुद्धये ॥ १५ ॥

सतापितेव श्वसितैर्विषानलमिश्रै । तत्रापि भुजे कश्चिद्दोषो भविष्यतीति तन्निराकरणार्थमाह—समुल्लसत्खड्गलतापहस्तितक्लम समुल्लसन्ती अनन्योपमेघच्छाया सा चासौ खड्गलता च तया अपहस्तितो निराकृत क्लमस्तापो यत्र स त तथाविध विशेषतस्तापापहमित्यर्थ[2] ॥ ११ ॥ नियोज्येति—जयश्रिया जयलक्ष्म्या अस्य कृपाण खड्ग नियोज्य मेलयित्वा विरोधिना द्विषा प्रतापदीपा शमिता विध्यपिता समिद्गृहे सग्रामगृहे उपगमे प्रथमसगमे स्त्रिय [सलज्जा. सत्रपा] अथ यथा काचिन्नवोढा समिद्गृहे विवाहगृहे कर्णोत्पलेन प्रदीपान् विध्यापयति[3] ॥ १२ ॥ असक्तमिति—तस्य देहीति दुरक्षरद्वय दुष्टाक्षरयुग्म कर्णयोरातिथ्य विपय न इयाय नाजगाम । कुतश्चित् कस्मादपि असक्तमनवरत किंविशिष्टस्येत्याह—अभीष्टार्थकृतार्थितार्थिन अभीष्टार्थैरभिलषितार्थै कृतार्थिता कृतार्थीकृता अर्थिनो याचका येन तस्य तथाविधस्य आकारनिरीक्षणादपि दर्शनमात्रादपि[4] । कल्पवृक्ष इव मनसि चिन्तित ददातीति भाव ॥ १३ ॥ उपासनायेति—अस्य द्वारि क्षितीश्वरोपायनगन्धदन्तिन समाययु सजग्मिरे । अतश्चोत्प्रेक्ष्यन्ते—अस्योपासनाय सेवनाय[5] बलाभियोगत सेनोपमर्दात् प्रकम्पमाना कुलपर्वता इव मदाम्बुनिर्झरा मदवत्सेनासपर्कोच्छ्यामल यदम्बु तेनोपलक्षिता निर्झरा येषा ते तद्विधा[6] ॥१४॥ निपीतेति—किलेति सभावनायाम् अस्यासिलता खड्गयष्टि प्रतापानलमासदत् प्रविवेश । समिदा सग्रामेण समृद्धमुपचितम् । किमर्थमित्याह—आत्मशुद्धये स्वनिर्मलतायै । अशुद्धे कारणमाह—निपीतेत्यादि—मातङ्गा श्वपचास्तेषा घटा कुम्भा निपीत मातङ्गघटेष्वग्रशोणित यया सा तथाविधा पक्षे निपीतहस्तिघटाग्ररक्ता । पुन कीदृग् । हठावगूढा बलात्कारालिङ्गिता भटै खिड्गविटै सुरतार्थिभिर्मैथुनोद्यतै पक्षे भटै सात्त्विकशूरै-

समस्त खेदको दूर करनेवाली महाराज महासेनकी भुजाका संसर्ग प्राप्त हुआ त्योंही उसने शेषनागकी मित्रता छोड़ दी ॥११॥ युद्धरूपी घरमें कर्णाभरणकी तरह तलवारकी भेंट देकर ज्यों ही विजयलक्ष्मीके साथ इस राजा का समागम हुआ त्योंही शत्रुओके प्रतापरूपी दीपक बुझ गये सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रियाँ नवीन समागमके समय लज्जायुक्त होती ही हैं ॥१२॥ यतश्च यह राजा क्षण भरमे ही अभीष्ट पदार्थ देकर याचकोंको कृतकृत्य कर देता था अतः 'देहि' [दो] ये दो दुष्ट अक्षर किसी भी ओरसे उसके कानोमे सुनाई नहीं पड़ते थे मानो उसकी सूरत देखनेसे ही डरते हों ॥१३॥ जिनके गण्डस्थलसे मदजलके झरने झर रहे हैं ऐसे राजाओंके द्वारा उपहारमे भेजे हुए मदोन्मत्त हाथी निरन्तर इसके द्वार पर आते रहते थे जो ऐसे जान पड़ते थे मानो बलाक्रमणसे कॉपते हुए कुलाचल ही इसकी उपासनाके लिए आ रहे हों ॥१४॥ इस राजाकी तलवाररूपी लताने हस्ति-समूहके अग्रभागका रुधिर पिया था और देवपदके इच्छुक योद्धाओंने इसका बलात् आलिंगन किया था अतः वह आत्मशुद्धिके लिए युद्धमे बढ़े हुए इस राजाके प्रतापरूपी अग्निको प्राप्त हुई थी। [जिस स्त्रीने किसी चाण्डालके घटसे रुधिरपान किया है तथा सभोगके इच्छुक परपुरुषोके द्वारा जिसका बलात्

१ मत्त म० घ० । २ उत्प्रेक्षा । ३ समासोक्तिरूपकार्थान्तरन्यासा । ४ आकारस्याकृतेर्दीर्घाकारस्य च ।
५ सैन्यप्रयोगाच्छक्तिप्रयोगाद्वा । ६ उत्प्रेक्षा ।

तत श्रुताम्भोनिधिपारदृश्वनो विशङ्कमानेव पराभव तदा ।
विशेषपाठाय विधृत्य पुस्तक करान्न मुञ्चत्यधुनापि भारती ॥ १६ ॥
बभुस्तदस्त्राहतदन्तमण्डलात्समुच्छलन्तो हुतभुक्कणा. क्षणम् ।
सरक्तवान्ता वरवैरिवारणव्रजस्य जीवा इव सङ्गराजिरे ॥ १७ ॥
श्रुत च शील च बल च [1]तत् त्रय स सर्वदौदार्यगुणेन सदधत् ।
चतुष्कमापूरयति स्म दिग्जयप्रवृत्तकीर्तें प्रथम सुमङ्गलम् ॥ १८ ॥
तदीयनिर्स्त्रिशलसद्विधुतुदे बलाद्गिलत्युद्यतराजमण्डलम् ।
निमज्ज्य धारासलिले स्वमुच्चकैर्ददुर्द्विजेभ्य. प्रविभज्य विद्विष ॥ १९ ॥

दैवत्वार्थिभि । तत्खङ्गसमुखाहता हि स्वर्गं व्रजन्तीति । यथा काचिल्लता कुलकन्यका प्रतापानल दीप्ताग्निमिन्धनौघसमृद्धमन्त्यजसपर्कदुराचारेण सतीत्वलोपदोषेण च जनापवादिता प्रविशतीति भाव ॥ १५ ॥ तत इति—ततो राज्ञ पराभव विशङ्कमानेव भारती करात्पुस्तकमद्यापि न मुञ्चति । विशेषपाठायानभ्यस्तशास्त्राभ्यसनाय । कथ तेन भारती पराभूयत इत्याह—श्रुताम्भोनिधिपारदृश्वन श्रुतसमुद्रपारमुपेयुष. श्रुताभ्यासेन ममास्य च सादृश्य ततो विशेषमभ्यस्यामीति तदा पुस्तकमादृत्याभ्यासपतितमिदमद्यापि न जहातीति भाव । अतिशयोक्तिरलकृति ॥ १६ ॥ बभुरिति—उच्छलन्त ऊर्ध्वं विशरारवो हुतभुक्कणा अनलस्फुलिङ्गा बभु शुशुभिरे । कुत इत्याह—तदस्त्राहतदन्तमण्डलात् तस्यास्त्राणि खङ्गपरशुमुख्यानि तैराहत दन्तमण्डल तद्दन्तदम्भोलिबन्धस्तस्मात् । अतश्च ज्ञायन्ते—वरवैरिवारणव्रजस्योद्धतशत्रुहस्तिघटाया जीवा इव । कथ तेषा रक्तत्वमित्याह—सरक्तवान्ता सप्राणाभिघाताच्छोणितै सह निर्गता [2] ॥ १७ ॥ श्रुतमिति—स चतुष्क मङ्गल स्वस्तिक पूरयति स्म रचयाञ्चकार । प्रथममादिम सुमङ्गल प्रस्थान शकुन स्यादित्याह—दिग्जयप्रवृत्तकीर्तेर्दिग्विजयस्थितयश प्रभूते । स किं कुर्वन्नित्याह—सदधत् सगमयन् श्रुत सर्वशास्त्र शीलमुचिताचरण बल शक्तिमत्ता । एतत्त्रयमौदार्यगुणेन गम्भीरोदात्तत्वगुणेन । तस्य श्रुतादयो गुणा उदारा अनन्यसाधारणा कीर्तिविस्तारजन्महेतव इत्यर्थ [3] ॥ १८ ॥ तदीयेति—द्विष शत्रव स्वमात्मान विभज्य भागीकृत्य द्विजेभ्य पक्षिभ्यो ददुर्वितेरु । निमज्ज्य पतित्वा धारासलिले खङ्गधारावारिणि अस्त्रसघाते वा । क्व सतीत्याह—तदीयो निर्स्त्रिश स एव लसद्विधुतुद प्रसर्पद्राहुस्तस्मिन् तद्विधे । किं कुर्वति । उद्यतराजमण्डल प्रतापिनृपचक्र गिलति सहरति बलादात्मशक्तिप्रभावेण । अथ यथा निर्स्त्रिशक्रूरराहो उद्यत राजमण्डलमुदित-

आलिङ्गन किया गया है ऐसी स्त्री जिस प्रकार आत्मशुद्धिके लिए इन्धनसे प्रदीप्त प्रकृष्ट तापसे युक्त अग्निमे प्रवेश करती है उसी प्रकार राजा की तलवारने भी आत्मशुद्धिके लिए प्रतापरूपी अग्निमें प्रवेश किया था ॥१५॥ उस समय शास्त्ररूपी समुद्रके पारदर्शी राजा महासेनसे पराभवकी आशंका करती हुई सरस्वतीने विशेष पाठके लिए ही मानो पुस्तक अपने हाथमें ली थी पर उसे वह अब भी नहीं छोड़ती ॥१६॥ युद्धके आँगनमे राजाके शस्त्रोंका आघात पाकर शत्रुओंके बडे-बड़े हाथियोंके दाँतोंसे अग्निकी चिनगारियाँ निकलने लगती थीं और जो क्षणभरके लिए ऐसी जान पड़ती थी मानो रक्तके साथ उनके प्राण ही निकले जा रहे हों ॥१७॥ वह राजा श्रुत, शील और बल इन तीनोंको सदा उदारता रूप गुणसे युक्त रखता था मानो दिग्विजयमे प्राप्त हुई कीर्तिके लिए मंगलरूप चौक ही पूरा करता था ॥१८॥ जब राहु हठात् चन्द्रमण्डलको ग्रस लेता है तब लोग किसी नदी आदिके जलमें स्नान कर द्विजों-ब्राह्मणोंके लिए जिस प्रकार कुछ स्व-धनका विभाग कर देते हैं उसी प्रकार इस राजाके तलवाररूपी राहुने जब हठात् राजाओंके समूहरूपी चन्द्रमण्डलको ग्रस लिया तब शत्रुओंने तलवारकी धारके पानीमे निमग्न हो अपने-आपका विभाग कर—टुकड़े-टुकड़े कर द्विजों—पक्षियोंके

१. यत्त्रय म० घ० । २ उत्प्रेक्षा । ३ परिणामालकार ।

उदर्कवक्रा वनितास्वभावतो विभाव्य विश्रम्भमधारयन्निव ।
व्यशिश्रणद्वैरिकुलाद्वलाहृता स्वसमतेभ्यो बहिरेव स श्रियम् ॥ २० ॥
विदारितारिद्विपगण्डमण्डलीसमुल्ल[1]सल्लोलशिलीमुखच्छलात् ।
कचेषु खड्गः क्रमकिङ्करीमिव क्रुधा चकर्षास्य जयश्रियं रणे ॥ २१ ॥
जगत्त्रयोत्तसितभासि तद्यशः समग्रपीयूषमयूखमण्डले ।
विजृम्भमाणः रिपुराजदुर्यशो बभार तुच्छेतरलाञ्छनच्छविम् ॥ २२ ॥
वमन्नमन्दं रिपुवर्मयोगतः स्फुलिङ्गजालं तदसिस्तदा बभौ ।
वपन्निवासृग्जलसिक्तसंगरक्षितौ प्रतापद्रुमबीजसततिम् ॥ २३ ॥
अवाप्तवाञ्छाभ्यधिकार्थसंपदोन्नतेषु सक्रान्त इवानुजीविषु ।
मदस्य लेशोऽपि न तस्य कुत्रचिन्महाप्रभुत्वेऽपि जनैरदृश्यत ॥ २४ ॥

चन्द्रमण्डलं ग्रसमाने सति सगमे स्नात्वा स्वं द्रव्यं द्विजेभ्यो ददतीति भावः ॥ १९ ॥ उदर्केति—स वैरिकुलात् शत्रुकुलात् हठाद्धृता बलादाकृष्टा लक्ष्मी स्वसम्मतेभ्यो भृत्यादिभ्यो व्यशिश्रणत् अदात् बहिरेव बहिः—प्रदेशे नानीता च । उदर्कवक्राम् आयातविपाकविक्रियाकारिणी स्वभावतो विभाव्येति विश्रम्भं विश्वासमधारयन्निव अकुर्वन्निव । शत्रुलक्ष्मी तत्पक्षं पुरा पुष्णातीति मत्वा स्वसेवकेभ्यो बहिरेव ददाति स्मेति भावः[2] ॥ २० ॥ विदारितारीति—अस्य खड्गः समरे जयलक्ष्मीमाजग्राह कचेष्वाम्नायदासीमिव । कयारित्येत्याह—विदारितेति, विदारिता द्विधाकृता चासौ रिपुद्विपगण्डमण्डली च तस्याः सकाशात्समुल्लसन्तः इतस्ततः पर्यटन्तो लोलाः शिलीमुखाश्च चलालयस्तेषां छलात् । शत्रुगजमदलिप्तः खड्गः सौरभेणालिश्रेणीमाकर्षन् जयलक्ष्मीवेणिमिवाकर्षतीति भावः[3] ॥ २१ ॥ जगदिति—रिपुराजदुर्यशः शत्रुराजापकीर्तिपटलं विजृम्भमाणं प्रवर्द्धमानं बहुललाञ्छनशोभां बभार पुष्णाति स्म । कस्मिन्नित्याह—तद्यशः समग्रपीयूषमयूखमण्डले तस्य यशः पूर्णचन्द्रमण्डले, जगत्त्रये उत्तसिता महार्घ्यतां गता भा दीप्तिर्यस्य तत्तथाविधे । तस्य यशः परिपूर्णचन्द्रमण्डले कृ[4]ष्णत्वाद्रिपुदुर्यशो लाञ्छनमिवेत्यर्थः[5] ॥ २२ ॥ वमन्निति—तदसिस्तत्खड्गः स्फुलिङ्गजालमग्निकणश्रेणी रिपुवर्मयोगतः शत्रुसन्नाहाभिघाताद् वमन्नुद्गिरन् अमन्दं मन्दभयजनकं बभौ विरराज । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—प्रतापद्रुमबीजसततिं वपन्निवारोपयन्निव । कस्यामित्याह—असृग्जलसिक्तसगरक्षितौ रक्तसलिलप्लावितसग्रामक्षेत्रे[6] ॥ २३ ॥ अवाप्तेति—तस्य नृपस्य मदलेशोऽप्यहकारलवोऽपि जनैर्नादृश्यत । क्व सति महाप्रभुत्वेऽपि अतिशयाहङ्कारकारणेऽपि । तर्हि क्व गतो मदः इत्याह—अनुजीविषु भृत्येषु उद्धुरकन्धरेषु सक्रान्त इवावतीर्ण

लिए दे दिया था ॥१९॥ यह लक्ष्मी स्त्री जैसा स्वभाव रखती है अतः फलकालमे कुटिल होगी—ऐसा विचार कर विश्वास न करता हुआ वह राजा शत्रुओंके कुलसे हठपूर्वक लाई हुई लक्ष्मीको बाहर ही अपने मित्रोंको दे देता था ॥२०॥ युद्धके मैदानमे शत्रु-हस्तियोंके चीरे हुए गण्डस्थलसे जो चंचल भौंरे उड़ रहे थे उनके छलसे ऐसा जान पड़ता था मानो इस राजाका खड्ग क्रोधसे विजयलक्ष्मीको चरणदासीके समान बाल पकड़कर ही घसीट रहा हो ॥२१॥ त्रिभुवनको अलंकृत करनेवाले उस राजाके यशरूपी पूर्णचन्द्रमाके बीच शत्रुओंका बढता हुआ अपयश विशाल कलंककी कान्तिको धारण कर रहा था ॥२२॥ शत्रुओंके कवचोंका संसर्ग पाकर बहुत भारी चिनगारियोंके समूहको उगलता हुआ उस राजाका कृपाण उस समय ऐसा सुशोभित होता था मानो खूनरूपी जलसे सिंची हुई युद्धकी भूमिमे प्रतापरूपी वृक्षके बीजोंका समूह ही बो रहा हो ॥२३॥ इतना बड़ा प्रभाव होने पर भी उस राजाके

१ समुल्लसल्लोल ख० ङ० ग० ज० । २–३ उत्प्रेक्षा । ४ यशस शुक्लत्व दुर्यशसश्च कृष्णत्व कविसमयसिद्ध 'मालिन्य व्योम्नि पापे यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्यो', इत्युक्तत्वात् । ५. उपमालकार । ६ रूपकोत्प्रेक्षे ।

द्विषत्सु कालो धवलः क्षमाभरे गुणेषु रक्तो हरितः प्रतापवान् ।
जनेक्षणे पीत इति द्विषां व्यधादनेकवर्णोऽपि विवर्णतामसौ ॥ २५ ॥
प्रतापवह्नौ किल दीपिते ककुप्करीन्द्रभस्त्राकरसूत्कृतानिलैः[1] ।
स काञ्चनाभां कटकं जगत्पुटे दधानमावर्तयति स्म विद्विषाम् ॥ २६ ॥
अवापुरेके रिपवः पयोनिधेः परे तु वेलां बलिनोऽस्य भूभुजः ।
ततोऽस्य मन्ये न कुतोऽप्यपूर्यत प्रचण्डदोर्विक्रमकेलिकौतुकम् ॥ २७ ॥
भयातुरत्राणमयीमनारतं महाप्रतिज्ञामधिरूढवानिव ।
न भूरिशङ्काविधुरे रिपावपि क्वचित्तदीयासिरचेष्टताहितम् ॥ २८ ॥

इव । कयोन्नतेषु । अवाप्तवाञ्छाभ्यधिकार्थसंपच्च तया तद्विधया । मनोरथातिगदानतोषाहंकारिणः पदातय एव, न स इति भावः ॥ २४ ॥ द्विषत्स्वपीति—इति स द्विषां शत्रूणां बहुविधवर्णोऽपि विवर्णतां मालिन्यं व्यधादकार्षीत् । कथमनेकवर्णत्वमित्याह—द्विषत्सु कालो यम इव, धवल उद्धारवीरः क्षमाभरे भूभारे, गुणेषु रक्त आसक्तः, हरितो हरेः हरितः इन्द्रात्सूर्याद्वा तेजस्वी, जनेक्षणे पीतोऽपि निर्निमेषमवलोकितः । अथ च स्वयं पञ्चवर्णोऽपि विवर्णतां वर्णहीनतां विदधातीति विरोधः । वर्णविश्लेषविरोधोऽयमलंकारः ॥ २५ ॥ प्रतापेति—विद्विषां शत्रूणां कटकं शिविरम् आवर्तयति स्म विपीलयाञ्चकार । दीपिते जाज्वल्यमाने प्रतापवह्नौ तेजोऽग्नौ । कैर्दीपित इत्याह—ककुबित्यादि—ककुप्करिणो दिग्गजास्तेषां भस्त्राकाराः शुण्डादण्डास्तेषां सूत्कृतानिलैः सूत्कारवातैः दिग्गजशुण्डध्मात्रीस्फूत्कारैः । कस्मिन्नारोप्य इत्याह—जगत्पुटे द्यावाभूमीमुखासंपुटे काञ्चनाभां निर्वाच्यामाभां वलयसम्पत्तिं बिभ्राणं । यथा कश्चित्सुवर्णकारः काञ्चनाभां दधानं कटकमा[3]भरणविशेषमावर्तयति दिग्गजादयोऽपि तत्पक्षस्था शत्रुसंघातं घ्नन्तीति भावः[4] ॥ २६ ॥ अवापुरिति—अस्य प्रचण्डदोर्विक्रमकेलिकौतुकं[5] नापूर्यत न संपेदे प्रबलभुजदर्पक्रीडामनोरथो युद्धकौतूहलमनोरथ इति यावत् । कुतो नापूर्यत इत्याह—एके रिपवः समुद्रस्य वेलां समुद्रोपकण्ठवनालीम् अवापुर्जगृहुः । अपरे शेषा वेलां [समीपं] बलिनो बलयुद्धिका दधतोऽस्य भूभुजस्ततः केन सार्द्धं युध्यत इति भावः ॥ २७ ॥ भयेति—महाभयकम्पमाने

अहंकारका लेशमात्र भी दिखाई नहीं देता था। ऐसा मालूम होता था मानो उसका वह अहंकार इच्छासे अधिक सम्पदाके द्वारा उन्नतिको प्राप्त हुए सेवकोंमें संक्रान्त हो गया था ॥२४॥ वह राजा शत्रुओंके लिए काल-यम था [काला था], क्षमाका भार धारण करनेमे धवल-वृषभ था [सफेद था], गुणोंमें अनुरक्त था [लाल था], हरित-इन्द्र अथवा सूर्यसे भी अधिक प्रतापी था [हरितवर्ण तथा प्रतापी था] और मनुष्योंके नेत्रों द्वारा पीत-अवलोकित था [पीला था] इस प्रकार अनेक वर्ण-यश [रंग] से युक्त होने पर भी शत्रुओंको वर्णरहित-नीच [रंगरहित] करता था ॥२५॥ जिस प्रकार कोई स्वर्णकार धौंकनीसे प्रदीपित अग्निके बीच किसी बर्तनकी पुटमे रखकर सुवर्णके कड़ेको चलाता है उसी प्रकार वह राजा दिग्गजोंके भस्त्रारूपी शुण्डादण्डकी फुंकारसे उत्पन्न वायुके द्वारा प्रदीपित अपने प्रतापरूपी अग्निके बीच किसी अद्भुत आभाको धारण करनेवाले शत्रुओंके कटक-सेनारूपी कड़ेको संसाररूपी पुटमें चलाता है—इधर-उधर घुमाता है ॥२६॥ कितने ही शत्रु भागकर समुद्र-तटको प्राप्त होते थे और कितने ही लौट-लौट कर इस बलवान् राजाके समीप आते थे इससे जान पड़ता है कि इसकी शक्तिशालिनी भुजाओंके पराक्रमका क्रीडा कौतुक कहीं भी पूर्ण नहीं होता था ॥२७॥ मित्रकी बात जाने दो, भारी भय-

१ फूत्कृतानिलैः घ० म० । २ उत्प्रेक्षामूलको विशेषोक्तिरलंकारः । ३ कटकोऽस्त्री राजधान्यां सानौ सेनानितम्बयोः । वलये सिन्धुलवणे दन्तिदन्तविभूषणे ॥' इति विश्वलोचनः । ४ रूपकालङ्कारः श्लेषानुप्राणितः । ५ केचिच्छत्रवो भीत्या पयोधितीरं प्रजग्मुः केचिच्चान्यत्र शरणमलब्ध्वा तस्यैव समीपमाजग्मुस्तेनास्य भुजपराक्रमक्रीडाकौतुकं कुतोऽपि न पूर्णं बभूवेति भावः । ६. उत्प्रेक्षा ।

स कोऽपि चेदेकतमेन चेतसा क्षमेत संचिन्तयितुं फणीश्वरः ।
तदा तदीयान् रसनासहस्रभृद्गुणानिदानीमपि किं न वर्णयेत् ॥ २९ ॥
निशासु नूनं मलिनाम्बरस्थितिः प्रगल्भकान्तासुरते द्विजक्षतिः ।
यदि क्विपः सर्वविनाशसंस्तवः प्रमाणशास्त्रे परमोहसंभवः ॥ ३० ॥
धनुर्धराणां करवालशून्यता हिरण्यरेतस्यविनीतता स्थिता ।
अभूज्जगद्बिभ्रति तत्र केवलं गुणच्युतिर्मार्गण एव निश्चलम् ॥ ३१ ॥ [युग्मम्]
निरञ्जनज्ञानमरीचिमालिनं जिनेन्द्रचन्द्रं [1]दधति प्रमोदतः ।
न तस्य चेतस्यखिलक्ष्मापतेस्तमोऽवकाशः क्षणमप्यलक्ष्यत ॥ ३२ ॥

शत्रावपि न तस्य खड्गी वधादिकं चकार । किं कारणमित्याह—महाप्रतिज्ञामलङ्घ्यव्रतमिव श्रितवान् । अनारतं यावज्जीवं भयातुरत्राणमयीं विभयद्रक्षणैकशीलाम् । एतेन धर्मविजयत्वमुक्तम् ॥ २८ ॥ स इति—स कोऽपि प्रसिद्धिगृहीतस्वरूपः फणीश्वरः शेषाहिस्तदीयान् गुणान् किं न वर्णयेत् । साम्प्रतमपि किं न स्तवीतु । रसनानां सहस्रं बिभर्तीति स तथाविधः । यदि किम् । यद्येकेन चेतसा पटुतमेनापि संचिन्तयितुमवधारयितुं प्रगल्भेत । जिह्वासहस्राणीव यदि चेतसः सहस्राणि भवन्ति तदा शेषसदृशेन तद्गुणा वर्ण्यन्त इति भावः[2] । आक्षेपालंकारः ॥ २९ ॥ निशास्विति—तस्मिन् राज्ञि भुवनं पाति सति किं किमभूदित्याह—निश्चितं रात्रिष्वेव मलिनाकाशस्थितिरन्यः कोऽपि न मलिनवस्त्रः । वाणिनीसुरतोत्सव एव दन्तव्रणो न धर्मलिङ्गि-विघातः । यदि सर्वविनाशसंस्तवः सर्वलोपता दृश्यते तदा लक्षणनियुक्तक्विप्प्रत्ययस्यैव । यदि परमोहसंभव-स्तदा प्रमाणशास्त्रे तर्कग्रन्थे परमश्चासावूहश्च तस्य संभवः । नान्यत्र परमोहसंभवोऽन्यविप्रतारणस्थितिः । शरयोधानां खड्गशून्यता नान्यः खण्डितहस्तो मुण्डितशिरा वा । अविना मेषेण नीयते य उह्यते तस्य भावोऽ-ग्नावेव । अन्यस्तु विनयतत्परः । गुणाज्ज्यावन्धाच्च्यवनं गुणच्युतिर्मार्गण एव शर एव अन्यस्तु सर्वोऽपि गुण-ग्रामणीरित्यर्थः परिसंख्येयमलंकारः ॥ ३०–३१ ॥ निरञ्जनेति—तस्य सर्वभूपतेर्मनसि तमोऽवकाशः कोपप्रवेशो मोहावकाशो निमेषमपि नादृश्यत । किं कुर्वतीत्याह—मोहादिजेतारमेवेन्दुं वहमाने केवलज्ञानकिरणाव-भासिनम् । अथ चन्द्राधिष्ठितं न ध्वान्तेन परिभूयत इति भावः । अथ चोक्तिलेशः—केवलज्ञानिनं जिनं

से पीडित शत्रुके ऊपर भी उसकी तलवार नहीं चलती थी, मानो वह 'भयसे पीडित मनुष्यकी रक्षा करूँगा' इस महाप्रतिज्ञाको ही धारण किये हो ॥२८॥ यदि वह फणिपति अपने एकाग्र-चित्तसे उस समय उस राजाके गुणोंका चिन्तवन कर सका होता तो हजार जिह्वाओंको धारण करनेवाला वह उन गुणोंको अब भी क्यों नहीं वर्णन करता ॥२९॥ जब राजा महासेन जगत्का पालन कर रहे थे तब मलिनाम्बरकी स्थिति–मलिन आकाशका सद्भाव केवल रात्रिमे ही था, अन्यत्र मलिन वस्त्रका सद्भाव नहीं था, द्विज क्षति–दन्ताघात केवल प्रौढ स्त्रीके संभोगमे ही था अन्यत्र ब्राह्मणादि वर्णों, पक्षियों अथवा धर्मवेषियोंका आघात नहीं था, सर्वविनाशसंस्तव–सर्वापहारि लोप क्विप् प्रत्ययका ही था अन्य किसीका समूल नाश नहीं था, परमोह संभव–उत्कृष्ट तर्कका सद्भाव न्यायशास्त्रमे ही था अन्यत्र अतिशय मोहका सद्भाव नहीं था, करवालशून्यता–तलवारका अभाव धनुर्धारियोंमे ही था, अन्यत्र हाथों और केशोंका अथवा हाथोंमे स्थित बालकोंका अभाव नहीं था अविनीतता–मेष-वाहनता केवल अग्निमे ही थी अन्यत्र उद्दण्डता नहीं थी और गुणच्युति–डोरीका त्याग बाणमे ही था अन्यत्र दया आदि गुणोंका त्याग नहीं था ॥३०-३१॥ यतश्च वह राजा अपने हृदयमें बडे आनन्दके साथ निर्मल ज्ञानरूपी किरणोंसे समुद्भासित जिनेन्द्ररूप चन्द्रमाको धारण करता था अतः उसके हृदयमे क्षणभरके लिए भी अज्ञानरूपी अन्धकारका अवकाश नहीं दिखाई

१ दधत म० घ० । २ साम्प्रतमपि वर्णयितुमशक्तस्ततो ज्ञायते तदा चिन्तयितुमपि चेतसा न समर्थोऽभूदिति तात्पर्यम् ।

महानदीनोऽप्यजडाशयो जगत्यनष्टसिद्धिः परमेश्वरोऽपि सन् ।
बभूव राजापि निकारकारणं विभावरीणामयमद्भुतोदयः ॥ ३३ ॥

तरङ्गिताम्भोधिदुकूलशालिनीमखर्वपूर्वापरपर्वतस्तनीम् ।
वरोरुदेशे स निधाय कोमलं करं बुभोजैकवधूमिव क्षितिम् ॥ ३४ ॥

अथास्य पत्नी निखिलावनीपतेर्बभूव नाम्ना चरितैश्च सुव्रता ।
स्थितेऽवरोधे प्रचुरेऽपि या प्रभोरभूत्सुधांशोरिव रोहिणी प्रिया ॥ ३५ ॥

सुधासुधारश्मिमृणालमालतीसरोजसारैरिव वेधसा कृतम् ।
शनैः शनैर्मौग्ध्यमतीत्य सा दधौ सुमध्यमा मध्यममध्यमं वयः ॥ ३६ ॥

ध्यायतोऽखिलक्षमापतेः सर्वसहिष्णोस्तपस्विनो मोहावकाशो न संभाव्यत इति । श्लेपस्वभावोक्तिरलंकृतिः[1] ॥ ३२ ॥ महेति—सोऽरीणां विभौ शत्रुसमर्थे निकारकारणं परिभवस्थानं सर्वशत्रुविनाशको बभूवेत्यर्थः । अथ च राजा चन्द्रोऽपि सन् विभावरीणां पराभवस्थानमिति विरोधः । महानदीनामिनः स्वामी तथाविधोऽपि अजडाशयोऽतोयमध्यः पक्षे महान् गुरुरदीनो धीरोदात्तगम्भीरप्रकृतिरप्यजडाशयो ज्ञानहृदयः परमेश्वरोऽप्यनष्टसिद्धिर्न नष्टा सिद्धिर्यस्यासावनष्टसिद्धिः । ईश्वरश्चाष्टसिद्धिरष्टावणिमादयः सिद्धयो यस्य स तद्विधः । अनेन प्रकारेणायं नृपोऽचिन्त्यप्रभावः ॥ ३३ ॥ तरङ्गितेति—स क्षितिं पृथ्वीमेकवधूमिव सतीस्त्रीमिव बुभोज सिषेवे । वधूधर्मान् स्थापयन्नाह—तरङ्गितं तरलीकृतमम्भोधिरेव दुकूलं तेन शालिनी । पूर्वपर्वतश्चापरपर्वतश्चाखर्वौ उत्तुङ्गौ पूर्वापरपर्वताविव स्तनौ यस्याः सा तद्विधा ताम् । किं कृत्वेत्याह—कोमलं सुखदेयांशं वरोरुदेशे वरा नदीमातृका उरवो विस्तीर्णा ये देशास्तेषु निधाय क्षिप्त्वा पक्षे कदलीगर्भकोमले गुरूरुदेशे कोमलं सुखस्पर्शं हस्तं निधाय ॥ ३४ ॥ अथास्येति—राजवर्णनानन्तरं महिषीवर्णनमाह—अस्य चक्रवर्तिनः कलत्रं सुव्रतेति बभूव । न केवलं नाम्ना चरितैश्च शीलप्रभावैश्च । यानेकशोऽन्तःपुरे स्थितेऽपि तत्प्रिया रहस्यस्थानं यथा चन्द्रस्य रोहिणी[2] ॥३५॥ सुधेति—सा सुमध्यमा तनूदरी बालभावमतिक्रम्य[3], मध्यमं यौवनमध्यं यौवनभरमित्यर्थः वयो द्वितीयावस्थं प्रपेदे । यद् वयो विधिना निर्मितम् । कैरित्याह—सुधेत्यादि—सुधामृतं सुधारश्मिश्चन्द्रो मृणालं बिसलता

देता था ॥३२॥ वह राजा यद्यपि महानदीन–महासागर था तो भी अजडाशय था–जलरहित था [पक्षमें–महान् अदीन—बड़ा था, दीनतासे रहित था, बुद्धिमान् था], परमेश्वर–शिव होकर भी अनष्ट सिद्धि–अणिमादि आठ सिद्धियोंसे रहित था [पक्षमे परमेश्वर होकर भी सिद्धियोंसे युक्त था] और राजा चन्द्रमा होकर भी विभावरीणाम्–रात्रियोंके दुःखका कारण था [पक्ष मे अरीणां विभौ–राजा होकर भी शत्रु राजाओंके दुःखका कारण था]—इस प्रकार वह आश्चर्यकारी उदयसे युक्त था ॥३३॥ वह राजा लहराते हुए वस्त्रसे सुशोभित और पूर्वाचल तथा अस्ताचलरूप पीनस्तनोंसे युक्त पृथिवीका किसी सुन्दरी स्त्रीकी तरह उपजाऊ देशोंमें थोडा-सा कर लगा कर [पक्षमें उत्कृष्ट जाँघोंके बीच कोमल हाथ रखकर] उपभोग करता था ॥ ३४ ॥ समस्त पृथिवीके अधिपति राजा महासेनके सदाचारिणी सुव्रता नामकी पत्नी थी । यह सुव्रता बहुत भारी अन्तःपुरके रहने पर भी राजाको उतनी ही प्यारी थी जितनी कि चन्द्रमाको रोहिणी ॥३५॥ सुन्दर कमरवाली उस सुव्रताने धीरे-धीरे मौग्ध्य अवस्थाको व्यतीत कर ब्रह्मा-द्वारा अमृत, चन्द्रमा, मृणाल, मालती और कमलके स्वत्वसे निर्मितकी तरह सुकुमार

१ नृपतिचेतसि तमोऽनवकाशत्वे जिनेन्द्रचन्द्रधारणस्य हेतुत्वात् काव्यलिङ्गमलंकारः स च श्लेपरूपकसमुत्थापितः । २ उपमालङ्कारः । ३. अथवा मध्यम् अमध्यमम् इतिच्छेदः अमध्यमं श्रेष्ठं मध्यं वयो यौवनमित्यर्थः ।

स्मरेण तस्या किल चारुतारस जना पिवन्त शरजर्जरीकृता ।
स पीतमात्रोऽपि कुतोऽन्यथागलत्तदङ्गत स्वेदजलच्छलाद्वहि ॥ ३७ ॥
इतः प्रभृत्यम्ब न ते मुखाम्वुजश्रिय हरिष्येऽहमितीव चन्द्रमा ।
प्रतीतयेऽस्या सकुटुम्वको नखच्छलेन साध्व्याश्चरणागमस्पृशत् ॥ ३८ ॥
प्रयाणलीलाजितराजहसक विशुद्धपार्ष्णि विजिगीपुवत्स्थितम् ।
[1]तदङ्घ्रिमालोक्य न कोशदण्डभाग् भियेव पद्म जलदुर्गमत्यजत् ॥ ३९ ॥
सुवृत्तमप्राप्तजडोरुसगम तदीयजङ्घायुगल विलोमताम् ।
तथा दधावप्यनुयायिन जन चकार पञ्चेपुकदर्थित यथा ॥ ४० ॥

मालती जाती सरोजमब्ज च तेषा सारं सारभूतं परमाणुभि [2] ॥ ३६ ॥ स्मरेणेति—जनास्तस्या लावण्यामृत पिवन्त स्मरेण रक्षानियुक्तेनेव शरै सर्वाङ्ग छिद्रिता अलीकोक्तमिति चेदित्याह—स लावण्यरस पानानन्तरमेव तेषामङ्गात्कथमगलदक्षरत् । सात्त्विकभावोद्गतस्वेदजलच्छलात् [3] ॥ ३७ ॥ इत इति—एतस्या पतिव्रताया इन्दु पादौ नखच्छलादस्प्राक्षीत् । प्रतीतये विश्वासशपथाय सकुटुम्वक सनक्षत्रक । केय प्रतीतिरित्याह—हे अम्ब, जगज्जननि । तव मुखलक्ष्मी न हरिष्ये न स्पर्द्धिष्ये । इतो यौवनादारम्य तारुण्ये मुखच्छायया चन्द्रोऽध -कृत । अङ्घ्रिनखाश्चन्द्रवत् सकान्तिका वभूवुरित्यर्थ [4] ॥ ३८ ॥ प्रयाणेति—तस्याश्चरणमवलोक्य भीतमिव समुकुलनाल कोकनद जलदुर्गं नोज्झाञ्चकार । किं भीते कारणमित्याह—विजिगीपुवत्स्थितम्, विजिगीषुधर्मानारोपयन्नाह—गतिविलासपश्चात्कृतकलहससमूह विशुद्धपार्ष्णि यथोचितपश्चिमभाग पक्षे यात्राजितराजक, विशुद्धपार्ष्णि विशुद्धा सधानमागता पार्ष्णिग्राहा राजानो यस्य स तद्विध । अन्योऽपि कोशदण्डभाग् भाण्डागारसैन्यपरिवृतो विजिगीपुभयाद् दुर्गं नोज्झति ॥ ३९ ॥ सुवृत्तमिति—तदीयजङ्घायुगल [5] सुवृत्त [6] वृत्ततयानुपूर्वम्

तारुण्य अवस्थाको धारण किया ॥३६॥ जो भी मनुष्य उसके सौन्दर्य रसका पान करते थे, कामदेव उन सबको अपने बाणों-द्वारा जर्जर कर देता था। यदि ऐसा न होता तो वह सौन्दर्यरस पीते ही के साथ स्वेदजलके बहाने उनके शरीरसे बाहर क्यों निकलने लगता ? ॥३७॥ हे माँ ! मैं आजसे लेकर कभी भी तुम्हारे मुखकमलकी शोभाका अपहरण न करूँगा—मानो यह विश्वास दिलानेके लिए ही चन्द्रमाने अपने समस्त परिवारके साथ नखोंके बहाने उस पतिव्रताके चरणोंका स्पर्श किया था ॥३८॥ जिसने अपने प्रयाणसे बड़े-बड़े राजाओंको जीत लिया है और जिसके सहायक निष्कपट हों ऐसे किसी विजिगीषु राजाको देखकर जिस प्रकार जन धन सम्पन्न राजा भी अपना दुर्ग छोड कर बाहर नहीं आता इसी प्रकार अपने गमनसे राजहंस पक्षियोंको जीतनेवाले एव निर्दोष पार्ष्णि—एडीसे युक्त उस सुव्रताके चरणको देख कर कमल यद्यपि कोष और दण्ड दोनोंसे युक्त है फिर भी अपने जलरूपी दुर्गको नहीं छोडता ॥३९॥ उस सुव्रताके जंघायुगल यद्यपि सुवृत्त थे—गोल थे [पक्षमें सदाचारी थे] फिर भी स्थूल ऊरुओंका समागम प्राप्त होनेसे [पक्षमे मूर्खोंका भारी समागम प्राप्त होनेसे] उन्होंने इतनी विलोमता—रोमशून्यता [पक्षमे विरुद्धता] धारण कर ली थी कि जिससे अनुयायी मनुष्यको भी कामसे दुःखी करनेमे न चूकते थे [पक्षमे पाँच छह बाणोंसे पीडित करनेमे पीछे नहीं हटते थे], [कुसगतिसे सज्जनमे भी परिवर्तन हो जाता है] ॥४०॥

१ तदङ्घ्रि घ० म० । २ उत्प्रेक्षालकार । ३ तदीयलावण्यमवलोक्य कन्दर्पपीडिताना जनाना शरीरात् स्वेदो नि सरति स्मेति भाव । 'स्तम्भ स्वेदोऽथ रोमाञ्च स्वरभङ्गोऽथ वेपथु । वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका स्मृता ' ॥ इति सात्त्विकभावा तेपु 'वपुर्जलोद्गम स्वेदो रतिघर्माश्रयादिभि ' इति स्वेदलक्षणम् । अपह्नवोत्प्रेक्षालकार । ४ उत्प्रेक्षा । ५ तदीयप्रसृतायुग 'जङ्घा तु प्रसृता समे' इत्यमर । ६ सुवृत्तमपि सुवर्तुलमपि पक्षे शोभनाचारसहितमपि ।

उदञ्चदुच्चैस्तनवप्रशालिनस्तदङ्गकन्दर्पविलासवेश्मन ।
वरोरुयुग्म नवतप्तकाञ्चनप्रपञ्चितस्तम्भनिभ व्यराजत ॥ ४१ ॥
जड गुरूकृत्य नितम्बमण्डल स्मरेण तस्या किल शिक्षित कियत् ।
तथाप्यहो पश्यत सर्वतोऽमुना बुधाधिपानामपि खण्डितो मद ॥ ४२ ॥
गभीरनाभिह्लदमज्जदुद्धुरस्मरप्रभिन्नद्विपगण्डमण्डलात् ।
समुच्छलन्तीव[1] मधुव्रतावलिर्विभौ तदीयोदररोममञ्जरी ॥ ४३ ॥
सुहृत्तमावेकत उन्नतौ स्तनौ गुरुर्नितम्बोऽप्ययमन्यत स्थित ।
कथ भजे [2]कान्तिमितीव चिन्तया ततान तन्मध्यमतीव तानवम् ॥ ४४ ॥

[3]आप्तजडोरुसगम गृहीतरसभावार्द्रोरुसश्रय तथा [4]वैलोम्य बभार यथा [5]सहचर पति [6]कामकर्दथित व्यधात् । यथा कश्चित्सुशीलोऽपि प्राप्तमूर्खेश्वरससर्गो विपरीतता तथा दधाति यथा स्वजनमनेकशस्त्रकर्दथित करोति[7] ॥ ४० ॥ उदञ्चदिति—तस्या ऊरुयुग्म नवतप्तकाञ्चनमयस्तम्भशोभा बभार । कस्येत्याह—तदङ्गकन्दर्पविलासवेश्मनस्तदङ्गमेव कन्दर्पविलासवेश्म तद्गाग्रकामचित्रशालिकाया । कथम्भूतस्य । उदञ्चदुच्चैस्तनवप्रशालिन उदग्रपयोधरप्राकारराजिन । अन्यदपि विलासिगृह यदुच्चैस्तनेन वप्रेण शालते तदग्रे तोरणेन भाव्यमिति । रूपकोऽयमलकार[8] ॥ ४१ ॥ जडमिति—तस्या नितम्बमण्डल जड लावण्यरसस्वभाव गुरूकृत्य विस्तीर्ण कृत्वा किलेति सम्भावनाया स्मरेण तत् कियत्तन्मात्रमेवाम्यस्त तथापि स्तोककलाकौशलेऽप्यहो आश्चर्य बुधाधिपानामपि कलाकलापकोविदानामपि निरस्तोऽहकार । अथ च जडगुरो शिष्येण किंचिज्ज्ञेन सर्वविदा मदो निरस्यत इति चित्रम्[9] ॥ ४२ ॥ गभीरेति—तदीया उदररोममञ्जरी रराज उद्गच्छन्ती भ्रमरश्रेणीव । कुत इत्याह—गभीरस्तादृक्स्वरूप स चासौ नाभिह्लदश्च तत्र मज्जन् जलकेलयन् उद्धुरस्मर एव प्रभिन्नो मत्तो द्विपस्तस्य गण्डमण्डल तस्मान्नाभिह्लदनिमग्नत्वेनादृश्यमानकामेभस्य कटोड्डीना भ्रमरश्रेणिरिव दृश्यते[10] ॥ ४३ ॥ सुहृत्तमाविति—तस्या मध्यप्रदेश कृशत्व शिश्राय । चिन्तयेव, का चिन्तेत्याह—एकत ऊर्ध्वभागे सुहृत्तमौ मनोहरौ सदुन्नतौ स्तनौ, अन्यतोऽध प्रदेशे[11] नितम्बो गुरुर्विस्तीर्ण । तत पर्यन्तयोरत्युन्नतत्वात् समवल्लभाङ्गेन सार्द्धं सपर्को नास्ति । अथ यथा काचित्कुलबालिका एकत

उस सुव्रताके उत्कृष्ट ऊरुयुगल स्तनरूपी उन्नत कूटसे शोभायमान उसके शरीररूपी काम क्रीडागृहके नूतन संतप्त स्वर्णनिर्मित खम्भोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥४१॥ कामदेवने सुव्रताके जड-स्थूल [पक्षमे मूर्ख] नितम्ब मण्डलको गुरु बनाकर [पक्षमें अध्यापक बनाकर] कितनी-सी शिक्षा ली थी फिर भी देखो कितना आश्चर्य है कि उसने अच्छे-अच्छे विद्वानोंका भी मद खण्डित कर दिया ॥४२॥ उसके उदरपर प्रकट हुई रोम-राजि ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो नाभिरूपी गहरे सरोवरमे गोता लगानेवाले कामदेवरूपी मदोन्मत्त हाथीके गण्डस्थलसे उडती हुई भ्रमरोंकी पंक्ति ही हो ॥४३॥ इधर एक ओर घनिष्ठ मित्रों [अत्यन्त सदृश] की तरह स्तन विद्यमान हैं और दूसरी ओर यह गुरु तुल्य [स्थूल] नितम्बमण्डल स्थित है इन दोनोंके बीचमे कान्तिरूपी प्रियाकी किस प्रकार सेवा करूँ ? मानो इस चिन्ता

१ समुच्चलन्तीव म० घ० । २ कान्ति दीप्ति पक्षे स्त्रीलिङ्गसाम्याद्वल्लभा च । ३ आप्त प्राप्तो जडाभ्या स्थूलाभ्यामूरुभ्या सक्थिभ्या सह सगमो येन तत् पक्षे प्राप्तमूर्तजनविशालसमागम सत् । ४ रोमराहित्य प्रतिकूलता च । ५ पश्चादागच्छन्त पक्षेऽनुकूलमपि । ६ पञ्च पञ्चसख्याका इषवो बाणा यस्य स पञ्चेषु काम पक्षे लक्षणया पञ्च षड् वा बाणास्तै कर्दथित पीडितम् । ७ श्लेषाङ्कार । ८ रूपकोपमे । ९ अल्पज्ञेन बहुज्ञाना पराभवो विस्मयोत्पादकोऽस्तीति भाव । तस्या स्थूलनितम्बवलय दृष्ट्वा बुधाधिपा अपि कामेन पीडिता अजायन्तेति रहस्यम् । विभावनालकार । १० रूपकोत्प्रेक्षे । ११ यथा कश्चिद् गुरुमित्रजनसमीपे मन्दाक्षात्स्ववल्लभामलभमानश्चिन्तया दिन दिन दुर्वलो भवति तथा तन्मध्यमपीति तात्पर्यम् ।

सती च सौन्दर्यवती च पुवरप्रसूश्च साक्षादियमेव भूत्रये।
इतीव रेखात्रयमक्षतस्मयो विधिश्चकारात्र वलित्रयच्छलात् ॥ ४५ ॥
गुरोर्नितम्बादिह कामिक गत स नाभितीर्थ प्रमथेशनिर्जित ।
समुल्लसल्लोमलतारुरुच्छवि स्मरस्त्रिदण्ड त्रिवलिच्छलाद्दधौ ॥ ४६ ॥
कृतौ न चेत्तेन विरञ्चिना सुधानिधानकुम्भौ सुदृश पयोधरौ।
तदन्तलग्नोऽपि तदा निगद्यता स्मर परासु कथमाशुजीवित ॥ ४७ ॥
सुरस्रवन्तीकनकारविन्दिनीमृणालदण्डाविव कोमलौ भुजौ।
करौ तदग्रे शुचिकङ्कणाङ्कितौ व्यराजतामब्जनिभौ च सुभ्रुव ॥ ४८ ॥
स पाञ्चजन्य' कररुक्मकङ्कणप्रभोल्बण स्याद्यदि कैटभद्विष ।
स्फुरन्त्रिरेखाङ्कितकण्ठकन्दल तदोपमीयेत न वा नतभ्रुव ॥ ४९ ॥

स्वजनावन्यतो गुरु पितरमवलोक्य कान्तोपभोगचिन्तया तन्वी भवतीति भाव[२] ॥ ४४ ॥ सतीति—अस्यामन्यत्र तद्गुणनिवृत्त्यर्थं विधि स्रष्टा रेखात्रय चकार। अक्षतस्मय उद्धुराहकार । सतीत्व सौन्दर्यं पुरुषरत्नप्रसवनत्वं चेति गुणत्रय मत्कृतावेव विधे शिल्पसीमकीर्तिरिवेत्यर्थ[३] ॥ ४५ ॥ गुरोरिति—त्रिवलिच्छलात्कामस्त्रिदण्डधारकव्रतमिव स्वीचकार। अन्योपकरणान्याह—समुल्लसल्लोमलतारुरुच्छवि समुल्लसन्ती लोमलतैव रुरुच्छविर्मृगाजिन यस्य स तद्विध । नाभितीर्थगत कामिक कामप्रमद पृथुलनितम्बात्। तपश्चरणकारणमाह—प्रमथेशनिर्जितो विषमाक्षेणाप्रमाणित । यथा कश्चिन्ना पुरुष शत्रुनिर्जितोऽभितीर्थ याति गुरोर्नितम्बात् जनकस्याङ्कात् पित्रादिप्रतिषिद्धोऽपीत्यर्थ । यदि वा गुरोस्तीर्थ, गुरुरपि यत्र तीर्थे त|स्तपस्यतीति भाव[४] ॥ ४६ ॥ कृताविति—तस्या मृगाक्ष्या स्तनौ विधिना सुधाशेवधिकुम्भौ कृतौ न चेद्व्यर्थसम्भावनायामुपपत्तिमाह—तदन्तस्पर्शमात्रेण परासु शम्भुना भस्मसात्कृत काम कथ तत्क्षणाज्जीवित सहसा प्रादुर्बभूव। मृतस्योज्जीविका शक्तिरमृतेनैवेति प्रसिद्धि[५] ॥ ४७ ॥ सुरेति—तस्या मृदुबाहुलते गङ्गास्वर्णपद्मिनोविसकिसलयाविव भुजयोरग्रेषु हस्तौ पद्मकोशसदृशौ शुशुभाते शुचिकङ्कणाङ्कितौ अनर्घकङ्कणालङ्कृतौ, अब्ज हि पानीयसपृक्त भवति[६] ॥ ४८ ॥ स इति—तस्या सुभ्रुवो रेखात्रयाङ्कित कण्ठकन्दलमुपमा लभेत। यदि किं स्यादित्याह—यदि विष्णो शङ्ख करकनककङ्कणप्रभापति स्यात् । अन्यथा स्वर्णकन्दलसदृशस्य

से ही उसका मध्यभाग अत्यन्त कृशता को बढा रहा था ॥४४॥ यह सुव्रता ही तीनों लोकोंमे साक्षात् सती है, सुन्दरी है, और तीर्थंकर जैसे श्रेष्ठ पुरुषको उत्पन्न करनेवाली है—यह विचार कर ही मानो अखण्डित अभिमानको धारण करनेवाले विधाताने त्रिवलिके छलसे उसके नाभिके पास तीन रेखाएँ खींच दी थीं ॥४५॥ ऐसा जान पड़ता है मानो कामदेवने महादेवजीसे पराजित होनेके कारण उस सुव्रताके स्थूल [पक्षमे गुरुरूप] नितम्बसे दीक्षा ले नाभि नामक तीर्थ स्थानपर जाकर रोमराजिके बहाने कृष्णमृगकी छाल और त्रिवलिके बहाने त्रिदण्ड ही धारण कर लिया हो ॥४६॥ यदि विधाताने उस सुलोचनाके स्तनोंको अमृत का कोष कलश न बनाया होता तो तुम्हीं कहो उसके समीपमे लगते ही मृत कामदेव सहसा कैसे जी उठता ? ॥४७॥ उस सुन्दर भौहो वाली सुव्रताकी भुजाएँ आकाश गङ्गाकी सुवर्ण कमलिनीके मृणाल दण्डके समान कोमल थीं और उनके अग्रभागमें निर्मल कङ्कणों [पक्षमे उज्ज्वल जलके छीटोंसे] से युक्त दोनों हाथ कमलोंकी तरह सुशोभित होते थे ॥४८॥ यदि विष्णुका वह पाचजन्य नामका शंख उन्हींके हाथमे स्थित स्वर्ण-कंकणकी प्रभासे व्याप्त हो

१ तदङ्गलग्नोऽपि ख० ग० घ० ड० च० छ० ज० म० । २ समासोक्तिगर्भोत्प्रेक्षा । ३ वलित्रय सतीत्वादित्रितयसूचकरेखात्रितयमिवाचकादिति भाव । उत्प्रेक्षा । ४ यथा कोऽपि केनापि पराजितो भूत्वा कुतश्चिद्गुरोर्दीक्षा गृहीत्वा किंचित्पुण्यक्षेत्र प्राप्य तत्र मृगाजिन बिभ्राण सन्यासिचिह्नभूत त्रिदण्ड बिभर्ति तथा स्मरोऽपीति भाव । उत्प्रेक्षा । ५ स्पर्शमात्रेण मृतमदनस्य जीवनात्तस्या कुचकलशयो पीयूषनिधानकलशत्वमनुमीयत इति भाव । अनुमानालकार । ६ उपमालकार ।

कपोलहेतोः खलु लोलचक्षुषो विधिर्व्यधात्पूर्णसुधाकरं द्विधा ।
विलोक्यतामस्य तथाहि लाञ्छनच्छलेन पश्चात्कृतसीवनव्रणम्[1] ॥ ५० ॥
प्रवालबिम्बीफलविद्रुमादयः समा बभूवुः प्रभयैव केवलम् ।
रसेन तस्यास्त्वधरस्य निश्चितं जगाम पीयूषरसोऽपि शिष्यताम् ॥ ५१ ॥
अनादरेणापि सुधासहोदरीमुदीरयन्त्यामविकारिणीं गिरम् ।
ह्रियेव काष्ठत्वमियाय वल्लकी पिकी च कृष्णत्वमधारयत्तराम् ॥ ५२ ॥
ललाटलेखा शकलेन्दुनिर्गलत्सुधोरुधारेव घनत्वमागता ।
तदीयनासा द्विजरत्नसंहतेस्तुलेव कान्त्या जगदप्यतोलयत् ॥ ५३ ॥
जितास्मदुत्तंसमहोत्पले[2] युवां क्व याथ इत्यध्वनिरोधिनोरिव ।
उपात्तकोपे इव कर्णयोः सदा तदीक्षणे जग्मतुरन्तशोणताम् ॥ ५४ ॥

कण्ठस्य कथमस्थिपाण्डुरेण शङ्खेनोपमानोपमेयभावः । नवेत्युपमानाशक्यसंभावनायाम् । अतिशयोपमालंकारः ॥ ४९ ॥ कपोलेति—अस्याश्चञ्चलाक्ष्याः कपोलौ निर्मातुं विधी राकाचन्द्रं द्विधा बिभेद । कथं ज्ञातमिति चेत् । तथाहीति प्रत्यभिज्ञानेन अङ्कव्याजेन पुनः संधानसन्धिर्दृश्यतामिति । द्वाभ्यां चन्द्रखण्डाभ्यामेतत्कपोलौ करोमीति पश्चाद् दृष्टदोषौ तौ संदधाविति । चन्द्राधिकेन केनचिल्लावण्यद्रव्येण कपोलनिर्मितिरिति भावः[3] ॥ ५० ॥ प्रवालेति—तस्या अधरस्य प्रथमं पल्लवबिम्बविद्रुमादयो वर्णेन सदृशा आसन् रसेन पुनः सुधारसोऽप्यन्तेवासितामाप । माधुर्यममृतरसस्यापि तस्या अधरादेव संक्रान्तमिति भावः । व्यतिरेकालंकारः ॥ ५१ ॥ अनादरेणापीति—तस्याः स्वभावेनैव सुधाधारासदृशीं वाणीमुच्चरन्त्यां वल्लकी काष्ठत्वमाजगाम, पिकी कोकिला च कृष्णत्वं बभार लज्जयेव । अथ काष्ठमयत्वं कृष्णत्वं च प्रसिद्धमेव । अथ विशेषगुणदर्शके कस्मिन् केचन मूकत्वं विच्छायत्वं च भजन्तीति[4] ॥ ५२ ॥ ललाटेति—तस्या नासा दन्तरत्नसमुच्चयस्य तुलेव कान्त्या सौभाग्येन भुवनमप्यधश्चकार । या कथंभूता ललाटलेखेव शकलेन्दुरर्द्धेन्दुस्तस्मान्निर्गलन्ती या सुधा महाधारा सैव घनत्वमागता सस्त्याना[5] ॥ ५३ ॥ जितेति—तस्या ईक्षणे अन्तरक्ततामीयतुः । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—उपात्तकोपे इव गृहीतामर्षे इव । कं प्रतीत्याह—कर्णयोः । किमपराद्धं श्रवणाभ्यामित्याह—गमनप्रतिषेधकयोः । इति शब्दो हेत्वर्थे, युवां नयने क्व गच्छथः । किंविशिष्टे युवाम् । जितास्मदुत्तंसमहोत्पले जिते आवयोरुत्तंसमहोत्पले कर्णोत्पले यकाभ्यां ते तथाविधे । तन्नयने त्रिभा रक्ते कर्णान्तिं यावदिति भावः । अन्योऽपि जेतुकामो

जावे तो उसके साथ नत भौंहों वाली सुव्रताके रेखात्रयविभूषित कण्ठकी उपमा दी जा सकती है अन्यथा नहीं ॥४९॥ ऐसा लगता है मानो विधाताने उस चपललोचनाके कपोल बनानेके लिए पूर्णचन्द्रके दो टुकड़े कर दिये हों। देखो न, इसीलिए तो उस चन्द्रमामें कलंकके बहाने पीछेसे की हुई सिलाईके चिह्न मौजूद हैं ॥५०॥ किसलय, बिम्बीफल और मूँगा आदि केवल वर्णकी अपेक्षा ही उसके ओठके समान थे। रसकी अपेक्षा तो निश्चय है कि अमृत भी उसका शिष्य हो चुका था ॥५१॥ वह सुव्रता, संगीतकी बात जाने दो, यूँ ही जब कभी अमृतके तुल्य विकारहीन वचन बोलती थी तब वीणा लज्जाके मारे काठ हो जाती थी और कोयल पहलेसे भी अधिक कालिमा धारण करने लगती थी ॥५२॥ उसकी नाक क्या थी मानो ललाटरूपी अर्धचन्द्रसे झरनेवाली अमृतकी धारा ही जम कर दृढ हो गयी हो। अथवा उसकी नाक, दन्तरूपी रत्नोंके समूहको तौलनेकी तराजू थी पर उसने अपनी कान्तिसे सारे संसारको तोल डाला था—सबको हलका कर दिया था ॥५३॥ हमारे भूषण स्वरूप कमलको जीतकर आप लोग कहाँ जा रहे हैं? इस प्रकार मार्ग रोकने-वाले कानोंपर कुपित हुए की तरह उसके नेत्र अन्त भागमें कुछ-कुछ लाली धारण कर रहे थे

१ सेवनव्रण- क० । २ महोत्पलैः म० घ० । ३ प्रकृतकलङ्कप्रतिषेधेन पश्चात्कृतसीवनव्रणस्थापनादपह्नुत्यलंकारः । उत्प्रेक्षा वा । ४ उत्प्रेक्षा । ५ उपमा ।

इमामनालोचनगोचरा विधिर्विधाय सृष्टे कलशार्पणोत्सुक ।
लिलेख वक्त्रे तिलकाङ्कमध्ययोर्भ्रुवोर्मिषादोमिति मङ्गलाक्षरम् ॥ ५५ ॥
उदीरिते श्रीरतिकान्तिकीर्तिभि[1] श्रयाम एतामिति मौनवान् विधि ।
लिलेख तस्या तिलकाङ्कमध्ययोर्भ्रुवोर्मिषादोमिति सगतोत्तरम् ॥ ५६ ॥
कपोललावण्यमयाम्वुपल्वले पतत्सतृष्णाखिलनेत्रपत्रिणाम् ।
ग्रहाय पाशाविव वेधसा कृतौ तदीयकर्णौ पृथुलासचुम्विनौ ॥ ५७ ॥
स्मरेण कालागुरुपत्रवल्लि[2]मल्ललाटलेखामिपतो नतभ्रुव ।
अशेपससारविशेषकैर्गुणैर्जगत्त्रये पत्रमिवावलम्बितम् ॥ ५८ ॥
अनिन्द्यदन्तद्युतिफेनिलाधरप्रवालशालिन्युरुलोचनोत्पले ।
तदास्यलावण्यसुधोदधौ वभुस्तरङ्गभङ्गा इव भङ्गुरालका ॥ ५९ ॥

जेतव्यपक्षीयेण रुद्धोऽन्तशोणताम् अन्ताय विरोधकविनाशाय शोणता याति[3] ॥ ५४ ॥ इमामिति—भालफलके विधि प्रणवमोकारमालिलेख । असरलभ्रूवल्लरीव्याजात् । तिलकाङ्कमध्ययो तिलक सरलचित्रकम् तेन । उदीरित इति—अलङ्कृत मध्य ययोस्तयोस्तथाविधयो । इमामनालोचनगोचरामचिन्त्यप्रभावा विधाय सृष्टेर्निजसर्गस्य कलशार्पणोत्सुक कलशस्यार्पण रोपण तत्रोत्सुक उत्ताल । प्रासादादौ प्रथम मङ्गलकलश-ध्वजाप्रणवप्रभृतीनि मङ्गलाक्षराणि लिख्यन्त इति प्रतिष्ठाचार्या: । तथैव ब्रह्मण सृष्टौ रमणीया[4] ॥ ५५–५६ ॥ कपोलेति—तस्या कर्णौ पाशाविव विधिना कृतौ । ग्रहाय वन्धनाय केषामित्याह—पतन्त सतृष्णा साभिलाषा अखिललोकाना नेत्राण्येव पतत्रिण पक्षिणस्तेपा यदि वा अखिलानि निश्चितानि निर्निमेषाणि तेषा तद्विधाना कपोललावण्यमयाम्वुपल्वले कपोललावण्येन निर्वृत्त यन्नीरपल्वल तस्मिन्निति । अथ सर प्रदेशे पक्षिवागुरा रच्यत इति[5] ॥ ५७ ॥ स्मरेणेति—स्मरेण कामैकान्तवादिनेव भुवनत्रये पत्रमिव प्रदत्त गुणै सकलससार-तिलकभूतै । कामगुणरहितो हि ससारोऽसार एव । कुत इत्याह—तस्याभङ्गुरभ्रुव । कृष्णागुरुपत्रवल्ली-चित्रितललाटलेखाव्याजात्[6] ॥ ५८ ॥ अनिन्द्येति—तस्या मुखलावण्यसमुद्रे कुटिलालकास्तरङ्गभङ्गा इव शुशुभिरे । समुद्रत्व स्थापयन्नाह—उरुलोचनोत्पले उरूणि तादृक्प्रभावाणि लोचनान्येव उत्पलानि यत्र तस्मिंस्तथाविधे । अनिन्द्या कुन्दसदृशा ये दन्तास्तेषा द्युतिर्ज्योत्स्ना तया फेनिल फेनशोभायुक्तो योऽसावधर-पल्लवस्तेन शालते तस्मिन् पक्षे प्रवालो विद्रुम[7] ॥ ५९ ॥ तदेति—हे चन्द्र, तस्या मुखचन्द्रस्य तुला

॥५४॥ इस निरवद्य सुन्दरीको बना कर विधाता सृष्टिके ऊपर मानो कलशा रखना चाहते थे इसीलिए तो उन्होंने तिलकसे चिह्नित भौंहोके बहाने उसके मुखपर 'ॐ' यह मङ्गलाक्षर लिखा था ॥५५॥ हम इस सुव्रताका आश्रय लें—इस प्रकार श्री, रति, कान्ति और कीर्तिने ब्रह्माजीसे पूछा पर चूंकि ब्रह्माजीके मौन था अतः उन्होंने इस सुव्रताके तिलक चिह्नित भौंहों-के बहाने 'ॐ' ऐसा संगत उत्तर लिख दिया था ॥५६॥ स्थूल कन्धों तक लटकते हुए उसके कान क्या थे? मानो कपोलोंके सौन्दर्यरूपी स्वल्प जलाशयमे प्यासके कारण पड़ते हुए समस्त मनुष्योंके नेत्ररूपी पक्षियोको पकडनेके लिए विधाताने जाल ही बनाये हों ॥५७॥ कुटिल भौंहों वाली उस सुव्रताके ललाटपर कालागुरु चन्दनकी जो पत्र युक्त लताएँ बनी हुई थीं उनसे ऐसा जान पडता था मानो कामदेवने समस्त संसारके तिलक स्वरूप अपने श्रेष्ठ गुणोंके द्वारा प्रमाण पत्र ही प्राप्त कर लिया हो ॥५८॥ दाँतोंकी उज्ज्वल कान्तिसे फेनिल, अधरोष्ठरूपी मूँगासे सुशोभित और बड़े-बड़े नेत्ररूपी कमलोंसे युक्त उसके मुखके सौन्दर्य सागरमे घुँघुराले बाल लहरोंकी तरह सुशोभित हो रहे थे ॥५९॥ रे चन्द्र! उस सुव्रताके मुखचन्द्रकी तुलनाको

१ श्रीरतिकीर्तिकान्तिभि ख० ग० घ० च० छ० ज० म० । २ वल्लिवल्ललाट ख० ग० घ० ङ० च० छ० ज० । ३ तस्या नयने कर्णान्तायते रक्तकोणे च वभूवतुरिति भाव । उत्प्रेक्षालकार । ४ पूर्वश्लोकटीका-गतेन—'तिलक सरलचित्रकं तेन' इति पदेन सवन्ध । ५ रूपकोत्प्रेक्षे । ६ अपह्नुवोत्प्रेक्षे । ७ रूपकोपमे ।

कपोलहेतोः खलु लोलचक्षुपो विधिर्व्यधात्पूर्णसुधाकरं द्विधा ।
विलोक्यतामस्य तथाहि लाञ्छनच्छलेन पश्चात्कृतसीवनव्रणम्[1] ॥ ५० ॥
प्रवालबिम्बीफलविद्रुमादयः समा बभूवुः प्रभयैव केवलम् ।
रसेन तस्यास्त्वधरस्य निश्चितं जगाम पीयूषरसोऽपि शिष्यताम् ॥ ५१ ॥
अनादरेणापि सुधासहोदरीमुदीरयन्त्यामविकारिणीं गिरम् ।
ह्रियेव काष्ठत्वमियाय वल्लकी पिकी च कृष्णत्वमधारयत्तराम् ॥ ५२ ॥
ललाटलेखा शकलेन्दुनिर्गलत्सुधोरुधारेव घनत्वमागता ।
तदीयनासा द्विजरत्नसंहतेस्तुलेव कान्त्या जगदप्यतोलयत् ॥ ५३ ॥
जितास्मदुत्तंसमहोत्पले[2] युवां क्व याथ इत्यध्वनिरोधिनोरिव ।
उपात्तकोपे इव कर्णयोः सदा तदीक्षणे जग्मतुरन्तशोणताम् ॥ ५४ ॥

कण्ठस्य कथमस्थिपाण्डुरेण शङ्खेनोपमानोपमेयभावः । नवेत्युपमानाशक्यसंभावनायाम् । अतिशयोपमालंकारः ॥ ४९ ॥ कपोलेति—अस्याश्चञ्चलाक्ष्याः कपोलौ निर्मित्सुर्विधी राकाचन्द्रं द्विधा बिभेद । कथं ज्ञातमिति चेत् । तथाहीति प्रत्यभिज्ञानेन अङ्कव्याजेन पुनः संधानसन्धिर्दृश्यतामिति । द्वाभ्यां चन्द्रखण्डाभ्यामेतत्कपोलौ करोमीति पश्चाद् दृष्टदोषौ तौ सदधाविति । चन्द्राधिकेन केनचिल्लावण्यद्रव्येण कपोलनिर्मितिरिति भावः[3] ॥ ५० ॥ प्रवालेति—तस्या अधरस्य प्रथमं पल्लवबिम्बविद्रुमादयो वर्णेन सदृशा आसन् रसेन पुनः सुधारसोऽप्यन्तेवासितामाप । माधुर्यममृतरसस्यापि तस्या अधरादेव संक्रान्तमिति भावः । व्यतिरेकालंकारः ॥ ५१ ॥ अनादरेणापीति—तस्याः स्वभावेनैव सुधाधारासदृशीं वाणीमुच्चरन्त्यां वल्लकी काष्ठत्वमाजगाम, पिकी कोकिला च कृष्णत्वं बभार लज्जयेव । अथ काष्ठमयत्वं कृष्णत्वं च प्रसिद्धमेव । अथ विशेषगुणदर्शके कस्मिन् केचन मूकत्वं विच्छायत्वं च भजन्तीति[4] ॥ ५२ ॥ ललाटेति—तस्या नासा दन्तरत्नसमुच्चयस्य तुलेव कान्त्या सौभाग्येन भुवनमप्यधश्चकार । या कथंभूता ललाटलेखैव शकलेन्दुरर्द्धेन्दुस्तस्मान्निर्गलन्ती या सुधा महाधारा सैव घनत्वमागता सस्त्याना[5] ॥ ५३ ॥ जितेति—तस्या ईक्षणे अन्तरक्ततामीयतुः । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—उपात्तकोपे इव गृहीतामर्षे इव । क प्रतीत्याह—कर्णयोः । किमपराद्धं श्रवणाभ्यामित्याह—गमनप्रतिषेधकयोः । इति शब्दो हेत्वर्थे, युवां नयने क्व गच्छथः । किंविशिष्टे युवाम् । जितास्मदुत्तंसमहोत्पले जिते आवयोरुत्तंस-महोत्पले कर्णोत्पले यकाभ्यां ते तथाविधे । तन्नयने त्रिधा रक्ते कर्णान्तं यावदिति भावः । अन्योऽपि जेतुकामो

जावे तो उसके साथ नत भौंहों वाली सुव्रताके रेखात्रयविभूषित कण्ठकी उपमा दी जा सकती है अन्यथा नहीं ॥४९॥ ऐसा लगता है मानो विधाताने उस चपललोचनाके कपोल बनानेके लिए पूर्णचन्द्रके दो टुकडे कर दिये हों। देखो न, इसीलिए तो उस चन्द्रमामें कलंकके बहाने पीछेसे की हुई सिलाईके चिह्न मौजूद है ॥५०॥ किसलय, बिम्बीफल और मूँगा आदि केवल वर्णकी अपेक्षा ही उसके ओठके समान थे। रसकी अपेक्षा तो निश्चय है कि अमृत भी उसका शिष्य हो चुका था ॥५१॥ वह सुव्रता, संगीतकी बात जाने दो, यूँ ही जब कभी अमृतके तुल्य विकारहीन वचन बोलती थी तब वीणा लज्जाके मारे काठ हो जाती थी और कोयल पहलेसे भी अधिक कालिमा धारण करने लगती थी ॥५२॥ उसकी नाक क्या थी मानो ललाटरूपी अर्धचन्द्रसे झरनेवाली अमृतकी धारा ही जम कर दृढ हो गयी हो। अथवा उसकी नाक, दन्तरूपी रत्नोंके समूहको तौलनेकी तराजू थी पर उसने अपनी कान्तिसे सारे संसारको तोल डाला था—सबको हलका कर दिया था ॥५३॥ हमारे भूषण स्वरूप कमलको जीतकर आप लोग कहाँ जा रहे हैं ? इस प्रकार मार्ग रोकने-वाले कानोंपर कुपित हुए की तरह उसके नेत्र अन्त भागमे कुछ-कुछ लाली धारण कर रहे थे

१ सेवनव्रण- क० । २ महोत्पलै म० घ० । ३ प्रकृतकलङ्कप्रतिषेधेन पश्चात्कृतसीवनव्रणस्थापनादपह्नुत्यलंकारः । उत्प्रेक्षा वा । ४. उत्प्रेक्षा । ५ उपमा ।

इमामनालोचनगोचरा विधिर्विधाय सृष्टे कलशार्पणोत्सुक ।
लिलेख वक्त्रे तिलकाङ्कमध्ययोर्भ्रुवोर्मिषादोमिति मङ्गलाक्षरम् ॥ ५५ ॥
उदीरिते श्रीरतिकान्तिकीर्तिभि[1] श्रयाम एतामिति मौनवान् विधि ।
लिलेख तस्या तिलकाङ्कमध्ययोर्भ्रुवोर्मिषादोमिति सगतोत्तरम् ॥ ५६ ॥
कपोललावण्यमयाम्बुपल्वले पतत्सतृष्णाखिलनेत्रपत्रिणाम् ।
ग्रहाय पाशाविव वेधसा कृतौ तदीयकर्णौ पृथुलासचुम्बिनौ ॥ ५७ ॥
स्मरेण कालागुरुपत्रवल्लि[2] मल्ललाटलेखामिषतो नतभ्रुव ।
अशेषससारविशेषकैर्गुणैर्जगत्त्रये पत्रमिवावलम्बितम् ॥ ५८ ॥
अनिन्द्यदन्तद्युतिफेनिलाधरप्रवालशालिन्युरुलोचनोत्पले ।
तदास्यलावण्यसुधोदधौ बभुस्तरङ्गभङ्गा इव भङ्गुरालका ॥ ५९ ॥

जेतव्यपक्षीयेण रुद्धोऽन्तशोणताम् अन्ताय विरोधकविनाशाय शोणता याति[3] ॥ ५४ ॥ इमामिति—भालफलके विधि प्रणवमोकारमालिलेख । असरलभ्रूवल्लरीव्याजात् । तिलकाङ्कमध्ययो तिलक सरत्नचित्रकम् तेन । उदीरित इति—अलकृत मध्य ययोस्तयोस्तथाविधयो । इमामनालोचनगोचरामचिन्त्यप्रभावा विधाय सृष्टेर्निजसर्गस्य कलशार्पणोत्सुक कलशस्यार्पण रोपण तत्रोत्सुक उत्ताल । प्रासादादौ प्रथम मङ्गलकलशध्वजाप्रणवप्रभृतीनि मङ्गलाक्षराणि लिख्यन्त इति प्रतिष्ठाचार्या: । तथैव ब्रह्मण सृष्टौ रमणीया[4] ॥ ५५–५६ ॥ कपोलेति—तस्या कर्णौ पाशाविव विधिना कृतौ । ग्रहाय बन्धनाय केषामित्याह—पतन्त सतृष्णा साभिलाषा अखिललोकाना नेत्राण्येव पतत्रिण पक्षिणस्तेषा यदि वा अखिलानि निश्चितानि निर्निमेषाणि तेषा तद्विधाना कपोललावण्यमयाम्बुपल्वले कपोललावण्येन निर्वृत्त यन्नीरपल्वल तस्मिन्निति । अथ सर प्रदेशे पक्षिवागुरा रच्यत इति[5] ॥ ५७ ॥ स्मरेणेति—स्मरेण कामैकान्तवादिनेव भुवनत्रये पत्रमिव प्रदत्त गुणै सकलससारतिलकभूतै । कामगुणरहितो हि ससारोऽसार एव । कुत इत्याह—तस्याभङ्गुरभ्रुव । कृष्णागुरुपत्रवल्लीचित्रितललाटलेखाव्याजात्[6] ॥ ५८ ॥ अनिन्द्येति—तस्या मुखलावण्यसमुद्रे कुटिलालकास्तरङ्गभङ्गा इव शुशुभिरे । समुद्रत्व स्थापयन्नाह—उरुलोचनोत्पले उरूणि तादृक्प्रभावाणि लोचनान्येव उत्पलानि यत्र तस्मिंस्तथाविधे । अनिन्द्या कुन्दसदृशा ये दन्तास्तेषा द्युतिर्ज्योत्स्ना तया फेनिल फेनशोभायुक्तो योऽसावधरपल्लवस्तेन शालते तस्मिन् पक्षे प्रवालो विद्रुम[7] ॥ ५९ ॥ तदेति—हे चन्द्र, तस्या मुखचन्द्रस्य तुला

॥५४॥ इस निरवद्य सुन्दरीको बना कर विधाता सृष्टिके ऊपर मानो कलशा रखना चाहते थे इसीलिए तो उन्होंने तिलकसे चिह्नित भौंहोंके बहाने उसके मुखपर 'ॐ' यह मङ्गलाक्षर लिखा था ॥५५॥ हम इस सुव्रताका आश्रय ले—इस प्रकार श्री, रति, कान्ति और कीर्तिने ब्रह्माजीसे पूछा पर चूंकि ब्रह्माजीके मौन था अतः उन्होंने इस सुव्रताके तिलक चिह्नित भौंहोंके बहाने 'ॐ' ऐसा सगत उत्तर लिख दिया था ॥५६॥ स्थूल कन्धों तक लटकते हुए उसके कान क्या थे ? मानो कपोलोंके सौन्दर्यरूपी स्वल्प जलाशयमे प्यासके कारण पड़ते हुए समस्त मनुष्योंके नेत्ररूपी पक्षियोंको पकडनेके लिए विधाताने जाल ही बनाये हों ॥५७॥ कुटिल भौंहों वाली उस सुव्रताके ललाटपर कालागुरु चन्दनकी जो पत्र युक्त लताएँ बनी हुई थीं उनसे ऐसा जान पडता था मानो कामदेवने समस्त संसारके तिलक स्वरूप अपने श्रेष्ठ गुणोंके द्वारा प्रमाण पत्र ही प्राप्त कर लिया हो ॥५८॥ दाँतोंकी उज्ज्वल कान्तिसे फेनिल, अधरोष्ठरूपी मूँगासे सुशोभित और बड़े-बड़े नेत्ररूपी कमलोंसे युक्त उसके मुखके सौन्दर्य सागरमे घुँघुराले बाल लहरोंकी तरह सुशोभित हो रहे थे ॥५९॥ रे चन्द्र ! उस सुव्रताके मुखचन्द्रकी तुलनाको

१ श्रीरतिकीर्तिकान्तिभि ख० ग० घ० च० छ० ज० म० । २ वल्लिवल्ललाट ख० ग० घ० ड० च० छ० ज० । ३ तस्या नयने कर्णान्तायते रक्तकोणे च बभूवतुरिति भाव । उत्प्रेक्षालकार । ४ पूर्वश्लोकटीकागतेन—'तिलक सरत्नचित्रक तेन' इति पदेन सवन्ध । ५ रूपकोत्प्रेक्षे । ६ अपह्नवोत्प्रेक्षे । ७ रूपकोपमे ।

तदाननेन्दोरधिरोहता तुला मृगाङ्कचित्तेऽपि न लज्जितं त्वया ।
यतोऽसि कस्तत्र पयोधरोन्नतौ स मूढ यत्राभ्यधिक व्यराजत ॥ ६० ॥
समग्रसौन्दर्यविधिद्विषो विधेर्घुणाक्षरन्यायवशादसावभूत् ।
तदास्य जाने निगुणत्वमीदृशीमनन्यरूपा कुरुते यदापराम् ॥ ६१ ॥
सरस्वतीवार्थमनिन्द्यलक्षणा गुणान्विता चापलतेव धन्विनम् ।
विभेव भास्वन्तमतीव निर्मला तमेकभूपालमलचकार सा ॥ ६२ ॥
अथैकदान्त पुरसारसुन्दरीशिर स्रज तामवलोक्य तत्पति ।
इति स्थिरोत्तानितनेत्रमर्थिनामचिन्त्यचिन्तामणिरप्यचिन्तयत् ॥ ६३ ॥
चकार यो नेत्रचकोरचन्द्रिकामिमामनिन्द्या विधिरन्य एव स ।
कुतोऽन्यथा 'वेदनयान्वितात्ततोऽप्यभूदमन्दद्युति रूपमीदृशम् ॥ ६४ ॥

सदृशता गच्छता भवता स्वमनस्यपि न लज्जितम् । किं कारण लज्जाया इत्याह—यत कारणात् तस्या मेघोन्नतौ कस्त्व भवसि । न कोऽपीत्यर्थ । मुखचन्द्रोऽपि तत्र तादृक्ष एवेति निराकुर्वन्नाह—स मुखचन्द्रो हे मूढ, आत्मपरविभागानभिज्ञ, अभ्यधिकश्रीक प्रततापं । पक्षे पयोधरोन्नतौ स्तनभारसहत्याम् अथवा मृगस्य पशोरङ्का यस्य स मृगाङ्को मृगाङ्कवान् स च निष्कलङ्क इत्यपि लज्जास्थानम् ॥ ६० ॥ समग्रेति—असौ विधे सकाशात् घुणाक्षरन्यायेन प्रादुर्बभूव । कथ ब्रह्मणोऽप्यशक्यानुष्ठानमित्याह—समग्रसौन्दर्यविधिद्विष समग्र सौन्दर्यविधिमेकस्मिन्स्थाने द्वेष्टीति स तथाविधस्तस्मात् । अस्याच सर्वोऽप्यसाधारणगुणग्रामो दृश्यत एव । तदास्य ब्रह्मण शिल्पिकौशल निश्चिनोमि यदेदृशीमपरा करोति ॥ ६१ ॥ सरस्वतीति—त महासेन साऽभूषयत् यथा वाच्य भारती अनिन्द्यलक्षणा शुद्धसस्कृता पक्षे प्रशस्यस्त्रीरत्नलक्षणोपेता । यथा धनुर्यष्टिर्योध गुणान्विता समौर्वीका पक्षे गुणाढ्चातुर्यादय । आदित्य निर्मला दीप्तिरिव पक्षे सतीव्रतोपेता । बहूपमालकृति [4] ॥ ६२ ॥ अथेति—अथ कदाचिन्महिषीचक्रचूडामणिं ता निरीक्ष्य तस्या पतिश्चिन्तयाचकार । कथम् । यथा भवति स्थिरोत्तानितनेत्र निश्चलनिर्निमेषलोचन सादरचिन्तायाह्येतत्स्वभावात् । विभवादिचिन्तानिराकरणार्थमाह—याचकानामचिन्त्यचिन्तामणिश्चिन्तिताधिकदातापीत्यर्थ ॥ ६३ ॥ चकारेति—एता भुवननयनजीवनज्योत्स्ना य ससर्ज सोऽपर एव धाता स्रष्टा । प्रस्तुतविधे करणाशक्तित्वमाह—महापीडाकदर्थिता-

प्राप्त होते हुए तुझे चित्तमें लज्जा भी न आयी ? जिन पयोधरों [मेघों, स्तनो] की उन्नतिके समय उसका मुख अधिक शोभित होता है उन पयोधरों [मेघों] की उन्नतिके समय तेरा पता भी नहीं चलता ॥ ६० ॥ ऐसा लगता है कि मानो समस्त सौन्दर्यसे द्वेष रखने वाले ब्रह्मा जी से इस सुव्रताकी रचना घुणाक्षरन्यायसे हो गयी है। इनकी चतुराईको तो तब जाने जब यह ऐसी ही किसी अन्य सुन्दरीको बना दे ॥ ६१ ॥ जिस प्रकार अनिन्द्यलक्षणवाली [व्याकरणसे अदूषित] सरस्वती अर्थको अलङ्कृत करती है, गुण—प्रत्यचासे युक्त धनुर्लता धनुर्धारी वीरको विभूषित करती है और निर्मल प्रभा सूर्यको सुशोभित करती है, उसी प्रकार उत्तम लक्षणोंसे युक्त, गुणोंसे सुशोभित और दोषोंसे अदूषित सुव्रता महाराजा महासेनको अलंकृत करती थी ॥ ६२ ॥ महाराज महासेन यद्यपि याचकोंके लिए स्वयं अचिन्त्य चिन्तामणि थे तथापि एक दिन अन्तःपुरकी ज्येष्ठ सुन्दरियोंकी मस्तकमालाकी तरह अत्यन्त ज्येष्ठ उस सुव्रताको देख कर निश्चलनेत्र खोलकर इस प्रकार विचार करने लगे ॥ ६३ ॥ जिस विधाताने नेत्र रूपी चकोरोंके लिए चाँदनीतुल्य इस सुव्रताको बनाया है वह अन्य ही है

१ वेदनया वार्धक्यजनितपीडया पक्षे ज्ञानेन अन्वितात्सहितात् 'वेदना ज्ञानपीडयो' इति विश्वलोचन । २. अयें मृगाङ्क, त्व यत्र पयोधरोन्नतौ विलुप्तो भवसि स तत्राधिक चकासामास । अतस्तस्य तुलारोहणे त्वया चेतसि लज्जितव्यमिति भाव । व्यतिरेकालकार । ३ अत्र ब्रह्मणस्तदुत्पत्तिसबन्धेऽपि तदसबन्धवर्णनादतिशयोक्तिरलकार । ४.मालोपमा । ५ यो ह्यर्थिनामचिन्त्यचिन्तामणि.स कथ चिन्तयामासेति विरोधोऽपिना द्योत्यते ।

द्रुमोत्पलात्सौरभमिक्षुकाण्डत फल मनोज्ञा मृगनाभित प्रभाम् ।
विधातुमस्या इव सुन्दर वपु कुतो न सार गुणमाददे विधि ॥ ६५ ॥
वपुर्वयोवेषविवेकवाग्मिताविलाशवसव्रतवैभवादिकम् ।
समस्तमप्यत्र चकास्ति तादृश न यादृश व्यस्तमपीक्ष्यते क्वचित् ॥ ६६ ॥
न नाकनारी न च नागकन्यका न च प्रिया काचन चक्रवर्तिन ।
अभूद्भविष्यत्यथवास्ति साध्विमा यदङ्गकान्त्योपमिमीमहे वयम् ॥ ६७ ॥
असारससारमरुस्थलीभ्रमक्लमार्त्तहृन्नेत्रपतत्रिणा मुदे ।
मृगीदृश सिक्त इवामृतप्लवैरहो प्रवृद्धो नवयौवनद्रुम ॥ ६८ ॥
फल तथाप्यत्र यथर्तुगामिन सुताह्वय नोपलभामहे वयम् ।
अनन्यसक्तावनिभारखिन्नवन्निरन्तर तेन मनो दुनोति न ॥ ६९ ॥

स्तत प्रसिद्धाद् ब्रह्मण ईदृश स्पष्टतमविज्ञानसाध्य परमकान्तिक रूप न जायते। पक्षे वेदमार्गप्रयुक्तात् । चकोराश्चन्द्रकलोपजीविन पक्षिविशेषा । व्यतिरेकालकार[1] ॥ ६४ ॥ द्रुमेति—विधिरेना सिसृक्षु कुत पदार्थात् सार गुण नो जग्राह । अपि त्वाजग्राहैव । द्रुमोत्पलात्[2] शाल्मलीकवृक्षात् सौरभम् इक्षुवनात्फलम्, कस्तूरिकाया वर्णकान्तिम् । यदि न हृतास्तदैतेष्वेते गुणा कि न दृश्यन्त इति भाव । अन्त्यक्रिया दीपकोऽयमलकार[3] ॥ ६५ ॥ वपुरिति—अस्या समस्त समुदित तादृश लोकोत्तर तथा प्रतिभासत इत्याह—वपु शरीर वयस्तारुण्य वेष शृङ्गारश्री विवेको विदग्धता वाग्मिता वाक्सौभाग्य विलासो मन्मथचातुर्य वशोऽन्वयशुद्धि व्रत सतीत्व वैभव सर्वश्रीसपत्ति । एतत्सर्वमपि परमप्रकर्षप्राप्त दृश्यते नान्यत्र । समुच्चय ॥ ६६ ॥ नेति—इमा सुव्रता यस्या अङ्गप्रभया उपमिमीमहे वय सदृशीकुर्म सा न देवाङ्गना, न पातालकन्या, न काचिच्चक्रवर्तिमहिषी । भुवनत्रये नास्तीति भाव । अभूद्भविष्यतीत्यनेनातीतभविष्यत्कालयोरपि प्रतिषेध[4] ॥ ६७ ॥ असारेति—अस्या यौवनद्रुमस्तारुण्यतरु प्रवृद्ध पुष्पादिमहोत्सवैरुज्जृम्भते । सुधाप्रवाहैरभिषिक्त इव । अहो रसातिरेके । किमर्थमित्याह—मुदे हर्षाश्रयाय । असारेत्यादि—आसारा अनाश्रयणीया या ससार एव मरुस्थली मरुभूमिस्तस्या भ्रमक्लम पर्यटनतापस्तेनार्ता पीडिता हृन्दि हृदयानि तानि च नेत्राणि च तान्येव पतत्रिण पक्षिणस्तेषा तद्विधाना तद्विमर्शनदर्शनेनैव जनहृदयनयनाना जन्मसाफल्यमिति भाव । जाङ्गलस्थलीमधिरूढतरु पथिकपक्ष्यादीना महोत्सवाय[5] ॥ ६८ ॥ फलमिति—तथाप्यत्र तनूजसज्ञ फल नाप्नुम । यथर्तुगामिन

अन्यथा वेदनयान्वित—वेद ज्ञानसे सहित [पक्षमें वेदनासे सहित] प्रकृत ब्रह्मासे ऐसा अमन्द कान्ति सम्पन्न रूप कैसे बन सकता है । ॥ ६४ ॥ ऐसा जान पड़ता है कि विधाताने इसका सुन्दर शरीर बनानेके लिए मानो कनेरसे सुगन्धि, इक्षुसे फल और कस्तूरीसे मनोहर रूप ले लिया था, अथवा किससे क्या सारभूत गुण नहीं लिया था ॥ ६५ ॥ शरीर, अवस्था, वेष, विवेक, वचन, विलास, वंश, व्रत और वैभव आदिक सभी इसमें जिस प्रकार सुशोभित हो रहे हैं, उस प्रकार कहीं अन्यत्र पृथक्-पृथक् भी सुशोभित नहीं होते ॥ ६६ ॥ न ऐसी कोई देवाङ्गना, न नागकन्या और न चक्रवर्तीकी प्रिया ही हुई है, होगी अथवा है जिसके कि शरीरकी कान्तिके साथ हम इस सुव्रताकी अच्छी तरह तुलना कर सकें ॥ ६७ ॥ असार ससार रूपी मरुस्थलमें घूमनेसे खेद-खिन्न मनुष्योंके हृदय और नेत्र रूपी पक्षियोंको आनन्द देनेके लिए इस मृगनयनीका यह नवयौवन रूपी वृक्ष मानो अमृतके प्रवाहसे सींचा जाकर ही वृद्धिको प्राप्त हुआ है ॥ ६८ ॥ यद्यपि हम ऋतुकालके अनुसार गमन करते हैं फिर

१ अत्र तत्सबन्धेऽप्यसबन्धदर्शनादतिशयोक्तिरलकार । तुलना—अस्या सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रद शृङ्गारैकरस स्वय नु मदनो मासो नु पुष्पाकर । वेदाभ्यासजड कथ नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो निर्मातु प्रभवेन्मनोहरमिद रूप पुराणो मुनि ॥ (विक्रमोर्वशीयम्) । २ कर्णिकारकुसुमात् 'अथ द्रुमोत्पल । कर्णिकार परिव्याध ' इत्यमर । ३ उत्प्रेक्षा च । ४ सर्वथोपमानपदातीतेय सुन्दरीति भाव. । ५ रूपकालकार ।

सहस्रधा सत्यपि गोत्रजे जने सुतं विना कस्य मनः प्रसीदति ।
अपीद्धताराग्रहगर्भितं भवेदृते विधोर्व्योममलीमसं दिङ्मुखम् ॥ ७० ॥

न चन्दनेन्दीवरहारयष्टयो न चन्द्ररोचींषि न [1]वामृतच्छटा ।
सुताङ्गसंस्पर्शसुखस्य निस्तुलां कलामयन्ते खलु षोडशीमपि ॥ ७१ ॥

असावनालोक्य कुलाङ्कुरं मम स्वभोगयोग्याश्रयभङ्गशङ्किनी ।
विशोषयत्युच्छ्वसितैरसंशयं मदन्वयश्रीः करकेलिपङ्कजम् ॥ ७२ ॥

नभो दिनेशेन नयेन विक्रमो वनं मृगेन्द्रेण निशीथमिन्दुना ।
प्रतापलक्ष्मीबलकान्तिशालिना विना न पुत्रेण च भाति नः कुलम् ॥ ७३ ॥

ऋतोरनतिक्रमेण यथर्तुगामिनः चतुर्थदिवसस्नानतीर्थोपसेविनोऽपि । तेन चित्तमस्माकं व्यथते निरन्तरं सततम् । अनन्यसक्तावनिभारखिन्नवत् नान्यस्मिन् सक्तः संस्थितः स चासाववनिभारश्च तेन खिन्नः पीडितमिव । पुत्रं विना मय्येकस्मिन्नेव पृथ्वीभार इति भावः ॥ ६९ ॥ सहस्रधेति—सहस्रप्रकारे स्वजने विद्यमानेऽपि सुतं विना कस्य पितॄणामधमर्णभाजनस्य पुंसो मनः प्रसीदति तपोवनाय व्यवतिष्ठते न कस्यापीत्यर्थः । यथा चन्द्रं विना पूर्वदिग्भागः सान्धतमस एव स्यात् । इद्धताराग्रहगर्भितमपि इद्धा दीप्ताश्च ते तारा नक्षत्राणि ग्रहाः शुक्रादयश्च तैर्गर्भितं व्याप्तमपि । अत्र विधुसुतयोस्तारागोत्रजयोर्मनोदिङ्मुखयोश्चोपमानोपमेयभावः[2] ॥ ७० ॥ नेति—तनूजाङ्गसंश्लेषसुखस्यैते निश्छलाः सम्यक्प्रकाराः षोडशीं षोडशांशभक्तामपि कलां विभागविच्छित्तिं न प्राप्नुवन्ति । के ते । इत्याह—चन्दनचेन्दीवराणि च हारयष्टयश्च तास्तद्विधा, न केवलं तावच्चन्द्रपादाः, न केवलं ते, सुधासाराश्च[3] ॥ ७१ ॥ असाविति—असावनेकपर्यायागता ममान्वयलक्ष्मीः करक्रीडापद्मं म्लापयति । कैः । उच्छ्वसितैश्चिन्तादाहजनितोष्णनिःश्वासैः कुलाङ्कुरं कुलवर्धनोपायं तनूजमदृष्ट्वा । अतश्च हेतोः स्वभोगयोग्याश्रयभङ्गशङ्किनी आत्मविलासोचितनृपविनाशवितर्किका । आयुषः प्रतिक्षणविनाशत्वान्महासेनस्य पश्चान्मम योग्याश्रयो नास्तीति शोकातुरेव ॥ ७२ ॥ नभ इति—अस्माकं कुलं पुत्रेण विना न शोभते । किमिवेत्याह—नभस्थलमिव प्रतापादित्येन विना, यथा सलक्ष्मीको विक्रमो न्यायेन विना, यथा बलवता सिंहेन विनारण्यं, यथा नक्तं सकान्तिना चन्द्रेण विना । यथैते प्रतापादिना एकैकेन गुणेन तथा प्रभावप्रतापलक्ष्मीबलकान्तिशालिना सर्वगुणसमन्वितेन सुतेनेति । अन्वयप्रत्ययदीपकगर्भितोऽन्त्यक्रियादीपकोऽलंकारः ॥ ७३ ॥

भी इस सुव्रतासे नवयौवन रूपी वृक्षमें पुत्रनायक फलको नहीं प्राप्त कर रहे हैं, यही कारण है कि हमारा मन निरन्तर दुखी रहता है मानो उसे इस बातका खेद है कि यह पृथिवीका भार जीवन पर्यन्त मुझे ही धारण करना होगा ॥ ६९ ॥ हजारों कुटुम्बियोंके रहते हुए भी पुत्रके बिना किसका मन प्रसन्न होता है । भले ही आकाश देदीप्यमान ताराओं और ग्रहोंसे युक्त हो पर चन्द्रमाके बिना मलिन ही रहता है ॥ ७० ॥ पुत्रके शरीरके स्पर्शसे जो सुख होता है वह सर्वथा निरुपम है, पूर्णकी बात जाने दो उसके सोलहवें भागको भी न चन्द्रमा पा सकता है, न इन्दीवर पा सकते हैं, न मणियोंका हार पा सकता है, न चन्द्रमाकी किरणें पा सकती हैं और न अमृतकी छटा ही पा सकती है ॥ ७१ ॥ यह मेरे कुलकी लक्ष्मी कुलाङ्कुर-पुत्रको न देख कर अपने भोगके योग्य आश्रयके नाशकी शंका करती हुई निःसन्देह गरम-गरम आहोंसे अपने हाथके क्रीडाकमलको सुखाती रहती है ॥ ७२ ॥ जिस प्रकार सूर्यके बिना आकाश, नयके बिना पराक्रम, सिंहके बिना वन और चन्द्रमाके बिना रात्रिकी शोभा नहीं उसी प्रकार प्रताप, लक्ष्मी, बल और कान्तिसे शोभायमान पुत्रके बिना हमारा कुल

१ न चामृतच्छटा क० ख० ग० घ० म० च० छ० । २ अर्थान्तरन्यास । ३ सुतशरीरसमाश्लेषसमुद्भूत-सुखं सर्वथासदृशमेवास्तीति सारः ।

क्व यामि तत्कि नु करोमि दुष्कर सुरेश्वर वा कमुपैमि कामदम् ।
इतीष्टचिन्ताच्यचक्रचालित क्वचिन्न चेतोऽस्य बभूव निश्चलम् ॥ ७४ ॥

इत्थ चिन्तयतोऽथ तस्य नृपते स्फारीभवच्चक्षुषो
निर्वातस्तिमितारविन्दसरसी सौन्दर्यमुद्रामुप ।
कोऽप्युद्यत्पुलकाङ्कुर प्रमदजैः सिक्तश्च नेत्राम्बुभि-
र्बीजावाप इवाप वाञ्छिततरोरुद्यानपाल' सभाम्[1] ॥ ७५ ॥

अथ स दण्डधरेण निवेदितो विनयत प्रणिपत्य सभापतिम् ।
दुरितसविदनध्ययन सुधीरिति जगाद सुधास्नपिताक्षरम् ॥७६॥

राकाकामुकवद्दिगम्बरपथालकारभूतोऽधुना
बाह्योद्यानमवातरद् ग्रहपथा कश्चिन्मुनिश्चारण ।
यत्पादप्रणयोत्सवात्किमपरं पुष्पाङ्कुरच्छद्मना
वृक्षैरप्यनपेक्षितात्मसमयै' क्ष्मापाल रोमाञ्चितम् ॥७७॥

क्वेति—अस्य राज्ञश्चित्त क्वचिदपि निश्चलं न बभूव तनूजचिन्तोत्कलिका चक्रभ्रान्तम् । चिन्तास्वरूपमाह—क्व मनोरथप्राप्तिक्षेत्रे यामि । किं वा मणिमन्त्रादिक करोमि । सुरेश्वर देवाधिदेव कामद चिन्तितप्रद कमाश्रयामि । इति चिन्ताचक्रम् । अनिश्चितस्वरूपोऽयमलकार[2] ॥ ७४ ॥ इत्थमिति—तस्य नृपतेरित्थ व्याकुलचेतसो निर्निमेषचक्षुष । अतश्च ज्ञायते निर्वातेन वाताभावेन स्तिमिता निश्चला यारविन्दसरसी पद्ममहासरस्तस्य सौन्दर्यमुद्रा शोभामूर्तिस्ता मुष्णाति अनुकरोति तथाविधस्तस्य सभा ससद वनाधिकारी समाजगाम । अतश्च लक्ष्यते मनोरथतरोश्चिन्तितसिद्धेर्बीजावाप इव प्राप्तप्रवेश इव । अन्योऽपि य' प्ररोहोद्गमसमयो भवति सोऽप्यम्बुसेकात्साङ्कुर । उद्यत्पुलकाङ्कुर उद्यन्त उद्गच्छन्त पुलकाङ्कुरा रोमसूचयो यस्य स तथाविध हर्षाश्रुभि सिक्त[3] ॥ ७५ ॥ अथेति—अथ प्रतीहारप्रवेशितो नृप सविनय विज्ञपयाञ्चकार । सुधास्नपिताक्षर यथा भवति । किं तत् विज्ञपयाञ्चकार । दुरितसविदनध्ययन दुरित दु खमेव सवित् पाठिका तस्यानध्ययनं प्रतिषेधक चिन्तादु.खनिराकरणम्[4] ॥ ७६ ॥ राकेति—हे भूपतेऽधुना बाह्योद्यान नभस्तलात् कश्चिन्मुनिश्चारण खेचरर्द्धियुक्तोऽवातरत् । अलचकार राकाकामुक इव चन्द्र इव [5]श्रमणमार्गधुराधरण पक्षे दिशश्चाम्बरञ्च तेषा पन्थास्तदलकारभूत । तस्याद्भुतप्रभावमाह—अपर सचेतसा किमुच्यते वृक्षैरचेतनै-

सुशोभित नहीं होता ॥ ७३ ॥ कहाँ जाऊँ, कौन-सा कठिन कार्य करूँ, अथवा मनोरथको पूर्ण करनेवाले किस देवेन्द्रकी शरण गहूँ,—इस प्रकार इष्ट पदार्थविषयक चिन्तासमूह रूपी चक्रसे चलाया हुआ राजाका मन किसी भी जगह निश्चल नहीं हो रहा था ॥ ७४ ॥ इस प्रकार चिन्ता करते हुए राजाके नेत्र खुले हुए थे और उनसे वह वायुके अभावमें जिसके कमल निश्चल हो गये हैं उस सरोवरकी शोभाका अपहरण कर रहे थे। उसी समय एक वनपाल राजाकी सभामे आया। हर्षके अश्रुओंसे वनपालका शरीर भींग रहा था तथा उठते हुए रोमांचोंसे सुशोभित था इससे ऐसा जान पडता था मानो राजाके मनोरथ रूप वृक्षका बीजावाप ही हुआ हो—बीज ही बोया गया हो ॥७५॥ द्वारपालने वनपालके आनेकी राजाको खबर दी, अनन्तर बुद्धिमान् वनपालने राजाको विनयपूर्वक प्रणाम कर पापको नष्ट करने वाले निम्नलिखित वचन कहे—उसके वह वचन इतने मधुर थे मानो उनका प्रत्येक अक्षर अमृतसे नहलाया गया हो ॥७६॥ हे राजन् ! पूर्ण चन्द्रकी तरह दिगम्बर पथके [पक्षमें

१. स तम् घ० म० । २ अनुप्रासालकार । ३ रूपकोत्प्रेक्षे,शार्दूलविक्रीडित छन्द 'सूर्याश्वैर्मसजास्तत सगुरव शार्दूलविक्रीडितम्' इति लक्षणात् । ४ द्रुतविलम्बितवृत्तम् 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात् । ५ दिश काष्ठा एवाम्बर वस्त्र येषा ते दिगम्बरा निर्ग्रन्थश्रमणास्तेषा पन्था आचारमार्गस्तस्यालकारभूत ।

क्रीडाशैलप्रस्थपद्मासनस्थस्तत्त्वाभ्यासैः स प्रचेता इतीदम् ।
नामाख्यातं पार्श्ववर्ति[1]प्रतीन्द्रैः कुर्वन्नास्ते तत्र ससूत्रितार्थम्[2] ॥७८॥

इत्याकस्मिकविस्मया कलयतस्तस्मात्क्लमच्छेदिनी
ज्योत्स्नावद्यति यामिनीशविषया वार्तामवार्तोत्सवाम् ।
दृग्भ्यामिन्दुमणीयितं करयुगेनाम्भोजलीलायितं
पारावारजलायितं च परमानन्देन राज्ञस्तदा ॥७९॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये
राजराज्ञीवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः ॥२॥

रपि रोमाञ्चिताः पुलकिताः यत्पादप्रणयोत्सवात् यस्य पादाः यत्पादास्तेषु प्रणयः स्नेहभरस्तस्मात्, कलिकाकदम्बव्याजेनानपेक्षिता आत्मपुष्पसमया यैस्ते तथाविधास्तैः । तत्प्रभावादकालेऽपि पुष्पिता इति भावः[3] ॥ ७७ ॥ क्रीडेति—स प्रचेता इति स्वकीयं नाम ससूत्रितार्थं निश्चितार्थं सार्थकमिति यावत् कुर्वन्नास्ते । क्रीडाशैलस्य प्रस्थः शृङ्गं तत्र पद्मासनेन तिष्ठतीति स तथाविधः । अन्योन्योरुप्रच्छादिताङ्घ्रिद्वयं पद्मासनं, तत्त्वाभ्यासैरात्मस्वरूपावलोकितैः, आख्यातं पौनःपुन्येनोच्चारितं पार्श्ववर्तिप्रतीन्द्रैः स्तुतिपरसुरेन्द्रैः[4] ॥ ७८ ॥ इतीति—इति पूर्वोक्तप्रकारेण यतिचन्द्रसवद्धा किंवदन्ती कलयतः आकर्णयतस्तस्माद्वनपालात् क्लमच्छेदिनी चिन्तादाहविनाशिनी चन्द्रिकामिवाकस्मिकविस्मयाम् असभाव्यमहोत्सवामवार्तोत्सवां सत्यस्वरूपाम् । किं किमभूदित्याह—नयनाभ्यां चन्द्रकान्तायितं हर्षाश्रुवृष्टेराधिक्यं, करयुगेन पद्मकोशायितं प्रणामाञ्जलिर्बद्ध इत्यर्थः, समुद्रजलायितं महाहर्षेण । अथ च यथा राज्ञश्चन्द्रस्य ज्योत्स्ना कलयतः इन्दुमणयो वर्षन्ति, अम्भोजानि सकुचन्ति, समुद्रजलानि चोद्भ्राम्यन्तीति भावः[5] ॥ ७९ ॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयशःकीर्तिविरचितायां सन्देहध्वान्तादित्यदीधित्यां धर्मशर्माभ्युदयटीकायां द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

दिशा और आकाशमार्गके] अलंकारभूत कोई चारणऋद्धिधारी मुनि अभी-अभी आकाशसे बाह्य उद्यानमें अवतीर्ण हुए हैं, उनके चरणोंके स्नेहोत्सवसे औरकी क्या कहें वृक्ष भी अपना-अपना समय छोड़ कर पुष्प और अंकुरोंके बहाने रोमांचित हो उठे हैं ॥७७॥ वे मुनिराज क्रीडाचलके शिखर पर पद्मासनसे विराजमान हैं और तत्त्वाभ्याससे स्तुतिमें तत्पर देवेन्द्रों अथवा निकटवर्ती मुनियोंके द्वारा बतलाये हुए 'प्रचेता' नामको सार्थक कर रहे हैं ॥७८॥ इस प्रकार वनपालके मुखसे अचानक आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली, सन्ताप दूर करने वाली, और अमन्द आनन्दसे भरपूर यतिचन्द्रविषयक वार्ता सुनकर राजाके नेत्र चन्द्रकान्त मणिकी तरह हर्षाश्रु छोडने लगे, हस्त युगल कमलकी तरह निमीलित हो गये और परम आनन्द समुद्रके जलकी तरह बढने लगा ॥७९॥

इस प्रकार महाकवि श्री हरिचन्द्र विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें
राजा और रानीका वर्णन करने वाला दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥२॥

---

१ व्रतीन्द्रैः ख० ग० घ० च० छ० ज० । २. ससूचितार्थम् च० छ० ज० । ३ यत्पादप्रणयोत्सवाद् वृक्षा अपि रोमाञ्चिताः का वार्ता मनुष्याणामिति भावः । अर्थापत्तिरलंकारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । ४ शालिनीच्छन्दः 'शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः' इति लक्षणात् । ५ रूपकोपमा, शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः ।

तृतीयः सर्गः

अथोत्थाय नृप' पीठाद्भानु पूर्वाचलादिव । साधो प्रचेतसस्तस्य दिश प्राप्य ननाम स' ॥१॥
स तस्मै वनपालाय ददौ तोषतरो फलम् । मनोरथ लताबीजप्राभृतस्येव निष्क्रयम् ॥२॥
आज्ञामिव पुरि क्लेशनिर्वासनेपटीयसीम् । मुनीन्द्रवन्दनारम्भभेरी प्रादापयन्नृपः ॥३॥
व्यानशे ककुभस्तस्या [2]कादम्बिन्या इव ध्वनि । उत्कयन्निर्भरानन्दमेदुरान्पौरकेकिन. ॥४॥
चन्दनस्थासकैर्हास्य लास्यमप्युल्लसद्ध्वजै । पुष्पोत्करैश्च रोमाञ्च पुरमप्याददे तदा ॥५॥
अमान्त इव हर्म्येभ्यस्तदागमनसमदात् । पौरा प्रथितनेपथ्या स्वेभ्य स्वेभ्यो विनिर्ययु ॥६॥

अथेति—अथोद्यानपालनिवेदितमुनिवार्तानन्तर स राजा सिंहासनादुत्थाय तस्य प्रचेतस इति नामधेयस्य यतेर्दिश प्राप्य तद्दिग्भागाभिमुखो भूत्वा नमश्चकार। यथा भानु पूर्वाचलादुदेत्य प्रचेतसो वरुणस्य दिश व्याप्य नम्रो भवति[3] ॥ १ ॥ स इति—स राजा तस्मै प्रमोदवार्ताकथकाय तोषतरो फलं पारितोपिकमदात् । निष्क्रय प्रतिपण्यमिव । कस्येत्याह—मनोरथलताबीजप्राभृतस्य चिन्तितसिद्धिबीजोपदाया[4] ॥ २ ॥ आज्ञामिति—पुरि नगर्यां मुनीन्द्रवन्दनारम्भदुन्दुभि राजा अवीवदत् । अतश्च ज्ञायते दु खनिष्कासनसमर्थामाज्ञामिव[5] ॥ ३ ॥ व्यानश इति—तस्या ध्वनिर्गम्भीरनाद ककुभो दिशो व्यानशे जगृहे । कादम्बिन्या मेघसहतेरिव पुरे मयूरान् सभ्रमयन् अचिन्त्यप्रमोदपुष्टान्[6] ॥ ४ ॥ चन्दनेति—तदा नगरमपि रोमाञ्च बभार । कै सर्वत्र विक्षिप्तपुष्पप्रकरै, न केवल तत्, हास्यमपि चन्दनस्थासकै श्रीखण्डमण्डलहस्तकै, न केवल तल्लास्यमपि नृत्यमपि उल्लसद्ध्वजैरुत्तम्यमानगगनोहिताभि ॥ ५ ॥ अमान्त इति—पौरा निजनिजगृहेभ्यो निश्चक्रमु । अतश्च ज्ञायते—अमान्त इव तदागमनसमदात् मुनिवार्ताकर्णनरोमाञ्चातिशयपुष्टि-

जिस प्रकार सूर्य उदयाचलसे उठकर प्रचेतस्—वरुणकी दिशा [पश्चिम] मे जा कर नम्रीभूत हो जाता है उसी प्रकार राजा महासेन समाचार सुनते ही सिंहासनसे उठा और प्रचेतस् मुनिराजकी दिशामे जाकर नम्रीभूत हो गया—मुनिराजको उसने नमस्कार किया ॥१॥ राजाने वनपालके लिए सन्तोषरूपी वृक्षका फल—पारितोपिक दिया था जो ऐसा जान पड़ता था मानो मनोरथ रूप लताके बीजोपहारका मूल्य ही दिया हो ॥२॥ राजाने समस्त नगरमे क्लेश दूर करनेमे समर्थ अपनी आज्ञाके समान मुनिवन्दनाको प्रारम्भ करने वाली भेरी बजवायी ॥३॥ मेघमालाके शब्दके समान उस भेरीका शब्द आनन्दसे भरे हुए नगरवासी रूपी मयूरोंको उत्कण्ठित करता हुआ दिशाओंमे व्याप्त हो गया ॥४॥ उस समय वह नगर भी चन्दनके छिडकावसे ऐसा जान पडता था मानो हँस रहा हो, फहराती हुई ध्वजाओंसे ऐसा लगता था मानो नृत्य कर रहा हो और फूलोंके समूहसे ऐसा विदित होता था मानो रोमाचित हो रहा हो ॥५॥ नगर निवासी लोग अच्छी-अच्छी वेषभूषा धारण कर अपने-अपने घरोंसे बाहर निकलने लगे मानो मुनिराजके आगमनजनित आनन्दसे इतने

१ निष्कासन—घ० म० । २ 'कादम्बिनी मेघमाला' इत्यमर । ३ उपमालकार । ४ रूपकोत्प्रेक्षे ।
५ भेरीध्वनिमिषेण नगरवासिना मुनीन्द्रवन्दनारम्भस्याज्ञा ददाविति भाव । ६ रूपकोपमे ।

बहिस्तोरणमागत्य रथाश्वेभनिपादिन. । दूता इवार्थसंसिद्धेस्तमुदैक्षन्त पार्थिवाः ॥७॥
दिगम्बरपदप्रान्त राजापि सह कान्तया । प्रतस्थे रथमास्थाय प्रभया भानुमानिव ॥८॥
नृपाः सचारिण सर्वे तमाविष्कृतसात्त्विकम् । मुनीन्द्रभावनारूढ रस भावा इवान्वयु ॥९॥
सज्जालकानसौ तत्र मत्तवारणराजितान् । गृहानिव नृपान्प्रेक्ष्य पिप्रिये प्रान्तवर्तिन ॥१०॥
प्रागेव जग्मुरुद्यान सेवाक्षणविचक्षणा । फलपुष्पाहरास्तस्य मूर्तिमन्त इवर्तवः ॥११॥
परस्पराङ्गसंघट्टभ्रष्टहारावचूलकैः । [2]पुरि दु सचरो मार्गो मार्गः पाशैरिवाभवत् ॥१२॥
दृष्ट्या कुवलयस्यापि जेता दर्शितनिग्रह । नेत्रोत्सवाय नारीणा नारीणा सोऽभवन्नृप ॥१३॥

योगात् प्रथितनेपथ्या विस्तारितालङ्कृतय [3] ॥ ६ ॥ बहिरिति—भूपतय सिंहद्वारतोरणमुपसृत्य त चक्रवर्तिनमुदैक्षन्त प्रतिपालयामासु । रथाश्चाश्वाश्च, इभा गजाश्च तेषु निषीदन्ति आरोहन्तीत्येवशीला । अतश्च ज्ञायते—मनोरथप्राप्तेर्दूता इव स्वयमेव मनोरथसिद्ध्याहूता इव प्रेषिता [4] ॥ ७ ॥ दिगम्बरेति—राजा स्यन्दनमारुह्य पत्न्या सार्धं मुनिचरणसमीप प्रचचाल । यथा स्यन्दनस्थो भानुमानादित्य प्रभया दीप्त्या सह दिगम्बरपदप्रान्तमस्ताचल श्रयति [5] ॥ ८ ॥ नृपा इति—सर्वे नृपा राजानमनुययु परिवव्रु आविष्कृतसात्त्विकं प्रकाशितप्रताप मुनीन्द्रभावनारूढ मुनीन्द्रे भावना भक्तिभावाविषय तत्राधिरूढ स्थित यथा सचारिणो भावा भावनाधिरूढ जीवकलाश्रित रस नित्यभावम् आविष्कृतसात्त्विक प्रकटितगुणविशेषमनुगच्छन्ति ॥ ९ ॥ सज्जेति—स राजा समीपपरिवारस्थान् नृपान् दृष्ट्वा तुतोष । सज्जालकानियन्त्रितकवरीकलापान् गन्धगजाधिरूढान् पक्षे सत् प्रशस्यानि जालकानि येषा तास्तथाविधान् गृहान् गवाक्षयुक्तान् ॥ १० ॥ प्रागेवेति—अस्य फलपुष्पाहरा मालिकादय प्रथममेव मुनिसमीप ययु । सेवाक्षणविचक्षणा यथोचितसेवावसरवस्तुज्ञा । अतश्च ज्ञायते—गृहीतदेहा वसन्तसमया इव सभूय वन जगाहिरे जिनजनकसेवनाय इति ॥ ११ ॥ परस्परेति—तदा तस्या पुरि दु खसचार पन्था बभूव । कैरित्याह—परस्पराङ्गेन सघट्टोऽतिसश्लेषविशेषस्तेन भ्रष्टास्त्रुटिता हारावचूला मुक्ताकलापास्तैस्तथाविधै. । यथा मृगाणामय मार्ग पन्था वागुराजालैर्दु सचारो भवति [6] ॥ १२ ॥ दृष्ट्येति—स नृपस्तदा गच्छन् नारीणा स्त्रीणा नेत्रनिर्मितिसाफल्याय बभूव दर्शित-

अधिक पीन हो गये कि घरोंमें समा ही न सकते हो ॥६॥ जिस प्रकार दूत कार्यसिद्धिकी प्रतीक्षा करते हैं, उसी प्रकार रथ घोड़े और हाथियों पर बैठनेवाले सामन्त गण बाह्य तोरण तक आकर राजाकी प्रतीक्षा करने लगे ॥७॥ जिस प्रकार सूर्य प्रभाके साथ रथ पर आरूढ हो अस्ताचलकी ओर प्रस्थान करता है उसी प्रकार राजा भी अपनी प्रियाके साथ रथ पर आरूढ होकर दिगम्बर मुनिराजके चरणोंके समीप चला ॥८॥ जिस प्रकार समस्त संचारी भाव, स्तम्भ आदि सात्त्विक भावको प्रकट करनेवाले श‍ृङ्गारादि रसोंका अनुगमन करते हैं उसी प्रकार समस्त पुरवासी मुनिराजकी भक्ति भावनासे युक्त राजाका अनुगमन करने लगे ॥९॥ चलते समय वह राजा निकटवर्ती घरोंके समान राजाओंको देखकर बहुत ही प्रसन्न हुआ क्योंकि जिस प्रकार घर सज्जालक थे—उत्तम झरोखोसे युक्त थे उसी प्रकार राजा सुसज्जित अलकयुक्त थे और जिस प्रकार घर मत्तवारण राजित—उत्तम छपरियोंसे सुशोभित थे उसी प्रकार राजा भी मत्तवारण राजित मदोन्मत्त हाथियोंसे सुशोभित थे ॥१०॥ सेवाका अवसर जाननेमें निपुण सेवक मूर्तिमान् ऋतुओंकी तरह फल और फूल लेकर पहले ही उपवनमे जा पहुँचे थे ॥११॥ जिस प्रकार मृगोंका मार्ग पाशों—बन्धनोंसे दुर्गम हो जाता है उसी प्रकार नगरके उद्यानका मार्ग परस्पर शरीरके संघट्टनसे टूट-टूट कर गिरे हुए हारोंसे दुर्गम हो गया था ॥१२॥ नेत्रोंकी शोभासे कुवलय—नील कमलको जीतनेवाला सुन्दर शरीरसम्पन्न वह राजा स्त्रियोंके नेत्रोत्सवके

१. वन्दनारूढं ड० च०, वहनारूढ घ० म० । २ पथि म० छ० । ३. उत्प्रेक्षा । ४. उपमा । ५ उपमा । ६ यमकोपमे ।

सोऽङ्गलावण्यसक्रान्तपौरनारीनरेक्षणः। गन्धर्वैरावृत' साक्षात्सहस्राक्ष इवाबभौ ॥१४॥
बभुस्तस्य मुखाम्भोजपर्यन्तभ्रान्तषट्पदा । अन्तर्मुनीन्दुसधानान्निर्यद्ध्वान्तलवा[1] इव ॥१५॥
बिभ्रत्सविभ्रमश्चारुतिलकामलकावलिम् । उल्लसत्पत्रवल्लीको दीर्घनेत्रधृताञ्जन' ॥१६॥
युक्तोऽप्युत्तालपुन्नागैं सालसगममादधत् । कामाराम इवारामपौररामाजनो ययौ ॥१७॥
[युग्मने सवन्ध]

विग्रह[2] अलकृतशरीर । दृष्ट्वा नेत्रेण नीलोत्पलस्यापि जेता नारीणां न शत्रूणामुत्सवाय सुखालोकाय बभूव यतोऽसौ दर्शितविग्रह प्रदीप्तप्रताप । दृष्ट्वा भ्रूक्षेपेण कुवलयस्यापि भूवलयस्यापि जेता । अरय समुख द्रष्टुमशक्ता इत्यर्थ[3] ॥ १३ ॥ सोऽङ्गेति—स गन्धर्वैरश्वैरावृत सहस्राक्षो दशशताक्ष इवाबभौ मूर्तिमान् रराज । किंविशिष्ट सन्नित्याह—अङ्गलावण्ये शरीरप्रभाया सक्रान्तानि प्रतिबिम्बितानि पौर-नारीनरेक्षणानि यस्य स तथाविध पक्षे गन्धर्वा देवविशेषा[4] ॥ १४ ॥ बभुरिति—तस्य मुखपद्मसौरभेण पर्यन्ते भ्रमन्तो भ्रमरा रेजिरे निर्यद्ध्वान्तलवा इव निर्गलत्कल्मषलेशा इव । कुत इत्याह—अन्तर्मुनीन्दुसधानान्मध्ये यतिचन्द्र-धारणात् । चन्द्रावष्टब्धत्व तमसा मुच्यत इति भाव ॥ १५ ॥ बिभ्रदिति—पौराङ्गनाजनो मुनिवन्दनाय वन जगाम मकरध्वजाराम इव । श्लेषेणारामधर्मानारोपयन्नाह—बिभ्रत् धारयन् चारुतिलकामलकावलिं चारु-तिलक चित्रकविशेष तस्यामलको निर्मला आवलि श्रेणी ताम् । कीदृग्भूत । सविभ्रम सविलास पक्षे वीना पक्षिणा भ्रमो यत्र स तद्विध । पक्षे चारवस्तिलका आमलका इति नामानो वृक्षास्तेषामावलिस्ताम् । उल्लसत्पत्रवल्लीक कृतकस्तूरीमकरिकामण्डनभङ्गविशेष तारनिवेशिताञ्जन पक्षे उल्लसत्पत्रैरुपलक्षिता वल्ल्यो यत्र स तथाभूत । दीर्घनेत्रै[5] सरलमूलैर्धृता अञ्जना[6] वृक्षा यत्र स तथाविध । युक्तोऽप्यधिष्ठितोऽपि उत्तालपुन्नागै[7] श्चाटुचटुलपुरुषप्रधानै सालस सलील गम गमनमुद्वहन् पक्षे उच्चैस्तरपुन्नागा वृक्षविशेषा सालस्य

लिए हुआ था परन्तु दृष्टिमात्रसे भूमण्डलको जीतने वाला तथा युद्ध दिखलाने वाला वह राजा शत्रुओंके नेत्रोत्सवके लिए नहीं हुआ था—उसे देखकर स्त्रियाँ आनन्दित होती थीं और शत्रु डरते थे ॥१३॥ उस राजाके शरीरके सौन्दर्यमें नगरनिवासी स्त्री-पुरुषोंके नेत्र प्रतिबिम्बित हो रहे थे और पास ही अनेक गन्धर्व—अश्व थे अतः वह गन्धर्वों—देव-विशेषोंसे घिरे हुए हजार नेत्रों वाले इन्द्रकी तरह सुशोभित हो रहा था ॥१४॥ उस राजाके मुख कमलके समीप जो भौंरे मँडरा रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो अन्तरंगमे मुनि रूपी चन्द्रमाके संविधानसे बाहर निकलते हुए अन्धकारके टुकड़े ही हों ॥१५॥ उस समय जो नगरनिवासी स्त्रियाँ उपवनको जा रही थीं, वे कामोपवनकी तरह सुशोभित हो रही थीं क्योंकि जिस प्रकार स्त्रियाँ सविभ्रम थीं—हाव-भाव विलाससे सहित थीं उसी प्रकार कामोपवन भी सविभ्रम था—पक्षियोंके संचारसे सहित था, जिस प्रकार स्त्रियाँ चारु-तिलकाम् अलकावलिं बिभ्रत्—सुन्दर तिलक और अलकावलीको धारण किये थीं, उसी प्रकार कामोपवन सुन्दर तिलक और आँवलोंके वृक्षोंका समूह धारण कर रहा था, जिस प्रकार स्त्रियाँ उल्लसत्पत्रवल्लीक—केशर कस्तूरी आदिसे बनी हुई पत्र युक्त लताओंके चिह्नोंसे सहित थीं, उसी प्रकार कामोपवन भी पल्लवित लताओंसे सहित था, जिस प्रकार स्त्रियाँ दीर्घनेत्रधृताञ्जन—बड़ी-बड़ी आँखोंमे अञ्जन धारण करती थीं, उसी प्रकार कामोपवन भी बड़ी-बड़ी जड़ोंसे अञ्जन वृक्ष धारण कर रहा था, जिस प्रकार स्त्रियाँ उत्ताल पुंनागों—उत्कृष्ट पुरुषोंसे युक्त थीं, उसी प्रकार कामोपवन भी ऊँचे-ऊँचे ताड़ तथा नागके-

१. रूपकोत्प्रेक्षे। २ 'कामसग्रामविस्तारप्रविभागेषु विग्रह' इति विश्वलोचन । 'शरीर वर्ष्म विग्रह' इत्यमर । ३ काव्यलिङ्गश्लेषयमकाना ससृष्टि । ४ श्लिष्टोपमा । ५ 'नेत्र मथि गुणे वस्त्रभेदे मूले द्रुमस्य च । रथे चक्षुषि नद्या च' इति मेदिनी । ६ 'अञ्जन कज्जले चाक्तौ सौवीरे च रसाञ्जने' इति मेदिनी । ७ 'पुनाग पुरुषश्रेष्ठे वृक्षभेदे सितोत्पले' इति विश्वलोचन ।

बहिस्तोरणमागत्य रथाश्वेभनिपादिन. । दूता इवार्थसंसिद्धेस्तमुदैक्षन्त पार्थिवा: ॥७॥
दिगम्बरपदप्रान्त राजापि सह कान्तया । प्रतस्थे रथमास्थाय प्रभया भानुमानिव ॥८॥
नृपाः सचारिण' सर्वे तमाविष्कृतसात्त्विकम् । मुनीन्द्रभावनारूढ रस भावा इवान्वयु: ॥९॥
सज्जालकानसौ तत्र मत्तवारणराजितान् । गृहानिव नृपान्प्रेक्ष्य पिप्रिये प्रान्तवर्तिन ॥१०॥
प्रागेव जग्मुरुद्यान सेवाक्षणविचक्षणा. । फलपुष्पाहरास्तस्य मूर्तिमन्त इवर्तव: ॥११॥
परस्पराङ्गसंघट्टभ्रष्टहारावचूलकैः । [2]पुरि दु सचरो मार्गो मार्गः पाशैरिवाभवत् ॥१२॥
दृष्ट्या कुवलयस्यापि जेता दर्शितनिग्रह । नेत्रोत्सवाय नारीणा नारीणा सोऽभवन्नृप ॥१३॥

योगात् प्रथितनेपथ्या विस्तारितालकृतय [3] ॥ ६ ॥ बहिरिति—भूपतय सिंहद्वारतोरणमुपसृत्य त चक्रवर्तिनमुदैक्षन्त प्रतिपालयामासु । रथाश्चाश्वाश्च, इभा गजाश्च तेपु निपीदन्ति आरोहन्तीत्येवशीला । अतश्च ज्ञायते—मनोरथप्राप्तेर्दूता इव स्वयमेव मनोरथसिद्धयाहूता इव प्रेपिता [4] ॥ ७ ॥ दिगम्बरेति—राजा स्यन्दनमारुह्य पत्न्या सार्धं मुनिचरणसमीप प्रचचाल । यथा स्यन्दनस्थो भानुमानादित्य प्रभया दीप्त्या सह दिगम्बरपदप्रान्तमस्ताचल श्रयति [5] ॥ ८ ॥ नृपा इति—सर्वे नृपा राजानमनुययु परिवव्रु आविष्कृतसात्त्विक प्रकाशितप्रताप मुनीन्द्रभावनारूढ मुनीन्द्रे भावना भक्तिभावाधिक्य तत्राधिरूढ स्थित यथा सचारिणो भावा भावनाधिरूढ जीवकलाश्रित रस नित्यभावम् आविष्कृतसात्त्विक प्रकटितगुणविशेपमनुगच्छन्ति ॥ ९ ॥ सज्जेति—स राजा समीपपरिवारस्थान् नृपान् दृष्ट्वा तुतोप । सज्जालकान्नियन्त्रितकवरीकलापान् गन्धगजाधिरूढान् पक्षे सत् प्रशस्यानि जालकानि येषा तास्तथाविधान् गृहान् गवाक्षयुक्तान् ॥ १० ॥ प्रागेवेति—अस्य फलपुष्पाहरा मालिकादय प्रथममेव मुनिसमीप ययु । सेवाक्षणविचक्षणा यथोचितसेवावसरवस्तुज्ञा । अतश्च ज्ञायते—गृहीतदेहा वसन्तसमया इव सभूय वन जगाहिरे जिनजनकसेवनाय इति ॥ ११ ॥ परस्परेति—तदा तस्या पुरि दु खसचार पन्था बभूव । कैरित्याह—परस्पराङ्गेन सघट्टोऽतिसश्लेषविशेषस्तेन भ्रष्टास्त्रुटिता हारावचूला मुक्ताकलापास्तैस्तथाविधै. । यथा मृगाणामय मार्ग पन्था वागुराजालैर्दु सचारो भवति [6] ॥ १२ ॥ दृष्ट्येति—स नृपस्तदा गच्छन् नारीणा स्त्रीणा नेत्रनिर्मितिसाफल्याय बभूव दर्शित-

अधिक पीन हो गये कि घरोंमें समा ही न सकते हों ॥६॥ जिस प्रकार दूत कार्यसिद्धिकी प्रतीक्षा करते हैं, उसी प्रकार रथ घोड़े और हाथियों पर बैठनेवाले सामन्त गण बाह्य तोरण तक आकर राजाकी प्रतीक्षा करने लगे ॥७॥ जिस प्रकार सूर्य प्रभाके साथ रथ पर आरूढ हो अस्ताचलकी ओर प्रस्थान करता है उसी प्रकार राजा भी अपनी प्रियाके साथ रथ पर आरूढ होकर दिगम्बर मुनिराजके चरणोंके समीप चला ॥८॥ जिस प्रकार समस्त संचारी भाव, स्तम्भ आदि सात्त्विक भावको प्रकट करनेवाले शृङ्गारादि रसोंका अनुगमन करते हैं उसी प्रकार समस्त पुरवासी मुनिराजकी भक्ति भावनासे युक्त राजाका अनुगमन करने लगे ॥९॥ चलते समय वह राजा निकटवर्ती घरोंके समान राजाओंको देखकर बहुत ही प्रसन्न हुआ क्योंकि जिस प्रकार घर सज्जालक थे—उत्तम झरोखोंसे युक्त थे उसी प्रकार राजा सुसज्जित अलकयुक्त थे और जिस प्रकार घर मत्तवारण राजित—उत्तम छपरियोंसे सुशोभित थे उसी प्रकार राजा भी मत्तवारण राजित मदोन्मत्त हाथियोंसे सुशोभित थे ॥१०॥ सेवाका अवसर जाननेमें निपुण सेवक मूर्तिमान् ऋतुओंकी तरह फल और फूल लेकर पहले ही उपवनमें जा पहुँचे थे ॥११॥ जिस प्रकार मृगोंका मार्ग पाशों—बन्धनोंसे दुर्गम हो जाता है उसी प्रकार नगरके उद्यानका मार्ग परस्पर शरीरके संघट्टनसे टूट-टूट कर गिरे हुए हारोंसे दुर्गम हो गया था ॥१२॥ नेत्रोंकी शोभासे कुवलय—नील कमलको जीतनेवाला सुन्दर शरीरसम्पन्न वह राजा स्त्रियोंके नेत्रोत्सवके

१ वन्दनारूढ ङ० च०, वहनारूढ घ० म० । २ पथि म० छ० । ३. उत्प्रेक्षा । ४ उपमा । ५ उपमा । ६. यमकोपमे ।

अनेकविटपस्पृष्टपयोधरतटा स्वयम् । वदत्युद्यानमालेयमकुलीनत्वमात्मनः ॥२४॥
उल्लसत्केसरो रक्तपलाशः कुञ्जराजित. । कण्ठीरव इवाराम क न व्याकुलयत्यसौ ॥२५॥
सैन्यकोलाहलोत्तिष्ठद्विहङ्गावलयो द्रुमा । अस्मदागमनोत्क्षिप्तपताका इव भान्त्यमी ॥२६॥
सञ्चरच्चञ्चरीकाणा धोरणिस्तोरणस्रजम् । विडम्बयति कान्तारे हरिन्मणिमयीमियम् ॥२७॥
पल्लवव्यापृतास्याना सूरस्यन्दनवाजिनाम् । फेनलेशा इवाभान्ति द्रुमाग्रकुसुमोत्करा ॥२८॥
त्वङ्गत्तुङ्गतुरङ्गोर्मेस्तीरग सैन्यवारिधे । पुञ्जिताबालशेवालशोभामभ्येति काननम् ॥२९॥
उत्क्षिप्तसहकाराग्रमञ्जरीरुक्मदण्डिक । उत्सार्यल्लवङ्गैलालेम्बिकपूरचम्पकान् ॥३०॥

भिप्रायो यस्मात्स तथाविध । बहुवचननिर्वाह ॥ २३ ॥ अनेकेति—इयमुद्यानपङ्क्ति स्वस्याकुलीनत्वमन्तरिक्षत्व वदति । किंविशिष्टा सतीत्याह—अनेकैर्विटपै शाखाभि स्पृष्टा सश्लिष्टा पयोधराणा मेघाना तटा यया सा तथाविधा । अथ यथा काचित्स्वयमात्मचरितैरेव स्वस्या असतीत्व प्रतिपादयति अनेकखिङ्गाधिपस्पृष्टस्तना ॥ २४ ॥ उल्लसदिति—असावाराम क नाकुलीकरोति सिंह इव उल्लसत्केसर उन्मीलद्बकुलकलिक, रक्तपलाश पुष्पितकिंशुक कुञ्जराजित लतागृहशोभित पक्षे उद्घुषितसटाकलाप रक्त च पल मास चाश्नातीति तथाविध । कुत । हस्तियुद्धात् । यदि वा कुञ्जरैरजित[2] ॥ २५ ॥ सैन्येति - अमी द्रुमा भान्ति बलतुमुलोदञ्चत्पक्षिपङ्क्तय । अतश्चोत्प्रेक्ष्यन्ते—अस्मदागमने उत्तम्भिता पताका यैस्ते तथाविधा[3] ॥ २६ ॥ सञ्चरदिति—अस्मिन्वने भ्रमद्भ्रमराणा श्रेणी वन्दनमालामनुकरोति इन्द्रनीलगुलिकामयीम्[4] ॥२७॥ पल्लवेति—वृक्षाग्रे पुष्पस्तवका प्रतिभान्ति रविरथ्याना मुखडिण्डीरपिण्डा इव । कथ तत्र सूराश्वाना मुखफेनसभव । पल्लवव्यापृतास्याना पल्लवखादनाय व्यापृत लम्पट मुख येषा ते तथाविधास्तेषाम्[5] ॥ २८ ॥ त्वङ्गदिति—सैन्यसमुद्रस्य समीपस्थ कानन पुञ्जितबृहज्जम्बालतुलामुपयाति । त्वङ्गत्तुङ्गतुरङ्गोर्मे त्वङ्गन्तो वल्गन्तस्तुङ्गा उच्चास्तुरङ्गा एवोर्मय कल्लोला यस्य तथाविधस्य । [6]वन नेदीयो बभूवेत्यर्थ ॥ २९ ॥ उत्क्षिप्तेति—हे मृगाक्षि, अस्माकमसौ मरुद् वायु समीपमभ्येति । वननृपतेर्वेत्री प्रतीहार इव । सादृश्य

जिसमे प्रकट होते हुए वसन्तके कारण अभिप्राय विवश हो रहा है ऐसा कामके उन्मादसे किया हुआ वह स्त्री-सम्भोगका शब्द भी हमारी प्रीतिके लिए है ॥२३॥ अनेक डालियोंसे मेघोंके तटका स्पर्श करनेवाली यह उद्यानमाला अपनी अकुलीनता—ऊँचाईको स्वयं कह रही है। अनेक गुण्डे जिसके स्तनतटका स्पर्श कर रहे हैं ऐसी स्त्री अपनी अकुलीनता—नीचताको स्वयं कह रही है ॥२४॥ जिसके गरदन परके बाल हवासे उड रहे हैं, जो खून और मास खाता है तथा हाथियोंसे कभी भी पराजित नहीं होता ऐसा सिंह जिस प्रकार सबको व्याकुल कर देता है उसी प्रकार जिसमे बकुलके वृक्ष सुशोभित है, जिसमे टेसूके लाल-लाल फूल फूल रहे हैं और जो निकुञ्जोंसे विराजित हैं ऐसा यह वन किसे नहीं व्याकुल करता ? अर्थात् सभीको कामसे व्याकुल बना देता है ॥२५॥ सैनिकोंके कोलाहलसे जिनपर पक्षियोंके समूह उठ रहे हैं ऐसे ये वृक्ष इस प्रकार सुशोभित हो रहे हैं मानो हम लोगोंके आगमनके हर्षमें इन्होंने पताकाएँ ही फहरा दी हों ॥२६॥ वनमे यह जो इधर-उधर भौरोंकी पंक्ति उड़ रही है वह नीलमणियोंकी बनी वन्दनमालाका अनुकरण कर रही है ॥२७॥ यह जो वृक्षोंके अग्रभागपर सफेद-सफेद फूलोंके समूह फूल रहे हैं वे ऐसे जान पडते हैं मानो पत्ते खानेके लिए मुख खोलते समय गिरे हुए सूर्यके घोडोंके फेनके टुकडे ही हों ॥२८॥ उछलते हुए ऊँचे-ऊँचे घोड़े रूप तरंगोंसे सहित इस सेना रूपी समुद्रके आगे यह हरा-भरा वन ऐसा जान पड़ता है मानो समुद्रसे निकाल कर शेवालका विशाल ढेर ही लगा दिया गया हो ॥२९॥ हे मृगनयनी,

१ लाञ्छि घ० ड० प० । २ 'निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे' इत्यमर । श्लिष्टोपमा । ३ उत्प्रेक्षा । ४ उपमा । ५ उत्प्रेक्षा । ३. हरितहरित वन सैन्यसागरस्य निकटे पुञ्जिताबालजम्बाल इव विशोभत इति भाव ।

पुरन्ध्रीणा स वृद्धाना प्रतीच्छन्नाशिष शनै । इष्टसिद्धेरिव द्वार पुर प्राप महीपति ॥१८॥
यतिभावपर कान्ति बिभ्रदभ्यधिका नृपः। निश्चक्राम पुर. श्लोक कवीन्द्रस्य मुखादिव ॥ १९॥
शाखानगरमालोक्य पुरः प्रान्ते स पिप्रिये । तनूजमिव कान्ताया बहुलक्षणमन्दिरम् ॥२०॥
प्रागेव विक्रमश्लाघ्यो भवानीतनयोऽप्यभूत् । व्यक्त पुनर्महासेनो महासेनावृतस्तदा ॥२१॥
उच्चैस्तनशिखोल्लासिपत्रशोभामदूरत । वनाली वीक्ष्य भूपालः प्रेयसीमित्यभाषत ॥२२॥
कान्तारतरवो नैते कामोन्मादकृत परम् । अभवन्न प्रीतये सोऽप्युद्यन्मधुपराशय ॥२३॥

वृक्षस्य सगम सपर्कमादधत्[1] ॥ १६–१७ ॥ पुरन्ध्रीणामिति—स जरतीनामाशिष उररीकुर्वन् मन्दमन्द नगर्या द्वारमाप । अथ प्रस्तावान्मनोरथसिद्धेरिव [2]प्रवेश प्राप[3] ॥ १८ ॥ यतीति—अथ शनै शनैर्नगरतो राजा निर्जगाम कविमुखाच्छ्लोक इव मुनिभावतत्पर पक्षे सविश्रान्तिक, अतिप्रतापलक्ष्मी धारयन् पक्षे कान्ति[4] काव्यगुणविशेष[5] ॥ १९ ॥ शाखेति—स पुर्या समीप उपनगरमालोक्य जहर्ष हृष्टो बभूव । बहुलक्षणमन्दिर बहुला ससनवादय [6]क्षणा भूभागा यत्र तथाविधानि मन्दिराणि यत्र तत्तथाविधम् । अथ प्रेयसी समीपे पुत्रमिव-बहुसामुद्रिकगृहम् ॥ २० ॥ प्रागेवेति—अथ प्रथममेव भवानीतनयो महासेननामा विक्रमश्लाघ्यस्तारकाक्ष-रिपुक्षयकरो बभूव । स च पुराणप्रत्यक्ष पक्षे ससार आनीतोऽवतारितो नयो धर्मारोपो येन सोऽथ पुनर्नृपति-र्व्यक्त साक्षात् महत्या सेनया परिवारित सन्महासेनोऽभूत् ॥ २१ ॥ उच्चैरिति—तामासन्ना वनाली विलोक्य नृप प्रिया वक्ष्यमाणमुवाच । उच्चैस्तनीषु शाखासु उल्लासिनी पत्रशोभा यस्या सा ता तथाभूता पक्षे स्तनयो शिखा आभोगस्तत्रोल्लासिनी पत्रशोभा पत्रावली यस्या सा तथाविधा ॥ २२ ॥ कान्तारेति—एते वनवृक्षा नोऽस्माक प्रमोदाय बभूवु । किंविशिष्टा । कामोन्मादकृत कामायोन्माद कुर्वन्तीति, यतोऽमी उद्यन्मधुपराशय उद्यन्त उद्गच्छन्तो मधुपाना राशय समूहो यकेभ्य । न पर केवल चेतसोऽप्यभूत् । स क इत्याह—कान्तार-तरव तयो रत कण्ठकूजित कामोन्मादकृत मन्मथचातुर्यसूचित । उद्यति मधौ वसन्ते पर परवश आशयोऽ-

शरके वृक्षोंसे युक्त था और जिस प्रकार स्त्रियाँ सालसं गममादधत् आलस्य सहित गमनको धारण करती थी उसी प्रकार कामोपवन भी सालसंगममादधत्—सालवृक्षके संगमको धारण कर रहा था ॥१६–१७॥ वह राजा वृद्धा स्त्रियोंके आशीर्वादको स्वीकृत करता हुआ धीमे-धीमे इष्ट सिद्धिके द्वारकी तरह नगरके द्वार तक पहुँचा ॥१८॥ जिस प्रकार यति—विराम स्थलसे युक्त और कान्ति नामक गुणको धारण करनेवाला श्लोक किसी महाकविके मुखसे निकलता है, उसी प्रकार यति—मुनिविषयक भक्तिसे युक्त और अतिशय कान्तिको धारण करने वाला राजा नगरसे बाहर निकला ॥१९॥ प्रियाके पुत्रकी तरह अनेक उत्सवोंके स्थान भूत [पक्षमे अनेक लक्षणोंसे युक्त] शाखा नगरको देखकर राजा बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥२०॥ वह राजा विक्रमश्लाघ्य—पराक्रमसे प्रशंसनीय [पक्षमें वि—मयूर पक्षी पर संचार करनेसे प्रशसनीय] और भवानीतनय, ससारमे नय मार्गका प्रचार करनेवाला [पक्षमें पार्वतीका पुत्र] तो पहलेसे ही था पर उस समय बडी भारी सेनासे आवृत होनेके कारण महासेन—बड़ी सेनासे युक्त [पक्षमे कार्तिकेय] भी हो गया था ॥२१॥ ऊँची-ऊँची डालियों पर लगे हुए पत्तोंसे सुशोभित वनकी पक्तिको देखकर वह राजा उन्नत स्तनोंके अग्रभागपर उल्लसित पत्राकार रचनासे सुशोभित अपनी प्रियासे इस प्रकार बोला ॥२२॥ हे प्रिये ! जिनपर भौरोंके समूह उड़ रहें हैं ऐसे कामके उन्मादको करनेवाले ये वनके वृक्ष ही हमारी प्रीतिके लिए नही हैं किन्तु जिसमे मदिरा पानका भाव उठ रहा है अथवा

१ श्लिष्टोपमा । २ अभ्युपायमिव 'द्वार निर्गमनेऽपि स्यादभ्युपाये' इति मेदिनी । ३. उपमा । ४ 'यदु-ज्ज्वलत्व तस्यैव सा कान्तिरुदिता यथा' इति वाग्भट । तस्यैवेत्यस्य बन्धस्यैवेत्यर्थ । ५ श्लिष्टोपमा । ६ बहुला क्षणा उत्सवा येषु तथाभूतानि मन्दिराणि यत्र तथाविधमिवेति वा ।

अनेकविटपस्पृष्टपयोधरतटा स्वयम् । वदत्युद्यानमालेयमकुलीनत्वमात्मनः ॥२४॥
उल्लसत्केसरो रक्तपलाशः कुञ्जराजितः । कण्ठीरव इवाराम क न व्याकुलयत्यसौ ॥२५॥
सैन्यकोलाहलोत्तिष्ठद्विहङ्गावलयो द्रुमा । अस्मदागमनोत्क्षिप्तपताका इव भान्त्यमी ॥२६॥
सञ्चरच्चञ्चरीकाणा घोरणिस्तोरणस्रजम् । विडम्बयति कान्तारे हरिन्मणिमयीमियम् ॥२७॥
पल्लवव्यापृतास्याना सूरस्यन्दनवाजिनाम् । फेनलेशा इवाभान्ति द्रुमाग्रकुसुमोत्करा ॥२८॥
त्वङ्गत्तुङ्गतुरङ्गोर्मेस्तीरग सैन्यवारिधे । पुञ्जितावालशेवालशोभामभ्येति काननम् ॥२९॥
उत्क्षिप्तसहकाराग्रमञ्जरीरुक्मदण्डिक । उत्सार्यल्लवङ्गैलालेम्बिकर्पूरचम्पकान् ॥३०॥

भिप्रायो यस्मात्स तथाविध । बहुवचननिर्वाह ॥ २३ ॥ अनेकेति—इयमुद्यानपङ्क्ति स्वस्याकुलीनत्वमन्तरिक्षत्व वदति । किंविशिष्टा सतीत्याह—अनेकैर्विटपै शाखाभि स्पृष्टा सश्लिष्टा पयोधराणा मेघाना तटा यया सा तथाविधा । अथ यथा काचित्स्वयमात्मचरितैरेव स्वस्या असतीत्व प्रतिपादयति अनेकखिङ्गाधिपस्पृष्टस्तना ॥ २४ ॥ उल्लसदिति—असावाराम क नाकुलीकरोति सिंह इव उल्लसत्केसर उन्मीलद्वकुलकलिक, रक्तपलाश पुष्पितकिंशुक कुञ्जराजित लतागृहशोभित पक्षे उद्घुषितसटाकलाप रक्त च पलं मास चाश्नातीति तथाविध । कुत । हस्तियुद्धात् । यदि वा कुञ्जरैरजित[2] ॥ २५ ॥ सैन्येति - अमी द्रुमा भान्ति बलतुमुलोदञ्चत्पक्षिपङ्क्तय । अतश्चोत्प्रेक्ष्यन्ते—अस्मदागमने उत्तम्भिता पताका यैस्ते तथाविधा[3] ॥ २६ ॥ सञ्चरदिति—अस्मिन्वने भ्रमद्भ्रमराणा श्रेणी वन्दनमालामनुकरोति इन्द्रनीलगुलिकामयीम्[4] ॥२७॥ पल्लवेति—वृक्षाग्रे पुष्पस्तवका प्रतिभान्ति रविरथ्याना मुखडिण्डीरपिण्डा इव । कथ तत्र सूराश्वाना मुखफेनसभव । पल्लवव्यापृतास्याना पल्लवखादनाय व्यापृत लम्पट मुख येषा ते तथाविधास्तेषाम्[5] ॥ २८ ॥ त्वङ्गदिति—सैन्यसमुद्रस्य समीपस्थ कानन पुञ्जितवृहज्जम्वालतुलामुपयाति । त्वङ्गत्तुङ्गतुरङ्गोर्मे त्वङ्गन्तो वल्गन्तस्तुङ्गा उच्चास्तुरङ्गा एवोर्मय कल्लोला यस्य तथाविधस्य । [6]वन नेदीयो बभूवेत्यर्थ ॥ २९ ॥ उत्क्षिप्तेति—हे मृगाक्षि, अस्माकमसौ मरुद् वायु समीपमभ्येति । वननृपतेर्वेत्री प्रतीहार इव । सादृश्य

जिसमें प्रकट होते हुए वसन्तके कारण अभिप्राय विवश हो रहा है ऐसा कामके उन्मादसे किया हुआ वह स्त्री-सम्भोगका शब्द भी हमारी प्रीतिके लिए है ॥२३॥ अनेक डालियोंसे मेघोंके तटका स्पर्श करनेवाली यह उद्यानमाला अपनी अकुलीनता—ऊँचाईको स्वयं कह रही है। अनेक गुण्डे जिसके स्तनतटका स्पर्श कर रहे हैं ऐसी स्त्री अपनी अकुलीनता—नीचताको स्वयं कह रही है ॥२४॥ जिसके गरदन परके बाल हवासे उड रहे हैं, जो खून और मास खाता है तथा हाथियोंसे कभी भी पराजित नही होता ऐसा सिंह जिस प्रकार सबको व्याकुल कर देता है उसी प्रकार जिसमें बकुलके वृक्ष सुशोभित है, जिसमे टेसूके लाल-लाल फूल फूल रहे हैं और जो निकुजोंसे विराजित हैं ऐसा यह वन किसे नहीं व्याकुल करता ? अर्थात् सभीको कामसे व्याकुल बना देता है ॥२५॥ सैनिकोंके कोलाहलसे जिनपर पक्षियोंके समूह उठ रहे हैं ऐसे ये वृक्ष इस प्रकार सुशोभित हो रहे हैं मानो हम लोगोंके आगमनके हर्षमें इन्होंने पताकाएँ ही फहरा दी हों ॥२६॥ वनमे यह जो इधर-उधर भौरोंकी पंक्ति उड रही है वह नीलमणियोंकी बनी वन्दनमालाका अनुकरण कर रही है ॥२७॥ यह जो वृक्षोंके अग्रभागपर सफेद-सफेद फूलोंके समूह फूल रहे हैं वे ऐसे जान पडते हैं मानो पत्ते खानेके लिए मुख खोलते समय गिरे हुए सूर्यके घोडोंके फेनके टुकडे ही हों ॥२८॥ उछलते हुए ऊँचे-ऊँचे घोड़े रूप तरंगोंसे सहित इस सेना रूपी समुद्रके आगे यह हरा-भरा वन ऐसा जान पडता है मानो समुद्रसे निकाल कर शेवालका विशाल ढेर ही लगा दिया गया हो ॥२९॥ हे मृगनयनी,

१ लाञ्चि घ० ङ० म० । २ 'निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीवे लतादिपिहितोदरे' इत्यमर । श्लिष्टोपमा । ३ उत्प्रेक्षा । ४ उपमा । ५. उत्प्रेक्षा । ६ हरितहरित वन सैन्यसागरस्य निकटे पुञ्जितावालजम्वाल इव विशोभत इति भाव ।

कासारसीकरासारमुक्ताहारविराजितः । प्रेर्यमाणो मुहुर्वेल्लल्लताहस्ताग्रसंज्ञया ॥३१॥
अयमस्माकमेणाक्षि चन्दनामोदसुन्दरः । मरुदभ्यर्णतामेति वेत्रीवोद्यानभूपतेः ॥३२॥
[विशेषकम्]

तन्वाना चन्दनोद्दामतिलकं वदने किल । करोत्यक्षतदूर्वाभिर्मङ्गलं मे वनस्थली ॥३३॥
एता प्रवालहारिण्यो मुदा भ्रमरसंगताः । मरुन्नर्तकतालेन नृत्यन्तीव वने लताः ॥३४॥
निरूपयन्निति प्रीत्या प्रियाया प्राप्य काननम् । तत्क्षणादक्ष[1]मत्याक्षीदौद्धत्यमिव पार्थिवः ॥३५॥
तत्कालोत्सारिताशेषराजचिह्नो व्यराजत । गुरूनभिव्रजन्नेष विनयो मूर्तिमानिव ॥३६॥
नक्षत्रैरुद्धतै[2]र्युक्तै[3] सकान्तः केलिकाननम् । कराग्रं कुड्मलीकृत्य राजा घनमिवाविशत् ॥३७॥

स्थापयन्नाह—उत्क्षिप्ता सहकारमञ्जर्येव स्वर्णदण्डिका येन स तथाविध । किं कुर्वन् । उत्सारयन् विरलयन् । कानित्याह—लवङ्गाश्च एलाश्च लम्बिकर्पूराश्च चम्पकाश्च तान् तथाविधान् । सरो विन्दुवर्षमुक्ताकलापभूषित प्रेर्यमाण सञ्ज्ञाप्यमान लोलल्लताकराग्रसञ्ज्ञया श्रीखण्डद्रववासित[4] ॥ ३०–३२ ॥ तन्वानेति—वनस्थली मम मङ्गल प्रवेशमङ्गलक्रिया विदधाति । कैरित्याह—अखण्डहरितालीप्रमुखमङ्गलद्रव्यै । किं कुर्वाणा । प्रकाशयन्ती चन्दनाश्च उद्दामा उच्चाश्च तिलकाश्च तत् चन्दनोद्दामतिलकम् । अन्यापि या किल सुवासिनी मङ्गलयति सा श्रीखण्डतिलक वदने करोति तण्डुलदधिदूर्वादिभि सह ॥ ३३ ॥ एता इति—एता लता हर्षेण नर्तक्य इव नटन्ति । मरुदेव नर्तक उपाध्यायस्तस्य तालेन तदुपयुक्तलयेन अथ च वातान्दोलितताडेन सह बहुनटीना मध्ये नटेन नर्तितव्यमिति भाव । पल्लवशालिन्य पक्षे प्रवालेन विद्रुमनामकेन उपलक्षिता हारा सन्त्यासा तास्तद्विधा । यदि वा प्रसाधितधम्मिल्लमनोहरा षट्पदाच्छादिता पक्षे भ्रमस्य चारीनृत्यविशेषस्य रस भाव प्राप्ता ॥ ३४ ॥ निरूपयन्निति—वल्लभाया पुरत इति दर्शयन् वनोपान्त एव रथ शीघ्रमेव राजा तत्याज । औद्धत्यं गर्वमिव । किंविशिष्टम्, तत्क्षणे मुनिवन्दनसमयेऽनुचितपददत्त, कस्य[5], ब्रह्मविवेकस्याननं प्रवेश लब्ध्वा ॥ ३५ ॥ तत्काल इति—तस्मिन्समये राजा दूरीकृतसकलछत्रचामरादिपरिग्रह सदेहत्वेन प्रत्यक्षविनय इव रराज गुरूनभिसगच्छमान ॥ ३६ ॥ नक्षत्रैरिति—सपत्नीको राजा विनयाञ्जलिं बद्ध्वा बहुल क्रीडावनं विवेश । उद्धतै परवशात्मभि क्षत्रै राजपुत्रैर्न सहित । अथ च राजा

जिसने आम्रमंजरीरूपी सुवर्णकी छड़ी ऊपर उठायी है, जो लवंग, इलायची आलम्बिकपूर और चम्पेकी सुगन्धिको इधर-उधर फैला रहा है, जो तालाबके जलकणोंकी वर्षा करनेसे ऐसा लगता है मानो हारसे ही सुशोभित हो, जो बार-बार हिलती हुई लताओंके द्वारा मानो हाथके संकेतसे प्रेरित ही हो रहा हो और जो चन्दनकी सुगन्धिसे सुन्दर है—बड़ा भला मालूम होता है ऐसा यह पवन वनरूपी राजाके प्रतीहारके समान हम लोगोंके निकट आ रहा है ॥३०–३२॥ अपने अग्रभागमें चन्दन वृक्षसे उत्कट तिलक वृक्षको धारण करनेवाली यह वनकी वसुधा अखण्ड दूर्वाके द्वारा हम लोगोंका ठीक उसी तरह मंगल कर रही है जिस तरह कि मुखपर चन्दनका बड़ा-सा तिलक लगानेवाली सौभाग्यवती स्त्री अक्षत और दूर्वाके द्वारा किसी अभ्यागतका मंगल करती है ॥३३॥ इधर ये पल्लवोंसे मनोहर [पक्षमें मूँगासे सहित अथवा उत्तम केशोंसे रमणीय] और भ्रमरोंसे युक्त [पक्षमे परिक्रमाके आनन्दसे युक्त] लताएँ वायु रूपी नर्तककी तालका इशारा पाकर मानो नृत्य ही कर रही हों ॥३४॥ इस प्रकार प्रियाके लिए वनकी सुषमाका वर्णन करता हुआ राजा ज्यों ही उपवनके समीप पहुँचा त्यों ही उसने अहंकारकी तरह रथका परित्याग कर दिया ॥३५॥ जिसने तत्काल ही समस्त राजचिह्न दूर कर दिये हैं ऐसा राजा मुनिराजके सम्मुख जाता हुआ मूर्तिमान् विनयकी तरह सुशोभित हो रहा था ॥३६॥ जिस प्रकार उद्धत उदित नक्षत्रोंसे

१ 'अक्षस्तु पाशके चक्रे शकटे च विभीतके' इति विश्वलोचन । २ रुन्नतैर्युक्त घ० म० । ३ युक्तैः छ० । ४. रूपकोपमे । ५ कस्य आनन काननन् ।

दर्दशाशोकमस्तोकस्तबकैस्तत्र पाटलम् । खगैश्छन्नमिवासन्नमुनीना मुक्तमानसै। ॥३८॥

अधस्तात्तस्य विस्तीर्णे स्फाटिकोपलविष्टरे । तपःप्रगुणितागण्यपुण्यपुञ्जे[1] इव स्थितम् ॥३९॥

दत्तनेत्रोत्सवारम्भमाश्रित मुनिसत्तमैः[2] । ऋक्षैरिव धरोत्तीर्ण क्षण नक्षत्रनायकम् ॥४०॥

अन्तरस्तावकाशेन ज्ञानसिन्धुमहोर्मिभि. । मलेन लिप्तबाह्याङ्गे दर्शयन्तमनादरम् ॥४१॥

अत्यन्तनि सहैरङ्गैर्मुक्ताहारपरिग्रहै । व्यक्तयन्तमिवासक्ति मुक्तिकान्तानुबन्धिनीम् ॥४२॥

चन्द्र उदितैस्तारकै परिवारित कान्त कमनीय किरणजाल सकोच्य मेघखण्डे प्रविशति[3] ॥ ३७ ॥ दर्दशेति—तत्र वनमध्ये बहुलपल्लवकदम्बकैररुणायमानमशोकवृक्ष राजाद्राक्षीत् । समीपस्थमुनीना मनोरागैरिवापिहित मुक्तमानसैस्त्यक्तहृदयै । मुनीन्परित्यज्य रागैरशोक परिवृत[4] ॥ ३८ ॥ अधस्तादिति—तस्याशोकस्याधस्ताद्विस्तीर्णस्फटिकशिलासिंहासने स्थितमुपविष्ट स ददर्श । किंविशिष्टे विष्टर इत्याह—तपसा प्रगुणितमुपनीतमगण्यमप्रमाण यत्पुण्य तस्य पुञ्जे राशाविव[5] ॥ ३९ ॥ दत्तेति—भूमिस्थ राकामृगाङ्कमिव दत्तनयनानन्द मुनिप्रवानपरिवारित पक्षे ऋक्षैर्नक्षत्रै किंविशिष्टै सस मुनय प्रशस्या येषा ते तै[6] ॥ ४० ॥ अन्तरिति—बाह्याङ्गे कलेवरे तितिक्षा दर्शयन्त लिप्ते मलिनेऽनादरणीय हि सस्कारैरुपचर्यत इति भाव । केन लिप्तमित्याह—अस्नानाद्युपचितमलेन । अतश्च ज्ञायते—तमोमलेनैव अन्तरस्तावकाशेन अन्तर्मध्येऽस्तो निराकृतोऽवकाश प्रसरो यस्य स तथाविधस्तेन । ज्ञानसिन्धुमहोर्मिभि बोधवार्द्धिकल्लोलै यथा समुद्रकल्लोलैर्जम्बालादिक बाह्ये प्रक्षिप्यते[7] ॥ ४१ ॥ अत्यन्तेति—मुक्तिकान्तानुगामिनीमासक्तिमत्यन्ताभिलाष व्यक्तयन्त प्रकाशयन्तम् । कैरित्याह—नि सहैस्तप कृशैरङ्गैर्मुक्ताहारपरिग्रहै मुक्तावाहारपरिग्रहो यैस्तै । अन्योऽपि य

युक्त राजा—चन्द्रमा अपने कराग्र—किरणोंके अग्रभागको संकुचित कर मेघके भीतर प्रवेश करता है उसी प्रकार उद्धत—उद्दण्ड—गर्वीले साथियोंसे अयुक्त वह राजा—महासेन अपने कराग्र—हस्तके अग्रभागको जोड़ कर पत्नीके साथ क्रीडावनमें प्रविष्ट हुआ ॥३७॥ वहाँ उसने वह अशोक वृक्ष देखा जो कि बडे-बडे गुच्छोंसे लाल लाल हो रहा था और ऐसा जान पड़ता था मानो निकटवर्ती मुनियोंके मनसे निकले हुए राग भावसे ही व्याप्त हो रहा हो ॥३८॥ उस अशोक वृक्षके नीचे विस्तृत एवं तपसे संचित असंख्यात पुण्यकी राशिके समान दिखनेवाले स्फटिकके आसनपर विराजमान मुनिराजको राजाने देखा ॥३९॥ वे मुनिराज नेत्रोंके लिए आनन्द प्रदान कर रहे थे और अच्छे-अच्छे मुनियोंके समूहसे वेष्टित थे अतः ऐसे जान पडते थे मानो प्रशस्त नक्षत्रोंके साथ पृथिवीपर अवतीर्ण हुआ चन्द्रमा ही हो ॥४०॥ वे ज्ञान रूपी समुद्रकी तरंगोंसे जिसका आभ्यन्तर अवकाश दूर कर दिया गया है ऐसे मलसे लिप्त बाह्य शरीरमें अनादर प्रकट कर रहे थे ॥४१॥ वे अत्यन्त निःसह और आहार ग्रहणका त्याग. करनेवाले [पक्षमें मोतियोंके हारसे सहित] अंगोंसे मुक्तिकान्ता

---

१ पुञ्जमिव घ० ङ० म० । २ मुनिषु यतिषु सत्तमा श्रेष्ठतमास्तै पक्षे मुनय सप्तर्षिसंज्ञकास्तारा विशेषा सत्तमा श्रेष्ठतमा येषु तै । ३ अत्रेद व्याख्यान सुगमम्—सकान्त कान्तया सहित सपत्नीक , उद्धतै परवशात्मभिर्गर्वयुक्तैरिति यावत्, क्षत्रै क्षत्रियै न युक्तो न सहित किन्तु अनुद्धतक्षत्रै सहित इति यावत्, राजा महासेन कराग्र हस्ताग्र कुड्मलीकृत्य मुकुलीकृत्य विनयाञ्जलि बद्ध्वेति भाव । कान्त कमनीय उद्धतैरुदितैर्नक्षत्रैस्ताराभिर्युक्त सहित स प्रसिद्धो राजा चन्द्र 'राजा चन्द्रमहीपत्यो' इति धनजय । कराग्र किरणाग्र 'वलिहस्ताशव करा' इत्यमर । कुड्मलीकृत्य मुकुलीकृत्य घन मेघमिव केलिकानन क्रीडावनम् । अविशत् प्रविवेश । उपमा । ४ उत्प्रेक्षा । 'रक्तत्व कोपरागयो' इत्यलकारचिन्तामणिवचनाद्रागस्य रक्तत्व कविसमयसिद्धम् । ५ उत्प्रेक्षा । ६ उपमा । ७ रूपकोत्प्रेक्षे ।

नासावशाग्रविन्यस्तस्तोकसंकोचितेक्षणम् । भावयन्तमथात्मानमात्मन्येवात्मनात्मन ॥४३॥
दर्शनज्ञानचारित्रतपसामेकमाश्रयम् । क्षमागार गतागारं मुनिमैक्षिष्ट पार्थिव ॥४४॥
[षड्भि कुलकम्]
अथास्पद नभोगाना स्वर्णशैलमिव स्थिरम् । गुरु प्रदक्षिणीकृत्य स राजा विशदाशुक ॥४५॥
इलामूलमिलन्मौलिर्नत्वा भूमौ न्यविक्षत । न पर [1]विनय श्रीणामाश्रय. श्रेयसामपि ॥४६॥
[युग्मम्]
मङ्गलारम्भसरम्भप्रध्वनद्दुन्दुभिध्वनिम् । विडम्बयन्नथोवाच वाचमाचारवानिति ॥४७॥
त्वत्पादपादपच्छाया चिन्तासतापशान्तिदाम् । सप्रति प्राप्य युक्तोऽस्मि भवभ्रमपरिश्रमात्॥४८॥
यदभूदस्ति यच्च भावि स्व जन्म तन्मया । निर्णीत पुण्यवन्नाथ त्वदालोकनमात्रत ॥४९॥

कामी स कामिनी प्रति विशेषासक्ति भजति विरहतनुभिरङ्गैर्मुक्ताकलापभूषितैरिति ॥ ४२ ॥ नासेति—आत्मान स्वस्वरूप ध्यायन्त, कया मूर्त्यवस्थयेत्याह—स्तोक सकोचिते अर्द्धनिमीलिते च ते ईक्षणे च नासावशाग्रे न्यस्ते नियोजिते तथाविधे ईक्षणे यस्य स त तथाविधम् । क्व स्थितमित्याह—स्वस्मिन्नेव । केनोपकरणेन, स्वेनात्मना पृथग्भूतेन ॥ ४३ ॥ दर्शनेति—एकमनौपम्य गतागार दिगम्बरत्वनिवेदितपरिग्रहम् । आश्रय स्थान, केषामित्याह—दर्शन जिज्ञासा, ज्ञान ,तत्त्वप्राप्तिश्चारित्र पूर्वोक्तयो स्थिति , तप सर्वसावद्ययोगविरमणं, तेषा स्थान, क्षमागारमुपशममयम् ॥ ४४ ॥ अथेति—अथ त मुनि प्रदक्षिणीकृत्य मेरुमिव निश्चल भोगाना सासारिकसौख्याना नास्पद न स्थान स राजा गृहीतशुचिवस्त्रो भूतलमिलन्मस्तक प्रणम्य पृथिव्यामुपविष्ट । यथा चन्द्र सितकिरणो नभोगाना खेचराणा क्रीडास्थान गुरुमुच्चैस्तर न भवति । युक्तमेतत्—न केवल विनयो विनयवान् लक्ष्मीणामाश्रयो भवति पुण्यानामपि ॥ ४५–४६ ॥ मङ्गलेति—स राजा आचारवान् वाङ्मयतत्त्ववेदी । अथानन्तर स्तुतिपरमभापत मङ्गलध्वनिमनुकुर्वन् ॥ ४७ ॥ त्वदिति—हे नाथ, त्वच्चरणकमलसनिधि सर्वमनोरथसपत्ति सप्रति प्राप्य ससारावर्ततापात्यक्तोऽस्मीति ॥ ४८ ॥ यदिति—हे नाथ, तव दर्शनमात्रतो मया आत्मीय जन्म पुण्यवत्सपुण्यक निर्धारितम् । किं जन्मेत्यादि—यदतीत यच्च वर्तमान यच्च भावि भविष्यतीति । पूर्वजन्मपुण्योदयेन हि मुनिदर्शन भवति । तेन चागन्तुक जन्म पुण्यवत् । साम्प्रत

सम्बन्धी आसक्तिको प्रकट कर रहे थे ॥४२॥ उनकी अर्धोन्मीलित दृष्टि नासावंशके अग्रभागपर लग रही थी, वे अपनी आत्माका अपने आपके द्वारा अपने आपमें ही चिन्तन कर रहे थे ॥४३॥ दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपके एक आधार थे, क्षमाके भाण्डार थे और गृह परित्यागी थे—राजाने उन मुनिराजके दर्शन बडी भक्तिसे किये ॥४४॥ जिस प्रकार निर्मल किरणोंका धारक चन्द्रमा अतिशय विशाल एवं स्थिर सुमेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा देता है उसी प्रकार उज्ज्वल वस्त्रोंको धारण करनेवाले राजाने उन वीतराग गुरुदेवकी प्रदक्षिणा दी। अनन्तर पृथिवी मूलमें मस्तक टेक नमस्कार कर जमीन पर आसन ग्रहण किया सो ठीक ही है क्योंकि विनय लक्ष्मीका ही आश्रय नहीं होता किन्तु कल्याणोंका भी होता है ॥४५–४६॥ तदनन्तर शिष्टाचारको जाननेवाले राजाने मंगल-कार्यके प्रारम्भमें बजते हुए दुन्दुभिके शब्दको तिरस्कृत करते हुए निम्न प्रकार वचन कहे ॥४७॥ हे भगवन्, चिन्ता और सन्तापसे शान्ति प्रदान करनेवाले आपके चरणरूप वृक्षकी छायाको प्राप्त कर मैं इस समय संसार-परिभ्रमणके खेदसे मुक्त हो गया हूँ ॥४८॥ हे नाथ ! आपके दर्शन मात्रसे मैंने इस बातका निर्णय कर लिया कि मेरा जो जन्म हुआ था, है और आगे होगा वह सब पुण्यशाली है

१ विनयश्रीणा—घ० ङ० च० ।

[1]भयान्वितेन सूर्येण सदोषेणेन्दुनापि किम् । यो भवानिव दृष्टोऽपि न भिनत्त्यान्तर तम ॥५०॥
चित्रमेतज्जगन्मित्रे नेत्रमैत्री गते त्वयि । यन्मे जडाशयस्यापि पङ्कजात निमीलति ॥५१॥
युष्मत्पदप्रयोगेण पुरुष स्याद्युत्तम । अर्थोऽय सर्वथा नाथ लक्षणस्याप्यगोचर ॥५२॥
तथा मे पोषिता कीर्तिस्त्वद्दर्शनरसायनै । यथास्ता त्रिदशावासे मात्यनन्तालयेऽपि न ॥५३॥
निर्निमेष गलद्दोष [2]निर्व्यपेक्षमपक्ष्मलम् । ज्ञानचक्षु सदोन्निद्र न स्खलत्येव ते क्वचित् ॥५४॥
सिद्धमिष्ट त्वदालोकाज्ज्ञात च ज्ञानिना त्वया । तत्पुन प्रोच्यतेऽस्माभि शसितु[3] जाड्यमात्मन ॥

पुण्यवदस्तीति भाव ॥ ४९ ॥ भयेति—प्रभायुक्तेनादित्येन सरात्रिकेण च चन्द्रेण किम् । यो न हे प्रभो, आन्तरमनन्यवाध्य मोहान्धकार निराकरोति । पक्षे भातियुक्तेन कलङ्कितेन च ॥ ५० ॥ चित्रमिति—हे प्रभो, एतच्चित्र, नेत्रमैत्री गते नयनप्रमोदप्राप्ते दृष्टे जगन्मित्रे भुवनहिते मम जडाशयस्यापि मन्दाभिप्रायस्यापि पङ्कजात पापपटल विलीयते । न नाम जगन्मित्रे भास्वत्युदिते सर कमल निमीलति सकुचति ॥ ५१ ॥ युष्मदिति—हे नाथ, त्रिभुवनगुरो, यद्भवत्पादप्रसङ्गेन पुमानुत्तम सर्वपूज्य स्यात्तदसावर्थ सामुद्रिकलक्षण-स्याप्यगोचरो दुरवगाह । कलशकुलिशस्वस्तिकश्रीवत्सादिभिरस्य राज्य भविष्यतीत्येतावन्मात्रमेव निर्णीयते न तत्पदप्रणतिमता पुण्यमिति भाव । पक्षे 'युष्मदि मध्यम' इति सूत्रेण युष्मत्प्रयोगेण मध्यमपुरुष स्यात् । यत्तूत्तमो भवतीत्यर्थ स शब्दशास्त्रस्यापि गवि वाण्या चरतीति गोचर न गोचरोऽगोचरोऽवक्तव्य इत्यर्थ ॥ ५२ ॥ तथेति—हे प्रभो, त्वद्दर्शनसुधारसैर्मम कीर्तिस्तथोपचिता यथा आस्ता तिष्ठतु त्रयाणा दशाना चावास-स्तस्मिन् अनन्तानामसख्यानामालये गृहेऽपि न माति न समिमीते । अथ च स्वर्गे पाताले च ॥ ५३ ॥ निर्नि-मेषमिति—तव ज्ञानचक्षु क्वचिदपि त्रिकाले त्रिलोक्या च न स्खलति न मन्दायते निर्निमेषमविहितप्रसर गलद्दोष यथावद्वस्तुप्रकाशक निर्व्यपेक्ष नि सहायम् अपक्ष्मलवाधारहितम् इति पूर्वोक्तविशेषणे सर्वदा प्रकाशक सदोदितमित्यर्थ. ॥ ५४ ॥ सिद्धमिति—इष्टमभिप्रेतमस्माक सिद्ध निष्पन्नमेव त्वदालोकाद् भवच्चरणदर्शनात् यच्चास्माक मनसीष्ट तच्चिन्ताकारण तत्र भवता ज्ञानमेव युष्मदन्ते पुनस्तदेवास्माभिर्विज्ञाप्यते स्वस्याज्ञत्व-

---

॥४९॥ भा सहित [पक्षमे भय सहित] उस सूर्यसे अथवा दोष सहित [पक्षमे रात्रि सहित] उस चन्द्रमासे क्या लाभ जो कि आपकी तरह दिखते ही अभ्यन्तर अन्धकारको नष्ट नहीं कर सकता ॥५०॥ हे भगवन्! आप जगन्मित्र हैं—जगत् सूर्य हैं और मैं जलाशय—तालाब हूँ साथ ही आप दृष्टिगोचर हो रहे हैं फिर भी मेरे पंकजात—कमलोंका समूह निमीलित हो रहा है यह भारी आश्चर्यकी बात है, क्या कभी सूर्योदयके रहते कमल निमीलित रहते हैं। हे भगवन्! आप ससारके मित्र हैं आपके दिखते ही मुझ मूर्खका भी पापोंका समूह नष्ट हो जाता है यह आश्चर्यकी बात है ॥५१॥ हे नाथ! आपके चरणोंके संसर्गसे पुरुष उत्तम हो जाते हैं यह बात सर्वथा वचनोंके अगोचर है। हे नाथ! युष्मद् शब्दके योगमें उत्तम पुरुष होता है यह बात व्याकरण शास्त्रके सर्वथा विरुद्ध है ॥५२॥ भगवन्! आपके दर्शन रूपी रसायनसे मेरी कीर्ति इतनी अधिक पुष्ट हो गयी है कि वह तीस आवास [पक्षमे स्वर्ग] की बात तो दूर रहे अनन्त आवासों [पक्षमे पाताल] मे भी नहीं समाती ॥५३॥ भगवन्! टिमकाररहित, दोषरहित, व्यपेक्षारहित, बिरूनीरहित, तथा सदा उन्निद्र रहनेवाला आपका ज्ञान-नेत्र कहीं भी स्खलित नहीं होता ॥५४॥ हे नाथ, यद्यपि आपके दर्शनमात्रसे ही मेरा मनोरथ सिद्ध हो गया है, साथ ही मैं जो निवेदन करना चाहता हूँ उसे आप जानते हैं फिर भी अपनी जड़ता प्रकट करनेके लिए मै कुछ कह रहा हूँ ॥५५॥

---

१ तपोऽन्वितेन घ० ड० म० । २ निर्व्यपेक्ष ख० ग० घ० ड० च० छ० म० । ३ शङ्कितु क० ।

इय प्राणप्रिया पत्नी समयेऽपि स्थिता सती । निष्फलेव क्रियात्यर्थमनपत्या दुनोति माम् ॥५६॥
अदृष्टसतति' स्पृष्टमिष्टार्थप्रसवामपि । इमामह मही मन्ये केवल भारमात्मन ॥५७॥
चतुर्थपुरुषार्थाय स्पृहयालोर्ममाधुना । अदर्शनायते मोहान्नन्दनस्याप्यदर्शनम् ॥५८॥
दशामन्त्या गतस्यापि पुसस्तावन्न शस्यते । प्रदीपस्येव निर्वाण यावन्नान्य प्रकाशयेत् ॥५९॥
तत्कलत्रे कदात्रैव रसलीलालवात्मके । संपत्स्यते ममोद्भिन्नमनोरथतरो' फलम् ॥६०॥
श्रुत्वेति प्रत्युवाचेद मुनिर्भूपालकर्णयोः । लग्नदन्तद्युतिव्याजात्सुधाधारा इवोद्गिरन् ॥६१॥
नेदृक् चिन्ताक्लमस्यासि वस्तुतत्त्वज्ञ भाजनम् । नेत्राधृष्य क्वचित्तेजस्तमसा नाभिभूयते ॥६२॥

स्थापनाय । ज्ञातस्य हि पुनर्विज्ञप्तिका चर्वितचर्वणमिव ॥ ५५ ॥ इयमिति—असौ प्रियतमा फलयोग्ययौवनभरे वर्तमानापि मामनपत्या बाधते । यथा समयादिसामग्र्या प्रयुज्यमानापि क्रिया व्यवसायचेष्टाफलमनुत्पादयन्ती खेदयति । क्रिया हि फलाय न चेत्फल किं क्रिययेति भाव ॥ ५६ ॥ अदृष्टेति—अहमपुत्र सन् न केवलं पृथ्वी भाराय मन्ये इष्टार्थप्रसवामपि वर्गत्रयकामदुघामपि स्पष्ट सर्वविदितम् ॥ ५७ ॥ चतुर्थेति—मम साप्रत मोक्षमभिलिप्सोरज्ञानात्पुत्रादर्शनमप्यसम्यक्त्वायते यथा मिथ्यात्व मोक्षप्रतिषेधक भवति तथा पुत्रादर्शनमपि प्रतिषेधकमिति भाव । कस्य राज्य समर्प्य तपस्यामीत्यर्थ ॥ ५८ ॥ दशामिति—तावत्पुरुषस्य निर्वाण प्रविव्रजिषोर्न प्रशस्यात् । किंविशिष्टस्यापीत्याह—अन्त्या [1]दशा तारुण्योत्तीर्णामवस्था प्राप्तस्यापि यावदन्य पुत्र कुलभारयोग्य नोत्पादयेत् । तथा प्रदीपस्य निर्वाणमभाव इतरदीपप्रकाशे सत्येव प्रशस्य [2] ॥ ५९ ॥ तत्कलत्र इति—तदिति प्रस्तुतवाक्ये, अस्माकमुद्गतमनोरथवृक्षस्य कदा फल सुतलक्षण भविष्यति । क्व उद्गतस्येत्याह—तत्र सुव्रतालक्षणे कलत्रे रसलीलाया स्नेहसर्वस्वस्यालवालके स्थानके । यदि वा रसलीलालवात्मा कुन्तलास्तेषा के मस्तके । यस्य जलभरितस्थानके द्रुढवृक्षस्य कथ फल न भवतीति चिन्ता प्रश्नस्थानम् ॥ ६० ॥ श्रुत्वेति—इत्युक्त तद्भूपतिवचन निशम्य मुनि. कालत्रयवेदी प्रतिवचनालाप चकार । नृपकर्णयोरमृतधारा इव क्षिपन् सबद्धदशनकिरणदण्डकव्याजात् [3] ॥ ६१ ॥ नेदृगिति—हे राजन्, पदार्थस्वभावज्ञ, एतावन्मात्रस्य चिन्तातापस्य स्थान भवितु नार्हसि येन यदा भाव्य तेन तदैव भाव्यमिति तत्त्व जानन्नपि किं खिद्यसे । इति भाव । यतो नेत्राधृष्य ग्रीष्मादित्यीय यत्तेजस्तत्क्वचिदपि क्षेत्रे समये वा ध्वान्तेन न पराभूयते ।

यह जो मेरी प्राणप्रिया पत्नी है वह सन्तानोत्पादनके योग्य समयमें स्थित होनेपर भी सन्तान रहित है अतः निष्फल क्रियाकी तरह मुझे अत्यन्त दुखी करती है ॥५६॥ यह पृथिवी यद्यपि मनोवांछित फलको उत्पन्न करनेवाली है फिर भी सन्तान न होनेसे इसे केवल अपना भार ही समझता हूँ ॥५७॥ मुझे मोक्ष पुरुषार्थकी बड़ी इच्छा है परन्तु मोहवश इस समय मेरे पुत्रका अदर्शन मिथ्यादर्शनका काम कर रहा है ॥५८॥ जिस प्रकार अन्तिमा दशा (बत्ती) को प्राप्त हुए दीपकका निर्वाण (बुझना) तब तक अच्छा नहीं समझा जाता जब तक कि वह किसी अन्य दीपकको प्रकाशित नहीं कर देता इसी प्रकार अन्तिम दशा (अवस्था) को प्राप्त हुए पुरुषका निर्वाण (मोक्ष) तब तक अच्छा नहीं समझा जाता जब तक वह किसी अन्य पुत्रको जन्म नहीं दे देता ॥५९॥ इसलिए हे भगवन् ! मैं जानना चाहता हूँ कि रसलीलाके आलवाल स्वरूप इस पत्नीके विषयमे उद्भिन्न—प्रकट हुए मेरे मनोरथ रूप वृक्षका फल कब निष्पन्न होगा ? ॥६०॥ यह सुन राजाके कानोंमे दाँतोंकी किरणोंके बहाने अमृतकी धाराको छोडते हुएके समान मुनिराज इस प्रकार बोले ॥६१॥ हे वस्तु स्वरूपके जानकार ! आप इस प्रकारकी चिन्तासे उत्पन्न खेदके पात्र नहीं हो । क्योंकि आँखोंमे चका-

---

१ 'दशा कर्मविपाकेऽपि स्याद्दशा वर्त्यवस्थयो ', इति विश्वलोचन । २ उपमा । ३ उत्प्रेक्षा ।

धन्यस्त्व [1]पुण्यपण्यानामापणस्त्व महीपते । त्वमेव सश्रय श्रीणा सरितामिव सागर ॥६३॥
त्वत्कीर्तिजह्नुकन्याया इतो लोकत्रयातिथे । अन्त [2]प्रपत्स्यते राजन्राजहसश्रिय शशी ॥६४॥
न पर क्षत्रिया सर्वे त्वामनु त्रिदिवेश्वरा' । न ह्युदात्तस्य माहात्म्य लङ्घयन्तीतरे स्वरा ॥६५
[3]क्षोदीयानहमस्मीति नात्मानमवजीगण' । भवितासि त्वमचिराज्जगत्त्रयगुरोर्गुरु [4] ॥६६॥
गुणैर्घ[5]नोन्नते नून भवदावाग्निदीपित । त्वज्जन्मना जन शान्तिममृतेनायमेष्यति ॥६७॥
या चैषा भवत पत्नी सुव्रता सुव्रताख्यया । ह्रेपयिष्यति सा वेला रत्नकुक्षितयोदधे ॥६८॥
ससारसारसर्वस्व भूत्रयस्यापि भूषणम् । इदमेनोविषच्छेदि स्त्रीरत्नमिति बुध्यताम् ॥६९॥

अत्र राजतेजसोश्चिन्ताक्लमतमसोश्चोपमानोपमेयभाव [6] ॥ ६२ ॥ धन्य इति—हे राजन् ! त्व धन्य सर्वोत्तम पुण्यपण्याना पुण्यक्रयाणकाना प्राप्तिस्थान तथाविधो भवानेव सर्वलक्ष्मीणामाश्रयो नदीना समुद्र इव ॥ ६३ ॥ त्वदिति—जह्नुकीर्तेर्गङ्गाया भुवनत्रयपूज्याया मध्ये चन्द्रो राजहसायिष्यते ॥ ६४ ॥ नेति—न केवलं क्षत्रिया राजानस्त्वामनु त्वत्सकाशात् हीना त्रिदशेश्वरा इन्द्रादयोऽपि हीना एव । केन दृष्टान्तेन । हि यस्मादर्थे न हि उदात्तस्य त्रिमात्रस्य स्वरस्य इतरे स्वरा एकमात्रा, माहात्म्यम् उच्चारणध्वनिं लङ्घयन्ति अतिक्रामन्ति । यदि वा धीरोदात्तस्य चक्रवर्तिन इतरे राजानो महत्त्व न लङ्घयन्ति यतोऽमीश्वरा स्वेनैकेनात्मना राजन्ते न चक्रवर्तिवत्सर्वराजपरिवारिता इत्यर्थ [7] ॥ ६५ ॥ क्षोदीयानिति—हे राजन्, त्वमात्मान मावमस्था मनुष्यजन्माहमिति सभावयन् । त्व जगत्त्रयगुरोर्देवदेवस्य पिता भविष्यसि त्वद्गृहे तीर्थकृदवतरिष्यतीति भाव ॥ ६६ ॥ गुणैरिति—गुणै कृत्वा घना अनन्यसाधारणा उन्नतिर्यस्य स हे घनोन्नते [8] राजन् त्वज्जन्मना त्वत्तनूजेन अय ससारी जन शान्ति सुखस्थिति प्राप्स्यति अजरामरेण पक्षे घनोन्नतिजन्मना अमृतेन जलेन दावाग्निदीपिता वृक्षादय शान्तिमुपयान्ति ॥ ६७ ॥ येति—या चेय यौष्माकप्रिया सुव्रतानामधेया सा समुद्रस्य वेला लज्जयिष्यति । न हि समुद्रवेलागर्भे किमपि तादृश रत्न यादृश त्रिभुवनालकरणमेषा धास्यतीति भाव ॥६८॥ ससारेति—हे राजन्निदमात्मकलत्र स्त्रीरत्नमिति मन्येथा । रत्नधर्मानारोपयन्नाह—

चौध पैदा करने वाला तेज कहीं भी अन्धकारके द्वारा अभिभूत नहीं होता ॥६२॥ हे राजन् ! तुम धन्य हो, तुम पुण्य रूपी विक्रेय वस्तुओंके बाजार हो, जिस प्रकार कि नदियोंका आश्रय एक समुद्र ही होता है उसी प्रकार समस्त सम्पदाओंके आश्रय एक तुम्हीं हो ॥६३॥ आजसे लेकर तीनों लोकोंमे फैलनेवाली आपकी कीर्तिरूपी गङ्गानदीके बीच यह चन्द्रमा राजहंसकी शोभाको प्राप्त करेगा ॥६४॥ केवल सब राजा ही आपसे हीन नहीं है किन्तु सब देव भी आपसे हीन हैं वस्तुतः अन्य—अनुदात्तादि स्वर उदात्त स्वरके माहात्म्यका उल्लंघन नहीं कर सकते ॥६५॥ मैं क्षुद्र हूँ ऐसा समझ कर अपने आपका अनादर मत करो, तुम शीघ्र ही लोकत्रयके गुरु—पिता होने वाले हो ॥६६॥ हे राजन् ! तुम अपने गुणोंसे मेघके समान समुन्नत हो, संसार रूप दावानलसे पीडित हुए ये लोग तुम्हारे पुत्र रूप जलसे शान्तिको प्राप्त होंगे ॥६७॥ यह जो आपकी सदाचारिणी सुव्रता पत्नी है वह शीघ्र ही श्रेष्ठ गर्भ धारण कर समुद्रकी वेलाको लज्जित करेगी ॥६८॥ याद रखिए, यह स्त्री रत्न संसारका सर्व श्रेष्ठ सर्वस्व है, तीनों

---

१ गुणपण्याना घ० म० । २ सपत्स्यते ख० छ० । ३ एष श्लोक छपुस्तके नास्त्येव । ४ 'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति शब्दार्णव । ५ घनोन्नतैर्नून च० छ० । ६ अर्थान्तरन्यास । ७ अप्रस्तुतप्रशसा । ८ पक्षे घन इव मेघ इवोन्नतिर्यस्य तत्सम्बुद्धौ हे घनोन्नते ।

क्षुद्रतेज सवित्रीभि स्त्रीभिर्दिग्भिरिवात्र किम् । धन्येय या जगच्चक्षुर्द्योति [1] प्राचीव धास्यति ॥
षण्मासादूर्ध्वमेतस्याः सरस्या प्रतिमेन्दुवत् । चतुर्दशाधिको गर्भे दिवस्तीर्थकृदेष्यति ॥७१॥
कृतार्थाविति मन्येथामात्मानौ तद्युवामिह । न ह्यन्यो भविना लाभ. सुतादेवविधात्पर ॥७२॥
जन्म वा जीवितव्य वा गृहमेधाथवा द्वयोः । आकल्प युवयोरेव यास्यति श्लाघ्यतामित ॥७३॥

इत्थ [2]ग्रन्थमिव प्रमथ्य कृतिना तेनोरुचिन्ताभर
वागर्थाविव तौ प्रसादमधिक त प्रापितौ दम्पती ।
अन्तर्गूढगभीरभावपिशुन य भावयन्तश्चिरा-
ज्जातास्ते प्रमदेन पीनपुलकप्रोल्लासिन सज्जना. ॥७४॥

अथ तथाविधभाविसुतोदयश्रवणत. प्रणत पुनरप्यसौ ।
प्रमदगद्गदवागिति वाग्मिना पतिरुवाच वचासि मुनिं नृप ॥७५॥

ससारसारस्य सर्वस्वमवधिभूतद्रव्य जगत्त्रयचूडामणिस्थान कल्मषविषदर्पहरम् ॥ ६९ ॥ क्षुद्रेति—अन्याभि. स्त्रीभिर्दिव्याभिर्वा किं कार्य न किमपीत्यर्थः । अल्पप्रभाववत्पुरुषजननीभि । इय भवत्पत्न्येव धन्या जगच्चक्षुस्त्रिभुवनभासक तीर्थकरलक्षण द्योतिस्तेज उत्पादयिष्यति । यथा पूर्वा जगच्चक्षुरादित्याभिधान दधातीति ॥ ७० ॥ षण्मासादिति—षण्मासानन्तर भवत्पत्न्या अस्या कुक्षौ पञ्चदशतीर्थकरोऽवतरिष्यति गर्भे बाधाविवर्जित सरस्या गर्भे चन्द्रप्रतिबिम्बमिव दिव सर्वार्थसिद्धेर्विमानात् ॥ ७१ ॥ कृतार्थाविति—तत्तस्मात्सिद्धसाध्यौ युवामात्मानौ कृतार्थौ लब्धसासारिकफलसर्वस्वौ जानीता नह्येवविधाज्जगदुद्धरणधीरात्सुतात्ससारिणामन्य श्लाघ्यतमलाभोऽस्ति ॥ ७२ ॥ जन्मेति—आकल्पार्कमाचन्द्रार्क भवतोरेव श्लाघ्यता जन्मादिक यास्यति गृहमेधा गृहस्थत्वम् ॥ ७३ ॥ इत्थमिति—इत्थमिति कथ्यमानसहारे प्रकारे च तेन मुनिना चिन्ता निर्णाश्य तौ जायापती प्रकाशप्रमोद लम्भितौ य प्रसाद ध्यायन्त स्वजना हर्षेण कठोरपुलककण्टकिनो बभूवु । यथा कश्चित्कृती कवीन्द्रो ग्रन्थमनेकशास्त्ररहस्य पीन पुन्येन विचार्य वाक् चार्थश्च वागर्थौ प्रसादलक्षण गुणं प्रापयति य क्षोदक्षमगभीरमर्थं सविचारयन्तो रसज्ञा पुलकिता भवन्ति[3] ॥ ७४ ॥ अथेति—अथानन्तर पुनरप्यसौ

लोकोंका आभूषण है और पाप रूपी विषको नष्ट करनेवाला है ॥६९॥ क्षुद्रतेजको उत्पन्न करनेवाली दिशाओंकी तरह अन्य स्त्रियोंसे क्या लाभ ? यही एक धन्य है जो कि पूर्व दिशाकी भाँति अपनी ज्योतिसे संसार-भरके नेत्रोंको धारण करेगी—सन्तुष्ट करेगी [जिस प्रकार पूर्व दिशा जगच्चक्षु-सूर्यको धारण करती है उसी प्रकार यह तीर्थंकर रूप ज्योतिको धारण करेगी] ॥७०॥ जिस प्रकार सरसीके बीच चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब अवतीर्ण होता है उसी प्रकार छह मास बाद इस सुव्रताके गर्भमें स्वर्गसे पन्द्रहवें तीर्थंकर अवतीर्ण होंगे ॥७१॥ इसलिए आप दोनों अपने आपको कृतकृत्य समझो क्योंकि संसारी प्राणियोंके ऐसे पुत्रसे बढकर अन्य लाभ नहीं होता ॥७२॥ आजसे लेकर तुम दोनोंका ही जन्म, जीवन अथवा गार्हस्थ्य कल्पान्त-काल तक प्रशंसाको प्राप्त होता रहेगा ॥७३॥ जिस प्रकार कुशल टीकाकार किसी ग्रन्थके कठिन स्थलकी व्याख्या कर शब्द और अर्थको अत्यन्त सरल बना देता है जिससे अत्यन्त गूढ एव गम्भीर भावको सूचित करनेवाले उस अर्थका चिन्तन करते हुए पुरुष चिरकाल तक आनन्दित होते रहते हैं उसी प्रकार उन कुशल मुनिराजने विशाल चिन्ताका भार नष्ट कर उन दोनों दम्पतियोंको अधिक प्रसन्न किया था जिसमे गूढ तत्त्वको सूचित करनेवाले उस भावी पुत्रका चिरकाल तक चिन्तन करते हुए सज्जन पुरुष आनन्द से रोमाचित हो उठे ॥७४॥ तदनन्तर मेरे तीर्थंकर पुत्रका जन्म होगा—यह समाचार सुनकर जो अत्यन्त नम्र हो

१. ज्योति ग० च० । द्योभि छ० म० । २ ग्रन्थिमिव घ० च० म० । ३ यथा कश्चित्कृती व्याख्याता नैकशास्त्ररहस्य समुद्घाट्य शब्दार्थौ सरलता प्रापयति तेन च तद्रहस्य चिन्तयन्तो लोकाश्चिर परमानन्द प्राप्नुवन्ति तथात्रापीति भाव । उपमालकार शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ।

स्वर्गं सम्प्रति क पुनात्ययमथो कुत्रास्य जन्मन्यभू-
ल्लाभस्तीर्थकरत्वदानसुहृदः सम्यक्त्वचिन्तामणेः।
इत्थं वाग्भववैभवव्यतिकरं त्वं ब्रूहि जन्मार्णवो-
त्तीर्णस्यास्य भविष्यतो जिनपते शुश्रूषुरेषोऽस्म्यहम् ॥७६॥

इति प्रीतिप्रायं बहलपुलकस्यास्य सकलं कलङ्कातङ्कानामपशकुनमाकर्ण्य वचनम्।
मुनिः स्पष्टं द्रष्टुं तदपरभवोदारचरितं प्रकर्षेणाकार्षीदवधिनयनोन्मीलनविधिम् ॥७७॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये मुनिदर्शनो नाम तृतीयः सर्गः ॥३॥

नृपस्तं मुनिं वचांसि बभाषे सुवचसा पतिर्हर्षस्खलितवाक् अद्भुतप्रभावभविष्यत्पुत्रोदयाकर्णनात्प्रणतो विनयपरः ॥ ७५ ॥ स्वर्गमिति—हे वाग्भववैभव, वाग्ब्रह्मलक्ष्मीक, अस्य संसारसमुद्रोत्तीर्णस्य भविष्यज्जिनस्य व्यतिकरं कथासंबन्धं कथय अहं श्रोतुमिच्छुरस्मि। किं कथमित्याह—सांप्रतमसौ कं स्वर्गं पालयति। कस्मिन् जन्मन्यस्य सम्यक्त्वचिन्तामणेः रत्नत्रयचिन्तारत्नस्य। किंविशिष्टस्य तीर्थकरत्वदानसुहृदः तीर्थकरत्वलक्षणं यच्चिन्तितदानं तस्य सुहृद् दाता तस्य। सांप्रतं कस्मिन् स्वर्गेऽस्ति। कस्मिन् जन्मनि सम्यक्त्वलाभो बभूवेति प्रतिपादयेति भावः[2] ॥ ७६ ॥ इतीति—मुनिरवधिज्ञानलोचनप्रयोजनविधिं चकार। तस्य जन्मान्तरकथां स्पष्टमेव लोकयितुं प्रकर्षेण विशेषेण। अस्य पुलकितस्य राज्ञः परिपूर्णवचनं निशम्य दोषभयानां प्रतिषेधकं तीर्थकृतचरित्रं कथयतो न कोऽपि मौनभङ्गदोषः। प्रीतिप्रायं स्नेहसदृशम्[3] ॥७७॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयशस्कीर्तिविरचितायां सन्देहध्वान्तदीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकायां तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

रहा है ऐसे प्रशस्त वचन बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ राजा महासेनने हर्षसे गद्गद होकर मुनिराजसे पुनः इस प्रकारके वचन कहे ॥७५॥ हे वचनवैभवको धारण करनेवाले मुनिराज! इस समय यह किस स्वर्गको पवित्र कर रहा है! और तीर्थंकर पद की प्राप्तिमे कारणभूत सम्यग्दर्शनरूपी चिन्तामणिकी प्राप्ति इसे किस जन्ममें हुई!—यह सब कहिए। मैं संसार समुद्रसे पार हुए इस भावी जिनेन्द्रदेवके कथा सम्बन्धको सुनना चाहता हूँ ॥७६॥ इस प्रकार आनन्द से रोमाचित राजा महासेनके प्रीतिसे भरे एवं पापके आतंकको नष्ट करनेवाले समस्त वचन सुनकर प्रचेतस् मुनिराजने भावी जिनेन्द्रके पूर्वभवका उदार चरित स्पष्ट रूपसे जाननेके लिए अपना अवधिज्ञानरूपी नेत्र खोला ॥७७॥

इस प्रकार महाकवि श्रीहरिचन्द्रविरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें मुनिदर्शनका वर्णन करनेवाला तृतीय सर्ग समाप्त हुआ ॥३॥

---

१ द्रुतविलम्बितवृत्तम्। २ शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्। ३. शिखरिणीच्छन्दः 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी' इति लक्षणात्।

चतुर्थः सर्गः

अथापनिद्रावधिबोधचक्षु स्वहस्तमुक्तावदवेक्षमाण[1] ।
जिनस्य तस्यापरजन्मवृत्त वृत्तान्तसाक्षीव मुनिर्बभाषे ॥१॥

यत्पृष्टमिष्ट भवतार्थसिद्ध्यै तत्पार्थिवाकर्णय वर्ण्यमानम् ।
कथा कथचित्कथिता श्रुता वा जैनी यतश्चिन्तितकामधेनु ॥२॥

स धातकीखण्ड इति प्रसिद्धे द्वीपेऽस्ति विस्तारिणि पूर्वमेरुः ।
नभो निरालम्बमवेक्ष्य केनाप्युत्तम्भितस्तम्भ इवेक्ष्यते य. ॥३॥

विभूषयन्पूर्वविदेहमस्य सीतासरिद्दक्षिणकूलवर्ती ।
एकोऽप्यनेकेन्द्रियहर्षहेतुर्वत्साभिधानो विषयोऽस्ति रम्य ॥४॥

राजन्ति यत्र स्फुटपुण्डरीकप्रकाशिन [3]शाड्वलशालिवप्रा ।
च्युता निरालम्बतया कथचिदाकाशदेशा इव चारुतारा ॥५॥

अथेति—अथ प्रश्नानन्तर तस्य धर्मनाथजिनस्य पूर्वजन्मान्तरचरित्र मुनिरुवाच करतलमुक्ताफलवत् पश्यन् किंविशिष्ट सन्नित्याह—विकसितावधिज्ञानलोचन । क इव । वृत्तान्तसाक्षीव वृत्तान्ते साक्षी समीपस्थ-प्रतिपाद्य इव[4] ॥ १ ॥ यदिति—यदभिप्रेत त्वया पृष्टं तन्मनोरथसिद्ध्यै कथ्यमान शृणु यत कारणाज्जैनी कथा कथकश्रावकयोरपि चिन्तितप्रदानम् ॥ २ ॥ स इति—धातकीखण्डनाम्नि प्रसिद्ध सविस्तरद्वीपे पूर्वमेरुरस्ति य केनचित्समारोपितकाञ्चनस्तम्भ इव दृश्यते निरालम्बनभस पतनशङ्कया[5] ॥ ३ ॥ विभूषयन्निति—वत्साभिधानो देशस्तत्रास्ति । किंविशिष्ट । सीतानामधेया सरिन्नदी तस्या दक्षिणतटे वर्तत इति स । किं कुर्वन् । तस्यैव मेरो पूर्वविदेहाख्यक्षेत्रमलकुर्वन् । सर्वेन्द्रियप्रमोदकारणम् अथ चैकेन विषयेण स्पर्शादिविषय-मध्यगेन एकस्यैवेन्द्रियस्य प्रमोद उत्पद्यते न पञ्चेन्द्रियाणामिति विरोध[6] ॥ ४ ॥ राजन्तीति—यत्र देशे हरितशालिकेदारा अन्तरान्तरा विकसितपुण्डरीकमिश्रा प्रतिभान्ति अनालम्बत्वेन पतिता सतारका नीलाकाश-

तदनन्तर जिनका अवधिज्ञान रूपी नेत्र खुल रहा है, और जो अपने हाथपर रखे हुए मुक्ताफलकी तरह समस्त वृत्तान्तको स्पष्ट देख रहे हैं ऐसे प्रचेतस् मुनिराज भावी तीर्थंकरके पूर्व जन्मका वृत्तान्त इस प्रकार कहने लगे मानो वह वृत्तान्त वे साक्षात् ही देख रहे हों ॥१॥ हे राजन् ! प्रयोजनकी सिद्धिके लिए जो तुमने इष्ट वार्ता पूछी है मैं उसे कहता हूँ सुनो, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान्‌की कथा किसी भी प्रकार क्यों न कही अथवा सुनी जाय चिन्तित पदार्थको पूर्ण करनेके लिए कामधेनुके समान है ॥२॥ धातकीखण्ड इस नामसे प्रसिद्ध बड़े भारी द्वीपमें वह पूर्वमेरु है जो कि आकाशको निराधार देख किसी धर्मात्मा द्वारा खड़े किये हुए खम्भेकी तरह दिखाई देता है ॥३॥ इस मेरुसे पूर्व विदेह क्षेत्रको सुशोभित करता हुआ सीता नदीके दक्षिण तटपर स्थित वत्स नामका वह रमणीय देश है जो कि एक होकर भी अनेक इन्द्रियोंके हर्षका कारण है ॥४॥ जिस देशमे खिले हुए कमलोंसे सुशोभित हरी-हरी घाससे युक्त धानके खेत ऐसे जान पडते हैं मानो निराधार होनेके कारण किसी तरह गिरे

१ अवेक्ष्यमाणः घ० इ० म० च० । २ –प्युज्जृम्भित स्तम्भ घ० म० । ३ शाद्वल घ० म० । ४ उपजातिवृत्तम् । ५ उत्प्रेक्षा । ६ एकोऽद्वितीय विषयो जनपद इति परिहार ।

उद्गायतीव भ्रमदिक्षुयन्त्र चीत्कारनादैः श्रुतिसुन्दरैर्यः ।
प्रनृत्यतीवानिललोलसस्यैः स्वसंपदुत्कर्षमदेन मत्तः ॥६॥

अग्रे भजन्तो विरसत्वमन्तः सग्रन्थयो निष्फलमुन्नमन्तः ।
अचेतना इक्षव एव यत्र निष्पील्यमाना[1] रसमुत्सृजन्ति ॥७॥

द्रष्टुं चिरेणात्मकुलप्रसूतां श्रियं विशिष्टाभ्युदयामुपेताम् ।
यस्मिन्नुदन्वन्त इवावभान्ति विस्फारिताम्भोजदृशस्तडागाः ॥८॥

फलावनम्राम्रविलम्बिजम्बूजम्बीरनारङ्गलवङ्गपूगम् ।
सर्वत्र यत्र प्रतिपद्य पान्थाः पाथेयभारं पथि नोद्वहन्ति ॥९॥

यत्रानुकूलं ज्वलदर्ककान्तैर्विलीनकार्तस्वरपूरशङ्काम् ।
मध्यंदिनेऽम्भोजरजःपिशङ्गं क्षणं विधत्तेऽम्बु तरङ्गिणीनाम् ॥१०॥

विभागा इव ॥५॥ उद्गायतीति—यो देशः आत्मविभवातिशयमदेन विह्वल इव पील्यमानेक्षुयन्त्रनादैरुद्गायतीव च अनिलान्दोलितसस्यभूभागैर्नटतीव । मत्तस्य हि गाननृत्यादिका क्रिया प्रशस्यते[2] ॥६॥ अग्र इति—यत्र देशे एवंप्रकारा इक्षवः अग्रे आयतिपरिणामे विरसत्वं विरागित्वमाश्रयन्तः अन्तः सग्रन्थयो हृदयकठिना निष्फलमुन्नमन्तोऽस्थानकृतोरुप्रयासा अचेतना अज्ञानिनो लोभाग्रहाग्नि पीड्यमाना एव रसं द्रव्यमुत्सृजन्ति न पुरुषाः पक्षे इक्षुलताया स्वभावोऽयं यत्प्रान्ते नीरसता मध्ये ग्रन्थिलता निष्फलता अचेतनता यन्त्रनिपीलनेन रसत्यागः ॥७॥ द्रष्टुमिति—यस्मिन् देशे विकसितपद्मलोचनास्तडागाः समुद्रा इव भान्ति चिरप्रवासिता निजतनूजा लक्ष्मी विशिष्टाभ्युदया सजातातिशयप्रभावा द्रष्टुमिवागता । यथा कश्चिदात्मदुहितरं प्रणेतृगृहे प्राप्तविशेषश्रीकां चिरविरहितो विस्फारितलोचनोऽतिस्नेहाद्द्रष्टुमागच्छति[3] ॥८॥ फलेति—यत्र पान्थाः सबलं ताम्बूलादिकं मार्गे न गृह्णन्ति । पदे पदे फलपाकभरभूलुठितशाखान् चूतादिवृक्षान् नागवल्लीक्रमुकांश्चावलोक्य ॥९॥ यत्रेति—यत्र पिङ्गपद्मरागपिङ्गलं नदीनां जलं गलितस्वर्णरसप्रवाहभ्रमं जनयति । कैः कृत्वेत्याह—ज्वालाजटालसूर्यकान्तैस्तटसमीपे

हुए सुन्दर ताराओंसे शोभित आकाशके प्रदेश ही हों ॥ ५ ॥ जो देश इक्षुपीडन यन्त्रोंके कर्णकमनीय शब्दोंसे ऐसा जान पडता है मानो गा ही रहा हो और मन्द-मन्द वायुसे हिलते हुए धानके पौधोंसे ऐसा मालूम होता है मानो अपनी सम्पत्तिके उत्कर्षके मदसे नृत्य ही कर रहा हो ॥ ६ ॥ जिस देशमे अग्रभागमे नीरसता धारण करनेवाले, मध्यमे गठीले, और निष्फल बढनेवाले अचेतन इक्षु ही पेले जाने पर रस छोडते हैं। वहाँ ऐसे मनुष्य नहीं हैं जो प्रारम्भमें नीरस हों, हृदयमें गाँठदार—कपटी हों, और निष्प्रयोजन बढते हों ॥ ७ ॥ जिस देशमें कमलोंसे सुशोभित तालाब ऐसे जान पडते थे मानो अपने कुलमें उत्पन्न वैभवशालिनी लक्ष्मीको देखनेके लिए चिरकाल बाद समुद्र ही आये हों और उन्होंने कमलों के बहाने मानो नेत्र ही खोल रखे हों ॥ ८ ॥ जिस देश मे पथिकोंको सर्वत्र फलसे झुके हुए आम, जामुन, जम्बीर, सन्तरे, लौंग और सुपारियों के वृक्ष मिलते हैं अतः वे व्यर्थ ही पाथेयका बोझ नहीं उठाते ॥ ९ ॥ जिस देश में मध्याह्नके समय कमलोंकी परागसे पीला पीला दिखनेवाला नदियोंका पानी ऐसा सन्देह उत्पन्न करने लगता है मानो किनारेके समीप जलते हुए सूर्यकान्त मणियोंकी गर्मीसे कहीं लटका सोना ही तो गलकर नहीं भर गया है, ॥ १० ॥

---

१ निष्पीड्यमाना घ० म० । २ उत्प्रेक्षा । ३ तथोदन्वन्तोऽपि समागता इति भावः । उत्प्रेक्षा ।

काले प्रजाना जनयन्ति ताप करा रवेरेव न यत्र राज्ञ ।
स्याद्भोगभङ्गोऽपि भुजङ्गमाना [1]स्वस्थे कदाचिन्न पुनर्नराणाम् ॥११॥
तटे तटिन्यास्तरवः समृद्धि संप्राप्य यत्र प्रतिनिष्क्रयाय ।
छायाच्छलात्तज्जलदेवताभ्यो दातु फलानीव विशन्ति मध्ये ॥१२॥
निर्माय निर्माय पुरी सुराणा यच्छिक्षित शिल्पकलासु दाक्ष्यम् ।
तस्यैव धात्रा विहितास्ति तत्र प्रकर्पसीमा नगरी सुसीमा ॥१३॥
नितम्बभूचुम्बिवनान्तरीया यानावृतोच्चैस्तनवप्रभागम् ।
वातोच्छलत्पुष्परज.पटेन ह्रीता वधूवत्स्वमुपावृणोति ॥१४॥
अधृष्यमन्यैरधिरुह्य साल नीलाश्मकूटाशुमिषेण यस्याः ।
रुणद्धि रुद्धो बहुधान्धकार' क्रुधेव तिग्माशुकरप्रचारम् ॥१५॥

मध्याह्ने[2] ॥१०॥ काल इति—यत्रादित्यस्यापि किरणा काले मध्य एव यदि ताप जनयन्ति न मरुस्थलीवत्सर्वदिवस, न भूपते राजदेयभागा । यदि च विलासभङ्ग स्यात्तदा सर्पाणामेव भोगभङ्गो, न पुनर्नृणा मध्ये कस्मिंश्चिदपि पुरुषे । परिसख्येयमलकृति ॥११॥ तट इति—यत्र नद्या सकाशात्फलपुष्पादिका सपदमवाप्य प्रतिबिम्बदम्भात् नदीजलदेवतागणाय फलानीव दातु वृक्षा मध्ये प्रतिनिष्क्रयाय प्रत्युपकाराय । तत्राचेतना वृक्षा अपि न कृतघ्ना इति भाव ॥१२॥ अथ नगरी वर्णयितुमाह—निर्मायेति—तत्र सुसीमानगर्यस्ति यातिशयावधिर्ब्रह्मणा कृता । कस्यातिशयावधिरित्याह—तस्य दाक्ष्यस्य कलाकौशलस्य यत्पीन पुन्येनामरनगरकरणादस्यस्तम् ॥१३॥ नितम्बेति—या नगरी अनाच्छादितोच्चैस्तनप्राकारभागमात्मीय पिदधाति । वातोद्धूतकुसुमपरागवसनेन नितम्बभूप्राग्भारस्तत्र भुवि सश्लेषिवनान्येवान्तरीयमधोवसन यस्या सा तथाविधा । अन्यापि सान्तरीया आत्मोच्चपयोधरभागमनावृत वीक्ष्य लज्जमाना पुष्पवासितोत्तरीयेणावृणोति ॥१४॥ अधृष्यमिति—यस्या नगर्या इन्द्रनीलकपिशीर्षककिरणजालव्याजेन अन्यापरिभूत प्राकारमारुह्यान्धकार आदित्यकरप्रचार निवारयति । अन्यत्र बहुधा रुद्ध कोटिश परिभूत इति क्रोधेनेव । अत्युच्चैस्तरत्वात्प्राकारस्यास्तामन्यप्रतिपक्ष

जिस देशमें सूर्यकी किरणें ही समय पाकर प्रजाको सन्ताप पहुँचाती थीं, राजाके कर—टैक्स नहीं। इसी प्रकार भोगभङ्ग—फणा का नाश अथवा शरीरकी वक्रता यदि होता था तो सर्पोंके ही होता था। वहाँके मनुष्योंके स्वस्थ रहते हुए भोगभङ्ग—विषयका नाश नहीं होता था॥ ११॥ जिस देशमे नदियोंके किनारेके वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानो वहाँ वृद्धि पाकर बदला चुकाने की भावनासे छायाके बहाने जलदेवताओंको फल देनेके लिए ही भीतर प्रवेश कर रहे हों॥ १२॥ उस देशमें विधाताने देवोंकी नगरियोंको बना-बनाकर शिल्पकलामे जो कुछ चातुर्य सीखा है उसकी अन्तिम सीमाकी तरह विधाताके द्वारा बनायी हुई सुसीमा नामक नगरी है॥ १३॥ वनरूपी वस्त्र उस नगरीके नितम्ब तुल्य भूमिका चुम्बन कर रहे थे, प्राकार आदि उन्नत प्रदेश वन रहित होनेके कारण अनावृत थे और वायुके वेगसे उड़-उड कर फूलोंका कुछ-कुछ पराग उन उन्नत प्रदेशों पर पड रहा था जिससे वह नगरी उस लजीली स्त्रीकी तरह मालूम होती थी जिसका कि उत्तरीय वस्त्र ऊपरसे खिसककर नीचे आ गिरा हो, पीन स्तन खुल गये हों और जो वस्त्र द्वारा अपने खुले हुए स्तन आदिको ढँक रही हो॥ १४॥ यतश्च सूर्य अन्धकारको सर्वत्र रोका करता है अतः अन्धकार नीलमणिमय शिखरोंके बहाने उस नगरीके ऊँचे प्राकार पर चढकर क्रोधसे सूर्यकी किरणोंके प्रसारको ही मानो रोक रहा

१ सुस्थे क० । २ सशयालकार ।

यत्रोच्चहर्म्याग्रजुषामुदग्रान्पश्यन्मुखेन्दून्निशि सुन्दरीणाम् ।
ग्राह्ये तुषारत्विषि जातमोह क्षण भवेत्पर्वणि सैंहिकेय ॥१६॥

काम प्रति प्रोज्झितकृष्णवर्त्मा दृष्ट्यापि देहीति निमील्य शब्दम् ।
लोके दधानोऽपि महेश्वरत्व न दृश्यते यत्र जनो विपादी ॥१७॥

यत्रोच्चहर्म्याग्रहरिन्मणीना प्रभासु दूर्वाङ्कुरकोमलासु ।
क्षण क्षिपन्तो वदनान्यनूरु रवेस्तुरङ्गा परिखेदयन्ति ॥१८॥

व्यापार्य सज्जालकसनिवेशे करानभिप्रेङ्खति यत्र राज्ञि ।
द्रवत्यनीचै स्तनकूटरम्या कान्तेव चन्द्रोपलहर्म्यपङ्क्ति ॥१९॥

आदित्योऽपि । तमस्तकमधिरुह्य तापयतीति भाव[1] ॥१५॥ यत्रेति—यत्र सैंहिकेयो राहु पर्वणि ग्रहणदिने उपरज्यचन्द्रे जातभ्रान्ति स्यात् । कि कुर्वन्नित्याह—उच्चैस्तरशुद्धसौधचूलिकास्थिताना विलासिनीना मुखचन्द्रान् पश्यन् । तत्रस्थश्चन्द्रोऽपि न तमसा पराभूयते किं पुन शरणागत[2] ॥१६॥ काममिति—यत्र जनो महापतित्व दधानोऽपि न विषादी न दुःखयुक्त । य किंविशिष्ट । प्रोज्झितकृष्णवर्त्मा प्रोज्झित त्यक्त कृष्णं पापलोभात्मक वर्त्माचरण येन स तद्विध । दृष्ट्यापि दर्शनमात्रेणापि याचकाना देहीति शब्द निर्माज्य तथा कृतार्थिता यथा देहीति न वदन्ति याचका । काम प्रति अतिशयेनेत्यर्थ । अथ च दृष्ट्या तृतीयाक्षेण स्मरं प्रति मुक्ताग्निशिख शम्भु । किमर्थमित्याह—देहीति सदेहोऽयमिति काम इति वार्तामपि निमील्य अनङ्गीकृत्येत्यर्थ । य एव स्यान्महेश्वर स विषादी विषमत्तीति स । अयं च जातो न तथा । अतिविरोध ॥१७॥ यत्रेति—यत्रादित्यतुरङ्गा सारथिं व्याकुलयन्ति दूर्वाग्रासलालसा सन्त उच्चैरिन्द्रनीलगृहकूटकिरणैर्विप्रतारिता । अतश्च पुन पुनर्नोदिता अपि न चलन्तीति खेदकारणम् । भ्रान्तिमानलकार ॥१८॥ व्यापार्येति—यत्र चन्द्रकान्तगृहश्रेणी श्चोतति परमोदय चन्द्रे प्रयाति । स कि कृत्वा प्रेङ्खतीत्याह—उच्च प्रधानजालिकाप्रदेशे प्रथमत किरणान् प्रसार्य । अथ च सज्जायुक्ता मालादिनालकृताश्च तेऽलकाश्च तेषु गृहीत्वा

है ॥ १५ ॥ जिस नगरीमे रात्रिके समय ऊँचे-ऊँचे महलोंकी छतों पर बैठी हुई स्त्रियोंके मुख देखकर पूर्णिमाके दिन राहु अपने ग्रसने योग्य चन्द्रमाके विषयमे क्षण भरके लिए भ्रान्त हो जाता है—धोखा खा जाता है ॥ १६ ॥ उस नगरीके लोगोंने कामदेवके प्रति अपनी दृष्टिसे अग्नि छोडकर उसे शरीर रहित किया है [पक्षमे काम-सेवनके लिए मलिन मार्ग छोडकर 'देहि' इस याचना शब्दको नष्ट किया है] और इस तरह वे महेश्वरपना [पक्षमे धनाढ्यपना] धारण करते है फिर भी विषादी—विषपान करनेवाले [पक्षमे खेदयुक्त] नहीं देखे जाते—यह आश्चर्य है ॥ १७ ॥ जिस नगरीमे दूर्वाके अङ्कुरके समान कोमल ऊँचे-ऊँचे महलों के अग्रभागमें लगे हुए हरे-हरे मणियोंकी प्रभामे मुँह डालते हुए सूर्यके घोडे अपने सारथिको व्यर्थ ही खेदयुक्त करते हैं ॥ १८ ॥ जब प्राणवल्लभ सँभले हुए केशोंके बीच धीरे-धीरे अपने हाथ चलाता है तब जिस प्रकार पीन स्तनोंसे सुशोभित स्त्री कामसे द्रवीभूत हो जाती है उसी प्रकार जब राजा—चन्द्रमा उस नगरीके सुन्दर झरोखोंके बीच धीरे-धीरे अपनी किरणें चलाता है तब ऊँचे-ऊँचे शिखरोंसे सुशोभित उस नगरीकी चन्द्रकान्तमणि निर्मित महलोंकी

---

१ अपह्नवोत्प्रेक्षे । २ भ्रान्तिमानलकार ।

प्रक्षिप्य पूर्वेण मही महीभृत्करेण यान्स्वीकुरुतेऽपरेण ।
अन्तर्ययाप्तु ग्रहकन्दुकास्तान्हस्ता जिनागारमिषादुदस्ता ॥२०॥

सारेषु रत्नेषु यया गृहीतेष्वब्धिर्वृथा वीचिभुजै प्रनृत्यन् ।
रत्नाकरत्वेन न लज्जते यत्ततः स मे भाति जडस्वभावः ॥२१॥

मुहुर्मुहु स्फाटिकहर्म्यभित्तौ निरीक्ष्य रागापनिनीषयास्ये ।
स्वच्छामपि क्रान्तरदच्छदाभा दन्तच्छवि यत्र वधू प्रमार्ष्टि ॥२२॥

स्वस्थो धृताछद्मगुरूपदेश श्रीदानवारातिविराजमान. ।
यस्या करोल्लासितवज्रमुद्र पौरो जनो जिष्णुरिवावभाति ॥२३॥

कस्मिश्चिद्भूपतौ सर्वाङ्ग स्पृशति कापि कान्ता द्रवतीति प्रसिद्धमेव ॥१९॥ प्रक्षिप्येति—यया नगर्या जिनचैत्यालयमिषात् प्रगुणिता हस्ता । किं कर्तुमित्याह—ग्रहा एव कन्दुकास्तान् गृहीतु मार्गान्तराले यान् कन्दुकान् । पृथ्वी पूर्वाचलकरेणोच्चलयन्ती चरमाचलेन गृह्णीते । पूर्वाचलसदृशा जिनालया इत्यर्थ ॥२०॥ सारेष्विति—यदसौ जलधिरर्थेन शून्येन रत्नाकरत्वेन न जिह्रेति ततो ममाय जडस्वभाव प्रतिभाति । कुतोऽस्य मूर्खत्वमित्याह—यया नगर्या सारेषु गृहीतेष्वपि असौ न विलक्ष किन्तु विशेषत एव निरर्थक नृत्यत्येव लहरीबाहुभि । अन्योऽपि य कश्चिन्मूर्ख सोऽपि सहर्ष इति लक्षयितव्य ॥२१॥ मुहुरिति—यत्र मुग्धस्त्री शुभ्रनिर्मलामपि दन्तश्रेणी घर्षयति सजातबिम्बाधररागप्रतिमाम् । किमर्थं प्रमार्ष्टीत्याह—रागापनिनीषया ताम्बूलरसरागनिर्माजनाय स्फाटिकगृहभित्तौ निजमुख पश्यन्ती दन्तेष्वधरच्छाया दन्तरागमिव मन्यत[3] इत्यर्थ ॥२२॥ स्वस्थ इति—यत्र पौरलोक शक्र इव शोभते । किंविशिष्ट इत्याह—स्वस्थ परिपूर्णमनोरथो धृतोऽच्छदमना त्रिधाशुद्धत्वेन गुरूणामुपदेशो येन स तथा । श्रीदान श्रीवितरण तस्य वारोऽप्रतिषेधस्तेनातिशोभमान. । करे उल्लासिता वज्रमुद्रा हीरकाङ्गुलीयिका यस्य स । स्वर्गस्थो धृतसाधुबृहस्पतिमन्त्र श्रीदैत्यारिणा विराजमान

पक्ति भी द्रवीभूत हो जाती है—उस से पानी झरने लगता है ॥ १९ ॥ पृथिवी जिन गृहरूपी गेंदोंको पूर्वाचल रूप हाथसे उछालकर अस्ताचल रूप दूसरे हाथसे झेल लिया करती है उन्हें बीचमें ही लेनेके लिए इस नगरीने जिन मन्दिरोंके बहाने मानो बहुत-से हाथ उठा रखे है ॥ २० ॥ समुद्रके जितने सार रत्न थे वे सब इस नगरीने ले लिये है फिर भी वह तरङ्गरूपी भुजाओंको फैलाकर नृत्य कर रहा है और अपने आपको रत्नाकर कहता हुआ लज्जित नहीं होता इसीलिए वह मुझे जड स्वभाव—मूर्ख [पक्ष में जल स्वभाव] जान पडता है ॥ २१ ॥ एक विचित्र बात सुनो । वहॉ किसी स्त्रीके दॉतोंकी पंक्ति बहुत ही स्वच्छ है परन्तु ओठ की लाल-लाल प्रभासे उसमे कुछ-कुछ लाली आ गयी । यतश्च वह भी अपने मुँहमे लाली रहने ही न देना चाहती है अतः स्फटिक मणिसे बने हुए मकानकी दीवालमे देख-देखकर दॉतोंको बार-बार साफ करती है ॥ २२ ॥ जिस सुसीमा नगरीके नागरिकजन ठीक इन्द्रकी तरह जान पडते हैं क्योकि जिस प्रकार इन्द्र निष्कपट भावसे बृहस्पतिका उपदेश धारण करता है, उसी प्रकार नागरिकंजन भी निष्कपट भावसे अपने गुरुओंका उपदेश धारण करते हैं, जिस प्रकार इन्द्र श्रीदानवाराति—लक्ष्मीसहित उपेन्द्रसे सुशोभित है उसी प्रकार नागरिकजन भी श्रीदानवारा—सम्पत्ति का दान करनेके लिए सकल्पनार्थ लिये हुए जलसे अति विराजमान—सुशोभित हैं और जिस प्रकार इन्द्रके हाथमे वज्र नामक शस्त्र समुल्लसित है उसी

१ धूर्तनिसर्ग , पक्षे डलयोरभेदात् जलस्वभाव । २. यया सारेषु रत्नेषु गृहीतेषु सागरस्य रत्नाकरत्वं हास्यास्पदमस्तीति भाव । ३ तद्गुणभ्रान्तिमन्तौ ।

तद्यत्र चित्र यदणीयसापि स्नेहेन हीना स्मरदीपिकास्ता ।
नैतत्पुनर्यन्नकुलप्रसूता भुजङ्गमोह जनयन्ति वेश्या. ॥२४॥

या सारसर्वस्वविधानकुम्भी सवेष्ट्य शश्वत्परिखामिषेण ।
उद्भिद्य पातालतलान्युदीर्णा विपप्रपूर्णा भुजगी प्रयाति ॥२५॥

नि शेपनम्रावनिपालमौलिमालारज पिञ्जरिताङ्घ्रिपीठः[1] ।
स भूपतिस्तत्र बभूव शास्ता रथ जना यं दशपूर्वमाहु ॥२६॥

अनेन कोपज्वलनेन दग्धा सहासपुष्पाः खलु पत्रवल्ल्य ।
त्वक्पाण्डिमा वैरिवधूकपोले कुतोऽन्यथा भस्मवदुल्ललास ॥२७॥

अन्ये भियोपात्तपयोधिगोत्राः क्षोणीभुजो जग्मुरगम्यभावम् ।
लक्ष्मीस्ततो वारिधिराजकन्या तमेकमेवात्ममर्ति चकार ॥२८॥

करगृहीतदम्भोलिमुष्टि ॥२३॥ तद्यत्रेति—यत्र नगर्यां तदाश्चर्यम् । किमाश्चर्यमित्याह—यदवेश्या विलासिन्योऽणीयसापि स्तोकेनापि स्नेहेन हीना अपि स्मरदीपिका कामोन्मादकारिण्य । एतत्पुनर्न चित्र यन्नकुलप्रसूता मुग्धगोत्रजा अकुलीना इत्यर्थ तथाविधाश्च ता भुजङ्गमोह भुजङ्गा विटास्तेपा मा लक्ष्मीस्तस्या ऊहो वितर्क कामुकद्रव्यमभिलषन्तीत्यर्थ । पक्षे स्तोकेनापि तैलादिना हीना यत्कामजागरदीपिका एतच्चित्र न पुनर्यद्बभ्रुतनूजा सर्पमूर्च्छामुत्पादयन्ति ॥२४॥ यामिति—या नगरी खातिकामिषेण शेषाहिमहिषी रक्षयति । किं कारणमित्याह—सर्वसारनिरवधिनिधे कलशी सवेष्ट्य परिवार्य शश्वदनवतरतं पातालमूलानि भेदयित्वा जलपरिपूर्णा । परिखागाम्भीर्यवर्णनम्[2] ॥२५॥ नि शेपेति—तत्र स राजा प्रभुरभूद् य जना दशरथाभिध समाह्वयन्ति । सकामभूपमौलिदामपरागपिञ्जरितपादपीठ ॥२६॥ अनेनेति—अनेन राज्ञा शत्रुस्त्रीकपोले या पत्रवल्ल्यस्ता प्रतापाग्निना दग्धा । हासा एव पुष्पाणि हासपुष्पाणि तै सह । न चेत् कुतस्त्वक्पाण्डिमा चर्मपाण्डुरता भासितमिव प्रादुर्बभूव[3] ॥२७॥ अन्य इति—समुद्रोद्भवा श्रीस्तमेव नृप पतिमकार्षीत् कथमन्य नोपास्तेत्याह—अन्ये भयेन प्राप्तसमुद्रान्तपर्वतास्तत एवानाश्रयणीयता प्रापुरिति । अथ च येन किल आत्म-

---

प्रकार नागरिक जनोंके हाथोंमें भी वज्र—हीरे की अँगूठियाँ समुल्लसित है ॥२३॥ जिस नगरीमे यह बडा आश्चर्य है कि वहाँकी वेश्याओमें थोडा सा भी स्नेह—तेल [पक्षमे अनुराग] नहीं है फिर भी वे कामदीपिका—काम सेवनके लिए प्रज्वलित दीपिकाएँ है [पक्षमें कामकी उत्तेजना करनेवाली है] किन्तु इसमे जरा भी आश्चर्य नहीं है कि वे नकुलप्रसूत—नीच कुलमे उत्पन्न होकर [पक्षमें नेवलोंमे उत्पन्न होकर] भुजङ्ग—विटोंको [पक्षमें सर्पोंको] मोह उत्पन्न करती है ॥ २४ ॥ यह नगरी मानो सर्वश्रेष्ठ खजानेकी कलशी है इसीलिए तो विषसे [पक्षमे जलसे] भरी हुई सर्पिणी पातालको भेदनकर परिखाके बहाने इसे निरन्तर घेरे रहती है ॥ २५ ॥ उस सुसीमा नगरीका वह राजा था जिसका कि पादपीठ समस्त नम्रीभूत राजाओंके मुकुटकी मालाओंके परागसे पीला रहता था और लोग जिसे दशपूर्वक रथ—दशरथ कहते थे ॥ २६ ॥ इस राजाने अपने क्रोधानलसे शत्रुस्त्रियोंके कपोलो पर सुशोभित हास्यरूपी फूलोंसे युक्त पत्रलताओंको निश्चित ही जला दिया था । यदि ऐसा न होता तो भस्मकी तरह उनकी त्वचामे सफेदी कैसे झलक उठती ? ॥ २७ ॥ जब अन्य राजा भयसे भाग कर समुद्र और पर्वतोंमे जा छिपे [पक्षमे समुद्रका गोत्र स्वीकार कर चुके] अतः अगम्य भावको प्राप्त हो गये थे [कहीं भाईके साथ भी विवाह होता है ?] तब समुद्रराजकी

---

१. ताङ्घ्रि घ० ङ० म० । २ रूपकापह्नुती । ३ रूपकमूलकानुमानालकार ।

वैधव्यदग्धारिवधूप्रहारहारावचूलच्युतमौक्तिकौघा: ।
बभु प्रकीर्णा सकलासु दिक्षु यशस्तरोर्बीजकणा इवास्य ॥२९॥

युक्त तदाछिद्य वशीकृतेऽस्मिन् गोमण्डले तेन वृपोत्तमेन[1] ।
रक्ताक्षता बिभ्रदियाय रोषाद्वैरी वन यन्महिषीभिरेव ॥३०॥

यत्पुण्डरीकाक्षमपि व्यपास्य स्मराकृतेस्तस्य वश गता श्री. ।
सेर्ष्यं विरूपाक्ष इतो व्यधासीद्देहार्धनद्धा किल शैलपुत्रीम् ॥३१॥

दोपोच्चयेभ्यश्चकित स विद्वान् गता पुनस्ते प्रपलाय्य तस्मात् ।
इत्यस्य विस्तारियशश्छलेन विरुद्धमद्यापि दिशो हसन्ति ॥३२॥

सकज्जलाश्रुव्यपदेशनिर्यद्भृङ्गावली वैरिविलासिनीनाम् ।
राज्ञा कृत तेन रसाब्धिलोल-हृत्पद्मसकोचमवोचदुच्चैः ॥३३॥

गोत्रिणो भवन्ति वारिधिवत्समर्यादाश्च ये राजानस्तेपा कन्यकास्तास्तान्नोपयच्छन्ति ॥२८॥ वैधव्येति—वैधव्यदु खेनास्फालितहृदयाना शत्रुस्त्रीणा त्रुटितहारपतिता मुक्ताकणा शुशुभिरे । अतश्चोत्प्रेक्ष्यन्ते—अस्य भूपतेर्यशोवृक्षस्य बीजकणा इव सर्वदिशासु प्रक्षिप्ता[2] ॥२९॥ युक्तमिति—एतद्युक्तमेव यत्तेन वृपोत्तमेन धर्मविजयिना भूमण्डले बलात्करदीकृते सति पट्टराज्ञीभि सार्ध यद्वैरी वने वासमगात् । पक्षे धवलधुरीणेन गोवृन्दे विभागीकृते यथा कश्चिन्महिषता बिभ्रत्पृथगेव महिषीभि सार्धं वन प्रयाति ॥३०॥ यदिति—यत्तस्य स्मरसदृशस्य लक्ष्मीर्नारायणमपि त्यक्त्वा वशगता बभूव । किलेत्यनुमाने । विरूपाक्षो विषमलोचन सेर्ष्यं सरोप विमर्शन् गौरी देहमग्ना देहार्धनद्धामकार्षीत् । कमललोचनस्त्यक्तो लक्ष्म्या मा भीष्मलोचनमेषा कथ न हास्यतीति बन्धकारणम् ॥३१॥ दोषोच्चयेभ्य इति—अस्य राज्ञ एतद्विरुद्धमसभाव्य कुतूहलमद्यापि ककुभो हसन्ति प्रसृतयशोव्याजात् । कि विरुद्धमित्याह—स विद्वान् तत्त्ववेदी दोपसमूहेभ्यो भीतस्ते दोषा पुनस्तस्मान्नृपान्नष्टा दूर गता । यो हि य भीषयते न स तस्माद् बिभेतीति हास्यकारणम् ॥३२॥ सकज्जलेति—शत्रुस्त्रीणा सकज्जलाश्रुधाराव्याजेन निर्गच्छन्ती भृङ्गावली बभाषे । किमवोचदित्याह—तेन राज्ञा विहित रसाब्धौ लोल सश्रीक

पत्नी लक्ष्मीने उसी एक दशरथ राजाको अपना पति बनाया था ॥ २८ ॥ वैधव्यसे पीडित शत्रु-स्त्रियो द्वारा तोड़े हुए हारोंसे निकल-निकल कर जो मोतियोंके समूह समस्त दिशाओंमे फैल रहे थे वे ऐसे जान पडते थे मानो इस राजाके यश-रूप वृक्षके बीज ही हो ॥ २९ ॥ जिस प्रकार जब कोई बलवान् बैल छीनकर समस्त गोमण्डल—गायोके समूहको अपने अधीन कर लेता है तब भैंसा निराश हो अपनी भैसोंके साथ ही वनको चला जाता है उसी प्रकार जब इस धर्मात्मा राजाने शत्रुओंसे छीन कर समस्त गोमण्डल—पृथिवी मण्डलको अपने अधीन कर लिया तब शत्रु क्रोधसे लाल-लाल नेत्र करता हुआ अपनी रानियोंके साथ वनको चला गया यह उचित ही था ॥ ३० ॥ जब विरूप नेत्रोंको धारण करनेवाले महादेवजीने देखा कि लक्ष्मी कमलों-जैसे सुन्दर नेत्रोंवाले नारायणको छोडकर कामके समान सुन्दर राजा दशरथके पास चली गयी तब यदि पार्वती मुझे छोड़ कर उसके पास चली जाये तो आश्चर्य ही क्या ? ऐसा विचार कर ही मानो उन्होंने बडी ईर्ष्याके साथ पार्वतीको अपने शरीरार्धमे ही बद्ध कर रखा था ॥ ३१ ॥ देखो न, इतना बड़ा विद्वान् राजा जरा-से दोषोंके समूहसे डर गया और वे दोष भी उसके पाससे भाग कर अन्यत्र चले गये—इस प्रकार विस्तृत यशके छलसे दिशाएँ अब भी मानो इसके विरुद्ध हँस रही है ॥ ३२ ॥ इस राजाकी

१. वृषोन्नतेन घ० म० । २ रूपकोत्प्रेक्षा ।

उत्खातखड्गप्रतिबिम्बिताङ्गो रराज राजा समरप्रदोषे।
जयश्रियासावभिसारणाय नीलेन संवीत इवांशुकेन ॥३४॥

अनारतं वीररसाभियोगैरायासितेव क्षणमस्य यूनः।
विलासिनी भ्रूलतिकाग्ररङ्गच्छायासु विश्राममियाय दृष्टिः ॥३५॥

सरागमुर्व्या मृगनाभिदम्भादपारकर्पूरपदेन कीर्त्या।
रत्यापि दन्तच्छदरुक्छलेन स एकहेलं सुभगोऽवगूढः ॥३६॥

असत्पथस्थापितदण्डलब्धस्थामातिवृद्धो विहितस्थितिर्यः।
स एव रक्षार्थमशेषलक्ष्म्याः क्षात्रोऽस्य धर्मोऽजनि सौविदल्लः ॥३७॥

हृत्पद्म मानसाम्बुजं तस्य संकोचं निमीलनं पक्षे चन्द्रेण संकोचितमित्याख्यात्यनाश्रया भ्रमन्ती भ्रमरावलिः। अनुमानोऽयमलंकारः[1] ॥३३॥ उत्खातेति—स राजा समरराजान्धकारे आकृष्ट-खड्गमध्यप्रतिफलितमूर्तिरतश्च ज्ञायते जयलक्ष्म्या प्रच्छन्नरतायान्धपटेन व्यावृत[2] ॥३४॥ अनारतमिति—अस्य नृपस्य तरुण्युपमा विलासिनी[3] भ्रूलताभिनवशोभा दृष्टिर्विश्रान्तिमापत्त्रयासितेव खेदितेव वीररसाभियोगैः[4] प्रतापप्रयासैरहर्निशमभियोगखिन्नो हि शीतलच्छायामाश्रयति ॥३५॥ सरागमिति—स सुभगोऽवगूढः परिरेभे युगपत्, कया कयावगूढ इत्याह—मृगमदोद्वर्तनव्याजात्पृथिव्या, कर्पूरचूर्णोद्वर्तनच्छलेन कीर्त्या, रत्यानुरागलक्ष्म्या बिम्बाधरप्रभाच्छलेन। सुभगत्वात्सपत्न्योऽप्येकत्र स्थिता। समुच्चयोऽयमलंकारः ॥३६॥ असदिति—अस्याशेषश्रीरक्षणाय राजधर्म एव जरन्महल्लको बभूव। विहिता स्थितिर्नीतिनिश्चलता येन। अतिवृद्धः परमप्रकर्षं प्राप्तः। पुनः कथंभूतः। असत्पथेऽन्यायिमार्गे स्थापितो दण्डो निग्रहस्तेन लब्धं स्थाम प्रभावोऽतिशयो येन स तथाभूतः, पक्षे

शत्रुस्त्रियोंके नेत्रोंसे कज्जल मिश्रित आँसुओंके बहाने जो भौरोंकी पंक्ति निकलती थी वह मानो स्पष्ट कह रही थी कि इस राजाने उन शत्रुस्त्रियोंके रस-सागरमे लहरानेवाले हृदय-कमलको निमीलित कर दिया है—बन्द कर दिया है ॥ ३३ ॥ प्रहार करनेके लिए ऊपर उठायी हुई तलवारमे उस राजाका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था अतः वह ऐसा जान पड़ता था मानो युद्ध रूप सायंकालके समय विजयलक्ष्मीने अभिसार—प्रच्छन्न रति करनेके लिए उसे नील वस्त्रसे अवगुण्ठित कर रखा हो ॥ ३४ ॥ निरन्तर वीर-रसके अभियोगसे खेदको प्राप्त हुई इस युवाकी चञ्चल दृष्टि भृकुटि रूपी लताकी छायामे क्षण भरके लिए ठीक इस तरह विश्रामको प्राप्त हुई थी जिस प्रकार युवा पुरुषके द्वारा निरन्तरके उपभोगसे खेदित विलासिनी—स्त्री किसी छायादार स्थानमें विश्रामको प्राप्त होती है ॥ ३५ ॥ कस्तूरीके बहाने पृथ्वीने, कपूरके बहाने कीर्तिने और ओठोंकी लाल-लाल कान्तिके बहाने रतिने एक साथ उसका आलिंगन किया था—बड़ा सौभाग्यशाली था वह राजा ॥ ३६ ॥ कुमार्गमे स्थापित दण्डसे जिसे स्थिरता प्राप्त हुई है [पक्षमे पृथिवीपर टेकी हुई लाठीसे जिसे बल प्राप्त हुआ है] जो अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त है [पक्षमे—जो अतिशय बूढा है] और मर्यादाकी रक्षा करनेवाला है [पक्षमे—एक स्थान पर स्थित रहनेवाला है] ऐसा इसका क्षात्र धर्म ही इसकी राजलक्ष्मीकी रक्षा

---

१ तत्र च रूपकं मूलम्। २. उत्प्रेक्षा। ३ विलासवती पक्षे कामिनी। ४ वीररसस्याभियोगाः प्रयोगास्तैः पक्षे सुरतचेष्टाभिः।

प्रयच्छता तेन समीहितार्थान्नूनं निरस्तार्थिकुटुम्बकेभ्यः ।
व्यर्थीभवत्त्यागमनोरथस्य चिन्तामणेरेव बभूव चिन्ता ॥३८॥

दूरात्समुत्त्सितशासनोरुसिन्दूरमुद्रारुणभालमूलाः ।
यस्य प्रतापेन नृपा. कचाग्रकृष्टा इवाजग्मुरुपासनाय ॥३९॥

निधाय कान्तारसमाश्रितास्तान्हारावसक्तान्विदुपो द्विपश्च ।
क्रीडन् स लीलारसलालसाभिरासीच्चिर चञ्चललोचनाभि ॥ ४० ॥

अथैकदा व्योम्नि निरभ्रगर्भे क्षण क्षपाया क्षणदाधिनाथम् ।
अनाथनारीव्यथनैनसेव स राहुणा प्रैक्षत[1] गृह्यमाणम् ॥४१॥

किं सीधुना स्फाटिकपानमात्रमिद रजन्या· परिपूर्यमाणम् ।
चलद्द्विरेफोच्चयचुम्ब्यमानमाकाशगङ्गास्फुटकैरव वा ॥४२॥

विषममार्गे निवेशितयष्टिप्रासपदप्रचारबल ॥३७॥ प्रयच्छतेति—तेन दीनकुलेभ्यो दु खचिन्ता निष्कासिता, कामितार्थाद्यथाभिलापितार्थाच्चिन्ता गता । तत· सा चिन्ता चिन्तामणेरेव बभूव । किंविशिष्टस्येत्याह—निष्फलितदानमनोरथस्य एन राजानमेवार्थिनोऽर्थयन्ति न कोऽपि मामिति चिन्तास्थानम् । परिवृत्तिरियमलङ्कृति ॥ ३८ ॥ दूरादिति—यस्य तेजसा केशेषु गृहीता इव नृपा प्रणामाय समाययु । वन्दितराजादेशमुद्रासिन्दूरेण शोभितललाटा सन्तः[2] ॥ ३९ ॥ विधायेति—इति जिगीषुता प्राप्य राजा चटुलाक्षीभिश्चिर रमयस्स्थितवान् गुणगरीयसो विलासिनीरस प्रापितान्कृत्वा हारावसक्तान् मुक्ताकलापभूपितान् द्विष शत्रूश्च कान्तारे वने समाश्रितान् हारावसक्तान् हाहाकारयुक्तान् विधाय ॥ ४० ॥ अथ कदाचित्स राजा निर्मलनभस्तले राहुणा ग्रस्यमानं चन्द्र ददर्श । कृष्णत्वाद् विरहिणीजनपीडनपातकेनेव[3] ॥४१॥ किमिति, ऐरावणस्येति, क्षणमिति—तथाविध वितर्कयन्नाह—किमिद रात्रिविलासिन्याः स्फटिकचषक मदिरया परिपूर्यते । आहोस्विच्च-

करनेके लिए कंचुकी हुआ था ॥ ३७ ॥ चूँकि यह राजा सबके लिए इच्छानुसार पदार्थ देता था अतः याचकोंके समूहसे खदेड़ी हुई चिन्ता केवल उस चिन्तामणिके पास पहुँची थी जिसके कि दानके मनोरथ याचक न मिलनेसे व्यर्थ हो रहे थे ॥ ३८ ॥ जिनके ललाटका मूल भाग सिन्दूरकी मुद्रासे लाल-लाल हो रहा है ऐसा राजा लोग आज्ञा शिरोधार्य कर दूर-दूरसे इसकी उपासनाके लिए इस प्रकार चले आते थे मानो इसका प्रताप उनके बाल पकड उन्हें खींच-खींच कर ही ले आ रहा हो ॥ ३९ ॥ इस प्रकार वह राजा विद्वानों और शत्रुओंको कान्तारसमाश्रित—स्त्रियोंके रसको प्राप्त [पक्षमें वनको प्राप्त] तथा हारावसक्त—मणियोंकी मालासे युक्त [पक्षमे हाहाकारसे युक्त] करके लीलामें लालसा रखनेवाली चपल लोचनाओं-के साथ चिरकाल तक क्रीडा करता रहा ॥ ४० ॥ तदनन्तर उसने एक दिन पूर्णिमाकी रात्रिको जब कि आकाश मेघरहित होनेसे बिलकुल साफ था, पतिहीन स्त्रियोंको कष्ट पहुँचानेके पापसे ही मानो राहुके द्वारा ग्रसे जानेवाले चन्द्रमाको देखा ॥४१॥ उसे देख कर राजाके मनमें निम्न प्रकार वितर्क हुए—क्या यह मदिरासे भरा जानेवाला रात्रिका स्फटिक मणि-निर्मित कटोरा है ? या चचल भौंरोंके समूहसे चुम्बित आकाशगङ्गाका खिला हुआ सफेद

१ प्रैक्ष्यत म० घ० । २ उत्प्रेक्षा । ३ उत्प्रेक्षा ।

ऐरावणस्याथ करात्कथचिच्च्युत सपङ्को बिसकन्द एष ।
किं व्योम्नि नीलोपमदर्पणाभे सश्मश्रु वक्त्र प्रतिबिम्बित मे ॥४३॥
क्षण वितर्क्येति स निश्चिकाय चन्द्रोपरागोऽयमिति क्षितीश ।
[1]दृङ्मीलनाविष्कृतचित्तखेदमचिन्तयच्चैवमुदारचेता ॥४४॥ (विशेपकम्)
हा हा महाकष्टमचिन्त्यधाम्नि किमेतदत्रापतित हिमाशौ ।
यद्वा किमुल्लङ्घयितु कथचित्केनापि शक्यो नियतेर्नियोग ॥४५॥
सुधाद्रवैर्मन्मथमात्मवन्धुमुज्जीव्य नेत्राग्निशिखावलीढम् ॥
क्रुधेव तद्वैरिविनिष्क्रयार्थं स्थाणोरसौ मूर्ध्नि पद निधत्ते ॥४६॥
कुतश्चिर जीवति वाडवाग्नौ वर्तेत वार्धिः सह जीवनेन ।
अनेन चेच्चारु वसु प्रपञ्चैर्नीयेत न प्रत्यहमेव वृद्धिम् ॥४७॥
सुधाकरेणाप्यजरामरत्व नीता. सुरा एव मयात्र नान्ये ।
इतीव पूर्णोऽप्यतिलज्जमान पुन पुन कार्श्यमसौ व्यनक्ति ॥४८॥

ञ्चरीकचक्रवालचालित गगनगङ्गाविकसितकैरवमिति । अथवा सुरगजहस्तात्सकर्दम क्रीडाविसकन्द पतित उतस्विन्नीलमणिदर्पणाभे नभसि मम सकूर्चं मुख प्रतिबिम्बितम् । सशयोऽयमलकार । क्षणमात्रमिति विकल्प्य स निश्चय चकार चन्द्रोपरागोऽय सोमग्रहणमिति न केवल निश्चिकाय चिन्तयाञ्चकार च । नयन-निमीलनप्रकटितदु ख यथा स्यादिद वक्ष्यमाणम् ॥४२-४४॥ हा हेति—हाहेति दु खोद्गिरणेऽचिन्त्यधाम्नि अद्भुतप्रभावतेजसि चण्डीशचूडामणौ चन्द्रे किमेतन्महाकष्टमापन्न । यद्वेति सत्प्रसिद्धौ दैवस्य परिणाम केनापि बलवता कथचित्प्रकारशतैरपि समुल्लङ्घयितु शक्योऽपि तु नेत्यर्थं ।.४५॥ एतद्गुणान् सस्मरन्नाह—सुधेति—असौ चन्द्र स्थाणोस्त्रिनयनस्य मस्तके स्थान करोति कोपेनेव प्रत्यपकारार्थं नयनाग्निज्वालादग्ध काम-मात्ममित्र किरणपीयूषवर्षै. प्रत्युज्जीव्य नान्य एष इव [2]शत्रुहतौ ॥४६॥ कुत इति—वाडवाग्नौ जाज्वल्यमाने सति जीवनेन जलेन सार्द्धं कथ वर्तेत । न वर्तेतेत्यर्थ । अनेन चन्द्रेण यदि किरणपीयूषवर्षैर्वृद्धि न नीयेत । समुद्रोऽपि समुद्रोऽनेन मित्रेणेत्यर्थ । आक्षेपोऽयमलकार । अथ चोक्तिलेश —यथा कश्चिन्महादरिप्रेमसमुदिते सति केनचिन्मित्रेण द्रव्यविस्तारैर्यदि न वर्ध्यते तथा क्षीयत एव ॥४७॥ सुधेति—असौ चन्द्र सलज्ज इव पुन -पुन परिपूर्णीभूय कृशता प्रकटयति । किं लज्जाकारणमित्याह—मया पीयूषसमुद्रेणापि त्रिदशा एवाजरामरत्व

कमल है ? या ऐरावत हाथीके हाथसे किसी तरह छूटकर गिरा हुआ पंकयुक्त मृणालका कन्द है ? या नीलमणिमय दर्पणकी आभासे युक्त आकाशमें मूँछ सहित मेरा मुख ही प्रतिबिम्बित हो रहा है ? इस प्रकार क्षण-भर विचारकर उदार हृदय राजाने निश्चय कर लिया कि यह चन्द्रग्रहण है और निश्चयके बाद ही नेत्र बन्द कर मनका खेद प्रकट करता हुआ राजा इस प्रकार चिन्ता करने लगा ॥ ४२–४४ ॥ हाय ! हाय ! अचिन्त्य तेजसे युक्त इस चन्द्रमाके ऊपर यह क्या बडा भारी कष्ट आ पडा ? अथवा क्या कोई किसी तरह नियतिके नियोगका उल्लंघन कर सकता है ? ॥ ४५ ॥ नेत्रानलसे जले हुए अपने बन्धु कामदेवको अमृत निष्यन्द-से जीवित कर यह चन्द्रमा उस बैरका बदला लेनेके लिए ही मानो क्रोधसे महादेवजीके मस्तक पर अपना पद—पैर [स्थान] जमाये हुए है ॥ ४६ ॥ यदि यह चन्द्रमा अपनी सुन्दर किरणोंके समूह द्वारा प्रतिदिन वृद्धिको प्राप्त नहीं कराता तो यह समुद्र वडवानलके जीवित रहते चिरकालतक अपने जीवन—जिन्दगी [पक्षमें जल] से युक्त कैसे रहता ? यह तो कभी का सूख जाता ? ॥ ४७ ॥ मैंने अमृतकी खान होकर भी केवल देवोंको ही अजरामरता प्राप्त

१ दृशोर्नेत्रयोर्मीलनेनाविष्कृत प्रकटितश्चित्तखेदो यस्मिन्कर्मणि यथा स्यात्तथा। २ अन्योऽपि प्रबलो वैरप्रतिनिर्यातनाय शत्रौ शिरसि पदाघातं करोतीति भाव ।

सुदुर्धरध्वान्तमलिम्लुचानामुत्सार्य सेनामनिवार्यतेजा ।
रतेर्गलग्रन्थिमिवाबलाना मान भिनत्त्येष चिरात्कराग्रै ॥४९॥

इत्येष नि शेषजगल्ललामलीलायमानप्रसरद्गुणोऽपि ।
राजा दशा प्रापदिहेदृशो चेत्को नाम तत्स्यात्सुखपात्रमन्य. ॥५०॥

उपागमे तद्विपदामवश्य पश्यामि किंचिच्छरण न जन्तोः ।
अपारपाथोनिधिमध्यपातिपोताच्च्युतस्येव विहङ्गमस्य ॥५१॥

नीरोषितताया अपि सर्वदास्या. पश्यामि नार्द्रं हृदयं कदाचित् ।
युक्त तत पु सि कलामयेऽपि स्थिरो न लक्ष्म्याः प्रणयानुबन्ध ॥५२॥

अल्पीयसि स्वस्य फले यदेषा विस्तारिता श्रोः परिवारहेतो. ।
गुडेन सवेष्ट्य ततो मयात्मा मत्कोटकेभ्य किमु नार्पितोऽयम् ॥५३॥

प्रापिता नान्यमनुष्यादय । अन्योऽपि कृती महाकोशे सति स्वस्य कृपणत्व विचिन्त्य जिह्रेतीति भाव [1] ॥४८॥ सुदुर्धरेति—असो महातमश्चोराणामवपात निगृह्य प्रौढतेजाश्चन्द्रिकाया इव [2] रतेरनुरागश्रियो गलशृङ्खलामिव मनस्विनीना मान निजकरैर्निराचकारातिचिरमनन्याभेद्यम् [3] ॥४९॥ इत्येपेति—त्रिभुवनतिलकायमानगुणोऽनन्यसाधारणप्रभावो राजा चन्द्रः कश्चिन्नृपो वा यदीदृशी व्यसनदुर्दशामवस्था जगाम इह ससारे को नामान्योऽल्पप्राय स्वस्थ सुखो स्यादिति ॥५०॥ उपागम इति—जीवस्य किंचिच्छरण प्रतिपेधरूप न पश्यामि। पूर्वकर्मकृतानामापदा निपाते सति समुद्रान्तर्वर्तिन प्रवहणात्पतितस्य पत्रिणो नान्यत्स्थान पोतव्यतिरेकात् ॥५१॥ नीरोषिताया इति—विरक्तो लक्ष्मी निन्दयन्नाह—अस्या लक्ष्म्या नीरे स्थिता उषिता तस्यास्तथाभूताया समुद्रजन्मनोऽपि हृदयमास्नेहल न पश्यामि । यदि वा नीरोषिताया अपि अकोपिताया अपि सर्वेषा दासी सर्वदासी तस्या पक्षे सर्वकालमस्यास्तस्मादेवविधाया यन्न प्रणयानुबन्धो न स्नेहबन्धो निश्चल कलामये चन्द्रमसि सकलकलाविज्ञाननिधाने पुरुषे च तद्युक्तमेव ॥५२॥ अल्पीयसीति—यदेषा राज्यलक्ष्मीर्मया विस्तारिता लोकोपभोगाय । अल्पोपयोगत्वान्मम फले स्वल्पे सति तत्कृत कारणान्मया गुडेन वेष्टयित्वा आत्मा

करायी संसारके अन्य प्राणियोंको नहीं अपनी इस अनुदारतासे लज्जित होता हुआ ही मानो यह चन्द्रमा पूर्ण होकर भी बार-बार अपनी कृशता प्रकट करता रहता है ॥ ४८ ॥ अनिवार्य तेजको धारण करनेवाला यह चन्द्रमा सघन अन्धकार रूप चोरोंकी सेनाको हटाकर रतिक्रियामें फाँसीकी तरह बाधा पहुँचानेवाले स्त्रियोंके मानको अपनी किरणोंके अग्रभागसे [पक्षमे हाथके अग्रभागसे] नष्ट करता है ॥ ४९ ॥ जिसके गुण समस्त संसारमे आभूषणकी तरह फैल रहे हैं ऐसा चन्द्रमा भी [पक्षमें राजा भी] जब ऐसी आपत्तिको प्राप्त हुआ है तब दूसरा सुखका पात्र कौन हो सकता है ? ॥ ५० ॥ जिस प्रकार अपार समुद्रके बीच चलनेवाले जहाजसे बिछुड़े हुए पक्षीको कोई भी शरण नहीं है उसी प्रकार विपत्तियोंके आनेपर इस जीवको कोई शरण नहीं है ॥ ५१ ॥ यह लक्ष्मी चिरकाल तक पानीमे रही [पक्षमें क्रोधसे दूर रही] फिर भी कभी मैंने इसका हृदय आर्द्र—गीला [पक्षमें दयासम्पन्न] नहीं देखा अतः विद्वान् मनुष्यमें भी यदि इसका स्नेह स्थिर नहीं रहता तो उचित ही है ॥ ५२ ॥ निजका थोडा-सा प्रयोजन होने पर भी मैंने परिवारके निमित्त जो यह लक्ष्मी बढा रखी है सो क्या मैंने अपने आपको गुडसे लपेटकर मकोडोंके लिए नहीं सौप दिया है ? ॥ ५३ ॥

---

१ उत्प्रेक्षा । २ पक्षे सुरतचेष्टाया । ३. चन्द्रस्योद्दीपनविभावत्वात्तदुदये-मानवतीमानविनाश सिद्ध एव ।

अहेरिवापातमनोरमेषु भोगेषु नो विश्वसिम कथचित् ।
मृग सतृष्णो मृगतृष्णिकासु प्रतार्यते तोयधिया न धीमान् ॥५४॥
अन्याङ्गनासङ्गमलालसाना जरा कृतेर्ष्येव कुतोऽप्युपेत्य ।
आकृष्य केशेषु करिष्यते नः पदप्रहारैरिव दन्तभङ्गम् ॥५५॥
क्रान्ते तवाङ्गे [1]वलिभि समन्तान्नश्यत्यनङ्ग किमसावितीव ।
वृद्धस्य कर्णान्तगता जरेय हसत्युदञ्चत्पलितच्छलेन ॥५६॥
[2]रसाढ्यमप्याशु विकासिकाशसकाशकेशप्रसर तरुण्यः ।
उदस्थिमातङ्गजनोदपानपानीयवन्नाम नर त्यजन्ति ॥५७॥
आकर्णपूर्णं कुटिलालकोर्मि रराज लावण्यसरो यदङ्गे ।
वलिच्छलात्सारणिधोरणीभि. प्रवाह्यते तज्जरसा नरस्य ॥५८॥

मत्कोटकेभ्यो भक्षणाय समर्पित [3] ॥५३॥ अहेरिति—अविचारितरमणीयेषु भोगेषु साम्प्रत केनापि प्रकारेण न विश्वसिम सर्पस्येव भोगेषु शरीरेषु । मुग्ध सतृष्णो मृग एव मरुमरीचिकाभिर्विप्लाव्येत जलबुद्धया विचारवान्नास्मादृश [4] ॥५४ ॥ अन्येति—[5]जरा कोपना स्त्रीवास्माक दन्तपात विधास्यति पदप्रहारैरचिन्तितोपस्थिता । अथ च ज्ञायते कृतेर्ष्येव कृता ईर्ष्या यया सा कृतेर्ष्या । किंविशिष्टानामन्यललनोपभोगलम्पटानाम् । केशेषु व्याप्य प्रथम जरा शिर पलिते याति पश्चाद् दन्तपातादिक्रियासु प्रभवतीत्यर्थ [6] ॥५५॥ क्रान्त इति—जराजीर्णस्य कर्णसमीपस्था जरा पलितकुन्तलव्याजेन हसतीव । किं हसतीत्याह—किं ते नाम वलिवेष्टिते शरीरेऽसौ काम पलायते समन्तादतिशयेन । अथ च वलिभि सुभटैराक्रान्तेऽनङ्गो निर्गतवपुर्नश्यतीति हास्यस्थानम् [7] ॥५६॥ रसाढ्यमिति—युवत्यो मानव जहति विकसितकाशकुसुमसदृशपलितप्रकाश चतुरचाटुचञ्चुमपि सकेतोत्तम्भितास्थिनलकश्वपचसर पानीयमिव परिपूर्णान्यसामग्रीकमपि जरिण प्रति कलत्राण्यपि विरज्यन्ति [8] ॥५७॥ आकर्णेति—यत् कामकान्तिसर शुशुभे मनुष्यवपुषि किं विशिष्ट । कुटिला अलका एवोर्मयो यत्र तत्तथाविधम् । श्रवणसश्रीक पक्षे आपालीपर्यन्त तदेव जरया निर्गाल्यते सारणिश्रेणीभि । वलितशरीर-

सॉपके शरीरकी तरह प्रारम्भमें ही मनोहर दिखनेवाले इन भोगोंमे अब मै किसी प्रकार विश्वास नहीं करता क्योंकि मृगतृष्णाको पानी समझ प्यासा मृग ही प्रतारित होता है । बुद्धिमान् मनुष्य नहीं ॥ ५४ ॥ वह ईर्ष्यालु जरा कहींसे आकर अन्य स्त्रियोंके साथ समागमकी लालसा रखनेवाले हम लोगोंके बाल खींच कुछ ही समय बाद पैरकी ऐसी ठोकर देगी कि जिससे सब दॉत झड जायेंगे ॥ ५५ ॥ अरे तुम्हारा शरीर तो बड़े-बडे बलवानोंसे [पक्षमे बुढापाके कारण पडी हुई त्वचाकी सिकुडनोंसे] घिरा हुआ था फिर वह अनग क्यों नष्ट हो गया—कैसे भाग गया ?—इस प्रकार यह जरा वृद्धमानवोंके कानोंके पास जाकर उठती हुई सफेदी के बहाने मानो उसकी हॅसी ही करती है ॥ ५६ ॥ भले ही यह मनुष्य श्रृङ्गारादि रसोंसे परिपूर्ण हो [पक्षमे जलसे भरा हो] पर जिसके बालोंका समूह खिले हुए काशके फूलोंकी तरह सफेद हो चुका है उसे युवती स्त्रियॉ हड्डियोंसे भरे हुए चाण्डालके कुएँके पानीकी तरह दूरसे ही छोड देती है ॥ ५७ ॥ मनुष्यके शरीरमे कुटिल केशरूपी लहरोंसे युक्त जो यह सौन्दर्यरूपी सरोवर लबालब भरा होता है उसे बुढापा त्वचाकी सिकुडनोंके बहाने मानो

१ वलिभि. त्वक्सकोचै पक्षे श्लेषाद्बवयोरभेदाद् वलिभि सुभटै । २ स्नेहसहित पक्षे सजलमपि । ३ निदर्शनालकार । ४ दृष्टान्त । ५ जरा वृद्धावस्था, स्त्रीलिङ्गसाम्यात् काचित्कोपनशीला स्त्री च । ६. वार्धक्ये केशा शुक्ला भवन्ति दन्ताश्च पतन्तीति निसर्गसिद्धम् । समासोक्तिगर्भोत्प्रेक्षा । ७ बहुभि सुरक्षितात्स्थानात् कस्यचित्पलायन हास्यस्थान भवत्येव । ८ वर्णं सित वीक्ष्य शिरोरुहाणा स्थान जरापरिभवस्य तदेव पुसाम् । आरोपितास्थिशकल परिहृत्य यान्ति चाण्डालकूपमिव दूरतर तरुण्य ॥ -भर्तृहरेर्वैराग्यशतके ।

[1]असभृत मण्डनमङ्गयष्टे[2]र्नष्टं क्व मे यौवनरत्नमेतत् ।
इतीव वृद्धो नतपूर्वकाय. पश्यन्नधोऽधो भुवि बम्भ्रमीति ॥५९॥
इत्थ पुर प्रेष्य जरामधृष्या दूती[3]मिवापत्प्रसरोग्रदष्ट्र' ।
यावन्न कालो ग्रसते बलान्मा तावद्यतिष्ये परमार्थसिद्धयै ॥६०॥
इत्येष सचिन्त्य विनिश्चितार्थो वैराग्यवान् प्रातरमात्यबन्धून् ।
पप्रच्छ राजा तपसे यियासुः किवा विमोहाय विवेकिना स्यात् ॥६१॥
त प्रेक्ष्य भूप परलोकसिद्धये साम्राज्यलक्ष्मी तृणवत्त्यजन्तम् ।
मन्त्री सुमन्त्रोऽथ विचित्रतत्त्वचित्रा[4]यमाणामिति वाचमूचे ॥६२॥
देव त्वदारब्धमिद विभाति नभ प्रसूनाभरणोपमान[5]म् ।
जीवाख्यया तत्त्वमपीह नास्ति कुतस्तनी तत्परलोकवार्ता ॥६३॥

मकिंचित्करमित्यर्थ [6] ॥५८॥ असभृतमिति—तत पूर्व उपरितनकायो यस्य स तथाविधो जराजीर्णो विचञ्चरीति अधोऽधो भुवस्तलमवलोकयन्निव । किं पश्यन्नित्याह—एतदनन्यसाधारण ममाङ्गलताया मण्डन तारुण्यरत्न क्व पतितमिति वार्धक्यकुब्जताया उत्प्रेक्षा [7] ॥५९॥ इत्थमिति—यावद्यमो मा न कवलयति तावत्प्रतिविदधामि अजरामरत्वसिद्धयै च यतिष्ये यत्न करिष्ये । किं कृत्वा मा ग्रसत इत्याह—जरा चेटीमिव प्रस्थानीकृत्य । किंविशिष्टाम् । आपत्प्रसर एव उग्रदष्ट्रा यस्य । काल समेष्यतीति जरा दूती कथयति । रोगग्रस्ता कालदष्ट्रान्तरवर्तिन इत्यर्थ [8] ॥६०॥ इत्येष इति—इति स्वसवेगो राजा ज्ञातससारतत्त्वार्थ आदित्योदये मन्त्रिण स्वजनाश्च तपश्चरणोद्यत पप्रच्छ । तत्त्ववेदिना मोहोत्पादक राज्यादिक किं स्यात् । न स्यादित्यर्थ [9] ॥६१॥ तमिति—त राजान मुक्तये तृणतुलया तादृश साम्राज्यपद त्यजन्तमवलोक्य सुमन्त्रनामा मन्त्री नास्तिकमत विस्तारयन् वक्ष्यमाणा वाचमूचे ॥६२॥ देव इति, नेति—हे देव, तवारब्धमेतत् प्रत्यक्षवादिनामस्माक गगनकुसुममालामण्डनसदृश नोपपत्ति सपनीपद्यते विचारासहत्वात् । कुत इत्याह—जीवसज्ञ द्रव्यमेव नास्ति तस्माद् भवान्तरप्राप्ति कौवस्कुती कुतस्तनी । नास्तीत्यर्थ । नन्विन्द्रियादिभिर्दशभि प्राणैर्जीवति जीविष्यति अजीवीत् पूर्वं जीव प्रसिद्ध एवमेतैरनन्यसाधारणैर्धर्मैस्तदुपलब्धिरबलाबालगोपालादिभिरप्युप-

नहरें खोलकर ही बहा देता है ॥ ५८ ॥ जो विना पहने ही शरीरको अलंकृत करनेवाला आभूषण था वह मेरा यौवनरूपी रत्न कहाँ गिर गया ? मानो उसे खोजनेके लिए ही वृद्ध मनुष्य अपना पूर्व भाग झुकाकर नीचे-नीचे देखता हुआ पृथिवी पर इधर-उधर चलता है ॥ ५९ ॥ इस प्रकार जरारूपी चंट दूतीको आगे भेजकर आपदाओंके समूह रूप पैनी-पैनी डाढ़ोंको धारण करनेवाला यमराज जबतक हठात् मुझे नहीं ग्रस लेता है तबतक मै परमार्थकी सिद्धिके लिए प्रयत्न करता हूँ ॥ ६० ॥ ऐसा विचारकर वैराग्यवान् राजाने अपने कर्तव्यका निश्चय किया और प्रातःकाल होते ही तपके लिए जानेकी इच्छासे मन्त्री तथा बन्धुजनोंसे पूछा सो ठीक ही है वह कौन वस्तु है जो विवेकीजनोंको मोह उत्पन्न कर सके ? ॥ ६१ ॥ राजाका एक सुमन्त्र मन्त्री था, जब उसने देखा कि राजा परलोककी सिद्धिके लिए राज्यलक्ष्मीका तृणके समान त्याग कर रहे हैं तब वह विचित्र तत्त्वसे आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले वचन कहने लगा ॥ ६२ ॥ हे देव ! आपके द्वारा प्रारम्भ किया हुआ यह कार्य आकाशपुष्पके आभूषणोंके समान निर्मूल जान पडता है । क्योंकि जब जीव नामका कोई पदार्थ ही

१. असन्निभ क० । २ अय प्रथम पाद कुमारसभवस्य १।३३ श्लोकेन समान । ३. –मिवाप प्रसरोग्र ख० घ० म० । ४ चित्रीयमाणा ख० ग० घ०ङ० च० छ० म० । ५ –मन्त क० । ६ वलिभि पुरुषस्य सौन्दर्यं नश्यतीति भाव । रूपकालकार । ७ वृद्धो हि जनो नतशरीरत्वादधोऽधो भुवि पश्यश्चलत्येव तत्र प्रभ्रष्टयौवनरत्नमार्गणोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालकार । ८. मरणात्प्राक् कल्याणस्य चिन्ता श्रेयस्करीति भाव । ९ अर्थान्तरन्यास ।

न जन्मन. प्राड् न च पञ्चताया परो विभिन्नेऽवयवे न चान्त ।
विशन्न निर्यन्न च दृश्यतेऽस्माद्भिन्नो न देहादिह कश्चिदात्मा ॥६४॥
किं त्वत्र भूवह्निजलानिलाना संयोगत कश्चन यन्त्रवाह. ।
गुडान्नपिष्टोदकधातकीनामुन्मादिनी शक्तिरिवाभ्युदेति ॥६५॥
विहायतद्दृष्टमदृष्टहेतोर्वृथा कृथा पार्थिव मा प्रयत्नम् ।
को वा स्तनाग्राण्यवधूय धेनोर्दुग्ध विदग्धो ननु दोग्धि शृङ्गम् ॥६६॥

लभ्यते कथ नास्तीत्यभिहितवानसि । ननु सत्यमेवोक्त तथापि सति सिद्धे धर्मिणि धर्मा प्रतीयन्ते नासिद्धे । तस्य च विवादाधिष्ठितत्वादेतद्वन्ध्यासुतगुणगौरवसगानमिव । किंच नि श्वसिताविनाभावत्वे सति धर्मैर्धर्मी साध्यते ते निश्वासादयश्चान्यत्र भस्त्रादावप्युपलभ्यते ततो व्यभिचारित्वान्न किंचिदेव । अथ चेतनैव लिङ्ग यस्यासौ चेतनालक्षणो जीव इति पक्षकक्षा विवक्षसि । तदपि न किंचिदपि अविचारितरमणीयत्वात् । केयं नाम चेतना । तद्गुणीभूता तादात्मिका वा । प्रथमपक्षे धर्मिणस्तदवस्थ एव विवाद । पृथग्भूते तस्मिन् बहुव्रीहिणा सबन्ध । एतेन वास्मन्मतमेव सिद्ध भवति । चेतनैव लक्षण यस्य भूतसमवायस्येति । नापि द्वितीय पक्षो द्रव्यत्वहानिप्रसङ्गात् । चेतनैव चेदात्मा । के तस्य गुणा । अन्यस्य गुणत्वाभावान्निर्गुणत्वाद् द्रव्यत्वहानिरेव भवतीत्यर्थ । किं कार्यं गुणैरिति चेद् । 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इति विरुध्येत । अथ यत्राहमित्यनुपचरितप्रत्यय स आत्मेति मत तदपि मुग्धभाषितम् । अहमिति प्रत्ययो हि चेतनशक्त्यात्मके भूतसमवाय एव दृश्यते न शरीरे अतिप्रसङ्गात्, आकाशस्यापि जीवत्वप्रसङ्गे सुखदु खादिका परिच्छित्ति । स्वशरीरस्यैव तच्चेन्मतप्रयोगभूतबहिर्भूत वस्तु नास्ति अकालत्वे सत्यभूतस्वरूपत्वात् । यद्-यद् अकालत्वे सत्यभूतस्वरूप तत्-तत् नास्ति यथा खरविषाणम् अभूतस्वरूप चेद तस्मान्नास्त्येव । तस्य नित्यत्व निराकुर्वन्नाह—इह विचार्यमाणे तत्त्वे देहाद्भिन्न पृथगुपलभ्यमानो जीवो न दृश्यते, न केवल तत्रस्थ एव न दृश्यते तत्र प्रविशन्नपि न दृश्यते । तथा तस्मान्निर्गच्छन्नपि, खण्डश कृतेऽपि देहे मध्येऽपि च न दृश्यते । समुत्पत्ते पूर्वं मरणस्यानन्तर च न दृश्यत इति । किंच नाम चेतनालिङ्गत्वेन नित्यत्व भवता परिकल्प्यते । सा च शरीरचयापचयानुसारिणी । कथ नामान्याश्रयो गुणोऽन्यत्र सबन्ध्यते । किंचास्याक्षयित्व क्वचित् सर्वथा प्रकृष्यते क्षीयमाणत्वात् जाज्वल्यमानचुल्लीस्थालीजलवत् । सकुचितप्रदेशत्वान्नास्य हानिरिति चेत् । सत्यम्, अमूर्तस्यानवयवस्याकाशस्येव सकोचाभावात् तर्हि कुत एतदित्याह ॥६३-६४॥ किं त्वत्रेति—पृथ्वीजलतेजोवायूना शुक्रशोणितरूपाणा सामग्रीसयोगे कश्चित्तादृशे तस्मिन्नेव परिपाके दृश्यमानोऽय यन्त्रवाहश्चेतनाभिध प्रभावविशेषः । कथमचेतनेभ्यो नाम चेतनोत्पत्तिरित्याह—यथा धातक्यादिभ्योऽचेतनेभ्यो मदिराशक्तिरुन्मादिकेति । ननु सदृशात्सदृशोत्पत्तिस्ततकथ मूर्तेभ्योऽमूर्तसभव । सत्यम्, भूताना शक्तिरमूर्तैव ॥६५॥ विहायेति—हे प्रभो, प्रत्यक्षं साम्राज्यसौख्य परित्यज्य परोक्षाय मोक्षाय मा चिकीर्ष । सौख्य ससार एव अन्यत्राभावात् प्रयासपरम्परैवास्मिन्प्रयत्ने । को वा प्रेक्षापूर्वकारो हिताहितलिप्सुतित्यक्षुर्गवादीना दुग्धस्थानानि परित्यज्य भीतिकारिषु

नहीं है तब उसके परलोककी वार्ता कहाँ हो सकती है ? ॥ ६३ ॥ इस शरीरके सिवाय कोई भी आत्मा न तो जन्मके पहले प्रवेश करता ही दिखाई देता है और न मरनेके बाद निकलता ही । इसी प्रकार किसी अवयवके खण्डित हो जाने पर भीतर प्रवेश करता और निकलता हुआ दिखाई देता है' ॥ ६४ ॥ किन्तु जिस प्रकार गुड, अन्नचूर्ण, पानी और आँवलोंके संयोगसे एक उन्माद पैदा करनेवाली शक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार पृथिवी, अग्नि, जल और वायुके संयोगसे कोई इस शरीर रूपी यन्त्रका संचालक उत्पन्न हो जाता है ॥ ६५ ॥ इसलिए राजन् ! प्रत्यक्ष छोड़कर परोक्षके लिए व्यर्थ ही प्रयत्न न करो । भला, ऐसा

श्रुत्वेत्यवादीन्नृपतिर्विधुन्वन् भानुस्तमासीव स तद्वचासि ।
अपार्थमर्थं वदत सुमन्त्र नामापि ते नूनमभूदपार्थम् ॥६७॥
जीव स्वसवेद्य इहात्मदेहे सुखादिवद्बाधकविप्रयोगात् ।
काये परस्यापि स बुद्धिपूर्वव्यापारदृष्टे स्व इवानुमेयः ॥६८॥
तत्कालजातस्य शिशोरपास्य प्राग्जन्मसंस्कारमुरोजपाने ।
नान्योऽस्ति शास्ता तदपूर्वजन्मा जीवोऽयमित्यात्मविदा न वाच्यम् ॥६९॥
ज्ञानैकसवेद्यममूर्तमेन मूर्ता परिच्छेत्तुमल न दृष्टि ।
व्यापार्यमाणापि कृताभियोगैर्भिनत्ति न व्योम शितासियष्टि ॥७०॥

विषयेषु प्रवर्तते[1] ॥६६॥ श्रुत्वेति—निरर्थकतया तद्वचनानि विधुरयन्नृपतिरुवाच ध्वान्तानीव भास्करो हे सुमन्त्र, अर्थशून्य विसवादार्थं जल्पतो भवत सुमन्त्र इति नामापि निरर्थकमभूदिति पूर्वोक्तस्य प्रतिविदधानमाह—॥६७॥ जीव इति—जीव इति स्वेनैवात्मना वेद्य इह बुद्धिपूर्वककार्यकारिणि सबन्धितशरीरे सुखदु खवेदी, बाधककारणाभावात् । परस्यापि शरीरे बुद्धिमत्कार्यदर्शनादनुमीयते स्वशरीर इव । ननु चक्षुरादिना वेदितुमशक्यत्वात् । साधकप्रमाणाभावाद्वा जीवस्य नास्तीत्यभिधीयते । न नामान्धस्य दर्शनाशक्तिकत्वेन घटादीनामभावो न च चक्षुरादिना गृहीतमशक्यस्य स्पर्शग्राह्यस्य वायोर्नास्तित्व तथेतरेन्द्रियविषयस्य च । किं च यच्चक्षुषा पश्यामि तदस्तीति जल्पतो भवतश्चक्षुरेव नास्तित्वम् । तस्यात्मविषयत्वात् । नापि द्वितीयः पक्ष , तत्साधकप्रमाणाना सुलभत्वात् । तथाहि प्रत्यक्ष हि विशदरूपतया प्रतिभासन तच्चात्मन स्वानुभवनेन विशिष्टतममेवानुभवो हि प्रत्यक्षपरमप्रकर्ष स चात्मनि दृष्टोऽन्यत्राप्युपचर्यते । न नाम घटादीना परस्पर प्रत्यक्षता तेषामबोधस्वरूपत्वात् । यच्चोक्त क्ष्माप्यादौ जीवधर्मसभवस्तर्हि नास्तिकमतविकल्पावलीजाल कथ तस्मान्नोल्लसति साधारणधर्मविशेषत्वात् । किंच धारणप्रेरणद्रवत्वोप्लवस्वभावाना भूताना कथ चेतनास्वभाव । कथ नामाभावप्रमाण प्रवृत्तिमियर्ति । 'गृहीत्वा वस्तु सद्भाव स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् । मानस नास्तिताज्ञान जायतेऽक्षानपेक्षया'। ततो भवता कुत्रचिद्दृष्टे जीवेऽन्यत्र प्रतिषेधो वाच्य ॥६८॥ तत्कालेति—तत्कालजातस्य बालस्य पूर्वजन्मसस्कारमपहाय स्तनपानक्रियाया क शिक्षक । न कोऽपि, किन्तु पूर्वजन्मसस्कार एव स्तनपाने शिक्षाप्रद । जीवोऽय नवीन उत्पद्यते किन्तु पूर्वजन्मपरित्याग एव तथास्याभ्यासयोगात्स्तनपानादिका जन्मनि जन्मनि क्रिया तथैव[2] ॥६९॥ तर्हि कथ न दृश्यत इत्याह—ज्ञानैकेति—ज्ञानेनैकेन केवलेन सवेद्यते ज्ञानैकसवेद्यस्त तथाविधममूर्तमिन्द्रियापरिच्छेद्य जीव मूर्ता चर्ममयी दृष्टि परिच्छेत्तु न समर्था । तदर्थं दृष्टान्तमाह—

कौन बुद्धिमान् होगा जो गायके स्तनको छोड़ सींगोंसे दूध दुहेगा ? ॥ ६६ ॥ मन्त्रीके वचन सुन जिस प्रकार सूर्य अन्धकारको नष्ट करता है उसी प्रकार उसके वचनोंको खण्डित करता हुआ राजा बोला—अये सुमन्त्र ! इस निःसार अर्थका प्रतिपादन करते हुए तुमने अपना नाम भी मानो निरर्थक कर दिया ॥ ६७ ॥ हे मन्त्रिन् ! यह जीव अपने शरीरमे सुखादिकी तरह स्वसंवेदनसे जाना जाता है, क्योंकि उसके स्वसविदित होनेमे कोई भी बाधक कारण नहीं है और चूँकि बुद्धिपूर्वक व्यापार देखा जाता है अतः जिस प्रकार अपने शरीरमे जीव है उसी प्रकार दूसरेके शरीरमें भी वह अनुमानसे जाना जाता है ॥ ६८ ॥ तत्कालका उत्पन्न हुआ बालक जो माताका स्तन पीता है उसे पूर्वभवका संस्कार छोडकर अन्य कोई भी सिखानेवाला नहीं है इसलिए यह जीव नया ही उत्पन्न होता है—ऐसा आत्मज्ञ मनुष्यको नहीं कहना चाहिए ॥ ६९ ॥ चूँकि यह आत्मा अमूर्तिक है और एक ज्ञानके द्वारा ही जाना जा सकता है अतः इसे मूर्तिक दृष्टि नहीं जान पाती। अरे ! अन्यकी बात जाने दो, बड़े-बड़े निपुण मनुष्योंके द्वारा भी चलायी हुई पैनी तलवार क्या कभी आकाशका भेदन कर सकती

१. अर्थान्तरन्यास छेकानुप्रासश्च । २ प्राग्जन्मसस्कारादेव जीवो जनन्या स्तन धयतीति भाव. ।

सयोगतो भूतचतुष्टयस्य यज्जायते चेतन इत्यवादि ।
मरुज्ज्वलत्पावकतापिताम्भ स्याल्यामनेकान्त[1] इहास्तु तस्य ॥७१॥

उन्मादिका शक्तिरचेतना या गुडादिसबन्धभवा न्यदर्शि ।
सा चेतने ब्रूहि कथ विशिष्टदृष्टान्तकक्षामधिरोहतीह ॥७२॥

तस्मादमूर्तश्च निरत्ययश्च कर्ता च भोक्ता च सचेतनश्च ।
एक कथचिद्विपरीतरूपादवेहि देहात्पृथगेव जीव ॥७३॥

निसर्गतोऽप्यूर्ध्वगति प्रसह्य प्राक्कर्मणा हन्त गतीर्विचित्रा ।
स नीयते दुर्धरमारुतेन हुताशनस्येव शिखाकलापः ॥७४॥

तदात्मन कर्मकलङ्कमूलमुन्मूलयिष्ये सहसा तपोभि ।
मणेरनर्घस्य कुतोऽपि लग्न को वा न पङ्क परिमार्ष्टि तोयैः ॥७५॥

यत्नपरै पुरुषैर्निशितासिलता व्यापार्यमाणापि गगन न कृन्तति किन्तु मूर्त स्तम्भादिकमेव[2] ॥७०॥ सयोगत इति—यच्च भवता भूतचतुष्टयसयोगेन जीव समुत्पद्यते इत्युक्त तदपि व्यभिचार्येव । वातजाज्वल्यमानवह्नितापिता म्भ कुम्भ्या तस्य हेतोर्व्यभिचार । तत्र तप्तोदकस्थाल्यामपि भूतचतुष्टय समस्ति पर न च तत्र जीवसभव इति[3] ॥७१॥ उन्मादिकेति—या चोन्मादिका-उन्मादिनीशक्तिर्भवता दृष्टान्तीकृता सा चेतने दर्शनज्ञानोपयोगलक्षणे जीवे कथ निदर्शनं स्यात् । सदृशस्य गुणसादृश्येन दृश्यन्त इति दृष्टान्तवादिन । तच्च भवद्दर्शित निदर्शनमचेतन न सचेतने दृष्टान्त इति ॥७२॥ तस्मादिति—ज्ञानवेद्यत्वेनामूर्त । एतेन चार्वाको निरस्त, निरत्ययो नित्यो न बौद्धकल्पितवत् क्षणक्षयी, य एव कर्ता स एव भोक्ता, न प्रकृति करोति फलमात्मोपभुनक्तीति साख्यमतवत् । सचेतनो ज्ञानस्वरूपो न वैशेषिकमतवज्जडस्वरूप । एको नौपम्य, कथचिन्निर्वाच्ययुक्त्या विपरीतरूपाज्जडस्वभावादन्य एवात्मा ॥ ७३ ॥ तथाविधस्य कथ देहान्तरे सचरणमित्याह । निसर्गत इति—स जीवो निसर्गात्सहजादूर्ध्वगतिस्वभावोऽपि प्रसह्य बलात्कारस्वभावेन प्राक्समयमध्ये कर्मणा निजपरिणामेन कष्ट नानायोनी प्राप्यते । यथाग्निशिखाकलाप ऊर्ध्वज्वलनस्वभावो वायुना तिर्यग् नीयते ॥७४॥ तदात्मन इति—तच्चातुर्गतिकससारकारण मिथ्यापरिणामदोषमूल तप.खनित्रैरुत्पाटयिष्यामि । को वा तत्त्ववेदकोऽनर्घरत्नस्य कुतोऽपि बाह्यस्वभावान्मल लग्न न प्रक्षालयति जलैरिति

है ? ॥ ७० ॥ भूतचतुष्टयके सयोगसे जीव उत्पन्न होता है—यह जो तुमने कहा है उसका वायुसे प्रज्वलित अग्निके द्वारा सतापित जलसे युक्त बटलोईमे खरा व्यभिचार है क्योंकि भूतचतुष्टयके रहते हुए भी उसमे चेतन उत्पन्न नहीं होता ॥ ७१ ॥ और गुड आदिके सम्बन्धसे होनेवाली जिस अचेतन उन्मादिनी शक्तिका तुमने उदाहरण दिया है वह चेतनके विषयमें उदाहरण कैसे हो सकती है ? ॥ ७२ ॥ इस प्रकार यह जीव अमूर्तिक, निर्बाध, कर्ता, भोक्ता, चेतन, और कथञ्चित् एक है तथा विपरीत स्वरूपवाले शरीरसे पृथक् ही है ॥ ७३ ॥ जिस प्रकार अग्निकी शिखाओंका समूह स्वभावसे ऊपरको जाता है परन्तु प्रचण्ड पवन उसे हठात् इधर-उधर ले जाता है इसी प्रकार यह जीव स्वभावसे ऊर्ध्वगति है—ऊपरको जाता है परन्तु पुरातन कर्म इसे हठात् समय मात्रमें अनेक गतियोंमे ले जाता है ॥ ७४ ॥ इसलिए मैं आत्माके इस कर्म कलंकको तपश्चरणके द्वारा शीघ्र ही नष्ट करूँगा क्योंकि अमूल्य मणि-

१ व्यभिचार । २ मूर्ता खड्गयष्टिरमूर्तं गगन भेत्तु न शक्नोति न तथा मूर्ता दृष्टिर्जीव परिच्छेत्तु शक्नोतीति भावः । ३ यदि भूतचतुष्टयस्य सयोगाज्जीवो जायते तर्हि मरुदादिसयोगवत्या स्थाल्यामपि स जायेत किन्तु न जायते तस्मात्सदोप तन्निवेदनमिति भाव ।

दत्वा स तस्योत्तरमित्यबाधं ददौ सुतायातिरथाय राज्यम् ।
यन्निर्व्यपेक्षा परमार्थलिप्सोर्धात्री तृणायापि न मन्यते धीः ॥७६॥
अथैनमापृच्छ्य सबाष्पनेत्रं पुत्रं प्रपित्सुर्वनसन्निवेशम् ।
प्रजाः स भास्वानिव चक्रवाकीराक्रन्दिनीस्तत्प्रथमं चकार ॥७७॥
त्यक्तावरोधोऽपि सहावरोधैर्नक्षत्रमुक्तानुपदोऽपि राजा ।
प्रापद्वनं पौरहृदि स्थितोऽपि को वा स्थितिं सम्यगवैति राज्ञाम् ॥७८॥
तद्वाहनं श्रीविमलादिमादौ नत्वा गुरुं भूपशतैरुपेतः ।
तत्रोग्रकर्मक्षयमूलशिक्षां दीक्षां स जैनीमभजज्जितात्मा ॥७९॥

॥७५॥ दत्त्वेति—तस्य सुमन्त्रस्य पूर्वोक्तप्रकारेण सुनिश्चितमुत्तरं दत्त्वाधिरथनामधेयपुत्राय राज्यमदात् । यस्मात्कारणात् सर्वनिरभिलाषा बुद्धिर्मुमुक्षोः साम्राज्यं तृणतुल्यापि न गणयति[2] ॥७६॥ अथैनमिति—अथैनं राज्याधिष्ठं सुतमुत्कलाप्य ततो वनं यियासुः स्नेहवत्सलत्वेन स राजा प्रजाः रुरुदिषूरकार्षीत् । यथादित्यश्चक्रवाकीर्वनसंनिवेशं जलराशिं पतितुमिच्छुर्विरहविधुरिताः करोति[3] ॥७७॥ त्यक्तेति—स नृपः पौरजनैः संस्मर्यमाणो वनं जगाम, मुक्तान्तःपुरादिपरिवारो निर्विषयैर्भावैः सह न क्षत्रियाः स्थापिताः अनुपदं प्रतिदेशस्थानं येन स तथाभूतः । अथ च यः किल पौरहृदयस्थो भवति स कथं वने स्यात् । यश्च त्यक्तावरोधः स सावरोधः कथम् । नक्षत्राणां मुक्तं स्थानं येन स तथाविधश्चन्द्रः कथमिति विरोधः । को वा नीतिज्ञोऽपि नृपतीनां चित्तस्थितिं जानाति । यदि वा नो क्षत्रैर्मुक्तं पार्श्वं यस्य स तथाविधः । कैश्चिद्राजपुत्रैर्युक्तः प्रस्तावे[4] इत्यर्थः[5] ॥७८॥ तद्वाहनमिति—स राजा श्रीविमलवाहननामानं गुरुं नमस्कृत्य भूपशतसहितो

पर किसी कारणवश लगे हुए पंकको जलसे कौन नहीं धो डालता ? ॥ ७५ ॥ इस प्रकार महाराज दशरथने सुमन्त्र मन्त्रीके प्रश्नका निर्बाध उत्तर देकर अतिरथ नामक पुत्रके लिए राज्य दे दिया सो ठीक ही है क्योंकि परमार्थको प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यकी निःस्पृह दृष्टि पृथिवीको तृण भी नहीं समझती ॥ ७६ ॥ तदनन्तर जिस प्रकार अस्तोन्मुख सूर्य चकवियोंको रुलाता है उसी प्रकार रोते हुए पुत्रसे पूछ कर वनकी ओर जाते हुए राजाने अपनी प्रजाको सबसे पहले रुलाया था ॥ ७७ ॥ वह राजा यद्यपि अवरोध—अन्तःपुरको छोड चुके थे फिर भी अवरोधसे सहित थे [अवरोध—इन्द्रियदमन अथवा संवरसे सहित थे] और यद्यपि नक्षत्रों—ताराओंने उनका सन्निधान छोड़ दिया था फिर भी राजा—चन्द्रमा थे [अनेक क्षत्रिय राजाओंसे युक्त थे] और यद्यपि नगरवासी लोगोंके हृदयमें स्थित थे तो भी वनमें जा पहुँचे थे । [नगर निवासी लोग अपने मनमें उनका चिन्तन करते थे सो ठीक ही है क्योंकि राजाओंको ठीक-ठीक स्थितिको कौन जानता है ? ॥ ७८ ॥ उन जितेन्द्रिय

१ 'मन्यकर्मण्यनादरे' इति चतुर्थी । २ निःस्पृहस्य किं राज्येनेति भावः । ३ एतस्य वनगमनात्प्राक् प्रजा कदापि नाक्रन्दनं चकारेति भावः । ४ दीक्षावसरे इत्यर्थः । ५ अत्रेदं सुगमं व्याख्यानम्—स नृपस्त्यक्तो मुक्तोऽवरोधो बन्धनं येन तथाभूतोऽपि सन् अवरोधैर्बन्धनैः सह वर्तमान इति विरोधः । पक्षे त्यक्तो मुक्तोऽवरोधः शुद्धान्तो राजसद्म वा येन स इति परिहारः । 'अवरोधस्तु शुद्धान्तेऽप्यन्तर्द्धौ राजसद्मनि' इति विश्वलोचनः । नक्षत्रैस्ताराभिर्मुक्तं त्यक्तमनुपदं सामीप्यं यस्य तथाविधोऽपि सन् राजा नक्षत्रपतिश्चन्द्रः इति यावद्, बभूवेति विरोधः । पक्षे क्षत्रैः क्षत्रियैर्मुक्तानुपदं न भवतीति नक्षत्रमुक्तानुपदो राजा नृपो बभूवेति परिहारः । पौराणां नागरिकाणां हृदि चेतसि स्थितोऽपि विद्यमानोऽपि वनं काननं प्रापज्जगामेति विरोधः । पौरहृदयैः संस्मर्यमाणोऽपि वनं जगामेति परिहारः । अथ श्लेषेण परिहृतमपि विरोधं सामान्योक्त्या परिहरति—राज्ञां नृपाणां स्थितिं मर्यादां सम्यक् सुष्ठु को वावैति को वा जानीते न कोऽपीत्यर्थः । विरोधाभासोऽलंकारः 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते' इति लक्षणात् ।

तथा समुद्रामधिबिभ्रदुर्वीं धुन्वन्नरातीनपि विग्रहस्थान् ।
मुक्तोत्तमालकरण' प्रजापो वनेऽपि साम्राज्यपद बभार ॥८०॥
ध्यानानुवन्धस्तिमितोरुदेहो मित्रेऽपि शत्रावपि तुल्यवृत्तिः ।
व्यालोपगूढ स वनैकदेशे स्थितश्चिर चन्दनवच्चकासे ॥८१॥
पूषा तपस्यल्परुचि सदोप शशी शिखावानपि कृष्णवर्त्मा ।
गुणोदधेस्तस्य ततो न कश्चित्तम' समुन्मूलयत समोऽभूत् ॥८२॥
निरामयश्रीसदनाग्रनीव्र तीव्रं तपो द्वादशधा विधाय ।
धन्योऽथ सन्यासविसृष्टदेह सर्वार्थसिद्धि स मुनिर्जगाम ॥८३॥

जितेन्द्रियो जैनी दीक्षा महाव्रतभारधरा बभार । उग्रापि च तानि कर्माणि तेपा क्षयो विनाशस्तस्य मूलशिक्षा प्रथमकारणम् ॥७९॥ तथेति—तथा बाह्याभ्यन्तरद्वादशप्रकारतपश्चरणप्रकारेणोर्वीं भुवनपूज्या मुद्रा धारयन् देहस्थानिन्द्रियादीन् शत्रूनपि निघ्नन् त्यक्तप्रधानभूपण प्रजाप सिद्धमन्त्रमुच्चरन् तथा सन् स राजा वनेऽपि साम्राज्यपदमिव बभार । तथा तदवस्थाश्चत्वार समुद्रा यस्या ता पृथिवी पालयन् सग्रामस्थानरातीन् कम्पयन् मुक्ताफलप्रधानालकरण प्रजा पातीति[1] ॥८०॥ ध्यानेति—स राजा ध्यानकाष्ठा निष्पन्दाङ्गयष्टि श्रीखण्डमनुचकार वनप्रदेशस्थित सर्पमालित शत्रुमित्रसमसौरभपरिणाम[2] ॥ ८१ ॥ पूपेति—तस्य गुणसमुद्रस्यान्तर मोहलक्षण तम प्रक्षालयत आदित्य सदृशो न बभूव । कुत इत्याह—यतोऽसौ तपश्चरणे महाभिलाष पक्षे माघे मासि मन्दतेजा । चन्द्रश्च सरजनीक पक्षे सापवाद । अग्निरपि मलिनमार्ग प्रसिद्ध.[3] ॥८२॥ निरामयेति—स मुनि सर्वार्थसिद्धिनामधेयमनुत्तरविमान प्रपेदे । किं कृत्वेत्याह—

राजाने सर्वप्रथम श्रीविमलवाहन गुरुको नमस्कार किया और फिर उन्हींके पास सौ राजाओंके साथ-साथ भयंकर कर्मोंके क्षयकी शिक्षा देनेवाली जिनदीक्षा धारण की ॥ ७९ ॥ वह मुनि समुद्रान्त पृथिवीको धारण कर रहे थे [पक्षमें पृथिवी-जैसी निश्चल मुद्राको धारण कर रहे थे] युद्धमें स्थित शत्रुओंको नष्ट कर रहे थे, [पक्षमे शरीरमें स्थित काम, क्रोधादि शत्रुओंको नष्ट कर रहे थे], मोतियोंके उत्तम अलंकार धारण किये हुए थे [पक्षमे उत्तम अलंकारोंको छोड चुके थे] और प्रजाकी रक्षा कर रहे थे [पक्षमें प्रकृष्ट जाप कर रहे थे] इस प्रकार वनमे भी मानो साम्राज्य धारण किये हुए थे ॥ ८० ॥ उन मुनिराजका विशाल शरीर ध्यानके सम्बन्धसे बिलकुल निश्चल था, शत्रु और मित्रमें उनकी समान वृत्ति थी, तथा शरीरमें सर्प लिपट रहे थे अतः वनके एकदेशमे स्थित चन्दन वृक्षकी तरह सुशोभित हो रहे थे ॥ ८१ ॥ सूर्यकी तपमें अल्प इच्छा है [माघ मासमें कान्ति मन्द पड़ जाती है] परन्तु मुनिराजकी तपमे अधिक इच्छा थी, चन्द्रमा सदोष है [रात्रि सहित है] परन्तु मुनिराज निर्दोष थे और अग्नि कृष्णवर्त्मा है—मलिनमार्गसे युक्त है [कृष्णवर्त्मा अग्निका नामान्तर है] परन्तु मुनिराज उज्ज्वल मार्गसे युक्त थे अतः अन्धकारको नष्ट करनेवाले उन गुणसागर मुनिराजकी समानता कोई भी नहीं कर सका था ॥ ८२ ॥ तदनन्तर वे धन्य

१. अस्येद सुगम व्याख्यानम्—तथा तेन प्रकारेण स नृप । उर्वीं त्रिभुवनपूज्या पृथिवो मुद्रा सस्थानविशेषम् । अधिबिभ्रद् दधत् पक्षे आसमुद्रा चतु समुद्रान्ताम् उर्वीं पृथिवीम् अधिबिभ्रत् पालयन् विग्रहे शरीरे तिष्ठन्तीति विग्रहस्थास्तान् क्रोधादीन् अरातीन् रिपूनपि धुन्वन् नाशयन् पक्षे विग्रहे युद्धे तिष्ठन्तीति विग्रहस्थास्तान् अरातीनपि धुन्वम् उत्सारयन् 'विग्रह कायविस्तारविभागे ना रणेऽस्त्रियाम्' इति मेदिनी । मुक्तानि त्यक्तान्युत्तमान्यलकरणानि श्रेष्ठभूपणानि येन स निष्परिग्रहत्वादिति यावत् । पक्षे मुक्ताभि प्रोतमुक्ताफलैरुत्तमान्यलकरणानि यस्य तथाभूत । प्रकृष्ट जापो यस्य स प्रजाप पक्षे प्रजा पातीति रक्षतीति प्रजाप । एवभूत सन् वनेऽपि कान्तारेऽपि साम्राज्यपद साम्राज्यचिह्न बभार । श्लेप ॥ २ उपमालकार । ३. अस्येद व्याख्यान सुगमम्—पूपा सूर्यस्तपसि तपश्चरणे, अल्परुचिरल्पेच्छ अय तु महाभिलाष इति विशेष । पक्षे पूषा

तत्र त्रयस्त्रिंशदुदन्वदायुर्देवोऽहमिन्द्र[1] स बभूव पुण्यैः ।
निर्वाणतोऽर्वागधिकावधीना मूर्तः सुखानामिव यः समूहः ॥८४॥
सा तत्र मुक्ताभरणाभिरामा यन्मुक्तिरामा निकटीबभूव ।
मन्ये मनस्तस्य ततोऽन्यनारीविलासलीलारसनिर्व्यपेक्षम् ॥८५॥
तस्य प्रभाभासुररत्नगर्भा विभ्राजते रुक्मकिरीटलक्ष्मीः ।
अव्याजतेजोनिवहस्य देहे [2]द्राघीयसी प्रज्वलत शिखेव ॥८६॥
रेखात्रयाधिष्ठितकण्ठहारिहारावली तस्य विभोर्विभाति ।
सुदर्शनस्यात्यनुरक्तमुक्तिमुक्ताकटाक्षप्रसरच्छटेव ॥ ८७ ॥
नूनं सहस्रांशुसहस्रतोऽपि तेजोऽतिरिक्तं न च तापकारि ।
शृङ्गारसाम्राज्यमनन्यतुल्यं न चाभवत्तस्य मनो विकारि ॥ ८८ ॥

षड्विधं बाह्यं षड्विधाभ्यन्तरमिति द्वादशप्रकारं तपस्तप्त्वा । किंविशिष्टम् । नित्यमुक्तिलक्ष्मीगृहवलीकं तीव्रमनन्यकरणीयं सन्न्यसनपरमयोगेन स्वस्वरूपावलोकनेन मुक्तो देहो येन स तथाविधः ॥८३॥ तत्रेति— तत्र सर्वार्थसिद्धिविमाने त्र्यधिकत्रिंशत्सागरोपमायुःपरिणामोऽहमिन्द्रो देवो बभूव । कैस्तपश्चरणोपार्जितैः पुण्यैः । अथ च ज्ञायते स सुखानां मूर्तिमान् समूह इव अधिकावधीनां निःसीम्नाम् । कथम् । अर्वाक्, कस्मात् । मुक्तिपदात् । मोक्षसुखमेव ततो विशिष्टतरं नान्यदित्यर्थः ॥८४॥ सेति—सात्मप्रभावसदृशी मुक्तिस्त्री तस्य निकटीबभूव । या किंविशिष्टा । [3]मुक्तैराभरणैरेवाभिरमणीया नान्यनारीवत्सालंकरणा । ततश्चानुमामि तस्य देवस्येतरस्त्रीविलासक्रीडाभावपराङ्मुखं मनो बभूव । तत्र विमाने देवानां मन्मथादयो भावाः न सन्तीत्यर्थः ॥८५॥ तस्येति—जाज्वल्यमानमहारत्नकण्टकिता सुवर्णमुकुटलक्ष्मीस्तस्य शोभते सहजप्रमाणतेजोनिवहस्य दीर्घतरा भासमानस्य शरीरे ॥८६॥ रेखात्रयेति—रेखात्रयाङ्कितकण्ठे रमणीयं यथाभवत्येवं मुक्तावली राजते सुदर्शनस्य यथोक्तसम्यक्त्वस्य पक्षे सुदर्शनीयस्य । केव राजत इत्याह—अतिशयाभिलापुकमोक्षलक्ष्मीप्रेषितकटाक्षविचरत्पङ्क्तिरिव ॥८७॥ नूनमिति—निश्चितं तस्यादित्यसहस्रेभ्योऽपि तेजोऽधिकमेव । तर्हि तद्वत्तापकारि भविष्यति । तत्र न संतापकारकम् । शृङ्गारसर्वस्वं तस्यानन्यसदृशं, तर्हि कामोद्रेकादिरपि भविष्यति । तत्र न

मुनिराज मोक्ष-महलकी पहली नींवके समान बारह प्रकारके कठिन तप तपकर समाधिपूर्वक शरीर छोड़ते हुए सर्वार्थसिद्धि विमानमें जा पहुँचे ॥ ८३ ॥ वहाँ वे अपने पुण्यके प्रभावसे तेतीस सागरकी आयुवाले वह अहमिन्द्र हुए जो कि मोक्षके पहले प्राप्त होनेवाले सर्वोत्कृष्ट सुखोंके मानो मूर्तिक समूह ही हों ॥ ८४ ॥ चूँकि वहाँ सिद्ध परमेष्ठी रूप आभरणोंसे मनोहर मुक्तिरूपी लक्ष्मी निकटस्थ थी इसीलिए मानो उस अहमिन्द्रका मन अन्य स्त्रियोंके साथ क्रीड़ा करनेमें निःस्पृह था ॥ ८५ ॥ देदीप्यमान रत्नोंसे खचित उस अहमिन्द्रका सुवर्णमय मुकुट ऐसा जान पड़ता था मानो शरीरमें प्रकाशमान स्वाभाविक तेजके समूहकी लम्बी शिखा ही हो ॥ ८६ ॥ अत्यन्त सुन्दर [पक्षमें सम्यग्दर्शनसे युक्त] अहमिन्द्रके तीन रेखाओंसे सुशोभित कण्ठमें पड़ी हुई मनोहर हारोंकी माला ऐसी जान पड़ती थी मानो अनुरागसे भरी हुई मुक्ति लक्ष्मीके द्वारा छोड़ी हुई कटाक्षोंकी छटा ही हो ॥ ८७ ॥ निश्चित ही उस अहमिन्द्रका तेज हजारों सूर्योंसे अधिक था पर सन्ताप करनेवाला नहीं था, और शृंगारका

सूर्यस्तपसि माघमासेऽल्परुचिरल्पकान्तिः 'तपा माघे' इत्यमरः । शशी चन्द्रः सदोषो दोषसहितः अयं तु दोषरहितः पक्षे सदोषः सरजनीकः । शिखावानपि वैश्वानरोऽपि कृष्णवर्त्मा मलिनमार्गः । अयं तूज्ज्वलमार्गः पक्षे कृष्णवर्त्मेत्यग्नेर्नामान्तरम् । एवं तम आन्तरं ध्यानं मोहमिति यावत् समुन्मूलं यतो दूरीकुर्वतो गुणोदधेर्गुणार्णवस्य तस्य समः सदृशः कश्चित्कोऽपि नो बभूव । श्लेषमूलको व्यतिरेकालंकारः ॥

१ देवोऽयमिन्द्रः' घ० म० । २ अतिशयेन दीर्घा द्राघीयसी । ३ मुक्ता भगवन्तः सिद्धपरमेष्ठिनः एवाभरणानि भूषणानि तैरभिरामा मनोहरा पक्षे मुक्तानां मुक्ताफलानामाभरणानि भूषणानि तैरभिरामा ।

नव वयो लोचनहारि रूपं प्रभूतमायु पदमद्वितीयम् ।
सम्यक्त्वशुद्धाश्च गुणा जगत्सु कि कि न लोकोत्तरमस्ति तस्य ॥ ८९ ॥

तस्य त्रियामाभरणाभिरामान्वक्तु गुणान्वाञ्छति य समग्रान् ।
आप्लावयन्त जगती युगान्ते मुग्धस्तितीर्षत्युदधिं स दोर्भ्याम् ॥ ९० ॥

शरद्दलादूर्ध्वमितश्च्युत सन्नस्या' स गर्भे भवतः प्रियाया ।
शुक्तेरिव स्वातिभवोदबिन्दुर्मुक्तात्मकोऽग्रेऽवतरिष्यतीह ॥ ९१ ॥

इति निशम्य स सम्यगुदोरिता यमवतान्यभवस्थितिमर्हत ।
ससुहृदुत्पुलकस्तिलको भुव स्फुटकदम्बकदम्बकवद्बभौ ॥ ९२ ॥

अथोचितसपर्यया मुनिमनिन्द्यविद्यास्पद
प्रपूज्य [2]सपरिग्रहो विधिवदेनमानम्य च ।

च विषयाभिलापि चित्तम् । व्यतिरेकोऽयमलकार ॥८८॥ नवमिति—सर्वदा तत्र तारुण्य तादृक् प्रभाव च रूप प्रचुर जीवित प्रभुत्व चानन्यसदृश रत्नत्रयाङ्गिभूताश्च गुणास्ततस्तस्य किं किं न लोकाधिक वर्तते । समुच्चयोऽयमलकार ॥८९॥ तस्येति - तस्याहमिन्द्रस्य चन्द्रकरविशदान् सकलगुणगणान् विवक्षति य स कल्पान्ते भूवलय गिलन्त समुद्र तरीतुमिच्छति मुग्ध आत्मनो भुजाभ्याम् । [3]आक्षेपोऽयमलकार' ॥९०॥ शरदिति—हे राजन् ! षण्मासानन्तरमेतस्माद्विमानाच्च्युत सन् अस्मिन्नगरे भवत्पत्न्या सुव्रताया गर्भेऽवतरिष्यति स्वातिनक्षत्रजलबिन्दुरिव मुक्ताफलस्वरूप पक्षे मोक्षयोग्य ॥९१॥ इतीति—स राजा पृथिव्यास्तिलको मण्डनीभूत पुलकितो गोत्रजै सह । अतश्च सभाव्यते विकसत्कदम्बपुष्पस्तवक इव । किं कृत्वा रराजेत्याह—भविष्यज्जिनस्य पूर्वभववृत्तान्तमाकर्ण्य तेन मुनिना यथावत्प्रतिपादितम्[4] ॥९२॥ अथेति—अथानन्तर मुक्ताष्टप्रकारपूजया मुनिपादारविन्दान्यर्चयित्वा यथाविधि नत्वा च सपरिवारो राजा गृह जगाम द्रुतं

साम्राज्य अनुपम था पर मनको विकृत करनेवाला नहीं था ॥ ८८ ॥ उसकी नूतन अवस्था थी, नयनहारी रूप था, विशाल आयु थी, अद्वितीय पद था, और सम्यक्त्वसे शुद्ध गुण थे । वस्तुतः उसकी कौन-सी वस्तु तीनों लोकोंमें लोकोत्तर नहीं थी ? ॥ ८९ ॥ जो मूर्ख उस अहमिन्द्रके चन्द्रमाके समान उज्ज्वल समस्त गुणोको कहना चाहता है वह प्रलयकालके समय पृथिवीको डुबानेवाले समुद्रको मानो अपनी भुजाओंसे तैरना चाहता है ॥ ९० ॥ जिस प्रकार स्वाति नक्षत्रके जलकी बूँद मुक्तारूप होकर सीपके गर्भमे अवतीर्ण होती है उसी प्रकार यह अहमिन्द्र आजसे छह मास बाद आपकी इस प्रियाके गर्भमे प्रायः मुक्तरूप होता हुआ अवतीर्ण होगा ॥ ९१ ॥ इस प्रकार मुनिराजके द्वारा अच्छी तरह कहे हुए श्री तीर्थंकर भगवान्के पूर्वभवका वृत्तान्त सुनकर राजा महासेन अपने मित्रों सहित रोमांचित हो उठा, जिससे ऐसा जान पडने लगा मानो खिले हुए कदम्बके फूलोंका समूह ही हो ॥ ९२ ॥ अनन्तर राजाने अपने परिजन अथवा रानीके साथ प्रशंसनीय विद्याके आधारभूत उन मुनिराजकी योग्य सामग्री द्वारा पूजा की, विधिपूर्वक उन्हें नमस्कार किया और फिर यथासमय

---

१ शरदो हायनस्य दलमर्धभागस्तस्मात् मासषट्कात् 'हायनोऽस्त्री शरत्समा' इत्यमर । २ सपरिजन सपत्नीको वा 'परिग्रह परिजने पत्न्या स्वीकारशापयो' इति विश्वलोचन । ३ तस्य समग्रगुणवर्णन भुजाभ्या कल्पान्तपयोनिधितरणमिवेति निदर्शनालकार । ४ द्रुतविलम्बितवृत्तम्, उपमालकारश्च ।

यथासमयमेष्यता [1]सुमनसामिवातिथ्यविद्
विधातुमयमर्हणा द्रुतमगादगारं नृपः ॥ ९३ ॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये जिनापरभववर्णनो
नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

शीघ्रम् । द्रुतत्वकारणमाह—आगमिष्यता देवाना स्वागतपूजा कर्तुमिव । यतोऽसौ किंविशिष्ट । आतिथ्यवेदी, यथासमयं गर्भावतारजन्मोत्सवादिषु[2] ॥९३॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदयमहाकाव्ये भवान्तरवर्णने
श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यश्रीयशःकीर्तिविरचितायां
सदेहध्वान्तदीपिकायां चतुर्थः सर्गः ॥४॥

आनेवाले देवोंका सम्मान करनेके लिए वह अतिथि सत्कारका जाननेवाला राजा शीघ्र ही अपने घर वापिस चला गया ॥ ९३ ॥

इस प्रकार महाकवि हरिचन्द्र विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें पूर्वभव वर्णन
करनेवाला चतुर्थ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

१ 'सुमना पुष्पमालत्यो स्त्रिया धीरे सुरे पुमान्' इति विश्वलोचन । २. पृथ्वीच्छन्द 'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरु' इति लक्षणात् ।

पञ्चमः सर्गः

तत्र कारयितुमुत्सव मुदा यावदेष सदसि न्यविक्षत ।
तावदम्बरतटावतारिणोः प्रैक्षतामरविलासिनीर्नृपः ॥१॥

तारका' क्व नु दिवोदितद्युतो विद्युतोऽपि न वियत्यनम्बुदे ।
क्वाप्यनेधसि न वह्नयो महस्तत्किमेतदिति दत्तविस्मया ॥२॥

कधरावधि तिरोहिता घनैः क्वाप्यभिन्नमुखमण्डलश्रिया ।
यामिनोरिपुजिगीषयोद्यत सोमसैन्यमनुकुर्वती क्षणम् ॥३॥

रत्नभूपणरुचा प्रपञ्चिते वासवस्य परित शरासने ।
अन्तरुद्धुरतडित्त्विषो जनै. स्वर्णसायकततीरिवेक्षिता ॥४॥

कान्तिकाण्डपटगुण्ठिता' पुरा व्योमभित्तिमनुवर्णकद्युतिम् ।
तन्वतीस्तदनुभाविताकृतीस्तूलिकोल्लिखितचित्रविभ्रमम् ॥५॥

तत्रेति—तत्र निजसभाया यावन्मङ्गल कारयितुमुपविष्टस्तावद्गगनतलादुत्तरन्तीर्देवाङ्गना अद्राक्षीत् । एतत्समाहितमलकरणम्' ॥१॥ तारका इति—किंविशिष्टास्ता प्रैक्षतेत्याह—उत्पादितभ्रमा सभाविकारणाभावात् । एतास्तारका भविष्यन्ति । तन्न, तासा दिवसे प्रतिपिद्धत्वात् । तर्हि विद्योतमानास्तडित स्यु । तन्न, निर्घने नभसि तासामभावात् । ज्वलनशिखाश्च काष्ठादिवकालकमन्तरेण न भवन्ति तदेतत्तेज कुतस्त्यमिति सशयालकार ॥२॥ कधरेति—किंविशिष्टास्ता । कस्मिंश्चिद् गमनप्रदेशे ग्रीवा यावन्मेघैः पिहिता यामिनीनाथप्रतापमनुकुर्वाणा यामिनीरिपोरादित्यस्य जिगीपा जेतुमिच्छा तया समुद्यत सनद्ध सर्वासा सदृशमुखसमूहलक्ष्म्या ॥३॥ रत्नेति—सुवर्णभल्लिपङ्क्तय इतीवोत्प्रेक्षिता विद्युल्लतासनिभा पञ्चरत्नालकरणतेजसा शक्रधनुषि विस्तारिते परितो बहिर्वलये तन्मध्ये सस्थिता इव ॥४॥ कान्तीति—ता गगनादवतरन्ती पूर्वं निजदेहप्रभाभारपिहिता आलेख्यपञ्चवर्णवर्णकचित्रितामिव नभोभित्तिं कुर्वती पश्चादासन्नतयोपलभ्यमानमुखस्वरूपा सूक्ष्मकूर्चिकोन्मीलितचित्राकार दर्शयन्ती । ता व्योमभित्तौ चित्रपुत्रिका इव विरेजुरित्यर्थ ॥५॥

राजा महासेन हर्षसे उत्सव करानेके लिए सभामें बैठे ही थे कि उनकी दृष्टि आकाशतटसे उतरती हुई देवियोंपर जा पडी ॥१॥ तारकाएँ दिनमें कहाँ चमकतीं ? बिजलियाँ भी मेघरहित आकाशमे नहीं होतीं और अग्निकी ज्वालाएँ भी इन्धन रहित स्थानमें नहीं रहतीं, फिर यह तेज क्या है ? इस प्रकार वे देवियाँ आश्चर्य उत्पन्न कर रही थीं ॥२॥ वे देवियाँ ऊपरसे नीचेकी ओर आ रही थीं, उनका नीचेसे लेकर कन्धे तकका भाग मेघोंसे छिप गया था। मेघोंके ऊपर उनके केवल मुख ही प्रकाशमान हो रहे थे जिससे वे ऐसी जान पडती थीं मानो सूर्यको जीतनेकी इच्छासे एकत्रित हुई चन्द्रमाकी सेना ही हो ॥३॥ उन देवियोंके रत्नाभरणोकी कान्ति सब ओर फैल रही थी जिससे खासा इन्द्रधनुष बन रहा था, उस इन्द्रधनुषके बीच बिजलीके समान कान्तिवाली वे देवियाँ मनुष्योंको सुवर्णमय बाणोंके समूहके समान दीख पडती थीं ॥४॥ पहले तो वे देवियाँ आकाशकी दीवालपर कान्तिरूपी परदासे ढके हुए अनेक रंगोंकी शोभा प्रकट कर रही थीं, फिर कुछ-कुछ आकारके दिखनेसे तूलिकाके द्वारा चित्रका

१ षडशीतितमश्लोक यावत् रथोद्धता वृत्तम् 'रान्नराविह रथोद्धता लगौ' इति लक्षणात् ।

शीतदीधितिधियाभिधावितैः सैंहिकेयनिकुरम्बकैरिव ।
सौरभादभिमुखालिमण्डलैर्भ्राजितानि वदनानि बिभ्रतीः ॥६॥
स्वानुभावधृतभूरिमूर्तिना पद्मरागमणिनूपुरच्छलात् ।
भानुना क्षणमिह प्रतीक्ष्यतामित्युपात्तचरणा स मन्मथम् ॥७॥
निष्कलङ्कगलकन्दलीलुठत्तारहारलतिकापदेशतः ।
सगता इव चिरेण गौरवादन्तरिक्षसरितावगूहिता. ॥८॥
[1]पीवरोच्चकुचमण्डलस्थितिप्रत्ययानुमितमध्यभागया[2] ।
दुर्वहोरुजघना जगल्लघूकुर्वतीरतुलरूपसपदा ॥९॥ [नवभि' कुलकम्]
पारिजातकुसुमावतसकस्पर्शमन्थरमरुत्पुरासरा ।
पश्यतोऽथ नृपतेः सभान्तिक ता समीरणपथादवातरन् ॥१०॥
तत्र कोकनदकोमलोपलस्तम्भमिन्दुमणिमण्डप पुर ।
ता प्रतापधृतमद्भुतोदय भूपतेर्यश इव व्यलोकयन् ॥११॥

शीतेति—किंविशिष्टास्ता । मुखानि धारयन्ती , किंविशिष्टान्युपशोभितानि समुखाभिपतितैर्भ्रमरपटलैर्गन्धलोभाद्राहुचक्रैरिव चन्द्रबुद्धया समुपढौकितै । भ्रान्तिमानलकार ॥६॥ स्वानुभावेति—पुन किंविशिष्टास्ता । सकामालाप गृहीतचरणा क्षणमात्रमत्रैव मम समीपे अर्घपाद्यादिक कार्यतामिति चाटुवचनवतादित्येन रक्तोपलतुलाकोटिव्याजात् । कथ नैकरूपतेत्याह—आत्मकामरूपत्वप्रभावधृतबहुमूर्तिना ॥७॥ निष्कलङ्केति—किंविशिष्टास्ता । नभोमार्गप्रवहन्त्याकाशगङ्गयाश्लिष्टा इव चिरेण मिलिता प्रेमभरात् निर्मलगलकन्दललोलत्तरलहारमालाव्याजात् चिरमिलितस्य कण्ठे ह्याश्लेषक्रम' ॥८॥ पीवरेति—ता किंविशिष्टा । अनुपमरूपलक्ष्म्या भुवन निरहकारभार कुर्वती नृपतिरद्राक्षीत्[3] । अतिविशालजघना किंविशिष्टया । पीवरेत्यादि—पीनोत्तुङ्गस्तनमण्डलस्थितिप्रत्ययेनानुमितो ज्ञातो मध्यभागो यस्या सा तथा तया, तथाहि अस्ति मध्यभागोऽस्या कुचमण्डलस्थितेस्तदाधारमन्तरेणान्यथानुपपत्तेरिति तुलित मध्यमिति भाव ॥९॥ पारिजातेति—तथा सवितर्क तस्य नृपतेरवलोकयतस्ता मध्येसभमापतन् । पारिजातप्रभृतिदेववृक्षकुसुमकर्णपूराश्लेषमन्दवायुपूरसभा मन्दारपरिमलेन प्रतीहाररूपेण सत्यापिता इत्यर्थ ॥१०॥ तत्रेति—तत्र सभाया ता अग्रतश्चन्द्रकान्तमण्डप पद्मरागस्तम्भमद्राक्षु तस्यैव भूपतेर्महाप्रभाव यशोमण्डलमिव पौरुषोत्तम्भितम् । अत्र यशोमण्डपयो

भ्रम करने लगी थीं ॥५॥ उनके मुखोंके पास सुगन्धिके कारण जो भौंरे मॅडरा रहे थे वे ऐसा जान पडते थे मानो मुखोंको चन्द्रमा समझ ग्रसनेके लिए राहुओंका समूह ही आ पहुँचा हो ॥६॥ उन देवियोंके चरणोंमें पद्मराग मणियोंके नूपुर थे, जिनके छलसे ऐसा मालूम होता था मानो सूर्यने अपने प्रभावसे अनेक रूप धारणकर 'आप लोग क्षणभर यहाँ ठहरिए' यह कहते हुए कामवश उनके चरण पकड रखे हो ॥७॥ उनके निर्मल कण्ठोंमे बड़े-बड़े हार लटक रहे थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो बहुत समय बाद मिलनेके कारण आकाशगंगा ही बड़े गौरवसे उनका आलिंगन कर रही हो ॥८॥ उन देवियोंकी कमर इतनी पतली थी कि दृष्टिगत नहीं होती थी। केवल स्थूल स्तनमण्डलके सद्भावसे उसका अनुमान होता था ? साथ ही उनके नितम्ब भी अत्यन्त स्थूल थे इस प्रकार अपनी अनुपम रूप-सम्पत्तिके द्वारा वे समस्त संसारको तुच्छ कर रही थीं ॥९॥ पारिजात पुष्पोंके कर्णाभरणके स्पर्शसे ही मानो जिनके आगे मन्द मन्द वायु चल रही है ऐसी वे देवियाँ राजाके देखते-देखते आकाशसे सभाके समीप आ उतरीं ॥१०॥ वहाँ सामने ही लाल-लाल कमलोंके समान कोमल पद्मराग

१. नवमदशमश्लोकयो क्रमभेद घ० म० ज० (क० पुस्तकेऽपि क्रमभेदोऽस्ति किन्तु पश्चात्केनापि सशोधित)
२. मध्यसारया छ । ३ प्रथमश्लोकगतेन 'प्रैक्षत' इति क्रियापदेन सबन्ध ।

तत्प्रतिक्षणसमुल्लसद्यशोराजहंसनिकुरम्बकैरिव ।
कामिनीकरविवर्तनोच्छलच्छुभ्रचामरचयैर्विराजित ॥१२॥
दाक्षिणात्यकविचक्रवर्तिना हृच्चमत्कृतिगुणाभिरुक्तिभिः ।
पूरितश्रुतिशिरो विघूर्णयन्नेतुमन्तरिव तद्रसान्तरम् ॥१३॥
[1]सुस्वरश्रुतिमुदाररूपका रागिणी पृथगुपात्तमूर्च्छनाम् ।
गीतिमिन्दुवदनामिवोज्ज्वला भावयन् मुकुलितार्धलोचनः ॥१४॥

प्रतापस्तम्भयोश्चोपमानोपमेयभावः ॥११॥ तदिति—ताभिर्देवाङ्गनाभिः स राजा दृष्टः कामिनीचलितैर्धवलचामरचक्रैर्वीजितः । कैरिव । साक्षात् तादृशप्रतिसमयसभवत्कीर्तिस्तवकरूपराजहंससमूहैरिव ॥१२॥ दाक्षिणात्येति—ताभिर्नृपतिरैक्षि दक्षिणदेशीयकविपुङ्गवानां हृदयचमत्कारिगुणैर्वचनभङ्गैः पूरितश्रवणं यथा भवत्येवं मस्तकं कम्पयन् । अतश्च विभाव्यते—तत्कर्णसंस्थं काव्यरसं मध्ये प्रापयितुमिव । यथा पिशङ्गिकादावमात् वस्तु धूनयित्वा मध्ये क्षिप्यते[2] ॥१३॥ सुस्वरेति—श्रवणसुखातिशयेन स्तिमितनिमीलितार्द्धनयनः । किंविशिष्टा । सुखाकर्णनीया सप्तस्वरेषु श्रुतिर्यस्याः सा तथाविधा ताम् । उदाररूपका उदारा उत्कटा रूपका गानविशेषा यस्या सा ताम् । रागिणी श्रीरागादिरागमयी पृथगुपात्तमूर्च्छना पृथग् भिन्नस्वरूपेण उपात्ता गृहीता एकोनविंशतिसंख्या मूर्च्छना यस्या सा तथाविधा ताम् । उज्ज्वला निर्वाच्यरूपाम् । अतएव ज्ञायते चन्द्रमुखीमिवोपभुञ्जन् किंविशिष्टा । कोकिलामञ्जुभाषिणीम्, अतिशायिरूपयुक्ता रागिणी प्रेमैकरसिका पृथगुपात्तमूर्च्छना

मणियोंके खम्भोंसे सुशोभित चन्द्रकान्त मणियोंका बना सभामण्डप उन देवियोंने ऐसा देखा मानो प्रतापसे रुका हुआ और आश्चर्यकारी अभ्युदयसे सम्पन्न राजाका निर्मल यश ही हो ॥११॥ [उस सभामण्डपमे सुमेरुपर्वतके समान ऊँचे सुवर्णमय सिंहासनपर बैठे और उदित होते हुए चन्द्रमाके समान सुन्दर राजाको उन देवियोंने बड़े हर्षके साथ देखा]। उस समय राजा प्रत्येक क्षण बढते हुए अपने यशरूपी राजहंस पक्षियोंके समूहके समान दिखनेवाले स्त्रियोंके हस्तसंचारसे उच्छलित सफेद चमरोंके समूहसे सुशोभित हो रहा था ॥१२॥ पास बैठे हुए दक्षिण देशके बड़े-बड़े कवि हृदयमे चमत्कार पैदा करनेवाली उक्तियाँ सुना रहे थे, उन्हें सुनकर राजा अपना सिर हिला रहा था जिससे ऐसा जान पडता था मानो उन उक्तियोंके रसको भीतर ले जानेके लिए ही हिला रहा हो ॥१३॥ उस समय जो वहाँ गीति हो रही थी वह किसी चन्द्रमुखीके समान जान पड़ती थी। क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमुखीका स्वर (शब्द) अच्छा होता है उसी प्रकार उस गीतिका स्वर [निषाद गान्धर्व आदि] भी अच्छा था, जिस प्रकार चन्द्रमुखीका रूप अच्छा होता है उसी प्रकार गीतिका रूपक भी [अलंकार विशेष अथवा गानविशेष] अच्छा था, जिस प्रकार चन्द्रमुखी राग सहित होती है उसी प्रकार वह गीति भी राग [श्री राग आदि ध्वनि विशेष] से सहित थी, जिस प्रकार चन्द्रमुखी पृथक् भाव—विरहावस्थामें मूर्च्छना—विह्वलता धारण करती है उसी प्रकार

१ अत्रेदं सुस्पष्टं व्याख्यानम्—मुकुलितं निमीलितमर्धलोचनमर्धनयनं यस्य तथाभूतः सन् । इन्दुवदनामिव चन्द्रमुखीमिव गीतिं संगीतिकां भावयन्ननुभवन् । अथोभयोः सादृश्यमाह—सुष्ठु स्वराणां निषादादीनां श्रुतिः श्रवणं यस्यां तां गीतिं पक्षे सुस्वरस्य कोकिलावन्मञ्जुभाषणस्य श्रुतिः श्रवणं यस्यास्ताम् । उदारमुत्कृष्टं रूपकमलंकारविशेषो गीतिविशेषो वा यस्यां तां पक्षे उदारमुत्कृष्टं रूपं सौन्दर्यं यस्यास्तां बहुव्रीहौ कसमासान्तः । रागिणी श्रीरागादिरागमयीं पक्षे प्रेमैकरसिकाम्, पृथग् भिन्नस्वरूपेणोपात्ता गृहीता मूर्च्छना एकोनविंशतिसंख्या मूर्च्छना स्वराणामारोहावरोहक्रमा यस्यां तां पक्षे पृथग्भावे विरहे सतीति यावत् उपात्तं मूर्च्छनं मोहविह्वलत्वं यया ताम् उज्ज्वलां निर्दोषां पक्षे साध्वीम् । श्लिष्टोपमा । २ संगीतादौ श्रोतॄणां शिरःप्रकम्पनं लोकप्रसिद्धमेव । उत्प्रेक्षालंकारः ।

एणनाभिमभिवीक्ष्य कक्षयो क्षिप्तभीततिमिरानुकारिणीम्[1] ।
[2]रत्नकुण्डलमिषेण भानुना सेन्दुना किमपि सश्रितश्रुतिः ॥१५॥

अङ्गवङ्गमगधान्ध्रनैषधै कीरकेरलकलिङ्गकुन्तलैः ।
विभ्रमादपि समुत्क्षिपन् भ्रुव भीतभीतमवनीश्वरै श्रितः ॥१६॥

तत्र हेममयसिहविष्टरे काञ्चनाचल इवोच्चकैः स्थितः ।
सप्रमोदमुदितेन्दुसनिभस्ताभिरैक्षि सदसि क्षितीश्वर. ॥१७॥

कर्मकौशलदिदृक्षयात्र न. प्राप्त एप पुरतोऽपि कि प्रभु ।
सत्स्वपोहितुमित्त प्रभृत्यथो दौ स्थ्यमर्थपतिरभ्युपस्थित ॥१८॥

एकका इह निशम्य नश्छलाद्बाधितु मनसिजोऽथवा गत ।
अन्यथा स्म वसुधामिमामतिक्रामति द्युतिरमानुषी कुतः ॥१९॥

विरहे सति मोहविह्वलाम्, उज्ज्वला साध्वीम् ॥१४॥ एणेति—पुन किंविशिष्ट । आश्रितकर्णयुग्म सचन्द्रेणादित्येन रत्नकुण्डलव्याजेन, कि कर्णलग्नयो. सोमसूर्ययोरालोचकारणमित्याह—मृगमद कादिशीकतम-सदृश बाहुमूलयोर्निक्षिप्त दृष्ट्वा । अन्योऽपि जिगीषु कक्षास्थित दुर्जनमवलोक्याय जगद् द्रोहीति शनै कथयित्वा निष्कासयति[3] ॥१५॥ अङ्गेति—किंविशिष्ट स दृष्ट । सकलवलयभूपाले सेवित । निजस्वभावलीलयैकभ्रुव चालयति न चादयोऽतिभीरुतयास्मान् भ्रुवमुत्क्षिपतीति वितर्कयन्ति ततो भीतभीतं श्रित इति । कीरकेरलादि-देशाभिधानेन राज्ञामभिधानम् ॥१६॥ तत्रेति—स्वर्णसिंहासने पुरुषप्रमाणे समुपविष्टस्ताभिर्देवाङ्गनाभि-र्ददृशे नृप सहर्ष यथा मेरौ स्थित समुदितश्चन्द्रो देवैर्दृश्यते तत्र नृणामभावात् ॥१७॥ कर्मेति—राजान दृष्ट्वा-रूपप्रभावभ्रान्ता वितर्कयन्ति—किमस्माक सुव्रता देवी प्रति शुश्रूषा भक्तिकौशल प्रच्छन्नतया दृष्टुमग्रत एव स्वामी शक्र समागत एष, आहोस्वित्साधुपु दारिद्र्य निकर्तुं धनद प्रकटो बभूवातोऽनन्तर सता दौस्थ्य नास्तीत्यर्थ ॥१८॥ एकका इति—अथवास्मानेकाकिनी श्रुत्वा कामोऽय पीडयितु समाययौ । व्यर्थमिति चेत् ।

गीति भी पृथग् मूर्च्छना—स्वरोंके चढाव-उतारको धारण कर रही थी और चन्द्रमुखी जिस प्रकार उज्ज्वल होती है उसी प्रकार गीति भी उज्ज्वल—निर्दोष थी। राजा अर्धोन्मीलित नेत्र होकर उस गीतिका रसानुभव कर रहा था ॥१४॥ राजाकी दोनों बगलोंमें काली-काली कस्तूरी लगी हुई थी और कानोंमें मणिमय कुण्डल देदीप्यमान थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो कस्तूरीके छलसे छिपे हुए भयभीत अन्धकारको नष्ट करनेके लिए कुण्डलोंके बहाने सूर्य और चन्द्रमा ही उसके कानोंके पास आये हों ॥१५॥ अंग, वंग, मगध, आन्ध्र, नैषध, कीट, केरल, कलिंग और कुन्तल देशके राजा पास बैठ कर उसकी उपासना कर रहे थे। क्रोध-की बात जाने दो यदि वह राजा विलाससे भी अपनी भौंह ऊपर उठाता था तो अन्य राजा डर जाते थे ॥१६॥ उस सभामण्डपमें सुमेरु पर्वतके समान ऊँचे सुवर्णमय सिंहासनपर बैठे और उदित होते हुए चन्द्रमाके समान सुन्दर राजाको उन देवियोंने बड़े हर्षके साथ देखा ॥१७॥ हमारे कार्यकी चतुराई देखनेके लिए क्या स्वामी—इन्द्रमहाराज ही पहलेसे आकर विराजमान हैं ! अथवा आजसे लेकर सज्जनोंकी दरिद्रताको दूर भगानेके लिए कुबेर ही आकर उपस्थित हैं ॥१८॥ अथवा हम लोगोंको अकेला सुन कर तंग करनेके लिए राजाके बहाने साक्षात् कामदेव ही यहाँ आ पहुँचे हैं। अन्यथा इनकी लोकोत्तर कान्ति इस पृथिवी-

१ कारिणम् घ० म० । २ न्यस्त छ० । ३ उत्प्रेक्षा ।

तर्कयन्त्य इति ताः परस्पर सप्रमोदमुपसृत्य भूपतिम् ।
जीव नन्द जय सर्वदा रिपूनित्यमन्दमुदचीचरन्वच ॥२०॥ [त्रिभिर्विशेषकम्]
ताः स यत्नपरकिंकरार्पितेष्वासनेषु नृपतिर्न्यवीविशत् ।
वारिदात्ययदिनोपबृंहितेष्वम्बुजेष्विव विरोचनो रुच ॥२१॥
ता क्षितीश्वरनिरीक्षणक्षणे रेजुरङ्कुरितरोमराजय ।
अङ्गमग्नविषमेषुमार्गणव्यक्तपुङ्खलवलाञ्छिता इव ॥२२॥
निर्मलाम्बरविशेषितत्विष सस्फुरच्छ्रवणहस्तभूषणाः ।
कान्तिमन्तममराङ्गना नृप तारका इव विधु व्यभूषयन् ॥२३॥
सोऽथ दन्तकरकुन्दकुड्मलस्रग्विभूषितसभ सभापति ।
आतिथेयवितथीकृतक्लमा इत्युवाच सुरसुन्दरीर्वच ॥२४॥

कथमस्य तेज प्रभाव पृथ्वीमतिक्रम्य वर्तते मनुष्याणामीदृशी द्युतिर्न भवतीत्यमानुषीविशेषणम् ॥१९॥ तर्कयन्त्य इति—इति ता अन्योऽन्य शङ्कमाना सहर्ष भूपतिसमीपमासृत्य आशीर्वचनमुच्चारयाचक्रुरायुष्मान् भव, प्रतापेन वर्द्धस्व, प्रतिपक्षान्निर्दलयेति ॥२०॥ ता इति—मन सचारानुवर्तिभि किंकरै समुपढौकितेषु समुचितासनेषु राजा निवेशयामास देवाङ्गना यथा शरद्दिवसप्रकाशितेषु पद्मेषु भास्करोऽर्चिर्निवेशयति[1] ॥२१॥ ता क्षितीश्वरेति—ता देवाङ्गना राजावलोकनसमये पुलकसूचीनिचिताश्चकासिरे वपुरन्त प्रविष्टकामशरबाह्यस्थितदृश्यमानपुङ्खाग्रभागनिचिता इव । ता सर्वाङ्गकामशरशल्यिता बभूवुरित्यर्थ[2] ॥२२॥ निर्मलेति—ता प्रान्त उपविष्टा देवाङ्गना प्रतापिन राजानमलचक्रु । किंविशिष्टा इत्याह—धौतवसनप्रकाशितद्युतयो देदीप्यमानकर्णहस्तालकरणा चन्द्रमस तारका इव निरभ्रगगनविशेषकान्तय स्फुरता श्रवणाभिधानेन हस्ताभिधानेन च भूषण यासा तास्तथाविधा[3] ॥२३॥ सोऽथेति—अथानन्तर स सभापतिर्नृपतिस्ता कर्मतापन्ना वचनमुवाच । कथ यथा भवति दन्तकिरणकुन्दकलिकामालाविभूषितसभामण्डप । यथा स्यात् । किंविशिष्टास्ता । आतिथेय-

को मात क्यों करती ? ॥१९॥ इस प्रकार तर्कणा करती हुई वे देवियाँ बड़े आनन्दके साथ राजा महासेन के समीप पहुँचीं और 'चिरंजीव रहो, समृद्धिमान् रहो तथा सर्वदा शत्रुओंको जीतो' इत्यादि वचन जोर-जोरसे कहने लगीं ॥२०॥ राजाने उन देवियोंको यत्नमें तत्पर किंकरोंके द्वारा लाये हुए आसनों पर इस प्रकार बैठाया जिस प्रकार कि शरद् ऋतु के द्वारा खिले हुए कमलों पर सूर्य अपनी किरणोंको बैठाता है ॥२१॥ राजाके देखते ही उन देवियोंके शरीरमें रोमराजि अंकुरित हो उठी थी जिससे वे देवियाँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो शरीरमें धँसे हुए कामदेवके बाणोंकी बाहर निकली हुई मूठोंसे ही चिह्नित हो रही हैं ॥२२॥ जिस प्रकार निर्मल आकाशमे चमकती और श्रवण तथा हस्त नक्षत्र रूप आभूषणोंसे युक्त तारिकाएँ कान्तिमान् चन्द्रमाको सुशोभित करती हैं उसी प्रकार निर्मल वस्त्रोंसे सुशोभित एवं हाथ और कानोंके आभूषणोंसे युक्त देवाङ्गनाएँ कान्तिमान् राजाको सुशोभित कर रही थीं ॥२३॥ तदनन्तर दाँतोंकी किरण रूप कुन्द-कुड्मलोंकी मालासे सभाको विभूषित करते हुए राजाने, अतिथि-सत्कारसे जिनका खेद दूर कर दिया गया है ऐसी उन देवियोंसे

१. उपमालकार । २ उत्प्रेक्षा । ३ अस्येद सुगम व्याख्यानम्—कान्तिमन्त दीप्तिमन्त त नृपममराङ्गना देव्यस्तारका विधुमिव चन्द्रमिव व्यभूषयन्नलचक्रु । उभयो सादृश्यमाह—निर्मलान्युज्ज्वलानि यान्यम्बराणि वस्त्राणि तैर्विशेषिता त्विट् कान्तिर्यासा ता देव्य, पक्षे निर्मलेन धूल्यादिसपर्करहितेनाम्बरेण गगनेन विशेषिता वर्धिता त्विट् कान्तिर्यासा ता । स्फुरन्ति देदीप्यमानानि श्रवणस्य हस्तस्य च भूषणान्याभरणानि यासा ता पक्षे स्फुरती देदीप्यमाने श्रवणहस्तावेव तन्नामनक्षत्र एव भूषणे यासा ता कान्तिमन्तमिति विशेषणं नृपविधुपक्षे समानमेव । उपमालकार ।

यद्गुणेन गुरुणा गरीयसी स्वर्विभर्त्ति गणना जगत्स्वपि ।
मन्दिराणि किमपेक्ष्य ता स्वय भूभुजामपि नृणामुपासने ॥२५॥
किन्तु सा स्थितिरथातिधृष्टता व्याजमेतदथवाभिभाषणे[1] ।
त्वादृशेऽपि यदुपागते जने किं प्रयोजनमिहेति जल्प्यते ॥२६॥
भारतीमिति निशम्य भूपते श्रीरुवाच सुरयोपिदीरिता ।
दन्तदीधितिमृणालनालकै कर्णयोर्निदधती सुधामिव ॥२७॥
मा वदस्त्वमिति भूपते भवद्दास्यमेव भुवि न प्रयोजनम् ।
वासरैस्नु कतिभि पुरदरोऽप्यत्र कर्मकरवद्यतिष्यते ॥२८॥
निर्जरासुरनरोरगेपु ते कोऽधुनापि गुणसाम्यमृच्छति ।
अग्रतस्तु सुतरा यतो गुरुस्त्व जगत्त्रयगुरोर्भविष्यसि ॥२९॥
उक्तमागमनिमित्तमात्मन [2]सूत्रवत्किमपि यत्समासत ।
तस्य [3]भाष्यमिव विस्तरान्मया वर्ण्यमानमवनीपते श्रृणु ॥३०॥

वातव्यजनादिना निराकृतक्लमो मार्गपरिश्रमो यासा तास्तथाविधा ॥२४॥ यद्गुणेनेति—यन्माहात्म्येन स्वर्ग: सर्वभुवनेपु मध्ये महती सभावना धारयति ता अप्सरसो मादृशा मनुष्यमात्राणा किं कारणमुररीकृत्य गृहाणि सेवन्ते। देवाङ्गनाभि स्वर्गस्य स्वर्गता तासा स्वयमत्रागमन महच्चित्रमिति भाव ॥२५॥ किन्त्विति—हे श्री त्वादृशे पृथक्मात्रातीवोपजने समागते सति तवात्रागमने किं कार्यमिति यज्जल्प्यते पृच्छयते सा स्थिति स आचार अथवातिधाष्टर्यमभिलम्पकता अथवा प्रश्नकरणोपाय ॥२६॥ भारतीमिति—इति तस्य भूपते प्रश्नवाच श्रुत्वान्यदेवीभि प्रणोदिता श्रीनामधेया तासामग्रेसरी बभापे भूपते कर्णयो सुधाधारामिव निक्षिपन्ती दन्तकिरणमृणालदण्डप्रणालिकाभि ॥२७॥ मा वद इति—हे राजन् ! आत्मलघुसभावनयैव मा भाषिष्ठा । यौष्माककिङ्करत्वमेव भूतलेऽस्माक प्रयोजनम् । किंच, कैश्चिद्दिनैरतिक्रान्तै शक्रोऽप्यत्र भवद्गृहे क्रीतदासयिष्यते ॥२८॥ निर्जरेति—हे राजन् ! देवदानवप्रभृतिपु मध्ये साम्प्रतमपि को भवतो गुणगौरवतुला स्पर्धति । अग्रतस्तु पञ्चदशमासानन्तर किमुच्यते । यतो जगत्त्रयगुरोस्तीर्थंकरदेवस्य गुरु पिता भवितासीति सुतरा प्रतीतम् ॥२९॥ उक्तमिति—यदागमनकारण सूत्रवत् सक्षिप्त तस्य विवरणमिव वर्ण्यमानं विस्तरत कथ्यमान-

निम्न प्रकार वचन कहे ॥२४॥ जब कि स्वर्ग अपने श्रेष्ठ गुणसे तीनों लोकोंमे गुरुतर गणनाको धारण करता है तब आप लोग क्या प्रयोजन लेकर भूमिगोचरी मनुष्योंके घर पधारेंगी ? ॥२५॥ किन्तु यह एक रीति ही है अथवा धृष्टता ही है अथवा वार्तालाप करनेका एक बहाना ही है जो कि आप जैसे निरपेक्ष व्यक्तियोंके पधारनेपर भी पूछा जाता है कि आपके पधारनेका क्या प्रयोजन है ? ॥२६॥ राजाके उक्त वचन सुन देवियों द्वारा प्रेरित श्री देवी दाँतोंकी किरण रूप मृणालकी नलीसे कानोंमे अमृत उँडेलती हुई सी बोली ॥२७॥ हे राजन् ! आप ऐसा न कहिए। आपकी सेवा करना ही हम लोगोंके पृथिवी पर आनेका प्रयोजन है अथवा हम तो हैं ही क्या ? कुछ दिनों बाद साक्षात् इन्द्र महाराज भी साधारण किंकरकी तरह यह कार्य करेंगे ॥२८॥ हे राजन् ! अब भी देव दानव और मनुष्योंके बीच ऐसा कौन है जो आपके गुणोकी समानता प्राप्त कर सके ? फिर आगे चल कर तो आप लोकत्रयके गुरुके गुरु [पिता] होने वाले है ॥२९॥ हे राजन् ! मैंने अपने आने का सूत्रकी तरह संक्षेपसे जो कुछ कारण कहा है उसे अब मैं भाष्यकी तरह विस्तारसे कहती

१ -दथवातिभाषणे ख० ग० घ० ङ० च० छ० ज० झ० । २ सूत्रलक्षणम्—अल्पाक्षरमसदिग्ध सारवद् विश्वतो मुखम् । अस्तोभमनवद्य च सूत्र सूत्रविदो विदु ॥ ३ भाष्यलक्षणम्—सूत्रस्थ पदमादाय वाक्यै: सूत्रानुसारिभि । स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्य भाष्यविदो विदु ॥

यच्चतुष्टयमनन्ततीर्थतोऽनर्धहायनमुदन्वतामगात् ।
तस्य पल्यदलमन्तिमं तथा भारतेऽभवदधर्मदूषितम् ॥३१॥
तेन धर्मपरिवर्तदस्युना शुद्धदर्शनमणौ हृते छलात् ।
वीक्षमाण इव केवलीश्वरं वासवोऽनिमिषलोचनोऽभवत् ॥३२॥
अद्य भूप भवतोऽस्ति या प्रिया सुव्रता तदुदरे जिनोऽन्तरम् ।
अर्धवत्सरमतीत्य धर्म इत्येष्यतीत्यवधितो विवेद स ॥३३॥
तत्प्रयात जननीं जिनस्य तां भाविनीं चिरमुपाध्वमादरात् ।
इत्थमादिशदशेषनाकिनां नायकः समुपहूय नः क्षणात् ॥३४॥
आगतोऽयमिह तत्त्वदाज्ञया प्रेयसीं नृप निशान्तवर्तिनीम् ।
ध्यातुमिच्छति सुराङ्गनाजनः कौमुदीमिव कुमुद्वतीगणः ॥३५॥
संवदन्तमिति भारतीं मुनेर्वाक्प्रपञ्चमवधार्य स श्रियः ।
उत्सवं द्विगुणितादरो द्वयेऽप्याशु धाम्नि पुरि च व्यदीधपत् ॥३६॥
ताश्च कञ्चुकिपुरस्सरास्ततस्तेन तूर्णमवरोधमन्दिरम् ।
भास्वताग्रचरसमदा रुचश्चन्द्रमण्डलमिव प्रवेशिताः ॥३७॥

माकर्णयेति ॥३०॥ यच्चतुष्टयेति—अनन्तनाथतीर्थस्य पश्चात् भरतक्षेत्रे सागरोपमचतुष्टयं गतं षण्मासहीनं तस्य चतुष्टयस्य मध्ये यदन्तिमपल्यं तस्यार्धं धर्मरहितं बभूव ॥३१॥ तेनेति—तेन पूर्वकथितेन धर्मनाशचोरेण निर्मलसम्यक्त्वरत्ने चोरिते सति छलात्तीर्थकररक्षकमन्तरेण ततोऽनन्तरं शक्रः सर्वदा प्रसारितलोचनो बभूव केवलज्ञानिनमादराद् द्रष्टुमिव । अथ चोक्तिलेशः—यथा केनचिद्धृते वस्तुनि कश्चित् केवलिकानिमित्तज्ञं पश्यति ॥३२॥ अद्येति—हे राजन् ! शक्रोऽवधिज्ञानेनेति विवेद । किं विवेदेत्याह—भवतः पत्नी सुव्रता तस्या गर्भे धर्मनामजिनः षण्मासानन्तरमवतरिष्यतीति ॥३३॥ तत्प्रयातेति—ततः इति ज्ञानान्तरमस्मानाकार्य देवेन्द्र आदिष्टवान् । तां सुव्रतां जिनस्य भविष्यन्मातरमाराद्धुं यूयं सर्वाः प्रयातेति ॥३४॥ आगत इति—तस्मादयं देवीसमूहस्तवादेशेन भवत्प्रियामन्तःपुरस्थितां निषेवितुं समीहते । यथा कुमुदिनीनां गणश्चन्द्रिकां निषेवितुमभिलषति ॥३५॥ संवदन्तमिति—पूर्वोक्तप्रकारेण श्रीदेव्या वाग्विस्तारं निशम्य किंविशिष्टं । संवदन्तं पूर्वकथितस्य मुनिना कथानकस्य संवादमागच्छन्तं । तदनन्तरं सविशेषादरो राजा महामङ्गलानि पुरे निजगृहे चाधिकं कारयामास ॥३६॥ ताश्चेति—ता देवाङ्गना स राजा सौविदल्लदर्शितमार्गा अन्तःपुरं प्राजीहयन् । यथादित्येन

हूँ, सुनिए ॥३०॥ श्री अनन्तनाथका तीर्थ प्रवृत्त होने के बाद जो छह माह कम चार सागर व्यतीत हुए हैं उनके पल्यका अन्तिम भाग इस भारतवर्षमे अधर्मसे दूषित हो गया था ॥३१॥ जबसे उस अधर्म रूपी चोरने छल पूर्वक शुद्ध सम्यग्दर्शनरूपी रत्न चुरा लिया है तभीसे इन्द्र भी जिनेन्द्रदेवकी ओर देख रहा है—उनकी प्रतीक्षा कर रहा है और इसीलिए मानो वह तभीसे अनिमेष लोचन हो गया है ॥३२॥ हे राजन् ! अब आपकी जो सुव्रता नामकी पत्नी है छह माह बाद उसके गर्भमें श्री धर्मजिनेन्द्र अवतार लेंगे—ऐसा इन्द्रने अवधिज्ञानसे जाना है ॥३३॥ और जानते ही समस्त देवोंके अधिपति इन्द्र महाराजने हम लोगोंको बुलाकर यह आदेश दिया है कि तुम लोग जाओ और श्रीजिनेन्द्र देवकी भावी माताकी आदर पूर्वक चिरकाल तक सेवा करो ॥३४॥ इसलिए हे राजन् ! जिस प्रकार कुमुदिनियोंका समूह चन्द्रिकाका ध्यान करता है उसी प्रकार आया हुआ यह देवियोंका समूह आपकी आज्ञासे अन्तःपुरमें विराजमान आपकी प्रिय वल्लभाका ध्यान करना चाहता है—शुश्रूषा करना चाहता है ॥३५॥ इस प्रकार जब राजाने मुनिराजके वचनोसे मिलते-जुलते श्रीदेवीके वचन सुने तब उनका आदर पहलेसे दूना हो गया और उन्होंने नगर तथा घर दोनों ही जगह शीघ्र ही उत्सव कराये ॥३६॥ तदनन्तर जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणोंको

तत्र [1]भूरिविबुधावतसकप्रीतिपूरिगुणपूरपूरिताम् ।
[2]अङ्गसौरभविसर्पिषट्पदा पारिजाततरुमञ्जरीमिव ॥३८॥
सभ्रमभ्रमितलोललोचनप्रान्तवान्तशुचिरोचिषा चयै ।
अद्भुत धवलितालयामपि श्यामलीकृतविपक्षयोषितम् ॥३९॥
कामसिद्धिमिव रूपसपदो जीवितव्यमिव यौवनश्रियः ।
चक्रवर्तिपदवीमिव द्युतेश्चेतनामिव विलासवेषयो' ॥४०॥
तामनेकनरनाथसुन्दरीवृन्दवन्दितपदा द्युयोषित' ।
हारिहेमहरिविष्टरे स्थिता मानुपेशमहिषी व्यलोकयन् ॥४१॥
[चतुर्भि कलापकम्]
तामुदीक्ष्य जितनाकनायिकाकायकान्तिमवलामिलापते' ।
ताभिरप्रतिमकालसचितोऽप्युज्झित सपदि चारुतामद ॥४२॥

निजदीधितयश्चन्द्रमण्डल प्रवेश्यन्ते । अप्रचर समदो हर्षा यासा तास्तथाविधा । प्रथम हि हर्ष पश्चात्प्रसादेन रुचिप्रदान 'क्षीणश्चन्द्र आदित्यात्तेज आददातीति गणक इति ॥३७॥ तत्रेति—तत्रान्त पुरगर्भस्थिता भूपतिप्रिया ता अद्राक्षु पारिजाततरो पुष्पितमञ्जरीमिव मञ्जरीधर्मानारोपयन्नाह—अनेकदेवकर्णपूरदोहदपूरकगुणसमूहमयी पक्षे सर्वविपश्चिच्छ्लोतव्यगुणग्रामा सहजसौरभातिशयप्रान्तभ्रान्तभ्रमरपटलाम् ॥३८॥ सभ्रमेति—सहजविलासवलितलोचनाग्रहप्रसरधवलतेजसा वितानैर्धवलितगृहभागामपि ता चित्रमेतद्यत् निर्जितसेवागतम्लानीकृतशत्रुवनितामेवविधा ता पश्यन्ति स्म ॥३९॥ कामेति—पुन किंविशिष्टा तामित्याह—रूपलक्ष्म्या स्वच्छन्दपरमसिद्धिमिव, रूपश्रिया निजस्वच्छन्दप्रभाव दर्शयितुमिव, इद रूप धृतमिति भाव । अथ यौवनश्रियो जीवितव्यमिव परवर्तनसर्वस्वमिव तरुणताया अपि तरुणत्वप्रतिष्ठा, जीवमिव, द्युतेश्च लावण्यप्रभायाश्चक्रवर्तिपदवीमिव परमप्रकर्षभूमिमिव, तत पर लावण्यप्रकर्षो नास्तीति भाव । विलासवेषयोश्चेतनामिव विभ्रमशृङ्गारादयोऽपि तस्या सजीवा इव प्रतिभासन्त इति भाव । अनेकोपमेयमलकृति ॥४०॥ तामिति—ता नृपतिपट्टराज्ञी मनोहरसुवर्णमयसिंहासनमलकुर्वाणामनेकपृथ्वीपतिस्त्रीचक्रसेवितचरणा ता देवाङ्गना ईक्षाबभूवु ॥४१॥ तामिति—ता पृथ्वीपते प्रियामवलोक्य निर्भर्त्सितसुराङ्गनासौभाग्या ताभि सर्वदेवाङ्गनाभिरना-

चन्द्रमण्डलमे भेज देता है उसी प्रकार राजाने उन प्रसन्नचित्त देवियोंको कंचुकीके साथ शीघ्र ही अन्तःपुरमें भेज दिया ॥३७॥ वहाँ उन देवियोंने सोनेके सुन्दर सिंहासनपर बैठी हुई रानी सुव्रताको देखा । वह सुव्रता विद्वानोंके कर्णाभरणकी प्रीतिको पूरा करनेवाले गुणोंके समूहसे पूरित थी । शरीरकी सुगन्धिके कारण उसके आस-पास भौंरे मँडरा रहे थे जिससे ऐसी जान पडती थी मानो कल्पवृक्षकी मजरी ही हो ॥३८॥ क्या ही आश्चर्य था कि वह यद्यपि सभ्रमपूर्वक घुमाये हुए चचल लोचनोके छोरसे निकली हुई सफेद किरणोंके समूहसे समस्त मकानको सफेद कर रही थी पर पास ही बैठी हुई सपत्नी स्त्रियोंको मलिन कर रही थी ॥३९॥ वह ऐसी जान पडती थी मानो सौन्दर्य-सम्पदाकी इष्टसिद्धि ही हो, तारुण्य लक्ष्मीकी मानो जान ही हो, कान्तिकी मानो साम्राज्य पदवी ही हो, और विलास तथा वेषकी मानो चेतना ही हो ॥४०॥ इसके सिवाय अनेक राजाओंकी रानियोंके समूह उसके चरणोंकी वन्दना कर रहे थे तथा वह सोनेके सुन्दर सिंहासन पर स्थित थी ॥४१॥ उन देवियोंने चिरकालसे जो सुन्दरताका अहंकार संचित कर रखा था उसे देवांगनाओंके शरीरकी कान्तिको

१ विबुधाना देवानामवतसकप्रीतिं कर्णाभरणप्रीतिं पूरयन्तीति विबुधावतसकप्रीतिपूरिण , ते च ते गुणाश्च, भूरयो ये विबुधावतसकप्रीतिपूरिगुणास्तेषा पूरेण समूहेन पूरिता सभृता ताम् । २ आङ्ग घ० ।

श्रीरशेषसुखदा प्रियवदा भारतीरतिरभेद्यकिंकरी ।
सौम्यदृष्टिरपि कर्णमोटिका कालिका च रचितालकावलि. ॥४३॥
शीलवृत्तिरपराजिता जने सा वृषप्रणयिनी मन स्थिति ।
ह्रीप्रसत्तिधृतिकीर्तिकान्तय· स्पर्द्धयेव कुलमण्डनोद्यता ॥४४॥
देव्य इत्यलमिमामुपासते प्रागपि प्रगुणिता गुणै स्वयम् ।
तन्निदेशरसपेशल हरेर्ब्रूत कर्म किमु कुर्महेऽधुना ॥४५॥
[त्रिभिर्विशेषकम्]

दिकालसचितोऽपि लज्जमानाभि स्वरूपाहकार सर्वथा त्यक्त ॥४२॥ श्रीरिति—या देव्यो निषेवितुमागतास्तासा गुणै प्रथममेव ता सेविता पश्यन्ति स्म । तथाहि श्री प्रभावलक्ष्मीरिमामनूपास्ते सर्वसुखदायित्वात् । अस्या सौम्यदृष्टिरतिदीर्घत्वात् कर्णमोटिका कर्णप्रणोदिका कर्णान्तिमिति यावदित्यर्थ । कालिका चात्र रचिता प्रसाधितालकपङ्क्तिर्यया सा तथेति । पक्षे श्रीसरस्वतीचामुण्डाकालिकादय इमामुपासते ॥४३॥ शीलेति—तस्या या शीलवृत्ति साध्वीव्रतता सा जनेऽपराजिता जगत्यन्यस्य सा नास्तीति भाव । तस्या मन स्थितिर्मनोवृत्तिर्वृषप्रणयिनी धर्मानुरागिणी ह्रीर्लज्जा, प्रसत्ति सहजप्रसन्नता, धृति सतोषस्थिति , कीर्तिर्यश प्रसरता, कान्ति सौभाग्यलक्ष्मीरिति । एता सर्वा अपि निजयोग्यस्वरूपमण्डननिरता अस्यामिति । पक्षे शीलवृत्त्याद्या देव्य इमामुपाश्रयन्ते ॥४४॥ देव्य इति—देवाङ्गना एव वर्त्तयन्ति यदेता अस्मादृश्य देव्य एना पुरत एव

जीतनेवाली राजाकी रानीको देखते ही एक साथ छोड दिया था ॥४२॥ इसकी श्री-शोभा [पक्षमें श्रीदेवी] सब प्रकारका सुख देनेवाली है, भारती-वाणी [पक्षमे सरस्वती देवी] प्रिय वचन बोलनेवाली है, रति-प्रीति [पक्षमे रतिदेवी] अभेद्य दासीकी तरह सदा साथ रहती है, सौम्यदृष्टि, कर्णमोटिका—कानों तक मुडी हुई है [पक्षमें चामुण्डादेवी इसपर सदा सौम्यदृष्टि रखती है] सुसज्जित केशोंकी आवलि कालिका—कृष्णवर्ण है [पक्षमे कालिका देवी इसके केश सुसज्जित करती है] ॥४३॥ शीलवृत्ति, अपराजित-अखण्डित है, [पक्षमें अपराजिता देवी सदा इसके स्वभावानुकूल प्रवृत्ति करती है] मनःस्थिति, वृषप्रणयिनी—धर्मके प्रेमसे ओत-प्रोत है [पक्षमें इन्द्राणीदेवी सदा इसके मनमे है] ह्री—लज्जा, प्रसत्ति-प्रसन्नता, धृति—धीरज, कीर्ति—यश और कान्ति—दीप्ति [पक्षमे ह्री आदि देवियॉ] एक दूसरेकी स्पर्धासे ही मानो इसके कुलको अलंकृत करनेमें उद्यत हैं ॥४४॥ इस प्रकार श्री आदि देवियॉ

१ ४३-४५ श्लोकाना सुगममिद व्याख्यानम्—श्रीरिति—शीलेति—ह्रीति—श्रीर्लक्ष्मीदेवी, अशेषसुखदा निखिलसुखप्रदात्री, पक्षे श्री शोभा, अशेषेभ्योऽखिलदर्शकेभ्य सुख शर्म ददातीति तथाभूता । भारती सरस्वती प्रिय वदतीति प्रियवदा मधुरभाषिणी पक्षे वाणी प्रियवदा मधुरा । रति कामकामिनी अभेद्यकिङ्करी अखण्डदासी पक्षे रति प्रीति सर्वदा सनिधात्री । कर्णमोटिका देवीविशेषाऽपि सौम्यदृष्टि प्रसन्नतरा पक्षे सौम्यदृष्टिप्रशान्तदृगपि कर्णमोटिका कर्णान्तप्रणोदिका कर्णान्तमायतेति यावत् । कालिका काली देवी रचिता सुसज्जिता अलकाना चूर्णकुन्तलानामावलि पङ्क्तिर्यया तथाभूता पक्षे सुसज्जितकेशपङ्क्ति कालिका श्यामवर्णा । अपराजिता तन्नामदेवी शीलन शील सेवेत्यर्थ तस्मिन्वृत्तिर्यस्या सा पक्षे शीलवृत्ति साध्वीव्रतता जने जनविषयेऽपराजिता अखण्डिता । तादृशी शीलवृत्तिर्जगत्यन्यस्य नास्तीति भाव । सा प्रसिद्धा वृष्ण इन्द्रस्य प्रणयिनी पत्नी इन्द्राणीति यावत् 'वृष्ण चैरावणाधिप' इति धनजय , मनसि स्थितिर्यस्यास्तथाभूता पक्षे मन स्थितिश्चेत -स्थिति वृषस्य धर्मस्य प्रणयिनी पक्षपातिनी । ह्री-प्रसत्ति-धृति-कीर्तिकान्तयो देवीविशेषा पक्षे लज्जा-प्रसन्नता-धैर्य-यशो-दीप्तय स्पर्धयेव मात्सर्येणेव कुलमण्डनोद्यता कुलालकरणतत्परा सन्ति । इतीत्थ गुणैर्दयादाक्षिण्यादिभि प्रागपि पूर्वमपि प्रगुणिता वशीभूता देव्य । इमा राज्ञी स्वयमेव स्वत एव अप्रेरिता अपीति यावत् । अल पर्याप्त यथा स्यात्तथा उपासते सेवन्ते । तत् हरेरिन्द्रस्य निदेशरसपेशलम् आज्ञारसानुकूलम् अधुना साम्प्रत किमु कर्म कार्यं कुर्महे विदध्म । इति ब्रूहि निवेदय ॥ श्लेषालकार ।

इत्युदीर्य च मिथः प्रणम्य च स्वं निवेद्य च तदिन्द्रशासनम् ।
स्वः स्त्रियस्त्रिभुवनेशमातरं तां निषेवितुमिहोपचक्रिरे ॥४६॥
अश्मगर्भमयमूर्ध्वमुद्धृतं छत्रमिन्दुमणिदण्डमेकया ।
भ्राजते स्म सुदृशोऽन्तरुत्तरज्जाह्नवीघमिव मण्डलं दिवः ॥४७॥
कापि भूत्रयजयाय वल्गतो वल्गु तूणमिव पुष्पधन्वनः ।
पुष्पचारु कबरीं प्रसाधनं मूर्ध्नि पार्थिवमृगीदृशो व्यधात् ॥४८॥
अङ्गरागमिव कापि सुभ्रुवः सान्ध्यसंपदिव निर्ममे दिवः ।
यामिनीव शुचिरोचिषा परा चारुचामरमचालयच्चिरम् ॥४९॥
मूर्ध्नि रत्नपुरनाथयोषितः सा कयापि रचितालकावलिः ।
या मुमोष मुखपद्मसंनिधौ गन्धलुब्धमधुपावलिश्रियम् ॥५०॥
एणनाभिरसनिर्मितैकया पत्रभङ्गिमकरी कपोलयोः ।
अभ्यधत्त सुतनोरगाधतामुल्लसल्लवणिमाम्बुधेरिव ॥५१॥

सेवन्ते । किंविशिष्टाः । शारीरिकैरेव गुणैरुपनताः । ततो वयं शक्रादेशगमेन मनोहरं कर्म कथं साम्प्रतं कुर्मः ॥४५॥ इतीति—पूर्वोक्तप्रकारेण परस्परं वार्तयित्वा नत्वा सुरपतेरादेशागमनमिति कथयित्वा च स्वर्गाङ्गना जिनजननीं सेवितुमुपचक्रिरे ॥४६॥ अश्मगर्भेति—तासां मध्ये कयाचिन्मरकतमयोपरितनमण्डलमिव । अत्र छत्रगङ्गयोश्चोपमानोपमेयभावः[1] ॥४७॥ कापीति—नृपप्रियायाः मन्दारादिदेवपुष्पैर्मनोहरकुन्तलकलापबन्धं रचयाचकार काचन । त्रिभुवनजिगीषोः पुष्पायुधस्य पुष्पशरैः पूर्णं तूणं भस्त्रकमिव[2] ॥४८॥ अङ्गेति—काचिच्च तस्या विलेपनं विदधे यथा सन्ध्याश्रीर्गगनस्य रागं करोति । अपरा च रात्रिरिव चन्द्रमिव धवलचामरं चिरं चालयामास[3] ॥४९॥ मूर्ध्नीति—नानेकभङ्गीमनोहरा कयाचन कुटिलालकवल्लरी निर्मिता या तस्या मुखपद्मसमीपे भ्राम्यद्भ्रमरपङ्क्तिलक्ष्मीमपजहार ॥५०॥ एणेति—कयाचित्तस्याः कपोलभित्तौ मृगमदमयी या मकरिका लिखिता सा जनाय गम्भीरतां कथयामास । कस्य गम्भीरतेत्याह—तस्या वपुषि वर्द्धिष्णोर्लावण्यसमुद्रस्य ।

गुणोंसे वशीभूत होकर पहलेसे ही इसकी सेवा कर रही हैं, फिर कहो इस समय इन्द्रकी आज्ञानुसार हम क्या कार्य करें ? ॥४५॥ इस प्रकार परस्पर कहकर उन देवियोंने पहले तो त्रिलोकीनाथकी माताको प्रणाम किया, अपना परिचय दिया, इन्द्रका आदेश प्रकट किया और फिर निम्न प्रकार सेवा करना प्रारम्भ किया ॥४६॥ किसी देवीने इन्द्रकान्त मणिके दण्डसे युक्त नीलमणियोंका बना छत्र उस सुलोचना—सुव्रता रानीके ऊपर लगाया जो ऐसा जान पड़ता था मानो जिसके बीच आकाशगंगाका पूर उतर रहा हो ऐसा आकाशका मण्डल ही हो ॥४७॥ किसी देवीने रानीके मस्तक पर फूलोंसे सुशोभित चूडाबन्धन किया था जो ऐसा जान पड़ता था मानो त्रिभुवन विजयकी तैयारी करनेवाले कामदेवका तूणीर ही हो ॥ ४८ ॥ जिस प्रकार सन्ध्याकी शोभा आकाशमें लालिमा उत्पन्न करती है उसी प्रकार किसी देवीने रानीके शरीरमें अंगराग लगाकर लालिमा उत्पन्न कर दी और जिस प्रकार रात्रि चन्द्रमाको घुमाती है उसी प्रकार कोई देवी चिरकाल तक सुन्दर चमर घुमाती रही ॥४९॥ रानीके मस्तकपर किसी देवीने वह केशोंकी पंक्ति सजायी थी जो कि मुख कमलके समीप सुगन्धिके लोभसे एकत्रित हुए भ्रमर समूहकी शोभाको चुरा रही थी ॥५०॥ किसी देवीने रानीके कपोलोंपर कस्तूरी रससे मकरीका चिह्न बना दिया था जो ऐसा जान पड़ता था

१ अस्येदं व्याख्यानमपूर्णं खण्डितं च प्रतिभातीत्यतोऽन्यद् व्याख्यानं दीयते । एकया कयाचिद्देव्या सुदृशः सुनयनायाः सुव्रताया ऊर्ध्वमुपरि उद्धृतमुन्नमितमश्मगर्भमयं नीलमणिमयमिन्दुमणिदण्डं चन्द्रकान्तमणिदण्डयुक्तं छत्रमातपत्रम्, अन्तर्मध्ये उत्तरन् जाह्नवीओघो गङ्गाप्रवाहो यस्य तत्, दिवो गगनस्य मण्डलं चक्रवालमिव 'चक्रवालं तु मण्डलम्' इत्यमरः । भ्राजते स्म शोभते स्म । उत्प्रेक्षा । २. उपमा । ३ उपमा ।

निष्कलङ्कमणिभूषणोच्चयै सा कयापि सुमुखी विभूपिता ।
तारतारकवतीन्दुसुन्दरी शारदीव रजनी व्यराजत ॥५२॥
तावदेव किल कापि वल्लकीवेणुहारि हरिणेक्षणा जगौ ।
यावदर्थपतिकान्तयोदिता नाश्रृणोदमृतवाहिनी गिरम् ॥५३॥
एकया गुरुकलत्रमण्डले धृष्टकामुक इवाधिरोपित ।
रागचञ्चलकराग्रलालित कूजति स्म हतमानमानक ॥५४॥
वलितभ्रु नवविभ्रमेक्षण वेपितस्तनमुदस्तहस्तकम् ।
चारुचित्रपदचारमेकया नर्तितस्मरमनर्त्ति तत्पुर ॥५५॥

अन्यत्रापि यत्र सरसि मकरादयो दृश्यन्ते तद्गम्भीरतममिति ज्ञायते ॥५१॥ निष्कलङ्केति—सा कयापि अनेकालकरणसमूहै प्रसाधिता विकसितमुखी तरलनक्षत्रमालिनी शारदी रात्रिरिव शुशुभे । अत्र सुव्रताराज्यो-र्मुखचन्द्रयोर्भूपणतारकयोश्चोपमानोपमेयभाव ॥५२॥ तावदेवेति—तावत्किल काचिद् वीणावशादिध्वनि-मिश्रा गीति चकार यावन्नृपप्रियोच्चरिता सुधामधुरा वाणी नाकर्णयत् । तस्या भाषमाणाया वीणापि काक-क्रोङ्कारानुकारिणो न कस्यापि वर प्रतिभासत इति भाव ॥५३॥ एकयेति—कयाचन निजोत्सङ्गे धृत पटह शब्दायते स्म वादनकलया त्वरमाणाभि कराङ्गुलीराहतो हतमान प्रकटिततालं यथा स्यात् । यथा प्रगल्भ-कामुक कयाचिज्जघनमारोपित कामकलिरसान्तरे करपेटिकाहतो रागतमकण्ठे कूजति स्म[1] ॥५४॥ वलितेति—एकया तस्या पुरतो नृत्य चक्रे । किंविशिष्टमित्याह—सप्तप्रकारनर्तितभ्रूलत षड्विंशतिप्रकार-चालितलोचन नवविधनर्तितकानीनिक षट्प्रकारनासिक षट्प्रकाराधर षट्प्रकारकपोल सप्तप्रकारचिबुक नव-प्रकारलोचनपक्ष्मपुट तथा त्रयोदशविध शिरोनृत्य पश्चात्पूर्वोक्तानि तथा मुखच्छायाश्रृङ्गाररौद्रात्मभेदेन चतुर्धा तथा रङ्गमध्येऽष्टौ वीक्षणगुणा नवप्रकार ग्रीवानृत्यम्, एते वदननृत्यसख्यानामसक्षिप्तभेदानुरोनृत्य पञ्चविध् तथा पार्श्वनृत्य च तथोदर त्रिविध चतु षष्टिप्रकार हस्तकनृत्य तथा बाहुनृत्य दशविध तथा करकर्माणि विंशति, कटीनृत्य पञ्चविध तथा पञ्चविधा जङ्घा तथा पादकर्म षड्विध तथा द्वात्रिंशत्पादचारिका षोडश-प्रकारा भूमिगा षोडशप्रकारा आकाशगा षट्प्रकारमङ्ग तथाङ्गहारा द्वात्रिंशत्प्रकाराः । तथाष्टोत्तरशत करणानि तथा रङ्गभूमौ प्रथमप्रवेशे षट्स्थानानि । तथाहि वैप्लवसमपादमण्डलवैशाखालीढलक्षणानि नाममात्र-कथित ग्रन्थगौरवभयाद्विशेषप्रयोगानुभवो न व्याख्यात । चालितभ्रु नवीनविभ्रमलोचन कम्पितस्तनमुत्क्षिप्त-

---

मानो उसके सौन्दर्य सागरकी गहराई ही प्रकट कर रहा हो ॥५१॥ किसी देवीने उस सुवदनाको निर्मल मणियोंके समूहसे ऐसा सजा दिया था कि जिससे वह बड़े बड़े ताराओं और चन्द्रमासे सुन्दर शरद् ऋतुकी रात्रिकी तरह सुशोभित होने लगी ॥५२॥ कोई मृगनयनी देवी वीणा और बासुरी बजाती हुई तभी तक गा सकी थी जब तक कि उसने रानीके द्वारा कही हुई अमृतवाहिनी वाणी नहीं सुनी थी ॥५३॥ किसी एक देवीके द्वारा स्थूल नितम्ब-मण्डलपर धारण किया हुआ पटह रागसे चचल हस्तके अग्रभागसे ताडित होता हुआ धृष्ट कामीकी तरह अधिक शब्द कर रहा था ॥५४॥ किसी एक देवीने रानीके आगे ऐसा नृत्य किया जिसमे भौहें चल रही थीं, नेत्र नये-नये विलासोंसे पूर्ण थे, स्तन कॉप रहे थे, हाथ उठ रहे थे, चरणोंका सुन्दर सचार आश्चर्य उत्पन्न कर रहा था, और काम स्वय नृत्य कर रहा

---

१ अस्येद व्याख्यान सुगमम्—एकया सुरबालया गुरुकलत्रमण्डले स्थूलनितम्बबिम्बे अधिरोपितोऽधिष्ठापित । आनकपटहो रागेण सगीतकप्रसिद्धध्वनिवशेन चञ्चलश्चपलतमो य कराग्रो हस्ताग्रस्तेन लालितस्ताडित सन् धृष्टकामुक इव धृष्टनायक इव हतमान प्रमाणातीतमधिकमिति यावत् कूजति स्म शब्दायते स्म । धृष्ट-नायकस्य लक्षणमिदम् 'धृष्टो ज्ञातापराधोऽपि न विलक्षोऽवमानित ' इति वाग्भट । कामुकपक्षे रागेण मदनाति-शयेन चञ्चलेन कराग्रेण लालित इति विशेष ।

[1]यत्तदिष्टतममुत्तम च यज्जात[2]पूर्वमिह यच्च किंच न ।
तत्तदाभिरभिकर्मकौशल स्पर्धयेव विधिवद् व्यधीयत ॥५६॥
सर्वतोऽपि सुमनोरमार्पितालकृतिर्गुणविशेषशालिनी ।
भारतीव सुकवेरभूत्तदा शुद्धविग्रहवती नृपप्रिया ॥५७॥
रात्रिशेषसमये किलैकदा सा सुखेन शयिता व्यलोकयत् ।
स्वप्नसततिमिमा दिवोऽर्हतस्तीर्थपद्धतिमिवोत्तरिष्यत ॥५८॥
सचरत्मदभरेण निर्भर भज्यमानदृढकूर्मकर्परम् ।
कल्पगन्धवहलोलमुद्धुर राजताद्रिमिव गन्धसिन्धुरम् ॥५९॥

हस्तक रमणीयनानाप्रकारपदप्रचार समुन्मत्तमदन यथा स्यादेव काचिन्नरीनर्त्ति ॥५५॥ यत्तदिष्टेति—ताभि श्रीप्रभृतिभिर्देवाङ्गनाभिस्तत्कलाकौशल निर्मित स्पर्धया अहमहमिकयेव । यत्किमित्याह—यत्तस्या इष्टतमं मनोवल्लभ यच्चोत्तम सर्वप्रशस्य यच्च जातपूर्वमग्रे केनापि न प्रकटित तत्सर्वं साचार कृतमिति ॥५६॥ सर्वतोऽपीति—तदा सा नृपप्रिया समयपुण्यलक्ष्मीविशेषितप्रभावा शुद्धशरीरगुणविशेषशालिनी गर्भग्रहणयोग्या बभूव सुकवेर्वाणीव चित्तचमत्कारालकारयुक्ता औदार्यादिकाव्यगुणयुक्ता यथोक्तसमासावद्धेति[3] ॥५७॥ रात्रिशेषेति—सा कदाचिदरुणोदये सुखेन शयनस्था वक्ष्यमाणान् स्वप्नानद्राक्षीत् । सर्वार्थसिद्धेर्विमानादुत्तितीर्षो-र्जिनेन्द्रस्य सोपानपरम्परामिव ॥५८॥ सचरदिति—रौप्यपर्वतमिव धवलगन्धगजं ददर्श । किंविशिष्टम् । अति-पीडयमानभूभारधारककूर्मपृष्ठकर्परम् । केन । सचरच्चरणप्रचारभारेण कल्पान्तवातवन्मदकम्पमानम् उद्धुर-

था ॥५५॥ उस समय उन देवियोंने सेवाका वह समस्त कौशल—जो कि उन्हें अत्यन्त इष्ट था, उत्तम था, और जिसे पहले किसीने प्रकट नहीं किया था—स्पर्धासे ही मानो प्रकट किया था ॥५६॥ उस समय वह राजाकी प्रिया किसी उत्तम कविकी वाणीकी तरह जान पडती थी क्योंकि जिस प्रकार उत्तम कविकी वाणोमें सब ओरसे विद्वानोंको आनन्दित करनेवाले उपमादि अलंकार निहित रहते हैं उसी प्रकार राजाकी प्रियाको भी देवियोंने सब ओरसे कटकादि अलंकार पहना रखे थे, उत्तम कविकी वाणी जिस प्रकार माधुर्यादि गुणोंसे सुशोभित होती है उसी प्रकार राजाकी प्रिया भी दया दाक्षिण्यादि गुणोंसे सुशोभित थी और उत्तम कविकी वाणी जिस प्रकार शुद्ध विग्रह—प्रकृति-प्रत्यय आदिके निर्दोष विभागसे युक्त रहती है उसी प्रकार राजाकी प्रिया भी शुद्ध विग्रह—शुद्ध शरीरसे युक्त थी ॥५७॥ किसी एक दिन सुखसे सोयी हुई रानीने रात्रिके पिछले समय निम्नलिखित स्वप्नोंका समूह देखा जो ऐसा जान पडता था मानो स्वर्गसे उतरकर आनेवाले जिनेन्द्रदेवके लिए सीढियोंका समूह ही बनाया गया हो ॥५८॥ सर्वप्रथम उसने वह मदोन्मत्त हाथी देखा, जिसके कि चलते हुए चरणोंके भारसे पृथिवीका भार धारण करनेवाले कच्छपका मजबूत कर्पर भी टूटा जा रहा था और जो ऐसा जान पडता था मानो प्रलय कालकी वायुसे चचल हुआ ऊँचा कैलास

१ यद्यदिष्टतम -घ० म० । २ यज्ज्ञान—क० ख० ग० घ० च० छ० ज० म० । ३ अस्येद व्याख्यान सुस्पष्टम्—तदा तस्मिन् काले नृपप्रिया राजवल्लभा सुकवेः कविश्रेष्ठस्य भारतीव वाणीव अभूद्बभूव । अथोभयो सादृश्य-माह—सर्वतोऽपि समन्तादपि सुमनोरमाभिर्विबुधवल्लभाभिरर्पिता प्रदत्ता. अलकृतय कटककेयूरादयो यस्यास्तथाभूता नृपप्रिया पक्षे सुमनोरमा विद्वत्प्रिया अर्पिता स्थापिता अलकृतय उपमारूपकादयो यस्या तथाभूता । गुणविशेषैर्दयादाक्षिण्यादिभि शालते शोभत इत्येवशीला पक्षे गुणविशेषैर्माधुर्यौज प्रसादादिभि शालिनी शोभमाना । शुद्धविग्रहवती निर्मलशरीरवती पक्षे निर्दोषवाक्यविन्यासा 'वृत्त्यर्थाववोधक वाक्य विग्रह ' इति सिद्धान्तकौमुदी । श्लिष्टोपमा ॥

श्रृङ्ग[1]सगतिकदर्थितग्रह शारदाभ्रमिव शुभ्रविग्रहम् ।
भूत्रयोत्सवविधायिन [2]वृप मूर्तिमन्तमिव बिभ्रत वृपम्[3] ॥६०॥
[4]गर्जितग्लपितदिग्गजावलीगण्डमण्डलमदाम्बुनिर्झरम् ।
एणकेतनकुरङ्गलिप्सयेवान्तरिक्षरचितक्रम हरिम् ॥६१ ।
[5]रावरोपदलिताम्बुदावलीलग्नलोलरुचिसचयामिव ।
कन्धरामुरुकडारकेसरोल्लासिनी दधतमुद्धत हरिम् ॥६२॥

[पाठान्तरम्]

[6]स्फारकान्तिलहरीपरम्पराप्लावितप्रकृतिकोमलाकृतिम् ।
[7]तत्क्षणभ्रमदमन्दमन्दरक्षुब्धवारिधिगतामिव श्रियम् ॥६३॥
सभृतभ्रमर[8]भङ्गिविभ्रम स्रग्द्वयं शुचि विकासिकौसुमम् ।
व्योम्नि दिग्गजमदाविल द्विधा जाह्नवौघमिव वायुना कृतम् ॥६४॥

मुत्तुङ्गितशुण्डादण्ड गर्जन्तमिति ॥५९॥ श्रृङ्गेति—वृप धवलवदनमपश्यत् शारदमेघमिव शुभ्रशरीर श्रृङ्गसघट्टघर्पितनक्षत्र पक्षे शिखरसश्लेपेण प्रच्छादितचन्द्रग्रहम् । अतश्च तादृशप्रभावत्वात् मङ्गलकारिण सदेह धर्ममिव बिभ्राण धर्मस्यापि शुभ्रवर्णत्वेन वर्ण्यमानत्वात् ॥६०॥ गर्जितेति—निरालम्बसज्जितक्रम सिंह ददर्श मृगाङ्कमृगजिघृक्षयेव । पुन किंविशिष्टमित्याह—सिंहनादशोपितदिग्गजमण्डलीकपोलपालिमदजलप्रवाह, गर्जितेन भूमिस्थान् दिग्गजान् जित्वा चन्द्रमृग जिघासतीति भाव ॥६१॥ रावेति—दीर्घपिङ्गलकेसरसटाभासुर ग्रीवा दधानं सिंह ददर्श । किंविशिष्टमित्याह—गर्जिताकर्णनजनितरोपविदारितमेघमघेभ्यो निराधारत्वेन पतितलग्नविद्युच्चयामिव । अत्र कन्धराकेसराणा विद्युतामुपमानोपमेयभाव ॥६२॥ स्फारेति—ततो लक्ष्मी ददर्श निजप्रसारितेज कल्लोलमालास्नपितसहजसुभगमूर्तिम् । अतश्च किंविशिष्टामिव । मथनकालभ्राम्यन्मन्दराद्रिफेनिलसमुद्रगर्भगतामिव । कायकान्तिकलापस्य क्षुभितवारिधेश्चोपमानोपमेयभाव ॥६३॥ सभृतेति—[1]भ्रमर-

अथवा विजयार्ध पर्वत ही हो ॥५९॥ तदनन्तर सींगोंकी सगतिसे ग्रहमण्डलको कष्ट पहुँचाने एवं शरदृतुके मेघके समान सफेद शरीरको धारण करनेवाला वह बैल देखा जो कि तीनों लोकोंमें उत्सव करानेवाले मूर्तिमान् धर्मके समान जान पडता था ॥६०॥ तदनन्तर जिसने अपनी गर्जनासे दिग्गज समूहके कपोल मण्डलपर झरते हुए मदजलके झरने सुखा दिये हैं और जो चन्द्रमण्डलमें स्थित मृगको पानेकी इच्छासे ही मानो आकाशमें छलॉग भर रहा है ऐसा सिंह देखा ॥६१॥ तदनन्तर अपनी गर्जनाके रोपसे खण्डित हुए मेघमण्डलकी बिजलियोंका समूह ही मानो जिसमें आ लगा हो ऐसी, लम्बी और पीली सटाओंसे सुशोभित ग्रीवाको धारण करनेवाला उछलता हुआ सिंह देखा ॥६२॥ तदनन्तर वह लक्ष्मी देखी जिसका कि शरीर विशाल कान्तिरूप तरंगोंकी परम्परासे प्लावित और स्वभावसे ही कोमल था एवं ऐसी जान पडती थी मानो तत्काल घूमते हुए मन्दरगिरि रूपी विशाल मन्थन दण्डसे मथित समुद्रसे अभी-अभी निकली है ॥६३॥ तदनन्तर बैठे हुए भ्रमरोंके समूहसे सुशोभित खिले हुए

१ सतति ध० म०, च० छ० । श्रृङ्गयोर्विपाणयो पक्षे श्रृङ्गस्याग्रभागस्य सगत्या कदर्थिता पीडिता ग्रहा सूर्यचन्द्रादयो येन त तथाविधम् । २ वृपभम् । ३. धर्मम् । ४ गर्जितेन स्वशब्देन ग्लपिता क्षपिता दिग्गजावल्या काष्ठाकरिसमूहस्य गण्डमण्डलेभ्य कपोलसमूहेभ्यो मदाम्बुना दानाम्भसा स्रोतासि येन तम् । ५ रावरोपेण शब्दरोपेण दलिता खण्डिता याम्बुदावली मेघमाला तस्या लग्न सपृक्तो लोलरुचीना विद्युता चय समूहो यस्या तामिव । ६ स्फारा विपुलविपुला या. कान्तिलहर्यो दीप्तिकल्लोलास्तेपा परम्परया सतत्या प्लाविता स्नापिता प्रकृतिकोमला स्वभावमृदुलाकृतिर्यस्यास्ताम् । ७ तत्क्षण तत्काले भ्रमन् घूर्णमानो योऽमन्दो विपुलो मन्दर सुमेरुस्तेन क्षुब्ध मथितो यो वारिधि सागरस्तत्र गतामिव । ८. सङ्गि ध० म० । ९ सभृतो वृतो भ्रमरभङ्गया मधुकरमालया विभ्रम शोभा येन तत् ।

[1]यत्तदिष्टतममुत्तम च यज्जात[2]पूर्वमिह यच्च किंच न ।
तत्तदाभिरभिकर्मकौशल स्पर्धयेव विधिवद् व्यधीयत ॥५६॥
सर्वतोऽपि सुमनोरमार्पितालकृतिर्गुणविशेषशालिनी ।
भारतीव सुकवेरभूत्तदा शुद्धविग्रहवती नृपप्रिया ॥५७॥
रात्रिशेषसमये किलैकदा सा सुखेन शयिता व्यलोकयत् ।
स्वप्नसततिमिमा दिवोऽर्हतस्तीर्थपद्धतिमिवोत्तरिष्यत ॥५८॥
सचरत्पदभरेण निर्भर भज्यमानदृढकूर्मकर्परम् ।
कल्पगन्धवहलोलमुद्धुर राजताद्रिमिव गन्धसिन्धुरम् ॥५९॥

हस्तक रमणीयनानाप्रकारपदप्रचार समुन्मत्तमदन यथा स्यादेव काचिन्नरीनर्त्ति ॥५५॥ यत्तदिष्टेति—ताभि श्रीप्रभृतिभिर्देवाङ्गनाभिस्तत्कलाकौशल निर्मित स्पर्धया अहमहमिकयेव । यत्किमित्याह—यत्तस्या इष्टतमं मनोवल्लभ यच्चोत्तम सर्वप्रशस्य यच्च जातपूर्वमग्रे केनापि न प्रकटित तत्सर्व साचार कृतमिति ॥५६॥ सर्वतोऽपीति—तदा सा नृपप्रिया समयपुण्यलक्ष्मीविशेषितप्रभावा शुद्धशरीरगुणविशेषशालिनी गर्भग्रहणयोग्या बभूव सुकवेर्वाणीव चित्तचमत्कारालकारयुक्ता औदार्यादिकाव्यगुणयुक्ता यथोक्तसमासावद्धेति[3] ॥५७॥ रात्रिशेषेति—सा कदाचिदरुणोदये सुखेन शयनस्था वक्ष्यमाणान् स्वप्नानद्राक्षीत् । सर्वार्थसिद्धेर्विमानादुत्तितीर्षो-र्जिनेन्द्रस्य सोपानपरम्परामिव ॥५८॥ सचरदिति—रौप्यपर्वतमिव धवलगन्धगजं ददर्श । किंविशिष्टम् । अति-पीडयमानभूभारधारककूर्मपृष्ठकर्परम् । केन । सचरच्चरणप्रचारभारेण कल्पान्तवातवन्मदकम्पमानम् उद्धुर-

था ॥५५॥ उस समय उन देवियोने सेवाका वह समस्त कौशल—जो कि उन्हें अत्यन्त इष्ट था, उत्तम था, और जिसे पहले किसीने प्रकट नहीं किया था—स्पर्धासे ही मानो प्रकट किया था ॥५६॥ उस समय वह राजाकी प्रिया किसी उत्तम कविकी वाणीकी तरह जान पडती थी क्योंकि जिस प्रकार उत्तम कविकी वाणीमे सब ओरसे विद्वानोको आनन्दित करनेवाले उपमादि अलंकार निहित रहते है उसी प्रकार राजाकी प्रियाको भी देवियोंने सब ओरसे कटकादि अलंकार पहना रखे थे, उत्तम कविकी वाणी जिस प्रकार माधुर्यादि गुणोसे सुशोभित होती है उसी प्रकार राजाकी प्रिया भी दया दाक्षिण्यादि गुणोंसे सुशोभित थी और उत्तम कविकी वाणी जिस प्रकार शुद्ध विग्रह—प्रकृति-प्रत्यय आदिके निर्दोष विभागसे युक्त रहती है उसी प्रकार राजाकी प्रिया भी शुद्ध विग्रह—शुद्ध शरीरसे युक्त थी ॥५७॥ किसी एक दिन सुखसे सोयी हुई रानीने रात्रिके पिछले समय निम्नलिखित स्वप्नोका समूह देखा जो ऐसा जान पडता था मानो स्वर्गसे उतरकर आनेवाले जिनेन्द्रदेवके लिए सीढियोंका समूह ही बनाया गया हो ॥५८॥ सर्वप्रथम उसने वह मदोन्मत्त हाथी देखा, जिसके कि चलते हुए चरणोंके भारसे पृथिवीका भार धारण करनेवाले कच्छपका मजबूत कर्पर भी टूटा जा रहा था और जो ऐसा जान पड़ता था मानो प्रलय कालकी वायुसे चचल हुआ ऊँचा कैलास

१. यद्यदिष्टतम -घ० म०। २ यज्ज्ञान—क० ख० ग० घ० च० छ० ज० म०। ३ अस्येद व्याख्यान सुस्पष्टम्—तदा तस्मिन् काले नृपप्रिया राजवल्लभा सुकवेः कविश्रेष्ठस्य भारतीव वाणीव अभूद्बभूव । अथोभयो सादृश्य-माह—सर्वतोऽपि समन्तादपि सुमनोरमाभिर्विबुधवल्लभाभिरर्पिता प्रदत्ताः अलकृतय कटककेयूरादयो यस्यास्तथाभूता नृपप्रिया पक्षे सुमनोरमा विद्वत्प्रिया अर्पिता स्थापिता अलकृतय उपमारूपकादयो यस्या तथाभूता । गुणविशेषैर्दयादाक्षिण्यादिभि शालते शोभत इत्येवशीला पक्षे गुणविशेषैर्माधुर्यौज प्रसादादिभि शालिनी शोभमाना । शुद्धविग्रहवती निर्मलशरीरवती पक्षे निर्दोषवाक्यविन्यासा 'वृत्त्यर्थावबोधक वाक्य विग्रह ' इति सिद्धान्तकौमुदी । श्लिष्टोपमा ॥

शृङ्ग[1]सगतिकदर्थितग्रह शारदाभ्रमिव शुभ्रविग्रहम् ।
भूत्रयोत्सवविधायिन [2]वृष मूर्तिमन्तमिव बिभ्रत वृषम्[3] ॥६०॥
[4]गर्जितग्लपितदिग्गजावलीगण्डमण्डलमदाम्बुनिर्झरम् ।
एणकेतनकुरङ्गलिप्सयेवान्तरिक्षरचितक्रम हरिम् ॥६१॥
[5]रावरोषदलिताम्बुदावलीलग्नलोलरुचिसचयामिव ।
कन्धरामुरुकडारकेसरोल्लासिनी दधतमुद्धत हरिम् ॥६२॥

[पाठान्तरम्]

[6]स्फारकान्तिलहरीपरम्पराप्लावितप्रकृतिकोमलाकृतिम् ।
[7]तत्क्षणभ्रमदमन्दमन्दरक्षुब्धवारिधिगतामिव श्रियम् ॥६३॥
सभृतभ्रमर[8]भङ्गिविभ्रम स्रग्द्वयं शुचि विकासिकौसुमम् ।
व्योम्नि दिग्गजमदाविल द्विधा जाह्नवौघमिव वायुना कृतम् ॥६४॥

मुत्तुङ्गितशुण्डादण्ड गर्जन्तमिति ॥५९॥ शृङ्गेति—वृष धवलवदनमपश्यत् शारदमेघमिव शुभ्रशरीर शृङ्गसघट्टघर्षितनक्षत्र पक्षे शिखरसश्लेषेण प्रच्छादितचन्द्रग्रहम् । अतश्च तादृशप्रभावत्वात् मङ्गलकारिण सदेह धर्ममिव बिभ्राण धर्मस्यापि शुभ्रवर्णत्वेन वर्ण्यमानत्वात् ॥६०॥ गर्जितेति—निरालम्बसज्जितक्रम सिह ददर्श मृगाङ्कमृगजिघृक्षयेव । पुन किंविशिष्टमित्याह—सिंहनादशोषितदिग्गजमण्डलीकपोलपालिमदजलप्रवाह, गर्जितेन भूमिस्थान् दिग्गजान् जित्वा चन्द्रमृग जिघासतीति भाव· ॥६१॥ रावेति—दीर्घपिङ्गलकेसरसटाभासुरा ग्रीवा दधानं सिह ददर्श । किंविशिष्टमित्याह—गर्जिताकर्णनजनितरोषविदारितमेघसघेभ्यो निराधारत्वेन पतितलग्नविद्युच्चयामिव । अत्र कन्धराकेसराणा विद्युतामुपमानोपमेयभाव ॥६२॥ स्फारेति—ततो लक्ष्मी ददर्श निजप्रसारितेज कल्लोलमालास्नपितसहजसुभगमूर्तिम् । अतश्च किंविशिष्टामिव । मथनकालभ्राम्यन्मन्दराद्रिफेनिलसमुद्रगर्भगतामिव । कायकान्तिकलापस्य क्षुभितवारिधेश्चोपमानोपमेयभाव ॥६३॥ सभृतेति—भ्रमर-

अथवा विजयार्ध पर्वत ही हो ॥५९॥ तदनन्तर सींगोंकी संगतिसे ग्रहमण्डलको कष्ट पहुँचाने एवं शरद्ऋतुके मेघके समान सफेद शरीरको धारण करनेवाला वह बैल देखा जो कि तीनों लोकोंमे उत्सव करानेवाले मूर्तिमान् धर्मके समान जान पडता था ॥६०॥ तदनन्तर जिसने अपनी गर्जनासे दिग्गज समूहके कपोल मण्डलपर झरते हुए मदजलके झरने सुखा दिये हैं और जो चन्द्रमण्डलमे स्थित मृगको पानेकी इच्छासे ही मानो आकाशमे छलॉग भर रहा है ऐसा सिंह देखा ॥६१॥ तदनन्तर अपनी गर्जनाके रोषसे खण्डित हुए मेघमण्डलकी बिजलियोंका समूह ही मानो जिसमे आ लगा हो ऐसी, लम्बी और पीली सटाओंसे सुशोभित ग्रीवाको धारण करनेवाला उछलता हुआ सिंह देखा ॥६२॥ तदनन्तर वह लक्ष्मी देखी जिसका कि शरीर विशाल कान्तिरूप तरंगोंकी परम्परासे प्लावित और स्वभावसे ही कोमल था एवं ऐसी जान पडती थी मानो तत्काल घूमते हुए मन्दरगिरि रूपी विशाल मन्थन दण्डसे मथित समुद्रसे अभी-अभी निकली है ॥६३॥ तदनन्तर बैठे हुए भ्रमरोंके समूहसे सुशोभित खिले हुए

१ सतति घ० म०, च० छ० । शृङ्गयोर्विषाणयो पक्षे शृङ्गस्याग्रभागस्य सगत्या कदर्थिता पीडिता ग्रहा सूर्याचन्द्रादयो येन त तथाविधम् । २. वृषभम् । ३. धर्मम् । ४ गर्जितेन स्वशब्देन ग्लपिता क्षपिता दिग्गजावल्या· काष्ठाकरिसमूहस्य गण्डमण्डलेभ्य कपोलसमूहेभ्यो मदाम्बुना दानाम्भसा स्रोतासि येन तम् । ५ रावरोषेण शब्दरोषेण दलिता खण्डिता याम्बुदावली मेघमाला तस्या लग्न सपृक्तो लोलरुचीना विद्युता चय समूहो यस्या तामिव । ६ स्फारा विपुलविपुला या कान्तिलहर्यो दीप्तिकल्लोलास्तेषा परम्परया सतत्या प्लाविता स्नापिता प्रकृतिकोमला स्वभावमृदुलाकृतिर्यस्यास्ताम् । ७ तत्क्षण तत्काले भ्रमन् घूर्णमानो योऽमन्दो विपुलो मन्दर सुमेरुस्तेन क्षुब्ध मथितो यो वारिधि सागरस्तत्र गतामिव । ८. सङ्गि घ० म० । ९ संभृतो धृतो भ्रमरभङ्ग्या मधुकरमालया विभ्रम शोभा येन तत् ।

उग्रदग्धमधिरोप्य लाञ्छनच्छद्मनात्म[1]भुवमङ्कमात्मनः ।
ओषधीरसनिषेवणैरिवोज्जीवयन्तमुदितौषधीश्वरम् ॥६५॥
कौमुदीरसविलासलालसं मीनकेतुनृपतेः पुरोधसम् ।
कामिनीषु [2]नवरागसंभ्रमाद्वैतवादिनमतिग्मतेजसम् ॥६६॥

[पाठान्तरम्]

[3]सर्वथाहमपदोष एव किं ध्यामलो जन इति प्रतिज्ञया ।
लब्धशुद्धिमुडुदिव्यतण्डुलैश्च[4]र्वितैरिव कृतोत्सवं रविम् ॥६७॥
[5]स्तम्भितभ्रमितकुञ्चिताञ्चितस्फारितोद्वलितवेल्लितादिभिः ।
प्रक्रमैर्विहरदम्बुधौ युगं मीनयोर्नयनयोरिव श्रियः ॥६८॥

पटलकर्बुरं विकसितपुष्पमालायुग्ममद्राक्षीत् व्योम्नि निरालम्बम् । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—दिग्गजमदबिन्दुभिरन्तरान्तरा चन्द्राङ्कितं गगनगाङ्गप्रवाहमिव । कथं द्वित्वमित्याह—मध्यधारासंचारिणा प्रचण्डवायुना विभक्तमिव ॥६४॥ उग्रेति—उदितौषधीश्वरं पूर्णचन्द्रमपश्यत् त्रिनयनज्वालादग्धमदनं निजोत्सङ्गे स्थापयित्वा अङ्कमृगव्याजेन ओषधीरसविधानैः पुनर्नवं कुर्वाणम् । यथा कश्चिद्भिषग् ज्वलनादिना दग्धनिजतनूजमतिवत्सलत्वादङ्कमारोप्य प्रत्युज्जीवयति । चन्द्रोदये ह्योषध्योऽतिसरसत्वाद्रसं द्रवन्त्यो मदनमुन्मदयन्ति ॥६५॥ कौमुदीति—अतिग्मरोचिषं हिमरश्मिमीक्षांचक्रे चन्द्रिकारसप्रकाशलम्पटं जगज्जिगीषोः पुष्पायुधस्य पुरोधसं ब्रह्मगुरुं गुरोराशीर्वादप्रभावमन्तरेण न जिगीषोर्जिगीषुतेति भावः । कामिनीषु च रागवशकरणे एकान्तवादिनम् । चन्द्रोदये सति कामोत्सवं विनान्यस्य वार्तापि नास्तीति भावः ॥६६॥ सर्वथेति—उद्गच्छन्तमादित्यं ददर्श । किंविशिष्टमित्याह—कृतोत्सवं लब्धानन्दं, यतः कथंभूतम् । लब्धशुद्धिम् । कैः । निर्णाशितैर्नक्षत्रतण्डुलैः, किमर्थं चर्वितैरित्याह इति प्रतीतिहेतवे, इतीति किम् । अहं सर्वथा नाशितरात्रिकस्ततोऽप्यलोकः कुलं सान्धकारं । अथ च यथा कश्चिदात्मानं निर्दोषं जानन् सुजनान् प्रति वदति यूयं किं म्लानमुखा इति जल्पयित्वा दिव्यतण्डुलान् चर्वितान् दर्शयित्वा शुद्धः सन् कृतोत्सवो भवति ॥६७॥ स्तम्भितेति—मत्स्ययुग्ममीक्षांचक्रे

फूलोंसे युक्त दो उज्ज्वल मालाएँ देखी जो ऐसी जान पड़ती थीं मानो वायुके द्वारा आकाशमें दो भागोंमे विभक्त दिग्गजोंके मदसे मलिन आकाशगंगाका प्रवाह ही हो ॥६४॥ तदनन्तर उदित होता हुआ वह चन्द्रमा देखा जो कि ऐसा जान पडता था मानो कलंकके छलसे महादेवजी द्वारा जलाये हुए कामदेवको अपनी गोदमें रखकर ओषधियोंके रसका सेवन कर जीवित ही कर रहा हो—ओषधिपति जो ठहरा ॥६५॥ तदनन्तर वह चन्द्रमा देखा जिसकी कि चाँदनीके साथ रसक्रीड़ा करनेमें लालसा बढ रही थी, जो कामदेवका पुरोहित था, और स्त्रियोंमे एक नवीन राग सम्बन्धी सम्भ्रमके अद्वैतका प्रतिपादन कर रहा था—स्त्रियोंमें केवल राग ही राग बढा रहा था ॥६६॥ तत्पश्चात् मैं तो सर्वथा निर्दोष हूँ [पक्षमें रात्रिरहित हूँ] लोग मेरे विषयमे मलिनाशय क्यों हैं ? इस प्रकार प्रतिज्ञा द्वारा नक्षत्ररूपी दिव्य [मन्त्रित] चावल खाकर जिसने शुद्धि प्राप्त की है और उसी उपलक्ष्यमें जिसने उत्सव किया है ऐसा सूर्य देखा ॥६७॥ तदनन्तर लक्ष्मीके नयनयुगलकी तरह स्तम्भित, भ्रमित, कुंचित, अंचित,

१. काम पक्षे पुत्रम् । २ नवरागसंभ्रमस्य नूतननूतनानन्दोल्लासस्याद्वैतवादिनमेकान्तवादिनम् । ३ अहं सर्वथा सर्वप्रकारेण अपदोष एवापगतरात्रिक एव पक्षे निर्दोष एवास्मि जनो लोको ध्यामलो ध्वान्तपूर्णः पक्षे मलिनमुखः किं कथमस्तीति प्रतिज्ञया दृढवाक्येन लब्धशुद्धिं प्राप्तपावित्र्यं । अतएव चर्वितैः राशितैः उडून्येव दिव्यतण्डुलास्तैर्नक्षत्रमनोरमशालेयैः कृतोत्सवमिव कृतानन्दमिव रविं सूर्यम् । ४ चर्चितैः घ० म० च० छ० । ५ स्तम्भितादयो मीनानां गतिविशेषाः नयनपक्षे स्तम्भितं सहजनिश्चलम्, भ्रमितं प्रत्यग्रपदार्थविलोकनेच्छया परितः सचारः, कुञ्चितं कोणेनावलोकनम्, अञ्चितं स्मेरोल्लसितम्, स्फारितमद्भुतवस्तुविलोकनजन्याश्चर्यभावविस्तृतम् उद्वलितं, स्मरलज्जादिनाधोमुखीभवनम्, वेल्लितं पुनः पुनः कामघूर्णितमिति विशेषो बोध्यः ।

प्राग्रसातलगतस्य तत्क्षणान्निर्यतः सुकृतमत्तदन्तिनः ।
कुम्भयोरिव युगं समौक्तिकं शातकुम्भमयपूर्णकुम्भयोः ॥६९॥
अभ्युपात्तकमलैः कवीश्वरैः [1]सश्रुतं कुवलयप्रसाधनम् ।
द्रावितेन्दुरसराशिसोदरं सच्चरित्रमिव निर्मलं सरः ॥७०॥
पीवरोच्चलहरिव्रजोद्धुरं सज्जनक्रमकरं समन्ततः ।
अब्धिमुग्रतरवारिमज्जितक्ष्माभृतं पतिमिवावनीभुजाम् ॥७१॥

समुद्रे लक्ष्म्या नयनयुग्ममिव प्रक्रमैः स्वच्छन्दप्रचारैर्विचरत् । कैः प्रक्रमैरित्याह—नयनचारधर्मनारोपयति—स्तम्भितैः सहजनिश्चलैः कुञ्चितैः कुतश्चिद् विस्मयाद्विकसितैः वलितैः स्मरलज्जादिनाधोमुखैः वेल्लितैः पुनः पुनः कामघूर्णितैरिति ॥६८॥ प्रागिति—मुक्तापूरितयोः सुवर्णकुम्भयोर्युगं ददर्श । अतश्च ज्ञायते—धर्ममत्तहस्तिनः कुम्भयुगलमिव तदपि समौक्तिकं भवति । कथमन्यदङ्गं न दृश्यत इत्याह—प्राग्रसातलगतस्य तीर्थकराभावात् पातालनिमग्नस्य । तत्क्षणात् जिनसंभवसमयान्निर्गच्छतः । ह्रदादेर्निर्गच्छतो हि हस्तिनः प्रथमं कुम्भस्थलं दृश्यते पश्चादन्यदङ्गमिति ॥६९॥ अभ्युपात्तेति—निर्मलं सरोवरं दृष्टवती, गलितचन्द्रबिम्बरसपूरसदृशं कुवलयप्रसाधनं कैरवमण्डनं सश्रुतमानं गृहीतं, कैः । कवीश्वरैः जलपक्षीश्वरैः हंसादिभिः । अभ्युपात्तकमलैर्भक्षणार्थं गृहीतपद्मैः । अथवा सभाव्यते—सज्जनचरित्रमिव, सर्वाह्लादकारित्वाच्चन्द्ररसवत् भूवलयमण्डनम्, उपार्जितलक्ष्मीकैः कवीन्द्रैरुपश्लोकितम्[2] ॥७०॥ पीवरेति—समुद्रं ददर्श । उच्चलाभ्रंकषकल्लोलपरम्परासमुद्धतं सज्जनक्रमकरं सज्जाः प्रबला नक्रा जलचरविशेषात्मका यत्र तं तथाभूतम्, भीष्मगभीरजलप्लावितपर्वतम् । अतश्च जिगीषुमिव । तमपि कथंभूतमित्याह—पीवरा बहला उच्चला उत्पतनशीला ये हरिव्रजा

स्फारित, उद्वलित और वेल्लित आदि गतिविशेषोंसे समुद्रमें क्रीडा करता हुआ मछलियोंका युगल देखा ॥६८॥ तदनन्तर मोतियोंसे युक्त सुवर्णमय पूर्ण कलशोंका वह युगल देखा जो कि ऐसा जान पड़ता था मानो पहले रसातल जाकर उसी समय निकलनेवाले पुण्यरूपी मत्त हाथीके गण्डस्थलोंका युगल ही हो ॥६९॥ तदनन्तर वह सरोवर देखा जो कि किसी सत्पुरुषके चरित्रके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार सत्पुरुषका चरित्र लक्ष्मी प्राप्त करनेवाले बड़े-बड़े कवियोंके द्वारा सेवित होता है उसी प्रकार वह सरोवर भी कमल पुष्प प्राप्त करनेवाले अच्छे अच्छे जलपक्षियोंसे सेवित था । जिस प्रकार सत्पुरुषका चरित्र कुवलयप्रसाधन—महीमण्डलको अलंकृत करनेवाला होता है उसी प्रकार वह सरोवर भी कुवलयप्रसाधन—नीलकमलोंसे सुशोभित था और सत्पुरुषका चरित्र जिस प्रकार पिघले हुए चन्द्ररस अथवा कर्पूररसके समान उज्ज्वल होता है उसी प्रकार वह सरोवर भी पिघले हुए चन्द्ररस अथवा कर्पूररसके समान उज्ज्वल था ॥७०॥ तदनन्तर वह समुद्र देखा जो कि श्रेष्ठ राजा के समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार श्रेष्ठ राजा पीवरोच्चलहरिव्रजोद्धुर—मोटे-मोटे उछलते हुए घोड़ोंके समूहसे युक्त होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी पीवरोच्चलहरिव्रजोद्धुर—मोटी और ऊँची लहरोंके समूहसे युक्त

१ सयुतं क०, सुश्रुतं ख० । २ अत्रेदं व्याख्यानं सुगमम्—सतः साधोश्चरित्रमिवोपाख्यानमिव निर्मलं विमलं सरः कासारम् प्रेक्ष्येत्युत्तरेण सबन्धः । अथोभयोः सादृश्यमाह—अभ्युपात्तानि गृहीतानि कमलानि सरोजानि यैस्तैः वीनां पक्षिणामीश्वरा श्रेष्ठा वीश्वरा, के जले विद्यमाना वीश्वरा इति कवीश्वरास्तैः सश्रुतं सेवितं सरः । पक्षेऽभ्युपात्ता प्राप्ता कमला लक्ष्मी यैस्तैः कवीश्वरैः कवीन्द्रैः सश्रुतं सवितं चर्चितं समाकर्णितं वा । कुवलयान्युत्पलानि प्रसाधनानि भूषणानि यस्य तत् सरः । पक्षे कुवलयस्य महीमण्डलस्य प्रसाधनमलंकरणम् । द्रावितस्य विलीनस्येन्दुरसस्य चन्द्ररसस्य कर्पूररसस्य वा यो राशिस्तस्य सोदरं सदृशम् । उभयत्र वैशद्येन तात्पर्यम् । श्लिष्टोपमा ॥

[1]स्वस्वदीधितिपरिग्रहग्रहग्रामवेष्टितमिवाद्रिशेखरम् ।
चित्ररत्नपरिवेपमुच्चकैश्चारुहेमहरिणारिविष्टरम् ॥७२॥
अश्मगर्भमणिकिङ्किणीचयै. सानुभावमकृताश्रयैरिव ।
[2]दिव्यगन्धहृतलोलषट्पदं. सस्वनैः सुरविमानमन्वितम्[3] ॥७३॥
मत्तवारणविराजित स्फुरद्वज्रहेतिभरतोरणोल्वणम् ।
लोलकेतुपृतनाकदम्वक नाकिनामिव विमानमम्वरे ॥७४॥

[पाठान्तरम्]

अश्वसघातास्तै रुद्धम् । सज्जनाना क्रममाचार करोतीति त तथाविध प्रचण्डखड्गमथनेन जितनृपचक्रमिति[4] ॥७१॥ स्वस्वेति—निजनिजयथास्वरूपतेज परिवारग्रहचक्रवेष्टित मेरुमिव पञ्चवर्णरत्नजटित स्वर्णसिंहासन ददर्श । अत्र सिंहासनमेर्वोर्ग्रहचक्ररत्नसमूहयोश्चोपमानोपमेयभाव ॥७२॥ अश्मेति—देवविमानं ददर्श । दिव्यपरिमलाकृष्टै सशब्दैश्चञ्चलचञ्चरीकै समन्वितम् । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—शब्दायमाननीलमणिकिङ्किणीचयैरिव । किंविशिष्टै । अकृताश्रयैर्निरालम्वै यत सानुभाव स प्रभावम् ॥७३॥ मत्तेति—देवविमानमपश्यत् किंविशिष्टमनेकगवाक्षशोभित जाज्वल्यमानहीरकप्रभाभार यत्तोरण तेनोल्वणमुत्कट, पुन किंविशिष्टम् । चञ्चलध्वजालीमालितम्, विशेपणमेवोपमानविशेष्य करोति । तथाहि नाकिना सेनाकदम्वकमिव तदपि किं-

था । जिस प्रकार श्रेष्ठ राजा सज्जन क्रमकर—सज्जनोंके क्रम-आचारको करनेवाला होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी सज्जनक्रमकर—सजे हुए नाकुओं और मगरोंसे युक्त था और जिस प्रकार श्रेष्ठ राजा उग्रतरवारिमज्जितक्ष्माभृत्—पैनी तलवारसे शत्रु राजाओंको खण्डित करनेवाला होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी उग्रतरवारिमज्जितक्ष्माभृत्—गहरे पानीमें पर्वतोको दवानेवाला था ॥७१॥ तदनन्तर चित्र-विचित्र रत्नोंसे जड़ा हुआ सुवर्णका वह ऊँचा और सुन्दर सिंहासन देखा जो कि अपनी-अपनी किरणोंसे सुशोभित ग्रहोंके समूहसे वेष्टित पर्वतके शिखरके समान जान पड़ता था ॥७२॥ देवों का वह विमान देखा जो कि रुनझुन करती हुई नीलमणिमयक्षुद्रघण्टिकाओंसे सुशोभित था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो स्थान न मिलनेसे शब्द करनेवाले दिव्यगन्ध द्वारा आकर्षित चंचल भ्रमरोंके समूहसे ही सहित हो ॥७३॥ तदनन्तर आकाशमें देवोंका वह विमान देखा जो कि किसी सेनाके समूहके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार सेनाका समूह मत्तवारणविराजित—मदोन्मत्त हाथियोंसे सुशोभित होता है उसी प्रकार वह देवोंका विमान भी मत्तवारणविराजित—उत्तम वरण्डकोंसे सुशोभित था, जिस प्रकार सेनाका समूह स्फुरद्वज्रहेतिभरतोरणोल्वण—चमकीले वज्रमय शस्त्रोंके समूहसे होनेवाले युद्ध द्वारा भयंकर होता है उसी प्रकार देवोंका विमान भी स्फुरद्वज्रहेतिभरतोरणोल्वण—देदीप्यमान हीरोकी किरणोके समूहसे निर्मित तोरण द्वारसे युक्त था और जिस प्रकार सेनाका समूह लोलकेतु—चंचलध्वजासे

१ स्वस्वदीधितीना निजनिजरश्मीना परिग्रहोऽङ्गीकरण परिवारो वा येषा तथाभूता ये ग्रहाश्चन्द्रादयस्तेषा ग्रामेण समूहेन वेष्टित परिवृतम् । २ दिव्यगन्धेन लोकोत्तरसौरभ्येण हृता आकृष्टा ये लोलषट्पदा. चञ्चलचञ्चरीकास्तै । ३ -मञ्चितम् क० । ४ अत्रेद व्याख्यान सुगमम्—अवनिभुजा राज्ञा पति स्वामिनमिव । अब्धि सागरम् । प्रेक्ष्येत्युत्तरेण सबन्ध । उभयो सादृश्य यथा—पीवरा स्थूला उच्चला उच्छलन्तश्च ये हरयोऽश्वास्तेषा व्रजेन समूहेनोद्धुर राजान, पक्षे पीवरोच्चा स्थूलोत्तुङ्गा या लहरयस्तासा व्रजेन समूहेनोद्धुरस्तम् । समन्ततो विष्वक् सज्जनाना साधूना क्रमस्याचारस्य करस्त पक्षे सज्जास्तत्परा नक्रमकरा जलजन्तुविशेषा यस्मिंस्तम् । उग्रेण तीक्ष्णेन तरवारिणा कृपाणेन मज्जिता, खण्डिता क्ष्माभृतो राजानो येन त पक्षे उग्रतर गभीरतर यद् वारि जल तस्मिन् मज्जिता ब्रुडिता क्ष्माभृत पर्वता यस्मिंस्तम् ॥ श्लिष्टोपमा ॥

[1]अन्तरूद्र्ध्वफणिविस्फुरत्फणास्थालकोल्वणमणिप्रदीपकं. ।
[2]निष्फलीकृतरिरसुभोगिनीफूत्कृतोद्यममहीन्द्रमन्दिरम् ॥७५॥
क्व प्रयासि परिभूय मेदिनी दौस्थ्य मत्पुर इतीव रोषतः ।
चित्ररत्नचयमुल्लसत्करै स्फारितोरुहरिचापमण्डलम् ॥७६॥
तीर्थकर्तु रहमिन्द्रमन्दिरादेष्यत. पथि समृद्धिभावत ।
अग्निमग्निकणसततिच्छलादुत्क्षिपन्तमिव लाजसचयम् ॥७७॥
प्रेक्ष्य तत्क्षणविनिद्रलोचना सा विहाय तलिन सुभूपणा ।
पत्युरन्तिकमुपेत्य सुव्रता स्वप्नसङ्घमखिल तमब्रवीत् ॥७८॥

विशिष्ट । लोलकेतन मत्तहस्तिविराजित ज्वलदम्भोलिप्रहरणभरात्सग्रामोल्वणम्[3] ॥७४॥ अन्तरिति—नागालयमीक्षामास । किं विशिष्टम् । निष्फलीभूतसुरतप्रवृत्तलज्जमाननागस्त्रीफूत्कारप्रयासम् । कैरित्याह—ऊद्र्ध्वदीपिकादण्डायमानसर्पप्रसरत्फणापात्राङ्कुतरत्नकलिकादीपकं । अन्तर्मध्ये । तैलदीपिका हि फूत्कारैर्विध्याप्यन्ते न रत्नदीपिका इति ॥७५॥ क्वेति—भूवासिन जन कदर्थयित्वा ममाग्रत क्व गच्छसीति रोपेणाक्षिप्येव निजैर्नानाप्रकारैः किरणैरिन्द्रचाप दर्शयन्त रत्नराशिम् । अन्योऽपि तेजस्वी निजवोध्य पराभूय गच्छन्त शत्रु वीक्ष्य पुरोभूय धनुष्टङ्कारयति ॥७६॥ तीर्थकर्तुरिति—निर्धूमत्वेन जाज्वल्यमानमग्नि ददर्श स्फुलिङ्गजालव्याजात् मार्गे मङ्गलार्थे लाजप्रकरमिव विक्षिपन्तम् । कस्येत्याह—सर्वार्थसिद्धेरिहावतरिष्यतस्तीर्थकरस्य समृद्धिभावतो मङ्गलार्हत्वाद्योग्यस्य ॥७७॥ प्रेक्ष्येति—तस्मिन् समये प्रवुद्धा सती शय्या परित्यज्य सालकरणा भर्तु

सहित होता है उसी प्रकार वह देवोंका विमान भी लोलकेतु—फहराती हुई ध्वजासे सहित था॥७४॥—तदनन्तर नागेन्द्रका वह भवन देखा जिसमें कि ऊपर उठे हुए नागोंके देदीप्यमान फणारूप बर्तनोंमें सुशोभित मणिमय दीपकोंके द्वारा संभोगकी इच्छुक नागकुमारियोंके फूकनेका उद्योग व्यर्थ कर दिया जाता है ॥७५॥ तदनन्तर रे दारिद्र्य ! समस्त पृथिवीको दुखी कर मेरे सामनेसे अब कहाँ जाता है? इस प्रकार क्रोधके कारण देदीप्यमान किरणोके वहाने मानो जिसने बडा भारी इन्द्रधनुपका मण्डल ही तान रखा था ऐसा चित्र-विचित्र रत्नोका समूह देखा ॥७६॥ तदनन्तर उस अग्निको देखा जो कि निकलती हुई चिनगारियोंके बहाने, अहमिन्द्रके विमानसे आनेवाले तीर्थंकरके पुण्यप्रतापसे उनके मार्गमे मानो लाई(लावा)के समूहकी वर्षा ही कर रही हो ॥७७॥ यह स्वप्न देखते ही रानी सुव्रताकी ऑख खुल गयी, उसने शय्या छोड़ी, वस्त्राभरण सॅभाले और फिर पतिके पास जाकर उसने समस्त स्वप्नोका समाचार

---

१ ऊद्र्ध्वफणिनामुन्नमितपन्नगाना विस्फुरन्त्यो विस्तरणशीला या फणा फटास्ता एव स्थालकानि भाजनानि तेपूल्वणा उत्कटा ये मणिप्रदीपका रत्नमयप्रदीपास्तै । २ निष्फलीकृतो व्यर्थीकृतो रिरसूना रन्तुमिच्छूना भोगिनीना नागनारीणा फूत्कृतस्य विध्यापनोपायस्योद्यम प्रयत्नो यस्मिस्तत् । ३ अत्रेद सुगम व्याख्यानम्—अम्बरे विहायसि पृतनाकदम्बकमिव सैन्यसमूहमिव नाकिना देवाना विमान व्योमयान 'व्योमयान विमानोऽस्त्री' इत्यमर । उभयो सादृश्यमाह—मत्तवारणो वरण्डकस्तेन विराजित शोभित पक्षे मत्तवारणा मत्तगजास्तैर्विराजित शोभितम् । स्फुरन् देदीप्यमानो यो वज्रहेतिभरो हीरककिरणकलापस्तेन निर्मित यत्तोरण वहिर्द्वार तेनोल्वणमुत्कट पक्षे स्फुरन् प्रकाशमानो यो वज्रहेतिभर पविरूपायुधातिशयस्तस्मात् । रणेन सग्रामेणोल्वण समुत्कटम् । लोलकेतु चपलध्वजम् । उभयत्र समानम् 'हेति स्यादायुधज्वाला सूर्यतेज सुयोपिति' इति मेदिनी । श्लिष्टोपमा ।

बन्धुर तमवधार्य तस्य सद्वन्धुरन्तकरमेनसा फलम् ।
व्याजहार स रदाग्रदीधितिव्याजहारमुरसि प्रकल्पयन् ॥७९॥
त निशम्य हृदि मौक्तिकावली दन्तजैर्द्विगुणयन् मरीचिभि ।
प्रीतिकन्दलितरोमकन्दलीसुन्दराकृतिरवीवदन्नृपः ॥८०॥

[पाठान्तरम्]

देवि धन्यचरिता त्वमेव या स्वप्नसततिमपश्यदीदृशीम्[1] ।
श्रूयता सुकृतकन्दलि क्रमाद्वर्ण्यमानमनपायि तत्फलम् ॥८१॥
वारणेन्द्रमिव दानवन्धुर सौरभेयमिव धर्मधूर्धरम् ।
केशरीशमिव विक्रमोदित श्रीस्वरूपमिव सर्वसेवितम् ॥८२॥
माल्यवत्प्रथितकीर्तिसौरभं चन्द्रवन्नयनवल्लभप्रभम् ।
भानुवद्भुवनबोधकोविद मीनयुग्मवदमन्दसमदम् ॥८३॥
कुम्भयुग्ममिव मङ्गलास्पद निर्मल सर इव क्लमच्छिदम् ।
तोयराशिमिव पालितस्थिति सिंहपीठमिव दर्शितोन्नतिम् ॥८४॥

समीप गत्वा तानि दृष्टानि षोडश स्वप्नानि यथावृत्तेन सुव्रता कथयामास ॥७८॥ बन्धुरमिति—स राजा महासेनस्तस्य स्वप्नसघातस्य फलमाचचक्षे । कि कुर्वन् । दन्तज्योत्स्नाव्याजेन हृदये हार द्वितीयमिवाकल्पयन् । किंविशिष्ट फलमित्याह—परिपूर्ण ज्ञात्वा, किंविशिष्ट । सता बन्धु , विनाशकर पापानाम् ॥७९॥ तमिति—त स्वप्नसघात श्रुत्वा उरोहार द्विगुणयन् दन्तकिरणैरतिपुलकितो राजाभाषिष्ट ॥८०॥ देवीति—दे देवि ! त्रिभुवनस्त्रीणा त्वमेव धन्यजन्मजीविता या त्वमीदृशी स्वप्नसततिमद्राक्षी । तस्या फल साम्प्रतमाकर्ण्यताम् । मया निजबुद्धया कथ्यमानमनन्त धर्ममूलम् ॥८१॥ वारणेन्द्रमिति—त्वमेव गुणशालिनम् [आत्मजम्] प्राप्स्यसि । किंविशिष्टमित्याह—गजेन्द्रदर्शनात् प्रार्थितदायिन गजपक्षे दान मद । वृषमिव धर्मधुराधैरेयम् । सिंहमिवापराभूतम् । लक्ष्मीस्वरूपमिव सर्वसेवितम् ॥८२॥ माल्यवदिति—मालायुग्ममिव यश परिमलमहमहितत्रिभुवन, चन्द्रमिव [लोचनहारिसुपमम्], [दिनकरमिव जगज्जागरण—] पण्डित, मत्स्ययुग्ममिव सर्वदा प्रमोदितम् ॥८३॥ कुम्भेति—कलशयुगलमिव दृष्टमपि मङ्गलकारकम्, प्रकृतिनिर्दोष तापापह च सर इव, समुद्र इव गभीरिम-श्रीजन्म—समर्यादादिगुणोपेत, सिंहासनमिव दर्शितप्रभुत्वोत्साहम् ॥८४॥ देवतेति—

कहा ॥७८॥ सज्जनोके बन्धु राजा महासेन उन मनोहर स्वप्नोंका विचार कर दाँतोंके अग्रभागकी किरणोंके बहाने रानीके वक्षःस्थलपर हारकी रचना करते हुए उन स्वप्नोंका पापहारी फल इस प्रकार कहने लगे ॥७९॥ स्वप्न समूहको सुन प्रीतिसे उत्पन्न हुई रोमराजिसे जिनका शरीर अत्यन्त सुन्दर मालूम हो रहा था ऐसे राजा महासेन दाँतोंकी किरणोंके द्वारा रानीके हृदयपर पड़े हुए हारको दूना करते हुए इस प्रकार बोले ॥८०॥ हे देवि ! एक तुम्हीं धन्य हो, जिसने कि ऐसा स्वप्नोंका समूह देखा । हे पुण्यकन्दलि ! मैं क्रमसे उसका फल कहता हूँ सुनो ॥८१॥ तुम इस स्वप्नसमूहके द्वारा गजेन्द्रके समान दानी, वृषभके समान धर्मका भार धारण करनेवाला, सिंहके समान पराक्रमी, लक्ष्मीके स्वरूपके समान सबके द्वारा सेवित, मालाओंके समान प्रसिद्ध कीर्तिरूप सुगन्धिका धारक, चन्द्रमाके समान नयनाह्लादी कान्तिसे युक्त, सूर्यकी तरह संसारके जगानेमे निपुण, मीन युगलके समान अत्यन्त आनन्दका धारक, कलश युगलके समान मङ्गलका पात्र, निर्मल सरोवरकी तरह सतापको नष्ट करनेवाला, समुद्रकी तरह मर्यादाका पालक, सिंहासनकी तरह उन्नतिको

---

१. अपश्य ईदृशीम् घ० म० ।

देवतागमकरं विमानवद्गीततीर्थमुरगस्य हर्म्यवत् ।
सद्गुणाढ्यमिह रत्नराशिवत्प्लुष्टकर्मगहन च वह्निवत् ॥८५॥
लप्स्यसे सपदि भूत्रयाधिप तीर्थनाथममुना त्वमात्मजम् ।
जायते व्रतविशेषशालिना स्वप्नवृन्दमफल हि न क्वचित् ॥८६॥
[पञ्चभि श्लोकै कुलकम्]

इत्थं तदर्थकथया हृदि कुल्ययेव
श्रोत्रान्तरप्रहितया हृदयेश्वरेण ।
देवी प्रमोदसलिलैरभिषिच्यमाना
वप्रावनीव विलसत्पुलकाङ्कुराभूत् ॥८७॥

स श्रीमानहमिन्द्र इत्यभिधया देवस्त्रयस्त्रिशतो-
दन्वद्भि: प्रमितायुषो व्यपगमे सर्वार्थसिद्धेश्च्युत ।
चन्द्रे बिभ्रति रेवतीप्रणयिता[1] वैशाखकृष्णत्रयो-
दश्या गर्भमवातरत्करितनु श्रीसुव्रतायास्तदा ॥८८॥

आगत्यासनकम्पकल्पितचमत्कारासुरा: सर्वतो
जम्भारातिपुरस्सरा सपदि ता गर्भे जिन बिभ्रतीम् ।
स्तोत्रैस्तुष्टुवुरिष्टभूषणचयैरानर्चुरुच्चैर्जगु-
र्भक्त्या नेमुरनर्त्तिषुर्नवरसैस्तत्किं न यत्ते व्यधु: ॥८९॥

विमानमिव चतुर्णिकायामरागमनकारकम्, नागालयमिव गीतस्थान 'पुरा पातालाद्गीतं प्रवर्तितम्' इति प्रसिद्धि । अनेकगुणमय रत्नसचयमिव, दग्धकर्मवन च ज्वलनमिव ॥८५॥ लप्स्यस इति—अनेन स्वप्नसमूहेन जगन्नाथ तीर्थकर पुत्र प्राप्स्यसि । यस्मादविकल्पचेतसा सूर्योदयदृष्ट स्वप्न सत्यमेवेति स्वप्नज्ञा ॥८६॥ इत्थमिति—अनेन प्रकारेण प्राणपतिना स्वप्नार्थकथया कर्णपुटप्रहितया सुधासारिण्येव प्रसिच्यमाना देवी केदारभूमिरिव पुलकाङ्कुरसूचीमयीव बभूव[2] ॥८७॥ स इति—अहमिन्द्रनामा स देवस्त्रयस्त्रिशत्सागरोऽमायु क्षये सति सर्वार्थसिद्धेर्विमानाच्च्युत सुव्रताया गर्भे हस्तिरूपधारी प्रविवेश । कदा गर्भेऽवततारेत्याह—रेवतीनक्षत्रं चन्द्रे गते सति । वैशाखमासे कृष्णपक्षे त्रयोदश्याम्[3] ॥८८॥ आगत्येति—ता सुव्रता गर्भस्थित धर्मनाथतीर्थंकर धारयन्ती दशदिग्भागात् निजनिजासनकम्पेनोत्पादितश्चमत्कारो येषा ते तथा । जिनगर्भजन्मादौ तेषामासनानि कम्पन्त इति श्रुतम् । सौधर्मेन्द्रप्रमुखा देवा आगत्य तद् रत्नपुर नगर त्रि प्रदक्षिणीकृत्य तौ जिनस्य माता-

दिखानेवाला, विमानकी तरह देवोंका आगमन करनेवाला, नागेन्द्रके भवनके समान प्रशंसनीय तीर्थसे युक्त, रत्नोंकी राशिके समान उत्तम गुणोंसे सहित और अग्निकी तरह कर्मरूप वनको जलानेवाला, त्रिलोकी नाथ तीर्थंकर पुत्र प्राप्त करोगी सो ठीक ही है क्योंकि व्रतविशेषसे शोभायमान जीवोंका स्वप्नसमूह कहीं भी निष्फल नहीं होता ॥८२-८६॥ इस प्रकार हृदयवल्लभ द्वारा कर्णमार्गसे हृदयमे भेजी हुई नहरके समान स्वप्नोंकी उस फलावलीने देवीको आनन्दरूप जलोंसे खूब ही सींचा जिससे वह खेतकी भूमिकी तरह रोमाचरूप अंकुरोंसे सुशोभित हो उठी ॥८७॥ वह अहमिन्द्र नामका श्रीमान् देव अपनी तैतीस सागर प्रमाण आयुके पूर्ण होनेपर सर्वार्थसिद्धिसे च्युत होकर जब कि चन्द्रमा रेवती नक्षत्रपर था तब वैशाख कृष्ण त्रयोदशीके दिन हाथीका आकार रख श्री सुव्रता रानीके गर्भमें अवतीर्ण हुआ ॥८८॥ आसनोंके कम्पित होनेसे जिन्हें चमत्कार हो रहा है ऐसे इन्द्रादिदेव सभी ओरसे तत्काल दौड़े आये। उन्होंने राजा महासेनके घर आकर गर्भमे जिनेन्द्रदेवको

१ रेवतीप्रणयता म० घ० । २ उपमालकार, वसन्ततिलकावृत्तम् । ३ शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ।

वन्धुर तमवधार्य तस्य राद्वन्धुरन्तकरमेनसा फलम् ।
व्याजहार स रदाग्रदीधितिव्याजहारमुरसि प्रकल्पयन् ॥७९॥
त निशम्य हृदि मौक्तिकावली दन्तजैर्द्विगुणयन् मरीचिभि' ।
प्रीतिकन्दलितरोमकन्दलीसुन्दराकृतिरवीवदन्नृप ॥८०॥

[पाठान्तरम्]

देवि धन्यचरिता त्वमेव या स्वप्नसंततिमपश्यदीदृशीम्[1] ।
श्रूयता सुकृतकन्दलि क्रमाद्वर्ण्यमानमनपायि तत्फलम् ॥८१॥
वारणेन्द्रमिव दानवन्धुर सौरभेयमिव धर्मधूर्वरम् ।
केशरीशमिव विक्रमोदित श्रीस्वरूपमिव सर्वसेवितम् ॥८२॥
माल्यवत्प्रथितकीर्तिसौरभ चन्द्रवन्नयनवल्लभप्रभम् ।
भानुवद्भुवनवोधकोविद मीनयुग्मवदमन्दसमदम् ॥८३॥
कुम्भयुग्ममिव मङ्गलास्पद निर्मल सर इव क्लमच्छिदम् ।
तोयराशिमिव पालितस्थिति सिंहपीठमिव दर्शितोन्नतिम् ॥८४॥

समीप गत्वा तानि दृष्टानि षोडश स्वप्नानि यथावृत्तेन सुव्रता कथयामास ॥७८॥ वन्धुरमिति—स राजा महासेनस्तस्य स्वप्नसघातस्य फलमाचचक्षे । किं कुर्वन् । दन्तज्योत्स्नाव्याजेन हृदये हार द्वितीयमिवाकल्पयन् । किंविशिष्ट फलमित्याह—परिपूर्ण ज्ञात्वा, किंविशिष्ट । सता वन्धु, विनाशकर पापानाम् ॥७९॥ तमिति—त स्वप्नसघात श्रुत्वा उरोहार द्विगुणयन् दन्तकिरणैरतिपुलकितो राजाभापिष्ट ॥८०॥ देवीति—दे देवि ! त्रिभुवनस्त्रीणा त्वमेव धन्यजन्मजीविता या त्वमीदृशी स्वप्नसततिमद्राक्षी । तस्या फल साम्प्रतमाकर्ण्यताम् । मया निजबुद्धया कथ्यमानमनन्त धर्ममूलम् ॥८१॥ वारणेन्द्रमिति—त्वमेव गुणशालिनम् [आत्मजम्] प्राप्स्यसि । किंविशिष्टमित्याह—गजेन्द्रदर्शनात् प्रार्थितदायिन गजपक्षे दान मद । वृषमिव धर्मधुराधैरेयम् । सिंहमिवापराभूतम् । लक्ष्मीस्वरूपमिव सर्वसेवितम् ॥८२॥ माल्यवदिति—मालायुगमिव यश परिमलमहमहितत्रिभुवन, चन्द्रमिव [लोचनहारिसुपमम्], [दिनकरमिव जगज्जागरण—] पण्डित, मत्स्ययुग्ममिव सर्वदा प्रमोदितम् ॥८३॥ कुम्भेति—कलशयुगलमिव दृष्टमपि मङ्गलकारकम्, प्रकृतिनिर्दोष तापापह च सर इव, समुद्र इव गभीरिम-श्रीजन्म—समर्यादादिगुणोपेत, सिंहासनमिव दर्शितप्रभुत्वोत्साहम् ॥८४॥ देवतेति—

कहा ॥७८॥ सज्जनोंके बन्धु राजा महासेन उन मनोहर स्वप्नोंका विचार कर दाँतोंके अग्रभागकी किरणोंके बहाने रानीके वक्षःस्थलपर हारकी रचना करते हुए उन स्वप्नोंका पापहारी फल इस प्रकार कहने लगे ॥७९॥ स्वप्न समूहको सुन प्रीतिसे उत्पन्न हुई रोमराजिसे जिनका शरीर अत्यन्त सुन्दर मालूम हो रहा था ऐसे राजा महासेन दाँतोकी किरणोंके द्वारा रानीके हृदयपर पडे हुए हारको दूना करते हुए इस प्रकार बोले ॥८०॥ हे देवि ! एक तुम्हीं धन्य हो, जिसने कि ऐसा स्वप्नोंका समूह देखा । हे पुण्यकन्दलि ! मै क्रमसे उसका फल कहता हूँ सुनो ॥८१॥ तुम इस स्वप्नसमूहके द्वारा गजेन्द्रके समान दानी, वृषभके समान धर्मका भार धारण करनेवाला, सिंहके समान पराक्रमी, लक्ष्मीके स्वरूपके समान सबके द्वारा सेवित, मालाओंके समान प्रसिद्ध कीर्तिरूप सुगन्धिका धारक, चन्द्रमाके समान नयनाह्लादी कान्तिसे युक्त, सूर्यकी तरह संसारके जगानेमे निपुण, मीन युगलके समान अत्यन्त आनन्दका धारक, कलश युगलके समान मङ्गलका पात्र, निर्मल सरोवरकी तरह संतापको नष्ट करनेवाला, समुद्रकी तरह मर्यादाका पालक, सिंहासनकी तरह उन्नतिको

---

१. अपश्य ईदृशीम्-घ० म० ।

देवतागमकरं विमानवद्गीततीर्थमुरगस्य हर्म्यवत् ।
सद्गुणाढ्यमिह रत्नराशिवत्प्लुष्टकर्मगहनं च वह्निवत् ॥८५॥
लप्स्यसे सपदि भूत्रयाधिप तीर्थनाथममुना त्वमात्मजम् ।
जायते व्रतविशेषशालिना स्वप्नवृन्दमफलं हि न क्वचित् ॥८६॥
[पञ्चभिः श्लोकैः कुलकम्]

इत्थं तदर्थकथया हृदि कुल्ययेव
श्रोत्रान्तरप्रहितया हृदयेश्वरेण ।
देवी प्रमोदसलिलैरभिषिच्यमाना
वप्रावनीव विलसत्पुलकाङ्कुराभूत् ॥८७॥

स श्रीमानहमिन्द्र इत्यभिधया देवस्त्रयस्त्रिंशतो-
दन्वद्भिः प्रमितायुषो व्यपगमे सर्वार्थसिद्धेश्च्युतः ।
चन्द्रे बिभ्रति रेवतीप्रणयिता[1] वैशाखकृष्णत्रयो-
दश्यां गर्भमवातरत्करितनुः श्रीसुव्रतायास्तदा ॥८८॥

आगत्यासनकम्पकल्पितचमत्कारासुराः सर्वतो
जम्भारातिपुरस्सराः सपदि तां गर्भे जिनं बिभ्रतीम् ।
स्तोत्रैस्तुष्टुवुरिष्टभूषणचयैरानर्चुरुच्चैर्जगु-
र्भक्त्या नेमुरनर्त्तिषुर्नवरसैस्तत्किं न यत्ते व्यधुः ॥८९॥

विमानमिव चतुर्णिकायामरागमनकारकम्, नागालयमिव गीतस्थानं 'पुरा पातालाद्गीतं प्रवर्तितम्' इति प्रसिद्धिः । अनेकगुणमयं रत्नसंचयमिव, दग्धकर्मवनं च ज्वलनमिव ॥८५॥ लप्स्यस इति—अनेन स्वप्नसमूहेन जगन्नाथं तीर्थंकरं पुत्रं प्राप्स्यसि । यस्मादविकल्पचेतसा सूर्योदयदृष्टः स्वप्नः सत्यमेवेति स्वप्नज्ञाः ॥८६॥ इत्थमिति—अनेन प्रकारेण प्राणपतिना स्वप्नार्थकथया कर्णपुटप्रहितया सुधासारिण्येव प्रसिच्यमाना देवी केदारभूमिरिव पुलकाङ्कुरसूचीमयीव बभूव[2] ॥८७॥ स इति—अहमिन्द्रनामा स देवस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुः क्षये सति सर्वार्थसिद्धेर्विमानाच्च्युतः सुव्रताया गर्भे हस्तिरूपधारी प्रविवेश । कदा गर्भेऽवततारेत्याह—रेवतीनक्षत्रं चन्द्रे गते सति । वैशाखमासे कृष्णपक्षे त्रयोदश्याम्[3] ॥८८॥ आगत्येति—तां सुव्रतां गर्भस्थितं धर्मनाथतीर्थंकरं धारयन्तीं दशदिग्भागात् निजनिजासनकम्पेनोत्पादितश्चमत्कारो येषां ते तथा । जिनगर्भजन्मादौ तेषामासनानि कम्पन्त इति श्रुतम् । सौधर्मेन्द्रप्रमुखा देवा आगत्य तद् रत्नपुरं नगरं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य तौ जिनस्य माता-

दिखानेवाला, विमानकी तरह देवोंका आगमन करनेवाला, नागेन्द्रके भवनके समान प्रशंसनीय तीर्थसे युक्त, रत्नोंकी राशिके समान उत्तम गुणोंसे सहित और अग्निकी तरह कर्मरूप वनको जलानेवाला, त्रिलोकी नाथ तीर्थंकर पुत्र प्राप्त करोगी सो ठीक ही है क्योंकि व्रतविशेषसे शोभायमान जीवोंका स्वप्नसमूह कहीं भी निष्फल नहीं होता ॥८२-८६॥ इस प्रकार हृदयवल्लभ द्वारा कर्णमार्गसे हृदयमें भेजी हुई नहरके समान स्वप्नोंकी उस फलावलीने देवीको आनन्दरूप जलोंसे खूब ही सींचा जिससे वह खेतकी भूमिकी तरह रोमाञ्चरूप अंकुरोंसे सुशोभित हो उठी ॥८७॥ वह अहमिन्द्र नामका श्रीमान् देव अपनी तैंतीस सागर प्रमाण आयुके पूर्ण होनेपर सर्वार्थसिद्धिसे च्युत होकर जब कि चन्द्रमा रेवती नक्षत्रपर था तब वैशाख कृष्ण त्रयोदशीके दिन हाथीका आकार रख श्री सुव्रता रानीके गर्भमें अवतीर्ण हुआ ॥८८॥ आसनोंके कम्पित होनेसे जिन्हें चमत्कार हो रहा है ऐसे इन्द्रादिदेव सभी ओरसे तत्काल दौड़े आये। उन्होंने राजा महासेनके घर आकर गर्भमें जिनेन्द्रदेवको

१ रेवतीप्रणयता म० घ० । २ उपमालंकार, वसन्ततिलकावृत्तम् । ३ शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ।

अहमिहमहमीहे यावदुच्चैर्विधातु
कथमिव पुरुहूतोत्पादित तावदीक्षे ।
इति मनसि विलक्ष त क्षितीशं स रत्न–
त्रिदशकुसुमवृष्टिच्छद्मना द्यौरहासीत् ॥९०॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये
गर्भावतारो नाम पञ्चमः सर्गः ॥५॥

पितरौ श्लेषयाचक्रु, अभिमतालकरणैरलचक्रुरतिशक्तिभरास्तयो. पुरतो गायन्ति नृत्यन्ति स्म । किं वहुना । ग्रु तत् किमपि नास्तीति यदभीष्ट तैर्न कृतमिति ॥८९॥ अहमिति—त राजान गगन जहास । रत्नमिश्रदेवमुक्तपुष्पवृष्टिव्याजात् । किंविशिष्टं तं । मनसि विलक्ष निष्फलचिकीर्षम् । कथ विलक्षमित्याह— यावदह गर्भाचारमङ्गलक्रिया चिकीर्षामि कथ नाम तावत्सर्वमपि शक्रकृतं पश्यामि । मया यन्मनसि चिन्तितं तदिन्द्र कृतमेव दर्शयति । ततो मयानवकाशत्वात्स्वयकरणमनोरथा न पूर्यन्त इति विलक्षताकारणम्[2] ॥९०॥

इति महाकवि श्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदयमहाकाव्ये गर्भावतारवर्णने
श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यश्रीयशःकीर्तिविरचितायां
सदेहध्वान्तदीपिकायां पञ्चम. सर्ग· ॥५॥

धारण करनेवाली रानी सुव्रताकी स्तोत्रों द्वारा स्तुति की, इष्ट आभूषणोंके समूहसे पूजा की, खूब गाया, भक्ति पूर्वक नमस्कार किया, और नव रसोंके अनुसार नृत्य किया। वह क्या था जिसे उन्होंने न किया हो ? ॥८९॥ मैं यहाँ किसी तरह भारी उत्सव करने की इच्छा करता हूँ कि उसके पहले ही उस उत्सवको इन्द्र द्वारा किया हुआ देख लेता हूँ—इस प्रकार मनमें लज्जित होते हुए राजाकी रत्न और कल्पवृक्षके पुष्पोंकी वर्षाके बहाने आकाश मानो हँसी ही कर रहा था ॥९०॥

इस प्रकार महाकवि हरिचन्द्र विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें गर्भावतारका वर्णन
करनेवाला पचम सर्ग समाप्त हुआ ॥५॥

---

१ शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् । २ मालिनीवृत्तम्, उत्प्रेक्षालकार ।

षष्ठः सर्गः

सा भारतीव [1]चतुरातिगभीरमर्थं
वेलेव गूढमणिमण्डलमम्बुराशेः ।
पौरन्दरी दिगिव मेरुतिरोहितेन्दु
गर्भं तदा नृपवधूर्दधती रराज ॥१॥

तामादरादुदरिणी रहसि प्रहृष्टा
दृष्टि प्रतिक्षणमुदैक्षत भूमिभर्तु ।
दैवादवाप्य तपनीयनिधानकुम्भी
साशङ्करङ्ककुलमूलकुटुम्बिनीव ॥२॥

अन्तर्वपु प्रणयिन परमेश्वरस्य
निर्यद्यशोभिरिव सा परिरभ्यमाणा ।
स्वल्पैरहोभिरभितो घनसारसार-
क्लृप्तोपदेहमिव देहमुवाह देवी ॥३॥

तृष्णाम्बुधेरपरपारमुपागत च
निर्बन्धन च तनय जनयिष्यतीयम् ।

सेति—सा नृपवधू सुव्रता त मुक्तस्वरूप गर्भं बिभ्रती बभासे अनेकोपमानान्याविर्भावयति । यथा कस्यचित्कवीन्द्रस्यानेकलक्षणगुणालकारयुक्ता वाणी अनन्यसदृशमनन्यप्राप्य सर्वत प्रतिभासमर्थं धारयति । अथवा यथा समुद्रस्य वेला शेवालादिपिहित रत्नसमूह बिभर्त्ति । आहोस्वित् यथा पूर्वा दिक् मेरुपर्वतान्तरित चन्द्र वहति[2] ॥१॥ तामादरादिति—ता निजप्रिया गर्भभारालसा पर्यङ्किकादिपरिकरितगर्भगृहगर्तस्थिता पुन पुनरतिरामणीयकवत्पार्थिवस्य प्रमोदविकसिता दृष्टिरद्राक्षीत् । दैवादचिन्तितोपस्थितभाग्योदयाभिधानस्वर्णघटी लोकपरिज्ञानाद्बिभ्यती महादरिद्रकुटुम्बवृद्धभार्येव । आत्मानुचितलाभान्महाप्रयत्नसूचनम्[3] ॥२॥ अन्तर्वपुरिति—सा देवी कर्पूरपूररचितालेपमिव शरीर बभार । अथ च गर्भवासिनो जिनस्य निर्गच्छद्भिर्यशोभिराश्लिष्यमाणेव स्तोकैर्दिनैर्मासचतुष्टयलक्षणैरिति[4] ॥३॥ तृष्णेति—तस्या अन्यपदार्थविषये दोहदानि मनो नाभिललाष । पर क्रीडार्थं गृहीतशुकसारिकामोक्ष परित्यज्य तयेति दोहदवत्या पञ्जरस्थशुकादयो मोचिता

उस समय गर्भको धारण करनेवाली रानी सुव्रता चतुर एव गभीर अर्थको धारण करनेवाली वाणीकी तरह अथवा गुप्त मणियोंके समूहको धारण करनेवाली समुद्रकी वेलाकी तरह अथवा मेरु पर्वतसे छिपे हुए चन्द्रमाको धारण करनेवाली प्राची दिशाके समान सुशोभित हो रही थी ॥१॥ जिस प्रकार किसी दरिद्र कुलकी वृद्ध गृहिणी भाग्यवश सुवर्णका कलश पाकर कोई इसे ले न जावे इस आशंकासे उसे देखती रहती है इसी प्रकार राजा महासेनकी प्रसन्न दृष्टि उस गर्भवती सुव्रताको एकान्तमे बड़े आदरके साथ प्रतिक्षण देखती रहती थी ॥२॥ उस देवीका शरीर कुछ ही दिनोंमे कर्पूरके स्वत्वका लेप लगाये हुएके समान सफेद हो गया था जिससे ऐसी जान पडती थी मानो शरीरके भीतर स्थित श्री तीर्थंकर भगवान्‌के बाहर

१ चतुरो विदग्धजनगम्य, अतिगभीरो मनीषिमनोगम्य चतुरश्चासावतिगभीरश्चेति चतुरातिगभीरस्तम् । २ वसन्ततिलकावृत्तम्, एकपञ्चाशत्तमवृत्त यावत् । मालोपमालकार । ३ उपमा । ४ उत्प्रेक्षा ।

अहमिहमहमीहे यावदुच्चैर्विधातुं
कथमिव पुरुहूतोत्पादितं तावदीक्षे ।
इति मनसि विलक्षं तं क्षितीशं स रत्न-
त्रिदशकुसुमवृष्टिच्छद्मना द्यौरहासीत् ॥९०॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये
गर्भावतारो नाम पञ्चमः सर्गः ॥५॥

पितरौ श्लेपयाचक्रु, अभिमतालकरणैरलचक्रुरतिभक्तिभरास्तयो पुरतो गायन्ति नृत्यन्ति स्म । किं बहुना । तु तत् किमपि नास्तीति यदभीष्टं तैर्न कृतमिति[1] ॥८९॥ अहमिति—त राजान गगन जहास । रत्नमिश्रदेवमुक्तपुष्पवृष्टिव्याजात् । किंविशिष्टं त । मनसि विलक्ष निष्फलचिकीर्षम् । कथं विलक्षमित्याह— यावदहं गर्भाचारमङ्गलक्रिया चिकीर्षामि कथ नाम तावत्सर्वमपि शक्रकृत पश्यामि । मया यन्मनसि चिन्तित तदिन्द्र कृतमेव दर्शयति । ततो मयानवकाशत्वात्स्वयकरणमनोरथा न पूर्यन्त इति विलक्षताकारणम्[2] ॥९०॥

इति महाकवि श्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदयमहाकाव्ये गर्भावतारवर्णने
श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यश्रीयश.कीर्तिविरचितायां
सदेहध्वान्तदीपिकायां पञ्चम. सर्ग. ॥५॥

धारण करनेवाली रानी सुव्रताकी स्तोत्रों द्वारा स्तुति की, इष्ट आभूषणोंके समूहसे पूजा की, खूब गाया, भक्ति पूर्वक नमस्कार किया, और नव रसोंके अनुसार नृत्य किया। वह क्या था जिसे उन्होंने न किया हो ? ॥८९॥ मैं यहाँ किसी तरह भारी उत्सव करने की इच्छा करता हूँ कि उसके पहले ही उस उत्सवको इन्द्र द्वारा किया हुआ देख लेता हूँ—इस प्रकार मनमें लज्जित होते हुए राजाकी रत्न और कल्पवृक्षके पुष्पोंकी वर्षाके बहाने आकाश मानो हँसी ही कर रहा था ॥९०॥

इस प्रकार महाकवि हरिचन्द्र विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें गर्भावतारका वर्णन
करनेवाला पचम सर्ग समाप्त हुआ ॥५॥

---

१ शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् । २ मालिनीवृत्तम्, उत्प्रेक्षालकार ।

षष्ठः सर्गः

सा भारतीव [1]चतुरातिगभीरमर्थं
वेलेव गूढमणिमण्डलमम्बुराशेः ।
पौरन्दरी दिगिव मेरुतिरोहितेन्दु
गर्भं तदा नृपवधूर्दधती रराज ॥१॥

तामादरादुदरिणी रहसि प्रहृष्टा
दृष्टि प्रतिक्षणमुदैक्षत भूमिभर्तु ।
दैवादवाप्य तपनीयनिधानकुम्भी
साशङ्करङ्ककुलमूलकुटुम्बिनीव ॥२॥

अन्तर्वपु प्रणयिन. परमेश्वरस्य
निर्यद्यशोभिरिव सा परिरभ्यमाणा ।
स्वल्पैरहोभिरभितो घनसारसार-
क्लृप्तोपदेहमिव देहमुवाह देवी ॥३॥

तृष्णाम्बुधेरपरपारमुपागतं च
निर्बन्धन च तनय जनयिष्यतीयम् ।

सेति—सा नृपवधू सुव्रता त मुक्तस्वरूप गर्भं विभ्रती बभासे अनेकोपमानान्याविर्भावयति । यथा कस्यचित्कवीन्द्रस्यानेकलक्षणगुणालकारयुक्ता वाणी अनन्यमदृशमनन्यप्राप्य सर्वत प्रतिभासमर्थं धारयति । अथवा यथा समुद्रस्य वेला शेवालादिपिहित रत्नसमूह विभर्त्ति । आहोस्वित् यथा पूर्वा दिक् मेरुपर्वतान्तरित चन्द्र वहति[2] ॥१॥ तामादरादिति—ता निजप्रिया गर्भभारालसा पर्यङ्किकादिपरिकरितगर्भगृहगर्तस्थिता पुन पुनरतिरामणीयकवत्पार्थिवस्य प्रमोदविकसिता दृष्टिरद्राक्षीत् । दैवादचिन्तितोपस्थितभाग्योदयाभिधानस्वर्णघटी लोकपरिज्ञानाद्बिभ्यती महादरिद्रकुटुम्बवृद्धभार्येव । आत्मानुचितलाभान्महाप्रयत्नसूचनम्[3] ॥२॥ अन्तर्वपुरिति—सा देवी कर्पूरपूररचितालेपमिव शरीर बभार । अथ च गर्भवासिनो जिनस्य निर्गच्छद्भिर्यशोभिराश्लिष्यमाणेव स्तोकैर्दिनैर्मासचतुष्टयलक्षणैरिति[4] ॥३॥ तृष्णेति—तस्या अन्यपदार्थविषये दोहदानि मनो नाभिललाष । पर क्रीडार्थ गृहीतशुकसारिकामोक्ष परित्यज्य तयेति दोहदवत्या पञ्जरस्थशुकादयो मोचिता

उस समय गर्भको धारण करनेवाली रानी सुव्रता चतुर एव गभीर अर्थको धारण करने वाली वाणीकी तरह अथवा गुप्त मणियोंके समूहको धारण करनेवाली समुद्रकी वेलाकी तरह अथवा मेरु पर्वतसे छिपे हुए चन्द्रमाको धारण करनेवाली प्राची दिशाके समान सुशोभित हो रही थी ॥१॥ जिस प्रकार किसी दरिद्र कुलकी वृद्ध गृहिणी भाग्यवश सुवर्णका कलश पाकर कोई इसे ले न जावे इस आशंकासे उसे देखती रहती है इसी प्रकार राजा महासेनकी प्रसन्न दृष्टि उस गर्भवती सुव्रताको एकान्तमे बड़े आदरके साथ प्रतिक्षण देखती रहती थी ॥२॥ उस देवीका शरीर कुछ ही दिनोंमे कपूरके स्वत्वका लेप लगाये हुएके समान सफेद हो गया था जिससे ऐसी जान पड़ती थी मानो शरीरके भीतर स्थित श्री·तीर्थंकर भगवान्‌के बाहर

१ चतुरो विदग्धजनगम्य, अतिगभीरो मनोषिमनोगम्य चतुरश्चासावतिगभीरश्चेति चतुरातिगभीरस्तम् । २ वसन्ततिलकावृत्तम्, एकपञ्चाशत्तमवृत्त यावत् । मालोपमालकार । ३ उपमा । ४ उत्प्रेक्षा ।

तेनावरुद्धकलकेलिशकुन्तमुक्ति
मुक्त्वान्यवस्तुषु बबन्ध न दोहदानि[1] ॥४॥
वृद्धिं परामुदरमाप यथा यथास्याः
श्यामाननं स्तनभरोऽपि तथा तथाभूत् ।
यद्वा नितान्तकठिना प्रकृतिं भजन्तो
मध्यस्थमप्युदयिनं न जडाः सहन्ते ॥५॥
तस्याः कपोलफलके स्फटिकाश्मकान्तौ
कंदर्पदर्पण इव प्रतिबिम्बिताङ्गः ।
रात्रावलक्ष्यत जनैर्यदि लाञ्छनेन
श्रीकण्ठकण्ठजरठच्छविना मृगाङ्कः ॥६॥
एकेन तेन बलिना स्वबलेन तस्या
भङ्क्त्वा बलित्रयमवर्धत मध्यदेशः ।
तेनैव समदरसेन सुहृत्तदाभू-
दत्यन्तपीवरतरः कुचकुम्भभारः ॥७॥

इत्यर्थः । यतः कारणादियं तनूजं प्रसविष्यति । किंविशिष्टम् । तृष्णासमुद्रोत्तीर्णं ततोऽस्याः सर्ववस्तुनिरभिलाषिता । निर्बन्धनं कर्मबन्धरहितं प्राणिनां कर्मबन्धोन्मोचकं ततः इयं बद्धान्मोचयति ॥४॥ वृद्धिमिति— यथा यथास्या उदरमुन्नतिं भेजे तथा तथा कुचभारोऽपि कृष्णमुखो बभूव । यदि वा सत्यमेतत् प्रकृतिकठिना अन्तर्दुष्टा दुर्जना मध्यस्थं समशत्रुमित्रमभ्युदयं गच्छन्तं नाभिनन्दन्ति । यतोऽमी जडास्तथा तत्त्वविचाराक्षमाः पक्षे कठिनत्वं स्तनस्वभावः उदरं च स्तनजघनयोर्मध्ये तिष्ठत्येव, जडाः सरसलावण्यस्वभावाः[2] ॥५॥ तस्या इति—तस्याः कपोलफलके गर्भप्रभावजनितसितिमनि कामदेवादर्शसदृशे नक्तं प्रतिबिम्बितश्चन्द्रः सदृशवर्णत्वात्कथं लक्ष्यते स्मेत्याह—विसदृशवर्णेन लाञ्छनमृगेण नीलकण्ठगलसदृशकान्तिनामुनेति । यदिशब्दः संदेहवाची ॥६॥ एकेनेति—तस्या मध्यप्रदेशो ववृधे । किं कृत्वा । बलित्रयसंनिवेशं निर्नाश्य । तेनैकेनानन्यसदृशप्रभावेण गर्भप्रभावेण बलिना महाशक्त्यात्मकेन स्वबलेन निजपराक्रमेण । इति करणस्य करणम् । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते तेनैव प्रमोदरसोपचयेन स्तनतटप्रसारः पीनतरो बभूव । शोभनं हृदयं येन स सुहृद् । अथ चोक्तिलेशः — यथा केनचित् सुभटमल्लेन दोर्दण्डपरिच्छदेन मल्लत्रयं पराभूतं दृष्ट्वा सुजनबन्धुवर्गो हर्षोल्लसितो भवति[3] ॥७॥

निकलनेवाले यशसे ही आलिंगित हो रही हो-॥३॥ यह सुव्रता तृष्णारूप समुद्रके द्वितीय तटको प्राप्त हुए बन्धनहीन पुत्रको उत्पन्न करेगी—यह सूचित करनेके लिए ही मानो उसने पिंजड़ोंमे बन्द क्रीड़ापक्षियोंकी मुक्तिको छोडकर अन्य वस्तुओंमें इच्छा नहीं की थी—उसकी यही एक इच्छा रहती थी कि पिंजडोंमें बन्द समस्त तोता-मैना आदि पक्षी छोड़ दिये जावे ॥४॥ इस सुव्रताका उदर ज्यों-ज्यों वृद्धिको प्राप्त होता जाता था त्यों-त्यों उसका स्तनमण्डल कृष्णमुख होता जाता था सो ठीक ही है। क्योंकि अत्यन्त कठोर प्रकृतिको धारण करनेवाले जड़ पुरुष मध्यस्थ [राग-द्वेषसे रहित, प्रकृतमें बीचमें रहनेवाले] पुरुषका भी अभ्युदय नहीं सह सकते ॥५॥ स्फटिक मणिके समान कान्तिवाला उस सुव्रताका कपोलफलक कामदेवके दर्पणके समान मालूम होता था। रात्रिके समय उसमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाको यदि लोग देख पाते थे तो महादेवजीके कण्ठके समान कठोर कान्तिवाले कलंकके द्वारा ही देख पाते थे ॥६॥ उस सुव्रताका मध्यदेश गर्भस्थित एक वली [बलवान्] के द्वारा तीन बलियोंको [पक्षमें नाभिके नीचे स्थित तीन रेखाओंको] नष्टकर वृद्धिको प्राप्त हो

१. दोहदानि ग० घ० च० छ० ज० म० । २ ईर्ष्यालवो दुर्जना उदासीनस्याप्युदयं न क्षमन्ते किमुत प्रपञ्चपातितस्येति भावः । अर्थान्तरन्यासः । ३ उत्प्रेक्षा ।

उत्खातपङ्किलविसाविव राजहंसौ
शुभ्रौ सभृङ्गवदनाविव पद्मकोशौ ।
तस्या स्तनौ हृदि रसे सरसीव पूर्णे
सरेजतुर्गवलमेचकचूचुकाग्रौ ॥८॥

गर्भे वसन्नपि मलैरकलङ्कितांगो
ज्ञानत्रयं त्रिभुवनैकगुरुर्बभार ।
तुङ्गोदयाद्रिगहनान्तरितोऽपि धाम[1]
किं नाम मुञ्चति कदाचन तिग्मरश्मिः ॥९॥

काले कुलस्थितिरिति प्रतिपद्य विद्वान्
कर्तुं यदैच्छदिह पुंसवनादि कर्म ।
स्वं स्पर्द्धयेव तदुपेत्य पुरन्दरेण
प्रागेव निर्मितमुदैक्षत स क्षितीशः ॥१०॥

सा गर्भनिर्भरतया सफलाङ्गसाद-
मासाद्य निष्क्रियतनुस्तरुणेन्दुगौरी ।
आलोकिता स्फटिककृत्रिमपुत्रिकेव
भर्तुस्तदा मदयति स्म मनो मृगाक्षी ॥११॥

उत्खातेति—तस्याः स्तनौ महिपशृङ्गवत् शुशुभाते । प्रेमरसैः परिपूर्णे हृदये सरसि गृहीतकर्दमसम्वलितविसौ राजहंसाविव, अथवा पुण्डरीकमुकुलाविव मुखोपविष्टभ्रमरौ । अत्र हंस पद्मकोश-स्तनानां कर्दम-भृङ्ग-कृष्ण-चूचुकानां चोपमानोपमेयभावः[2] ॥८॥ गर्भ इति—स परमेश्वरो गर्भवासे वसन्नपि गर्भमलैरस्पृष्टो ज्ञानत्रय-विराजित एव । नासंभाव्यमेतत्, न नामादित्य उत्तुङ्गपूर्वाचलतटीतिरोहितोऽपि निजप्रतापं मुञ्चति[3] ॥९॥ काल इति—स महासेनो राजा नवमादिमासे कुलस्थितिं मत्वा प्रसवमङ्गलादिकाः क्रिया या ईहाञ्चक्रे ताः सर्वा अपि प्रथममेव शक्रेण कुलकिङ्करेण झटित्यागत्य चक्रिरे । स्पर्द्धया अन्यो मयि सति करिष्यतीतीर्ष्यालुनेव स्वं स्वर्गादुपेत्य ॥१०॥ सेति—सा चञ्चलाक्षी राज्ञो मनोऽतिप्रेमासक्तं कातरयाञ्चकार । किंविशिष्टा सती । उपचीयमानगर्भप्रभावात् स्फटिकोपलघटितपाञ्चालीव पुत्तलिकेवेति यावत् जरठचन्द्रधवला निष्क्रिय-तनुव्यापाराङ्गवती । कुतो निष्क्रियत्वमित्याह—महागर्भोपचयनिःसहतया सर्वाङ्गालस्यं प्राप्य ॥११॥

रहा था अतः उसके स्तन-कलश हर्षसे ही मानो अत्यन्त स्थूल हो गये थे ॥७॥ जलभृत सरोवरके समान प्रेमसे ओत-प्रोत हृदयमें भसेके सींगके समान काले काले चूचकोंसे युक्त उस सुव्रताके दोनो स्तन ऐसे जान पडते थे मानो जिन्होंने कीचडयुक्त मृणाल उखाड़ा है ऐसे राजहंस ही हों अथवा जिनके अग्रभागपर भ्रमर बैठे है ऐसे सफेद कमलों के कुड्मल ही हों ॥८॥ गर्भमे रहने पर भी जिनका शरीर मलसे कलङ्कित नहीं है ऐसे वह त्रिभुवन गुरु मति-श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानोंको धारण कर रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि सूर्य उत्तुङ्ग उदयाचलके वन मे छिपकर भी क्या कभी अपना तेज छोडता है ॥९॥ राजा कुलकी रीतिका खयालकर योग्य समय जिस पुंसवन आदि क्रियाके करने की इच्छा करते थे इन्द्र उस कार्यको स्वर्गकी स्पर्धासे पहले ही आकर कर देता था और राजा उस क्रियाको बड़े आश्चर्यसे देखते थे ॥१०॥ तरुण चन्द्रमाके समान गौर वर्णको धारण करने वाली रानी सुव्रता गर्भ के भारसे समस्त शरीरमे खेदका अनुभव कर निश्चल शरीर हो रही थी जिससे स्फटिकमणिकी पुतलीके समान जान पडती थी । दृष्टिके सामने आते ही वह अपने स्वामीका

१ 'धाम तेजो गृहे रश्मौ' इति हैम । २ मालोपमा । ३. दृष्टान्तालंकार ।

वज्रानलादि न ससर्ज न चोज्जगर्ज
साश्चर्यमैलबिल इत्यपरोऽम्बुवाह ।
अष्टौ च सप्त च जिनेश्वरजन्मपूर्वान्
मासान्व्यधत्त नृपधामनि रत्नवृष्टिम् ॥१२॥
[1]पुष्य गते हिमरुचौ [2]तपसो वलक्ष-
पक्षाश्रिता तिथिमथ त्रिजया[3]मवाप्य ।
प्राचीव भानुमभिनन्दितसर्वलोकं
सासूत सूत्रितनय तनय मृगाक्षी ॥१३॥
शातोदरी शयनसंनिहितेन तेन
[4]प्रोत्तप्तकाञ्चनसकाशरुचा चकाशे ।
कदर्पदर्पजयिना नयनानलेन
कामद्विष शिरसि चान्द्रमसी कलेव ॥१४॥
अष्टोत्तरा दशशती शुभलक्षणानां
बिभ्रत्स पुण्यविपणि सहसापि दृष्ट ।
स्वर्गादृतेऽपि परमोत्सवनिर्निमेषा
काश्चिन्नमत्र न चकार चकोरनेत्रा ॥१५॥

वज्रेति—धनदोऽयमपूर्वो मेघ । कथमपरत्वमित्याह—विद्युज्ज्वलन न मुमोच न च गर्जं चकार। विद्युत्वाश्च गर्जन् वर्षति । अपरं च षण्मासान् गर्भावतारपूर्वं नवमासान् गर्भस्थितेरेव पञ्चदशमासान् नृपगृहे रत्नवृष्टि कृतवान् । प्रस्तुतस्तु न तथा रत्नवृष्टिं चकार किन्तु जलवृष्टिमेव ॥१२॥ पुष्यमिति—सा मृगाक्षी पुत्र जनयाचकार । सूत्रितनय दर्शितसकलनीतिमार्गं प्रमोदितत्रिभुवनकम् । कदेत्याह—माघशुक्लपक्षे तृतीया चासौ जया च अर्थात् त्रयोदश्यामेव चन्द्रे पुष्यनक्षत्राश्रिते । यथा पूर्वादित्यमुद्गमयति[5] ॥१३॥ शातोदरीति—सा क्षामोदरी शयन-समीपस्थेन तेन तप्ततपनीयप्रभेण बभासे । शम्भो शिरसि तन्वी चन्द्रकलेव कामदर्पापहेन तृतीयनयनज्वलनेनेव । अत्र शिर.शयनयो सुव्रताचन्द्रकलयो सूनुतृतीयनयनयोश्चोपमानोपमेयभाव.[6] ॥१४॥ अष्टोत्तरामिति—स पुण्याकरस्तीर्थनाथो जातमात्रोऽप्यष्टोत्तरसहस्रमनन्यसदृशलक्षणाना बिभ्राणो दृष्ट सन् काश्चञ्चलाक्षीर्निर्निमेष-

मन आनन्दित कर देती थी ॥११॥ बड़े आश्चर्यकी बात है कि कुबेर नामक अनोखे मेघने न तो वज्र ही गिराया था और न जोरकी गर्जना ही की थी। वह चुपचाप जिनेन्द्र भगवान्के जन्मसे पन्द्रह माह पूर्व तक राजमन्दिरमें रत्नवृष्टि करता रहा ॥१२॥ जिस प्रकार पूर्व दिशा सर्वलोक समूहको आनन्द प्रदान करनेवाले सूर्यको जन्म देती है उसी प्रकार उस मृगनयनी रानीने माघ शुक्ल त्रयोदशीके दिन पुष्य नक्षत्रमे ससारको नीतिका मार्ग दिखानेवाले एव सबके लिए आनन्ददायक पुत्रको जन्म दिया ॥१३॥ जिस प्रकार महादेवजीके मस्तक पर कामदेवका गर्व जीतनेवाले नेत्रानलसे चन्द्रमाकी कला सुशोभित होती है उसी प्रकार शय्यापर पास ही पड़े हुए संतप्त सुवर्णके समान कान्तिवाले उस बालकसे वह कृशोदरी माता सुशोभित हो रही थी ॥१४॥ पुण्यकी दूकानके समान एक हजार आठ लक्षणोको धारण करनेवाले उस बालकने दिखते ही स्वर्गके बिना ही किन चकोर-लोचनाओं-

१ पुष्य म० घ० । २ 'तपा माघे' इत्यमर । ३ नन्दा भद्रा जया रिक्ता पूर्णा च तिथय क्रमात्' इति प्रतिपदमारभ्य पञ्चदिवसेपु पञ्च तिथयो भवन्ति । प्रथमजया तृतीया, द्वितीयजयाष्टमी, तृतीयजया त्रयोदशीति स्पष्टम् । ४ प्रोत्तप्तस्य निष्टप्तस्य काञ्चनस्य तपनस्य सकाशा सदृशी रुक् कान्तिर्यस्य तेन । ५ उपमालकार । ६. उपमा ।

गच्छन्नधश्चिरतर जिनजन्मदत्त-
हस्तावलम्ब इव निर्मलपुण्यराशि ।
अप्रेरितोऽपि भवनामरमन्दिरेषु
नि:सख्यशङ्खनिवह सहसोज्जगर्ज ॥१६॥

रे रे भवभ्रमणजन्मजरान्तकाया
सद्य प्रयात शममेप जिनोऽवतीर्ण ।
इत्थ प्रशासदिव [1]डिण्डिमचण्डिमोच्चै
ख व्यन्तरानकशतध्वनिराततान ॥१७॥

एको न केवलमनेकपमण्डलस्य
गण्डाच्छिखण्डिगलकज्जलकान्तिचौर ।
ज्योतिर्गृहग्रहिलसिंहसहस्रनादै-
रुत्कन्धर स जगतोऽपि मदो निरस्त ॥१८॥

लोचना न चकार परमोत्सवेन रूपातिशयेन स्वर्ग विनापि । स्वर्गे निर्निमेषा भवन्तीति तत्र चित्रम् । अत्र तु पुनरिदमाश्चर्यमेव[2] ॥१५॥ गच्छन्निति—धरणेन्द्रप्रमुखभवनवासिना विमानेष्वसख्यातशङ्खसमूहो दध्मौ अवादितोऽपि निर्मलपुण्यसमुद्र इव । किमर्थ गर्जतीत्याह—जिनजन्मना तीर्थकरोत्पादेन दत्तो हस्तावलम्ब साधारो यस्य तथाविध पाताले ब्रुडन् । अन्योऽपि य कूपादौ निपतन् हस्तेनावलम्ब्य स्थिरीक्रियते स सोत्साहो भवति[3] ॥१६॥ रे रे भवेति—व्यन्तरविमानेषु पटहशताना यो ध्वनि स्वयमुद्गत स गगन व्यानशे । अनेन प्रकारेणैतान् शिक्षयन्निव । कान् शिक्षयन्नित्याह—रे रे इत्याक्षेपामन्त्रणे भव ससारस्तस्य भ्रमण, जन्म योन्यन्तरसक्रमणोत्पाद , जरा वृद्धत्वम्, अन्तको मृत्यु । एते आलाप्यन्ते, किमालाप्यन्त इत्याह—यूय शम यातापसरतेति । यतो भवन्निग्रहकारी देव प्रादुर्भूत इति डङ्कुरकप्रचण्डोच्चैस्तर यथा भवति[3] ॥१७॥ एक इति—न केवलमेक एव मतङ्गजसमूहस्य कपोलाद्विगलन्मद शोषित । द्वितीयस्त्रिभुवनस्यापि मदोऽहकारो निरस्त । कैरित्याह—ज्योतिर्गृहेषु चन्द्रादित्यविमानेषु ग्रहिला उच्छृङ्खला ये सिंहनादा सिंहशब्दितानि तै । ज्योतिर्गृहेषु जिनजन्मज्ञापनाय

को भारी उत्सवसे निमेषरहित नहीं कर दिया था ॥१५॥ भवनवासी देवोंके भवनोंमे बिना बजाये ही असख्यात शङ्खोंका समूह बज उठा जो उस पुण्यसमूहके समान जान पडता था जो कि पहले चिरकालसे नीचे जा रहा था परन्तु अब जिनेन्द्र भगवान्‌के जन्मका हस्तावलम्बन पाकर आनन्दसे ही मानो चिल्ला उठा हो ॥१६॥ व्यन्तरोंके भवनोंमे जोर-जोरसे बजती हुई सैकडों भेरियोंके शब्दने आकाशको व्याप्त कर लिया था वह मानो इस बातकी घोषणा ही कर रहा था कि—रे रे जन्म-बुढापा-मरण आदि शत्रुओ ! अब तुम लोग शीघ्र ही शान्त हो जाओ क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् अवतीर्ण हो चुके हैं ॥१७॥ ज्योतिषी देवोंके विमानोंमे जो हठीले हजारो सिंहोंका नाद हो रहा था उसने न केवल हाथियोंके गण्डमण्डलसे मयूरकी ग्रीवा और कज्जलकी कान्तिको चुरानेवाला काला-काला मद दूर किया था किन्तु समस्त ससार का बढा हुआ मद—अहकार भी दूर कर दिया था ॥१८॥

१ डिण्डिमेन वाद्यभेदेन चण्डिमा तैक्ष्ण्य यस्य तथाभूत । व्यन्तरानकशतध्वनिरित्यस्य विशेषणम् । 'वाद्यभेदा डमरुमड्डुडिण्डिमझर्झरा' इत्यमर । २ सद्य प्रसूतस्य जिनशिशोर्लोकोत्तरलावण्य विलोक्य सर्वा कामिन्य परमोत्सवेन निमेषशून्या बभूवुरिति भाव । ३ उत्प्रेक्षा ।

तत्काललास्यरसलालसमोक्षलक्ष्मी-
विक्षिप्तपाणिमणिकङ्कणरावरम्यैः ।
जन्मन्यनल्पतरकल्पनिवासिवेश्म-
घण्टास्वनैः स्वयमपूरि जगज्जिनस्य ॥१९॥
बालस्य तस्य महसा सहसोद्यतेन
प्रध्वसितान्धतमसे सदने तदानीम् ।
सेवागताम्बरमुनीनिव सप्त काचि-
द्दीपान्व्यबोधयत केवलमङ्गलार्थम् ॥२०॥
जन्मोत्सवप्रथमवार्तिकमात्मजस्य
तस्य प्रमोदभरदुर्ललितो नरेन्द्र ।
नोर्वीशमौलिमणिमालिकयाज्ञयैव
लक्ष्म्या पुनर्नियतमात्मसमीचकार ॥२१॥
ते गन्धवारिविरजीकृतसर्ववर्त्म-
न्यभ्रादभ्रघृणयो मणयो निपेतु ।
[1]यैस्तत्क्षणोप्तसुकृतद्रुमबीजपुञ्ज-
निर्यत्प्ररोहनिकराकृतिरन्वकारि ॥२२॥

सिंहनिनादा बभूवुरित्यर्थं । उत्कन्धरोऽनन्यनिरस्त ॥१८॥ तत्कालेति—प्रचुरसौधर्मेन्द्रकल्पनिवासि विमानेपु यः स्वय समुद्भूतघण्टाध्वनि स भुवन पूरयामास । कैं सहेत्याह—तत्कालेऽतिप्रमोदात् या लास्यरसलम्पटा मुक्तिश्रीस्तया विक्षिप्तौ हस्तकप्रचारेण चालितौ यौ हस्तौ तयो रत्नकङ्कणानि तेपा रावा रणज्झणत्कारास्तेषा रम्यैर्भङ्गैः । अथवा रावरम्यैरिति घण्टास्वनविशेपण वा । तदा किंविशिष्टे कङ्कणारावरम्यै । जिनस्य जन्मोत्सवे ॥१९॥ बालस्येति—तस्य शिशोर्जिनस्य तेजसा प्रथमोदितेन प्रसूतिगृहे तमसि निराकृते सति केवल तदा [2]मङ्गलार्थमेव काचित्सप्तसख्यान् दीपान् प्रज्वालयामास । विशेषज्ञानात्प्रथममेवागतान् सप्तमुनीनिव ॥२०॥ जन्मोत्सवेति—नरेन्द्रो महासेनस्तस्य प्रथमतनूजस्य जन्मोत्सववार्ताकथकं प्रथम महाहर्षपूरविसस्थुलचित्त आज्ञया चक्रवर्तिपदाभिधयैव सकलराजमौलिवन्दनीयथावर्जितया सर्वलक्ष्म्या आत्मतुला निनाय । तुष्टेन सफलमपि साम्राज्यं दत्तम् आज्ञा तु नेत्यर्थ ॥२१॥ ते गन्धेति—गन्धोदवर्षोपशमितरजस्के राजमार्ग धनदेन ते ते मणयो रत्नानि ववृषिरे गगनादमिततेजसो यैं किमकारीत्याह—यैस्तत्कालोप्तधर्मद्रुमबीजपुञ्जेभ्यो निर्गच्छदङ्कुरा अनुचक्रिरे ।

जिनेन्द्र भगवान्के जन्मके समय कल्पवासी देवोंके घर बजते हुए बहुत भारी घटाओंके उन शब्दोंने समस्त ससारको भर दिया था जो कि तत्काल नृत्य करनेमे उत्सुक मोक्षलक्ष्मीके हिलते हुए हाथोंके मणिमय ककणोंके शब्दके समान मनोहर थे ॥१९॥ उस बालकके सहसा प्रकट हुए तेज से प्रसूतिगृहका समस्त अन्धकार नष्ट हो चुका था अतः उस समय किसी स्त्रीने केवल मंगलके लिए जो सात दीपक जलाये थे वे सेवाके लिए आये हुए सप्तर्षि ताराओंके समान जान पड़ते थे ॥२०॥ सर्वप्रथम पुत्रजन्मका समाचार देनेवाले नौकरको आनन्दके भारसे भरे हुए राजाने केवल राजाओं के मुकुटोंपर पडी हुई मणिमालाके समान सुशोभित आज्ञासे ही अपने समान नही किया था किन्तु लक्ष्मीके द्वारा भी उसे अपने समान किया था ॥२१॥ उस समय सुगन्धित जलसे धूलिरहित किये हुए राजमार्गमे आकाशसे बडी-बडी

१ तत्क्षण तत्कालमुप्तानि सतानितानि यानि सुकृतद्रुमबीजानि पुण्यमहीरुहबीजानि तेपा पुञ्जा समूहास्तेभ्यो निर्यन्तो निर्गच्छन्तो ये प्ररोहनिकरा अङ्कुरसमूहास्तेपामाकृति सस्थानम् । २. दीप्त्यैव ध्वान्तविनाशे दीपानामावश्यकतेति भाव ।

[1]उत्क्षिप्तकेतुपटपल्लवितान्तरिक्षे
　　चिक्षेप तीक्ष्णरुचिरत्र पुरे न पादान् ।
मन्ये पतत्त्रिदशपुष्परसप्रवाह-
　　सदोहपिच्छिलपथच्छलपातभीत ॥२३॥
सवाहयन्निव मनाक् चिरबन्धमुक्ता-
　　स्त्वङ्घ्रिविसस्थुलपदा प्रतिपक्षवन्दी ।
मन्दारदाममधुसीकरभारवाही
　　मन्दोऽतिमन्दगतिरत्र बभूव वायु ॥ २४ ॥
तौर्यो ध्वनि प्रतिगृह लयशालि नृत्त
　　गीत च चारु मधुरा नवतोरणश्री ।
इत्याद्यनेकपरमोत्सवकेलिपात्र
　　द्रागेकगोत्रमिव भूत्रितय बभूव ॥ २५ ॥
शुभ्र नभोऽभवदभूदपकण्टका भू-
　　र्भक्त्येव भानुरभिगम्यरुचिर्बभूव ।

अत्र धर्मबीजमणीना किरणप्ररोहाणा चोपमानोपमेयभाव [2] ॥२२॥ उत्क्षिप्तेति—तीक्ष्णरुचिरादित्योऽत्र नगरे किरणान्न प्रससार रचितगगनोङ्घिकाचन्द्रोदयादिपटलपिहितान्तरिक्षे । ततोऽवकाशाभावादादित्यपादाना प्रसारो नास्तीति भाव । ततोऽनुमामि देवसमूहमुक्तमन्दारमकरन्दरसपङ्किले पथि स्खलनपतनभीरुक । अन्योऽपि पङ्किमार्गे पतनभयात्सहसालोकहास्यताभीरु पाद न ददाति[3] ॥२३॥ सवाहयन्निवेति—तदात्र नगरे वायुर्मन्दगामी बभूव । अग्रे तर्हि शीघ्रगतिर्भविष्यति तन्न । मन्दोऽपि किंविशिष्ट । मन्दारमालामकरन्दबिन्दुसमूहमहाभारखिन्न । किमर्थमिव मन्दोऽप्यतिमन्द इत्याह—कारागृहचिरकालमोचिता शत्रुनृपावरोधमहिषी सवाहयन्निव चिरबन्धवशात्खञ्जायमानत्वेन विसस्थुला स्खलन्त पादा यासा ता । अन्योऽपि कश्चिद्बलिष्ठो दयार्द्र खञ्जमाना स्त्रिय दृष्ट्वा मार्गेऽङ्गमर्दनाद्युपचारेण प्रतिपालयन् गच्छति । तदा वायुरतिमन्दोऽभूद् वन्द्यो मुक्ताश्चेति भाव ॥२४॥ तौर्यं इति—तदा जिनजन्मोत्सवे सममेव द्राक् शीघ्र वा त्रिभुवनमप्येकगोत्रसदृश बभूव । अनेकमङ्गलमहोत्सवकारित्वेन । कथमित्याह—लोकत्रयेऽपि गृहे तौर्यध्वनि । तथा यथोक्तलक्षणशोभित गीत नृत्तञ्च तथा सर्वत्रवन्दनमाला मौक्तिकचतुष्कनवीनतोरणादिलक्ष्मीदृश्यमानत्वेन[4] ॥२५॥ शुभ्रमिति—

किरणोंको धारण करनेवाले वे मणि बरसे थे जो कि तत्काल बोये हुए पुण्यरूपी वृक्षके बीजसमुदायके निकलते हुए अकुरोंके समूहकी आकृतिका अनुकरण कर रहे थे ॥२२॥ फहरायी हुई पताकाओंके वस्त्रोंसे जिसका समस्त आकाश व्याप्त हो रहा है, ऐसे उस नगरमें सूर्य अपने पाद—पैर [पक्षमे किरण] नहीं रख रहा था मानो उसे इस बातका भय लग रहा था कि कहीं ऊपरसे पडते हुए देवपुष्पोंके रस प्रवाहके समूहसे पकिल मार्गमे फिसल कर गिर न जाऊँ ॥२३॥ मन्दारमालाओंके मधुकणोंका भार धारण करनेवाला मन्द वायु और भी अधिक मन्द हो गया था मानो चिरकाल बाद बन्धनसे मुक्त अतएव लँगडाते पैरोंसे चलनेवाली शत्रुराजाओं की स्त्रियोंकी प्रतीक्षा करता हुआ चल रहा था ॥२४॥ उस समय घर-घर तुरही बाजोंके शब्द हो रहे थे, घर-घर लयसे सुशोभित नृत्य हो रहे थे, घर-घर सुन्दर गीत हो रहे थे और घर-घर उत्तमोत्तम नये-नये तोरण बाँधे जा रहे थे। अधिक क्या कहा जाये ? तीनों लोक एक कुटुम्बकी तरह अनेक उत्सवोंके क्रीडापात्र हो रहे थे ॥२५॥ उस

१ उत्क्षिप्तै उत्स्फुरितै केतुपटै पताकावस्त्रै पल्लवित व्याप्तमन्तरिक्ष यस्मिन् तस्मिन् पुरे । २ गगनात्पतन्तो मणिनिवहास्तत्क्षणोप्तपुण्यपादपबीजसमूहनिर्गच्छदङ्कुरनिकरा इव बभुरिति भाव । ३ उत्प्रेक्षा । ४ तस्मिन् जिनजन्मनि लोकत्रय सोत्सव जातमिति भाव ।

आरोग्यवानजनि जानपदोऽपि लोक-
स्तत्किं न यत्सुखनिमित्तमभूत्तदानीम् ॥ २६ ॥
स्नाता इवातिशयशालिनि पुण्यतीर्थे
तस्मिन् रजोव्यपगमात्सहसा प्रसन्नाः ।
एष्यन्निजप्रणयिना त्रिदिवात्तदानीं
सयोगयोग्यसमया ककुभो बभूवुः ॥ २७ ॥
रङ्गावलिध्वजपटोच्छ्रयतोरणादि-
व्यग्रे निधीश्वरपरिग्रहचक्रवाले ।
उद्वेल्लनोल्लसितरत्नरुचा हसद्भि-
र्निर्यामिकैरिव चिराच्चलितं निधानैः ॥ २८ ॥
जाते जगत्त्रयगुरौ [1]गरिमाम्बुराशि-
नीरान्तरान्तरितविश्वमहिम्नि तत्र ।
कोऽन्यस्य राज्यमहिमेति किल प्रभाव-
शक्त्या हतं हरिहयासनमाप कम्पम् ॥ २९ ॥

गगनतलं दुर्दिनाभिरहितं बभूव पृथिवी च विषसर्पकण्टकादिवर्जिता, चण्डरुचिश्च सुखस्पर्शतेजा बभूव । एते जिनं प्रति भक्तिभारं वितन्वन्त इवेदृशा बभूवुरित्यर्थः । आरोग्यवानित्यादि—व्याधिपीडितश्च लोको देशेऽस्मिन्नीरोगो बभूव । अन्यदपि यत्सुखकारणं तत्सर्वं समजनिष्ट ॥२६॥ स्नाता इति—दिगङ्गनास्तदानीमागमिष्यद्दिक्पालसयोगयोग्यसमया बभूवुः । धूलीपटलोपशमान्निर्मलास्तस्मिन् जिनजन्मलक्षणपवित्रोदतीर्थे महाप्रभावयुक्तेऽभिषिक्ता इव । यथा काश्चिच्चतुर्थदिवसस्नाताः पुष्पस्रावविगमेन निर्मलतमाः स्त्रियो निजकान्तोपभोगयोग्या भवन्ति[2] ॥२७॥ रङ्गावलीति—तदा जिनजन्मप्रभावान्निधानैरप्राहरिकैरिवाविर्भूतं भूतललुठनविगलन्मणिपूरतेजसा सहासैरिव । क्व गताः प्राहरिका इत्याह—स्वस्तिककेतुपटरचना नवीनतोरणादिकरणे पृथिव्या धनदकिंकरसमूहे व्याकुले सति जिनजन्मनि धनदेन तोरणादि कर्त्तव्यं स च सपरिवारस्तत्करणे व्याकुलतमस्ततो निधयः शून्याः । अथ चोक्तिलेशः—यथा कश्चिच्चिरबन्दीकृतोऽप्राहरिकमात्मानं मत्वा पलायते ॥२८॥ जात इति—महेन्द्रसिंहासनं चकम्पे तस्य प्रभावबलेनान्दोलितमिव । कथमित्याह—तस्मिन् त्रिभुवनप्रभौ महामहिमसमुद्रजलपिहितसर्वतेजस्विप्रभावे जिने जाते सति कोऽयं नामान्यस्येतरप्रभावस्य शक्रादेः राज्यलक्ष्मीचिह्नं

समय आकाश स्वच्छ हो गया था, पृथिवी कण्टकरहित हो गयी थी, सूर्य भक्तिसे ही मानो सेवनीय किरणोंसे युक्त हो गया था और देशके लोग नीरोग हो गये थे। वह क्या था जो सुखका निमित्त न हुआ हो ॥२६॥ उस समय दिशाएँ [पक्षमें स्त्रियाँ] रज [धूली, पक्षमें ऋतुधर्म] का अभाव होनेसे अत्यन्त निर्मल हो गयी थीं जिससे ऐसी जान पड़ती थीं मानो अत्यन्त सुशोभित पुण्यरूपी तीर्थ [सरोवरके घाट] मे नहाकर आनेवाले अपने-अपने पतियों [दिक्पालों, पक्षमे पतियों] के समागमके योग्य ही हो गयी हों ॥२७॥ उधर जब तक खजानेके रक्षक लोग रंगोंके द्वारा चौक पूरने, पताकाएँ फहराने, तथा तोरण आदिके बाँधनेमे उलझे रहे तब तक खजानोंने देखा कि अब कोई पहरेदार नहीं है इसलिए उलटफेरसे फैलनेवाली रत्नोंकी किरणोंके बहाने पहरेदारोंकी मूर्खतापर हँसते हुएके समान उन्होंने भागना शुरू कर दिया ॥२८॥ अपने गौरवरूप समुद्रके जलके भीतर जिन्होंने सबकी महिमा तिरोहित कर ली है ऐसे जिनेन्द्रदेवके उत्पन्न हो चुकनेपर अब और किसकी राज्य-महिमा स्थिर रह सकती है ? इस प्रकार प्रभुकी प्रभाव शक्तिसे आहत होकर ही मानो इन्द्रका आसन कम्पित

१ गरिमाम्बुराशेर्गौरवसागरस्य नीरान्तरे जलाभ्यन्तरेऽन्तरितः पिहितो विश्वमहिमा निखिलजनमाहात्म्यं येन तथाविधे । २ समासोक्तिः ।

तत्कम्पकारणमवेक्षितुमक्षमाणि
ज्ञात्वा शतान्यपि दशोज्ज्वललोचनानाम् ।
अत्यन्तविस्मयरसोत्सुकचित्तवृत्ति-
रिन्द्रोऽवधि समुदमीलयदेकनेत्रम्[1] ॥३०॥

तेनाकलय्य जिनजन्म जवेन पीठा-
दुत्थाय तद्दिशि पदान्यपि सप्त गत्वा ।
देवो दिवस्तमभिवन्द्य मुदाभिषेक्तु
प्रस्थानदुन्दुभिमदापयत क्षणेन ॥३१॥

उन्निद्रयन्निव चिराय शयालुधर्मं
तस्य ध्वनिर्भरितभूरिविमानरन्ध्र ।
हर्म्याणि मेदुरतरोऽपि सुरासुराणा
द्राक्पारितोषिकमिवार्थयितु जगाम ॥३२॥

ते षोडशाभरणभूषितदिव्यदेहा
स्वस्वोरुवाहनजुष सपरिग्रहाश्च ।
हृल्लग्नजैनगुणसततिकृष्यमाणा-
श्चेलुर्बलादिव दशापि दिशामधीशा ॥३३॥

सिंहासनादिप्रभाव । अन्यदपि यद्वस्तु कम्पते तत्प्रतियोगी येनाहत सत्कम्पते नान्यथेति भाव ॥२९॥ तत्कम्पेति—शक्रस्तस्यात्मसिंहासनस्य कम्पकारण ज्ञातुमवधिलक्षण तृतीयलोचनमुन्निद्रयामास—अवधिज्ञान प्रायुङ्क्त इत्यर्थ । किंविशिष्ट । [2]अतिशयाश्चर्यरसोत्तालमनोव्यापार । इतरत् सहस्रमपि लोचनाना तत्राक्षममिति मत्वा[3] ॥३०॥ तेनेति—तत् सौधर्मेन्द्रेण जिनजन्मप्रभावादिद कम्पितमिति ज्ञात्वा झटिति सिंहासनादुत्थाय सप्तपदानि तस्या दिशि गत्वा जिन प्रणनाम । पश्चात् स्वर्गस्य पतिर्हर्षव्याकुलो, मेरुमस्तके जिनाभिषेकज्ञापनाय महादुन्दुभीरवीवदत् ॥३१॥ उन्निद्रयन्निति—स बहुलतरो दुन्दुभिनादश्चिरकालसुप्त धर्मं जागरयन्निव सर्ववैमानिकाना गेहान् जगाहे । द्राक् च शीघ्र च । शीघ्रकारणमाह—पारितोषिक याचितुमिव । अन्योऽपि य कश्चित्पुत्रजन्मादिकथाकथकत्वेन पारितोषिक यियाचिषु स सर्वेषा पुरत एव प्रयाति ॥३२॥ ते षोडशेति—ततस्तेन दुन्दुभिध्वनिना ज्ञातजैनजन्मानो दशापि [4]दिक्पालाश्चलन्ति स्म । किंविशिष्टा इत्याह—षोडशालङ्करणैर्मण्डित दिव्य तेजोमयमङ्ग येषाम् । 'केयूरहाराङ्गदकुण्डलानि प्रलम्बसूत्र मकुट द्विमुद्रिके । शस्त्री च पट्ट

हो उठा था ॥२९॥ जब इन्द्रने जाना कि हमारे एक हजार नेत्र आसनके कम्पित होनेका कारण देखनेके लिए असमर्थ हैं तब उसने बड़े आश्चर्यसे उत्सुकचित्त होकर अपना अवधिज्ञान रूप एक नेत्र खोला ॥३०॥ इन्द्रने उस अवधिज्ञान रूप नेत्रके द्वारा जिनेन्द्र भगवान्‌का जन्म जानकर शीघ्र ही सिंहासन छोड दिया और उस दिशामे सात कदम जाकर प्रभुको नमस्कार किया तथा अभिषेक करनेके लिए उसी क्षण बडे हर्षसे प्रस्थान दुन्दुभी बजवा दी ॥३१॥ उस भेरीका शब्द चिरकालसे सोनेवाले धर्मको जगाते हुए की तरह विमानोके प्रत्येक विवरमे व्याप्त हो गया और स्वयं सम्पन्न होकर भी पारितोषिक माँगनेके लिए ही मानो समस्त सुरों तथा असुरोंके भवनोंमे जा पहुँचा ॥३२॥ जिनके दिव्य शरीर सोलह प्रकारके आभूषणोंसे सुशोभित हैं ऐसे दशों दिक्पाल अपनी-अपनी सवारियोंपर बैठ अपने-अपने परिवारके

१ देकनेत्राम् घ० म० । २ अत्यन्तविस्मयरसेन सातिशयाद्भुतरसेनोत्सुकोत्कण्ठिता चित्तवृत्तिर्यस्य तथाभूत । ३. अवधिज्ञानेन शक्र स्वसिंहासनकम्पननिमित्त ज्ञातु तत्परोऽभूदिति भाव । ४ इन्द्राग्नियमनिऋतिवरुणवायुकुबेरैशानसोमधरणेन्द्रा क्रमेण पूर्वादीना ककुभामधीशा सन्ति ।

स्वर्दन्तिन तदनु दन्तसर[1]सरोज-
राजीनटल्ल[1]टहनाकवधूनिकायम् ।
उत्फुल्ललोचनरुचा निचयैर्विचित्रै
सचित्रयन्निव दिवस्पतिरारुरोह ।।३४।।

ऐरावणश्चटुलकर्णझल[2]झलाभि-
रड्डीनगण्डमधुपावलिराबभासे ।
यात्रोद्यत पथि जिनस्य पदे पदेऽसौ
निर्मुच्यमान इव पापलवैस्त्रुटद्भि ।।३५।।

गच्छन्ननल्पतरकल्पतरुप्रसून-
पात्रीपवित्रकरकिङ्करचक्रवालैः ।
सोढु' तदीयविरहार्तिमशक्नुवद्भिः
क्रीडावनैरिव रराज स पृष्ठलग्नै ।।३६।।

अन्योऽन्यघट्टनरणन्मणिभूषणाग्र-
वाचालितोच्चकुचकुम्भभरा' सुराणाम् ।
उल्लासिलास्यरसपेशलकास्यताल-
लीलाश्रिता इव रसाल्ललनाः प्रचेलु ।।३७।।

कटकश्च मेखला ग्रैवेयक नूपुरकर्णपूरौ' । इति षोडशाभरणानि । निजनिजतादृशगजादिवाहनस्थिता सपरिग्रहाः कलत्रादिपरिवारयुक्ता अतश्च हृदयसबद्धपरमेश्वरगुणसमूहैराकृष्यमाणा बलाद् हठादिव । वरत्रया वद्धमन्यदप्याकृष्यते ।।३३।। स्वर्दन्तिनमिति—स्वर्गपतिरैरावणपृष्ठमलचकार । किंविशिष्ट स्वर्गदन्तिनमित्याह—तस्य विक्रियाप्रभावाद् यानि द्वात्रिंशन्मुखानि प्रतिमुखमष्टावष्टौ दन्ता । सर्वेषु तेषु मुखेषु षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयसख्यानि (२५६) दन्तमुसलानि । दन्त दन्त प्रति यत्सरोवर सरसि सरसि द्वात्रिंशत्पद्मानि दले दले स्थितरम्भाप्रमुखदेवाङ्गनाभिरभिनीत सर्वसमुदायनाटकं तथाविध स्वर्दन्तिनमारुरोह । किं कुर्वन् शक्र इत्याह—विकसितसहस्रनेत्रतेजसा पटलैर्विचित्रै कृष्णरक्तधवलैरैरावण चित्रभङ्गीयुक्त कुर्वन्निव । यात्राया हि पञ्चवर्णैर्हस्तिनश्चित्र्यन्ते ।।३४।। ऐरावण इति—चञ्चलकर्णाहतिभिरुत्पतितभ्रमरपटलैरावृतो बभासे । जिन विवन्दिषुरसौ तत्प्रभावान्निर्गलद्भि पदे पदे कृष्णै कल्मषबिन्दुभिरिव परित्यज्यमान[3] ।।३५।। गच्छन्निति—स जिनजन्ममहोत्सव चिकीर्षुरिन्द्र. शुशुभे । बहुकल्पवृक्षपुष्पपटलकालंकृतहस्तै किंकरसमूहैरनुव्रजद्भिस्तद्वियोगदु ख क्षणमपि सोढु कातरैर्नन्दनप्रमुखै स्वर्गकेलिवनैरिव ।।३६।। अन्योऽन्येति—परस्पर सघट्टझणज्झणाय-

साथ ऐसे चले मानो हृदयमें लगे हुए जिनेन्द्र भगवान्‌के गुणोंका समूह उन्हें बलपूर्वक खींच ही रहा हो ।।३३।। तदनन्तर जिसके दाँतोंपर विद्यमान सरोवरोंके कमलोंकी पंक्तिपर सुन्दर देवांगनाओंका समूह नृत्य कर रहा है ऐसे ऐरावत हाथीपर सौधर्मेन्द्र आरूढ हुआ । वह सौधर्मेन्द्र अपने विकसित नेत्रोंकी चित्र-विचित्र कान्तिके समूहसे उस हाथीपर चित्र खींचता हुआ-सा जान पड़ता था ।।३४।। चंचल कानोंकी फटकारसे जिसके कपोलोंपर बैठे हुए भ्रमर इधर-उधर उड़ रहे हैं ऐसा ऐरावत हाथी ऐसा जान पडता था मानो चूँकि वह जिनेन्द्रभगवान्‌की यात्राके लिए जा रहा था अतः पद-पदपर टूटते हुए पापोंके अंशोंसे ही मानो छूट रहा हो ।।३५।। कल्पवृक्षके पुष्पोंके बड़े-बड़े पात्र हाथमें लिये हुए अनेक किंकरोंके समूह इन्द्रके साथ चल रहे थे जिनसे वह ऐसा जान पडता था मानो विरहजन्य दुःखको सहनेके लिए असमर्थ हुए क्रीडा वन ही उसके पीछे लग गये हों ।।३६।। परस्परके आघातसे

१ लडह घ० म० । २ 'गजकर्णगतिर्झलझलेत्युच्यते' इति कामन्दकीयनीतिसारटीका (१।४५) ।
३ उत्प्रेक्षालकार ।

गायन्नटन्नमदनुव्रजदप्यमन्द
वृन्दं तदा दिविषदां मिलदासमन्तात् ।
देवः पृथक्पृथगुपात्तविशेषभावै-
स्तुल्यं सहस्रनयनो नयनैर्ददर्श ॥३८॥
उद्दामरागरससागरमग्नहूहू-
हाहादिकिन्नरतरङ्गितगीतसक्तः [1] ।
सत्रासहेतुषु नदत्स्वपि तूर्यलक्षे-
ष्वन्तर्न शीतकिरणं हरिणो बबाधे ॥३९॥
क्रूरः कृतान्तमहिषस्तरणेस्तुरङ्गा
ज्योतिः [2] कुरङ्गरिपवः पवनस्य चैणः ।
सर्वे समं ययुरमी जिनमार्गलग्ना
के वा त्यजन्ति न परस्परवैरभावम् ॥४०॥

मानरत्नालंकरणशिञ्जितस्तनभाराप्सरसः संचरन्ति स्म । रसात्प्रमोदादाविर्भवन्नाट्यरसमनोहरकांस्यतालाभिनययुक्ता इव । अत्र स्तनानां संघट्टवशाच्चक्रीकृतकांस्यतालोपमानम् । स्वयं नृत्यन्ति स्तनलक्षणकंसतालाश्च दर्शयन्तीत्यर्थः ॥३७॥ गायदिति—तदा महेन्द्रो देवानां वृन्दं चतुर्दिगन्तादागत्य परिवारीभवदालोकयामास । कैः । सहस्रनयनैः । किंविशिष्टैः । अन्यान्यविशेषरसैः । किंविशिष्टं वृन्दमित्याह—गीतं प्रकटयत्, नृत्यमभिनयत्, दृष्टे लगत्, अमन्दं सप्रमोदं मिलत्, निजगृहादागच्छत्, नयनानां प्राचुर्यात् सर्वतः स्थितान् देवान् तीव्ररोषहास्यसकेतादिभावयुक्तैर्नयनैः सभावयतीत्यर्थः ॥३८॥ उद्दामेति—देववृन्दस्वरूपं निरूपयति । चन्द्रोत्सङ्गस्थो मृगो नोल्ललयाञ्चकार । सत्रासकारकेषु दुन्दुभिलक्षेष्वपि वाद्यमानेषु । किं कारणमित्याह—यतोऽसौ किंविशिष्टः । महागीतिरससमुद्रमध्यगहूहूहाहादिध्वनिविशेषैः किन्नरैर्देवविशेषैस्तरङ्गितं यद्गीतं तत्र सक्तिःरतिशया भक्तिर्यस्य स तथाविधः । हूहूहाहादयः शब्दा हि पशूनां त्रासहेतवः ताश्च गीतरसमग्नो मृगो नाकर्णयति ततो न चन्द्रं दुःखीकरोतीति भावः ॥३९॥ क्रूर इति—परस्परं विरोधिनः पशवस्तदागच्छन्तो न कलहायन्त इत्याह—स्वभावभीष्मोऽयं महिषः आदित्यस्य तुरङ्गमा ज्योतिष्कदेवानां च सिंहा वातस्य वाहनमृगश्चामी वैरायमाणा जग्मुः । अथवा युक्तमेतत् वीतरागमार्गानुसारिणः के वा जीवा चिरकालसंचितवैरमुत्सृजन्ति न । अपि तु

जिनके मणिमय आभूषणोंके अग्रभाग खनक रहे हैं तथा साथ ही जिनके उन्नत स्तनकलश शब्द कर रहे हैं ऐसी देवांगनाएँ बड़े हर्षसे इस प्रकार जा रही थीं मानो प्रारब्ध नृत्यके अनुकूल काँसेकी झाँझें ही बजाती जाती हों ॥३७॥ उस समय देवोंके झुण्डके झुण्ड चारों ओरसे आकर इकट्ठे हो रहे थे । उनमे कोई गा रहा था, कोई नृत्य कर रहा था, कोई नमस्कार कर रहा था, और कोई चुपचाप पीछे चल रहा था, खास बात तो यह थी कि हजारों नेत्रोंवाला इन्द्र पृथक्-पृथक् विशेष भावोंको धारण करनेवाले अपने नेत्रोंसे उन सबको एक साथ देखता जाता था ॥३८॥ यद्यपि भय उत्पन्न करनेवाले लाखों तुरही बज रहे थे फिर भी चन्द्रमाका हरिण उत्कट रागरूपी रसके समुद्रमे निमग्न हूहू हाहा आदि किन्नरोंके द्वारा पल्लवित गीतमे इतना अधिक आसक्त था कि उसने चन्द्रमाको कुछ भी बाधा नहीं पहुँचायी थी ॥३९॥ यमराजका वाहन क्रूर भैंसा, सूर्यके वाहन घोड़े, ज्योतिषी देवोंके वाहन सिंह, तथा पवनकुमारका वाहन हरिण—ये सब परस्परका वैरभाव छोड़कर साथ-साथ जा रहे थे सो ठीक ही है

---

१. सक्त घ० म० । २. द्योति घ० म० ।

पुष्पैः फलैः किसलयैर्मणिभूषणैश्च
तैस्तैर्विचित्रवरचीवरसचयैश्च ।
कर्तुं जिनेन्द्रचरणार्चनमुत्तरन्त
कल्पद्रुमा इव वियत्यमरा विरेजुः ॥४१॥
अन्योऽन्यसचलनघट्टितकर्कशोरः-
क्षुण्णोरुहारमणयो नटता सुराणाम् ।
तारापथात्करिघटाचरणप्रचार-
संचूर्णितोडुनिचया इव ते निपेतुः ॥४२॥
[1]सूर्योपगामिभिरिभैर्मरुता कराग्र-
व्यापारिताभिरभितापिनि गण्डमूले ।
गण्डूपवारिविसरप्रसरच्छटाभि-
र्दध्रे[2] क्षण श्रवणचामरचारुलक्ष्मी ॥४३॥
रक्तोत्पल हरितपत्रविलम्बितीरे
त्रिस्रोतसः स्फुटमिति त्रिदशद्विपेन्द्रः ।
बिम्ब विकृष्य सहसा तपनस्य मुञ्चन्-
धुन्वन्कर दिवि चकार न कस्य हास्यम् ॥४४॥

त्यजन्त्येव ॥४०॥ पुष्पैरिति—गगनादुत्तरन्तो देवा शुशुभिरे निजभक्तिभराज्जिनपूजा कर्तुं साक्षात्कल्पवृक्षा इव । किंविशिष्टा । उपलक्षिता जिनपूजार्थं गृहीतैस्तादृशैः पुष्पमालादिभि ॥४१॥ अन्योऽन्येति—तदा प्रमोदग्रथिलाना देवाना नरीनृत्यतामन्योन्य परस्पर सघट्टघर्षितकठिनहृदये क्षुण्णाश्चूर्णिता स्थूला हारमणयो मुक्ताफलानि गगनात्पतन्ति स्म । अतश्च ज्ञायन्ते सुरसेना गजघटापादभारचूर्णितास्तारागणा इव ॥४२॥ सूर्येति—आदित्यमण्डलसमीपे सचरद्भिर्देवाना गजेन्द्रैः पुष्करमुखोद्गीर्णाभि कपोलमूले मदतापशमनार्थं जल-शीकरच्छटाभि कर्णालंकरणचामरमनोहरश्रीरूहे चामरसदृश्यो बभूवुरित्यर्थः ॥४३॥ रक्तोत्पलमिति—ऐरावणो गगनगङ्गायास्तीरे नीलदलविकसत्कोकनदभ्रान्त्या रविं गृहीत्वा ततः शीघ्रमुष्णत्वेन दग्धपुष्कर परित्यजन् [3]पुष्कर च ससूत्कार कम्पयन् नभसि केषा स्मेरमुख न चकार अपि तु चकारैव । पक्षे हरित्पत्रं हरितवाहन

क्योंकि जिनमार्गमे लीन हुए कौन मनुष्य परस्परका वैरभाव नहीं छोडते ?॥४०॥ पुष्पों, फलों, पल्लवों, मणिमय आभूषणों और विविध प्रकारके अच्छे-अच्छे वस्त्रोंके समूहसे जिनेन्द्रदेवके चरणोंकी पूजा करनेके लिए आकाशमें उतरते हुए वे देव कल्पवृक्षोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥४१॥ नृत्य करनेवाले देवोंके कठोर वक्षःस्थल परस्पर एक दूसरेके सम्मुख चलनेसे जब कभी इतने जोरसे टकरा जाते थे कि उससे हारोंके बड़े-बड़े मणि चूर-चूर हो आकाशसे नीचे गिरने लगते थे और ऐसे मालूम होते थे मानो हस्तिसमूहके चरणोंके संचारसे चूर-चूर हुए नक्षत्रोंके समूह ही गिर रहे हों ॥४२॥ सूर्यके समीप चलनेवाले देवोंके हाथी अपने सतप्त-गण्डस्थलपर सूँड़से निकले हुए जलसमूहके जो छींटे दे रहे थे उन्होंने क्षणभरके लिए कानोंके पास लटकते हुए चामरोंकी सुन्दर शोभा धारण की थी ॥४३॥ आकाशगगाके किनारे हरे रंगके पत्तेपर यह लालकमल फूला हुआ है यह समझकर ऐरावत हाथीने पहले तो विना विचारे सूर्यका बिम्ब खींच लिया पर जब उष्ण लगा तब जल्दीसे छोडकर सूँडको फड़-

१ सूर्यापगामिभि- घ० म०, स्वाग्रोपगामिभि- च० । २ देवानाम् । ३ शुण्डाग्रभागम् ।

तारापथे विचरता सुरसिन्धुराणा
सूत्कारनिर्गतकराम्बुकणा इवारात् ।
तारा सुरैर्ददृशिरेऽथ मिथोऽङ्गसङ्ग-
त्रुटयद्विभूषणमणिप्रकरानुकारा ॥४५॥
त्रैविक्रमक्रमभुजङ्गमभोगमुक्ता
निर्मोकरज्जुरिव [1]दृष्टविषातिरेका ।
व्योमापगा द्युपुरगोपुरदेहलीव
देवैर्व्यलोकि घटिता स्फटिकोपलेन ॥४६॥
रेजे जिन स्नपयितु पतता सुराणा
शुभ्रा विमानशिखरध्वजपङ्क्तिरभ्रे ।
आनन्दकन्दलितरूपशत पतन्ती
ज्ञात्वा निजावसरमम्बरनिम्नगेव ॥४७॥
जाते जिने भुवनशास्तरि सचरन्त.
स्वर्दन्तिनो नभसि नीलपयोदखण्डम् ।
नाथादृते प्रथममिन्दुपुरप्रतोल्या
दत्त कपाटमिव लोहमय बभञ्जु ॥४८॥

नीलाश्वमिति यावत् [2] ॥४४॥ तारापथ इति—गगने गच्छता सुरकरिणा सूत्कारनिर्युक्तशीकरकणा इव देवैस्तारा उत्प्रेक्षाचक्रिरे । अथवा द्रव्यत्वस्वभावयोगात्परस्परवपु सघट्टत्रुटितालकरणरत्नप्रचया इव विभाविता [3] ॥४५॥ त्रैविक्रमेति—बलिबन्धनोद्यतप्रसृतनारायणपादसर्पशरीरोज्झितकञ्चुलिकावल्लीव दृष्टपानीयातिशया पक्षे दृष्टगरलातिरेका नभोमन्दाकिनी देवैर्ददृशे । अथवा त्रिदिवपुरप्रतोलीदेहलीव स्फटिकोपलनिर्मिता ॥४६॥ रेज इति—जिनजन्माभिषेक कर्तुमुत्तरता देवाना धवला विमानकूटध्वजपटश्रेणी गगने शुशुभे । केव शुशुभ इत्याह—जिनसेवायोग्य जिनस्नानसमय ज्ञात्वा प्रमोदविरचितरूपशत यथा भवत्येव देवनदीव पतन्ती । अत्र ध्वजपटानां गङ्गारूपशताना चोपमानोपमेयभाव ॥४७॥ जात इति—त्रिभुवनगुरौ जिनेश्वरे समुत्पन्ने जन्मप्रभावनायामागच्छन्त ऐरावतप्रमुखदेवगजेन्द्रा नभोमार्गे पदभारेण नीलस्थूलमेघपटल चूर्णयाचक्रु । अतश्च सभाव्यते जिनस्वामिन विना बाह्यस्वर्गप्रतोल्या दत्त कपाटमिव विघटयामासु । साम्प्रत जिनदर्शनात्प्राणिना

फड़ाने लगा। यह देख आकाशमें किसे हँसी न आ गयी थी ॥४४॥ आकाशमे देवोंने ताराओंको प्रथम तो ऐसा देखा मानो वे घूमते हुए देवोंके हाथियोंके सूत्कार शब्दके साथ निकले हुए सूँडके जलके छींटे ही हों और उसके बाद ऐसा देखा मानो वे परस्परके शरीरके संघट्टसे टूटते हुए आभूषणोंके मणियोंके समूह ही हों ॥४५॥ कुछ और नीचे आकर देवोंने विषजल [पक्षमें गरल] से लबालब भरी एवं स्फटिकमणियोंसे जड़ी हुई वह आकाशगगा देखी जो कि विष्णुके तृतीय चरणरूप सर्पके द्वारा छोडी हुई काचुलीके समान अथवा स्वर्गरूप नगरके गोपुरकी देहलीके समान जान पडती थी ॥४६॥ जिनेन्द्र भगवान्का अभिषेक करनेके लिए आकाशमे आनेवाले देवोके विमानोंके शिखरोंपर फहरानेवाली सफ़ेद-सफ़ेद ध्वजाओंकी पक्ति ऐसी जान पड़ती थी मानो अपना अवसर जान आनन्दसे सैकडों रूप धारण कर आकाशगंगा ही आ रही हो ॥४७॥ त्रिभुवनके शासक श्री जिनेन्द्रदेवके उत्पन्न होनेपर आकाशमे इधर-उधर घूमते हुए देवोंके हाथियोंने उन काले-काले मेघोंके समूहको खण्डित किया था—तोड़ डाला था जो कि स्वामीके न होनेसे चन्द्रलोककी प्रतोलीमे लगाये

१ दृष्टिविपातिरेका म० । २ भ्रान्तिमान् । ३ उत्प्रेक्षा ।

अव्याहतप्रसरवातविवर्तमान-
नीलान्तरीयविवरस्फुरितोरुदण्डा ।
बाह्यच्छविव्यपनयार्पितगर्भशोभा-
रम्भेव कस्य न मनो हरति स्म रम्भा ॥४९॥
यावज्जिनेश्वरपुरं हरिराजधान्या
स्वर्गौकसां नभसि धोरणिरापतन्ती ।
लोकस्य शास्तरि जिने दिवमारुरुक्षो-
र्निश्रेणिकेव सुकृतेन कृता रराज ॥५०॥
वल्गद्घनोरुलहरीनिवहान्तराल-
हेलोल्लसन्मकरमीनकुलीरपोतात्[1] ।
[2]ते यानपात्रपटलप्रतिमैर्विमानै-
रुत्तेरुरम्बरमहाम्बुनिधेरमर्त्याः ॥५१॥
द्वारि द्वारि नभस्तलान्निपतितैः स्तूपैर्मणीनां मुनि-
क्रीडापीतपयोधिभूतलमिव व्यालोकयद्यद्यपि ।

निर्गलः स्वर्गमार्गो गम्यत इति भावः । अथ च निर्नाथं मन्दिरं दत्तकपाटं भवतीति प्रसिद्धिः ॥४८॥ अव्याहतेति—रम्भा देवाङ्गना सुरसार्थमध्यस्था कदलीव शोभते स्म । किंविशिष्टेत्याह—अव्याहतप्रसरेण वायुना धूयमानं यन्नीलान्तरीयं कृष्णाधोवसनं तस्य विवरमुभयप्रान्तयोः सन्धिस्तेन स्फुरिते, क्षणमात्रं दृष्टावूरुदण्डौ यस्याः सा तथाविधा । बाह्यानां वस्त्राभरणादीनां छविव्यपनयेन तेजोनिराकरणेन अर्पिता दर्शिता गर्भशोभा निजाङ्गप्रभा यया सा तथाविधा । अन्तरीयादीनि समुद्भिद्य यस्या अङ्गप्रभा निष्क्रान्तेत्यर्थः । पक्षे वातवशाल्लब्धे प्रान्ते दृष्टसरलयष्टिका बाह्यत्वचां निराकरणेन दृष्टा गर्भशोभा यस्याः सा तथाविधा ॥४९॥ यावदिति—रत्नपुरं महेन्द्रपुरं च व्याप्यान्तराले देवानां पङ्क्तिर्बभासे जिननाथे धर्मोपदेशके सति भव्यजनस्य स्वर्गं यियासोर्धर्मोपनीता निःश्रेणिकेव सोपानपङ्क्तिरिव ॥५०॥ वल्गदिति—ते देवा गगनसमुद्रात्प्रवहणसदृशैर्विमानैरुत्तरन्ति स्म । किंविशिष्टादित्याह—मिलन्मेघा इव महोर्मिसमूहास्तेषां मध्ये समुल्लसन्ति मीनमकरकर्कराशिप्रभृतीनि ज्योतींषि यत्र तस्मात् पक्षे उदञ्चद्बहलमहाकल्लोलपटलमध्ये युगपद्दृश्यमाना मकरादयो जलचरा यत्र[3] ॥५१॥ द्वारि द्वारीति—देवराजो यद्यपि अगस्त्यमुनिपीतरत्नसमूहावशेषसमुद्रपृथ्वीतलसदृशं रत्नपुरं

हुए लोहेके किवाड़ों की तरह जान पड़ते थे ॥४८॥ तेज वायु द्वारा हिलनेवाले नील अधोवस्त्रके छिद्रोंके बीचसे जिसके उत्तम ऊरुदण्ड प्रकाशमान हो रहे हैं ऐसी रम्भा नामक अप्सरा उस रम्भा—कदलीके समान सबका मन हरण कर रही थी जिसकी कि बाहरकी मलिन कान्तिके दूर होनेसे भीतरकी सुन्दर शोभा प्रकट हो रही है ॥४९॥ इन्द्रकी राजधानीसे लेकर जिनेन्द्र भगवान्‌के नगर तक आकाशमें आनेवाली देवोंकी पंक्ति ऐसी जान पड़ती थी मानो जिनेन्द्र भगवान्‌के शासनकालमें स्वर्ग जानेके लिए इच्छुक मनुष्योंके पुण्यसे बनी हुई नसैनी ही हो ॥५०॥ चंचल मेघरूपी बड़ी-बड़ी लहरोंके बीच जिसमें मकर, मीन और कर्कराशियाँ [पक्षमें जलजन्तु विशेष] अनायास सुशोभित हो रही हैं ऐसे आकाशरूप महासागरसे वे देव लोग जहाजोंके तुल्य विमानोंके द्वारा शीघ्र ही पार हो गये ॥५१॥

१ पोतान् घ० म० । २ ये यान घ० म० । ३ रूपकालंकारः ।

एकस्यैव जगद्विभूषणमणेस्तस्यार्हतो जन्मना
मेने रत्नपुरं तथापि मरुतां नाथस्तदा सार्थकम् ॥५२॥

पुरमिव पुरुहूतः प्राञ्जलिस्त्रिः परीत्य
त्रिभुवनमहनीयं हर्म्यमस्यातिरम्यम् ।
समुपनयनबुद्धा विश्वविद्याधिपत्य-
श्रियमिव सहसान्तः[1] प्रेषयामास कान्ताम् ॥५३॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये देवागमो नाम षष्ठः सर्गः ॥६॥

ददृशे । कैः । गृहद्वारे धनदवृष्टै रत्नराशिभिः । तथापि तथाविधरत्नप्राचुर्येऽपितस्य जिनस्य त्रिभुवनभूषणैकरत्नस्य जन्मत्वेन रत्नपुरं सार्थकं सव्युत्पत्तिकममस्त[2] ॥५२॥ पुरमित्रेति—महेन्द्रो रत्नपुरं नगरं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य पश्चात्त्रिभुवनपूज्यमस्य गृहं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्यातिरम्यं महाप्रभावं ततः प्रसूतिगृहे शची विससर्ज जिनानयनाभिप्रायेण । किंविशिष्टां कान्तामित्याह—सर्वभुवनसाम्राज्यलक्ष्मीमिव[3] ॥५३॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयशःकीर्तिविरचितायां सन्देहध्वान्तदीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकायां देवागमवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ॥६॥

यद्यपि वह नगर प्रत्येक दरवाजेपर आकाशसे पड़े हुए रत्नोंके समूहसे ऐसा जान पड़ता था मानो अगस्त्यमुनि द्वारा क्रीड़ावश पिये हुए समुद्रका भूतल ही हो, फिर भी इन्द्रने जगत्को विभूषित करनेवाले एक जिनेन्द्र भगवान् रूप मणिके जन्मसे ही उस नगरका रत्नपुर यह नाम सार्थक माना था ॥५२॥ इन्द्रने हाथ जोडकर नगरकी तरह श्री जिनेन्द्रदेवके अत्यन्त सुन्दर एवं त्रिलोकपूज्य भवनकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं और फिर समस्त संसारके अधिपति श्री जिनेन्द्र देवको लानेकी इच्छासे लक्ष्मीके समान सुशोभित इन्द्राणीको भीतर भेजा ॥५३॥

इस प्रकार महाकवि हरिचन्द्र विरचित धर्मशर्माभ्युदय नामक महाकाव्यमें देवागमका वर्णन करनेवाला छठा सर्ग समाप्त हुआ ॥६॥

---

१ सहसान्तः ख० । २ तथाविधरत्नप्राचुर्येऽपि त्रिभुवनभूषणैकरत्नस्य तस्य जिनस्य जन्मत्वेनैव रत्नपुरं सव्युत्पत्तिकममस्त मरुतां नाथ इति भावः ॥ शार्दूलविक्रीडितं छन्दः । ३. मालिनीच्छन्दः ।

सप्तमः सर्गः

प्रविश्य सद्मन्यथ सुव्रताया· समर्प्य मायाप्रतिरूपमङ्के ।
शची जिन पूर्वपयोधिवीचे. समुज्जहारेन्दु[1]मिवोद्यत द्यौ ॥१॥
अवाप्य तत्पाणिपुटाग्रमैत्री प्रकाशमाने जिनयामिनीशे ।
करारविन्दद्वितयं तदानी विडौजस कुण्डलता जगाम ॥२॥
प्रमोदवाष्पाम्बुकरम्बितेन दृशा सहस्रेण सहस्रनेत्र. ।
अपश्यदस्याकृतिलक्षणाना सकष्टमष्टाभ्यधिक सहस्रम् ॥३॥
अपारयन्नप्रतिरूपमङ्ग जिनस्य तस्येक्षितुमीक्षणाभ्याम् ।
[2]सहस्रनेत्राय तदा समूह सुरासुराणा स्पृहयाबभूव ॥४॥
तमादरादर्भकमप्यदभ्रैर्गुणैर्गरीयासमशेषलोकात् ।
कृतप्रणामाय पुरदराय समर्पयामास पुलोमपुत्री ॥५॥

प्रविश्येति—अथानन्तर सुव्रताया जिनमातुः प्रसूतिगृहे प्रविश्य मायानिर्मिततादृश जिनप्रतिबिम्बमुत्सङ्गे समर्प्य इन्द्राणी बालजिनेन्द्र जग्राह । यथा द्यौर्गगनं पूर्वसमुद्रकल्लोलात् प्रथमोदितमात्र चन्द्रमुत्सङ्गयति । अत्र सुव्रतावीच्योर्जिनचन्द्रयोरिन्द्राणीदिवोश्चोपमानोपमेयभाव[3] ॥१॥ अवाप्येति—तस्या शच्या करपल्लवे स्थितिं प्राप्य प्रकाशमाने आत्मान दर्शयति सति जिनचन्द्रे सौधर्मेन्द्रस्य पाणिपद्मद्वयमञ्जलिबन्धता प्राप । शचीहस्ते जिन दृष्ट्वा हस्तौ योजयन् नमस्कार कृतवानित्यर्थ· । अथ चारविन्द चन्द्रे दृश्यमाने सकुचतीति प्रसिद्धि[4] ॥२॥ प्रमोदेति—सहस्रनेत्रो महेन्द्रो हर्षाश्रुनिर्झरेण नेत्रसहस्रेण परमेश्वरस्याष्टोत्तरसहस्र लक्षणाना कलशकुलिशालकतिलकादीना व्यलोकयत् । सकष्ट लोचनदरिद्रतोपेत यथा स्यात् । अतिशायिलावण्यलक्षणसहस्रेषु नयनसहस्रमतिशयसक्त ततो यन्नयन यत्र स्थित तत्त्रैव शयद् (?) शिष्टाष्टलक्षणनिरीक्षणे दरिद्रत्वाल्लोचनसहस्रेणापि न यथेष्टरूपरमानुभवन कर्तुं शक्नोतीति भाव ॥३॥ अपारयन्निति—तदा देवदानवाना मण्डल लोचनसहस्रप्राप्तिमनोरथ चकार । किं कारणमित्याह—तस्य जिनस्य निरुपमान सर्वतो मनोहर शरीर द्वाभ्या लोचनाभ्या द्रष्टुमशक्नुवन् सहस्रनेत्रवदस्माकमपि यदि लोचनसहस्र स्यात्ततो वयमपि सकल जिनाङ्ग युगपद् अपश्याम इत्यर्थ ॥४॥ तमादरादिति—त जिनलक्षण बालक गुरुभिर्गुरुतममशेषलोकात्

तदनन्तर इन्द्राणीने प्रसूति-गृहके भीतर प्रवेश किया और सुव्रताकी गोदमें मायामय बालकको छोडकर जिन बालकको इस प्रकार उठा लिया जिस प्रकार कि पूर्व समुद्रकी लहरीके बीच प्रतिबिम्बको छोड़कर नवीन उदित हुए चन्द्रमाको आकाश उठा लेता है ॥१॥ उस समय चूँकि जिन बालकरूपी चन्द्रमा इन्द्राणीके हस्ततलकी मित्रताको पा-कर प्रकाशमान हो रहे थे इसलिए इन्द्रके दोनों हस्तकमल, कुड्मलताको प्राप्त हो गये थे ॥२॥ इन्द्र हर्षाश्रुओंसे भरे हुए अपने हजार नेत्रोंके द्वारा भगवान्के एक हजार आठ लक्षणोंको बडी कठिनाईसे देख सका था ॥३॥ उस समय दो नेत्रोंके द्वारा जिनेन्द्र भगवान्का अनुपम रूप देखनेके लिए असमर्थ होता सुर और असुरोंका समूह हजार नेत्रोंवाले इन्द्रके इन्द्रत्वकी इच्छा कर रहा था ॥४॥ जो बालक होनेपर भी अपने विशाल गुणोंकी अपेक्षा समस्त संसारसे वृद्ध थे ऐसे जिनेन्द्रदेवको

१ –मिवोदित ख० ग० घ० च० छ० ज० म० । २ सहस्रं नेत्राणि यस्य स तस्मै । 'स्पृहेरीप्सित' इति चतुर्थी । ३ उपमा, उपेन्द्रवज्रावृत्तम् । ४ रूपकम् ।

ससभ्रमेणाभ्रमुवल्लभस्य न्यधायि मूर्ध्नि त्रिदिवेश्वरेण ।
जयेति वाचं मुहुरुच्चरद्भि कराञ्जलि स्वस्य सुरैरशेषै ॥६॥
स तत्र चामीकरचारुमूर्ति स्फुरत्प्रभामण्डलमध्यवर्ती ।
अनम्बुधारा[1]धरतुङ्गशृङ्गे नवोदितश्चन्द्र इवाबभासे ॥७॥
[2]तदङ्घ्रियुग्मस्य नखेन्दुकान्तिर्द्युदन्तिनो मूर्धनि विस्फुरन्ती ।
बभौ तदाक्रान्तिविभिन्नकुम्भस्थलोच्छलन्मौक्तिकमण्डलीव ॥८॥
अथाभिषेक्तु सुरशैलमूर्ध्नि तमुद्वहस्तीर्थकर कराभ्याम् ।
पथा ग्रहाणा स गजाधिरूढश्चचाल सौधर्मपति ससैन्य ॥९॥
ध्वनत्सु तूर्येषु हरिप्रणीता स्तुतिस्तदाश्रावि सुरैर्न जैनी ।
मुहुस्तदारम्भचलाधरोष्ठप्रवाललीलाभिरवेदि किं तु ॥१०॥
अखण्डहेमाण्डकपुण्डरीकव्रजस्य दम्भात्त्रिदशोद्धृतस्य ।
[3]सुवर्णकुम्भान्स्वशिरोभिरुद्वहन् निनाय तस्य स्नपनाय शेष ॥११॥

त्रिभुवनात् कृतनमस्काराय सुरेन्द्राय शची सादर समर्पयामास ॥५॥ ससभ्रमेणेति—स जिनेश्वरो महतादरेण सौधर्मेन्द्रेण ऐरावणस्य च मूर्ध्नि कुम्भस्थले स्थापित । सर्वैर्देवैश्च निजकराञ्जलिर्भक्तिभरान्निजमस्तके स्थापित । जय जय नन्द नन्देति पौन पुन्येन जल्पद्भिर्जिन गजमस्तकमारोप्यमाण दृष्ट्वा सुरैर्हस्तौ मस्तके कृतौ ॥६॥ स तत्रेति—स तत्र शुभ्रैरावते स्वर्णवर्णशरीरो विशन्निजतेजोमण्डलवर्ती अनम्बुधाराधरतुङ्गशृङ्गे परिकरित शुशुभे शारदाभ्रमहाकूटे प्रथमोदित पिङ्गलश्चन्द्र इव । अत्रैरावतशारदाभ्रयो प्रथमोदितपूर्णेन्दुजिनेन्द्रयो-रुपमानोपमेयभाव ॥७॥ तदङ्घ्रीति—तस्य जिनेन्द्रस्य पादनखतेजोमञ्जरीशक्रगजस्य शिरसि समुल्लसन्ती रराज । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—तस्यानन्तशक्तिकस्य गरिमनिधानस्याक्रमणेन भारपीडनेन यद् विभिन्न स्फुटित कुम्भस्थल तस्मादुच्छलन्ती मौक्तिकश्रेणीमिव सभावयामः ॥८॥ अथेति—अथानन्तरमुत्सङ्गस्थ तीर्थकर धारयन् मेरुशिखरे स्नपयितु नभोमार्गेण चतुर्णिकायामरपरिवारित सौधर्म स्वर्गनाथ प्रतस्थे ॥९॥ ध्वनत्स्विति—सार्धद्वादशकोटिषु तूर्येषु वाद्यमानेषु शक्रेण प्रणीता जिनस्तुतयो देवैर्न श्रुता । कथ स्तुवन् तर्हि ज्ञात इत्याह—पुन पुनर्वर्णोच्चारणविशेषेण चलन्तौ यावधरपल्लवौ तयोर्लीलाभि साभिज्ञानरीतिभि स्तौतीति जिनमसौ निश्चितम् ॥१०॥ अखण्डेति—देवैरुद्धृतस्य परिपूर्णस्वर्णकुम्भमण्डितसितातपत्रसमूहस्य व्याजा-दहीश्वर स्वर्णकलशान् स्वमस्तकै सहस्रसख्यैर्धारयन्नाजगाम । अत्र छत्रशेषयो स्वर्णाण्डकलशयोश्चोपमानोप-

इन्द्राणीने नमस्कार करनेवाले इन्द्रके लिए बडे आदरके साथ सौप दिया ॥५॥ इन्द्रने जिन-बालकको ऐरावत हाथीके मस्तकपर रखा और अन्य समस्त देवोंने अपनी हस्तांजलि अपने मस्तकपर रखी—हाथ जोड़ मस्तकसे लगाये ॥६॥ सुवर्णके समान सुन्दर शरीरको धारण करनेवाले जिनेन्द्र भगवान् देदीप्यमान प्रभामण्डलके बीच ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो निर्जल मेघके उन्नत शिखरपर नवीन उगा हुआ चन्द्रमा ही हो ॥७॥ उनके चरणयुगलके नखरूपी चन्द्रमाकी कान्ति ऐरावत हाथीके मस्तकपर पड रही थी जो ऐसी जान पडती थी मानो उनके आक्रमणके भारसे मस्तक फट गया हो और उससे मोतियोंका समूह उछल रहा हो ॥८॥ तदनन्तर हाथीपर आरूढ हुआ सौधर्मेन्द्र सुमेरुपर्वतके शिखरपर अभिषेक करनेके लिए उन तीर्थंकरको अपने दोनों हाथोंसे पकड़े हुए सेनाके साथ आकाशमार्गसे चला ॥९॥ उस समय इतने अधिक बाजे बज रहे थे कि इन्द्र-द्वारा की हुई जिनेन्द्रदेवकी स्तुति देवोंके सुननेमे नहीं आ रही थी, हाँ, इतना अवश्य था कि उसके प्रारम्भमे जो ओष्ठरूपी प्रवाल चलते थे उनकी लीलासे उसका कुछ बोध अवश्य हो जाता था ॥१०॥ उस समय देवोंने सुवर्णके अखण्ड कलशोंसे युक्त जो सफेद छत्रोंके समूह तान रखे थे वे ऐसे जान

१ धारावर म० घ० । २ तदङ्घ्रि घ० म० । ३ अय वशस्थपादोऽत्र प्रमादापतित इति भाति ।

विधूयमानामरमण्डलीभिः प्रभोरुपान्ते सितचामराली।
रराज ¹रागोत्सुकमुक्तिमुक्तकटाक्षविक्षेपपरम्परेव ॥१२॥

प्रदह्यमानागुरुधूमलेखाकरम्बितं व्योम बभौ तदानीम्।
जिनस्य जन्माभिषवोत्सवार्थमिवागताशेषभुजङ्गलोकम् ॥१३॥

तमिन्दुशुभ्रध्वजनिर्मलोर्मि सितातपत्रस्फुटफेनपुञ्जः।
सुरासुराणां निवहोऽभिषेक्तुं रराज दुग्धाब्धिरिवानुगच्छन् ॥१४॥

बभौ पिशङ्गः कनकोज्ज्वलाभिः प्रभाभिरस्याभ्रमुजीवितेशः।
प्रभुं तमायान्तमवेत्य भक्त्या स संमुखायात इवाद्रिराजः ॥१५॥

सुधाप्रवाहैरिव हारिगीतैस्तरङ्गिते व्योममहाम्बुराशौ।
भुजभ्रमोल्लासितलास्यलीलाछलात्प्लवन्ते स्म मरुत्तरुण्यः ॥१६॥

मेयभावः ॥११॥ विधूयमानेति—देवसमूहैर्दोधूयमाना शुभ्रचामरपङ्क्तिस्तस्य प्रभोः समीपे शुशुभे। अत्युत्कण्ठितमोक्षलक्ष्मीप्रसारितकटाक्षपरम्परेव। धवलत्वान्निर्मलत्वात्सरलतिर्यक्पातित्वाच्च चामराणां कटाक्षच्छटोपमा ॥१२॥ प्रदह्यमानेति—तदा ददह्यमानकृष्णागुरुधूमशिखा वल्लरीभिर्मण्डितं व्योममण्डपं बभासे जिनस्य जन्माभिषेकमहोत्सवे मिलितसकलपातालवासिनीलसर्पकुलमिव ॥१३॥ तमिति—तदा देवदानवानां समूहोऽभिषेक्तुं जिनमनुगच्छन् निजसमयागतो दुग्धसमुद्र इव रराज। समुद्ररूपकतामुद्भावयति—चञ्चलधवलध्वजा एव निर्मलाः सदृशा ऊर्मयः कल्लोला यत्र। धवलातपत्राण्येव विसारिडिण्डीरपिण्डा यत्र। अत्र ध्वजोर्म्योश्छत्रखण्डफेनपुञ्जयोर्निवहाब्ध्योश्चोपमानोपमेयभावः² ॥१४॥ बभाविति—अस्य जिनस्य देहप्रभाभिः सुवर्णभासुराभिः पिञ्जरितः सुरगजः शुशुभे। तं देवदेवमागच्छन्तं ज्ञात्वा काञ्चनाद्रिरिव प्रत्युज्जगाम ॥१५॥ सुधेति—तदा पीयूषरसमधुरैर्देववृन्दगीतैर्गगनसमुद्रे सर्वतः कल्लोलिते सति हस्तकभ्रमविशेषैः प्रकटितस्य वाद्यलीलाविशेषस्य व्याजात् देवाङ्गनास्तरन्ति। देववृन्दस्यातिप्रमोदवशादुच्छृङ्खलगीतनृत्यसूचनम् ॥१६॥

पड़ते थे मानो प्रभुका अभिषेक करनेके लिए अपने सिरोंपर सोनेके कलश रखकर शेषनाग ही आया हो ॥११॥ प्रभुके समीप ही देवसमूहके द्वारा ढोली हुई सफेद चमरोंकी पंक्ति ऐसी जान पड़ती थी मानो रागसे उत्कण्ठित मुक्तिरूप लक्ष्मीके द्वारा छोड़ी कटाक्षोंकी परम्परा ही हो ॥१२॥ उस समय जलते हुए अगुरुचन्दनके धुएँकी रेखाओंसे व्याप्त आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उसमें जिनेन्द्र भगवान्‌के जन्माभिषेक सम्बन्धी उत्सवके लिए समस्त नाग ही आये हों ॥१३॥ चन्द्रमाके समान उज्ज्वल पताकाएँ ही जिसमें निर्मल तरंगें हैं और सफेद छत्र ही जिसमें फेनका समूह है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌के पीछे-पीछे जाता हुआ सुर और असुरोंका समूह ऐसा जान पडता था मानो अभिषेक करनेके लिए क्षीर समुद्र ही पीछे-पीछे चल रहा हो ॥१४॥ प्रभुकी सुवर्णोज्ज्वल प्रभासे ऐरावत हाथी पीला-पीला हो गया था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो प्रभुको आता देख सुमेरुपर्वत ही भक्तिसे सामने आ गया हो ॥१५॥ अमृतके प्रवाहके समान सुन्दर गीतोंसे लहराते हुए आकाशरूपी महासागरमें देवांगनाएँ भुजाओंके-से उल्लासित नृत्यलीलाके छलसे ऐसी मालूम होती थीं

---

१ रागेणोत्सुका या मुक्तिर्मोक्षलक्ष्मीस्तया मुक्ता ये कटाक्षविक्षेपास्तेषां परम्परेव सन्ततिरिव।
२. रूपकोत्प्रेक्षा।

दिवोऽपि सर्दाशितविभ्रमाया सितैकवेणीमिव वृद्धमूर्ते ।
स निर्जराणामधिप पतन्ती मुमोच दूरेण सुरस्रवन्तीम् ॥१७॥
सचित्रमन्तर्हितभानुकान्त्या प्रभोरमुष्योपरि मेघखण्डम् ।
सहेमकुम्भस्य बभार शोभा मयूरपत्रातपवारणस्य ॥१८॥
प्रयाणवेगानिलकृष्यमाणा घना विमानानि तदानुजग्मु ।
तदग्रवेदीमणिमण्डलांशुस्फुरन्मरुच्चापजिघृक्षयेव ॥१९॥
स वारिधेरन्तरनन्तनालस्फुरद्धरित्रीवलयारविन्दे ।
उपर्यटत्पट्पदकर्णिकाभ ददर्श मेरु सपयोदमिन्द्र ॥२०॥
अथ कुतस्तावदनन्तलोक श्रिया किमुच्चैस्त्रिदशालयो मे ।
इत्यस्य रोषादरुणाब्जनेत्र भुवाभ्युदस्तास्यमिवेक्षणाय ॥२१॥

दिव इति—वेगवशात् झगिति प्राप्ता गगनगङ्गामध प्रवहन्ती दूरेण दिवाधिपस्तत्याज । दिवोऽङ्गनाया पलितवेणीमिव वृद्धमूर्तेरनवधिस्वरूपाया । यथा कश्चित्तरुणोत्तम कृतचाटुशताया अपि जरत्या उत्पलिता वेणी नाकर्षयति । पक्षे सर्दाशितविभ्रमाया दर्शितपक्षिभ्रमाया[1] ॥१७॥ सचित्रमिति—अस्य जिनस्य नभोमार्गे गच्छत् उपरिस्थित मेघखण्ड स्थगितरविबिम्ब सचित्र पीतरक्तादिवर्णयुक्त स्वर्णकुम्भमण्डिताया श्रीकर्या श्रिय बभार । अत्र मेघखण्डश्रीकर्यो रविबिम्बकुम्भयोश्चोपमानोपमेयभाव. ॥१८॥ प्रयाणेति—तदागमनातिवेगवायुभि: प्रेर्यमाणा मेघा सुरविमानान्यनुगच्छन्ति स्म । ततश्च ज्ञायते विमानवेदिकापञ्चवर्णरत्नपटलकिरणनिर्मितेन्द्रचापाना गृहीतुमिच्छयेव । मेघाना हि शक्रचापाधिकारित्वादलकरणत्वाच्च ॥१९॥ स वारिधेरिति—अथानन्तरमप्रमाणगमनमतिक्रम्य महेन्द्रो मेरु ददर्श । किंविशिष्टम् । कृष्णाभ्रमण्डितम् । अतश्चानन्तलक्षणे नाले समुल्लसद्यद्भूवलय तदेव पद्म तस्मिन्नुपरिभ्राम्यद्भ्रमरपटलपिहितकर्णिकासदृश लवणसमुद्रमध्ये । अत्र भूवलयपद्मयो शेषनालयोर्मेरुकर्णिकयोर्भ्रमरमेघयोश्चोपमानोपमेयभाव ॥२०॥ अथ इति—सरोषया पृथिव्या स्वर्गलोकविलोकनाय वदनमिवोद्धर्वीकृतमेरु ददर्शेति षोडशभि सबन्ध । अरुण आदित्यसारथिरब्जश्चन्द्र-

मानो तैर ही रही हों ॥१६॥ जिस प्रकार तरुण पुरुष वृद्धा स्त्रीकी सफेद वेणीको भले ही वह हाव-भाव क्यों न दिखला रही हो दूरसे ही छोड़ देता है उसी प्रकार उस इन्द्रने अतिशय विशाल, एवं पक्षियोंका संचार दिखलानेवाले आकाशकी सफेद वेणीके समान पडती हुई आकाशगंगाको दूरसे ही छोड दिया था ॥१७॥ जाते-जाते भीतर छिपे हुए सूर्यकी कान्तिसे चित्र-विचित्र दिखनेवाला एक मेघका टुकडा भगवान्‌के ऊपर आ पहुँचा जो ऐसा जान पड़ता था मानो सुवर्ण कलशसे सहित मयूर-पिच्छका छत्र ही हो ॥१८॥ उस समय प्रयाणके वेगसे उत्पन्न वायुसे खिंचे हुए मेघ विमानोंके पीछे-पीछे जा रहे थे जो ऐसे जान पडते थे मानो उन विमानोंकी अग्रवेदीमे लगे हुए मणिमण्डलकी किरणोंसे उत्पन्न इन्द्रधनुषको ग्रहण करनेकी इच्छासे ही जा रहे हों ॥१९॥ तदनन्तर इन्द्रने मेघोंसे सहित वह सुमेरुपर्वत देखा जो कि समुद्रके बीच शेषनाग रूप मृणाल दण्डसे सुशोभित पृथिवीमण्डलरूपी कमलकी उस कर्णिकाके समान जान पडता था जिसपर कि काले-काले भौंरे मॅंडरा रहे हैं ॥२०॥ सुमेरु पर्वत क्या था ? मैंने अनन्तलोक—पाताललोक [पक्षमे अनन्त जीवोंके लोक] को तो

१ अत्रेद व्याख्यान सुगमम्—निर्जराणा देवाना पक्षे यूनामधिप स्वामी इन्द्र तरुणश्रेष्ठश्च पतन्तीमधोवहन्ती पक्षेऽधोलम्बमाना सुरस्रवन्तीमाकाशगङ्गाम्, सर्दाशितो विभ्रमो विहङ्गमसचारो यस्या सा तथाभूताया पक्षे सर्दाशितविलासाया अपि वृद्धमूर्तेर्विशालरूपाया पक्षे जरत्या दिवो गगनस्य, सितैकवेणीमिव श्वेतकेशवल्लरीमिव दूरेण मुमोच तत्याज । यथा कश्चित्तरुणश्रेष्ठो विभ्रम दर्शयन्त्या अपि कस्याश्चिज्जरत्या नायिकाया लम्बमाना सिता वेणी न स्पृशति तद्वदत्रापि योज्यम् । लिङ्गसाम्याद् दिव्शब्देन स्त्रिया कल्पनम् ।

परिस्फुरत्काञ्चनकायमाराद्विभावरीवासरयोर्भ्रमेण ।
विडम्बयन्तं नवदम्पतिभ्यां परीयमाणानलपुञ्जलीलाम् ॥२२॥

रवीन्दुरम्योभयपार्श्वमन्तर्धृतेन्द्रनीलद्युतिहेमकायम् ।
स चक्रशङ्खस्य पिशङ्गवस्त्रां त्रिविक्रमस्याकृतिमुद्वहन्तम् ॥२३॥

घनानिलोत्थैः स्थलपङ्कजानां परागपूरैरुपबृंहिताग्रम् ।
मुहुर्जिनस्यापततोऽतिदूरादुदञ्चितग्रीवमिवेक्षणाय ॥२४॥

दिगन्तरेभ्यो द्रुतमापतद्भिर्घनैर्घनाखण्डलचापचित्रैः ।
[1]उपात्तरत्नप्रकरोपहारैर्धरैरिवाद्रीन्द्रमुपास्यमानम् ॥२५॥

स्तावेव नेत्रे यत्र । अस्य स्वर्गस्योपर्यस्या भुवो रोपकारणमाह—तावन्निजस्थितिसंभावनाया मया तावदनन्त-लोको नागलोकोऽधस्तात्कृत कथं त्रिदशालयः स्वर्गः प्रभावसंपत्त्या उच्चैः स्यादिति पृथ्वी मेरुवदनेन स्वर्गं रोपाद्वीक्षते । अथ च येनानन्ता असंख्याता लोका भुवनान्यधः कृतानि भवन्ति तस्य संख्यातानां त्रयो[2]दशानां आलयः श्रियोत्कटः स्यादिति रोपकारणम् ॥२१॥ परिस्फुरदिति—देदीप्यमानहेमशरीरं रात्रिदिवसयोः प्रान्त-पर्यटनेन परिणीयमानजायापतिभ्यां प्रदक्षिणीक्रियमाणं ज्वलनज्वालाकलापमनुकुर्वाणम् । अत्र रात्रिस्त्रियोर्दिव-सपुरुषयोर्मेरुज्वलनयोश्चोपमानोपमेयभावः ॥२२॥ रवीन्दुरम्येति—नारायणस्य प्रतिमां धारयन्तमिव । किं-विशिष्टस्य । धृतसुदर्शनपाञ्चजन्यस्य । पीतवसनं किंविशिष्टं तमित्याह—सूर्यचन्द्राभ्यां प्रशस्यौ वामदक्षिण-भागौ यस्य तं तथाविधम् । मध्ये धृतमरकतशिलाकिरणजालश्यामलं स्वर्णमयम् । अत्र चक्रादित्ययोः शङ्ख-चन्द्रयोर्हेमकायवस्त्रयोरिन्द्रनीलत्रिविक्रमयोश्चोपमानोपमेयभावः[3] ॥२३॥ घनेति—प्रचण्डवातोद्धूताभिः स्थल-पङ्कजानां किञ्जल्कवात्याभिर्वर्धितशृङ्गम् । अथवागच्छतो जिनस्य दूरादेव दिदृक्षयोत्तम्भितग्रीवमिव[4] ॥२४॥ दिगिति—दिग्विभागेभ्यः शीघ्रमागच्छद्भिरिन्द्रचापचित्रितैर्मेघैराश्रीयमाणं गृहीतरत्नसंचयप्राभृतैः पर्वतैरिव ।

नीचे कर दिया। फिर यह त्रिदशालय—स्वर्ग [पक्षमें तीनगुणित दश—तीस जीवोंका घर] लक्ष्मी-द्वारा मुझसे उच्च—उत्कृष्ट [पक्षमें ऊपर] क्यों है ? इस प्रकार स्वर्गको देखनेके लिए पृथिवीके द्वारा उठाया हुआ मानो मस्तक ही था। उस सुमेरु पर्वतपर जो लाल-लाल कमल थे वे मानो क्रोधसे लाल-लाल हुए नेत्र ही थे ॥२१॥ उस सुमेरु पर्वतका सुवर्णमय शरीर चारों ओरसे चमचमा रहा था और दिन तथा रात्रि उसकी प्रदक्षिणा दे रहे थे इससे ऐसा जान पड़ता था मानो नवीन दम्पतिके द्वारा परिक्रम्यमाण अग्नि-समूहकी शोभाका अनुकरण ही कर रहा हो ॥२२॥ उस पर्वतके दोनों किनारे सूर्य और चन्द्रमासे सुशोभित थे, साथ ही उसका सुवर्णमय शरीर भीतर लगे हुए इन्द्रनीलमणियोंकी कान्तिसे समुद्भासित था अतः वह सुमेरु पर्वत चक्र और शंख लिये तथा पीतवस्त्र पहने हुए नारायणकी शोभा धारण कर रहा था ॥२३॥ उसका अग्रभाग मेघकी वायुसे उड़ी हुई स्थलकमलोंकी परागसे कुछ-कुछ ऊँचा उठ रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो आने वाले जिनेन्द्र भगवान्को दूरसे देखनेके लिए वह बार-बार अपनी गरदन ही ऊपर उठा रहा हो ॥२४॥ बड़े-बड़े इन्द्रधनुषोंसे चित्र-विचित्र मेघ दिग्दिगन्तसे आकर उस पर्वतपर छा जाते थे जिससे ऐसा जान पड़ता था कि मानो चूँकि यह पर्वतोंका राजा है अतः रत्नसमूहकी भेंट लिये हुए पर्वत ही इसकी

१ उपान्त घ० म० । २ त्रयश्च दश च इति द्वन्द्वे त्र्यधिका दश इति तत्पुरुषे वा 'त्रेस्त्रयः' इत्यनेन त्रिशब्दस्य स्थाने 'त्रयस्' इत्यादेशस्य नित्यत्वेन त्रयोदश इति रूपं भवति । न तु त्रिदश इति । अतः निर्दश त्रिदशा इति सुजर्थे बहुव्रीहिः कर्तव्यः । तेन त्रिदशानां त्रिंशत् आलयस्त्रिदशालय इति बोध्यम् । ३ रूपकानुप्राणि-तोपमा । ४ उत्प्रेक्षा ।

सिताब्दरुद्धार्धहिरण्यदेह शिर स्फुरत्पाण्डुशिलार्धचन्द्रम् ।
कपालमालाललितोडुपङ्क्त्या धृतार्धनारीश्वरमूर्तिशोभम् ॥२६॥

अमी भ्रमन्तो [1]वितता स्थलान्मे ग्रहा ग्रहीष्यन्ति सुवर्णकोटी ।
इतीव तेषा प्रसर निरोद्धु घनानुपात्ते दधत सचापान् ॥२७॥

नितम्बिनीः सततमेव भास्वत्कराभिमृष्टोच्चपयोधराग्रा. ।
समासजन्त सरिता प्रवाहैस्तटी सरत्स्वेदजलैरिवार्द्रा ॥२८॥

असह्यहेतिप्रसरै परेषा प्रभञ्जनात्प्राप्तहिरण्यलेशै ।
महस्विसैन्यै [2]कटकेष्वर्वद्भिर्निषेवित साधु महीधरेन्द्रम् ॥२९॥

अतश्च ज्ञायते सत्य पर्वतराजमिति ॥२५॥ सिताब्देति—क्वचिद्धवलमेघप्रच्छादितहेममयार्द्धशरीरम् उपदृश्यमानपाण्डुनामधेयशिलैवार्द्धचन्द्रो यस्य, कपालमालास्थाने ललिता शोभिता नक्षत्रपङ्क्तिस्तया । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—अर्द्धनारीश्वररूपधारिणम्[4] ॥२६॥ अमीति—सेन्द्रचापान्मेघान् धारयन्तम् । नक्षत्राणा तेज प्रच्छादनार्थमिति सभावयन्निव । अमी प्रान्ते विपर्यटन्तो वितता सर्वतो विस्तृता ग्रहा सोमसूर्यादय पक्षे ग्रहाश्चौरा छलान्ममान्यमनस्कस्य स्वर्णराशीश्चोरयिष्यन्तीति हेतो । यथा कश्चिच्चौराद् रक्षार्थं योधान् धत्ते[5] ॥२७॥ नितम्बिनीरिति—तटीराश्रयन्तम् । नितम्बिनीर्महाप्राग्भारयुक्ता सूर्यकिरणैरभिस्पृष्टतुङ्गमेघशृङ्गा नदीप्रवाहशीकरैरभिषिक्ता । यथा कश्चिद् विलासी निजहस्तस्पृष्टस्तनी सात्त्विकस्वेदाकुला नितम्बिनीराश्लिष्यति[6] ॥२८॥ असह्येति—सोमसूर्यादिज्योतिर्मण्डलैरुपासितम् । किंविशिष्टै अन्येषा दु सहकिरणप्रसरैर्वातवशाद् गृहातस्वर्णधूलिलवै शृङ्गेषु सर्पद्भि । अथ च साधु सत्यमेव महीधरेन्द्र जिगीषुमिव । जिगीषुरपि प्रतापवद्भि.

उपासना कर रहे हों ॥२५॥ उसका सुवर्णमय आधा शरीर सफेद-सफेद बादलोंसे रुक गया था, उसके शिखरपर [पक्षमे शिरपर] पाण्डुकशिला रूप अर्ध चन्द्रमा सुशोभित था और पास ही जो नक्षत्रोंकी पक्ति थी वह मुण्डमालाकी तरह जान पडती थी अत वह ऐसा मालूम होता था मानो उसने अर्धनारीश्वर—महादेवजीके ही शरीरकी शोभा धारण कर रखी हो ॥२६॥ ये घूमते हुए सब ओर व्याप्त ग्रह [पक्षमे चोर] मेरे स्थलसे सुवर्णकी कोटियाँ—उत्तम कान्तिके समूहको [पक्षमे करोडोंका स्वर्ण] ले जावेगे—इस भयसे ही मानो यह पर्वत उनका प्रसार रोकनेके लिए धनुष युक्त मेघोंको धारण कर रहा था ॥२७॥ जो उत्तम नितम्ब—मध्यभाग [पक्षमे जघन] से युक्त है, जिनपर छाये हुए मेघोंके अग्रभाग सूर्यकी किरणोंके द्वारा स्पृष्ट हो रहे है [पक्षमे जिनके उन्नत स्तन देदीप्यमान हाथसे स्पृष्ट हो रहे है] और जो निकलते हुए स्वेद जलके समान नदियोंके प्रवाहसे सदा आर्द्र रहती है—ऐसी तटी रूपी स्त्रियोंका वह पर्वत सदा आलिंगन करता था ॥ २८ ॥ चूँकि वह पर्वत महीधरों—राजाओं [पक्षमे पर्वतों] का इन्द्र था अतः असह्य शस्त्रोंके समूहको धारण करनेवाले [पक्षमे दूसरोंके असह्य किरणोसे युक्त], शत्रुओंको नष्ट करनेसे स्वर्ण खण्डोंका पुरस्कार प्राप्त करनेवाले, [पक्षमे वायुके वेगवश सुवर्णका अश प्राप्त करनेवाले] एव शिविरोंमे [पक्षमे

१ विततस्थलान्मे म० घ० । २ –ष्वतद्भि । ३ निषेवितु । ४ रूपकानुप्राणितोपमा । ५ उत्प्रेक्षा । ६ अत्रेद व्याख्यान सुगमम्—नितम्बिनीर्मध्यभागयुक्ता पक्षे प्रशस्तकटिपश्चाद्भागयुक्ता सततमेव निरन्तरमेव भास्वतः सूर्यस्य करैं किरणैरभिमृष्टा सम्यक्स्पृष्टा उच्चपयोधराग्रा उन्नतमेघाग्रा यासा ता पक्षे भास्वता देदीप्यमानेन करेण हस्तेनाभिमृष्टा सम्यक् समर्दिता उच्चपयोधराग्रा पीवरस्तनाग्रा यासा ता, क्षरत्स्वेदजलैरिव प्रकटीभवत्स्वेदसलिलैरिव आर्द्रा सजला पक्षे सस्वेदशरीरा तटी पक्षे लिङ्गस्य विशेषणाना वा सादृश्येन समासोक्तिवशात् नायिका समासजन्त समाश्लिष्यन्तम् । विटमिव स्थितमिति भाव ।

मरुद्ध्वनद्वंशमनेकताल रसालसंभावितमन्मथैलम् ।
धृतस्मरातङ्कमिवाश्रयन्त वन च गान च सुराङ्गनानाम् ॥३०॥
तटैरुदञ्चन्मणिमण्डलांशुच्छटैरुदूढोच्छिखबर्हिशङ्काम् ।
सचेतसोऽपि प्रथयद्भिरुच्चैः प्रतारितानेन विडालपोतम् ॥३१॥
विशालदन्त घनदानवारि प्रसारितोद्दामकराग्रदण्डम् ।
उपेयुषो दिग्गजपुङ्गवस्य पुरो दधान प्रतिमल्ललीलाम् ॥३२॥

सैन्यै स्कन्धावारे प्रविशद्भि प्रचण्डप्रहरणप्रसरै परेषा शत्रूणा प्रभञ्जनाद्विध्वसनात् प्राप्तसुवर्णकोशैर्निषेव्यते[1] ॥२९॥ मरुदिति—अप्सरसा गान भजमानम् । किंविशिष्टमित्याह—सहचरदेवैर्ध्वन्यमानवशवीणादिकम्, अनेकतालमसख्यातलयम्, रसयुक्तसत्कृतमन्मथ मदनोद्रेककारकगीतिविशेष यत्र । अतश्च गृहीतकामभयमिव तद्योग्य वनमप्याश्रयन्तम् । तदपि किंविशिष्टमित्याह—वातपूरणवशाच्छब्दायमानकीचकम्, असख्याततालतमालादिकम्, सरसगृहीतमदनैलम्[2] ॥३०॥ तटैरिति—विप्लावितासख्यमार्जारबालम् । कैरित्याह—तटैरुल्लसन्मणिपञ्चवर्णमण्डलमयूखनिकरै सचेतनस्यापि पुरुषस्य, उद्गतचूडस्य कलापिनो भ्रम समुत्पादयद्भि किं पुनर्मुग्धविडालबालानाम्[3] ॥३१॥ विशालेति—आगच्छत ऐरावतस्याग्रे प्रतिगजभ्रम वितन्वानम् । किं-

शिखरोपर] घूमनेवाले तेजस्वी सैनिक [पक्षमें ज्योतिष्क देवोंका समूह] उसकी सेवा कर रहे थे यह उचित ही था ॥ २९ ॥ वह पर्वत मानो कामका आतंक धारण कर रहा था अतः जिसमें वायुके द्वारा वंश शब्द कर रहे है, जिसमे ताड़के अनेक वृक्ष लग रहे है और जिसमें आम्र वृक्षोंके समीप मदन तथा इलायचीके वृक्ष सुशोभित है ऐसे वनका एव जिसमे देव लोग बाँसुरी बजा रहे है, जो तालसे सहित है, रससे अलस है, और कामवर्धक गीतबन्ध विशेषसे युक्त है ऐसे देवागनाओंके गानका आश्रय लिये हुए था ॥ ३० ॥ उस पर्वतके तटोंसे ऊपरकी ओर अनेक वर्णके मणियोंकी किरणें निकल रही थीं जिससे अच्छे-अच्छे बुद्धिमानोंको भी सशय हो जाता था कि कहीं ऊपर अपना कलापका भार फैलाये हुए मयूर तो नहीं बैठा है ? वह पर्वत अपने इन ऊँचे-ऊँचे तटोंसे विलावके बच्चोंको सदा धोखा दिया करता था ॥ ३१ ॥ वह सुमेरु पर्वत सम्मुख आनेवाले ऐरावत हाथीके आगे उसके प्रतिपक्षीकी

१ अत्रेद व्याख्यान सुगमम्—परेषामन्येषाम् असह्यो दु खेन सोढु शक्यो हेतीना किरणाना प्रसर समूहो येषा तै, पक्षेऽसह्यो हेतीनामायुधाना प्रसरो येषा तै । प्रभञ्जनाद् वायुवशात्प्राप्ता हिरण्यलेशा पवनोत्पतितस्वर्णांशा येषा तै पक्षे परेषा शत्रूणा प्रभञ्जनाद् विध्वसनात् पुरस्काररूपेण प्राप्ता लब्धा हिरण्यलेशा स्वर्णखण्डानि यैस्तै । कटकेषु शिखरेषु पक्षे शिविरेषु अटद्भिर्भ्रमद्भि महस्विना ज्योतिषा देवाना सैन्यानि समूहास्तै पक्षे महस्विसैन्यैस्तेजस्विसैन्यै साधु सत्य यथा स्यात्तथा निषेवित सहित पक्षे समुपासित महीधरेन्द्र पर्वतपतिं पक्षे राजेन्द्रम् ॥ श्लिष्टोपमा ॥ २ अस्येद सुगम व्याख्यानम्—धृतस्मरातङ्कमिव धृतकामभयमिव तन्निवारणयोग्य वन सुराङ्गनाना गान देवीजनगीत चाश्रयन्त सेवमानम् । अथोभयो सादृश्यमाह—मरुता पवनेन ध्वनन्त शब्द कुर्वाणा वशा कीचका यस्मिंस्तत्तथाभूत वन, मरुद्भिर्देवैर्वाद्यमानत्वेन ध्वनन्तो वशा मुरल्यो यस्मिंस्तत्तथाभूत गानम् । अनेके ताला डलयोरभेदात्ताडवृक्षा यस्मिंस्तथाभूत वन अनेके ताला स्वरावरोहारोहक्रमा यस्मिंस्तथाभूत गानम् । रसालैराम्रै सभावित सहिता मन्मथा मदनवृक्षा एलाश्चन्द्रवालाश्च यस्मिंस्तत्तथाभूत वन रसेनालस रसालस, भाविता सद्भाव प्रापितो मन्मथैला मदनविकारोत्तेजकगीतबन्धविशेषो यस्मिंस्तत्तथा गानम् । श्लेषानुप्राणितोत्प्रेक्षालकार । ३ अस्येद सुगम व्याख्यानम्—उपेयुष आगतवतो दिग्गजपुङ्गवस्यैरावतस्य पुरोऽग्रे प्रतिमल्लस्य प्रतिगजस्य लीला शोभा दधानम् । अथोभयो सादृश्यमाह—विशाला विपुला दन्तास्तटाश्चत्वारो गजदन्तपर्वता वा यस्य त सुमेरुम्, विशाला महान्तो दन्ता रदना यस्य तमैरावतम्, घना प्रचुरा दानवानामरयो—देवा यस्मिंस्त सुमेरु पक्षे घन प्रभूत दानवारि मदजल यस्य तमैरावतम्, प्रसारिता उद्दामकराग्रदण्डा उत्कटकिरणाग्रदण्डा यस्य त सुमेरु पक्षे प्रसारितो वितानित उद्दामकराग्रदण्ड उन्नतशुण्डाग्रभागो यस्य तम् । श्लिष्टोपमा ॥

अधिश्रिय नीरदमाश्रयन्ती नवान्नुदन्तीमतिनिष्कलाभान् ।
स्वनैर्भुजङ्गान् शिखिना दधान प्रगल्भवेश्यामिव चन्दनालीम् ॥३३॥
गजभ्रमान्मुग्धमृगाधिनाथैर्विदार्यमाणान्नखरप्रहारै ।
तडिच्छलान्निर्गलदस्रधारान्दधानमामेखलमम्बुवाहान् ॥३४॥

विशिष्टमित्याह—विशिष्टा उच्चैस्तरा शाला एव दन्ता यस्य, पक्षे महादन्तम्, घना मेघा एव दानवारि मदजल यस्य त तथाविध [पक्षे घना बहवो दानवारयो देवा यस्मिस्तम्, प्रसारिता उद्दामकराग्रा एव उत्कटकिरणाग्रा एव दण्डा यस्मिस्त] पक्षे प्रचण्डाग्रशुण्डादण्डम् ॥३२॥ अधिश्रियमिति—चन्दनवृक्षश्रेणी धारयन्तम् अधिकश्रीक मेघ स्पृशन्तीम् नवान् सर्पान् दर्पात्तमयूरकेकाभिस्त्रासयन्तीमथ च श्रीखण्डललाटिका धारयन्ती प्रगल्भवेश्यामिव, तामपि कि कुर्वन्तीम् । नीरद निर्गता पतिता रदा दन्ता यस्य त तथाभूत जरन्तमपि यतोऽधिश्रियमधिकलक्ष्मीक समुपासमाना तरुणान् भुजङ्गान् शिखिना चेटाना वचनैर्निष्कासयन्तीम्, किंविशिष्टान् तरुणानित्याह—अतिनिष्कलाभान् अतिक्रान्तो निष्कस्य सुवर्णस्य लाभो येभ्यस्तान् निर्द्रव्यानित्यर्थ । प्रगल्भत्वात्तान्मुखेन न निष्कासयति किन्तु दासादिवचनेन[1] ॥३३॥ गजेति—आमेखल नितम्बवासिनो मेघान् बिभ्राण गर्जितादिभ्रान्तैर्बालसिंहैर्बाध्यमानान् नखप्रहारैस्ततो विद्युद्व्याजान्निर्गलितरुधिर-

---

शोभा धारण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार ऐरावत हाथी विशालदन्त—बड़े-बडे दाँतोंसे युक्त था उसी प्रकार वह पर्वत भी विशाल दन्त—बडे-बडे तट अथवा बड़े-बड़े चार गजदन्त पर्वतोंसे युक्त था, जिस प्रकार ऐरावत हाथी घनदानवारि—अत्यधिक मद जलसे सहित था उसी प्रकार वह पर्वत भी घनदानवारि—बहुत भारी देवोंसे युक्त था और जिस प्रकार ऐरावत हाथी अपने उत्कट कराग्रदण्ड—शुण्डाग्रदण्डको फैलाये हुए था उसी प्रकार वह पर्वत भी अपने उत्कट कराग्र—किरणाग्र दण्डको फैलाये हुए था ॥ ३२ ॥ वह पर्वत चन्दन वृक्षोंकी जिस पंक्तिको धारण कर रहा था वह ठीक प्रौढवेश्याके समान जान पडती थी । क्योंकि जिस प्रकार प्रौढवेश्या अधिश्रिय—अधिक सम्पत्तिवाले पुरुषका भले ही वह नीरद—दन्तरहित—वृद्ध क्यों न हो आश्रय करती है उसी प्रकार वह चन्दन वृक्षोंकी पक्ति भी अधिश्रियं—अतिशय शोभा सम्पन्न नीरद—मेघका आश्रय करती थी—अत्यन्त ऊँची थी और जिस प्रकार प्रौढ वेश्या अतिनिष्कलाभान्—जिनसे धन-लाभकी आशा नहीं है ऐसे नवीन भुजंगान्—प्रेमियोंको शिखिनाम्—शिखण्डियों—हिंजडोंके शब्दों द्वारा दूर कर देती है उसी प्रकार वह चन्दन वृक्षोंकी पक्ति अतिनिष्कलाभान्—अतिशय कृष्ण नवीन भुजंगान्—सर्पोंको शिखिनाम्—मयूरोंके शब्दों द्वारा दूर कर रही थी ॥ ३३ ॥ वह पर्वत अपनी मेखलापर बिजलीसे सुशोभित जिन मेघोंको धारण कर रहा था वे ऐसे जान पडते थे मानो मूर्ख सिंहोंने हाथीके भ्रमसे अपने नखोंके द्वारा उनका विदारण ही किया हो और बिजलीके बहाने उनमे खूनकी

---

१ अत्रेद व्याख्यान सुगमम्—प्रगल्भवेश्यामिव प्रौढवाराङ्गनामिव चन्दनाली चन्दनवृक्षश्रेणी धारयन्तम् । अथोभयो सादृश्यमाह—अधिका श्री शोभा यस्य त तथाभूता नीरद नीर ददातीति नीरदस्त मेघम् आश्रयन्तीमुत्तुङ्गत्वेन सेवमानाम्, पक्षे अधिका श्री सम्पत्तिर्यस्य त लक्ष्मीसपन्न निर्गता रदा यस्य त तथाभूत पतितदन्त वृद्धमित्यर्थ आश्रयन्ती रममाणाम् । नवान् नूतनान्, अतिनिष्कला मलिना कृष्णा आभा येषा तान् भुजङ्गान् सर्पान् शिखिना मयूराणा स्वनै शब्दै नुदन्ती प्रेरयन्तीम्, पक्षेऽतिक्रान्तो निष्कस्य स्वर्णस्य लाभो येभ्यस्तान् निर्द्रव्यान् नवान् तरुणान् भुजङ्गान् विटान् शिखिना दासानां स्वनैर्वचनैर्नुदन्ती निष्कासयन्तीम् श्लिष्टोपमा ।

जिनागमे प्राज्यमणिप्रभाभि प्रभिन्नरोमाञ्चमिव प्रमोदात् ।
[१]समीरणान्दोलदबालतालैर्भुजैरिवोल्लासितलास्यलीलम् ॥३५॥
अकृत्रिमैश्चैत्यगृहैर्जिताना कृतः पवित्रोऽयमिति प्रयत्नात् ।
सुरेश्वरेणानमता प्रदत्तप्रतिष्ठयेवोच्छिरस महत्या ॥३६॥
विलङ्घ्य पन्थानमथामराणां पतिः स निष्कम्पचमूध्वजाग्रः ।
नितान्तवेगेन तमुत्सुकत्वात्किलागत संमुखमाससाद ॥३७॥ [इति कुलकम्]
उपेयुषोऽनन्तपथाध्वनीनाननेनसस्ताञ्शिरसा प्रतीच्छन् ।
निरन्तराया विबुधानुवृत्ते फल व्यनक्ति स्म तदामराद्रि ॥३८॥
हरेर्द्विपो हारिहिरण्यकक्षः क्षरन्मदक्षालितशैलशृङ्ग ।
बभौ तडिद्दण्डविहारसारः शरत्तडित्वानिव तत्र वर्षन् ॥३९॥
सलीलमैरावणवामनाद्यैर्धृतानि यैरेव गजैर्जगन्ति ।
स्थिर दधत्तानपि मूर्ध्नि मेरुर्धराधराख्यामधरीचकार ॥४०॥

धारान् ॥३४॥ जिनेति—जिनागमप्रमोदादनेकरत्नकिरणाङ्कुरै रोमाञ्चितमिव । प्रकटितनाटयलीलमिव, कै । वातान्दोलितोत्तालतालैर्भुजरूपै यदि वा भुजै किंविशिष्टै । प्रकटितमानै ॥३५॥ अकृत्रिमैश्चैत्येति—उच्छिरस-मूर्द्धशृङ्ग कया । अनन्यसाधारणया महेन्द्रदत्तया महाप्रतिष्ठया । किं कुर्वता महेन्द्रेणेत्याह—नमस्कार कुर्वता । अकृत्रिमै कर्तृव्यापारविवर्जितैर्जिनचैत्यालयैरय पवित्रीकृत सर्वपूज्य इत्यर्थ इति महेन्द्रनतिहेतु[२] ॥३६॥ विलङ्घ्येति—अथानन्तरमनन्त गगनपथमतिक्रम्यातिवेगेन चित्रलिखितायमानसेनाध्वजपटो मेरुमस्तक हरि. प्राप जिनदर्शनश्रद्धालुमिव तथात्युत्सुकत्वात्समुखागतमिव[३] ॥३७॥ उपेयुष इति—तदा मेरुर्विबुधानुवृत्ते शिष्टाचरणस्य फल स्वरूप दर्शयामास । किं कुर्वन्नित्याह—तान् देवान् शिरसा प्रतीच्छन् मस्तके स्थापयन् अनेनसो निष्पापान् पक्षे अनन्तेन यथा दूरमार्गेणागतान् ॥३८॥ हरेरिति—तदा सुवर्णवस्त्रामण्डितो गलन्मद-जलस्नपितशैलशृङ्ग ऐरावतो विद्युन्मालामण्डितशुभ्रशारदाभ्रसदृश शुशुभे । अत्र विद्युत्कक्षयो शारदाभ्रैरा-वतयोश्चोपमानोपमेयभाव ॥३९॥ सलीलमिति—मेरुर्धरा पृथ्वी धरतीत्याख्यामप्रमाणीचकार । न केवल धरामेव दधाति धराधरानपि दधातीत्यर्थ । किं कुर्वन्नित्याह—यैरैरावतमुख्यैरष्टभिर्दिग्गजैर्भुवनानि धृतानि

धारा ही बह रही हो ॥ ३४ ॥ वह पर्वत उत्तमोत्तम मणियोंकी किरणोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो जिनेन्द्र भगवान्का आगमन होनेवाला है अतः हर्षसे रोमांचित ही हो रहा हो और वायुसे हिलते हुए बड़े-बड़े ताड़ वृक्षोंसे ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो भुजाएँ उठाकर नृत्यकी लीला ही प्रकट कर रहा हो ॥ ३५ ॥ यह पर्वत जिनेन्द्र भगवान्के अकृत्रिम चैत्यालयोंसे पवित्र किया गया है—यह विचार प्रयत्नपूर्वक नमस्कार करनेवाले इन्द्रने जो इसे बड़ी भारी प्रतिष्ठा दी थी उससे ही मानो वह पर्वत अपना शिर—शिखर ऊँचा उठाये था ॥ ३६ ॥ जिसकी सेनाका ध्वजाग्र अत्यन्त निश्चल है ऐसा इन्द्र मार्ग तय कर इतने अधिक वेगसे उस सुमेरु पर्वत पर जा पहुँचा मानो उत्सुक होनेसे वह स्वयं ही सामने आ गया हो ॥ ३७ ॥ उस समय वह पर्वत आकाशमार्गसे समीप आये हुए निष्पाप देवोंको अपने शिर-पर [शिखरपर] धारण कर रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो सदासे विबुधों—देवों [पक्षमें विद्वानों] की जो संगति करता आया है उसका फल ही प्रकट कर रहा हो ॥ ३८ ॥ जिसके गलेमें सुवर्णकी सुन्दर मालाएँ पड़ी हैं और जिसके झरते हुए मदसे सुमेरु-पर्वतका शिखर धुल रहा है ऐसा ऐरावत हाथी उस पर्वत पर इस प्रकार सुशोभित हो रहा था मानो बिजलीके संचारसे श्रेष्ठ बरसता हुआ शरद ऋतुका बादल ही हो ॥ ३९ ॥ जिन ऐरावत तथा वामन आदि हाथियोंके द्वारा तीनों लोक धारण किये जाते हैं उन हाथियोंको

१ समीरणेन वायुना आन्दोलन्तो येऽबालताला महान्तस्ताडतरवस्तैः । २ उत्प्रेक्षा । ३ उत्प्रेक्षा ।

सविक्रम क्रामति हास्तिके यन्ननाम यो नाम मनागिनरीन्द्र ।
असशय सा जिनभक्तिरेव स्थिरा चकारास्य महाचलत्वम् ॥४१॥
मदेन मूर्धन्यमणिप्रभाभिर्विनिर्गतान्तस्तमसेव गण्डात् ।
निरुद्धदृष्टिप्रसरा सुराणा शनै शनैर्गन्धगजा प्रसस्रु ॥४२॥
हिरण्यभूभृद्द्विरदैस्तदानी मदाम्बुधारास्नपितोत्तमाङ्ग ।
स दृष्टपूर्वोऽपि सुरासुराणामजीजनत्कज्जलशैलशङ्काम् ॥४३॥
मदाञ्जनेनालिखिता गजेन्द्रै सहेषमुत्क्षिप्तखुराग्रटङ्का ।
हया किलोच्चार्यशिलासु[1] जैनीमिहोत्किरन्ति स्म यश प्रशस्तिम् ॥४४॥
[2]कुशाञ्चनै. किंचिदवाञ्चितास्या पुर प्रविष्टापरकायमश्वा ।
इह प्लुतोल्लङ्घनवल्गनाद्यैर्मुदेव लास्य पुरतोऽस्य चक्रु ॥४५॥

तानप्यज्ञातपरिश्रम निष्प्रकम्प मस्तके धारयन्निति ॥४०॥ सविक्रममिति—यत्सदर्पोद्भूट हस्तिचक्रे क्रीडति सति न किंचिदपि मेरुश्चकम्पे तदसशय निश्चित मन्ये अस्य जिन प्रति या निश्चला भक्ति सैव महाचलत्व पर्वतेन्द्रप्रतिष्ठा नि प्रकम्पत्व वा चकार ॥४१॥ मदेनेति—मन्द मन्द गन्धगजा प्रचेलु । किंविशिष्टा इत्याह—निरुद्धो दृष्टिप्रसरो येषा, मदेन कृष्णत्वात्कपोलमध्यविनिर्गतध्वान्तेनेव । कथ निर्गत तम इत्याह—मूर्धन्यमणिप्रभाभि मुक्ताकिरणप्रणोदनाभि । मदान्धा इत्यर्थ ॥४२॥ हिरण्येति—हेमभूमिवर्षुकैर्गजैर्मदजलधाराभि सर्वत श्यामलितस्तदा हेमाद्रिरनेकशो दृष्टोऽपि देवगणस्याञ्जनगिरिभ्रममुत्पादयामास ॥४३॥ मदेति—तदा देवाश्वा रत्नशिलासु जिनयश प्रशस्तिवर्णावलिं लिपिप्रूत्कीर्णयाचक्रु । किंविशिष्टामित्याह—प्रथमतो मदमषीरसेनालिखिता करिभि । किंविशिष्टा इत्याह—उत्क्षिप्ता आहता खुराग्रा एव टङ्का यै । सहेष हेषारवमिश्रम् । अतश्च हेषारवशब्देनोच्चार कृत्वोत्किरन्ति ॥४४॥ कुशाञ्चनैरिति—अस्य जिनस्य पुरतो हयाप्लुताद्यैर्गतिविशेषैर्नृत्यमिव चक्रु । किंविशिष्टा इत्याह—वल्गाकर्षणै स्तोकमात्र वक्रितमुखा पूर्वकाये पश्चिमकायप्रवेशं

भी यह पर्वत अपने शिखर पर बडी दृढताके साथ अनायास ही धारण कर रहा था इसलिए इसने अपना धराधर नाम छोड दिया था—अब वह 'धराधरधर' हो गया था ॥ ४० ॥ हाथियोंका समूह बडे पराक्रमके साथ इधर-उधर घूम रहा था फिर भी वह पर्वत रचमात्र भी चंचल नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि इसमें कुछ भी सन्देह नही कि जिनेन्द्र भगवान्की दृढ भक्तिने ही इस पर्वतको महाचल—अत्यन्त अचल [पक्षमे सबसे बडा पर्वत] बनाया था ॥ ४१ ॥ देवोंके मदोन्मत्त हाथी नेत्र बन्द कर धीरे-धीरे मद झरा रहे थे । उनका वह काला-काला मद ऐसा जान पडता था मानो मस्तकके भीतर स्थित मणियोंकी प्रभाके द्वारा गण्डस्थलसे बाहर निकला हुआ अन्तरगका अन्धकार ही हो ॥ ४२ ॥ हाथियोंने अपने मदजलकी धारासे जिसका शिखर तर कर दिया है ऐसा वह सुवर्णगिरि यद्यपि पहलेका देखा हुआ था फिर भी उस समय सुर और असुरोंको कज्जलगिरिकी शका उत्पन्न कर रहा था ॥ ४३ ॥ पर्वतकी शिलाओं पर हाथियोंका मद फैला था और घोड़े हिनहिनाकर उनपर अपनी टापे पटक रहे थे जिससे ऐसा जान पडता था मानो हाथियोंके द्वारा मदरूपी अजनसे लिखी हुई जिनेन्द्रदेवकी कीर्तिगाथाको घोड़े ऊपर उठायी हुई टापरूपी टाँकियोंके द्वारा जोर-जोरसे उच्चारण कर उकीर ही रहे हों ॥ ४४ ॥ लगाम खींचनेसे जिनके मुख कुछ-कुछ ऊपर उठे हुए हैं ऐसे घोड़े अपने शरीरका पिछला भाग अगले भागमें प्रविष्ट कराते हुए कभी ऊँची छलॉग भरने लगते थे और कभी तिरछा चलने लगते थे जिससे ऐसे जान पडते थे

१ किलाहार्यशिलासु ख० ग० घ० च० छ० ज० म० । अहार्य पर्वतस्तस्य शिलासु । २ कशाञ्चनै. घ० प० छ० ।

कृतश्रमा ये नववीथिकासु[1] तुरङ्गमा [2]साधितपञ्चधाराः ।
इहोच्चनीच चरणैस्त एव विलङ्घ्य चान्ये नभसीव जग्मु ॥४६॥
दृढैस्तुरङ्गाग्रखुरप्रहारैरिहोच्छलन्तो ज्वलनस्फुलिङ्गा ।
बभुर्विभिद्येव मही विभिन्नफणीन्द्रमौलेरिव रत्नसङ्घा ॥४७॥
समन्तत काञ्चनभूमिभागास्तथा रथैश्चुक्षुदिरे सुराणाम् ।
यथा विवस्वद्रथनेमिधारा पथेऽरुणस्यापि मतिभ्रमोऽभूत् ॥४८॥
नितम्बमाघ्राय मदादुदञ्चच्छिर. समाकुञ्चितफुल्लघोणम् ।
अनुव्रजन्त चमरी महोक्षमिहारुणत्कष्टमहो महेश[3] ॥४९॥

यथा स्यादिति सकुचिता इत्यर्थ ॥४५॥ कृतश्रमा इति—अन्ये केचित्तुरङ्गा साधिता शिक्षिता धौरितवल्गितोत्तेजितोत्तेरितप्लुतलक्षणा पञ्चधारा यैस्ते तद्विधा । यदि वा विक्रम-वल्गित-उपकण्ठ-जव-उपजवाख्या पञ्चधारा । पञ्च सान्नाह्यवीथय । तथाहि—काक मायूर जव उपजवश्चेति । चतस्र उपवाह्यवीथय तथाहि नीचैर्गत तारौष्ट्र स्खलितमर्द्धस्खलित चेति । अन्ये त्वेवमाहु चतस्र सान्नाह्यवीथय । तथाहि ततुरस्र काक मायूरमर्द्धमायूरमिति । पञ्च उपवाह्यवीथय —वल्गनमनीचैर्गत लङ्घन धारण तारौष्ट्रमिति । एतासु नवसु वीथिषु कृताभ्यासा । उच्च नीच विलङ्घ्य वेगेन नभसेव गता ॥४६॥ दृढैरिति—इह मेरुशिलासु तुरङ्गमखुराभिघातैरग्निकणा उद्गच्छन्त शुशुभिरे महाभिघातेन पृथ्वी भेदयित्वेव शेषमौलिसहस्ररत्नसमूहा इव ॥४७॥ समन्तत इति—रथचक्रचक्रैस्तथा सुवर्णभूरजास्यालोड्याचक्रिरे यथा मेरुपर्यन्तगामिनो रविसारथेरपि चक्रधारामार्गविषये मतिमोहो बभूव । सर्वत्राप्यसख्या रविरथमार्गसदृशा मार्गा बभूवुरित्यर्थ ॥४८॥ नितम्बमिति—वृषभध्वज कष्टेन निजवाहन वृष रुरोध । किंविशिष्टमित्याह—मदान्नितम्बमाघ्रायोद्धृत-

मानो भगवान्‌के आगे आनन्दसे नृत्य ही कर रहे हों ॥ ४५ ॥ पाँच प्रकारकी चालोंको सीखनेवाले जो घोड़े नव प्रकारकी वीथियोंमें चलते समय खेद उत्पन्न करते थे वे ही घोड़े इस सुमेरु पर्वतपर ऊँचे-नीचे प्रदेशोंको अपने चरणों द्वारा पार कर आकाशमें इतने वेगसे जा रहे थे मानो दूसरे ही हों ॥ ४६ ॥ घोड़ोंके अगले खुरोंके कठोर प्रहारसे जो अग्निके तिलगे उछट रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो खुरोंके आघातने पृथिवीका भेदन कर शेषनागका मस्तक भी विदीर्ण कर दिया हो और उससे रत्नोंके समूह ही बाहर निकल रहे हों ॥ ४७ ॥ देवोंके रथोंने सुवर्णमय भूमिके प्रदेशोंको चारों ओरसे इस प्रकार चूर्ण कर दिया था कि जिससे सूर्यके रथके मार्गमें अरुणको भी भ्रम होने लगा था ॥ ४८ ॥ महेश नामक देवकी सवारीका बैल चमरी मृगके नितम्बको सूँघ मदसे शिरको ऊँचा उठा तथा नाकके नथुनोंको फुलाकर जब उसके पीछे-पीछे जाने लगा तब महेश उसे बड़ी कठिनाईसे रोक सका ॥ ४९ ॥

१ वीथयो नवाश्वाना सर्वत्र धारादार्ढ्यार्थ परिमिता प्रचारदेशा । ताश्च तिस्र इत्येके नवेत्यन्ये । तत्रोत्तरपक्षमाश्रित्योक्त कविना नववीथिकास्विति । यथाह भोज —'वीथ्यस्तिस्रोऽथ धाराणा लघ्वी मध्योत्तमा क्रमात् । तासा स्याद्धनुषा मानमशीतिर्नवति शतम् ॥ श्रेष्ठमध्योत्तमाना तु वाजिना वीथिका स्मृता । नवाना कथिता वीथ्यो दुष्टाना क्रमणक्रमे ॥ अन्येषामपि सर्वत्र गतिदार्ढ्यार्थमीरिता ।' 'समोन्नता सा विषमाम्बुकीर्णा शुद्धा नताग्रा तृणवीरुदाढ्या । स्थाणुप्रकीर्णोपलसप्रकीर्णा पार्श्वोन्नताख्या नवधेति वीथ्य ॥ सर्ववीथीषु यो वाजी दृढशिक्षासमन्वित । तेन राजा रणे नित्य मृगयाया मुद व्रजेत् ॥' अन्ये तु उरसाल्यादयो गतिविशेषा वीथय इत्याहु । 'उरसाली वरश्वाली पृथुलो मध्यनामक । आलीढ शोभनैरङ्गै प्रत्यालीढस्तथापर । उपघेनव उक्त च पादचाली च सर्वग । निर्दिष्टा वीथयस्त्वेता ।' इति । २ धारा गतिभेदा । 'अश्वाना तु गतिधारा विभिन्ना सा च पञ्चधा । आस्कन्दित धौरितक रेचित वल्गित प्लुतम् ।' इति वैजयन्ती 'गतयोऽमू, पञ्चधारा ' इत्यमरश्च । अश्वशास्त्रे तु सज्ञान्तरेणोक्ता 'गति पुला चतुष्का च तद्वन्यव्यजवा परा । पूर्णवेगा तथा चान्या पञ्च धारा प्रकीर्तिता ॥' ३ महेभ म० छ० ।

द्युयोषितां कर्षितकुन्तलाग्रा स्तनोरुजङ्घाजघन स्पृशन्त ।
शनैरभीका इव संविचेरुस्तरङ्गिणीतीरसरोजवाता ॥५०॥
वियोगनामापि न सोढुमीशं दिवः स्वमुद्यानमिवावतीर्णम् ।
हरि प्रपेदे सुमनोऽभिराम वन स तस्मिन्[1] पृथुपाण्डुकाख्यम् ॥५१॥
अथो जिनेन्द्रानुचरा सुराणामपास्तविस्तीर्णकुथच्छलेन ।
विचित्रकर्मावरणैरशेषैश्चिरादमुच्यन्त मतङ्गजेन्द्रा ॥५२॥
स वारितो मत्तमरुद्विपौघ प्रसह्य कामश्रमशान्तिमिच्छन् ।
रजस्वला अप्यभजत्स्रवन्ती रहो मदान्धस्य कुतो विवेक ॥५३॥
गजो न वन्यद्विपदानदिग्ध पपौ पिपासाकुलितोऽपि तोयम् ।
स्वजीवितेभ्योऽपि महोन्नतानामहो गरीयानभिमान एव ॥५४॥

मुख चमरी गामनुगच्छन्तम्[3] ॥४९॥ द्युयोषितामिति—तदा नदीतटपद्मगन्धवाता मन्द मन्द सचरन्ति स्म नि शङ्का इव । किं कुर्वन्तो नि शङ्का इत्याह—देवाङ्गनाना स्तनभारोरुयुग्मादिक सर्वाङ्ग सस्पृशन्तो विलुलितालका । अन्यो य कश्चित्परस्त्रीणा कुन्तलाकर्षणाङ्गस्पर्शादिक करोति स भीरुक स्याद् वाताश्च न तथा ॥५०॥ वियोगेति—तत्र मेरुमस्तके विशाल पाण्डुकनामधेय सौधर्मेन्द्रो वनमाससाद । अतश्च शक्रविरह सोढुमसमर्थं निज स्वर्गवनमिवाग्रतोभूय तत्र सप्राप्तम् ॥५१॥ अथो इति—अथानन्तर देवगजेन्द्रा रत्नकम्बलैर्मुमुचिरेऽनादिससारोपार्जितकर्मपटलैरिव पञ्चवर्णत्वान्नानाप्रकारकर्मावरणोपमानम् ॥५२॥ स इति—स देवगजसमूहोऽत्यर्थमार्गश्रमोपशममिच्छन् पद्ममकरन्दकर्दमिला नदीर्जगाहे वारित पानीयात्, निषिद्ध । अथ चोक्तिलेश —यथा कश्चिन्मदिरामत्तो मदनकष्टोपशान्ति वाञ्छन् ऋतुमतीरपि स्रवन्ती पुष्पवर्षिणीरपि सिषेवे । अथवा युक्तमेतन्मदान्धस्य विचारो नास्तीति[4] ॥५३॥ गज इति—कश्चिद्गजो वन्यकरिमदमिश्रमति-

नदी तटके कमलोंसे सुवासित पवन, कामी पुरुषोंके समान देवांगनाओंके केश खींचते एवं उनके स्तन, ऊरू, जंघा और जघनका स्पर्श करते हुए धीरे-धीरे चल रहे थे ॥ ५० ॥ तदनन्तर इन्द्र फूलोंसे सुन्दर उस विशाल पाण्डुक वनमें पहुँचा जो कि ऐसा जान पडता था मानो वियोगका नाम भी न सह सकनेके कारण स्वर्गसे अवतीर्ण हुआ उसका वन ही हो ॥ ५१ ॥ तदनन्तर देवोंके हाथियों परसे बड़ी-बडी झूलें उतारकर नीचे रखी जाने लगीं जिससे ऐसा जान पडता था कि चूँकि हाथी जिनेन्द्रदेवके अनुचर थे अतः मानो चिरकालके लिए समस्त कर्मावरणोंसे ही मुक्त हो गये हों ॥ ५२ ॥ जिस प्रकार अतिशय कामी मनुष्य निषेध करने पर भी कामशान्तिकी इच्छा करता हुआ रजस्वला स्त्रियोंका भी उपभोग कर बैठता है उसी प्रकार वह देवोंके मत्त हाथियोंका समूह वारितः—जलसे [पक्षमे निषेध करने पर भी] इच्छानुसार थकावट दूर होनेकी इच्छा करता हुआ रजस्वला—धूलियुक्त नदियोंमे जा घुसा सो ठीक ही है क्योंकि मदान्ध जीवको विवेक कहाँ होता है ? ॥ ५३ ॥ चूँकि नदीका पानी

१ तत्र 'ज' पुस्तक विहाय सर्वत्र 'तत्र' इति पाठ परन्तु तस्मिन् छन्दोभङ्गो भवति । २ कर्माचरणै–घ० म० । ३ स्वभावोक्ति । ४ अत्रेद व्याख्यान सुगमम्—मत्ता मदजलयुक्ता ये मरुद्द्विपा देवगजास्तेषामोघ समूहो वारितो जलात् काम यथेच्छ यथा स्यात्तथा श्रमस्य मार्गकृच्छ्रस्य शान्तिम् इच्छन्नभिलषन् प्रसह्य हठात् रजस्वला अपि पद्मकर्दमयुक्ता अपि स्रवन्तीर्नदीरभजत् सिषेवे इत्यहो आश्चर्यम् । अथवा मदेन दानेनान्धो विचारमूढस्तस्य विवेको हिताहितज्ञान कुतो भवति । न भवतीति भाव । अत्र यथा कश्चिन्मत्तो जन प्रसह्य बलात्कारेण कामस्य स्मरस्य श्रम खेदस्तस्य शान्ति वाञ्छन् वारितोऽपि निषिद्धोऽपि स्रवन्ती पुष्पवर्षिणी रजस्वला अपि ऋतुमतीरपि स्त्री सेवते तद्वदिति भाव । मदेन कामातिरेकेणान्धो विचारविमूढस्तस्य कुतो विवेको भजनीयाभजनीयपरिज्ञान कुतो भवति । न भवतीति यावत् । अत्र समासोक्त्यार्थान्तरप्रतीति ।

कृतश्रमा ये नववीथिकासु[1] तुरङ्गमा [2]साधितपञ्चधारा. ।
इहोच्चनीचं चरणैस्त एव विलङ्घ्य चान्ये नभसीव जग्मु ॥४६॥
दृढैस्तुरङ्गाग्रखुरप्रहारैरिहोच्छलन्तो ज्वलनस्फुलिङ्गा ।
बभुर्विभिद्येव मही विभिन्नफणीन्द्रमौलेरिव रत्नसङ्घा. ॥४७॥
समन्तत काञ्चनभूमिभागास्तथा रथैश्चुक्षुदिरे सुराणाम् ।
यथा विवस्वद्रथनेमिधारा पथेऽरुणस्यापि मतिभ्रमोऽभूत् ॥४८॥
नितम्बमाघ्राय मदादुदञ्चच्छिर. समाकुञ्चितफुल्लघोणम् ।
अनुव्रजन्त चमरी महोक्षमिहा रुणत्कष्टमहो महेश[3] ॥४९॥

यथा स्यादिति सकुचिता इत्यर्थ' ॥४५॥ कृतश्रमा इति—अन्ये केचित्तुरङ्गा साधिता शिक्षिता धौरितवल्गितोत्तेजितोत्तेरितप्लुतलक्षणा पञ्चधारा यैस्ते तद्विधा । यदि वा विक्रम-वल्गित-उपकण्ठ-जव-उपजवाख्या पञ्चधारा । पञ्च सान्नाह्यवीथय । तथाहि—काक मायूर जव उपजवश्चेति । चतस्र उपवाह्यवीथय तथाहि नीचैर्गल तारौष्ट्र स्खलितमर्द्धस्खलित चेति । अन्ये त्वेवमाहु चतस्र सान्नाह्यवीथय । तथाहि ततुरस्र काक मायूरमर्द्धमायूरमिति । पञ्च उपवाह्यवीथय —वल्गनमनीचैर्गत लङ्घन धारण तारौष्ट्रमिति । एतासु नवसु वीथिषु कृताभ्यासा । उच्च नीचं विलङ्घ्य वेगेन नभसेव गता ॥४६॥ दृढैरिति—इह मेरुशिलासु तुरङ्गमखुराभिघातैरग्निकणा उद्गच्छन्त शुशुभिरे महाभिघातेन पृथ्वी भेदयित्वेव शेषमौलिसहस्र रत्नसमूहा इव ॥४७॥ समन्तत इति—रथचक्रचक्रैस्तथा सुवर्णभूरजास्यालोडयाचक्रिरे यथा मेरुपर्यन्तगामिनो रविसारथेरपि चक्रधारामार्गविषये मतिमोहो बभूव । सर्वत्राप्यसख्या रविरथमार्गमदृशा मार्गा बभूवुरित्यर्थ ॥४८॥ नितम्बमिति—वृषभध्वज कष्टेन निजवाहन वृष रुरोध । किंविशिष्टमित्याह—मदान्नितम्बमाघ्रायोद्धृत-

मानो भगवान्‌के आगे आनन्दसे नृत्य ही कर रहे हों॥ ४५॥ पाँच प्रकारकी चालोंको सीखनेवाले जो घोड़े नव प्रकारकी वीथियोंमें चलते समय खेद उत्पन्न करते थे वे ही घोड़े इस सुमेरु पर्वतपर ऊँचे-नीचे प्रदेशोंको अपने चरणों द्वारा पार कर आकाशमें इतने वेगसे जा रहे थे मानो दूसरे ही हों॥ ४६॥ घोड़ोंके अगले खुरोंके कठोर प्रहारसे जो अग्निके तिलगे उछट रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो खुरोंके आघातने पृथिवीका भेदन कर शेषनागका मस्तक भी विदीर्ण कर दिया हो और उससे रत्नोंके समूह ही बाहर निकल रहे हों॥ ४७॥ देवोंके रथोंने सुवर्णमय भूमिके प्रदेशोंको चारों ओरसे इस प्रकार चूर्ण कर दिया था कि जिससे सूर्यके रथके मार्गमें अरुणको भी भ्रम होने लगा था॥ ४८॥ महेश नामक देवकी सवारीका बैल चमरी मृगके नितम्बको सूँघ मदसे शिरको ऊँचा उठा तथा नाकके नथुनोंको फुलाकर जब उसके पीछे-पीछे जाने लगा तब महेश उसे बड़ी कठिनाईसे रोक सका॥ ४९॥

१ वीथयो नवाश्वाना सर्वत्र धारादाढर्चार्थी परिमिता प्रचारदेशा. । ताश्च तिस्र इत्येके नवेत्यन्ये । तत्रोत्तरपक्षमाश्रित्योक्त कविना नववीथिकास्विति । यथाह भोज —'वीथ्यस्तिस्रोऽथ धाराणा लघ्वी मध्योत्तमा क्रमात् । तासा स्याद्धनुषा मानमशीतिर्नवति शतम् ॥ श्रेष्ठमध्योत्तमाना तु वाजिना वीथिका स्मृता । नवाना कथिता वीथ्यो दुष्टाना क्रमणक्रमे ॥ अन्येषामपि सर्वत्र गतिदाढर्चार्थमीरिता ।' 'समोन्नता सा विषमाम्बुकीर्णा शुद्धा नताग्रा तृणवीरुदाढचा । स्थाणुप्रकीर्णोपलसप्रकीर्णा पार्श्वोन्नताख्या नवधेति वीथ्य ॥ सर्ववीथीषु यो वाजी दृढशिक्षासमन्वित । तेन राजा रणे नित्य मृगयाया मुद व्रजेत् ॥' अन्ये तु उरसाल्यादयो गतिविशेषा वीथय इत्याहु । 'उरसाली वरद्वाली पृथुलो मध्यनामक । आलीढ शोभनैरङ्गैं प्रत्यालीढस्तथापर । उपधेनव उक्त च पादचाली च सर्वग । निर्दिष्टा वीथयस्त्वेता ।' इति । २ धारा गतिभेदा । 'अश्वाना तु गतिधारा विभिन्ना सा च पञ्चधा । आस्कन्दित धौरितक रेचित वल्गित प्लुतम् ।' इति वैजयन्ती 'गतयोऽमू पञ्चधारा ' इत्यमरश्च । अश्वशास्त्रे तु सज्ञान्तरेणोक्ता 'गति पुला चतुष्का च तद्वन्मध्यजवा परा । पूर्णवेगा तथा चान्या पञ्च धारा प्रकीर्तिता ॥' ३ महेभ म० छ० ।

द्युयोषितां कर्षितकुन्तलाग्रा: स्तनोरुजङ्घाजघनं स्पृशन्त: ।
शनैरभीका इव संविचेरुस्तरङ्गिणीतीरसरोजवाता: ।।५०।।
वियोगनामापि न सोढुमीशं दिव: स्वमुद्यानमिवावतीर्णम् ।
हरि: प्रपेदे सुमनोऽभिरामं वनं स तस्मिन्[1] पृथुपाण्डुकाख्यम् ।।५१।।
अथो जिनेन्द्रानुचरा: सुराणामपास्तविस्तीर्णकुथच्छलेन ।
विचित्रकर्मावरणैरशेषैश्चिरादमुच्यन्त मतङ्गजेन्द्रा: ।।५२।।
स वारितो मत्तमरुद्द्विपौघ: प्रसह्य कामश्रममशान्तिमिच्छन् ।
रजस्वला अप्यभजत्स्रवन्ती रहो मदान्धस्य कुतो विवेक: ।।५३।।
गजो न वन्यद्विपदानदिग्धं पपौ पिपासाकुलितोऽपि तोयम् ।
स्वजीवितेभ्योऽपि महोन्नतानामहो गरीयानभिमान एव ।।५४।।

मुखं चमरी गामनुगच्छन्तम्[3] ।।४९।। द्युयोषितामिति—तदा नदीतटपद्मगन्धवाता मन्दं मन्दं संचरन्ति स्म नि:शङ्का इव । किं कुर्वन्तो नि:शङ्का इत्याह—देवाङ्गनानां स्तनभारोरुयुग्मादिकं सर्वाङ्गं संस्पृशन्तो विलुलितालका: । अन्योऽपि य: कश्चित्परस्त्रीणां कुन्तलाकर्षणाङ्गस्पर्शादिकं करोति स भीरुक: स्याद् वाताश्च न तथा ।।५०।। वियोगेति—तत्र मेरुमस्तके विशालं पाण्डुकनामधेयं सौधर्मेन्द्रो वनमाससाद । अतश्च शक्रविरहं सोढुमसमर्थं निजं स्वर्गवनमिवाग्रतोभूय तत्र संप्राप्तम् ।।५१।। अथो इति—अथानन्तरं देवगजेन्द्रा रत्नकम्बलैर्मुमुचिरेऽनादिससारोपार्जितकर्मपटलैरिव पञ्चवर्णत्वान्नानाप्रकारकर्मावरणोपमानम् ।।५२।। स इति—स देवगजसमूहोऽत्यर्थमार्गश्रमोपगममिच्छन् पद्ममकरन्दकर्दमिला नदीर्जगाहे वारित: पानीयात्, निषिद्ध: । अथ चोक्तिलेश:—यथा कश्चिन्मदिरामत्तो मदनकष्टोपशान्तिं वाञ्छन् ऋतुमतीरपि स्रवन्ती: पुष्पवर्षिणीरपि सिषेवे । अथवा युक्तमेतन्मदान्धस्य विचारो नास्तीति[4] ।।५३।। गज इति—कश्चिद्गजो वन्यकरिमदमिश्रमति-

नदी तटके कमलोंसे सुवासित पवन, कामी पुरुषोंके समान देवांगनाओंके केश खींचते एवं उनके स्तन, ऊरू, जंघा और जघनका स्पर्श करते हुए धीरे-धीरे चल रहे थे ॥ ५० ॥ तदनन्तर इन्द्र फूलोंसे सुन्दर उस विशाल पाण्डुक वनमें पहुँचा जो कि ऐसा जान पड़ता था मानो वियोगका नाम भी न सह सकनेके कारण स्वर्गसे अवतीर्ण हुआ उसका वन ही हो ॥ ५१ ॥ तदनन्तर देवोंके हाथियों परसे बड़ी-बडी झूले उतारकर नीचे रखी जाने लगीं जिससे ऐसा जान पड़ता था कि चूँकि हाथी जिनेन्द्रदेवके अनुचर थे अतः मानो चिरकालके लिए समस्त कर्मावरणोंसे ही मुक्त हो गये हों ॥ ५२ ॥ जिस प्रकार अतिशय कामी मनुष्य निषेध करने पर भी कामशान्तिकी इच्छा करता हुआ रजस्वला स्त्रियोंका भी उपभोग कर बैठता है उसी प्रकार वह देवोंके मत्त हाथियोंका समूह वारितः—जलसे [पक्षमें निषेध करने पर भी] इच्छानुसार थकावट दूर होनेकी इच्छा करता हुआ रजस्वला—धूलियुक्त नदियोंमें जा घुसा सो ठीक ही है क्योंकि मदान्ध जीवको विवेक कहाँ होता है ? ॥ ५३ ॥ चूँकि नदीका पानी

१ तत्र 'ज' पुस्तकं विहाय सर्वत्र 'तत्र' इति पाठ: परन्तु तस्मिन् छन्दोभङ्गो भवति । २ कर्माचरणै–घ० म० । ३ स्वभावोक्ति: । ४ अत्रेदं व्याख्यानं सुगमम्—मत्ता मदजलयुक्ता ये मरुद्द्विपा देवगजास्तेषामोघ: समूहो वारितो जलात् कामं यथेच्छं यथा स्यात्तथा श्रमस्य मार्गकृच्छ्रस्य शान्तिम् इच्छन्नभिलषन् प्रसह्य हठात् रजस्वला अपि पद्मकर्दमयुक्ता अपि स्रवन्तीर्नदीरभजत् सिषेवे इत्यहो आश्चर्यम् । अथवा मदेन दानेनान्धो विचारमूढस्तस्य विवेको हिताहितज्ञानं कुतो भवति । न भवतीति भाव: । अत्र यथा कश्चिन्मत्तो जन: प्रसह्य बलात्कारेण कामस्य स्मरस्य श्रम: खेदस्तस्य शान्तिं वाञ्छन् वारितोऽपि निषिद्धोऽपि स्रवन्ती: पुष्पवर्षिणी: रजस्वला अपि ऋतुमतीरपि स्त्री: सेवते तद्वदिति भाव: । मदेन कामातिरेकेणान्धो विचारविमूढस्तस्य कुतो विवेको भजनीयाभजनीयपरिज्ञानं कुतो भवति । न भवतीति यावत् । अत्र समासोक्त्यार्थान्तरप्रतीति: ।

करी करोत्क्षिप्तसरोरुहास्योच्छलन्निलीनालिकुलच्छलेन ।
कचेष्विवाकृष्य हठेन यान्ती बुभोज वामामपि ता स्रवन्तीम् ॥५५॥
अबालशेवालदलान्तरीयं व्युदस्य मध्य स्पृशति द्विपेन्द्रे ।
तटाग्रभूमिर्जघनस्थलीव जलैरुदप्लावि वनापगाया ॥५६॥
पयस्युदस्तोरुकर मिमङ्क्षोर्द्विपाधिपस्योत्पतित कपोलात् ।
उपर्यलीना वलय चकासे सदण्डनीलातपवारणाभम् ॥५७॥
'विलासवत्या सरित प्रसङ्गमवाप्य विस्फारि-पयोधराया[2] ।
गजो ममज्जात्र कुतोऽथवा स्यान्महोदय स्त्री व्यसनालसानाम् ॥५८॥
दलानि सभोगभरार्पितानि नखक्षतानीव सरोरुहिण्या ।
दधन्नदाम्भस्तलिनात्कथचिदवातरल्लब्धरसो[3] महेभ ॥५९॥

तृषितोऽपि जल न पिबति स्म । महोन्नताना महान्तश्च ते उन्नताश्च तेषा गजसदृशानामात्मप्राणेभ्योऽपि अभिमान एव गुरुतम । प्राया यान्तु न पुनरभिमान इत्यर्थ ॥५४॥ करीति—कश्चित्करी वेगप्रवाहिका नदी जगाहे । यथा कश्चिद्वामा लज्जयानभिलपन्ती नवोढा वा कुन्तलेष्वाकृष्य स्रवन्ती दर्शितसात्त्विकभावा समुद्रिवदनपद्म पक्षे पद्मगर्भोत्पतितभ्रमरकुलव्याजात् ॥५५॥ अबालेति—जरटशेवालमुत्क्षिप्य गजेन्द्रे मध्य गाहमाने महाकायपरिणाहप्रणोदितैर्जलैर्वननद्यास्तटस्थल प्लावितम् । अथ चोक्तिलेश—शेवालसुकुमार-मध्यवस्त्रमाकृष्य कस्मिंश्चित्कामुके नाभिमूल स्पृशति सति कस्याश्चिद् वाणिन्या कामजलैर्जघनस्थल प्लाव्यते ॥५६॥ पयसीति—ऊर्ध्वशुण्डादण्डस्य सिस्नासोर्गजस्य जलप्लावभयादुड्डीन कपोलभ्रमरमण्डलं गगने शुशुभे दण्डमण्डितनीलच्छत्रमिव । अत्र शुण्डादण्डयोरतिवलयच्छत्रयोश्चोपमानोपमेयभाव ॥५७॥ विलासेति—अत्र पक्षिकोलाहलवत्या नद्या ससर्ग लब्ध्वा बहुलजलधारिण्या गजो बुडित । यथा कश्चित् कामैकरसिक पीन-पयोधराया विलासवत्या कस्याश्चित्सगम प्राप्य द्रव्येण जीवितेन च विनश्यति । अथवा युक्तमेतत् स्त्रीव्यसनैक-रसिकाना कुतो महानुदय स्यान्न स्यादित्यर्थ ॥५८॥ दलानीति—पद्मदलचित्रितगात्रो ह्रदसलिलशय्याया

जंगली हाथीके मदसे युक्त था अतः सेनाके हाथीने प्याससे पीड़ित होने पर भी वह पानी नहीं पिया सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंको अपने जीवनकी अपेक्षा अभिमान ही अधिक प्रिय होता है ॥ ५४ ॥ एक हाथीने अपनी सूँडसे कमलका फूल ऊपर उठाया, उठाते ही उसके भीतर छिपे हुए भ्रमरोंके समूह उड पडे उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो वह हाथी प्रतिकूल जाती हुई नदीरूपी स्त्रीके बाल पकड जबर्दस्ती उसका उपभोग ही कर रहा हो ॥ ५५ ॥ किसी गजेन्द्रने विशाल शेवालरूप वस्त्रको दूर कर ज्योंही वन नदीके मध्यभागका स्पर्श किया—उसमे अवगाहन किया त्योंही स्त्रीकी जघनस्थलीके समान उसकी तटाग्रभूमि जलसे आप्लुत हो गयी ॥ ५६ ॥ कोई एक हाथी अपनी सूँड़ ऊपर उठा पानीमे गोता लगाना चाहता था, अतः उसके कपोलके भौंरे उडकर आकाशमे वलयाकार भ्रमण करने लगे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो दण्डसहित नील छत्र ही हो ॥ ५७ ॥ पक्षियोंके सचारसे युक्त [पक्षमे हाव-भावसे युक्त] एव विशाल जलको धारण करनेवाली [पक्षमे स्थूल स्तनोंको धारण करने-वाली] नदीका [पक्षमे स्त्रीका] समागम पाकर हाथी डूब गया सो ठीक ही है क्योंकि स्त्री-लम्पटी पुरुषोंका महान् उदय कैसे हो सकता है ? ॥ ५८ ॥ कोई एक हाथी जब नदीसे बाहर निकला तब उसके शरीरपर कमलिनीके लाल-लाल पत्ते चिपके हुए थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो संभोग कालमे दिये हुए नखक्षत ही धारण कर रहा हो । वह हाथी रस—

१ वीना पक्षिणा लास, सचारो विलास सोऽस्ति यस्या सा विलासवती तस्या पक्षे विलासा हावभावादय सन्ति यस्यास्तस्या विलासवत्या । २ विस्फारि पयसा बहुलजलाना धरा तस्या पक्षे विस्फारिणौ पीवरौ पयोधरौ स्तनौ यस्यास्तस्या । ३ लब्धरसो गृहीतजल पक्षे प्राप्तरतिरहस्यानन्द ।

वनेऽत्र सप्तच्छदगन्धदत्तप्रतिद्विपभ्रान्तिविधूतवीतीन्[1] ।
प्रयुज्य सामैव शनैर्गजेन्द्रान् विनिन्युरालानपद नयज्ञा ॥६०॥

निषादिने साधुनयप्रयुक्ता स्वय स्वकायाकलनाय वारीम् ।
ददुर्महेभा क्रियते कथ वा जडात्मकैरात्महितप्रवृत्तिः ॥६१॥

खलीनपर्याणमपास्य कृच्छ्रात्सुरैर्मुखारोपितवध्रनद्धा ।
हयाननाहेषितदत्तकर्णा विनिन्यिरेऽश्वा भुवि वेल्लनाय ॥६२॥

इतस्ततो लोलनभाजि वाजिन्यभिच्युता फेनलवा विरेजु ।
तदङ्गसङ्गत्रुटितोरुहारप्रकीर्णमुक्ताप्रकरा इवोर्व्या ॥६३॥

नदान्मिलच्छैवलजालनीला निरीयुराक्रम्य पयस्तुरङ्गा[1] ।
दिनोदये व्योम समुत्पतन्त. पयोधिमध्यादिव हारिदश्वा[2] ॥६४॥

नखक्षतकर्वुर इव कश्चिद्गजो निर्जगाम लब्धरसोऽनुभूतरससर्वस्व[3] ॥५९॥ वन इति—गजशिक्षाशास्त्रज्ञा अनेक चाटुलालनानि प्रयुज्य वन्धनस्तम्भ गजेन्द्रान्प्रापयामासु । अस्मिन् मेरुवने सप्तपर्णकपुष्पगन्धस्य समुत्पादितगजभ्रान्त्यावगणिताङ्कुश सन् ॥६०॥ निषादिन इति—स्वयमेव गजा निजवन्धवरत्रिकामारोहकाय समर्पयामासु साधुनयप्रयुक्ता सत्यगजशास्त्रज्ञप्रेरिता । अथवा मदान्धैर्मूर्खै स्वस्य हित चरित्र न क्रियते किन्तु आत्मक्षयकरमेव ॥६१॥ खलीनेति—कविकादिकमुन्मोच्य मुखनद्धकच्छिकया अश्वा देवैर्भुवि वेल्लनाय चक्रपिरे कृच्छ्रात्कष्टेन । कष्ट कथमित्याह—हयानना अश्वमुखकिन्नरी तस्या हेषित तत्र दत्तौ कर्णौ यै ॥६२॥ इतस्तत इति—वामदक्षिणतो लोलनलालसेऽश्वे तत्प्रान्ते तस्य फेनकणा विरेजिरे । तस्या अश्वस्याङ्गसङ्गत्रुटितनिपतिता स्थूलमुक्ताफलप्रकरा इव पृथिव्याम् ॥६३॥ नदादिति—लग्नशैवालजालजटिला सलिलमवगाह्य तुरङ्गमा नदान्निर्जग्मु । अतश्च सभाव्यते–प्रभाते गगनाभिमुख सर्पन्त समुद्रमध्यान्नीला आदित्याश्वा

जल [पक्षमे सभोगजन्य आनन्द] ग्रहण कर नदीके जलरूपी तल्पसे किसी तरह नीचे उतरा था ॥ ५९ ॥ इस वनमे जहाँ-तहाँ सप्तपर्णके वृक्ष थे। उनके फूलोंसे हाथियोको शत्रु गजकी भ्रान्ति हो गयी जिससे वे इतने अधिक विगड़ उठे कि उन्होंने अकुशोंकी मारकी भी परवाह न की। नीतिके जानकार महावत ऐसे हाथियोंको शान्तिसे समझाकर ही धीरे-धीरे बाँधनेके स्थान पर ले गये ॥ ६० ॥ जिनके साथ उत्तम नीतिका व्यवहार किया गया है ऐसे कितने ही बड़े-बडे हाथियोंने अपना शरीर बाँधनेके लिए स्वयं ही रस्सी उठा कर महावतके लिए दे दी सो ठीक ही है क्योंकि मूर्ख लोग आत्म-हितमे प्रवृत्ति किस प्रकार कर सकते है ? ॥ ६१ ॥ लगाम और पलान दूर कर जो मुखमे लगी हुई चमड़ेकी मजबूत रस्सीसे बाँधे गये है ऐसे घोडे चूँकि किन्नरी देवियोंके शब्द सुननेमे दत्तकर्ण थे अतः पृथिवीपर लोटानेके लिए देवों द्वारा बडी कठिनाईसे ले जाये गये थे ॥ ६२ ॥ जब घोड़ा इधर-उधर लोट रहा था यह उसके मुखसे कुछ फेनके टुकड़े निकलकर पृथिवी पर गिर गये थे जो ऐसे जान पड़ते थे मानो उसके शरीरके ससर्गसे पृथिवी रूप स्त्रीके हारके मोती ही टूट-टूटकर बिखर गये हों ॥ ६३ ॥ जिस प्रकार प्रातःकालके समय आकाशकी ओर जानेवाले सूर्यके हरे-हरे घोड़े समुद्रके मध्यसे निकलते हैं उसी प्रकार शरीर पर लगे हुए शेवाल दलसे हरे-हरे दिखनेवाले घोड़े पानी

---

१ 'वीतिरङ्कुशकर्मणि'। २ हरिदश्व सूर्य 'भास्वद्विवस्वत्सप्ताश्वहरिदश्वोष्णरश्मय' इत्यमर । तस्येमे हारिदश्वा सूर्यसवन्धिन इत्यर्थ । ३ यथा कश्चित्कामी कामिन्या सभोगावसरप्रदत्तानि नखक्षतानि दधानोऽनुभूतरतिरहस्य कथचित्तल्पादवतरति तद्वदिति भाव ॥

इह क्षरन्निर्झरवारिहारिण्यनल्पकल्पद्रुणि कल्पनाथ.।
निवेशयामास यथायथ स स्थलाम्बुशाखाचरवाहनानि ॥६५॥

तदादिभूमौ शिशुवत् क्रमाभ्यां सकौतुक क्रामति नाकिचक्रे।
बभार दृग्दोषनिषेधयित्री यमश्छविं कज्जललाञ्छनस्य ॥६६॥

भूदेव्या शिरसीव कुन्तलतुलालम्बिद्रुमश्यामले
लीलोत्तसितकेतकीकिसलयस्योन्मुद्रयन्ती द्युतिम्।
शृङ्गे स्वर्णगिरे स धूर्जटिजटाजूटाग्रपिङ्गत्विषि
प्रेङ्खत्पाण्डुशिला कलामिव विधो कल्पाधिप· प्रैक्षत ॥६७॥

ससारार्तिमिव व्यतीत्य पदवी शुक्लेन दिग्दन्तिना
ध्यानेनेव महीभृतस्त्रिभुवनस्येवास्य मूर्ध्नि स्थिताम्।

इव ॥६४॥ इहेति—इह पाण्डुकवने निर्गलन्निर्झरसलिलमनोहरे कल्पवृक्षछायावितानें कल्पनाथ सौधर्मेन्द्रो निजनिजोचितस्थाने स्थलजलशाखाचराणि वाहनानि अतिष्ठिपत्। शाखाचरा पक्षिण ॥६५॥ तदादीति—देववृन्दे गगनगतिमुत्सृज्य तत्प्रथम कौतुकेन पादाभ्या रमणीयमेकभूमौ चलति सति बालकवत्। ततश्च कज्जलपुञ्जश्यामलस्य यमस्य कालिमा चक्षुर्दोषनिराकरणायेव राजते। कज्जललाञ्छनस्य मषीतिलकस्य[1] ॥६६॥ भूदेव्या इति—पाण्डुकनामधेया शृङ्गे शक्र शिला ददर्श। वसुधावध्वा शिरसि मस्तके कुन्तलसदृशप्रलम्बवृक्षकृष्णे लीलोत्तमीकृतकेतकीदलस्याकृतिं दर्शयन्तीमथवा धूर्जटेरीश्वरस्य पिङ्गकपर्दसदृशे चन्द्रकलामिव। अत्र केतकीदलसदृशी अर्द्धचन्द्राकारा योजनशतदीर्घा पञ्चाशद्योजनविस्तारा योजनाष्टपिण्डा पाण्डुकशिला[2] ॥६७॥ संसारार्तिमिवेति—तामर्द्धचन्द्रसदृशी शिला प्राप्य महेन्द्रो हृष्टो बभूव। अनन्ता पदवी मार्गं शुभ्रैरावतगजेनातिक्रम्य कैवल्यशिला शुक्लध्यानेन ससारार्ति व्यतिक्रम्य जिननिरतो यतिर्यथा निर्वृतो

चीरकर नदीके बाहर निकले ॥ ६४ ॥ चूँकि यह वन झरते हुए झरनोंके जलसे सुन्दर तथा बहुत भारी कल्पवृक्षोंसे युक्त था अतः स्थल, जल और शाखाओंपर चलनेवाले वाहनोंको इन्द्रने उनकी इच्छानुसार यथायोग्य स्थान पर ही ठहराया था ॥ ६५ ॥ उस वनकी प्रथम भूमिमें देवोंका समूह कौतुकवत् बालकके समान पैरोंसे प्रवेश कर रहा था उन सबमें जो काला-काला यमराज था वह दृष्टि-दोषको दूर करनेवाले काजलके चिह्नकी शोभा धारण कर रहा था ॥ ६६ ॥ तदनन्तर महादेवजीके जटा-जूटके अग्रभागके समान पीली कान्तिको धारण करनेवाले उस सुवर्णाचलके शिखर पर इन्द्रने चन्द्रमाकी कलाके समान चमचमाती हुई वह पाण्डुकशिला देखी जो कि ऐसी जान पडती थी मानो चूर्ण कुन्तलोंके समान सुशोभित वृक्षोंसे श्यामवर्ण पृथिवी देवीके सिर पर लीलावश लगाये हुए केतकीके पत्रकी शोभा ही प्रकट कर रही हो ॥ ६७ ॥ जिस प्रकार अर्हद्भक्त व्रती शुक्लध्यानके द्वारा ससारकी व्यथाको पार कर त्रिभुवनके शिखरपर स्थित सिद्ध शिलाको पाकर सुखी हो जाता है उसी प्रकार वह इन्द्र

---

१ बालकस्यापि मुखादिषु दृष्टिदोषनिवारणाय कज्जलबिन्दु कुर्वन्ति। २ शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्।

ता कैवल्यशिलामिवार्धरजनीप्राणाधिनाथाकृति[1]

प्राप्यार्हन्निरतो व्रतीव समभूदाखण्डलो निर्वृतः[2] ॥६८॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये
पाण्डुकवनवर्णनो नाम सप्तमः सर्ग. ॥७॥

भवति। अत्र ससारदु खमार्गयो शुक्लध्यानैरावतयोर्मेरुत्रिभुवनयो पाण्डुकशिलामोक्षशिलयोर्व्रत्याखण्डलयोश्चोपमानोपमेयभाव ॥६८॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयश कीर्तिविराचितायां सदेहध्वान्त-
दीपिकाया धर्मशर्माभ्युदयटीकायां सप्तमः सर्ग ॥७॥

शुक्लवर्ण ऐरावत हाथीके द्वारा माग पार कर इस सुमेरु पर्वतके शिखरपर स्थित अर्धचन्द्राकार पाण्डुक शिलाको पाकर बहुत ही सन्तुष्ट हुआ ॥ ६८ ॥

इस प्रकार महाकवि हरिचन्द्रविरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें पाण्डुकवनका
वर्णन करनेवाला सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥७॥

---

१ अर्द्धचन्द्राकृतिम्। २ निर्वृते क०। निर्वृतो मुक्त सतुष्टश्च।

अष्टमः सर्गः

अथ सरभसमस्यां न्यस्तविस्तीर्णभास्वन्—
मणिमयहरिपीठं निर्भरोत्साहयोग ।
शरभमिव हिमाद्रेरभ्रमातङ्गकुम्भा-
ज्जिनपतिमवतार्य स्थापयामास जिष्णु ॥१॥

मदनभिदमधास्यन्नूनमेन न मूर्ध्ना
यदि कथमपि शेषस्तच्छिलापद्मवेष ।
अपि मृदुलमृणालीकोमलस्तद्दुरापा
स कथमितरथाप्स्यत्क्ष्माभरोद्धारकीर्तिम् ॥२॥

किमतनुतरपुण्यै स्विद्यशोभिः स्वय वा
निजसमयसमेतैरूर्मिभि' क्षीरसिन्धो ।
इति सुरपरिपाट्या [1]शङ्क्यमाने शिलाया
शिरसि सितमयूखै श्लिष्यमाण स रेजे ॥३॥

अथेति—अथानन्तर ससभ्रममस्या शिलाया रचितविस्तीर्णदेदीप्यमानरत्ननिर्मितसिंहासने ऐरावता-दुत्तीर्य जिनेश्वर न्यवीविशत् हिमालयशृङ्गादष्टापदमिव निर्भरोत्साहयोग अतिप्रमोदोद्यमयुक्तो महेन्द्र [2] ॥१॥ मदनेति—कोमलविसलतासुकुमाराङ्ग शेषो भूमिभारोद्धरणप्रसिद्धि कथमलप्स्यत अन्येन प्रकारेण । यदि किं नाकरिष्यदित्याह—यद्येन जिनेश्वर पाण्डुकशिलाकमलवेषधारी नावक्ष्यत् । पाण्डुकशिलारूपेण प्रथमत शेषेण जिन शिरसा धृत । तत्पुण्यप्रभावाद्भूभारोद्धारे । शक्यसभावनायामपि तत्प्रसिद्धिरभू-दिति तात्पर्यार्थ । शेपभोगवत् शुभ्रा शिलेति कथितम् ॥२॥ किमिति—तस्या स्फटिकशिलाया धवल-किरणैराश्लिष्यमाण. स जिन शुशुभे देवसमूहैरिति तर्क्यमाण । कथमित्याह—मूर्तिमद्भिरत्युपचितै प्रचुरतर-पुण्यैराहोस्वित्स्वयमेव सघटमानैर्निर्मलकीर्तिकल्लोलैरुतस्विन्निजसेवावसर ज्ञात्वा मिलितैर्दुग्धाब्धिकल्लोलैरिति ।

तदनन्तर इन्द्रने बड़ी शीघ्रताके साथ हिमालयके समान उत्तुंग ऐरावत हाथीके मस्तक-से अष्टापदकी तरह श्रीजिनेन्द्रदेवको उतारकर बडे ही उत्साहके साथ इस पाण्डुक शिला पर रखे विस्तृत एवं देदीप्यमान मणिमय सिंहासनपर विराजमान किया ॥ १ ॥ यदि बाल-मृणालके समान कोमल शरीरको धारण करनेवाला शेषनाग किसी तरह उस पाण्डुक शिला-का वेष रख इन मदन विजयी जिनेन्द्रदेवको धारण नहीं करता तो वह अन्य प्रकारसे समस्त पृथिवीका भार उठानेकी कीर्ति कैसे प्राप्त कर सकता था जब कि वह उसे अत्यन्त दुर्लभ थी ॥ २ ॥ क्या यह विशाल पुण्य है ? अथवा यश है ? अथवा अपने अवसर पर उपस्थित हुई क्षीरसमुद्रकी लहरें हैं ?—इस प्रकार जिनके विषयमे देवोंको सन्देह उत्पन्न हो रहा है ऐसी पाण्डुक शिलाकी जो सफेद-सफेद किरणे भगवान्‌के सिरपर पड़ रही थीं उनसे वह बहुत ही

---

१ शङ्कमाने घ० म० । २ मालिनीवृत्तम् 'ननमयययुतेय मालिनी भोगिलोकै' इति लक्षणात् । उपमालकार ।

अनुगुणमनुभावस्यानुरूप विभूतेः
समुचितमनुवृत्तेर्देशकालानुकूलम् ।
अविकलमकलङ्क निस्तुल तस्य भर्तु
स्नपनविधिममर्त्या प्रारभन्ते स्म तस्मिन् ॥४॥
अवकरनिकुरम्बे मारुतेनापनीते
कुरुत घनकुमारा साधुगन्धोदवृष्टिम् ।
तदनु च मणिमुक्ताभङ्गरङ्गावलीभि-
र्विरचयत चतुष्क सत्वरं दिक्कुमार्य ॥५॥
स्वयमयमिह धत्ते छत्रमीशाननाथ-
स्तदनुगतमृगाक्ष्यो मङ्गलान्युत्क्षिपन्तु ।
जिनसविधममर्त्या नर्तिता बालवाल-
व्यजनविधिसनाथा सन्तु सानत्कुमारा ॥६॥
वलिफलकुसुमस्रग्गन्धधूपाक्षताद्यै
प्रगुणयत विचित्राण्यत्र[1] पात्राणि देव्य ।
सलिलमिह [2]पयोब्धेरेष्यति व्यन्तराद्या
पटुपटहमृदङ्गादीनि तत्सज्जयन्तु ॥७॥

धवलैकगुणाश्रितेयम् । अनेकोपमालकृति ॥३॥ अनुगुणमिति—तस्य जिनस्य चतुर्णिकायसुरेन्द्रास्तस्मिन् मेरुमस्तकेऽभिषेकविधि प्रारेभिरे । किंविशिष्टमित्याह—निजप्रभावसदृशमष्टमहासिद्धिलक्षणाया विभूतेरनुरूप योग्यमनुवृत्तेर्जिनभक्ते समुचित देशस्य मेरुमस्तकलक्षणस्य चतुर्थकालस्यानुकूल सघटयमानमविकल सर्व-सामग्रीपरिपूर्णमकलङ्क निर्दूपण निस्तुल निरुपमानम् । स्वभावोक्तिरलकार ॥४॥ अवकरेति—इन्द्रादेशाद्धनद प्रतीहार सुरसार्थमुवाचेति पञ्चभि सबन्ध । कचवारपटले वातकुमारैर्निर्णाशिते सति हे मेघकुमारा ! यूय रज पटलशमनार्थं दिव्यगन्धोदक वर्षतेति । पश्चाद् विशुद्धमुक्ताफलभङ्गीविशेषैर्देवकुमार्य स्वस्तिकान् विरचयत निर्मापयत सत्वर शीघ्रम् ॥५॥ स्वयमिति—अत्र जन्माभिषेकमहोत्सवे स्वयमीशानेन्द्रश्छत्र धत्ते तस्यैशानेन्द्रस्य देवाङ्गना अष्टौ दर्पणादीनि मङ्गलद्रव्याणि धारयन्तु । एते तु सनत्कुमारकल्पवासिनो देवा जिनसमीपे चालितचारुचामरनियोगाधिष्ठिता भवन्तु ॥६॥ वलिफलेति—अन्याप्सरसोऽष्टविधै पूजाद्रव्यै सभृतानि पात्राण्यासूत्रयन्तु । जल दुग्धाब्धेरागमिष्यति । व्यन्तरज्योतिष्कभवनवासिनश्च देवा

अधिक सुशोभित हो रहे थे ॥ ३ ॥ देवोंने वहाँ भगवान्‌की वह अभिषेक विधि प्रारम्भ की जो कि उनके प्रभावके अनुकूल थी, वैभवके अनुरूप थी, अपनी भक्तिके योग्य थी, देश काल-के अनुरूप थी, स्वयं पूर्ण थी, अनुरूप और निर्दोष थी ॥ ४ ॥ हे मेघकुमारो ! इधर वायु-कुमारने कचडेका समूह दूर कर दिया है अतः आप लोग अच्छी तरह सुगन्धित जलकी वर्षा करो और उसके बाद ही दिक्कुमारी देवियाँ मणियों और मोतियोंके चूर्णकी रगावलीसे शीघ्र ही चौक बनावें ॥ ५ ॥ इधर ऐशानेन्द्र स्वयं छत्र धारण कर रहा है, उसके साथकी देवियाँ मङ्गल-द्रव्य उठावें और ये सनत्कुमार स्वर्गके देव भगवान्‌के समीप बड़े-बडे चंचल चमर लेकर खडे हों ॥ ६ ॥ इधर ये देवियाँ नैवेद्य, फल, फूल, माला, चन्दन, धूप, अक्षत आदिसे नाना प्रकारके पात्रोंको सजावें और चूँकि यहाँ क्षीरसमुद्रसे जल आवेगा अतः व्यन्तर आदि

१ -व्यन्त—घ० म० । २ पयोधे- घ० म० ।

प्रवणय वरवीणा वाणि रीणासि कस्मात्-
किमपरमिह ताले [1]तुम्बुरो त्व वरोऽसि ।
इह हि भरत रङ्गाचार्य विस्तार्य रङ्गं
त्वरयसि नटनार्थं किं न रम्भामदम्भाम् ॥८॥
समुचितमिति कृत्य जैनजन्माभिषेके
त्रिदशपतिनियोगाद् ग्राहयन्नाग्रहेण ।
कलितकनकदण्डोद्दण्डदोर्दण्डचण्ड
सुरनिवहमवादीद् द्वारपाल कुबेर ॥९॥ [कुलकम्]
बहलमलयजन्मोन्मिश्रकर्पूरपासु-
प्रसरपरिमलान्धा श्रेणय षट्पदानाम् ।
जिनपतिमभिषेक्तु वाञ्छता त्रुट्यदेनो-
निगलवलयतुल्या निर्लुठन्ति स्म तस्मिन् ॥१०॥
[2]अयमतिशयवृद्धो [3]निम्नगानामधीश
कथमिममधिरोहत्वम्बुनाथो नगेन्द्रम् ।
इति तमुपरि मेरोर्नेतुमुत्क्षिप्य देवा
कलितकनककुम्भामारभन्ते स्म पङ्क्तिम् ॥११॥

मृदङ्गपटहादीन् प्रगुणयन्तु ॥७॥ प्रवणयेति—हे सरस्वति ! किं खिन्नेव दृश्यसे । कथ वीणा न प्रवणयसि । हे तुम्बुरो ! तालकलाया त्वमेव वर प्रवीण. । इह हीति इहार्थे, हे भरत ! रङ्गाचार्य ! रङ्ग सूत्रयित्वा रम्भा नृत्यार्थ कथ न प्रेरयसि । अदम्भा नृत्यकलाकौशलसत्याम् ॥८॥ समुचितमिति—इति तत्कालोचित गम्भीर-ध्वनिनादरेण ग्राहयन् कनकदण्डमण्डितभुजदण्डो देवेन्द्रादेशात् धनदो देवगण साक्षेपमादिदेश ॥९॥ बहलेति—तदा हरिचन्दनमिश्रकर्पूरपरागप्रसरपरिमलान्धा भ्रमरश्रेणयो भ्राम्यन्ति जिन सिस्नापयिषता जनाना तत्कालविगलितपापशृङ्खलासदृशानि पतन्ति स्मेव ॥१०॥ अयमिति—देवा क्षीरसमुद्र यावत् श्रेणी रचयाचक्रु कलितकनककुम्भा हस्तगृहीतस्वर्णकलशाम् । किमर्थमित्याह—त क्षीरसमुद्र जिनाभिषेकार्थं मेरो शिरसि नेतु यतोऽयमतिशयवृद्धोऽदृष्टपरपारोऽधोगामिनीना स्वामी । अधो जलचरविशेषस्तस्याधार । अथ च

देव उत्तम नगाड़े, मृदङ्ग आदिको ठीक करे ॥ ७ ॥ हे वाणि ! अपनी वीणा ठीक करो, उदास क्यो बैठी हो ? हे तुम्बुरो ! तुमसे और क्या कहूँ ? तुम तालमे बहुत निपुण हो और हे रङ्गाचार्य भरत ! तुम रंगभूमिका विस्तार कर निष्कपट रम्भाको नृत्यके लिए शीघ्र प्रेरित क्यो नहीं करते ? ॥ ८ ॥ इस प्रकार धारण की हुई सुवर्णकी छडीसे जिसका बलशाली भुजदण्ड और भी अधिक तेजस्वी हो गया है ऐसा द्वारपाल कुबेर इन्द्रकी आज्ञासे जिनेन्द्रदेवके जन्माभिषेकका कार्य योग्यतानुसार देवोंको सौंपता हुआ देवसमूहसे कह रहा था ॥ ९ ॥ उस समय अत्यधिक चन्दनसे मिली कपूर-परागके समूहकी सुगन्धिसे अन्धे भ्रमरोंकी पंक्तियाँ जहाँ-तहाँ ऐसी मालूम होती थीं मानो जिनेन्द्र भगवान्का अभिषेक करनेकी इच्छा करनेवाले देवोंकी टूटती हुई पापरूप बेड़ियोंके कड़े ही हों ॥ १० ॥ यह अतिशय विशाल [पक्षमे अत्यन्त बूढा] एव नदियोंका स्वामी [पक्षमें नीचे जानेवालोंमे श्रेष्ठ] समुद्र इस पर्वत पर कैसे चढ सकता है ? यह विचार उसे उठाकर सुमेरु पर्वतपर ले जानेके लिए ही

१ तुम्वरो घ० म० । २ अतिशयेन वृद्धो विस्तृत पक्षे अतिशयेन वृद्ध स्थविर । ३ निम्नगाना नदीना पक्षेऽधोगामिनामधीश स्वामी श्रेष्ठ इति यावत् ।

अभिनवमणिमुक्ताशङ्खशुक्तिप्रवाल-
प्रभृतिकमतिलोलैर्दर्शयन्नूर्मिहस्तै ।
जडजठरतयैक्षि [1]व्याकुलान्मुक्तकच्छ
स्थविरवणिगिवाग्रे स्वर्गिभि क्षीरसिन्धु ॥१२॥
उपचितमतिमात्र वाहिनीना सहस्रै[2]
पृथुलहरिसमूहै क्रान्तदिक्चक्रवालम् ।
अकलुपतरवारिक्रोडमज्जन्महीध्र
नृपमिव विजिगीषु मेनिरे ते पयोधिम् ॥१३॥
अनुगतभुजगेन्द्रान्मन्दराद्रीनिवोच्चै-
र्दधतममलमुक्तामालिन स्वर्णकुम्भान् ।
सुरनिकरमुपेत वारिधिर्वीक्ष्य भूयो-
ऽप्यतिमथनभियेव व्याकुलोर्मिश्चकम्पे ॥१४॥

अत्यन्तवृद्धोऽधोगमनैकशीलो लोचनहीनो यथा सार्धर्मिकैरुत्थाप्य जिनालय नीयते ॥११॥ अभिनव इति— देवै क्षीरसिन्धुरीक्षाचक्रे वृद्धो हट्ट किराट इव। कथ किराटत्वमित्याह—अभिनवमणिमौक्तिकशङ्खशिप्रा-विद्रुमप्रभृतीनि विक्रेयद्रव्याणि कम्पमानैर्दीर्घकल्लोलकरै प्रसारयन् जडजठरतया सलिलपूर्णागाधमध्यभावेन व्याकुलान् कल्लोलचापलान् मुक्तकच्छस्तटनिक्षिप्तकूर्म पक्षे स्थूलोदरभावेन शिथिलान्तरीयोऽदत्तकच्छ ॥१२॥ उपचितमिति—ते देवा क्षीराब्धि सार्वभौममिव शशङ्किरे। सेनाना नदीना च सहस्रै सभृत, व्याप्तदिङ्मण्डल प्रबलकल्लोलसमूहै पक्षे पृथुलैरश्वसमूहै, निर्मलतरसलिलमध्यमग्नपर्वत पक्षे निशाततरवारिनिपातितशत्रुसघातम् ॥१३॥ अनुगतेति—मुक्तामालामण्डनान् स्वर्णकलशान् बिभ्राण सुरसार्थमवलोक्योत्ताल-

मानो देवोंने सुवर्णके कलश धारण करनेवाली पंक्ति बनाना शुरू की थी ॥ ११ ॥ देवोंने अपने आगे वह क्षीरसमुद्र देखा जो कि ठीक उस वृद्ध व्यापारीके समान जान पड़ता था जो कि काँपते हुए तरंगरूप हाथोसे नये-नये मणि, मोती, शख, सीप तथा मूँगा आदि दिखला रहा था, स्थूल पेट होनेसे जो व्याकुल था [पक्षमे जलयुक्त होनेसे पक्षियों द्वारा व्याप्त था] और इसी कारण जिसकी काँछ खुल गयी थी [पक्षमें जिसका जल छलक-छलककर किनारेसे बाहर जा रहा था अथवा किनारेपर जिसने कछुआको छोड रखा था] ॥ १२ ॥ देवोंने उस समुद्रको विजयाभिलाषी राजाकी तरह माना था क्योंकि जिस प्रकार विजयाभिलाषी राजा हजारों वाहिनियों—सेनाओंसे युक्त होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी हजारों वाहिनियों—नदियोंसे युक्त था, जिस प्रकार विजयाभिलाषी राजा पृथुलहरि समूह—स्थूलकाय घोडोंके द्वारा दिङ्मण्डलको व्याप्त करता है उसी प्रकार वह समुद्र भी पृथुलहरिसमूह—बडी-बडी लहरोंके समूहसे दिङ्मण्डलको व्याप्त कर रहा था और जिस प्रकार विजयाभिलाषी राजा अकलुषतरवारिक्रोडमज्जन्महीध्र—अपनी उज्ज्वल तलवारके मध्यसे अनेक राजाओका खण्डन करनेवाला होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी अकलुषतरवारिक्रोडमज्जन्महीध्र—अत्यन्त निर्मल जलके मध्यमे अनेक पर्वतोंको डुबानेवाला था ॥ १३ ॥ देव लोग निर्मल

१ व्याकुलो ख० ग० घ० म० च० छ० ज० । २ अस्येद सुगम व्याख्यानम्—ते देवास्त पयोधि क्षीरसागर विजिगीषु विजयाभिलाषिण नृपमिव मेनिरे । अथोभयो सादृश्यमाह—पयोधिपक्षे वाहिनीना नदीना सहस्रैरतिमात्र प्रभूततरम् उपचित वृद्धिगत पक्षे वाहिनीना सेनाना सहस्रैरतिमात्रमुपचित, पृथुलहरीणा स्थूलतरङ्गाणा समूहै क्रान्तदिक्चक्रवाल व्याप्ताशामण्डल पक्षे पृथुला स्थूला ये हरयोऽश्वास्तेषा समूहै व्याप्तदिङ्मण्डलम् । अकलुषतरेऽतिशयेन स्वच्छे वारिक्रोडे जलमध्ये मज्जन्तो ब्रुडन्तो महीध्रा पर्वता यस्मिंस्त पक्षे अकलुषस्य उज्ज्वलस्य तरवारे कृपाणस्य क्रोडे मध्ये मज्जन्त खण्डिनीभवन्तो महीध्रो राजानो यस्य तम् ॥१३॥

अभिनवमणिमुक्ताशङ्खशुक्तिप्रवाल-
प्रभृतिकमतिलोलैर्दर्शयन्नूर्मिहस्तैः ।
जडजठरतयैक्षि व्याकुलान्मुक्तकच्छ
स्थविरवणिगिवाग्रे स्वर्गिभि क्षीरसिन्धु ॥१२॥

उपचितमतिमात्र वाहिनीना सहस्रै
पृथुलहरिसमूहै क्रान्तदिक्चक्रवालम् ।
अकलुपतरवारिक्रोडमज्जन्महीध्र
नृपमिव विजिगीषु मेनिरे ते पयोधिम् ॥१३॥

अनुगतभुजगेन्द्रान्मन्दराद्रीनिवोच्चै-
र्दधतममलमुक्तामालिन स्वर्णकुम्भान् ।
सुरनिकरमुपेत वारिधिर्वीक्ष्य भूयो-
ऽप्यतिमथनभियेव व्याकुलोर्मिश्चकम्पे ॥१४॥

अत्यन्तवृद्धोऽधोगमनैकशीलो लोचनहीनो यथा साधर्मिकैरुत्थाप्य जिनालय नीयते ॥११॥ अभिनव इति—देवै क्षीरसिन्धुरीक्षाञ्चक्रे वृद्धो हट्ट किराट इव । कथ किराटत्वमित्याह—अभिनवमणिमौक्तिकशङ्खशिप्राविद्रुमप्रभृतीनि विक्रेयद्रव्याणि कम्पमानैर्दीर्घकल्लोलकरै प्रसारयन् जडजठरतया सलिलपूर्णागाधमध्यभावेन व्याकुलान् कल्लोलचापलान् मुक्तकच्छस्तटनिक्षिप्तकूर्म पक्षे स्थूलोदरभावेन शिथिलान्तरीयोऽदत्तकच्छ ॥१२॥ उपचितमिति—ते देवा क्षीराब्धि सार्वभौममिव शशङ्किरे। सेनाना नदीना च सहस्रै सभृत, व्याप्तदिङ्मण्डल प्रबलकल्लोलसमूहै पक्षे पृथुलैरश्वसमूहै, निर्मलतरसलिलमध्यमग्नपर्वत पक्षे निशाततरवारिनिपातितशत्रुसघातम् ॥१३॥ अनुगतेति—मुक्तामालामण्डनान् स्वर्णकलशान् बिभ्राण सुरसार्थमवलोक्योत्ताल-

---

मानो देवोंने सुवर्णके कलश धारण करनेवाली पंक्ति बनाना शुरू की थी ॥ ११ ॥ देवोंने अपने आगे वह क्षीरसमुद्र देखा जो कि ठीक उस वृद्ध व्यापारीके समान जान पड़ता था जो कि काँपते हुए तरंगरूप हाथोंसे नये-नये मणि, मोती, शंख, सीप तथा मूँगा आदि दिखला रहा था, स्थूल पेट होनेसे जो व्याकुल था [पक्षमें जलयुक्त होनेसे पक्षियों द्वारा व्याप्त था] और इसी कारण जिसकी काँछ खुल गयी थी [पक्षमे जिसका जल छलक-छलककर किनारेसे बाहर जा रहा था अथवा किनारेपर जिसने कछुआको छोड़ रखा था] ॥ १२ ॥ देवोंने उस समुद्रको विजयाभिलाषी राजाकी तरह माना था क्योंकि जिस प्रकार विजयाभिलाषी राजा हजारों वाहिनियों—सेनाओंसे युक्त होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी हजारो वाहिनियों—नदियोंसे युक्त था, जिस प्रकार विजयाभिलाषी राजा पृथुलहरि समूह—स्थूलकाय घोड़ोंके द्वारा दिङ्मण्डलको व्याप्त करता है उसी प्रकार वह समुद्र भी पृथुलहरिसमूह—बड़ी-बड़ी लहरोंके समूहसे दिङ्मण्डलको व्याप्त कर रहा था और जिस प्रकार विजयाभिलाषी राजा अकलुषतरवारिक्रोडमज्जन्महीध्र—अपनी उज्ज्वल तलवारके मध्यसे अनेक राजाओंका खण्डन करनेवाला होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी अकलुषतरवारिक्रोडमज्जन्महीध्र—अत्यन्त निर्मल जलके मध्यमे अनेक पर्वतोंको डुबानेवाला था ॥ १३ ॥ देव लोग निर्मल

---

१ व्याकुलो ख० ग० घ० म० च० छ० ज० । २ अस्येद सुगम व्याख्यानम्—ते देवास्त पयोधिं क्षीरसागर विजिगीषु विजयाभिलाषिण नृपमिव मेनिरे । अथोभयो सादृश्यमाह—पयोधिपक्षे वाहिनीना नदीना सहस्रैरतिमात्र प्रभूततरम् उपचित वृद्धिगत पक्षे वाहिनीना सेनाना सहस्रैरतिमात्रमुपचित, पृथुलहरीणा स्थूलतरङ्गाणा समूहै क्रान्तदिक्चक्रवाल व्याप्ताशामण्डल पक्षे पृथुला स्थूला ये हरयोऽश्वास्तेषा समूहै व्याप्तदिङ्मण्डलम् । अकलुषतरेऽतिशयेन स्वच्छे वारिक्रोडे जलमध्ये मज्जन्तो ब्रुडन्तो महीध्रा पर्वता यस्मिंस्त पक्षे अकलुषस्य उज्ज्वलस्य तरवारे कृपाणस्य क्रोडे मध्ये मज्जन्त खण्डिनीभवन्तो महीध्रो राजानो यस्य तम् ॥१३॥

उदधिनिहितनेत्रान्वीक्ष्य वाग्विभ्रमाणा
निधिरमृतभुजस्तान्पालक. केलिपात्रम् ।
विहितमुदमवोचद्वाचमेतामनुक्तो-
ऽप्यवसरमुखरत्व प्रीतये कस्य न स्यात् ॥१५॥
नियतमयमुदञ्चद्वीचिमालाछलेनो-
च्छलति जलदमार्गे ज्ञातजैनाभिषेक ।
तदनु जडतयोच्चैर्नाधिरोढु समर्थः
पतति पुनरधस्तात्सागर' कि करोतु ॥१६॥
प्रशमयितुमिवार्ति दुर्वहामौर्ववह्ने-
र्यदधिरजनि चान्द्री शीलयामास भास ।
तदयमिति मतिर्मे क्षीरसिन्धुर्जनाना-
मजनि हृदयहारी हारनीहारगौर ॥१७॥
द्विरदतुरगरङ्गश्रीसुधाकौस्तुभाद्या
कति कति न ममार्था हन्त धूर्तैर्गृहीता ।
इति मुहुरयमुर्वी ताडयन्नूर्मिहस्तै-
र्ग्रहिल इव विरावै सागरो रोरवीति ॥१८॥

कल्लोलमालाभि समुद्रो भयेनेव कम्प दधौ । किं भयकारणमित्याह—नेत्रीकृतशेषाहिवेष्टितान् सहस्रसख्यान् मन्दरपर्वतानिव । अतश्च पुनरप्यनेकमन्दरमथनभयेनेव ॥१४॥ उदधीति—तत समुद्रालोकनविस्मितान् देवगणान् तान् पालकनामा क्रीडापात्र चाटुवचनाना निधि समोदा वाणीमभाषिष्ट एता वक्ष्यमाणाम् अनालपितोऽपि । सत्यमेतत्—अवसरे वाचाटतापि कस्य प्रीतिहेतवे न स्यात् । ॥१५॥ नियतमिति—निश्चितमहमेव मन्ये उल्लसत्कल्लोलव्याजेनासौ जलनिधिर्मेरुमस्तक जिनमहोत्सवे जिगमिषति ततोऽसौ गगनमार्गं कल्लोलैरुल्लसति पुनरपि जलभारेण तथैव निपतति ॥१६॥ प्रशमयितुमिति—अन्तर्ज्वल्यमानवडवाग्निदु सहतापपीडाशमनार्थमिव याश्चन्द्रकला उपजीवयाचकार ततोऽह वितर्कयामि–तेनाय जनमनोहारी मुक्ताहिमगौरो बभूव ॥१७॥ द्विरद इति—विरावै जलपक्षिकोलाहलै करुणास्वरैर्वा समुद्र आक्रन्दति कल्लोललक्षणैर्दीर्घहस्तैर्भूमिघात कुर्वन् धृतविचित्तबाल इव । किमर्थ रोरवीत्याह—ऐरावणोच्चै श्रवणकल्पवृक्षलक्ष्मीपीयूषकौस्तुभमणिप्रभृतय के के मे पदार्था अनन्यसाधारणा धूर्तैर्देवदानवै कष्ट मथित्वा न

मोतियोंकी मालाओंसे युक्त जिन बड़े-बड़े सुवर्ण कलशोंको लिये थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो शेपनागसे सहित मन्दरगिरि ही हों। उन कलशोंको लेकर जब देव समुद्रके पास पहुँचे तब उन्हें देख चंचल तरंगोंके बहाने समुद्र इस भयसे ही मानो काँप उठा कि हमारा फिरसे भारी मन्थन होनेवाला है ॥ १४ ॥ वचन वैखरीके भाण्डार पालक नामक कौतुकी देवने जब देखा कि इन सब देवोंकी दृष्टि समुद्रपर ही लग रही है तब वह आदेशके बिना ही निम्नलिखित आनन्ददायी वचन बोलने लगा सो ठीक ही है क्योंकि अवसर पर अधिक बोलना किसे अच्छा नहीं लगता ॥ १५ ॥ निश्चित ही यह समुद्र जिनेन्द्र भगवान्‌के अभिषेकका समय जानकर उछलती हुई तरंगोंके छलसे आकाशमें छलाँग भरता है परन्तु स्थूलताके कारण [पक्षमें जलरूपताके कारण] ऊपर चढ़नेमें असमर्थ हो पुनः नीचे गिर पड़ता है बेचारा क्या करे ॥ १६ ॥ मेरा तो ऐसा खयाल है कि चूँकि इस क्षीरसमुद्रने वडवानलकी तीव्र पीड़ाको शान्त करनेके लिए रात्रिके समय चन्द्रमाकी किरणोंका खूब पान किया था इसलिए ही मानो वह मनुष्योंके हृदयको हरनेवाला हार और बर्फके समान सफेद हो गया है ॥ १७ ॥ ऐरावत हाथी, उच्चैःश्रवा घोड़ा, लक्ष्मी, अमृत तथा कौस्तुभ आदि मेरे कौन-कौन पदार्थ

पवनजववशेनोत्पत्य दूर पतन्तो
जलधिजलतरङ्गा कम्बुकिर्मीरभास ।
उपरि विततमुक्तासग्रहोत्तालबुद्ध्या
झटिति कलिततारामण्डला वा विभान्ति ॥१९॥

[1]घनतरतरुणाढ्येनात्र देशेन केना-
[2]प्यतिगुरुगिरिणा वा दुर्निवारप्रचारा ।
स्वयमिममभिसस्रुर्यत्समस्ता. स्रवन्त्यो
निरुपममिदमस्मादस्य सौभाग्यमब्धे ॥२०॥

अयमुपरि सविद्युत्तोयमादातुमब्धे-
र्व्यतिषजति तमालश्यामलो वारिवाहः ।
तुहिनकिरणकान्त कान्तया श्लिष्यमाण
शिशयिषुरिव शौरि शेपपर्यङ्कपृष्ठम् ॥२१॥

गृहीता अपितु गृहीता एवेति स्मार स्मार मुह्यन् ॥१८॥ पवनेति—वातवेगवशेन समुद्रकल्लोला गगने दूर-मूर्ध्वं गत्वा शीघ्र पतन्तो वितवर्यन्ते–किमर्थमुत्पतन्तीत्याह–गगनतले विक्षिप्तमुक्ताफलसग्रहत्वरिताभिप्रायेण पश्चादासन्नतया तारामण्डलमिति ज्ञात्वा विलक्ष्य झगिति व्याघुटन्ति ॥१९॥ घनतरेति—अस्य समुद्रस्य सौभाग्यमस्माद् दृष्टप्रत्ययान्निरुपमम् । कस्मात्प्रत्ययादित्याह—यत्सर्वा अपि नद्य एन स्वयमेवाभिजग्मु । किं-विशिष्टा । अनिषेध्यप्रसरा , केन । प्रचुरतरवृक्षेण समृद्धेन देशेन अत्युच्चैस्तरेण महता पर्वतेन वा पक्षे घन-तरै प्रचुरैस्तरुणैर्युवभिराढ्येन महता गुरुगिरिणा गुरुपित्रादिना वा । स्रवन्त्य कामद्रवार्द्रा कामिन्यो यथा कचित्सुभगमाश्रयन्ति ॥२०॥ अयमिति—अय विद्युन्मालामण्डनो जल गृहीतु तमालवृक्षनीलो मेघ उपरिष्टा-दवतरति स्वर्णप्रभाभासुरया लक्ष्म्यालिङ्ग्यमानो [[3]मुरारि शयितुमिच्छु शशिसुन्दर शेपपर्यङ्काभोगमिवे]

इन धूर्तोंने नही छीन लिये है ? इस प्रकार तरंग रूप हाथोंके द्वारा पृथ्वीको पीटता हुआ यह समुद्र पागलकी भाँति पक्षियोंके शब्दके बहाने मानो रो ही रहा है ॥ १८ ॥ शंखो द्वारा चित्र-विचित्र कान्तिको धारण करनेवाली ये समुद्रके जलकी तरंग वायुके वेगवश बहुत दूर उछलकर जो नीचे पड रही हैं वे ऐसी जान पडती है मानो आकाशमे फैले ताराओंको मोती समझ उनका सग्रह करनेके लिए ही उछल रही हों और लौटते समय तैरते हुए शंखोंके बहाने मानो ताराओके समूहको लेकर ही लौट रही हो ॥ १९ ॥ अत्यन्त सघन वृक्षों और बडे-बड़े पर्वतोंसे युक्त [पक्षमे तरुण पुरुष और गुरुजनोंसे युक्त] किसी भी देशके द्वारा जिनका प्रचार नहीं रोका जा सका ऐसी समस्त नदियाँ [पक्षमे स्त्रियाँ] अपने-आप इसके पास चली आ रही है अतः इस समुद्रका यह अनुपम सौभाग्य ही समझना चाहिए ॥ २० ॥ इधर देखो, यह बिजली सहित तमालके समान काला-काला मेघ जल लेनेके लिए समुद्रके ऊपर आ लगा है जो ऐसा जान पडता है मानो चन्द्रमाके समान सुन्दर शेपनागके पृष्ठपर

---

१ घनतरा अतिशयेन सान्द्रास्तरवो वृक्षा यस्मिंस्तेन घनतरुणा , आढ्येन समृद्धेनेति पृथग्विशेपणद्वय देशस्य पक्षे घनाश्च ते तरुणाश्चेति घनतरुणा प्रचुरयुवानस्तैराढ्येन सहितेनेति समस्त पद देशस्य विशेपणम् । २ अतिगुरवो विशालतरा गिरयो यत्र पक्षेऽतिगुरुर्गिरिरिव यत्र तेन । ३ कोष्ठकान्तर्गत पाठ टीकाया नोपलभ्यते ।

स्फुटकुमुदपरागः[1] सागरो मातरं न
क्षितिमहह कदाचित्प्लावयिष्यत्यशेषम्[2] ।
इति किल जलवेगं रोद्धुमाबद्धमाला
कथमपि तटमस्य क्ष्मारुहो न त्यजन्ति ॥२२॥
रतिविरतिषु वेलाकानने किंनरीभिः
पुलकितकुचकुम्भोत्तम्भमासेव्यतेऽस्मिन् ।
चपलकलभलीला भिन्नकङ्कोलकैला-
परिमलमिलितालिध्वानधीरः समीरः ॥२३॥
अयमिह जटिलोर्मिर्भाति कङ्केलिवल्ली-
किसलयललिताभिर्विद्रुमाणां लताभिः ।
ज्वलिततनुरिवान्तर्वाडवाग्नेः शिखानां[3]
विततिभिरतिगाध्योत्साहवद्दीयसीभिः ॥२४॥
इह हि मिलितरङ्गत्प्रौढसिन्धुप्रियायाः
पुलिनजघनरङ्गोत्सङ्गसंगात्पयोधिः ।
सरभसमुपकूजत्कुक्कुहक्वाणदम्भान्
मसृणमणितलीलोल्लासमभ्यस्यतीव ॥२५॥

त्युपमानोपमेयभावः ॥२१॥ स्फुटेति—विकसितकुमुदश्वलः कदाचित् क्षीराब्धिरस्मन्मातरं पृथ्वीं प्लावयिष्यतीति चिन्तयन्तो वृक्षा अस्य वेलावनश्रेणीरूपाः स्थानं न त्यजन्ति । अथ च स्फुटो भ्रष्टः कुः पृथ्वी तस्या विषये मुत् हर्षस्तेनापरागो बद्धमत्सरः ॥२२॥ रतीति—अत्र वेलाकानने सुरतावसानेषु किंनरराजपत्नीभिरुद्धूतस्तनमण्डलोच्छ्वासं यथा भवति क्रीडारतोत्तालबालकलभमोटिता कङ्कोलैलादयो वृक्षविशेषास्तेषां विशेषगन्धेन मिलितभ्रमरपटलध्वनिसुभगः शीतलो वातः सेव्यते ॥२३॥ अयमिति—अयमशोकवल्लीपल्लवसदृशीभिः प्रवालकलताभिः कर्बुरितकल्लोलः शोभते । अतितृषायोगदीर्घतमाभिर्मध्यवाडवाग्निज्वालानां पङ्क्तिभिरिव देदीप्यमानवपुः ॥२४॥ इहेति—जलधिः कोकूयमानः कुक्कुहाः पक्षिविशेषास्तेषां क्वाणो ध्वनिस्तस्य व्याजात् सरसनिभृतकण्ठकूजितलीलाप्रकाशमभ्यस्यतीव । कुतः कण्ठकूजाभ्यासं करोतीत्याह—सगतनृत्यन्महानदीवल्लभायाः पुलिनजघनरङ्गोत्सङ्गः तस्य सङ्गात् सरभसमविश्रामोत्तालम् । अन्योऽपि प्रौढकामी-

शयन करनेकी इच्छा करनेवाले लक्ष्मी द्वारा आलिंगित कृष्ण ही हों ॥ २१ ॥ चूँकि यह समुद्र पृथिवीके हर्षसे विद्वेष रखनेवाला है [पक्षमें कुमुदोंकी गिरी हुई परागसे युक्त है] अतः सम्भव है कि कभी हमारी माता रूप समस्त पृथिवीको डुबो देगा इसलिए जलका वेग रोकनेके लिए ही मानो वृक्ष कतार बाँधकर इसका किनारा कभी नहीं छोड़ते ॥ २२ ॥ इस समुद्रके किनारेके वनमें किन्नरी देवियाँ संभोगके बाद अपने उन्नत स्तन कलशोंको रोमांचित करती हुई चंचल हाथियोंके बच्चेकी क्रीड़ासे खण्डित कवाक चीनी और इलायचीकी सुगन्धिसे एकत्रित भ्रमरोंकी गुंजारसे भरी वायुका सेवन करती हैं ॥ २३ ॥ इधर, इस समुद्रकी लहरें अशोक-लताओंके पल्लवोंके समान सुन्दर मूँगाकी लताओंसे व्याप्त हैं अतः ऐसा जान पड़ता है मानो अतिशय तृष्णाके संयोगसे बढ़ी बड़वानलकी ज्वालाओंके समूहसे इसका शरीर जल ही रहा हो ॥ २४ ॥ इधर, मिली हुई नदीरूपी प्रौढ़ प्रियाके तटरूपी जघन प्रदेशके साथ इस समुद्रका बार-बार सम्बन्ध हो रहा है जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो समीप ही शब्द करनेवाले जल-पक्षियोंके शब्दके छलसे संभोग कालमें होनेवाले मनोहर शब्दका

१ स्फुटः कुमुदानां परागो यस्मिन् स पक्षे स्फुटः प्रकटितः कुमुदि पृथिवीहर्षेऽपरागो विद्वेषो यस्य सः ।
२. अशेषाम् च ज घ म । ३ शिखायाः च ।

सकलजगदधृष्यस्यैकगाम्भीर्यभाजो
बहुलहरियुतस्य प्रोल्लसत्कङ्कणस्य ।
इति निगदति तस्मिन्नाकिलोकस्य तस्या-
प्यजनि सलिलराशेरन्तर नैव किंचित् ॥२६॥

सुरसमितिरसख्यै क्षीरपाथोधिनीरं
यदुरुकनककुम्भैरुच्चुलुम्याचकार ।
चुलुककलितवार्धः स्मारयामास नश्यद्-
वरुणनगरनारीस्तेन कुम्भोद्भवस्य ॥२७॥

स्नपनविधिनिमित्तोपात्तपानीयपूर्णा
सपदि दिवमुदीयु शातकुम्भीयकुम्भा ।
दृषद इव तदन्ये यच्च रिक्ता निपेतु
प्रकटमिह फल तज्जैनमार्गानुवृत्ते ॥२८॥

जघनमधिरूढ पारापतादिध्वनिना [1]मणितयति ॥२५॥ सकलेति—इति तस्मिन् देवक्रीडापात्रे निगदति सति देववृन्दस्य समुद्रस्य च न किमप्यन्तरमभूत् पयोधिरासन्नो बभूवेत्यर्थ । पक्षे न किमपि विसदृशतालक्षणम् । सकलैर्जगद्भिरध्यक्षमनुल्लङ्घनीय पक्षे सकलजगत सकाशात् प्रभावाधिकस्यासदृशगाम्भीर्ययुक्तस्य प्रचुरकल्लोल-युक्तस्य पक्षे बहुलहरय प्रचुरेन्द्रास्तैर्युतस्य । प्रोल्लसत्पानीयकणस्य देदीप्यमानकङ्कणस्य च[2] ॥२६॥ सुरेति—देवसमूहो योजनाष्टविस्तीर्णकुक्षिभिर्द्वादशयोजनोत्सेधैर्योजनैकमुखपरिणाहै सुवर्णकलशैर्जल यत्स-मुद्दध्रे तन्निजचुलुकारोपितसमुद्रस्यागस्यमुनेर्नश्यद्वरुणपुरन्ध्रीकर्मतापन्ना अमस्मरन् प्रचुरपानीयानयनसूचनम् ॥२७॥ स्नपनेति—प्रत्स्नपनार्थं गृहीतपानीयपूर्णा कनककुम्भा ऊर्ध्वमुज्जग्मु यच्चान्ये कुम्भा पाषाणा इव रिक्ता भूमौ निपेतुस्तत् सर्वविदितमत्र जिनमार्गानुवर्तनप्रकट फलम् । जिनमार्गानुभाविन ऊर्ध्व-

अभ्यास ही कर रहा हो ॥ २५ ॥ पालकके ऐसा कहने पर देवसमूह और समुद्रके बीच कुछ भी अन्तर नहीं रह गया था क्योंकि जिस प्रकार देवसमूह समस्त संसारके द्वारा अधृष्य—सम्माननीय था उसी प्रकार वह समुद्र भी समस्त संसारके द्वारा अधृष्य—अनाक्रमणीय था, जिस प्रकार देवसमूह मुख्य गाम्भीर्य—धीरताको प्राप्त था उसी प्रकार वह समुद्र भी मुख्य गाम्भीर्य—अधिक गहराईको प्राप्त था, जिस प्रकार समुद्र बहुलहरियुत—बहुत तरगोंसे युक्त था उसी प्रकार देवसमूह भी बहुलहरियुत—अधिक इन्द्रोंसे सहित था और जिस प्रकार देवसमूह शोभायमान ककणों—हस्ताभरणोंसे सहित था उसी प्रकार वह समुद्र भी शोभायमान ककणों—जलकणोंसे सहित था ॥ २६ ॥ देवोंके समूहने सुवर्णके बड़े-बडे असख्यात कलशोंके द्वारा जो क्षीर समुद्रका जल उलीच डाला था उसने नष्ट होनेवाले वरुणके नगरकी स्त्रियोंको चुल्लूमे समुद्र धारण करनेवाले अगस्त्य महर्षिकी याद दिला दी ॥ २७ ॥ जो सुवर्ण कलश जिनेन्द्र भगवान्के अभिषेकके लिए भरे हुए जलसे पूर्ण थे वे शीघ्र ही ऊपर आकाशमे जा रहे थे और जो खाली थे वे पत्थरकी तरह नीचे गिर रहे थे इससे जिनेन्द्र

१ मणित सुरतशब्द करोतीति मणितयति 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच् 'मणित रतिकूजितम्' ।
२ अत्रेद व्याख्यान सुगमम्—इति पूर्वोक्तप्रकारेण तस्मिन् पूर्वोक्ते पालके निगदति सति उच्चरति सति तस्य नाकिलोकस्य देवसमूहस्य सलिलराशे सागरस्य च अन्तर्मध्ये किंचित्किमपि अन्तर विप्रकृष्टत्व वैशिष्ट्य च नैवाजनि नाभूत् । अथोभयो सादृश्यमाह—सकलजगद्भिर्निखिललोकैरधृष्यमतिरस्कार्य यद् गाम्भीर्य स्थैर्य तद् भजतीति तथा तस्य पक्षे गाम्भीर्यमगाधत्वम्, बहुला प्रचुरा ये हरय इन्द्रास्तैर्युतस्य पक्षे बहुलहरिभि प्रभूततरङ्गैर्युतस्य, प्रोल्लसन्त देदीप्यमाना कङ्कणा करवलया यस्य तस्य तथा भूतस्य पक्षे प्रोल्लसन्त समुत्पतन्त कङ्कणा जलकणा यस्य तस्य ॥२६॥

अनुगतभुजमालालोलयारभ्यमाणे-
मणिघटपरिवर्तावर्तने क्षीरसिन्धो ।
उदकमुपनयद्भिर्देववृन्दैस्तदानी-
मभिनवमभिनीतं वार्घटीयन्त्रचक्रम् ॥२९॥
[1]घनसुषिरततानामुद्धुरानद्धनादे
[2]तिरयति रवमुच्चैर्भिन्नभूमीध्ररन्ध्रे ।
प्रसरति नवनाट्यप्रक्वणत्किङ्किणीना-
ममरसहचरीणा मङ्गलोद्गारराव ॥३०॥
कलुषमिह विपक्ष दर्शनादेव जित्वा
[3]स्वगुणगरिमहेलाक्रान्तसिंहासनस्य ।
प्रथममरनाथा भूत्रयस्येव राज्ये
कनककलशतोयैश्चक्रुरस्याभिषेकम् ॥३१॥ [युग्मम्]
जरठविशदकन्दप्रोज्ज्वलाया शिलाया
प्रचरदरुणमुग्धस्निग्धपाणिप्रवाल ।
अमृतमधुरनीरै सिच्यमान स देवै-
रभिनव इव रेजे पुण्यवल्लीप्ररोह ॥३२॥

मुद्गच्छन्ति तद्विपरीतास्तु विपरीत गच्छन्ति ॥२८॥ अनुगतेति—तदा देववृन्दै क्षीरसमुद्रस्य जलमुच्चुलुम्पद्भिर्दृष्टपूर्वोऽरघट्ट आरब्ध । कैर्जलमुपनयद्भिरित्याह—स्नपनघटाना परिवर्त्तै पौन पुन्येन तदानयनैस्तेषामावर्तनैर्हस्ताद्धस्ते सचारणै । किंविशिष्टे । अनुगता परस्परे सबद्धा भुजा एव मालाघटीबन्धनवरत्रिका तया आरभ्यमाणे परिगृह्यमाणे ॥२९॥ घनेति—घन झल्लरीकसतालादिक सुषिर वशादिक तत तन्त्रीवाद्य वितत मर्दलादिकम् एतेषा वाद्यानामुद्धुरमुत्कट यथा स्यादेवमानद्धादिसजातमहाध्वनौ पातितपर्वतगुहान्तरेऽन्यशब्दान्तरमाच्छादयति सति अप्सरसा च मङ्गलगीते प्रवर्द्धमाने नवीभूतमपूर्वं यन्नाट्य तस्याभिनयेन रणज्झणायमानक्षुद्रघण्टिकानाम् ॥३०॥ कलुषमिति—अस्य जिनस्य चतुर्णिकायामरेन्द्रा प्रथम त्रिभुवनसाम्राज्यस्येव कनककलशैरभिषेकमकार्षु । किंविशिष्टस्येत्याह—अनन्यसाधारणासख्यनिजगुणमहिमलीलाक्रान्तसिंहासनस्य पापनामान प्रतिपक्ष दृष्टिमात्रेणापि निर्णाश्य पक्षे दर्शनात् सम्यक्त्वात् ॥३१॥ जरठेति—महाधवलमृणालकन्दसदृश्या पाण्डुशिलाया पीयूषसोदरै क्षीरजलै सिच्यमानो धर्मलताङ्कुर इव व्यराजत । प्रचलन्तौ शोणौ कोमलौ स्निग्धपाणी एव प्रवालौ यस्य । अत्राङ्कुरोद्गतिस्कन्द-शिलयोर्जिनपुण्य-

भगवान्‌के मार्गानुसरणका फल स्पष्ट प्रकट हो रहा था ॥ २८ ॥ उस समय क्षीरसमुद्रसे जल ले जानेवाले देवोंके समूहने परस्पर मिली हुई भुजाओंकी लीलाके द्वारा प्रारम्भ किये मणिमय घटोंके आदान-प्रदानसे एक नूतन जलघटी यन्त्र बनाया था ॥ २९ ॥ जब पर्वतकी गुफाओंको भिन्न करनेवाला भेरीका उच्च शब्द घन सुषिर और तत नामक बाजोंके शब्दको दबा रहा था, एवं नये-नये नृत्योंके प्रारम्भमें बजनेवाली किंकिणियोंसे युक्त देवांगनाओंके मंगलगानका शब्द जब सब ओर फैल रहा था ॥ ३० ॥ तब इन्द्रोंने दर्शनमात्र [पक्षमें सम्यग्दर्शन मात्र] से ही पाप रूप शत्रुको जीतकर अपने गुणोंकी गरिमासे अनायास सिंहासनपर आरूढ होनेवाले जिनेन्द्रदेवका सुवर्णमय कलशोंके जलसे मानो त्रिलोकका राज्य देनेके लिए ही सर्वप्रथम अभिषेक किया था ॥ ३१ ॥ अत्यन्त सफेद कन्दके समान उज्ज्वल पाण्डुक शिलापर कुछ-कुछ हिलते हुए लाल मनोहर एव चिकने हाथरूपी पल्लवोंसे युक्त जिन-

१ 'तत वीणादिक वाद्यमानद्ध मुरजादिकम् । वशादिक तु सुषिर कांस्यतालादिक घनम् ।' इत्यमर ।
२ तिरस्कुर्वति सति । ३ स्वगुणाना गरिम्णा गौरवेण हेलया क्रान्त सिंहासन येन तस्य ।

हिमगिरिमिव मेरुं नीरपूरैः सृजद्भिः
स्नपयितुमपि [1]पृथ्वीमाशु [2]पृथ्वी समर्थैः ।
शिशुरपि जिननाथश्चुक्षुभे नो मनाग-
प्यहह सहजधैर्यं दुर्निवार्यं जिनानाम् ॥३३॥
यदधरितसुधौघैरर्हतः[3] स्नानतोयैः
सममसमसमृद्धया नेनिजुः श्रद्धयाङ्गम् ।
जगति खलु जराया सर्वसाधारणाया
तदसुलभममर्त्या भेजिरे निर्जरत्वम् ॥३४॥
[4]नटदमरवधूना दृक्कटाक्षच्छटाया
कनकरुचिकपोले तीर्थकृतुः स्फुरन्ती ।
स्नपनसलिलशेषाशङ्कया मार्जयन्ती
व्यधित हरिपुरन्ध्री[5] कस्य न स्मेरमास्यम् ॥३५॥
विशदमणिमयाभ्या वज्रसूचीविभिन्न-
श्रवणयुगमिताभ्या कुण्डलाभ्या स रेजे ।
किमपि समधिगन्तु तत्त्वविद्यारहस्य
सुरगुरुभृगुपुत्राभ्यामिव ज्ञानसिन्धु ॥३६॥

कन्दलयो पाणिप्रवालाना पुण्यवल्ल्योश्चोपमानोपमेयभाव ॥३२॥ हिमगिरिमिति—महती पृथ्वीप्लावनसमर्थैर्मेरु धवलतया हिमालयसदृश कुर्वद्भिर्बालोऽपि जिननाथ क्षीराब्धिजलै किंचिदपि न व्याकुलो बभूव । अहहेति–सप्रमोदापूर्वगुणस्मरणे । जिनानामनन्तवीर्ययुक्ताना धैर्यं स्वभाव निष्प्रकम्पत्व दुर्निवार्यमनन्यचाल्यम् ॥३३॥ यदिति—तिरस्कृतामृतप्रवाहैर्जिनगन्धोदकै सममेककाल श्रद्धया महाशक्त्याऽसमसमृद्धया गुरुतमया देवा निज वपु प्रक्षालयामासुस्तदह मन्ये सर्वैकस्वरूपाया जरायामतिचङ्क्रममाणाया दुष्प्राप युवत्वमेव प्रापु । जिनगन्धोदकेन देवा निर्जरा इति भाव ॥३४॥ नटदिति—देवनर्तकीना धवलकटाक्षरुचि स्नपनक्षीरशङ्कया शची प्रोञ्छयन्ती कस्य सहास्यमास्यं न चकार अपितु चकारेति ॥३५॥ विशदेति—वज्रसूचीभिन्नश्रवणयुगले स्थापिताभ्या निर्मलरत्ननिर्मिताभ्या कुण्डलाभ्या स शुशुभे शुक्रबृहस्पतिभ्या परमज्ञानस्वरूपं

बालक ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो देवोंके द्वारा अमृतके समान मधुर जलसे सींचे गये पुण्य रूप लताके नवीन अंकुर ही हों ॥ ३२ ॥ यद्यपि जिनेन्द्रदेव उस समय बालक ही थे और जिस जलसे उनका अभिषेक हो रहा था वह मेरुपर्वतको सफेदीके कारण मानो हिमालय बना रहा था और विशाल पृथ्वीको एक साथ नहलानेमें समर्थ था फिर भी उसके द्वारा वे रंचमात्र भी क्षोभको प्राप्त नहीं हुए सो ठीक ही है क्योंकि जिनेन्द्रदेवका स्वाभाविक धैर्य अनिवार्य एव आश्चर्यकारी होता है ॥ ३३ ॥ चूँकि अमृत प्रवाहका तिरस्कार करनेवाले अर्हन्त भगवान्‌के स्नान जलसे देवोंने बड़ी भक्ति और श्रद्धाके साथ अपना-अपना शरीर प्रक्षालित किया था इसीलिए ससारमें जराके सर्वसाधारण होनेपर भी उन्होंने वह निर्जरपना प्राप्त किया था जो कि उन्हें अन्यथा दुर्लभ ही था ॥ ३४ ॥ तीर्थंकर भगवान्‌के सुवर्णके समान चमकीले कपोलों पर, नृत्य करनेवाली देवागनाओंके कटाक्षोंकी जो प्रभा पड़ रही थी उसे अभिषेकका बाकी बचा जल समझकर पोंछती हुई इन्द्राणीने किसका मुख हास्यसे युक्त न किया था ॥ ३५ ॥ वज्रकी सूचीसे छिदे दोनों कानोंमें स्थित निर्मल मणिमय कुण्डलोंसे

१ विशालम् । २ महीम् । ३ अधरितस्तिरस्कृत सुधाना पीयूषाणामोघो यैस्तै । ४. नटन्त्यश्च ता अमरवध्वस्तासाम् । ५ इन्द्राणी ।

त्रिगुणवलितमुक्तातारहारापदेशा-[1]
दुरसि वरणमाला प्रक्षिपन्त्यस्तदानीम् ।
अहमहमिकयोर्वी[2] श्रीश्च मुक्तिश्च तिस्र
स्वयमपि वृणते स्म प्रेमवत्यस्तमेकम् ॥३७॥

निरुपममणिमाला तन्मुखेन्दोरुपान्ते
विगलदमृतधाराकारमुन्मुद्रयन्ती ।
शशिनममलकान्त्याक्रम्य वन्दीकृताना
विततिरिव विरेजे तत्प्रियाणामुडूनाम् ॥३८॥

मणिमयकटकाग्रप्रोतरत्नग्रहश्री
स धनकनककाञ्चीमण्डलाभोगरम्य ।
त्रिदशरचितभूषाविभ्रमो हेमगौरः
कनकगिरिरिवान्यो मेरुशृङ्गे रराज ॥३९॥

ज्ञातुमाश्रित इति ॥३६॥ त्रिगुणेति—तदा स्नानमहोत्सवानन्तरमहमहमिकया पृथ्वी लक्ष्मीर्मोक्षलक्ष्मीश्च तमेक प्रेमप्रेरितास्तिस्रोऽपि उपयेमिरे। किं कुर्वन्त्य इत्याह—कण्ठे स्वयवरमाला प्रक्षिपन्त्य त्रिसरित-मुक्ताहारव्याजात् ॥३७॥ निरुपमेति—तस्य जिनस्य मुखसमीपे कण्ठनिक्षिप्ता एकावली मुखचन्द्रविगलत्पीयूष-बिन्दुश्रेणीमनुकुर्वती शुशुभे हठात् मुखप्रभया जिनस्य चन्द्रस्य वन्दीकृताना रोहिणीप्रभृतीना तारकाणा श्रेणिरिव। अत्र मुखचन्द्रयोर्नक्षत्रमालामणिमालयोश्चोपमानोपमेयभाव ॥३८॥ मणिमयेति—स मेरुशृङ्गेऽपर-मेरुरिव रराज। किंविशिष्ट इत्याह—मणिमयकटकेषु कङ्कणादिहस्तालकरणेषु प्रोता सबद्धा ये रत्नग्रहा रत्नेष्वधिष्ठिता ग्रहा रत्नग्रहास्तेषा श्रीर्यस्य सजातनवग्रहकङ्कणलक्ष्मीक इत्यर्थ। प्रचुरसुवर्ण-मेखलावलयाभोगरम्यस्त्रिदशरचितालकरणविभ्रम सुवर्णगिरि पक्षे मणिमयशृङ्गस्थितसूर्यादिग्रहरमणीयः स्वर्णकटकिनीमण्डितस्त्रिदशै रचितौ भुवि पृथिव्या मृषा विभ्रमौ स्थितिचङ्क्रमणे यस्य ॥ ३९ ॥

यह ज्ञानके समुद्र जिन बालक ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो तत्त्व विद्याका कुछ रहस्य सीखनेके लिए बृहस्पति और शुक्र ही उनके समीप आये हों ॥ ३६ ॥ उस समय उनके वक्षः-स्थलपर तीन लड़का मोतियोंका बड़ा भारी हार पहिनाया गया था उसके बहाने ऐसा मालूम होता था मानो प्रेमसे भरी पृथिवी, लक्ष्मी और मुक्ति रूप तीन स्त्रियोंने शीघ्रताके साथ अपनी-अपनी वरण मालाएँ पहिनाकर उन्हीं एकको अपना पति चुना हो ॥ ३७ ॥ उनके मुख रूपी चन्द्रमाके समीप झरती अमृतधाराका आकार प्रकट करनेवाली अनुपम मणियोंकी माला ऐसी जान पड़ती थी मानो अपनी निर्मल कान्तिके द्वारा चन्द्रमाको जीतकर कैद की हुई उसकी तारारूप स्त्रियोंका समूह ही हो ॥ ३८ ॥ जिनके मणिमय कड़ोंके अग्रभागमें खचित रत्न, ग्रहोंके समान सुशोभित हैं, जो सुवर्णकी चुस्त करधनीके मण्डलसे रमणीय है एवं देवोंने आभूषण पहिनाकर जिन्हें अलंकृत किया है ऐसे सुवर्णके समान पीत वर्णको धारण करनेवाले वे जिनेन्द्र ऐसे जान पड़ते थे मानो सुमेरुके शिखर पर स्थित दूसरा सुमेरु ही हो। [क्योंकि सुमेरु पर्वतके मणिमय कटकों—शिखरों पर रत्नोंके समान सूर्यादि ग्रह अपनी शोभा बिखेर रहे थे, सुवर्णमय कटनियोंके विस्तारसे वह रमणीय था, देवोंके द्वारा उसकी भूमि पर सदा स्थिति और संचार होता रहता था अथवा देवोंके द्वारा उसकी भूमि पर सदा उषा—प्रातःकालकी लालीका विभ्रम—संशय किया जाता रहता था और सुवर्णके

१ त्रिगुणैर्वलितो यो मुक्ताना तारहारो विशालहारस्तस्यापदेशो व्याज तस्मात्। २ अहपूर्विकया।

ध्रुवमिह भवितायं धर्मतीर्थस्य नेता
स्फुटमिति स मघोना धर्मनाम्नाभ्यधायि ।
न खलु मतिविकासादर्शदृष्टाखिलार्था
कथमपि वितथार्थां वाचमाचक्षते ते ॥४०॥
किमपि [1]मृदुमृदङ्गध्वानविच्छेदमूर्च्छ-
च्छ्रुतिसुखसुषिरास्यप्रस्वनोल्लासिलास्ये ।
परिणमति सुधात्माधीनगन्धर्वगीते
व्यतिकरपरिरम्ये तत्र तौर्यत्रिकस्य ॥४१॥
दलितकमठपृष्ठ चारुचारीप्रयोगै-
[2]र्भ्रमितभुजनिरस्तस्रस्तविस्तारितारम् ।
प्रकटघटितलिङ्गाकारमावर्तवृत्त्या
प्रमदविवशमिन्द्रैस्तत्पुरस्तादनर्ति ॥४२॥ [युग्मम्]
इति निरुपमभक्ति शक्तिमप्यात्मनीना
स्नपनविनययुक्त्या व्यक्तयन्त सुरेन्द्रा ।

ध्रुवमिति—निश्चयेनासौ धर्मतीर्थस्य नायको भविष्यतीति मत्वा सौधर्मेन्द्रेण स्फुट त्रिभुवनप्रकटं धर्माभिधानेनालापित धर्मनाथ इति नामकृत इत्यर्थ । युक्तमेतत् न खलु सौधर्मेन्द्रप्रमुखा अवधिज्ञानिनोऽसत्या वाच ब्रुवन्ति । मतिविकास एवादर्शस्तस्मिन् दृष्टा याथातथ्येन सकलपदार्था यैस्तथाविधा ॥४०॥ किमपीति—तदग्रत इन्द्रैरनर्तीति युग्मेन सबन्ध । क्व सतीत्याह—तौर्यत्रिकस्य गीतवाद्यनृत्यलक्षणस्य व्यतिकरसमागमे सति पीयूषस्वरूपसदृशे गन्धर्वगीते, परिपाक भजमाने । पुन क्व सति । कोमलमर्द्दलनिनादविश्रान्तिसभवत्कर्णसुखदायिवशविवरप्रकाशितध्वन्यनुगतनृत्ये ॥४१॥ दलितेति—तदग्रतोऽतिप्रमोदवशात्सुरेन्द्रैर्ननृते । कथम् । यथा भवति । दलितभूम्याधारकूर्मपृष्ठ यथा भवति । कै । पदप्रचारप्रयोगैर्नर्तितदीर्घभुजध्वस्तपतितनक्षत्र यथा भवति । आवर्तवृत्त्या अतिभ्रमणपरिपाट्या प्रकटघटितलिङ्गाकार यथा स्यात् । अतिभ्रमणेनोर्ध्वाकार एव उपलभ्यते न हस्तपादादयोऽवयवा इति भाव ॥४२॥ इतीति—इति स्नानगीतनृत्याद्यनन्तर सर्वेऽपि

द्वारा वह पीला-पीला दिखाई देता था] ॥ ३९ ॥ निश्चित ही यह जिनेन्द्र इस भरतक्षेत्रमे धर्म तीर्थके नायक होंगे—यह विचार इन्द्रने उन्हें धर्मनाथ नामसे सम्बोधित किया था सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिके विकास रूप दर्पणमे समस्त पदार्थोंको देखनेवाले इन्द्र किसी भी तरह मिथ्या वचन नहीं कहते ॥ ४० ॥ जब मृदङ्गकी कोमल ध्वनिके विच्छेद होनेपर बढनेवाली कर्णकमनीय बाँसुरी आदि बाजोंकी सुमधुर ध्वनिसे सुशोभित नृत्य हो रहा था, जब गन्धर्वोंका अमृतमय संगीत जम रहा था, और जब नृत्य, गीत तथा वादित्रकी सुन्दर व्यवस्था थी ॥ ४१ ॥ तब इन्द्रने आनन्दके विवश हो भगवान् धर्मनाथके आगे ऐसा नृत्य किया कि जिसमे सुन्दर चारीके प्रयोगसे कच्छपका पीठ दलमला गया, घुमायी हुई भुजाओंसे दूर-दूरके तारे टूट-टूटकर गिरने लगे, एवं आवर्ताकार भ्रमणसे जिसमे लिंगाकार ही प्रकट था—अत्यन्त शीघ्र भ्रमणसे केवल दण्डाकार शरीर ही दिखाई देता था, हाथ पाँव आदि अवयव नहीं ॥ ४२ ॥ इस प्रकार अभिषेककी क्रिया द्वारा समस्त इन्द्र अपनी अनुपम भक्ति

१ मृदु कोमलो यो मृदङ्गध्वानो मृदङ्गशब्दस्तस्य विच्छेदे मूर्च्छन् वर्धमान श्रुतिसुख कर्णसुखदायी य सुषिरास्याना वशादिवाद्याना प्रस्वन प्रकृष्टनिनादस्तेनोल्लसतीति शील यल्लास्य नृत्य तस्मिन् । २ भ्रमितैर्भुजैर्निरस्तस्रस्तास्त्रुटितपतिता विस्तारितारा अतिदूरवर्तिनक्षत्राणि यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात्तथा ।

स्तुतिभिरवितथाभि. स्तुत्यमेनं समस्ताः
शिरसि निहितहस्ता स्तोतुमारेभिरे ते ॥४३॥
अखिलमलिनपक्ष पूर्वपक्षे निधाय
प्रथममुदितमात्रस्यापि संपूर्णमूर्तेः ।
जिनवर तव कान्त्या यत्कलामात्रशेषः
प्रतिपदमृतभानु स्पर्धते तन्मुधैव ॥४४॥
मुनिभिरमलबोधैरप्यशक्यासु कर्तुं
स्तुतिषु तव गुणानामप्रगल्भप्रभेव ।
वरद मुहुरमन्दानन्दसन्दोहदम्भा-
त्स्खलति गलगुहान्तर्निर्भरं भारती नः ॥४५॥
स्पृशति किमपि चेतश्चुम्बकग्रावगत्या
त्वयि जिन जनतायाः स्वस्वकार्योद्यतायाः ।
किमु कुतुकमपूर्वं नाथ यत्पूर्वजन्म-
व्रजवृजिनघनाय शृङ्खला निर्गलन्ति ॥४६॥
अमितगुणगणाना त्वद्गताना प्रमाणं
भवति समधिगन्तु यस्य कस्यापि वाञ्छा ।

मस्तकन्यस्तहस्तास्तादृशीभिरात्मोचिताभिरेन स्तवार्हं स्तोतुमारभन्ते स्म । किं कुर्वन्त इत्याह—आत्मनो भक्ति शक्तिं च तथा प्रकारेण प्रकटयन्त ॥४३॥ अखिलेति—हे जिनोत्तम ! प्रतिपच्चन्द्रो यत्तव प्रभया सार्द्धं स्पर्द्धां कुरुते तन्न किंचित् । किं विशिष्टस्येत्याह—प्रथममुत्पन्नमात्रस्यापि परिपूर्णशरीरस्य । स चैककलामात्र, किं कृत्वोदितस्येत्याह—अखिल मलिनपक्षे कर्मपटल पूर्वपक्षे गतभवपरिपाटचा विधाय, पक्षे कृष्णपक्ष पश्चात्कृत्य ॥४४॥ मुनिभिरिति—हे वरद ! अस्मद्वचनपरिपाटी अतिप्रमोदव्याजान्नोपसर्पति निर्मलज्ञानैर्मुनिभिरपि अशक्यानुष्ठानेषु स्तवेषु अप्रभविष्णुरिव । सर्वेऽपीन्द्रादयो देवा महाप्रमोदेन गद्गदवाच इत्यर्थ ॥४५॥ स्पृशतीति—हे जिन ! निजकार्यव्यग्रमानसानामपि जनाना यदि कथमपि सामग्रीसयोगेन चित्त त्वयि स्पृशति त्वामाश्लिष्यति किमप्येकदेशे चुम्बकपाषाणरीत्या तत किं चित्रम् । यत्पूर्वजन्मसहस्रकर्मलोहशृङ्खलापि विघटते । अथ च चुम्बकपाषाणेन स्पृष्टा लोहशृङ्खलास्त्रुटचन्तीति प्रसिद्धि ॥४६॥ अमितेति—हे अनघ !

और शक्ति प्रकट करते हुए वास्तविक स्तुतियोसे स्तुति करने योग्य श्री जिनेन्द्रकी इस प्रकार स्तुति करने लगे । स्तुति करते समय सभी इन्द्रोंने हाथ जोड़कर अपने मस्तकसे लगा रखे थे ॥ ४३ ॥ हे जिनेन्द्र ! जब कि चन्द्रमा मलिन पक्ष [कृष्ण पक्ष] को उत्तर पक्षमें [आगामी पक्षमें] रखकर उदित होता है तब आप समस्त मलिन पक्ष [दूषित सिद्धान्त]को पूर्व पक्षमे [शंका पक्षमें] स्थापित कर उदित हुए हैं । इसी प्रकार जब कि चन्द्रमा एक कला रूपमे उदित होता है तब आप उदित होते ही सम्पूर्ण मूर्ति हैं इसलिए एक कलाका धारी प्रतिपदाका चन्द्रमा कान्तिके द्वारा जो आपके साथ ईर्ष्या करता है वह व्यर्थ ही है ॥ ४४ ॥ हे वरद ! निर्मल ज्ञानके धारक मुनि भी आपकी स्तुति नहीं कर सकते यही कारण है कि हम लोगोंकी वाणी अनल्प आनन्द समूहके बहाने कुण्ठित सी होकर कण्ठरूप कन्दराके भीतर ही मानो ठिठक जाती है ॥ ४५ ॥ हे जिनेन्द्र ! कैसा अनोखा कौतुक है कि यद्यपि जनता अपने अपने कार्यमें लीन है फिर भी ज्यो ही आप चुम्बकके पत्थरकी तरह उसके चित्तका स्पर्श करते हैं त्योंही उसके पूर्व जन्म सम्बन्धी पापरूपी लोहेकी मजबूत साँकले तड़-तड़कर एकदम टूट

१ पूर्वजन्मना व्रजे समूहे यानि वृजिनानि पापानि तान्येव घना निविडा अय शृङ्खला लोहशृङ्खला ।

प्रथममपि स तावद्व्योम कत्यङ्गुलानी-
त्यनघ सुगमसख्याभ्यासमङ्गीकरोतु ॥४७॥
मनुज इति मुनीना नायक नाकिनाम-
प्यवगणयति यस्त्वा निर्विवेक. स एक ।
सकलविदकलक. क्षीणससारशङ्क-
श्चकितजनशरण्यः [1]कस्त्रिलोक्या त्वदन्य ॥४८॥
न खलु तदपि चित्र यत्त्वयोदेष्यतापि
प्रथममयमकारि प्राप्तपुण्यो जनोऽत्र ।
प्रतिशिखरि वनानि ग्रीष्ममध्येऽपि कुर्यात्
किमु न जलदकाल प्रोल्लसत्पल्लवानि ॥४९॥
तव वृषमधिरूढो योऽपि तस्य द्युलोक
स खलु कियति दूरे यो जनेनापि लभ्य ।
यदि च तुरगमाप्त प्राप्तवास्तदद्दुराप
तदपि जिन जनोऽय जन्मकान्तारतीरम् ॥५०॥

तवानन्तगुणाना य प्रमाण जिज्ञासति स प्रथम गगन कतिसख्योपेतान्यङ्गुलान्यस्तीति सुगम प्रमाण जानातु पश्चात् त्वद्गुणानिति । त्वद्गुणप्रमाणापेक्षया गगनप्रमाण सुगममिति भाव ॥४७॥ मनुज इति—हे नाथ ! यस्त्वामवमन्यते स एक एव निर्विवेको नान्य । किंविशिष्ट त्वामित्याह—मुनीना प्रभु, न केवल मुनीना देवानामपि । किञ्चिद्यन्नावगणयतीत्याह—मनुज इति मनुष्यजन्मेति त्वा विना त्रिभुवने कोऽन्य । सर्वज्ञो रागादिविनिर्मुक्त ससारवाह्यभूतो भवतोति जनसमुद्धरणे न कोऽपीत्यर्थ ॥४८॥ नेति[2]— ॥४९॥ तवेति—यस्तवोक्त धर्ममाश्रितस्तस्य स्वर्ग किमतिदूरे । य किम् । यो जनेन मिथ्यादृष्टिनापि सुप्राप । यदि पुनस्तव तुरङ्गं चारित्रभारमाश्रितस्तदा भवगहनपार दुरापमनन्याचरण प्राप्य प्राप्तवानत एवाय जन । अथ चोक्तिलेश—तत्र वृषभादिरूढो यो गव्यूतिद्वय प्राप्य मार्ग सुखेन गच्छति । यदि वाश्वाधिरूढोऽपि

जाती है ॥ ४६ ॥ हे निष्पाप ! आपके अपरिमित गुणसमूहका प्रमाण जाननेकी जिस किसीकी इच्छा हो वह पहले आकाश कितने अंगुल है यह नापकर सरलतासे संख्याका अभ्यास कर ले ॥ ४७ ॥ हे मुनिनायक ! आप मनुष्य हैं यह समझ देवोंके बीच यदि कोई आपका अनादर करता है तो वह अद्वितीय मूर्ख है। सर्वज्ञ, निष्कलंक, संसारकी शंकासे रहित और भयभीत जनको शरण देनेवाला आपके सिवाय इस त्रिभुवनमें दूसरा है कौन ? ॥ ४८ ॥ हे भगवन् ! इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं कि आपने अपने जन्मके पूर्व ही लोगोंको पुण्यात्मा बना दिया। क्या वर्षा काल अपने आने के पूर्व ही ग्रीष्मकालमे ही पहाड़ोंपर वनोंको लहलहाते पल्लवोंसे युक्त नहीं कर देता ॥४९॥ हे जिन ! जो आपके [सम्यग्दर्शन रूप] धर्मको प्राप्त हुआ है उसे वह स्वर्ग कितना दूर है जो कि साधारण मनुष्यके द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है। हाँ, यदि आपके चारित्रको प्राप्त कर सका तो यह निश्चित

१ कस्त्वदन्यस्त्रिलोक्याम् क । २ अस्य श्लोकस्य 'क'पुस्तके सस्कृतटीका नास्ति केवलमिति पाठो वर्तते 'सप्राप्तो वनानि निर्दशितपललवानि करोति' इति । लेखक प्रमादात् भ्रष्ट पाठ इति तर्कयामि । निश्चयेन तदपि चित्रमद्भुत नास्ति यत्त्वयोदेष्यतापि जन्म गृहीष्यतापि नवमासानन्तरमिति यावत् । अत्र भुवनेऽय जन प्राप्तपुण्य समर्जितसुकृत प्रथम जन्मन प्रागेव अकारि । तदेवोदाहरणेन दृढयति—प्रतिशिखरि प्रतिपर्वतमागमिष्यन् जलदकाल प्रावृट्समय ग्रीष्ममध्येऽपि निदाघमध्येऽपि वनानि काननानि प्रोल्लसन्त पल्लवा येषा तानि तथाभूतानि किमु न कुर्यादपि तु कुर्यादेव ॥

सर इव मरुमार्गे स्वच्छतोयं तृषार्तै-
स्तरुरिव रविरश्मिव्याकुलैरत्र सान्द्रः ।
निधिरिव चिरदुःस्थैः शर्मणेऽस्माभिरेकः
कथमपि भवभीतैर्नाथ दृष्टोऽसि दिष्ट्या ॥५१॥
स्वगुणगरिमदोःस्थ्य रोदसी रन्ध्ररोधाद्-
व्यतिषजति जिनेश त्वद्यशश्चन्द्रगौरम् ।
कथय कथममन्दा मन्दिरोद्योतशक्ति
प्रकटयति घटान्तर्वर्तिरूपः प्रदीपः ॥५२॥
गुणपरिकरमुच्चैः कुर्वतैव त्वयैते
क्षपितकलुषदोषा रोषितास्तद्विपक्षाः ।
अथ न कथममीषा नेक्ष्यते[1] त्वद्भयेन
त्वदनुगतजनेऽपि प्रायशः प्रीतिलेशः ॥५३॥
इति पिहितपदार्थे सर्वथैकान्त वल्ग-
न्निबिडतमतमोभिर्विश्ववेश्मन्यकस्मात् ।

तदानन्यवाहनप्राय प्राप्यमाण मार्गं वनप्रान्त गत एव ॥५०॥ सर इति—हे नाथ ! त्वं मरुस्थलीमार्गे निर्मलं सर इवातितृषितैर्ग्रीष्मकिरणकरालितैर्बहलस्तरुरिव सर्वदा दरिद्रैर्महानिधिरिवास्माभि सुखाय दृष्ट दिष्ट्या मङ्गलाय ॥५१॥ स्वगुणेति—हे जिनेश ! धवल त्वद्यशो रोदसीरन्ध्ररोधात्सकीर्णपृथ्वीगगनान्तरालसकोचात् आत्मगुणगौरवदरिद्रतामाश्रयति—पृथ्वीगगनयोरन्तराले न माति तत आत्मप्रसर न लभत इत्यर्थ । यथा घटान्तर्निक्षिप्तो दीपो गृहोद्योतप्रभा न प्रकटयति ॥५२॥ गुणेति—त्वया गुणपरिवार सभावयता तथा एते पापादयो दोषा प्रकोपितास्तद्विपक्षा गुणशत्रवो यथा तेषा गुणाना त्वद्भयेन तव भक्तजनेष्वपि नासन्नीभवन्ति । यथा कश्चिन्निज शत्रु स्वामिना चटूकृत दृष्ट्वा स्वामिपरिवारमपि विरागान्नालापयति ॥५३॥ इहेति—इह ससारे एकान्तवादेन विजृम्भमाणानि घनतमतमासि तै. पदार्थे वस्तुस्वरूपे आच्छादिते सति

है कि यह ससार रूप अटवीके दुर्लभ तीरको प्राप्त कर लेगा। [हे जिन ! जो आपके बैलपर सवार हुआ है उसे वह स्वर्ग कितना दूर है जो कि एक ही योजन चलनेपर प्राप्त हो सकता है। हाँ, यदि यह जन आपके घोड़ेपर सवार हो सका तो इस ससार रूप अटवीसे अवश्य पार हो जावेगा] ॥५०॥ हे नाथ ! जिस प्रकार मरुस्थलमें प्याससे पीड़ित मनुष्योंके द्वारा दिखा स्वच्छ जलभृत्—सरोवर उन्हें आनन्द देनेवाला होता है, अथवा सूर्यकी किरणोंसे सन्तप्त मनुष्योंके द्वारा दिखा छायादार सघन वृक्ष जिस प्रकार उन्हें सुख पहुँचानेवाला होता है, अथवा चिरकालके दरिद्र मनुष्योंके द्वारा दिखा खजाना जिस प्रकार उन्हें आनन्ददायी होता है उसी प्रकार सौभाग्य वश हम भयभीत मनुष्योके द्वारा दिखे हुए आप, हमलोगोंको आनन्द दे रहे हैं ॥५१॥ हे जिनेन्द्र ! आपका चन्द्रोज्ज्वल यश इस पृथिवी और आकाशके बीच अपने गुणोंकी अधिकताके कारण बड़ी संकीर्णतासे रह रहा है। आप ही कहिए, घटके भीतर रखा हुआ दीपक समस्त मन्दिरको प्रकाशित करनेकी अपनी विशाल शक्ति कैसे प्रकट कर सकता है ? ॥५२॥ हे क्षीण दोष ! गुणसमूहको ऊँचा उठानेवाले आपने ही तो इन गुणविरोधी दोषोंको कुपित कर दिया है। यदि ऐसा नहीं है तो आपकी बात जाने दो आपके अनुगामी किसी एक जनमे भी इन दोषोंके प्रेमका थोड़ा भी अंश क्यों नहीं देखा जाता ? ॥५३॥ सर्वथा एकान्तवाद

---

१ नेष्यते क ।

त्वमसि स खलु दीप केवलालोकहेतुः
शलभसुलभलीला लप्स्यते यत्र कामः ॥५४॥
अलमलममृतेनास्यादित त्वद्वचश्चेत्
किममरतरुलक्ष्म्या त्वय्यपि प्रार्थ्यमाने ।
जिन जगदतमस्क कुर्वति त्वत्प्रबोधे
किमहिमरुचिना वा कार्यमत्रेन्दुना वा ॥५५॥
दुरितमुदितं पाकोद्रेकात्पुराकृतकर्मणा
झटिति घटयत्यर्हद्भक्ते स्वशक्तिविपर्ययम् ।
उपजलतरुच्छायाच्छन्ने जने जरठीभवद्—
द्युमणिकिरणैर्भीष्मो ग्रीष्मो न किं शिशिरायते ॥५६॥
इत्याराध्य त्रिभुवनगुरु तत्र जन्माभिषेके
भक्त्या मातु पुनरपि तमुत्सङ्गभाज विधाय ।
भूयोभूयस्तदमलगुणग्रामवार्ताभिरुद्य-
ल्लोमानस्ते त्रिदशपतय स्वानि धामानि जग्मु ॥५७॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये जन्माभिषेको नामाष्टम. सर्ग ॥८॥

भुवनगृहे केवलज्ञानप्रकाशी त्वमेव दीप । एकान्तवादिमोहिते जने अनेकान्तवादप्रतिबोधकस्त्वमेवेत्यर्थ ॥५४॥ अलमिति—हे जिन ! तव वचन यदि श्रुत पृथते पीयूषेण । कल्पवृक्षलक्ष्म्यापि किं प्रयोजनम् । त्वयि याच्यमाने सति । अपर च गतध्वान्त भुवन त्वज्ज्ञाने कुर्वति सति चन्द्रेण सूर्येण वा किं कार्यं न किञ्चिदित्यर्थ । अत्र वचनामृतयो प्रबोधचन्द्राद्योरुपमानोपमेयभाव ॥५५॥ दुरितमिति—पूर्वभवोपार्जिताना कर्मणा महाविपाकाद्दुरितमशुभफलमुदयमागतमपि जिनभक्तिप्रभावाच्छीघ्रमेव स्वशक्तिविपर्यय घटयति । यथा यथा जलतटवृक्षच्छायाश्रिताना जनाना भीष्म उष्णकालो रौद्रोऽपि ग्रीष्म शीतकालायते । कैर्भीष्म इत्याह—देदीप्यमान खरकिरणकिरणै[1] ॥५६॥ इत्यति—इति पूर्वोक्त प्रकारेण जिनस्नपनोत्सव विधाय तथैव पुन - पुनर्जिननिर्मलगुणसञ्चयवार्ताभि रोमाञ्चिता इन्द्रा निजानि गृहाणि प्रपेदिरे[2] ॥५७॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयशस्कीर्तिविरचिताया सन्देहध्वान्त-दीपिकायामष्टम. सर्ग ॥८॥

रूप सघन अन्धकारके द्वारा जिसके समस्त पदार्थ आच्छादित हैं ऐसे इस ससार रूप घरमे केवलज्ञान रूप प्रकाशको करनेवाले आप ही एक ऐसे दीपक हैं जिसमें कि कामदेव पतंग-सुलभ लीलाको प्राप्त होगा—पतगकी तरह नष्ट होगा ॥५४॥ हे जिन ! यदि आपके वचनोंका आस्वादन कर लिया तो अमृत व्यर्थ है, यदि आपसे प्रार्थना कर ली तो कल्पवृक्षकी क्या आवश्यकता है । यदि आपका ज्ञान ससारको अन्धकारहीन करता है तो सूर्य और चन्द्रमासे क्या लाभ ? ॥५५॥ पूर्वकृत कर्मोंके उदयसे प्राप्त हुआ दुःख भी अर्हन्त देवकी भक्तिके प्रभाव वश शीघ्र ही अपनी शक्तिका विपर्यय कर लेता है—सुख रूप बदल जाता है । सूर्यकी तीक्ष्ण किरणोंसे भयकर ग्रीष्म ऋतु क्या जलके समीपस्थ वृक्षकी छायामे बैठे हुए मनुष्यके आगे शिशिर ऋतु नहीं बन जाती ? ॥५६॥ इस प्रकार इन्द्रोंने जन्माभिषेकके समय सुमेरुपर्वतपर त्रिभुवनपति श्री जिनेन्द्र देवकी भक्ति वश आराधना कर उन्हें पुनः माताकी गोदमे सौंपा और आप उन के निर्मल गुणोंकी चर्चासे रोमाचित होते हुए अपने-अपने स्थानपर गये ॥५७॥

इस प्रकार महाकवि श्री हरिचन्द्रविरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें जिनाभिषेकका वर्णन करनेवाला आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥८॥

---

१ अर्थान्तरन्यास । हरिणीच्छन्द । २ मन्दाक्रान्ताच्छन्द ।

नवमः सर्गः

सिक्त सुरैरित्थमुपेत्य विस्फुरज्जटालवालोऽथ स नन्दनद्रुम ।
छाया दधत्काञ्चनसुन्दरी नवां सुखाय वप्तु सुतरामजायत ॥१॥
चित्र किमेतज्जिनयामिनीपतिर्यथा यथा वृद्धिमनश्वरीमगात् ।
सीमानमुल्लङ्घ्य तथा तथाखिल प्रमोदवार्धिर्जगदप्यपूर्यत ॥२॥
लप्स्यामहे तीर्णभवार्णव पुनर्विवेकिन क्वैनमितीव त प्रभुम् ।
बाल्याङ्गसंस्कारविशेषसत्क्रियाः किमप्यहपूर्विकया सिषेविरे ॥३॥
लोकस्त्रिलोक्या सकलोऽपि सप्रभः[1] प्रभावसभावितमेकमर्भकम् ।
ज्योतिर्ग्रहाणामिव मण्डलो ध्रुव ध्रुव समन्तादनुवर्तते स्म तम् ॥४॥
तैस्तैस्त्रिसन्ध्यं मणिभूषणै. प्रभु तमेकमेवोपचचार वासव ।
को वा दुरापा समवाप्य सपद विचक्षणः क्षेमविधौ विमुह्यति ॥५॥

सिक्त इति—इत्थ पूर्वोक्तप्रकारेण स नन्दन सुत एव द्रुम । वप्तुर्जनकस्यातिसुखाय बभूव । किंविशिष्ट इत्याह—विस्फुरन्त सकान्तिका जटिला कुन्तला यस्य स पक्षे विस्फुरन्मूलस्थानक स्वर्णभासुरा प्रभा धारयन् पक्षे काचनानिर्वाच्या महातपोच्छेदिनी छाया वप्तुरारोपकस्य[2] ॥१॥ चित्रमिति[3]— ॥२॥ लप्स्यामह इति—बालत्वेऽङ्गसस्कारविशेषसत्क्रिया चूडाकरणादिव्यवहारमङ्गलक्रिया अहमहमिकया त प्रभु सिषेविरे इति चिन्तयन्त्य इव उत्तीर्णससारसमुद्रमेन पतिं क्व प्राप्स्याम इति ॥३॥ लोकेति—त महाप्रभाव बाल महेन्द्रादिस्तेजस्वी लोकस्त्रिभुवने सर्वोऽपि त परिवारयामास निश्चित नक्षत्रमण्डल ध्रुवमण्डलमिव ॥४॥ तैस्तैरिति—तैस्तैरिन्द्रभावोपनीतै कटककुण्डलादिरत्नालकरणैस्त बालजिन सौधर्मेन्द्र आनर्च । अथवा युक्तमेतत् तादृशी महापुण्यपरीपाकलभ्या विभूतिं प्राप्य क प्रेक्षापूर्वकारी लब्धपरिरक्षणोपाये मूढो

इस प्रकार देवोंके द्वारा अभिषिक्त [पक्षमे सींचा हुआ] घुँघुराले बालोंसे शोभित [पक्षमें मूल और क्यारीसे युक्त] सुवर्ण जैसी सुन्दर और नूतन कान्तिको धारण करनेवाला [पक्षमें अद्भुत-नूतन छायाको धारण करनेवाला] वह पुत्र रूपी वृक्ष [पक्षमे नन्दनवनका वृक्ष] पिताके लिए [पक्षमें बोनेवालेके लिए] अतिशय सुखकर हुआ था ॥१॥ इसमें क्या आश्चर्य था कि जिनेन्द्र रूपी चन्द्रमा ज्यों-ज्यों अविनाशी वृद्धिको प्राप्त होते जाते थे त्यों-त्यों आनन्द रूपी समुद्र सीमाका उल्लंघन कर समस्त संसारको भरता जाता था ॥२॥ संसार समुद्रको तरनेवाले ऐसे विवेकी स्वामीको हमलोग पुनः कहाँ पा सकती हैं ?' यह सोचकर ही मानो बाल्यकालीन शरीर संस्कारकी विशेष क्रियाएँ शीघ्रताके साथ उनकी सेवा कर रही थीं ॥३॥ जिस प्रकार ग्रहोंका मण्डल सदा ध्रुवताराका अनुसरण करता है उसी प्रकार तीनों लोकोंमें जो भी प्रभापूर्ण मनुष्यके वे सब प्रभावसे परिपूर्ण उसी एक बालकका अनुसरण करते थे ॥४॥ इन्द्र दिनकी तीनों सन्ध्याओंमे उत्तमोत्तम आभूषणोंसे एक उन्हीं प्रभुकी

१ सप्रभु च ज (प्रभुभि सह वर्तते इति सप्रभु च टि)। २ श्लेषानुप्राणितरूपकालकार । इन्द्रवशा-वशस्थयोर्मिश्रणादुपजातिवृत्तम् । ३ अस्य श्लोकस्य 'क' पुस्तके टीका नोपलभ्यते ततो व्याख्यानान्तर दीयते—एतत् किं चित्र किमाश्चर्यं विद्यते यद् जिनयामिनीपतिर्जिनेन्द्रचन्द्रो यथा यथा येन येन प्रकारेण अनश्वरीमविनाशिनी वृद्धि शरीरोपचय कलावृद्धि च अगात्प्राप्नोत् तथा तथा तेन तेन प्रकारेण प्रमोदवार्द्धिरानन्दाम्बुधिर्जगत इति शेष सीमानं मर्यादामुल्लङ्घ्य अखिल समग्रमपि जगद् भुवनम् अपूरयत् पूर्णं चकार । वयतिरेकानुप्राणितो रूपकालकार ॥

औत्सुक्यनुन्ना शिशुमप्यसशय चुचुम्ब मुक्तिर्निभृत कपोलयो· ।
माणिक्यताटङ्ककरापदेशतस्तथाहि ताम्बूलरसोऽत्र संगत· ॥६॥
प्राच्या इवोत्थाय स मातुरङ्कत· कृतावलम्बो गुरुणा महीभृता ।
भून्यस्तपादः सवितेव बालकश्चचाल वाचालितकिङ्किणीद्विजः ॥७॥
रिङ्खन्पदाक्रान्तमहीतले बभौ स्फुरन्नखांशुप्रकरेण स प्रभु· ।
शेषस्य बाधाविधुरेऽस्य धावता कुटुम्बकेनेव निषेवितक्रम ॥८॥
बभ्राम पूर्वं सुविलम्बमन्थरप्रवेपमानाग्रपद स बालक· ।
विश्वम्भराया पदभारधारणप्रगल्भतामाकलयन्निव प्रभुः ॥९॥
पुत्रस्य तस्याङ्गसमागमक्षणे निमीलयन्नेत्रयुगं नृपो बभौ ।
[1]अन्तर्विनिक्षिप्य सुख वपुर्गृहे कपाटयो सघटयन्निव द्वयम् ॥१०॥

भवति, न कोऽपीत्यर्थ । न हि जिनपूजाविधौ द्रव्यव्ययमन्तरेण लक्ष्मीर्भवान्तरेऽपि पुरुषमनुगच्छतीति भाव ॥५॥ औत्सुक्येति—अतिप्रमोदोत्कण्ठिता मोक्षलक्ष्मीर्निभृत बालमपि जिन चुम्बति स्म । अलीक चेद् दृश्यतामत्र कपोलयोस्ताम्बूलरसोऽय लग्न पद्मरागमयकुण्डलकिरणव्याजात् ॥६॥ प्राच्या इति—स जनन्युत्सङ्गादुत्थाय जनकाङ्गुलीविलग्नो रणज्झणत्किङ्किणीक पद्भ्या क्रामति स्म यथा पूर्वस्या दिश उत्सङ्गादुत्थायाचलावलम्बीकृत पक्षिकोलाहल आदित्यश्चलति ॥७॥ रिङ्खन्निति—स प्रभु पदाङ्गुलीनखकिरणदण्डकैर्भूतले चङ्क्रम्यमाणो रराज महाभारपीडितस्य शेषस्य मिलितेन कुलेनेव मा मैन पीडयेति सेवितपादपद्म ॥८॥ बभ्रामेति—स पूर्वं विश्रद्धामन्द कम्पमानाग्रपाद यथा स्यादेव बालकश्चचाल पृथिव्या निजपदभारधारणशक्ति सभावयन्निव बभौ । इय भूमिर्मम भार क्षमेत न वेति मन्द मन्द क्रामतीति भाव ॥९॥ पुत्रस्येति—तस्य निजतनूजस्य निर्भरालिङ्गनकाले नेत्रे निमीलयन्नृपति शुशुभे । शरीरापवरकमध्ये सुख प्रस्थाप्य कपाटयुग्म मेलयन्निव । अत्र शरीरगृहयोर्नयनयुगकपाटयुगयोश्चोपमानोपमेयभाव ॥१०॥

उपासना करता था सो ठीक ही है क्योंकि दुर्लभ सम्पदाको पाकर ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो कल्याणके कार्यमे प्रमाद करता हो ॥५॥ यद्यपि उस समय भगवान् बालक ही थे फिर भी मुक्ति रूपी लक्ष्मीने उत्कण्ठासे प्रेरित हो उनके कपोलोंका निःसन्देह जमकर चुम्बन कर लिया था इसीलिए तो मणिमय कर्णाभरणकी किरणोंके बहाने उनके कपोलोंपर मुक्ति लक्ष्मीके पान-का लाल रस लग गया था ॥६॥ जिस प्रकार सूर्य पूर्व दिशाकी गोदसे उठकर उदयाचलका आलम्बन पा पक्षियोंको चहचहाता और पृथिवीपर पद [किरण] रखता हुआ धीरे-धीरे चलता है उसी प्रकार वह बालक भी माताकी गोदसे उठकर पिताका आलम्बन पा किंकिणी रूप पक्षियोंको वाचालित करता और पृथिवीपर पैर रखता हुआ धीरे-धीरे चलता था ॥७॥ चरणोंके द्वारा आक्रान्त पृथिवीपर चलते हुए वे भगवान् नखोंसे निकलनेवाली किरणोंके समूहसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो शेषनागको बाधा होनेपर उसके कुटुम्बके लोग दौड़ आकर उनकी चरणोंकी सेवा ही कर रहे हों ॥८॥ वह बाल जिनेन्द्र कुछ-कुछ काँपते हुए अपने अगले पैरको बहुत देर बाद धीरेसे पृथिवीपर रखकर चलते थे जिससे ऐसे जान पड़ते थे मानो सबका भार धारण करनेवाली पृथिवीमे हमारे पैरका भार धारण करनेकी सामर्थ्य है या नहीं—यह देख रहे हों ॥९॥ पुत्रके शरीरका समागम पाकर राजा महासेन आनन्दसे अपने नेत्र बन्द कर लेते थे और उससे ऐसे जान पड़ते थे मानो गाढ आलिंगन करनेसे उत्पन्न सुखको शरीर रूपी घरके भीतर रखकर किवाडोंकी जोड़ी ही बन्द कर रहे हों ॥१०॥

१ घ– छ –पुस्तकयोरेव पाठ —'अन्त कियद्गाढनिपीडनाद्वपु प्रविष्टमस्येति निरूपयन्निव' ॥

उत्सङ्गमारोप्य तमङ्गजं नृप परिष्वजन्मीलितलोचनो बभौ।
[1]अन्तः कियद्गाढनिपीडनाद्वपु' प्रविष्टमस्येति निरूपयन्निव ॥११॥
चित्र प्रचिक्रीड यथा यथा करप्रकीर्णपांसुप्रकरैः कुमारकै ।
आदर्शवन्निर्मल एव सोऽभवत्तथा तथान्त.फलितावनीत्रयः ॥१२॥
क' पण्डितो नाम [2]शिखण्डिमण्डने मराललीलागतिदीक्षकोऽथवा ।
नैसर्गिकज्ञाननिधेर्जगद्गुरोर्गुरुश्च शिक्षासु बभूव तस्य क' ॥१३॥
शस्त्रेषु शास्त्रेषु कलासु चाभवन्मनीषिणां यश्चिरसंचितो मद. ।
ज्ञानापणे तत्र पुर स्थितेऽगलच्छरीरत स्वेदजलच्छलेन सः ॥१४॥
बाल्य व्यतिक्रम्य समुन्नतिं क्रमाद् दधत्समस्तावयवानुवर्तिनीम् ।
लक्ष्मी स नि शेषकलाजुषस्तदा पुपोष पीयूषमयूखमालिन. ॥१५॥
मध्यंदिनेनेव सहस्रदीधितेर्महाध्वराग्नेर्हविषेव भूयसा ।
बाल्यव्यपायेन किमप्यपूर्ववज्जिनस्य नैसर्गिकमप्यभून्मह' ॥१६॥

उत्सङ्गेति—तमङ्काश्रितं तनूजमाश्लिष्यन् महासुखानुभवननिमीलितलोचनो राजा रराज अस्य सुतस्य निर्भराश्लेषात्कियन्मात्रमङ्ग मयाङ्गमध्ये प्रविष्टमिति पश्यन्निव । बहिर्मुखा हि दृष्टिर्बाह्य पश्यति अन्तर्मुखा च मध्यमिति प्रसिद्धि ॥ ११ ॥ चित्रमिति—नानाप्रकारदेवकुमारकैर्बालभावादुत्क्षिप्तधूलिपटलैः सह यथायथा क्रीडा चकार तथातथा दर्पण इवान्तर्भुवनत्रयप्रतिबिम्बाधारो निर्मलो निर्दोष एव शुशुभे । यथादर्श. पांसुप्रकरेण निर्मलो भवति तथा सोऽपीत्यर्थ ॥१२॥ क इति—मयूरकलापचित्रकर्मणि को नाम चित्रकारो हसाना वा लीलागतौ शिक्षकस्तथा च तस्य त्रिभुवनगुरो सहजज्ञाननिधानस्य विद्यासु क उपाध्यायो न कोऽपीत्यर्थ ॥१३॥ शस्त्रेष्विति—यो विदुषा गुणगौरवगर्वोऽभूत् स तत्र परमेश्वरे ज्ञाननिधौ पुर स्थिते विजगाल प्रस्वेदसलिलव्याजात् । ते सर्वेऽपि मनीषिण स्तम्भस्वेदादिभावैरुपलक्षिता [रूपवर्जितमदा] बभूवुरित्यर्थ ॥१४॥ बाल्यमिति—शिशुभावमतिक्रम्य क्रमेण समुन्नतिं बधान सकलावयवकलापपरिपूर्णा राकामृगाङ्कस्य शोभा बभार ॥१५॥ मध्यमिति—बालभावातिक्रमणे जिनस्य सहजमपि तेजोऽपूर्व-

उस पुत्रको गोदमें रख आलिंगन करते हुए राजा हर्षातिरेकसे जब लोचन बन्द कर लेते थे तब ऐसे जान पडते थे मानो गाढ आलिंगन करनेसे इनका शरीर हमारे भीतर कितना प्रविष्ट हुआ—यही देखना चाहते हों ॥११॥ जिनकी अन्तरात्मामें तीनों लोक प्रतिबिम्बित हो रहे हैं ऐसे जिनबालक अपने हाथों द्वारा धूलि-समूहको बिखेरनेवाले अन्य बालकोंके साथ ज्यों-ज्यों क्रीडा करते थे त्यों-त्यों दर्पणकी तरह वे निर्मल ही होते जाते थे—यह एक आश्चर्य की बात थी ॥१२॥ मयूरको अपना कलाप सुसज्जित करनेकी शिक्षा कौन देता ? अथवा हसको लीला पूर्ण गति कौन सिखाता ? इसी प्रकार स्वाभाविक ज्ञानके भाण्डार स्वरूप उन जगद्गुरुको शिक्षा देनेके लिए कौन गुरु था। वह स्वतः स्वयंबुद्ध थे ॥१३॥ शस्त्र, शास्त्र और कलाके विषयमे विद्वानोंका जो चिरसचित अहंकार था वह ज्ञानके बाजार रूप जिनेन्द्र देवके सामने आनेपर स्वेद जलके बहाने उनके शरीरसे निकल जाता था ॥१४॥ जब उन जिनेन्द्रने क्रम-क्रमसे बाल्य अवस्था व्यतीत कर समस्त अवयवोंमें बढनेवाली उन्नति धारण की तब वे सोलहों कलाओंसे युक्त चन्द्रमाकी शोभाको पुष्ट करने लगे—पूर्ण चन्द्रमाके समान सुशोभित होने लगे ॥१५॥ जिस प्रकार मध्याह्नसे सूर्यका और भारी साकल्यसे महायज्ञकी अग्निका तेज बढ जाता है उसी प्रकार बाल्यावस्थाके व्यतीत होनेसे भगवान्‌का स्वाभाविक

१ 'अन्तर्विनिक्षिप्य सुख वपुर्गृहे कपाटयो संघटयन्निव द्वयम्' ॥ घ० छ० २ शिखण्डमण्डने घ० म० ।

तस्योद्धृताद्रिर्दशकन्धरो मुदे वहन्न येनैक्षि महीमहीश्वरः ।
आश्चर्यकृत्तस्य बभूव तद्द्वयं स येन दृष्टस्त्रिजगद्धुरंधरः ॥१७॥
चक्राब्जशङ्खादिविलोकनोत्थया स्वकान्तसकेतनिवासशङ्कया ।
मन्ये न लक्ष्मीर्नवपल्लवारुणं तदं[1]ह्रिपङ्केरुहयुग्ममत्यजत् ॥१८॥
उद्यत्पदाङ्गुष्ठनखांशुदण्डिका[2]प्रकाण्डगर्भं[3] युगमस्य जङ्घयोः ।
कार्तस्वरस्तम्भविशेषशालिनीं जहास दोलां नवधर्मसंपदः ॥१९॥
अत्यन्तमव्याहतवेगवीर्ययोर्जगत्त्रयीनेत्रमनोगजेन्द्रयोः ।
स्तम्भाविवोरू दृढबन्धहेतवे व्यधायिषातां ध्रुवमस्य वेधसा ॥२०॥
कण्ठीरवेणेव नितान्तमुन्नतं नितम्बबिम्बं परिणाहि बिभ्रता ।
एनोमयी तेन जनस्य दर्शनात्प्रमत्तमातङ्गघटा विघट्टिता ॥२१॥
तप्तो ध्रुवं प्राग्जिननाभिपल्वले विवेश दानोद्धुरधर्मसिन्धुरः ।
समुल्लसल्लोमलतापदेशतो मदाम्बुधारा कथमन्यथा तटे ॥२२॥

वत्प्रादुर्बभूव । मध्याह्नेन चण्डरोचेरिव, वा महता होमद्रव्येण यज्ञाग्नेरिव ॥१६॥ तस्येति—येन शेषराजो भूमिं धारयन् दृष्टस्तस्योत्पाटितकैलासो रावण आश्चर्यकारी न बभूव । येन च स परमेश्वरस्त्रिभुवनधरा धारयन् दृष्टस्तस्य पूर्वोक्तं शेषरावणलक्षणं युग्मं चित्रकृन्न बभूव ॥१७॥ चक्राब्जेति—तस्य जिनस्य नवीनाशोकपल्लवसदृशं चरणकमलयुगलं लक्ष्मीर्न रहयाचकार इति शङ्के निजपतिसंकेतगृहभ्रान्त्या । किंविशिष्टशङ्कयेत्याह—सुदर्शनपाञ्चजन्यप्रभृतिकविलोकनोत्पन्नया चक्रादीनि लक्षणानि सकेतार्थं विष्णुनेह मुक्तानीति मत्वा । विष्णुमार्गमेवालोकयन्ती लक्ष्मीरत्र चिरं तिष्ठतीवेति भावः ॥१८॥ उद्यदिति—अस्य जिनस्य पिण्डिकयोर्युगलं धर्मलक्ष्म्या लीलान्दोलां विडम्बयामास । किंविशिष्टामित्याह—सुवर्णस्तम्भविशेषमण्डिताम् । चरणाङ्गुष्ठनखकिरणाग्रस्थितदण्डिकाश्रीकाम् । अत्र जङ्घासुवर्णस्तम्भयोर्नखांशुदण्डिकयोश्चोपमानोपमेयभावः[4] ॥१९॥ अत्यन्तमिति—अस्य ब्रह्मणा स्तम्भाविव कृतौ । किमर्थमित्याह—अतिशयदुर्निवारवेगशक्तिकयोस्त्रिभुवननेत्रचित्तमातङ्गयोराकलनहेतवे । तस्योरुयुगं त्रिभुवननयनमनांसि पश्यन्ति नान्यत्र चरन्तीति भावः[5] ॥२०॥ कण्ठीरवेणेवेति—तेन सिंहेनेव परिणाहयुक्तं नितम्बं धारयता कल्पषमयी मातङ्गघटा निर्णाशिता लोकस्य, दर्शनमात्रादेव पक्षे सम्यक्त्वात् ॥२१॥ तप्त इति—जिनजन्मपूर्वं मिथ्यात्व-

---

तेज कुछ अपूर्व ही हो गया था ॥१६॥ पर्वतका भार उठानेवाला रावण उसीके लिए आनन्ददायी हो सकता है जिसने कि पृथिवीका भार धारण करनेवाला शेषनाग नहीं देखा और जिसने तीनों जगत्‌का भार धारण करनेवाले उन धर्मनाथ जिनेन्द्रको देख लिया था उसे वह दोनों ही आश्चर्यकारी नहीं थे ॥१७॥ चक्र, कमल और शंख आदि चिह्नोंके देखनेसे उत्पन्न अपने पतिके निवासगृह की शंकासे ही मानो लक्ष्मी नूतन पल्लवके समान लाल दिखनेवाले उनके चरणकमलोंके युगलको नहीं छोड़ रही थी ॥१८॥ श्रेष्ठ मध्य भागसे युक्त उनकी दोनों जंघाओंका युगल, पदांगुष्ठके नखोंसे उठनेवाली किरणों रूपी छड़ीसे युक्त एवं सुवर्ण निर्मित खम्भोंसे सुशोभित नूतन धर्मलक्ष्मीके झूलाकी हँसी उडा रही थी ॥१९॥ उनकी दोनों जाँघें ऐसी जान पड़ती हैं मानो जिनका वेग और बल कोई नहीं रोक सका ऐसे तीनों लोकोंके नेत्र और मन रूपी हाथीको बाँधनेके लिए ब्रह्माने दो खम्भे ही बनाये हों ॥२०॥ सिंहके समान अत्यन्त उन्नत और विशाल नितम्बको धारण करनेवाले उन जिनेन्द्र देवके द्वारा दर्शनमात्रसे ही मनुष्योंके पाप रूपी मदोन्मत्त हाथियोंकी घटा विघटा दी जाती थी ॥२१॥

---

१. तदङ्घ्रि घ० म० । २ दण्डिका म० घ० । दोलामित्यस्य विशेषणम् । ३ श्रेष्ठमध्यम् युगमित्यस्य विशेषणम् । ४ उपमा । ५ रूपकोत्प्रेक्षा ।

लक्ष्मीरिहान्त पुरसुन्दरी चिर गुणै· सह स्थास्यति सौविदल्लकैः ।
जानन्निवीवास्य मनोहित विधिर्व्यधाद्विशाल हृदयं दयावतः ॥२३॥
तस्यैकमुच्चैर्भुजशीर्षमुद्वहन् सहेलमालम्बितभूत्रयो भुज. ।
भूभारनिर्युक्तशिर सहस्रक फणीश्वरं दूरमधश्चकार सः ॥२४॥
रेखात्रयेणेव जगत्त्रयाधिका निरूपयन्त निजरूपसपदम् ।
तत्कण्ठमालोक्य ममज्ज लज्जया विशीर्यमाण किल कम्बुरम्बुधौ ॥२५॥
यन्निस्तुलेनापि तदाननेन्दुना व्यधात्तुलारोहणमुग्रपातकम् ।
अद्यापि हेमद्युतिरुद्यतस्ततो भवत्यसौ श्वित्रविपाण्डुर. शशी ॥२६॥
स्निग्धा बभुर्मूर्धनि तस्य कुन्तलाः कलिन्दकन्याम्बुतरङ्गभङ्गुरा ।
फुल्लाननाम्भोरुहि सारसौरभे निलीननिःशब्दमधुव्रता इव ॥२७॥

सूर्यतापेन तप्त सन् धर्मकरीन्द्रो जिननाभिसरसि प्रविष्ट । कथं ज्ञायत इति चेत् । समुल्लसद्रोमराजीव्याजात् । यथा नाभिह्रदतटे मदजलधारा दृश्यते ॥२२॥[1] लक्ष्मीरिति—अस्य जिनस्य कपाटविस्तीर्णं हृदय विधिर्विघटयामास । विधाता तस्य मनोहितमभिलिखित जानन्निव । किं जानन्नित्याह—वृद्धैर्महागुणै परिचारितमहल्लकैरिव सार्द्धं श्रीश्चिर स्थास्यतीति । ततो बह्वाश्रयत्वाद्विस्तीर्णमिति[2] ॥२३॥ तस्येति—तस्य भुजो दोर्दण्ड एकपृथ्वीभारधारणाकुलीभूतदशशतमस्तक शेष जिगाय । किंविशिष्ट इत्याह—उद्धृतलोकत्रय । तर्हि शिरास्यपि बहूनि भविष्यन्ति । तन्न, एकं स्कन्ध दधान सहेलमनायासेन[3] ॥२४॥ रेखेति—शङ्खो लज्जाविदीर्यमाणहृदयो जलनिधौ पपात तस्य जिनस्य गलकन्दलमालोक्य । किंविशिष्टमित्याह—निजरूपलक्ष्मी प्रतिपादयन्त जितत्रिभुवनाम् । केन । रेखात्रयेणेव[4] ॥२५॥ यदिति—यन्निरुपमेन तस्य मुखचन्द्रेण सार्द्धं चन्द्र उपमानतामगात् । तेन महापातकेनेव प्रथमत उद्यन् हेमप्रभ पश्चात्पाण्डुरत्कुष्ठप्रभ स्यात्[5] ॥२६॥ स्निग्धा इति—तस्य शिरसि यमुनातरङ्गश्यामला सकान्तिका कुन्तला विरेजिरे । मुख-

---

ऐसा जान पड़ता है कि दानसे उत्कट धर्मरूपी हाथी संतप्त होकर पहले ही श्रीजिनेन्द्रकी नाभि रूप जलाशयमे जा घुसा था। यदि ऐसा न होता तो उस प्रकट होनेवाली रोमराजिके बहाने तटपर उसके मदजलकी धारा क्यों होती ? ॥२२॥ यहाँ पर अन्तःपुरकी श्रेष्ठ सुन्दरी लक्ष्मी अपने गुणरूपी कचुकियोंके साथ चिरकाल तक निवास करेगी—इस प्रकार ब्रह्मा उन दयालु भगवान्‌के हितकारी मनको पहलेसे ही जानता था इसीलिए तो उसने उनका वक्षःस्थल चौड़ा बनाया था ॥२३॥ यद्यपि भगवान्‌की भुजा एक ही सिर (कन्धा) धारण करती थी फिर भी चूँकि उस ने तीनों लोकोंका भार अनायास धारण कर लिया था अतः केवल पृथिवीका भार धारण करनेके लिए जिसके हजार सिर व्यापृत हैं ऐसे शेपनागको उसने दूरसे ही अधस्कृत—तिरस्कृत [पक्षमे नीचे] कर दिया था ॥२४॥ जो अपनी तीन रेखाओंके द्वारा मानो यही प्रकट कर रहा था कि मेरी सौन्दर्य सम्पत्ति तीनों लोकोंमें अधिक है ऐसे भगवान्‌के कण्ठको देख बेचारा शंख लज्जासे ही मानो जीर्ण-शीर्ण हो समुद्रमे जा डूबा ॥२५॥ यह निश्चित था कि भगवान्‌का मुख चन्द्र सर्वथा निरुपम है फिर भी चन्द्रमा उसकी उपमा रूप भयकर पाप कर बैठा। यही कारण है कि वह अब भी उदित होते समय तो सुवर्ण जैसी कान्तिवाला होता है पर कुछ समयके बाद ही उस भयंकर पापके कारण कोढसे सफेद हो जाता है ॥२६॥ यमुना जलकी तरङ्गोंके समान टेढ़े-मेढ़े सचिक्कण काले केश भगवान्‌के मस्तकपर ऐसे सुशोभित होते थे मानो श्रेष्ठ सुगन्धिसे युक्त मुख रूप प्रफुल्लित

---

१. रूपकम् । २ रूपकानुप्राणितोत्प्रेक्षा । ३ व्यतिरेक । ४. उत्प्रेक्षा । ५ हेतूत्प्रेक्षा ।

वज्राब्जसारैरिव वेधसा कृतं तमास्पद विक्रमसौकुमार्ययोः ।
उर्व्या [1]कर ग्राहयितु न केवल बभूव वध्वा अपि वप्तुराग्रहः ॥२८॥
त यौवराज्ये नयशीलशालिन व्यधात्तनूज नवयौवन नृपः ।
प्रागेव लोकत्रयराज्यसपदा निधानमेन न विवेद भूपति ॥२९॥
तस्मिन्गुणैरेव नियम्य कुर्वति प्रकाममाज्ञावशवर्तिन परान् ।
[2]आसीन्नृपोऽन्त.पुरसारसुन्दरीविलासलीलारसिक स केवलम् ॥३०॥
शृङ्गारवत्या दुहितु स्वयवरे प्रतापराजेन विदर्भभूभुजा ।
दूत कुमारानयनार्थमीरित समाययौ रत्नपुरप्रभोर्गृहम् ॥३१॥
भर्तु प्रतीहारनिवेदितस्तत प्रविश्य ससद्गृहमाहितानति ।
भ्रूभेददत्तावसर स कर्णयो क्षरत्सुधासारमुवाच वाचिकम् ॥३२॥
किंचाग्रतस्तेन निरीक्ष्य भूपते कुमारमाकारविनिर्जितस्मरम् ।
तद्रूपशोभासुभगोऽस्य दर्शितो जगन्मनोलुण्ठनलम्पट पट ॥३३॥
पीयूषधारागृहमत्र नेत्रयोर्निरीक्ष्य कन्याप्रतिबिम्बमद्भुतम् ।
किं तथ्यमित्थं भवितेति चिन्तयन् पुरो नृप श्लोकमिमं व्यलोकयत् ॥३४॥

सौरभपानसक्ता नि शब्दमत्सरा इव[3] ॥२७॥ वज्राब्जेति—त कुलिशकमलसारैरिव कृतबलसुकुमारतागृह दृष्ट्वा पितु साम्राज्यपददानाय विवाहाय च चिन्ता बभूव ॥२८॥ तमिति—त नयविनययुक्त यौवराज्यपदे स्थापयामास । अग्रेऽपि त्रिभुवनस्य राज्यमस्यास्तीति न जानाति स्म ॥२९॥ तस्मिन्निति—तस्मिन् यौवराज्यस्थे निजगुणैरेव अन्यान् परान् वशवर्तिन कुर्वति सति राजा अन्त पुरनारीविलासरसिक एवासीत् ॥३०॥ शृङ्गारवत्या इति—शृङ्गारवतीनाम्न्या पुत्र्या स्वयवरे विदर्भदेशाधिपतिना कुमाराकारणाय दूत प्रेषित सन् रत्नपुरनाथस्य गेहमाजगाम ॥३१॥ भर्तुरिति—स प्रतीहारनिवेदित सन् कृतप्रणाम सभामण्डपागतो भ्रूभङ्गसज्ञया दत्तावसर श्रवणयो. सुधासदृश सदेशमचकथत् ॥३२॥ किंचेति—न केवल तेन विदर्भभूकथायित वाचिक कथित नृपतेरग्रत उपविष्ट निजरूपप्रभावनिर्जितकाम कुमार निरीक्ष्य त्रिभुवनचित्तचोरणचञ्चु पटो दर्शित । तस्या कन्यकाया रूपशोभा तया सुभग ॥३३॥ पीयूषेति—अमृतधारादुर्दिन

कमल पर चुपचाप बैठे हुए भ्रमरोंके समूह ही हों ॥२७॥ वह धर्मनाथ पराक्रम और सौकुमार्य दोनोंके आधार थे मानो ब्रह्माने वज्र और कमल दोनोंका सार लेकर ही उनकी रचना की हो। उन्हें सब प्रकारसे योग्य देख पिता महासेनकी न केवल पृथिवीका ही कर [टैक्स] ग्रहण करानेकी इच्छा हुई किन्तु स्त्रीका भी ॥२८॥ नय और शीलसे सुशोभित नवयौवन सम्पन्न पुत्रको राजाने युवराज पद पर नियुक्त किया पर उन्होंने यह नहीं समझा कि यह तो पहलेसे ही त्रिभुवनकी राज्यसम्पदाके भाण्डार हैं ॥२९॥ चूँकि युवराज धर्मनाथने अपने गुणोंके द्वारा ही [गुणरूपी रस्सियोंके द्वारा ही] बाँध कर अन्य समस्त राजाओंको अपनी आज्ञाके अधीन कर लिया था अतः राजा महासेन केवल अन्तःपुरकी श्रेष्ठ सुन्दरियोंके साथ क्रीडा करनेमें तत्पर रहने लगे ॥३०॥ एक दिन पुत्री शृंगारवतीके स्वयंवरमे कुमार धर्मनाथको बुलानेके लिए विदर्भ देशके राजा प्रतापराजके द्वारा भेजा हुआ दूत महाराज महासेनके घर आया ॥३१॥ द्वारपालने राजाको उसकी खबर दी। अनन्तर सभागृहके भीतर प्रवेश कर उसने नमस्कार किया और भौहोंके भेदसे अवसर पा कानोंमे अमृत झरानेवाला संदेश कहा ॥३२॥ साथ ही महाराज महासेनके समीप बैठे आकारसे कामदेवको जीतनेवाले कुमार धर्मनाथको देख उस दूतने जगत्के मनको लूटनेमे निपुण चित्रपट, यह विचार कर दिख-

१ राजस्व पक्षे पाणि च । २ अन्त पुरस्य सारसुन्दरीणामनवद्यकामिनीना लीलासु केलिपु रसिकस्तथाभूत । ३. रूपकोपमा ।

अस्या' स्वरूप कथमेणचक्षुषो यथावदन्यो लिखितुं प्रगल्भताम् ।
धातापि यस्या प्रतिरूपनिर्मितौ घुणाक्षरन्यायकृताकृतेर्जड. ॥३५॥
ततोऽधिक विस्मितमानसो नृप सुतस्य तस्याश्च विलोक्य विग्रहम् ।
तच्चारुरूपासवपानघूर्णितोत्तमाङ्गससूचितमित्यचिन्तयत् ॥३६॥
य' स्वप्नविज्ञानगतेरगोचरश्चरन्ति नो यत्र गिर कवेरपि ।
य नानुबध्नन्ति मन.प्रवृत्तय' स हेलयार्थो विधिनैव साध्यते ॥३७॥
क्वाय जगल्लोचनवल्लभो युवा क्व कन्यकारत्नमतर्क्यमीदृशम् ।
सत्सर्वथा दुर्घटकर्मनिर्मितिप्रगल्भमानाय नमोऽस्तु वेधसे ॥३८॥
नून विहायैनमिय स्वयंवरे वरार्थिनी नापरमर्थयिष्यति ।
इन्दुं सदानन्दविधायिन विना किमन्यमन्वेति कदापि कौमुदी ॥३९॥
यत्कन्यकायामुपवर्णितं बुधै कुल च शील च वयश्च किंचन ।
सर्वत्र सबन्धविधानकारण प्रियस्य यत्प्रेम गुणैर्विशिष्यते ॥४०॥

कन्याप्रतिपूर्वमदृष्टपूर्वं दृष्ट्वा सत्यमेतत् किं वास्मन्मनोविप्रतारणाय मायास्वरूपमिद किंचिद्वेति चिन्तयन् नृपो वक्ष्यमाणमेन श्लोक पटस्याधोलिखित ददर्श ॥३४॥ अस्या इति—अस्या मृगाक्ष्या यथास्वरूपमालिखितु कथ नामेतर प्राय प्रगल्भ स्यात् यस्या प्रतिरूपनिर्मितो ब्रह्माप्यसमर्थ । किंविशिष्टाया इत्याह—घुणाक्षरन्यायकृताकृते घुणाक्षरन्यायेन कृता आकृतिर्यस्या । ब्रह्मापीदृशी द्वितीयाकृतिं कर्तुं न शक्नोतीति भाव [1] ॥३५॥ तत इति—ततोऽद्भुतरूपावलोकनाद्विस्मितमानसो द्वयोरपि रूपमनन्यसदृशमालोक्य, ततो रूपमधुपानघूर्णितेन मस्तकेन मथितमहाप्रभाव यथा स्यादेव चिन्तयाचकार ॥३६॥ य इति—यद्दुर्घट स्वप्नेऽपि न दृश्यते, विज्ञानेनापि न ज्ञायते, कविवाचोऽपि न यत्र प्रसरन्ति, मनसापि न यन्नानुभूयते स पदार्थ सुखेन विधिना दृश्यते । किन्तु दुर्घटमित्याह ॥३७॥ क्वायमिति—क्वायमसभावनीयरूपलक्ष्मीको भुवनलोचनप्रियतमो युवा क्व चास्य योग्य कन्यकारत्नमनन्यत्र दृष्टमीदृश तस्माद्दुर्घटकर्मकरणप्रभविष्णवे ब्रह्मणे नमस्कारोऽस्तु ॥३८॥ नूनमिति—निश्चितमेन युवान पतिं मृगयमाणा परित्यज्यान्यं न वरिष्यति यथा चन्द्र मुक्त्वा चन्द्रिका नान्यमुपसर्पति ॥३९॥ यदिति—अपर च यत्कुलकन्यकाया विवाहकरकारण कुलशीलादिक

लाया कि यह इनके सौन्दर्यके अनुकूल होगा ॥३३॥ उस चित्रपट पर नेत्रोंके लिए अमृतके धारागृहके समान कन्याका अद्भुत प्रतिबिम्ब देख यथार्थमें यह कन्या क्या ऐसी होगी ? इस प्रकार राजा महासेन विचार ही कर रहे थे कि उनकी दृष्टि अचानक सामने लिखे हुए इस श्लोक पर पड़ी ॥३४॥ इस मृगनयनीका वास्तविक स्वरूप लिखनेके लिए अन्य मनुष्य कैसे समर्थ हो सकता है ? जिसका कि प्रतिरूप लिखनेमे ब्रह्मा भी जड है । एक बार जो वह इसे बना सका था वह केवल घुणाक्षर न्यायसे ही बना सका था ॥३५॥ यह श्लोक देख राजाका मन बहुत ही विस्मित हुआ, वह कभी धर्मनाथके शरीरकी ओर देखते थे और कभी चित्रलिखित कन्याकी ओर। अन्तमें उस कन्याके सौन्दर्यरूपी मदिराके पानसे कुछ-कुछ सिर हिलाते हुए इस प्रकार सोचने लगे ॥३६॥ जो स्वप्न विज्ञानका अविषय है, जहाँ कवियोंके भी वचन नहीं पहुँच पाते और मनकी प्रवृत्ति भी जिसके साथ सम्बन्ध नहीं रख सकती वह पदार्थ भी भाग्यके द्वारा अनायास सिद्ध हो जाता है ॥३७॥ जगत्के नेत्रोंको प्यारा यह युवराज कहाँ ? और तर्कका अविषय यह कन्यारत्न कहाँ ? अतः असभव कार्योंके करनेमे सामर्थ्य रखनेवाले विधाताको सर्वथा नमस्कार हो ॥३८॥ स्वयंवरमें वरकी इच्छा करनेवाली यह कन्या निश्चयसे इनको छोड़कर दूसरेकी इच्छा नहीं करेगी, क्योंकि कौमुदी सदा आनन्द देनेवाले चन्द्रमाको छोड़कर क्या कभी अन्यका अनुसरण करती है ? कभी

१ अतिशयोक्ति ।

प्रत्यङ्गलावण्यविलोकनोत्सुकः कृतस्पृहोऽस्या युवराजकुञ्जरः ।
दृष्ट्यापि रागोल्वणया विभाव्यते करी यथान्तर्मददर्पदुःसह ॥४१॥
इत्थं विचिन्त्यैष कृतार्थनिर्णयो नृपः सुतं दारपरिग्रहक्षमम् ।
प्रस्थापयामास ससैन्यमादराद्विदर्भभूवल्लभपालितां पुरीम् ॥४२॥
राज्ञा च दूतेन च तेन चोदितस्ततो ध्वजिन्या च मुदा च संयुतः ।
रूपेण चास्यास्त्वरितः स्मरेण च प्रभुः प्रतस्थे स विदर्भमण्डलम् ॥४३॥
शोभां स बिभ्रत्करवालशालिनीं सुवर्णसारं कटकं प्रकाशयन् ।
भव्यं च भीमं च तदा प्रसाधनं बभार नारीहितपूरणक्षमम् ॥४४॥
दन्तीन्द्रमारुह्य स[1] दानभोगवान् पथि प्रवृत्तश्च [2]गुरोरनुज्ञया ।
शोभामसंप्राप्तसहस्रचक्षुषः पुरंदरस्यानुचकार सुन्दरीम् ॥४५॥

तत्सर्वमस्याः परिपूर्णमस्त्येव । अथवा तदिदं परिपूर्णमपि परिपूर्णं परिणेतुः स्नेहगुणैः ॥४०॥ प्रत्यङ्गेति— यथा अङ्गं अङ्गं प्रति अस्या लावण्यं दिदृक्षति तथा ज्ञायते युवराजकरीन्द्रोऽस्यै स्पृहयति । सरागया दृष्ट्यापि स्पृहयालुरिति ज्ञायते ॥४१॥ इत्थमिति—इत्थं चिन्तयित्वा निर्द्धारितार्थो राजा परिणयनक्षमं विदर्भराजपुरीं ससैन्यं सुतं प्रस्थापयामास ॥४२॥ राज्ञेति—स प्रभुर्विदर्भदेशं प्रति प्रस्थानं ददौ । राज्ञा महासेनेन तेन चागतदूतेन प्रोत्साहितस्ततोऽनन्तरं सैन्येन हर्षेण च संगतः । कन्यारूपेण कामेन वाचालीकृतः ॥४३॥ शोभामिति— स यात्राकाले यात्रोचितं मण्डनं दधौ शत्रुमनोरथदलनक्षमं ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टयोपेतं शिविरं धारयन् शोभितां लक्ष्मीं दधानः पक्षे प्रसाधनं गजाश्वादिसैन्यं न रिपूणां वाञ्छितपूरणं स्वर्णमयकटककुण्डलाद्याभरणं करवालशालिनीं हस्तकुन्तलोल्लासिनीं लक्ष्मीम्[3] ॥४४॥ दन्तीन्द्रमिति—स पितुरनुज्ञया करीन्द्रस्कन्धमधिरूढः,

नहीं ॥३९॥ कन्यामें बुद्धिमान् पुरुष यद्यपि कुल, शील और वयका विचार करते हैं किन्तु उन सबमें वे सम्बन्धको पुष्ट करनेवाला प्रेम ही विशेष मानते हैं ॥४०॥ चूँकि यह युवराज इस कन्याके प्रत्येक अंगका सौन्दर्य देखनेमें उत्सुक है अतः मालूम होता है कि यह इसे चाहता है। यही क्यों ? रागसे भरी हुई दृष्टिसे भी तो यह उस हाथीकी तरह जान पड़ता है जो कि भीतर रुके हुए मदके गर्वसे उत्तेजित हो रहा है ॥४१॥ ऐसा विचार कर राजाने कर्तव्यका निर्णय किया और विवाहके योग्य पुत्रको सेना सहित बड़े आदरके साथ विदर्भराजके द्वारा पालित नगरीकी ओर भेजा ॥४२॥ इस प्रकार राजा महासेन और दूतने जिन्हें प्रेरणा दी है तथा शृंगारवतीके रूप और कामने जिन्हें शीघ्रता प्रदान की है ऐसे धर्मनाथ युवराज सेना और हर्षसे युक्त हो विदर्भ देशकी ओर चले ॥४३॥ उस समय वह धर्मनाथ हाथों और केशोंसे विभूषित शोभाको धारण कर रहे थे, और सुवर्णके श्रेष्ठ कड़े उनके हाथमें चमक रहे थे अतः स्त्रियोंके हितको पूर्ण करनेमें समर्थ सुन्दर वेष धारण कर रहे थे [पक्षमें वह धर्मनाथ तलवारसे विभूषित शोभाको धारण कर रहे थे और जहाँ-तहाँ ब्राह्मणादि वर्णोंसे युक्त पड़ाव डालते थे अतः शत्रुओंके मनोरथको पूर्ण करनेमें असमर्थ भयंकर सेना

१ धर्मनाथपक्षे स इति पृथक् पदम्, दानभोगौ विद्यते यस्य स दानभोगवान्, पुरंदरपक्षे सदा सर्वदा, नभोगा गगनगामिनो देवा विद्यन्ते यस्य स । २ धर्मनाथपक्षे गुरोः पितुः । पुरंदरपक्षे गुरोर्देवमन्त्रिणो बृहस्पतेः । ३ अत्रेदं सुगमं व्याख्यानम्—तदा यात्रावसरे स युवराजतीर्थंकरो भव्यं मनोरमं प्रसाधनमाभरणं भीमं भयावहं पसाधनं गजाश्वादिसैन्यं च बभार । कथंभूतं प्रसाधनम् । नारीहितपूरणक्षमम् भव्यपक्षे नारीणां स्त्रीणां हितस्य पूरणे क्षमं समर्थं भीमपक्षे न अरीणां शत्रूणामीहितस्य पूरणे क्षमं समर्थम् । पुनश्च कथंभूतः स इत्याह—करवालशालिनीं हस्तकुन्तलोल्लासिनीं शोभां लक्ष्मीं बिभ्रत् दधत् पक्षे कृपाणशोभिनीं शोभां शौर्यसम्पत्तिं दधत्, सुवर्णसारं कनत्काञ्चनश्रेष्ठं कटकं करवलयं प्रकाशयन् प्रकटयन् पक्षे ब्राह्मणादिवर्णश्रेष्ठं कटकं शिविरं स्थापयन् । श्लेषालंकारः ।

धुन्वन्निवोर्वी दलयन्निवाम्बरं गिलन्निवाशाश्चलयन्निवाचलान् ।
प्रस्थानशंसी पटहध्वनिस्तदा समुज्जजृम्भे जगदाक्षिपन्निव ॥४६॥
ओङ्कारवत्प्रस्तुतमङ्गलश्रुते समुत्थिते व्योमनि शङ्खनिस्वने ।
कण्ठेऽपतद्द्युप्रसवच्छलात्प्रभो स्वयवरस्रङ्निहितैव कान्तया ॥४७॥
राज्ञा प्रयुक्ताः स्वयमाहितौजस समर्पितालङ्कृतय क्षितीश्वरा ।
त साधुशब्दा इव साध्यसिद्धये मनश्चमत्कारिणमर्थमन्वयु ॥४८॥
भद्राश्च मन्दाश्च मृगाश्च केऽपि ये नदीगिरीन्द्रोभयवर्त्मचारिणः ।
ते तस्य सकीर्णसमन्विताः पुरो बभूवुरैरावतवशजा गजा ॥४९॥
काम्बोजवानायुजवाह्लिका हयाः सपारसीका पथि चित्रचारिण ।
शैलूषसभ्या इव दृष्टिनर्तकीमनर्तयन्नृत्यविचक्षणा प्रभो ॥५०॥
ता नेत्रपेया विनिशम्य सुन्दरी सुधामलङ्कामयमान उत्सुक ।
क्रामन्नपाचीं हरिसेनया वृतो बभौ स काकुत्स्थ इवास्तदूषण ॥५१॥

सह दानभोगाभ्या वर्तत इति, अजातनयनसहस्रस्य महेन्द्रस्याकृतिमनुचकार । पक्षे सर्वकालं नभोगा देवा विद्यन्ते यस्य, गुरुर्देवमन्त्री[1] ॥४५॥ धुन्वन्निति—तस्य प्रस्थाननिवेदको डिण्डिमवाद उत्तस्थौ, महाघोरगम्भीरनादत्वात्पृथ्वी कम्पयन्निव गगन भेदयन्निव, दिशः कवलयन्निव, पर्वतानुत्थापयन्निव, किंबहुना त्रिभुवन तर्जयन्निव ॥४६॥ ओङ्कारवदिति—उपरि पतत्त्रिदशमुक्तमन्दारदामव्याजात् स्वयवरमाला कान्तया मुक्ता प्रभो कण्ठे पपातेव । गगने देवशङ्खध्वनौ विजृम्भमाणे अभिलषितकन्यालाभक्षणमङ्गलाकर्णनस्य प्रणवोद्गार इवम् ॥४७॥ राज्ञेति—त युवराज महासेनादिष्टा प्रतापिनो दत्ताभरणादिप्रसादा राजानोऽनुजग्मु । यथा कविप्रयुक्ता श्रोतव्यशब्दा सालकारा गृहीतौजोगुणविशेषा उत्पाद्यमर्थमनुगच्छन्ति ॥४८॥ भद्राश्चेति—ये भद्रमन्द्रमृगसकीर्णजातयो नर्मदाविन्ध्यतटद्वयमार्गचारचुञ्चव ऐरावतगोत्रजास्ते सम प्रचेलु ॥४९॥ काम्बोजेति—ये काम्बोजप्रभृतयो नानादेशजा अश्वास्ते नववीथिकाचारचारिणोऽस्य प्रभोर्दृष्टिनर्तकी नर्तयामासु । सर्वेषु दर्शनलालसत्वाच्चञ्चला चक्रुरित्यर्थ ॥५०॥ तामिति—स प्रभुर्दक्षिणा दिश गच्छन्

साथ लिये थे] ॥४०॥ चूँकि वह धर्मनाथ दानभोगवान्—दान और भोगोंसे युक्त थे, [पक्षमें सदा नभोगवान्—सर्वदा आकाशगामी देवोंसे युक्त थे] और गुरु—पिता [पक्षमें बृहस्पति] की आज्ञासे गजेन्द्र [पक्षमें ऐरावत] पर आरूढ हो मार्गमें जा रहे थे अतः हजार नेत्रोंसे रहित इन्द्रकी शोभाका अनुकरण कर रहे थे ॥४५॥ उस समय प्रस्थानको सूचित करनेवाला भेरीका वह भारी शब्द सब ओर बढ रहा था, जो कि पृथिवीको मानो कँपा रहा था, आकाशको मानो खण्डित कर रहा था, दिशाओंको मानो निगल रहा था, पर्वतोंको मानो विचलित कर रहा था, और संसारको मानो डॉट दिखा रहा था ॥४६॥ उसी समय आकाशमें शंखका शब्द गूँजा जो प्रारम्भ किये जानेवाले मंगल रूप शास्त्रके ओंकारके समान जान पड़ता था और आकाशसे पुष्प वर्षा हुई जिसके छलसे ऐसा जान पड़ा मानो कान्ता श्रृंगारवतीने प्रभुके गलेमे वरमाला ही डाली हो ॥४७॥ जिस प्रकार विज्ञ पुरुष द्वारा उच्चरित, ओजस् गुणसे युक्त एवं उपमादि अलंकारोंसे सहित निर्दोष शब्द चित्तमें चमत्कार उत्पन्न करनेवाले अर्थके पीछे जाते हैं उसी प्रकार राजाके द्वारा प्रेरित अनेक प्रतापी राजा अच्छे-अच्छे आभूषण धारण कर साध्यकी सिद्धिके लिए युवराज धर्मनाथके पीछे पीछे गये ॥४८॥ नदी पर्वत तथा दोनों ही मार्गोंमें चलनेवाले जो भद्र मन्द अथवा मृगजातिके हाथी थे वे सब एकत्रित हो युवराजके आगे ऐरावतके वंशजसे हो रहे थे ॥४९॥ चित्र-विचित्र कदम भरनेवाले काम्बोज, वानायुज, वाह्लीक, और पारसीक देशके जो घोड़े

१. श्लेषव्यतिरेकानुप्राणितोपमालकार ।

कल्पद्रुचिन्तामणिकामधेनवस्तटेऽपि मग्ना खलु दानवारिधे ।
स्तोत्रैरजस्रं कथमन्यथार्थिनो धनार्थमस्यैव यशांसि तुष्टुवु ॥५२॥
रत्नावनीबिम्बितचारुमूर्तयो विरेजिरे तस्य चमूचरा प्रभोः ।
विज्ञाय सेवावसर रसातलाद्विनिःसरन्तो भवनामरा इव ॥५३॥
लावण्यकासारतरङ्गशीकरव्रजैरिवोद्धृत्तभुजाग्रपातिभि ।
लाजैस्तमानर्चुरुदग्रमन्मथद्रुमप्रसूनैरिव पौरयोषित ॥५४॥

राम इव शुशुभे । अश्वसेनापरिवृत ता कन्या लोचनाय लावण्यरसा श्रुत्वा सुन्दर्येव सुधा सुन्दरीसुधा ताम् अलमतिशयेन कामयमान उपबुभुक्षु पक्षे ता सीता नेत्रपेया श्रुत्वा हनुमत्कथिता सुगेहलङ्काम् अयमानो गच्छन् अस्तदूषणो निर्दोष ध्वस्तदूषणनामराक्षस । अश्वा पक्षे हरयो नाम मर्कटा[2] ॥५१॥ कल्पेति— निरुपमदानसमुद्रस्य जिनस्य कल्पवृक्षादयो ब्रुडिता समीपेऽपि समीपस्था कीदृशा अपि नेत्यर्थ । यतो हि चिन्तितलिप्सवो जना अस्य गुणानेव स्तुवन्ति स्म । तिष्ठतु दूरे जिनस्तस्य नामैव गृहीत प्रार्थित ददातीति भाव ॥५२॥ रत्नावनीति—स्फटिकोत्तानपट्टभूतलफलितमूर्तयस्तस्य परिवारराजानो [परिवारराजा] ज्ञातयात्रावसरा पातालपुराद्विनिर्गच्छन्तो धरणेन्द्रप्रमुखा इव शुशुभिरे ॥५३॥ लावण्येति—पौराङ्गनास्तस्योपरि लाजैर्ववृषु निजलावण्यसरकल्लोलबिन्दुसमूहैरिव । अथवा तत्कालजिनरूपामृतसिक्तस्य

थे वे मार्गमे नृत्यनिपुण नटोंकी तरह प्रभुकी दृष्टि रूपी नर्तकीको नचा रहे थे ॥५०॥ उस समय वह धर्मनाथ ठीक रामचन्द्रके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार रामचन्द्र अतिशय सुन्दरी सीताको नेत्रोंके द्वारा दर्शनीय सुनकर बड़ी उत्सुकताके साथ सुधामलंकामयमान हो रहे थे—उत्तमोत्तम महलोंसे युक्त लंका नगरीको जा रहे थे उसी प्रकार वह धर्मनाथ भी सुधाम् सुन्दरीं नेत्रपेया विनिशम्य अलं कामयमान थे—सुन्दरी शृंगारवती रूपी अमृतको नेत्रोंके द्वारा पान करनेके योग्य सुनकर बड़ी उत्सुकताके साथ उसकी इच्छा कर रहे थे। जिस प्रकार रामचन्द्र हरिसेना—वानरोंकी सेनासे युक्त होकर दक्षिण दिशाकी ओर जा रहे थे उसी प्रकार धर्मनाथ भी हरिसेना—घोड़ोंकी सेनासे युक्त होकर दक्षिण दिशाकी ओर जा रहे थे और जिस प्रकार रामचन्द्र अस्तदूषण थे—दूषण नामक राक्षसको नष्ट कर चुके थे उसी प्रकार धर्मनाथ भी अस्तदूषण थे—मद मात्सर्य आदि दूषणोंको नष्ट कर चुके थे ॥५१॥ निश्चित था कि कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, और कामधेनु दान रूप समुद्र के तट पर ही डूब गये थे, यदि ऐसा न होता तो याचक जन धनके लिए स्तोत्रों द्वारा इन्हीं एकके यशकी क्यों स्तुति करते ? ॥५२॥ रत्नमयी पृथिवीमे जिनके सुन्दर शरीरोंका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है ऐसे भगवान् धर्मनाथके सैनिक उस समय ऐसे जान पड़ते थे मानो अपनी सेवाका अवसर जान कर रसातलसे भवनवासी देव ही निकल रहे हों ॥५३॥ नगरकी स्त्रियाँ ऊपर उठायी भुजाओंके अग्रभागसे गिराये हुए जिन लाजोंसे उन धर्मनाथकी पूजा कर रही थीं वे ऐसे जान पड़ते थे मानो सौन्दर्य रूप सरोवरकी तरंगोंके जलकणोंका समूह ही हो अथवा

१ उदग्र समुन्नतो यो मन्मथ एव काम एव द्रुमो वृक्षस्तस्य प्रसूनानि पुष्पाणि तै । २ अस्येद व्याख्यान सुगमम्—अपाची दक्षिणदिशा क्रामन् गच्छन् स धर्मनाथ काकुत्स्थ इव राम इव बभौ शुशुभे । अथोभयो सादृश्यमाह—ता पूर्वोक्ता सुन्दरी सुधा पीयूषरूपा शृङ्गारवती नेत्रपेया नयनै पेया दर्शनीयामिति यावत् ! पक्षे ता सुन्दरी सीतामिति यावत् नेत्रपेया दर्शनीया जीवितामिति यावत् विनिशम्य श्रुत्वा अलमतिशयेन कामयमानो वाञ्छन् पक्षे सुष्ठु धामानि यस्या तथाभूता या लङ्का दशास्यनगरी ताम् अयमानो गच्छन् उत्सुक उत्कण्ठित उभयत्र समानम्, हरिसेनया अश्वसेनया पक्षे वानरसेनया वृत परिवेष्टित अस्तदूषणो निर्दोष पक्षेऽस्तदूषणनामराक्षस । श्लिष्टोपमालकार ।

जीवेति नन्देति जयेति चोच्चकैरुदीरिताशीर्जरतीभिरात्मनः ।
सिद्धेरिव द्वारमवाप तत्क्षण पुरस्तदानी युवराजकुञ्जर ॥५५॥
अग्रे प्रसर्पंच्चतुरङ्गविस्तृता कृशा च मध्ये विशिखावरोधत. ।
पश्चादतुच्छामपि तां पताकिनी प्रियामिव प्रेक्ष्य स पिप्रिये प्रभु ॥५६॥
हर्म्यैरिवोत्तम्भितकुम्भशोभितैरुपात्तनानावलभीमतेर्गजे. ।
निर्यान्तमुत्केव वियोगविक्लवा तमन्वगात्सालसमुन्नतै. पुरी ॥५७॥
रम्याननेन्दोर्धृतकाननश्रिय. श्रितस्य सद्भि॰ सदनाश्रयस्य च ।
वेगेन भर्तु. पथि गच्छतोऽन्तर महत्तदा तस्य पुरस्य चाभवत् ॥५८॥

कामद्रुमस्य पुष्पैरिव सर्वा अपि तरुण्य कामकर्थिता इत्यर्थ. ॥५४॥ जीवेति—जीवेति मङ्गलवचनैर्वृद्धाभिरुदीरिताशीर्वादो गच्छन् नगरीद्वारमवाप निजमनोरथसिद्धे प्रथमप्रवेशमिव ॥५५॥ अग्र इति—निजसेना प्रतोलीवाह्ये सप्रसरा प्राकारमध्ये वापि सविस्तरा मध्यवाह्ययोरन्तराले रथ्यासकीर्णमार्गत्वात् तुच्छाम् अतश्च परिणाहिपयोधरालसा पृथुजघनफलककामिनीमिव ॥५६॥ हर्म्यैरिति —त प्रभु निर्गच्छन्तमवलोक्य विरह सोढुमपारयन्ती पुरी अनुजगाम। कैर्गजैर्गेहैरिव। उत्तम्भितकुम्भस्थलशोभितै पक्षे समारोपितकनककलशैरुपात्त गृहीत नानावलैरनेकसैन्यै भीमत भङ्गाभिप्रायो येस्य पक्षे नानाप्रकारवलभीमतै. सालस समन्दप्रचारमुन्नतैरुच्चैस्तरै पक्षे प्राकारसमुन्नतै ॥५७॥ रम्येति—तस्य गच्छतो जिनस्य महदन्तरालमभूत्। अथ च नगर मुक्त्वा दूर जगामेति भाव। किंविशिष्टस्येत्याह—जगदानन्दकमुखचन्द्रस्य नगरस्य च धृतवनलक्ष्मीकस्य सज्जनाश्रयस्य गेहाश्रयस्य वेगेन गच्छत. स्थावरस्य च, अथ च कुत्सितमानन कानन धृता काननश्रीर्येन, सता साधूनामनाश्रय सदनाश्रय। जिन सर्वथा सप्रभाव इत्यर्थ [1]

कामदेव रूपी उन्नत वृक्षके फूल ही हों ॥५४॥ जीव, नन्द, जय—इस प्रकार वृद्धा स्त्रियों द्वारा जिन्हें उच्च स्वरसे आशीर्वाद दिया जा रहा है ऐसे श्रेष्ठ युवराज धर्मनाथ शीघ्र ही नगरके द्वार तक पहुँचे मानो अपनी सिद्धिके द्वार तक ही पहुँचे हों ॥५५॥ जो आगे और पीछे रथादि चार अंगों [पक्षमें नितम्ब द्वय और स्तन द्वय] के द्वारा विस्तृत है तथा मध्यमे मार्गकी संकीर्णतासे कृश है ऐसी उस सेनाको प्रियाकी तरह देख कर धर्मनाथ अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥५६॥ मकानोंकी तरह उत्तम कलशोंसे सुशोभित [पक्षमें उत्तम गडस्थलोंसे युक्त], बनी हुई नाना प्रकारकी वलभियों—अट्टालिकाओंसे प्रसिद्ध [पक्षमें नाना प्रकारके बलसे भयंकरता धारण करनेवाले] और उत्तुंग प्राकारसे युक्त [पक्षमें आलस्ययुक्त] एवं ऊँचे अथवा सागोनके वृक्षके समान ऊँचे हाथियोंसे वह सेना ऐसी जान पड़ती थी मानो वियोगसे दुःखी हो नगरी, बाहर जानेवाले युवराजके पीछे-पीछे ही जा रही हो ॥५९॥ जब कि युवराजका मुखचन्द्र अतिशय आनन्ददायी था और वह नगर कानन—कुत्सित मुखको धारण करनेवाला था [पक्षमे कानन—वनकी शोभा धारण करनेवाला था] युवराज सत्पुरुषोंके आश्रय थे परन्तु वह नगर सदनाश्रय था—सत्पुरुषोंका आश्रय नहीं था [पक्षमे सदनों—भवनोंका आश्रय था] इस प्रकार वेगपूर्वक मार्गमे जानेवाले धर्मनाथ और उस रत्नपुर नगरमे बड़ा अन्तर था—क्षेत्रकृत और गुणकृत—दोनों ही प्रकारका अन्तर था

१ अस्येद सुगम व्याख्यानम्—तदा तस्मिन्नवसरे पथि मार्गे वेगेन रयेण गच्छतो भर्तुर्धर्मनाथस्य तस्य पुरस्य नगरस्य च महत्प्रचुरम् अन्तर दूरीभाव अभवत्। पक्षे विपुल वैशिष्ट्य पार्थक्यमिति यावत् अभवत्। तदेव दृढयति—भर्तु पक्षे रम्याननेन्दो रमणीयमुखचन्द्रस्य पुरपक्षे कुत्सितमानन कानन तस्य श्री काननश्रीधृता काननश्रीर्येन तस्य पक्षे धृता काननाना वनाना श्री शोभा येन तस्य। भर्तु पक्षे सद्भि सज्जनै. श्रितस्य सेवितस्य पुरस्यपक्षे सता सज्जनानामनाश्रयोऽनाधारस्तस्य, पक्षे सदनाना भवनानामाश्रयस्तस्य।

श्रेणीव रेणूद्गमनिष्ठितावनिस्फुटीभवच्छेषफणामणित्विषाम् ।
सर्पत्सु सैन्येषु रराज दन्तिनां मदस्रुतिस्तत्क्षणपातलोहिनी ॥५९॥
कम्पाद्भुव. क्षुभ्यदशेषवा[1]रिधेस्तदाभविष्यज्जगतोऽप्युपप्लव ।
अस्या व्यधास्यन्भरभङ्गुराकृतेर्गजा न चेद्दानजलाभिषेचनम् ॥६०॥
प्रायोऽपदस्पृष्टमहीतला खुरैर्वियद्गमाभ्यासरस हया व्यधु ।
तन्मत्तमातङ्गचमूभराद्भुवो विभावयामासुरमी विपर्ययम् ॥६१॥
लीलाप्रचारेषु यथा यथा व्यधुर्नखाग्रभागोल्लिखन तुरङ्गमाः ।
[2]उत्सर्पिपासुप्रस[3]रच्छलादभूत्तदा तथोर्व्या पुलकाङ्कुरोद्गम[4] ॥६२॥
अन्त·स्खलल्लोहखलीननिर्गलद्विलोललालाजलफेनिलानना ।
चेलु. पिबन्त· पवनातिरंहसो द्विषद्यशासीव तुरङ्गपुङ्गवा ॥६३॥
तस्योत्क्रमालक्ष्यत पार्श्वयोर्द्वयोः समुल्ल[5]सल्लोलपृथुप्रकीर्णका ।
ध्यानान्नभोवर्त्मगतेरसशयादुदीर्णपक्षेव तुरङ्गमावलि ॥६४॥

॥५८॥ श्रेणीवेति—तत्कालपातिता दन्तिना मदधारा ताम्रवर्णा बभासे शेषफणामणितेजसा पङ्क्तिरिव । कथ दृश्यत इत्याह—रेणूद्गमेन समूलधूलिपटलसमुड्डयनेन निष्ठिता निर्णाशिता अवनि पृथ्वी तस्यामिति, सैन्यमहासमर्देन भूर्धूलिभावमासाद्य समस्ताप्युड्डीना तत शेषमणिदर्शनमिति भाव ॥५९॥ कम्पादिति—मूलाच्चलायमानसमुद्रस्य पृथिव्या कम्पेन भुवनस्याप्युपप्लवोऽनिष्टमभविष्यत् न चेदस्य गजेन्द्रा मदजलाभिषेचनमकरिष्यन् महाभाराद्विभङ्गुमूर्ते ॥६०॥ प्राय इति—यदमी तुरङ्गमा खुरैर्महीतलमस्पृशन्तो गगनगमनाभ्यासमकार्षुस्तदह वितर्कयामि माद्यत्करिघटाप्रचारभारात् पृथिव्या विपर्यय विघटन शशङ्किरे । यथा कश्चिदाधार महाभरभज्यमान दृष्ट्वा दूरेणोत्पतति ॥६१॥ लीलेति—तुरङ्गमलीलाचटुलगतिषु यथा यथा खुरैर्भुवन समुच्चरन्तु तथा तथा प्रसरत्पांसुच्छलात् पृथिव्या हर्षकण्टकोद्गम सबभूव । यथा कस्मिश्चित् कामुकै नखैरङ्ग समुल्लिखति । कस्यचित् प्रेमवत्या हर्षरोमोद्गम स्यात् ॥६२॥ अन्तरिति—मध्यव्यालोड्यमानकविकासघर्षान्निर्गलद्बहुललालाजलसफेनमुखास्तुरङ्गमा दधाविरे शत्रूणा यशोदुग्ध पिबन्त इव वायुवेगात् ॥६३॥ तस्येति—तस्य प्रभोश्चतुरगमनवल्गनादुत्पतिताग्रपादा पार्श्वयोर्द्वयोर्विचञ्चूर्यमाण-

॥५८॥ उस समय सैनिकोंके चलने पर तत्काल गिरनेके कारण लाल लाल दिखनेवाली हाथियोंकी मदस्रुति ऐसी जान पड़ती थी मानो निरन्तर धूलि उडती रहनेसे पृथिवी समाप्त हो चुकी हो और शेषनागके फणाके मणियोंकी किरणोंका समूह ही प्रकट हो रहा हो ॥५९॥ यदि भारसे झुकी हुई इस पृथिवीका हाथी दानरूप जलसे अभिषेक न करते तो समस्त पृथिवीके कम्पित होनेसे समस्त समुद्र क्षुभित हो उठते और सारे संसारमें उपप्लव मच जाता ॥६०॥ खुरोंके द्वारा प्रायः पृथिवीतलका स्पर्श न कर घोड़े आकाशमे चलनेका जो अभ्यास कर रहे थे उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो मत्त मातंगों—हाथियो [पक्षमे चाण्डालों] की सेनाके भारसे पृथिवीको अस्पृश्य ही समझ रहे हों ॥६१॥ लीलापूर्वक गमन करते समय ज्यों-ज्यों घोड़े नखके अग्रभागसे पृथिवीको खुरचते थे त्यों-त्यों उड़ती हुई धूलि के बहाने उसके रोमाञ्च निकल रहे थे ॥६२॥ भीतर पडी लोहेकी लगाम के कारण निकलते हुए लार रूप जलसे जिनके मुख फेनिल हो रहे हैं ऐसे पवनके समान वेगशाली घोडे ऐसे जा रहे थे मानो शत्रुओंके यशका पान ही कर रहे हों ॥६३॥ जिसके दोनो ओर बड़े-बड़े चंचल चमर ढोले जा रहे हैं ऐसी छलॉग भरने को उद्यत घोडोंकी पंक्ति इस

१ वारिधि म० घ० । २ तत्सर्पि घ० म० । ३ प्रकरच्छलात् म । ४ –रोद्गमम् घ० । ५ समुल्लसल्लोल म० घ० ज० ।

तस्य व्रजद्वीरतुरङ्गसंनिधौ मयूरपत्रातपवारणव्रजः ।
वीचीचयोल्लासितशैवलावलीविलासमासादयति स्म तोयधेः ॥६५॥
दुष्प्रेक्ष्यतामस्य बलाभियोगतो रजोभिरुत्सर्पिभिरम्बरे गते ।
रक्तोऽपि दोषैकभयादिवोच्चकैर्न दिक्षु चिक्षेप दिवाकरः करान् ॥६६॥
आसिन्धुगङ्गाविजयार्धसिंहलादभिद्रवद्दुर्वहवाहिनीभृतः ।
त्रस्यद्धरित्रीधरवज्रपञ्जरो बलोदधिस्तस्य बभूव दुर्धरः ॥६७॥
तापापनोदाय सदैव भूत्रयोविहारखेदादिव पाण्डुरद्युतिम् ।
कीर्तेर्वयस्यामिव भर्तुरग्रतो विलोक्य गङ्गां बहु मेनिरे नराः ॥६८॥
शम्भोर्जटाजूटदरीविवर्तनप्रवृत्तसंस्कार इव क्षितावपि ।
यस्याः प्रवाहः पयसा प्रवर्तते सुदुस्तरावर्ततरङ्गभङ्गुरः ॥६९॥
पर्यन्तकान्तारसमीरविस्फुरत्तरङ्गविस्फारितफेनलाञ्छिता ।
प्रालेयशैलोरगराजरेचितप्रलम्बनिर्मोकनिभा विभाति या ॥७०॥

पृथुलचामरा तुरङ्गपङ्क्तिः शुशुभे । निश्चितमहमेव मन्ये—अत्यन्तगगनगमनध्यानादुद्गतपक्षतिरिव ॥६४॥ तस्येति—गच्छतां तुरङ्गचक्राणां समीपे श्रीकरीसमूहः कल्लोलमालोत्तम्भितजम्बालजालश्रियमाश्रयतिस्म ॥६५॥ दुष्प्रेक्ष्यतामिति—तस्य बलसमर्दनप्रसूतैः रेणुभिरान्ध्यं गते गगने रात्रिरभूदिति मन्यमानो दिनकरः करान्न प्रससार । बहुलधूलिपटलप्रसरतया रात्रिमन्ये दिने विवस्वान्न दृश्यत इति भावः । अथ चोक्तिलेशः—कश्चित्कामी सदासक्तोऽपि पुष्पप्लुतं वस्त्रं दृष्ट्वा दोषभयान्निजाङ्गनास्वपि हस्तं न प्रसारयति ॥६६॥ आसिन्ध्विति—तस्य सेनासमुद्रः उद्भटो बभूव । किंविशिष्ट इत्याह—सिन्धुप्रमुखदेशेभ्यः आगच्छन्तीभिः सेनाभिः संभृतः बिभ्यद्भूमिपालरक्षणवज्रपञ्जरः पक्षे सिन्धुगङ्गाप्रभृतिभ्यो देशेभ्यः आगच्छन्तीभिर्नदीभिः पूरितः महेन्द्रमुक्तवज्रेण पक्षच्छेदभयेन पलायितानां पर्वतानां शरणम् ॥६७॥ तापेति—अग्रतो गच्छन्तश्चमूचरा गङ्गां प्रभोः कीर्तेः सखीमिव विलोक्य बहुमानं मेनिरे । किंविशिष्टामित्याह—त्रिभुवनतापनिराकरणाय योऽसौ प्रचारस्तत्र खेदस्तस्मादिव पाण्डुरद्युतिम् । महामार्गखिन्नो हि पाण्डुरद्युतिः स्यात् । कीर्तिरपि त्रिभुवनकलमच्छेदिनी त्रिभुवनविहारिणी च ततस्तया सादृश्यम् ॥६८॥ शम्भोरिति—यस्याः प्रवाहः आवर्तभ्रमरभङ्गुरः प्रवहति । कुत इत्याह—शङ्करसकटजटाबन्धविवरविवर्तनैः संजातसतताभ्याससंस्कार इव पृथिव्यामपि तमभ्यासं न मुञ्चतीति भावः ॥६९॥ पर्यन्तेति—या समीपगहनेभ्यः समुत्थितपवनवशादुत्तिष्ठद्भिः

प्रकार जान पड़ता थी मानो आकाशमार्गमे गमन करने का ध्यान आनेसे उसे पंख ही ही निकल आये हों ॥६४॥ उन चलते हुए वीर घोड़ोंके समीप जो मयूर पत्र निर्मित छत्रोंका समूह था वह किसी समुद्र की तरगों-द्वारा उछाले हुए शैवालसमूहकी शोभाको प्राप्त हो रहा था ॥६५॥ जब बलपूर्वक समागम करनेसे निकले हुए रज—आर्तवसे स्त्रियोंके अम्बर—वस्त्र अदर्शनीय हो जाते हैं तब जिस प्रकार पुरुष अनुराग युक्त होने पर भी दोषोंके भयसे उनकी ओर कर—हाथ नहीं फैलाता है उसी प्रकार जब युवराज धर्मनाथके बल—सेनाके संसर्गसे उड़नेवाली रज—धूलिसे अम्बर—आकाश अदर्शनीय हो गया तब सूर्यने स्वयं रक्त—लालवर्ण होने पर भी दोषा—रात्रिके भयसे दिशाओं की ओर ऊपर अपने कर—किरण नहीं फैलाये ॥६६॥ सिन्धु, गंगा एवं विजयार्धके मध्यवर्ती समस्त देशों तथा सिंहल द्वीपसे सम्मुख आने वाली सेना रूपी नदियोंसे भरा हुआ वह श्रीधर्मनाथका सेना रूपी समुद्र अत्यन्त दुर्धर हो गया था वह सैन्य-समुद्र भयभीत राजाओं की रक्षा करनेके लिए वज्र-निर्मित पिंजड़ेके समान था ॥६७॥ लोग अपने आगे वह गंगा नदी देख बहुत प्रसन्न हुए जो कि संताप दूर करनेके लिए त्रिभुवनमें विहार करनेके खेदसे ही मानो सफेद सफेद हो रही है और स्वामी धर्मनाथको त्रिभुवनव्यापिनी कीर्तिकी सहेली-सी जान पड़ती है ॥६८॥ जिस

विष्णो[1]रिवाङ्घ्रेर्नखरश्मिरञ्जिता करैरिवेन्दोर्भवमूर्ध्नि लालिता ।
भिन्ना हिमाद्रेस्तुहिनैरिवोच्चकैश्चकास्ति या क्षीरसहोदरद्युति ॥७१॥
काञ्चीव रत्नोच्चयगुम्फिता क्षितेर्दिवश्च्युतेवामलमौक्तिकावलि ।
कृष्टा सशब्दं पुरुहूतदन्तिनो विराजते राजतशृङ्खलेव या ॥७२॥
सूर्यस्य तापेन दिवानिशि[2] ज्वलन्महौषधीनामकृशे[3] कृशानुभि ।
तप्तस्य नीहारगिरेरिव द्रवश्चकास्ति यस्या शुचिरम्भसा प्लव ॥७३॥
तीरेऽपि यस्यास्त्रिजगज्जुषश्चरन्स सार्वभौमोऽपि निमज्जति ध्रुवम् ।
बुद्धयेव नावा घटितोरुकाष्ठया ततार तृष्णामिव ता स जाह्नवीम् ॥७४॥
हेलोत्तरत्तुङ्गमतङ्गजावलीकपोलपालीगलितैर्मदाम्बुभि ।
गङ्गाजल कज्जलमञ्जुलीकृत कलिन्दकन्योदकविभ्रम दधौ ॥७५॥

कल्लोलैर्विस्फारितडिण्डीरपिण्डमण्डिता हिमालयशेषाहिमुक्तकञ्चुलिकेव शोभते । अथ च हिमवतो गङ्गा प्रभवतीति ॥७०॥ विष्णोरिति—या क्षीरसदृशप्रवाहा शोभते । कुत इत्याह—यदा विष्णोरङ्गुष्ठान्नि सृता तदा धवलनखकिरणैर्धवलितेव । अथवा शङ्करशिरसि चन्द्रकिरणै श्वेतिता । आहोस्वित् हिमालयस्य हिमै. पाण्डुरितेव । आधारवशात् त्रिभि कारणैर्धवलितेति भाव ॥७१॥ काञ्चीवेति—या वसुधावध्वा रत्नरशनेव, अथवा दिवोऽङ्गनाया कथचित्पतिता मौक्तिकहारावलिरिव, उतस्वित् ऐरावतगजेन्द्रस्य रौप्यहिञ्जीरमहामालेव आकृष्यमाणा शब्दायते । अथ च सशब्दैव नदी ॥७२॥ सूर्यस्येति—यस्या धवलसलिलप्रवाहो विलीनस्य हिमालयशिलासघातस्य द्रव इव । कथ विलीनस्येत्याह—दिवसे खरकिरणप्रतापेन नक्त च जाज्वल्यमानमहौषधीनामकृशैर्महातापैर्वैश्वानरै. ॥७३॥ तीरेऽपीति—स प्रभुर्दृढकाष्ठफलकनिर्मितया नावा ता गङ्गा तीर्णवान् यस्यास्त्रिभुवनव्यापिन्यास्तटेऽपि सचरन् चक्रवर्त्यपि ब्रुडति तथा तेनैव जिनेन बुद्धया निजज्ञानशक्त्या घटितोरुकाष्ठया गृहीतमहाप्रतिज्ञया तृष्णा नदी तीर्यते । यस्या सर्वव्यापिन्या तृष्णाया समीपे विचरन्तोऽन्येऽपि निमज्जन्ति ॥७४॥ हेलेति—समकालमुत्तरता गजाना श्यामलैर्मदजलैर्गङ्गाप्रवाहो यमुना-

गगा नदीके जलका प्रवाह पृथिवीमें भी अत्यन्त दुस्तर आवर्तों और तरगोंसे कुटिल होकर चलता है मानो महादेवजीके जटाजूटरूप गुफाओंमें सचार करते रहने के कारण उसे वैसा सस्कार ही पड गया है ॥६९॥ वह गगा निकटवर्ती वनोंकी वायुसे उठती हुई तरगों द्वारा फैलाये हुए फेनसे चिह्नित है अतः ऐसी जान पड़ती है मानो हिमालयरूपी नागराजके द्वारा छोडी हुई काचुली ही हो ॥७०॥ जो गगा नदी दूधके समान सफेद कान्ति वाली है जिससे ऐसी जान पड़ती है मानो विष्णुके चरण नखोंकी किरणोंसे ही व्याप्त है, अथवा महादेवजी के मस्तक पर चन्द्रमाकी किरणोंसे ही लालित है अथवा हिमालयकी ऊँची ऊँची बर्फीली चट्टानोंसे ही मिश्रित है ॥७१॥ जो गगा नदी ऐसी सुशोभित होती है मानो रत्नोंके समूहसे खचित पृथिवीकी करधनी ही हो, अथवा आकाशसे गिरी निर्मल मोतियोंकी माला ही हो अथवा शब्द सहित खींची हुई ऐरावत हाथीकी चाँदीकी साँकल ही हो ॥७२॥ जिस गंगा नदीके जलका सफेद प्रवाह ऐसा जान पडता है मानो दिनमे सूर्यके सन्तापसे और रात्रिमे जलती हुई बडी-बड़ी ओषधियोंकी तीव्र अग्निसे तपे हुए हिमगिरिके स्वेदका विशाल प्रवाह ही हो ॥७३॥ तीनों जगत्में व्याप्त रहनेवाली जिस तृष्णा रूप नदीके तटमे ही साधारण मनुष्यों की बात जाने दो, सार्वभौम—चक्रवर्ती भी निश्चित डूब जाते हैं उस तृष्णा नदीको जिस प्रकार सन्तोषी मनुष्य अतिशय विस्तृत बुद्धिके द्वारा पार कर लेता है उसी प्रकार तीनो जगत् में विहार करनेवाली जिस गंगा नदीके तटमे ही साधारण जीवोंकी बात जाने दो सार्व-

१ –रिवोद्घ्रेर्नख घ० म० । २ दिवानिश म० घ० । ३ –मकृश म० घ० ।

एके भुजैर्वारणसेतुभि परे चमूचरा केचन नौभिरायताम् ।
अह्नाय जह्नोस्तनया यदृच्छया पुर॰ प्रतिज्ञामिव तामतारिषु ॥७६॥
उत्साहशीलाभिरल जडात्मिका त्रिमार्गगासख्यपथप्रवृत्तिभि॰ ।
तद्वाहिनीभि प्रसभ दिवौकसा कथं न पश्चात्क्रियते स्म वाहिनी ॥७७॥
नागै समुत्सर्पिभिराक्षिपन्नगान् पुरीरशेषाः पटवेश्मभिर्जयन् ।
उत्केतनैर्भूरिवनानि तर्जयन्नदीश्चभूमि॰ स विडम्बयन्नगात् ॥७८॥
[1]प्रमितिविधुरा ये मिथ्यात्व पथ. प्रतिपेदिरे
पिदधुरपि ये [2]कूटारम्भैर्दिगम्बै[3]रदर्शनम् ।
[4]प्रगुणबलवास्तास्तानुच्चे प्रमथ्य गिरीश्वरान्[5]
स्वमिह सुगमं कुर्वन्मार्गं जगाम जिनेश्वर. ॥७९॥

प्रवाहायते स्म कज्जलसदृशीकृतम् ॥७५॥ एक इति—केचन चमूचरास्ता निजदोर्दण्डै परे च केचन ता गजसेतुबन्धै॰ केचिच्च तरीभि शीघ्र प्रतिज्ञामिव ता तीर्णवन्त । निजाभिलाषेण यथा कश्चित् प्रतिज्ञा निजाहकारकृता गुर्वी दोर्दण्डादिभिर्निर्वाहयति ॥७६॥ उत्साहेति—सा देवनदी तस्य सेनाभि पश्चात्कृता यतोऽसौ जडात्मिका सलिलस्वभावा ताभिश्च उद्यमपराभि अपर च सा त्रिभिर्मार्गैर्गच्छन्ती ताभिश्चासख्य-मार्गगामिनीभि । अथ च उत्साहशीलेन जडात्मको जीयते त्रिमार्गगासख्यातमार्गगामिना । गङ्गामुल्लङ्घ्याग्रे गता इति भाव [6] ॥७७॥ नागैरिति—स उत्तुङ्गमतङ्गजै पर्वतान् निर्बलयन् पुराणि गुरूदरगुणलयनिकाप्रभृतिभि पटगृहैस्तर्जयन्, उच्चैस्तरैर्ध्वजैश्च वनान्युपहसन् नदीसघातान् च सेनाप्रसरैरनुकुर्वन् जगाम ॥७८॥ प्रमितीति—ये पर्वता अप्रमाणा मार्गस्यान्यथात्व मार्गाभाव चक्रिरे । पुनरपि यै॰ किंकृतमित्याह—दिशश्च ककुभोऽम्बर च गगन तेषा दर्शनमवलोकनमपि ये कै । कूटारम्भै शृङ्गोच्छ्रायै प्रच्छादयामासु । किंसामग्रीक प्रभुर्येनैते निर्दलिता इत्याह—प्रगुणबलवान् प्रगुण पर्वतक्षोदक्षम यात्रोद्यत

भौम दिग्गज भी डूब जाता है उस गंगाको भी धर्मनाथने काष्ठनिर्मित नौकाके द्वारा पार कर लिया था ॥७४॥ लीलापूर्वक तैरते हुए ऊँचे-ऊँचे हस्तिसमूहके कपोल प्रदेशसे निर्गत मद-जलसे गंगाका पानी कज्जलके समान काला कर दिया गया था अतः वह यमुनाके जलका सन्देह उत्पन्न कर रहा था ॥७५॥ उस विशाल गंगाको कितने ही सैनिकोंने भुजाओंसे, कितने ही सैनिकोने हाथी रूपी पुलोसे और कितने ही सैनिकोंने नौकाओंसे पार किया । इस प्रकार सभी सैनिकोंने इच्छानुसार प्रतिज्ञाकी तरह शीघ्र ही गंगाको पार किया ॥७६॥ चूँकि धर्मनाथकी सेना उत्साहशील एवं असंख्यातमार्गोंसे गमन करनेवाली थी और गंगा नदी जडात्मक—आलस्यपूर्ण [पक्षमे जलपूर्ण] एवं तीन मार्गोंसे ही गमन करनेवाली थी अतः सेनाके द्वारा गंगा नदी पीछे क्यों न छोड़ दी जाती—पराजित क्यों न की जाती ? ॥७७॥ इस प्रकार श्री धर्मनाथ तीर्थंकर ऊँचे-ऊँचे हाथियोंके द्वारा पर्वतोंको, कपड़ेके तम्बुओंसे समस्त नगरियोंको, फहराती हुई पताकाओंसे बडे-बड़े वनों और सेनाओंके द्वारा नदियोंको विडम्बित करते हुए आगे बढे ॥७८॥ जो बडे-बडे पर्वत मार्गको मिथ्या कर रहे थे एवं अपने शिखरोंके विस्तारसे दिशाओं और आकाशका दर्शन रोक रहे थे, उन ऊँचे ऊँचे गिरिराजोंको खण्डित कर उत्तम सेनासे युक्त धर्मनाथ जिनेन्द्र अपना मार्ग सरल करते हुए आगे जा रहे

---

१ प्रमित्या प्रमाणेन पक्षे प्रमाणज्ञानेन विधुरा रहिता । २ कूटारम्भै शिखरविस्तारै पक्षे कपटारम्भै । ३ दिशश्चाम्बरञ्च दिगम्बराणि काष्ठाकाशानि तेषा दर्शनमवलोकनं पक्षे दिश एवाम्बर वस्त्र येषा ते दिगम्बरा निर्ग्रन्थास्तेषा दर्शन मतम् । ४ प्रकृष्टसैन्ययुक्त पक्षे प्रकृष्टशक्तिसपन्न । ५ गिरीणा पर्वतानामीश्वरा प्रमुखास्तान् पक्षे गिरि वाण्यामीश्वरा प्रभवस्तान् । ६ व्यतिरेक ।

[1]इत्युच्चैस्तनवप्रभूषणवतीर्नारी पुरीर्वा श्रयन्
[2]कान्तारङ्गमितानरीनिव नगेष्वालोकयन् किंनरान् ।
देशानप्यतिलङ्घयन् [3]समकरान्सिन्धुप्रवाहानिव
प्राप प्रेमवती[4]मिवात्तमदना देव स विन्ध्यस्थलीम् ॥८०॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये प्रयाणकवर्णनो नाम नवमः सर्ग ॥९॥

च बल सैन्य सघातो यस्य स तथाविध । तास्तान् सर्वप्रसिद्धान् गिरीन्द्रान् सचूर्ण्य निजमार्गं शकटादिप्रचार-योग्य कुर्वन् जगाम । अथ च ये वादिनो गिरि वाण्यामीश्वरा प्रगल्भास्तान् जित्वा निजमनेकान्तरूप सर्वबोध्य कुर्वन् । कास्तानित्याह––ये प्रमितिबिधुरा प्रमाणशून्या सन्मार्गस्य रत्नत्रयलक्षणस्य मिथ्यात्वप्रतिपादका कूटारम्भैरलीकोपायैर्दिगम्बरमुद्रावज्ञायिन प्रकृष्टानन्तगुणोपेतस्तास्तान्मूकान् कुर्वन् जगाम[5] ॥७९॥ इतीति––इति पूर्वोक्तप्रकारेण उच्चैस्तरशालै कुचभारैश्च भूषिता नारीर्नगरीश्च सेवमानो वन प्रापितान् स्नेह गताश्च शत्रून् किन्नराश्च पश्यन्, सह मकरैर्वर्तत इति समकरास्तान् कोमलराजदेयभागाश्चाति-क्रामन् प्रियामिव विन्ध्यस्थलीमाजगाम । सकामा धृतमदनवृक्षविशेषाम् ॥८०॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयश कीर्तिविरचिताया सन्देहध्वान्तदीपिकाया धर्मशर्माभ्युदयटीकायां नवम. सर्ग. ॥९॥

थे । [जो स्वयं प्रमाण ज्ञानसे हीन होकर जैनदर्शनको मिथ्या बतला रहे थे और अपने मायाचारसे दिगम्बर सिद्धान्तको रोक रहे थे उन समस्त प्रकाण्ड विद्वानों को परास्त कर उत्तम गुणों के बलसे युक्त श्रीधर्मनाथ जिनेन्द्र अपना मार्ग सरल करते हुए आगे जा रहे थे] ॥७९॥ इस प्रकार श्रीधर्मनाथ स्वामी अत्यन्त उन्नत स्तनोंके शिखर रूप आभूषणों से युक्त स्त्रियोंके समान सुशोभित, अत्यन्त उन्नत प्राकार रूप आभूषणो से युक्त नगरियों का आश्रय लेते पर्वतों पर, वनमे खड़े हुए शत्रुओंके समान सुशोभित स्त्रियोंकी आसक्तिको प्राप्त किन्नरोंको देखते और मगरमच्छसे सहित नदियोंके प्रवाहके समान कर––टैक्ससे युक्त देशों का उल्लंघन करते हुए उस विन्ध्यगिरिको भूमिमे जा पहुँचे जो किसी प्रेमवती स्त्रीकी तरह मदन––काम [पक्षमे मदन वृक्ष] से युक्त थी ॥८०॥

इस प्रकार महाकवि श्री हरिचन्द्र विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें प्रयाणका वर्णन करनेवाला नौवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥९॥

१ उच्चैर्भवा उच्चैस्तना ये वप्रा प्राकारास्त एव भूषणानि तानि विद्यन्ते यासा ता पुरी , पक्षे उत्तुङ्ग-कुचाग्रभूषणवतीर्नारी । २ कान्तार वन गमिता प्रापितास्तान् अरीन् पक्षे कान्तारङ्ग वनितास्नेह गमितास्तान् किंनरान् । ३ मकरै सह वर्तन्त इति समकरास्तान् सिन्धुप्रवाहान् पक्षे समोऽनुरूप करो राजस्वभागो येपु तान् देशान् । ४ आत्तो गृहीतो मदन कामो यया ता प्रेमवतीम् पक्षे आत्ता धृता मदना एतन्नामधेयवृक्ष-विशेषा यत्र तथाभूता विन्ध्यस्थलीम् । श्लिष्टोपमा, शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥ ५ श्लेष , हरिणीच्छन्द ।

दशमः सर्गः

अथाधिपेनार्थयितु दिनाना रथस्य पन्थानमिवोपरिष्टात् ।
पादाग्रनम्रेण निषेव्यमाणं धराधरं विन्ध्यमसौ ददर्श ॥१॥

समुन्नमत्कूटपरम्पराभिराक्रान्तमन्त पृथुकदराभि ।
भुवोऽर्धमर्धं नभसो गृहीत्वा मन्ये यमुच्चैर्विदधे विधाता ॥२॥

स्रष्टा दधात्येव महा[1]नदीना [2]महानदीना शिखरोन्नतिं य ।
स्वर्गादिहागत्य [3]सदानभोगै [4]सदा नभोगैरनुगम्यमान ॥३॥

मुनेर्महिम्नामभितो निरोद्धुरध्वानमन्वेष्टुमिवोत्सुको य ।
शृङ्गाग्रलग्नोडुचयच्छलेन नक्तं समुन्निद्रसहस्रनेत्र ॥४॥

अथेति—असौ प्रभुर्विन्ध्यनामान पर्वतराज ददर्श । किंविशिष्टमित्याह—प्रत्यन्तपर्वतशिखरस्थेन दिनपतिना समुपास्यमानम् । किमर्थमित्याह—निजरथमार्गमुपरि याचितुम् । अत्युच्चैस्तरत्वाद्विन्ध्यस्य प्रत्यन्तपर्वतेष्वेवादित्योऽधिरोढु शक्नोति । अतश्च ज्ञायते नम्र सेवापर इव[5] ॥१॥ समुन्नमदिति—अहमेव मन्ये—य पर्वत विधिरकार्षीत् । कि कृत्वेत्याह—अर्द्धभाग पृथिव्या अर्द्धभागं च गगनस्य गृहीत्वा । किंविशिष्टम् । अन्तर्व्याप्तम् । काभि । वर्धमानशिखरपरम्पराभि । मध्ये च पृथुलगुहाभि । शिखरसंततिदर्शनात्पृथिवीभागेन निर्मित इति ज्ञायते कन्दराविस्तारदर्शनाच्च गगनभागेन निर्मित इति ॥२॥ स्रष्टेति—यो विन्ध्यपर्वतो दधाति । काम् । शिखरोन्नतिम् । किंविशिष्टाम् । अदीनामनिम्नाम् । किंविशिष्ट । स्रष्टा हेतु । कासाम् । महानदीना नर्मदाप्रभृतीनाम् । पुन किंविशिष्ट । महान् । पुन कथभूत । अनुगम्यमान । कै । नभोगै देवै । किंविशिष्टै । सदानभोगै दानभोगाभ्या सहितै । कथम् । सदा[6] ॥३॥ मुनेरिति –यो दक्षिणाशा गतस्यागस्तिमुनेर्मार्गमवलोकयितुमुत्सुक इव दृश्यते । किंविशिष्ट सन्नित्याह प्रसारितसहस्रलोचन रात्रौ शृङ्गाग्रभागोपविष्टनक्षत्रपङ्क्तिव्याजेन । किंविशिष्टस्य मुनेरित्याह—शृङ्गवृद्धिप्रभावाणा निवारकस्य । पूर्वं हि वर्द्धमानो विन्ध्योऽगस्तिमुनिनाभ्यर्थित यावदह दक्षिणाशा गत्वागच्छामि तावत्त्व मा वर्द्धिष्ट इति । अत्युत्सुकत्वात्सहस्र-

---

तदनन्तर श्रीधर्मनाथ स्वामीने वह विन्ध्यपर्वत देखा जो कि ऊपरसे रथके मार्गकी याचना करनेके लिए ही मानो चरणोंमें झुके हुए सूर्यके द्वारा सेवित हो रहा था ॥१॥ उस पर्वतका ऊर्ध्वभाग ऊँचे उठे शिखरोंकी परम्परासे व्याप्त था और अधोभाग बड़ी-बडी गुफाओंसे । अतः ऐसा जान पडता था मानो विधाताने आधा भाग पृथिवीका और आधा भाग आकाशका लेकर ही उसे बनाया हो ॥२॥ वह पर्वत बडी-बड़ी नदियोंको जन्म देनेवाला था एव दान और भोगसे युक्त देव स्वर्गसे आकर सदा उस पर्वतपर विहार किया करते थे ॥३॥ रात्रिके समय उस पर्वतके शिखरोंपर जो नक्षत्रोंका समूह लग जाता है उसके छलसे ऐसा जान पड़ता है मानो उस पर्वतने अपनी वृद्धिको रोकनेवाले अगस्त्य महर्षिका

---

१ महानदीनाम् । २ महान्–अदीनाम् । ३ दानभोगाभ्या सहितै । ४ सर्वदा नभोगैर्देवै । ५ उत्प्रेक्षालकार । उपजातिवृत्तम् । ६ यमकालकार ।

प्रस्थैरदु स्थैः कलितोऽप्यमान पादैरमन्दैः प्रसृतोऽप्यगेन्द्र ।
युक्तो वनैरप्यवनः श्रिताना य प्राणिना सत्यमगम्यरूप ॥५॥
विहाय मान स्मरवासभूमाविहायमान[1] सहसा सुरस्त्री ।
[2]रसालसार विपिन निरीक्ष्य रसालसा रन्तुमियेष कान्तम् ॥६॥
पञ्चाननोत्क्षिप्तकरीन्द्रकृत्तिर्गुहान्वितो दत्तशिवाप्रमोद ।
अहिप्रहारोल्वणनीलकण्ठो यो रौद्रभाव क्वचिदातनोति ॥७॥
पुनागनारङ्गलवङ्गजम्बूजम्बीरलीलावनशालि यस्य ।
शृङ्ग सदापारनभोविहारश्रान्ता श्रयन्ते सवितुस्तुरङ्गा ॥८॥

नेत्रप्रसारणम्[3] ॥४॥ प्रस्थैरिति—एकत्र प्रस्थैः कूटैः अन्यत्र मापविशेषैः । अमानोऽप्रमाणो माप्यरहितश्च । पादैः प्रत्यन्तपर्वतैश्चरणैश्च प्रसृतो विस्तीर्णो धावितश्च । अगेन्द्रो न गच्छन्तीत्यगास्तेषामिन्द्र । [वनैः काननैर्युक्त सहितोऽपि] अवन पालयिता श्रितानाम्[4] ॥५॥ विहायेति—इह स्मरवासभूमौ सुरस्त्री मान विहाय कान्त रन्तुमियेष । कथभूत कान्तम् । अयमानम् अनादृत्य सहसा गच्छन्तमपि । किं कृत्वा । निरीक्ष्य । किं तत् । विपिनम् । कथभूतम् । रसालसारमाम्रवृक्षाढ्यम् । किंविशिष्टा सुरस्त्री, रसालसा रागासक्ता[5] ॥६॥ पञ्चाननेति—पञ्चभिर्वक्त्रैरुत्क्षिप्ता करीन्द्रकृत्तिर्येन, पञ्चवक्त्राणीश्वरस्य, अन्यत्र पञ्चानना सिंहाः [[6]गुह कार्तिकेयस्तेनान्वित सहित अन्यत्र गुहा कन्दरास्ताभिरन्वित । दत्त शिवाया पार्वत्या प्रमोदो हर्षो येन तथाविध अन्यत्र दत्त शिवाना शृगालीना प्रमोदो यत्र] अहीन् प्राप्तीति अहिप्र सर्पराज स एव हारस्तेन उल्वण कण्ठो यस्य अन्यत्र भुजगप्रहारोत्कटा नीलकण्ठा मयूरा यत्र स तथोक्तरूपस्ततो य पर्वतो रौद्रभाव

मार्ग खोजनेके लिए उत्सुक हो हजार नेत्र ही खोल रखे हों ॥४॥ वह पर्वत यद्यपि बड़े-बड़े प्रस्थों—मापक पदार्थोंसे सहित था फिर भी प्रमाण रहित था [पक्षमे बहुत ऊँचा था] बड़े-बड़े पादों—चरणोंसे सहित था फिर भी नहीं चलनेवालोंमे श्रेष्ठ था [पक्षमे प्रत्यन्तपर्वतोसे युक्त एव श्रेष्ठ पर्वत था], और वनोंसे सहित था फिर भी आश्रित पुरुषोंके लिए अवन था—वन नहीं था, [पक्षमे उनका रक्षक था] ॥ ५ ॥ वह पर्वत कामदेवकी निवासभूमि है, वहाँ आमोंका सुन्दर वन देख रससे अलसायी देवागना तिरस्कार कर सहसा जाते हुए भी पतिके साथ रमणकी इच्छा करने लगती है ॥६॥ यह पर्वत कहीं सिंहोंके द्वारा उकेरे हुए हाथियों-के चर्मसे युक्त था, कहीं गुहाओंसे सहित था, कहीं शिवा—शृगालियोंको आनन्द दे रहा था, और कहीं सर्पोंपर प्रहार करनेमें उत्कट नीलकण्ठों—मयूरोंसे संयुक्त था । इस प्रकार रुद्रपना—भयंकरता प्रकट कर रहा था पक्षमे रुद्रपना प्रकट कर रहा था। क्योंकि रुद्र भी तो अपने पाँच मुखोंसे ऊपर हाथीका चर्म ओढते हैं, गुह—कार्तिकेयसे सहित हैं, शिवा—पार्वतीके लिए आनन्द देनेवाले हैं और नागराज रूपी हारसे उत्कट नील—काले—कण्ठके धारक हैं ॥७॥ अनन्त आकाशमे विहार करनेसे थके हुए सूर्यके घोड़े जिस पर्वतके नागकेशर,

१ इह—अयमानम्—गच्छन्तम् । २ रसालैराम्रै सार श्रेष्ठम् । ३ उत्प्रेक्षा । ४ अत्रेद व्याख्यान सुगमम्—यो विन्ध्यगिरि अदु स्थैरुत्तमै प्रस्थैर्मापकपदार्थै कलितोऽपि युक्तोऽपि अमान प्रमाणरहित इति विरोध परिहारपक्षे उत्तमै प्रस्थै शिखरै कलितोऽपि अमान न विद्यते मान तुङ्गत्वावधिर्यस्य तथाभूत । अमन्दैर्विपुलै पादैश्चरणै प्रसृतो धावितोऽपि अगेन्द्रो न गच्छन्तीति अगास्तेषामिन्द्र प्रमुख इति विरोध । परिहारपक्षे अमन्दैर्विपुलै पादै प्रत्यन्तपर्वतै प्रसृतोऽपि विस्तीर्णोऽपि अगेन्द्र पर्वतपति । वनै काननैर्युक्तोऽपि सहितोऽपि अवनो वनरहित इति विरोध । परिहारपक्षे श्रिताना प्राणिनाम् अवनो रक्षक । इत्थ य सत्य यथार्थम् अगम्य दुर्लङ्घ्य रूप यस्यासौ तथाभूत अस्तीति शेष । विरोधाभासोऽलकार । इन्द्रवज्रावृत्तम् । ५ यमकालकार, उपेन्द्रवज्रावृत्तम् । ६ कोष्ठान्तर्गत पाठ क पुस्तके नास्ति, किन्त्वावश्यक प्रतिभाति ।

प्रियायुतं सानुनि कुञ्जर गा निकुञ्जरङ्गां गतमीक्षमाणः ।
मुनीश्वरोऽपि स्मरति प्रियाया रतिप्रियायासवशेन यत्र ॥९॥
वप्रक्रीडाप्रहतिषु दृढैर्यत्र मत्तद्विपाना
दन्ताघातैर्झटिति जलदाभोगभाजो नितम्बात् ।
पक्षच्छेदव्रणगणगतोद्दामदम्भोलिधारा–
शल्यानीव स्फुरदुरुतडिद्दण्डखण्डानि पेतुः ॥१०॥
मम यदि लवणोदानन्दिसोमोद्भवाया
सममपरमपत्यं स्यादहं तत्कृतार्था ।
इति किल निशि सूते यस्य सोमोद्भवाना
सितकरमणिभित्तिर्वाहिनीना व्रतानि ॥११॥
यत्राम्बुजेषु भ्रमरावलीनामेणावली [1]सत्तमरावलीना ।
पपौ सरस्याश्रुतर गतान्त न वारि विस्फारितरङ्गतान्तम्[2] ॥१२॥

रुद्रत्वम् अन्यत्र भीषणत्व वा तनोति[3] ॥७॥ पुंनागेति—पुनागादिसुरभिकुसुममधुरफलशीतलच्छायोपेत-द्रुमयुक्तम् अस्य शिखरोपरिमभूमिकाप्रदेशम् अपारगगनपथश्रान्ताः सूर्याश्वा॰ क्षणमात्र श्रयन्ते तत्र विश्राम्यन्तीति भाव । सूर्यमण्डलं यावद्विन्ध्यगिरिरुच्चैरित्यर्थ[4] ॥८॥ प्रियेति—यत्र पर्वते मुनीश्वरोऽपि प्रियाया स्मरति । केन । रतिप्रियायासवशेन रतिप्रिय कामस्तस्यायासवशेन । कि कुर्वन् । ईक्षमाण पश्यन् । क कुञ्जरम् । किंविशिष्टम् । प्रियायुतम् । पुनः किंविशिष्टम् । गत प्राप्तम् । काम् । गा पृथ्वीम् । किंविशिष्टाम् । निकुञ्जरङ्गाम् निकुञ्जाना लतादिपिहितोदराणा रङ्ग उद्रेक खलकण्ठा यस्या ता तथाभूताम् । क्व । सानुनि तटे[5] ॥९॥ वप्रेति—यत्र परिणतमत्तद्विपदन्तव्याघातैर्विदलितेभ्य कटिनीस्थितजलदपटलेभ्यो निरालम्बविद्युद्दण्ड-खण्डानि निर्गलन्ति स्म । अतश्चोत्प्रेक्षन्ते—चिरकालप्ररूढव्रणग्रन्थिस्थिता कुलिशधाराखण्डा इव । पूर्वं क्रुद्धेन महेन्द्रेण पर्वतपक्षच्छेदार्थं कुलिश मुक्तमिति कथा । अत्र मेघकृष्णवर्णयोर्विद्युच्छल्ययोश्चोपमानोपमेयभाव[6] ॥१०॥ ममेति—यदि नर्मदातुल्या अपरा नदी लावण्यसमुद्रतोषिका प्रभवति तदाह कृतकृत्या भवेयमिति चिन्तयन्तीव चन्द्रमणिभित्तिर्नदीसहस्राणि श्चोतति । यथा कश्चित् रत्नाढ्य जामातर वीक्ष्य निजपुत्र्या सौभाग्यप्रहिल वीक्ष्यान्यासा तादृशीना पुत्रीणामुत्पादने कृतोद्यमो भवति[7] ॥११॥ यत्रेति—यत्र [8]एणावली हरिणपङ्क्ति॰

नारंगी, लौंग, जामुन और जिमरियोंके क्रीड़ावनोंसे सुशोभित शिखरोंपर सदा आश्रय लेते हैं ॥८॥ जिस पर्वतके शिखरपर लतागृहोंसे सुशोभित पृथिवीमें स्थित हस्तिनी सहित हाथीको देखकर और की तो बात क्या मुनिराज भी कामके खेदसे अपनी प्रियाका स्मरण करने लगते है ॥९॥ मेघमण्डलसे घिरे हुए उस पर्वतके मध्यभागसे वप्रक्रीडाके प्रहारके समय हाथियोंके दाँतोंका प्रबल आघात पा चमकती हुई बिजलियोंके बड़े-बड़े खण्ड गिरने लगते थे जो ऐसे जान पड़ते थे मानो पक्षच्छेदके समय उत्पन्न घावोंके मध्य उलझे हुए वज्रके टुकड़े ही हों ॥१०॥ यदि मेरे लवण समुद्रको आनन्द देनेवाली नर्मदाके समान दूसरी सन्तान होती तो मैं कृतकृत्य हो जाती—ऐसा विचार कर ही मानो जिस पर्वतकी चन्द्रकान्त मणि-मय दीवाल रात्रिके समय सैकड़ों सोमोद्भव—चन्द्रमासे उत्पन्न होनेवाली नदियोंको [पक्षमे नर्मदाओंको] उत्पन्न करती है ॥११॥ जिस पर्वतपर मृगोंकी पंक्ति पानी पीनेके लिए सरोवर-

१ अतिशयेन सन्त सत्तमास्ते च ते रावाश्चेति सत्तमरावास्तेषु लीना आसक्ता । २ विस्फारिणो विस्तृता ये तरङ्गा कल्लोलास्तैस्तान्त क्लेशितम् । ३ श्लेष । उपजातिवृत्तम् । ४. इन्द्रवज्रावृत्तम् । ५ उपेन्द्रवज्रा-वृत्तम् । अर्थापत्ति । ६ मन्दाक्रान्ता । ७ मालिनीवृत्तम् । ८ 'रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यका' इत्यमर ।

निर्मुक्तगर्भभरनिर्भरदुर्बलासु कादम्बिनीषु कटकाग्रविलम्बिनीषु ।
भग्नामनेकमणिभासुररश्मिजालैर्यं पूरयत्यनुदिन हरिचापलक्ष्मीम् ॥१३॥
स दृष्टमात्रोऽपि गिरिर्गरीयास्तस्य प्रमोदाय विभोर्बभूव ।
गुणान्तरापेक्ष्यमभीष्टसिद्धयै नहि स्वरूप रमणीयताया ॥१४॥
सुहृत्तम. सोऽथ सभासु [1]हृत्तमःप्रभाकरश्छेत्तुमिति [2]प्रभाकर ।
धरे क्षण व्यापृतकधरेक्षण तमीश्वर प्राह [3]जगत्तमीश्वरम् ॥१५॥
पूर्वापराम्भोधितटीतरङ्गमालाग्ररङ्गत्कटकोऽयमद्रि ।
त्वत्सैनिकाक्रान्ततनुश्चकास्ति नम्रीभवन्नन्य इव क्षितीश ॥१६॥
अनेकसुरसुन्दरीनयनवल्लभोऽय दधन्
मदान्धघन[4]सिन्धुरभ्रमरुचि सहस्राक्षताम् ।

सरस्या महासरोवरस्य वारि न पपौ । किंविशिष्ट वारि । विस्फारितरङ्गतान्त विस्फारिकल्लोलविस्तृतम् । पुन किंविशिष्टम् । सुतर सुखादवगाह्यम् । पुन किंविशिष्टम् । गतान्त प्राप्तसमीपम् । कि कारणमित्याह—सत्तमरावलीना मधुरध्वानासक्ता । कासाम् । भ्रमरावलीनाम् । केषु । अम्बुजेषु ॥१२॥ निर्मुक्तेति—निर्मुक्तपानीयत्वेन यो दुर्बलासु मेघपङ्क्तिषु शृङ्गस्थितासु इन्द्रचापलक्ष्मी पुनस्तादृशी नवीनामेव करोति । कै । अनेकपञ्चवर्णरत्नकिरणजालै । सजलमेघेषु हि सुरचापसभव इति । यथा कश्चिन्निजाश्रित सततदानादिना दरिद्रत्वप्राप्त पुन सश्रीक तदवस्थमेव करोति ॥१३॥ स इति—स विध्यगिरिर्महान् दृष्टमात्रोऽपि तस्य प्रभो प्रमोदभाराय बभूव । युक्तमेतत्, नहि सहजरमणीय वस्तु प्रमोदोत्पादनाय गुणान्तरमपेक्ष्यते । यदेव दृष्टमात्र भूषणव्यतिरेकेण प्रमोदयति तदेव सहजरमणीय वस्तु ॥१४॥ सुहृत्तम इति—अथ प्रभाकरो नाम प्रसिद्ध पर्वताधिष्ठाता सुहृत्तमस्त जगत्तमीश्वर जगच्चन्द्रम् ईश्वर पभुम् इत्याह—कथभूतमीश्वरम् । व्यापृतकन्धरेक्षण व्यापृते कन्धरेक्षणे यस्य त तथाभूतम् । तत्कन्धरे पर्वते कथम् । क्षण कथभूत प्रभाकर आदित्य । किं कर्तुम् । छेत्तुम् । किं तत् । हृत्तम । कासु । सभासु ॥१५॥ पूर्वेति—पूर्वापरसमुद्रलग्नशिखरपर्यन्त पक्षे पूर्वापरसमुद्रयोर्लग्न कटक सेनाप्रचारो यस्य स तद्विध । त्वत्सेनासमर्दितशरीरोऽन्यनृपतिरिव ॥१६॥ अनेकेति—हे प्रभोऽय विन्ध्यगिरिस्तवाग्रत शक्रायते । कथमित्याह—अनेकदेवाङ्गनासुरत-

के समीप पहुँचती थी परन्तु वहाँ कमलोंमें स्थित भ्रमर समूहके सुन्दर शब्द सुननेमें इतनी आसक्त हो जाती थी कि बड़ी-बड़ी तरगोंसे ताडित जल किनारे पर आकर वापिस चला जाता था पर वह उसे पीती नहीं थी ॥१२॥ उस पर्वतके शिखरके अग्रभागमे जो मेघमालाएँ छायी थीं वे गर्भका पानी बरस जानेसे दुर्बल पड गयी थीं और उनका स्वाभाविक इन्द्रधनुष यद्यपि नष्ट हो गया था तो भी वह पर्वत अपने अनेक देदीप्यमान मणियोंकी किरणोंके समूहसे इन्द्रधनुषकी शोभा प्रतिदिन पूर्ण करता रहता था ॥१३॥ वह विशाल पर्वत दिखते ही भगवान् धर्मनाथके लिए आनन्ददायी हो गया सो ठीक ही है क्योंकि अभीष्ट सिद्धिके लिए सुन्दरताका स्वरूप किसी दूसरे गुणकी अपेक्षा नहीं रखता ॥१४॥ तदनन्तर वह मित्र प्रभाकर, जो कि सभाओंमे हृदयगत अन्धकारको नष्ट करनेके लिए साक्षात् प्रभाकर—सूर्य था, जगच्चन्द्र भगवान् धर्मनाथको पर्वतकी शोभामें व्यापृत नेत्र देख बड़े उल्लासके साथ इस प्रकार बोला ॥१५॥ जिसके कटक, पूर्वापर समुद्रके तटकी तरगोंके समूहसे स्पृष्ट हैं ऐसा यह पर्वत आपके सैनिकोंसे आक्रान्त हो ऐसा जान पडता है मानो नमस्कार करता हुआ अन्य राजा ही हो ॥१६॥ यह पर्वत आपके आगे ठीक इन्द्रकी शोभा धारण कर रहा है क्योंकि

१ हृदयान्धकारदूरीकरणे सूर्य । २ एतन्नामक । ३. जगच्चन्द्रम् । ४ सुन्दर घ० म० । ५ वसन्ततिलकावृत्तम् ।

[1]महागहनभक्तितो मुकुलिताग्रभास्वत्करः
पुरस्तव पुरन्दरद्युतिमुपैति पृथ्वीधर ॥१७॥
[2]अनेकधातुच्छविभासुरा बलान्निर्वर्तिता कुम्भभुवार्कमण्डलात् ।
[3]अनेकधातुच्छविभा सुराबला न का श्रयत्यस्य वनाकुलास्तटी: ॥१८॥
बिम्बं विलोक्य निजमुज्ज्वलरत्नभित्तौ क्रोधात्प्रतिद्विप इतीह ददौ प्रहारम् ।
तद्भग्नदीर्घदशनं पुनरेव तोषाल्लीलारसं स्पृशति पश्य गजं प्रियेति ॥१९॥

क्रीडास्थानम् । सहस्राक्षता विभीतकद्रुमसहस्राकुलता दधानः । पुनः किंविशिष्टः । मदान्धघना प्रचुरा ये सिन्धुरास्तेषां भ्रमरुचिर्विहरणक्रीडाभिलाषो यत्र पक्षे मत्ताभ्रमातङ्गगमनशीलः । मुकुलिताः संकोचिता अग्रा भास्वतः सूर्यस्य करा येन स तथाविधः । कस्मात् महावनभङ्गिनः उच्चैर्वननिकुञ्जे न रविकिरणानां प्रचार इत्यर्थः । शक्रपक्षे महानिरन्तरभक्त्या मुकुलितकर इत्यर्थः [4] ॥१७॥ अनेकेति—अतुच्छविभा प्रचुरकान्तिः सुराबला सुरस्त्री अस्य पर्वतस्य वनाकुलास्तटीः अनेकधा का न श्रयति अपि तु सर्वापि श्रयतीत्यर्थः । कथंभूतास्तटीः । अनेकधातुच्छविभासुराः अनेके च ते धातवश्चानेकधातवस्तेषां छविः कान्तिस्तया भासुराः । पुनः किंविशिष्टाः । निर्वर्तिताः । कस्मात् । अर्कमण्डलात् । केन । कुम्भभुवा अगस्त्येन । कुतः । बलात् ॥१८॥ बिम्बमिति—अत्र भित्तौ निजप्रतिबिम्बमभिमुखापतितं विलोकयन् करिणीति मन्यमानः कामालसं यथा

जिस प्रकार इन्द्र स्वामी होनेके कारण समस्त देवांगनाओंके नेत्रोंको प्रिय है उसी प्रकार वह पर्वत भी सुरत योग्य सुन्दर स्थानोंसे युक्त होनेके कारण देवांगनाओंके नेत्रोंको प्रिय है—आनन्द देनेवाला है। जिस प्रकार इन्द्र मदोन्मत्त मेघरूपी हाथी द्वारा भ्रमण करनेकी अभिलाषा रखता है उसी प्रकार यह पर्वत भी मदोन्मत्त अत्यधिक हाथियोंके भ्रमणकी अभिलाषासे युक्त है—इसपर मदोन्मत्त हाथी घूमनेकी इच्छा रखते हैं। जिस प्रकार इन्द्र सहस्राक्षता—हजार नेत्रोंके अस्तित्वको धारण करता है उसी प्रकार यह पर्वत भी सहस्राक्षता—हजारों बहेड़ेके वृक्षोंके अस्तित्वको धारण करता है और जिस प्रकार इन्द्र महागहन भक्तिसे—तीव्र भक्तिकी अधिकतासे मुकुलिताग्रभास्वत्कर—अपने देदीप्यमान हाथोंको कमलकी बोड़ीके आकार करके स्थित रहता है उसी प्रकार महागहन भक्तिसे—अत्यन्त सघन वनकी रचनासे मुकुलिताग्र भास्वत्कर—सूर्यकी अग्रकिरणोंको संकोचित करनेवाला है ॥१७॥ अनेक प्रकारकी अतुच्छ कान्तिको धारण करनेवाली कौन सी देवी इस पर्वतके उन वनाकीर्ण तटोंका आश्रय नहीं लेती जो कि अनेक धातुओंकी कान्तिसे देदीप्यमान है और अगस्त्य ऋषि

१. वहन घ० म० । २ अनेकधातूना छविभिर्भासुरशोभमाना । ३ अनेकधा अतुच्छा प्रचुरा विभा कान्तिर्यस्यास्तथाभूता । ४ अत्रेदं सुगमं व्याख्यानम्—अयं पृथ्वीधरो विन्ध्यगिरिः तव भवतः पुरोऽग्रे पुरन्दरद्युतिमिन्द्रशोभाम् उपैति प्राप्नोति । अथोभयोः सादृश्यमाह—अशेषसुरसुन्दरीणां देवाङ्गनानां नयनवल्लभो नेत्रप्रियः सुरतयोग्यस्थानयुक्तत्वात्स्वामित्वाच्च । उभयत्र समानम् । मदान्धा मदोत्कटा घना प्रचुरा ये सिन्धुरा गजास्तेषां भ्रमे भ्रमणे विहरणे रुचिरभिलाषो यत्र तथाभूतो विन्ध्यगिरिः पक्षे घन एव सिन्धुरो घनसिन्धुरः, मदान्धो यो घनसिन्धुरस्तेन भ्रमे विहारे रुचिरिच्छा यस्य तथाविधः इन्द्रस्य मेघवाहनत्वं प्रसिद्धम् । सहस्रमक्षा विभीतका यत्र स सहस्राक्षस्तस्य भावस्तां प्रचुरविभीतकयुक्तताम् दधानो विन्ध्यगिरिः पक्षे सहस्रमक्षीणि नेत्राणि यस्य स सहस्राक्षस्तस्य भावस्तां दशशतलोचनवत्त्वं दधानः पुरन्दरः । महच्च तद्गहनं वनं महागहनं तस्य भक्तितो रचनाविन्यासात् मुकुलिताः संकोचिताः अग्राः उपरितनाः भास्वतः सूर्यस्य कराः किरणाः यत्र तथाविधो विन्ध्यगिरिः पक्षे महागहनभक्तितस्तीव्रानुरागातिशयात् मुकुलिताग्रावञ्जलिबन्धेन कुड्मलिताग्रौ भास्वत्करौ देदीप्यमानहस्तौ यस्य तथाविधः । श्लिष्टोपमा । पृथ्वीच्छन्दः । ५. [करी, प्रतिगज इति मन्यमानः क्रोधवशात्प्रथमं प्रहारं ददौ पश्चात् तेन कारणेन खण्डितदीर्घदन्तः सन्] ।

पलाय्य निर्यन्मदवारिधारा गिरेरुपान्ते करिण प्रयान्त ।
त्वत्तूर्यनादैस्त्रुटितोरुमूला विभान्ति कूटा इव निर्लुठन्तः ।।२०।।
न वप्रे नवप्रेमबद्धा भ्रमन्ती स्मरन्ती स्मर तीव्रमासाद्य भर्तु ।
क्षणादीक्षणादीश बाष्प वमन्ती दशा का दशाङ्कामिहान्वेति न स्त्री ।।२१।।
प्रकटितोरुपयोधरबन्धुराः सरसचन्दनसौरभशालिनी ।
मदनबाणगणाङ्कितविग्रहो गिरिरय भजते सुभगास्तटी ।।२२।।
इय गिरेर्गैरिकरागरञ्जिता विराजते गह्वरवारिवाहिनी ।
पविप्रहारत्रुटितोरुपक्षतिक्षताद्वलन्तीव नवास्रधोरणि ।।२३।।

स्यादेव कारणात्स्पृशति । अत्र वीरशृङ्गाररससकीर्णवर्णनम् ।।१९।। पलाय्येति—त्वत्सेनातूर्यनादत्रस्ता करिण पलायमाना विभान्ति अधित्यकासमीपे तूर्यनादमहाभिद्रुता शृङ्गसघाता इव निष्पतन्तस्त्रुटितोरुमूला भिन्नमहामूलबन्धा ।।२०।। नेति—हे ईश[1] इह पर्वते का स्त्री दशा नान्वेति । कथभूताम् । दशाङ्काम् दश-लक्षणोऽङ्को यस्या ता दशाङ्का दशप्रकारामित्यर्थ । किं कुर्वन्ती । वयन्ती । किं तत् । बाष्पम् अश्रु । कस्मात् । ईक्षणात् । कुत । क्षणात् । पुन किं कुर्वाणा । भ्रमन्ती । क्व । वप्रे । कथभूता । नवप्रेमबद्धा । स्मरन्ती च, कस्य । भर्तु । किं कृत्वा । आसाद्यकम् । स्मरम् । कथभूतम् । तीव्रम्[2] ।।२१।। प्रकटितेति—यो गिरि सुभगा विलासिनीरिव प्राग्भारभूमिका बिभर्ति । किंविशिष्टा । मदनाश्च बाणाश्च वृक्षविशेषास्तेषा समूहेन व्याप्तदेह । तटी कथभूता । प्रकटितमहामेघसघाता सरसचन्दनद्रुममालिनी । पक्षे यथा कश्चित् कामी कामशरकदर्थित पीनस्तनीरचन्दनलिप्ता विलासिनी श्लिष्यति[3] ।।२२।। इयमिति—इय पर्वतधातु-

---

द्वारा सूर्यमण्डलसे बलपूर्वक लौटायी गयी है ।।१८।। जरा इधर देखिए, इस उज्ज्वल रत्नोंकी दीवालमे अपना प्रतिबिम्ब देख यह हाथी क्रोधपूर्वक यह समझकर बड़े जोरसे प्रहार कर रहा है कि यहाँ हमारा शत्रु दूसरा हाथी है। और इस प्रहारसे जब इसके दाँत टूट जाते हैं तब उसी प्रतिबिम्बको अपनी प्रिया समझ बड़े संतोषसे लीलापूर्वक उसका स्पर्श करने लगता है ।।१९।। मद जलकी धारा बहाते हुए हाथी दौड़-दौड़कर इस पर्वतके समीप जा रहे हैं जो ऐसे जान पड़ते हैं मानो आपकी तुरहीके शब्दसे विशाल जड़ टूट जानेसे इस पर्वतके शिखर ही लुढक रहे हों ।।२०।। हे नाथ ! यहाँ नये प्रेमसे बँधी, शिखरपर घूमती, कामकी तीव्र बाधावश पतिका स्मरण करती एव नेत्रोंसे क्षण एकमे अश्रु बहाती हुई कौन-सी स्त्री दशमी—मृत्यु दशाको नहीं प्राप्त होती ? ।।२१।। जिस प्रकार काम बाणोंके समूहसे चिह्नित शरीरवाला मनुष्य उठे हुए स्थूल स्तनोंसे सुन्दर एव सरस चन्दनकी सुगन्धिसे सुशोभित सौभाग्यशाली स्त्रियोंका आलिंगन करता है उसी प्रकार वह पर्वत भी चूँकि मदनबाणों—कामबाणोंके समूहसे [पक्षमे मेनार और बाण वृक्षोंके समूहसे] चिह्नित था। अतः उठे हुए

---

१ 'अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसप्रलापाश्च । उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशा ।। इति कामस्य दशावस्था । २ भुजङ्गप्रयातवृत्तम् । ३ अत्रेद व्याख्यान सुस्पष्टम्—मदनाश्च बाणाश्च मदनबाणा वृक्षविशेषास्तेषा गणेन समूहेनाङ्कितो विग्रहो देहो यस्य तथाभूतोऽय गिरि प्रकटितै स्पष्ट दृश्यमानै उरुभिर्महा पयोधरैर्मेघैर्बन्धुरा नतोन्नता, सरसचन्दनाना सरसमलयजवृक्षाणा सौरभेण सौगन्ध्येन शालिन्य, शोभमानास्ता सुभगा मनोहरास्तटी प्राग्भारभूमिका भजते सेवते। अत्र श्लिष्टविशेषणाल्लिङ्गसाम्याच्च समासोक्त्या गिरिपदेन नायकस्य तटीपदेन च नायिकाना कल्पना भवति ततो यथा मदनस्य कामस्य बाणानां गणेन समूहेनाङ्कितो विग्रहो देहो यस्य तथाभूतो नायक प्रकटितै प्रगाढतारुण्येन स्पष्ट दृश्यमानै· उरुपयोधरै स्थूलस्तनैर्बन्धुरा नतोन्नता सरसचन्दनस्य नूतनमलयजालेपस्य सौरभेण शालिनी शोभिनी सुभगा सुष्ठुयोनि-युक्ता नायिका भजते सेवते वयेति भाव । द्रुतविलम्बितवृत्तम् । द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात् ।

निर्जयता निजरत्नरुचा मा [1]मन्दरसानुगतारमणीनाम् ।
सा न कदाप्यमुना ध्रियते या [2]मन्दरसानुगता रमणीनाम् ॥२४॥
रोद्धुं पुनर्ग्रहपथं लघु [3]हारिदश्वैरश्वैरुपद्रुतनिकुञ्जलताप्रवालः ।
शृङ्गादुदग्रजलदैरयमुन्नमद्भिः प्रोल्लङ्घयन्निव मुनेः समयं विभाति ॥२५॥
दिवाकरोत्तापिततापनोपलात्स्मरारिभालादिव निर्गतो गिरेः ।
समूलमारात्कुसुमेषु[4] सुन्दरं क्षणादधाक्षीन्मदनं[5] हुताशनः ॥२६॥
द्रुपङ्क्तिभिः प्रांशुमनोरमाभिर्गिरौ हरत्याशु [6]मनोऽरमाभिः ।
पिकध्वनीनां कमितारमन्ते सुरस्त्रियः [7]सोत्कमिता रमन्ते ॥२७॥

खनिमध्यसंचरणशोणितपानीया निर्झरनदी शोभते वज्रप्रहारत्रोटिते पृथुलपक्षव्रणाद्गलन्ती रुधिरधारेव ॥२३॥ निर्जयतेति—रमणीनां मध्ये सा कदाप्यमुना न ध्रियते या कथंभूता । मन्दरसानुगता मन्देन रसेन रागेण यानुगता स्यात् । अमुना किं कुर्वता । निर्जयता । काम् । मा दीप्तिम् । मन्दरसानुगतारमणीनां मन्दरो मेरुस्तस्य सानूनि गच्छन्तीति मन्दरसानुगास्ते च ते तारमणयश्च तेषाम् । कया कृत्वा । निजरत्नरुचा ॥२४॥ रोद्धुमिति—अयं विन्ध्याद्रिः प्रतिपन्नागस्तिवृद्धिप्रतिषेधवचनं विलोपयन्निव प्रतिभाति । तथैव पुनर्वर्द्धमान इत्यर्थः । कैः । उपर्युपरिलीयमानैर्मेघपटलैः । कथं निजं वचनं लोपयतीत्याह—आदित्याश्वैस्त्रोटितनिकुञ्जलतापल्लवः । ततः सूर्यसंचारमार्गं रोद्धुकाम इव । अनवरतापराधबाधितो महानप्यभिभूयत इत्यर्थः ॥२५॥ दिवाकरेति—आदित्यकरतापितसूर्यकान्तपाषाणान्निर्गतो वह्निः पुष्पबाणमनोहरं कामं दग्धवान् आरात् समीपात्[9] ॥२६॥ द्रुपङ्क्तिभिरिति—आभिः प्रांशुमनोरमाभिः द्रुपङ्क्तिभिः कृत्वास्मिन् गिरौ आशु शीघ्रं मनो हरति सुरस्त्रियः पिकध्वनीनामन्तेऽवसाने सोत्कं यथा भवति एवं कमितारमिता गताः सत्यो रमन्ते

विशाल पयोधरों—स्तनों [पक्षमें मेघों] से सुन्दर एवं सरस चन्दनकी सुगन्धिसे सुशोभित मनोहर तटियोंका आलिंगन कर रहा है ॥२२॥ यह गेरूके रंगसे रँगी हुई पर्वतकी गुफासे बहनेवाली नदी ऐसी जान पडती है मानो वज्रके प्रहारसे खण्डित विशाल पक्षोंके मूलसे बहती हुई नवीन रुधिरकी नदी ही हो ॥२३॥ अपने रत्नोंकी कान्तिके द्वारा मेरु पर्वतके शिखरमें लगे हुए बड़े-बड़े मणियोकी दीप्तिको जीतनेवाले इस पर्वतके द्वारा वह स्त्री कभी भी धारण नहीं की जाती जो कि स्त्रियोंके बीच मन्द रससे अनुगत—नीरस होती है ॥२४॥ चूँकि सूर्यके घोड़े इसके लतागृहोंकी लताओंके पत्तोंको समीपस्थ होनेके कारण शीघ्र ही खण्डित कर देते हैं अतः यह शिखरोंसे ऊपर उठते हुए उन्नत मेघोंसे ऐसा जान पड़ता है मानो फिरसे सूर्यका मार्ग रोकनेके लिए अगस्त्य महर्षिके समक्ष की हुई प्रतिज्ञाका उल्लंघन ही कर रहा हो ॥२५॥ जिस प्रकार महादेवजीके मस्तकसे निकली हुई अग्निने पुष्परूप बाणोंसे सुन्दर मदन—कामको क्षणभरमे जला दिया था उसी प्रकार सूर्यके द्वारा संतापित सूर्यकान्त मणिसे निकली हुई अग्निने पुष्पोके रहनेसे सुन्दर दिखनेवाले—मेनार वृक्षको मूल सहित क्षणभरमे जला दिया है ॥२६॥ इधर यह पर्वत इन ऊँची और मनोहर वृक्षोंकी श्रेणियोंसे मनको हरण कर रहा है अतः देवांगनाएँ कोयलकी कूकके बाद ही अत्यन्त

---

१ मन्दर-सानुग-तार-मणीनाम् । २ मन्द-रस-अनुगता । ३ हरिदश्वस्येमे हारिदश्वास्तैः सूर्याश्वैः । ४ कुसुमेषु इति सप्तमी । पुष्पेषु सत्सु सुन्दरम् (पक्षे) कुसुममयैरिषुभिर्बाणैः सुन्दरम् । ५ मदनो वृक्षविशेषः कामश्च तम् । ६ मनः-अरम्-आभिः । ७ सोत्कम् + इता । ८ दोधकवृत्तम् । ९ श्लिष्टोपमा, वंशस्थवृत्तम् ।

विस्तारं पथि पुरतोऽधिकं दधाना वक्रत्वं विषमविषा प्रदर्शयन्ती ।
एतस्मात्प्रसरति शैलवामलूरात्कन्येयं सरिदुरगीव मेकलस्य ॥२८॥
उन्मीलन्नवनलिनीवनप्रसूनं भात्येतद्गतमलमम्बु नर्मदायाः ।
निर्भिन्नं शिखरशतैरमुष्य पुष्यन्नक्षत्रं पतितमिवान्तरिक्षखण्डम् ॥२९॥
मुदापुलिन्दीभिरिहेक्ष्यते[1] भवान्[2]कान्तारसानुग्रहभूरिभान्वितः ।
अयं महीध्रोऽप्यधिरुह्यते भिया[3]कान्तारसानुग्रहभूरिभान्वितः ॥३०॥
[4]तत्सूत्रमत्र तरुतीरनिकुञ्जवेदी विद्यामठे कलरवक्रमपाठकेषु ।
अश्रान्तमेव निगदत्सु वधूद्वितीयः को नाम कामनिगमाध्ययनं न धत्ते ॥३१॥
भियेव धात्र्या स्थलपङ्कजाक्ष्या निरीक्ष्यमाणं वनसैरिभाणाम् ।
क्रीडत्युदञ्चद्घनपङ्कशृङ्गं गिरेः शिशूनामिव वृन्दमग्रे ॥३२॥

॥२७॥ विस्तारमिति—एतस्माद्विन्ध्यगिरेर्मेकलकन्या[5] नर्मदा प्रभवति । पुरः पुरोऽधिकमधिकं प्रवाहं वर्द्धयन्ती कुटिलत्वं च दर्शयती निम्ननिम्नगमनत्वेन विषमविषा गभीरपानीया । यथा वामलूराद्वल्मीकात् सर्पिणी मार्गं रुन्धाना प्रसरति । विषमविषा अप्रतिकार्यविषा[6] ॥२८॥ उन्मीलदिति—एतस्या नर्मदाया जलं विकसित-पुण्डरीकखण्डं विभाति विन्ध्यगिरेरुच्चशिखरैः प्रणोद्य पातितं सतारकं गगनखण्डमिव ॥२९॥ मुदेति—इह भवान् पुलिन्दीभिरीक्ष्यते । कथंभूतः । कान्तारसानुग्रहभूरिभान्वितः कान्तारागस्वीकारेण प्रचुरप्रभायुक्तः । न केवलं भवानीक्ष्यते महीध्रोऽप्यधिरुह्यते । कया । भिया भयेन । कथंभूतो महीध्रः । कान्तारसानुग्रहभूः कान्तारसानून्येव ग्रहाणां भूर्यस्य तथाभूतः । एतावता आरोहणाय उच्चैस्त्वं प्रतिपादितम् । पुनः किंविशिष्टः । इभान्वितो हस्तियुक्तः ॥३०॥ तत्सूत्रमिति—कलरवक्रमपाठकेषु पारावतोपाध्यायेषु तरुतीरनिकुञ्जवेदिका विद्यामठश्रितेषु सततमेव प्रतिपादकेषु कः कामीव वधूद्वितीयः कामसिद्धान्ताध्ययनं न कुरुते । सुलभोपाध्यायात्सहायः सर्वोऽपि पाठयत इत्यर्थः ॥३१॥ भियेवेति—अग्रे वनमहिषाणां यूथमुत्कूर्दयति । पृथिव्या स्थलपङ्कजनयनैर्विलोक्यमानं भियेव सस्खलनादिदोषशङ्कयेव । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते—अस्य विन्ध्यस्थापत्यवृन्दमिव धात्र्या उपमात्रा निरीक्ष्यमाणं घना मेघा एव पङ्कः कर्दमः शृङ्गे यस्य पर्वतपुत्रवृन्दस्य । महिषपक्षे प्रचुर-

उत्कण्ठित हो अपने पतियोंके साथ रमण करने लगती हैं ॥२७॥ मार्गमें आगे चल अधिक विस्तार धारण करनेवाली, कुटिलता प्रदर्शित करनेवाली एवं विषम विषसे भरी यह नर्मदा नदी सर्पिणीकी तरह इस पर्वतरूपी वामीसे निकल रही है ॥२८॥ जिसमें कमल वनके नये-नये फूल खिल रहे हैं ऐसा इस पर्वतपर स्थित नर्मदाका यह निर्मल नीर ऐसा जान पडता है मानो पर्वतके सैकडों शिखरोंसे खण्डित हो नक्षत्रोंसे देदीप्यमान आकाशका खण्ड ही आ पड़ा हो ॥२९॥ इधर ये भीलोंकी स्त्रियाँ, स्त्रियोंके स्नेह तथा अनुग्रहकी भूमि और हाथियोंसे युक्त आपको आनन्दसे देख रही हैं और उधर भयसे वन, शिखर तथा ग्रहोंकी बहुत भारी दीप्तिसे युक्त पर्वतपर चढ भी रही हैं ॥३०॥ इस पर्वतपर जब कि वृक्षोंके निकटवर्ती लतागृहोंकी वेदिकारूप पाठशालाओंमें कपोतरूप अध्यापक बिना किसी थकावटके निरन्तर कामसूत्रोंका उच्चारण करते रहते हैं तब ऐसा कौन स्त्री युक्त पुरुष होगा जो कि कामशास्त्रका अध्ययन नहीं करता हो ॥३१॥ पृथिवी अपने स्थल कमलरूप नेत्रोंके द्वारा जिन्हें बड़े भयसे देख रही है और जिनके सींगोंपर बहुत भारी कीचड लग रही है ऐसा यह जंगली भैंसाओंका समूह इधर आगे ऐसे क्रीड़ा कर रहा है मानो पर्वतके उन बच्चोंका

१. -रिहेष्यते घ० म० । २ कान्तारसानुग्रहभू —इभान्वितः । ३ कान्तारसानु-ग्रहभूरि —भ—अन्वितः । ४ यत्सूत्र घ० ज०, सत्सूत्र घ० म० । ५ 'रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यका' इत्यमरः । ६ प्रहर्षिणीवृत्तम् 'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' इति लक्षणात् ।

त्वत्सैनिकास्तुल्यमदुर्महाभय[1]निस्त्रिंशचक्रेषुवराहवा नराः।
नश्यत्सु सिंहादिषु तेन निर्भया [2]निस्त्रिंशचक्रेषु वराहवानरा ॥३३॥

यो नारङ्ग सरल इति यो यश्च पुंनागनामा
ज्ञात्वा वृक्ष सरसपयसा पोषित पालितश्च।
गूढ सोऽपि प्रथयति निधि यत्प्ररोहाग्रहस्तै-
स्तत्कि युक्त गिरिरयमिति व्याकुलो रोरवीति ॥३४॥

जराधवलमौलिभिः प्रचुरसौविदल्लैरिव
प्रफुल्लतरुभिर्वृता प्रणयिनामुनोत्सङ्गिता।
परिष्वजति चन्दनावलिरियं भुजङ्गान्यत-
स्ततोऽतिगहन स्त्रियश्चरितमत्र वन्दामहे ॥३५॥

[3]मन्दाक्षमन्दा क्षणमत्र तावन्नव्यापि[4] न [5]व्यापि मनोभवेन।
रामा वरा-मावनि[6]रन्यपुष्टवध्वा[7] नवध्वानवशा[8] न यावत् ॥३६॥

पङ्किलशृङ्गम् ॥३२॥ त्वदिति—येन कारणेन त्वत्सैनिका नरास्तुल्यकाल महाभयमदु । कथभूता । निस्त्रिंशचक्रेषुभिर्वर आहवो येषा ते तथाभूता । तेन वराहवानरा निर्भया । केषु निर्भया । सिंहादिषु निस्त्रिंशचक्रेषु हिंस्रसमूहेषु । कथंभूतेषु । नश्यत्सु । महाभये समकाल नष्टाना विरोधिनामपि परस्परभय न स्यादित्यर्थ ॥३३॥ य इति—ये नारङ्गसरलपुनागादयो वृक्षप्रधाना अप्ररोहमोचकास्ते मया परीक्ष्य शीतलनिर्झरणजलेन वर्द्धिता सम्प्रतमनन्यकथनीय गूढनिधान तेऽपि प्ररोहहस्तसज्ञया सर्वेषा दर्शयन्ति—इति दु खित इव व्याकुल सपक्षिकोलाहलो विन्ध्याद्रि पूत्कुरुते पक्षे, यथा कश्चिन्महान् पुरुष सरङ्ग सबल पुन्नाग पुरुषप्रधान प्रतिपाल्य तदपकारदर्शनाद् विप्रलपति। अध स्थिते निधाने सर्वेऽपि वृक्षा प्ररोह मुञ्चन्तीति प्रसिद्धि[9] ॥३४॥ जरेति—पलितमस्तकैर्महल्लकैरिव फुल्लितद्रुमैर्वेष्टिता महागिरिणा चोत्सङ्गिता तथा महायत्नेऽपि चन्दनावलिश्चन्दनद्रुमश्रेणी सर्पान्नुपसर्पति। पक्षे कृतचन्दनललाटिका कामुकानभिसरति यथा काचित् ततो मन्ये स्त्रीणा चरित्र दुरवगाह नमस्करणीयमिति[10] ॥३५॥ मन्दाक्षेति—अत्र तावत्क्षणमेक न व्यापि नूतनापि रामा

समूह ही हो जिनके कि शिखरोंपर मेघरूप कीचड लग रहा है ॥३२॥ खड्ग चक्र और बाणोंके द्वारा उत्कृष्ट युद्ध करनेवाले आपके सैनिक पुरुषोंने समान रूपसे सबको बहुत भारी अभय दिया है। यही कारण है कि सिंहादि दुष्ट जीवोंका समूह नष्ट हो जानेपर यहाँ सूकर और वानर भी निर्भय भ्रमण कर रहे हैं ॥३३॥ यह छलरहित है, सीधा है, और पुरुषोंमें श्रेष्ठ है—ऐसा जानकर मैंने जिस संतरा, देवदारु और नागकेशरके वृक्षका सरस जलसे [पक्षमें सरस दूधसे] पालन-पोषण किया था वह भी अपने अंकुरोंके अग्रभागरूपी हाथोंके द्वारा हमारा गुप्त खजाना बतला रहा है—क्या यह उचित है ?—ऐसा सोचता हुआ ही मानो यह पर्वत व्याकुल—व्यग्र [पक्षमें पक्षियोंसे युक्त] हो रहा है ॥३४॥ यह चन्दन वृक्षोंकी पंक्ति, वृद्धावस्थाके कारण जिनके सिर सफेद हो रहे हैं ऐसा कंचुकियोंकी तरह अनेक खिले हुए वृक्षोंसे घिरी है, साथ ही यह पर्वत प्रेमीकी तरह इसे अपनी गोदमें धारण किये है फिर भी यह चूँकि भुजगों—विटों [पक्षमें सर्पोंका] स्पर्श कर बैठती है इसलिए कहना पडता है कि हम स्त्रियोंके अतिशय दुरूह—मायापूर्ण चरितको दूरसे ही नमस्कार करते हैं ॥३५॥ शोभा सम्पन्न, लजीली, नवीन उत्कृष्ट स्त्री इस पर्वतपर कामदेवसे तभी तक व्याप्त

१ निस्त्रिंश-चक्र-इषु-नर-आहवा । २ हिंस्रसमूहेषु । ३ मन्दाक्षेण ह्रिया मन्दा । ४ नवीनापि । ५ व्याप्ता । ६ माया लक्ष्म्या अवनिर्भूमि । ७ कोकिलाया । ८ नवीनकूजिताधीना । ९ मन्दाक्रान्ताच्छन्द । १० अत्र लिङ्गसाम्याद् भुजङ्गपदस्य श्लिष्टत्वाच्च समासोक्त्या तथाभूताया पुश्चल्या प्रतीतिर्जायते या वृद्धकञ्चुकै सुरक्षितापि वल्लभेन क्रोडे धृतापि विटान् परिष्वजति । पृथ्वीछन्द ।

कुपितकेसरिचक्रचपेटया करटिकुम्भतटादभिपातिता ।
इह विभान्ति तरुस्खलनच्युतस्फुरदुडुप्रकरा इव मौक्तिका[1] ॥३७॥

प्रणयिनि नवनीवोग्रन्थिमुद्भिद्य लज्जा-
विधुरसुरवधूना मोचयत्यन्तरीयम् ।
अधिरजनि गुहायामत्र रत्नप्रदीपे
करकुवलयघाता साध्वपार्थीभवन्ति ॥३८॥

नवो धनी यो मदनायको भवेन्न बोधनीयो मदनाय को भवे ।
स सुभ्रुवामत्र तु नेत्रविभ्रमैर्विबोध्यते सत्तिलकोऽपि कानने ॥३९॥

उद्भिद्य भीमभवसततितन्तुजालं
मार्गेऽपवर्गनगरस्य नितान्तदुर्गे ।
लब्ध्या भवन्तमभय जिन सार्थवाह
प्रस्थातुमुत्थितवतामयमग्रभूमि ॥४०॥

मनोभवेन न व्यापि । कथभूता सती । मन्दाक्षमन्दा लज्जानिश्चेष्टा । यावन्न नवध्वानवशा जायते । कस्या । अन्यपुष्टवध्वा कोकिलाया । रामा कथभूता । वरा मावनिश्च मा लक्ष्मीस्तस्या अवनि ॥३६॥ कुपितेति—कुपितसिंहसमूहतलाभिघातेन गजकुम्भस्थलतटात्पातितानि मौक्तिकानि शोभन्ते उच्चैस्तरश्रृङ्गवृक्षशाखा-स्खलनपातितानि देदीप्यमाननक्षत्रमण्डलानीव[2] ॥३७॥ प्रणयिनीति—अत्र गिरिगुहाया नीवीबन्धोद्भेदा-नन्तरमधोवस्त्रमाकर्षति प्राणाधिनाथे लज्जाभारेण व्याकुलाना सुरवधूना रात्रौ रत्नप्रदीपेषु विध्यापनाथ [कर] कुवलयघाता [कर] कर्णोत्पलताडनानि नि फलीभवन्ति[3] ॥३८॥ नव इति—य पुरुषो नवस्तरुणो धनी द्रव्याढ्यो मदनायकोऽष्टमदप्रधानश्च भवेत्स सुभ्रुवा नेत्रविभ्रमै स्त्रीणा नयनविलासैर्भवे ससारे मदनाय बोधनीय कामाय विकासनीय को न भवेत् । अपि तु सर्वोऽपि कामाय सज्जीक्रियत इत्यर्थ । अत्र तु पर्वतेऽय विशेषा यत्तु सत्तिलकोऽपि सता प्रधानीभूतोऽपि मदनाय बोध्यते । अत्र पक्षे तु सत्तिलक सञ्छोभन-स्तिलकवृक्षो[4] नारीनेत्रविभ्रमैर्विकास्यते[5] ॥३९॥ उद्भिद्येति—हे प्रभो ! भवन्त सार्थवाह पथि प्रस्थाननायक प्राप्य मोक्षनगरं यियासूनामय विन्ध्याद्रिरग्रभूमि प्रातिस्थानम् । किं कृत्वा । उत्थितवतामित्यासूचनम् ॥४०॥

नहीं होती जबतक कि वह कोयलके नवीन शब्दके अधीन नहीं हो पाती—कोयलकी कूक सुनते ही अच्छी-अच्छी लज्जावती स्त्रियाँ कामसे पीडित हो जाती हैं ॥३६॥ इधर कुपित सिंह समूहके नखाघात द्वारा हाथियोंके गण्डस्थलसे निकाल-निकालकर जो मोती जहाँ-तहाँ बिखेरे गये हैं वे ऐसे जान पडते हैं मानो वृक्षोंमें उलझकर गिरे हुए नक्षत्रोंका समूह ही हो ॥३७॥ इधर इस गुफामे रात्रिके समय जब प्रेमीजन नीवीकी नवीन गाँठ खोल लजीली स्त्रियोंके वस्त्र छीन लेते हैं तब रत्नमय दीपकोंपर उनके हाथों द्वारा होनेवाले कर्ण कुवलयोंके आघात व्यर्थ हो जाते हैं—लज्जावश वे दीपक बुझाना चाहती हैं पर बुझा नहीं पातीं ॥३८॥ जो नवीन—तरुण, धनवान् और मदशालो नायक ससारमें अन्यत्र कामयुक्त न हुआ हो वह सत्तिलक—सज्जनोंमे प्रधान [पक्षमे उत्तमतिलक वृक्ष] होनेपर भी इस वनमे स्त्रियोंके नेत्रोंके विलाससे शीघ्र ही कामयुक्त हो जाता है ॥३९॥ हे जिनेन्द्र ! जन्म मरण रूप भयंकर तन्तुओंके जालको नष्टकर आप जैसे अभयदायी सार्थवाहको पा मोक्ष नगरके अतिशय कठिन मार्गमे प्रस्थान करनेके लिए उद्यत मनुष्योंकी यह प्रथमभूमि है—प्राप्य स्थान है ॥४०॥

---

१. इन्द्रवज्रावृत्तम् । २ द्रुतविलम्बितवृत्तम् । ३ मालिनीवृत्तम् । ४ स्त्रीणा नयनविलासैस्तिलकवृक्षो विकसतीति कविसमास । ५ वशस्थवृत्तम् ।

वनेऽत्र पाकोल्वणदाडिमीफलप्रकाशमाकाशमणिं नवोदितम् ।
जिघृक्षवोऽमी निपतन्ति वानरा अनूरुदण्डाग्रनिवारिता अपि ॥४१॥

कटके सरोजवनसंकटके हरिणानपास्य सविधे हरिणा ।
करटङ्ककैर्दलयता करटं करिण' क्षताः स्फुटमिहाकरिणः ॥४२॥

क्वेदं नभः क्व च दिश. क्व च पुष्पवन्तौ
क्वेता' प्रकामतरलद्युतयश्च ताराः ।
मन्येऽमुना नगनिशागतिना गिलित्वा
सर्वं स्वमेव विहितं ननु पीनपीनम् ॥४३॥

दूरेण दावानलशङ्कया मृगास्त्यजन्ति शोणोपलसचयद्युतीः ।
इहोच्छलच्छोणितनिर्झराशया लिहन्ति च प्रीतिजुषः क्षण शिवाः ॥४४॥

स्मरति स्म रतिप्रियाद्यतः क्षणमीक्षणमीलित रतम् ।
परमाप रमात्र तत्तमस्तरसात्तरसा वियोगिनी ॥४५॥

वनेऽत्रेति—अत्र वने समासन्नतया उद्गच्छन्त भास्वन्त वर्तुलशोणदाडिमीफलं भ्रान्त्या सारथिदण्डभीषिता अपि ग्रहीतुमुन्मुख धावन्ते कपिसघाता[1] ॥४१॥ कटक इति—इह कटके नितम्बे हरिणा सिंहेन आकरिणं. आकरयुक्ता करिण क्षता किं कुर्वता । दलयता । किं तत् । करटम् । कै । करटङ्कै करा एव टङ्कास्तै करटङ्कै । किं कृत्वा । अपास्य त्यक्त्वा । कान् । हरिणान् । क्व । सविधे समीपे । कटके कथभूते । सरोजवनेन सकटं क जल यत्र तत्र तथाभूते[3] ॥४२॥ क्वेदमिति—कस्मिन् तत्प्रसिद्ध गगन । क्वासते ता प्रसरणशीला दिश । क्व गतौ तौ चन्द्रादित्यौ । क्व च तानि विस्फुरन्ति नक्षत्राणि । किन्तु विन्ध्यराक्षसेन तेन सर्वं गिलित्वा आत्मसात्कृतम् । सर्वप्रकारेणाप्ययमेव दृश्यत इति भाव ॥४३॥ दूरेणेति—इह पद्मरागशिलाकिरणकलापा मृगैर्दावानलशङ्कया दूरेण त्यज्यन्ते प्रमोदिता शृगाल्यश्च रुधिरनिर्झरणभ्रान्त्या आस्वादयन्ति[4] ॥४४॥ स्मरतीति—अत्र वियोगिनी रमा तत् तत. कारणात् पर तमोमूर्च्छालक्षण तरसा प्राप । यत कारणात् स्मरति स्म । किं तत् । रतम् । कथभूतम् । ईक्षणमीलन सुखविशेषात् । कस्माद् । रतिप्रियात् कामात् कमितुर्वा । कथम् । क्षणम् । एवभूता वियोगिनी अस्तरसा अस्तदेहधातु ॥४५॥ अत्रेति—

इधर इस वनमे ये वानर सूर्य-सारथिके दण्डाग्रसे रोके जानेपर भी नवीन उदित सूर्यको अत्यन्त पका अनारका फल समझ ग्रहण करनेकी इच्छासे झपट रहे हैं ॥४१॥ इधर पास ही कमलवनसे संकीर्ण पर्वतके मध्यभागमें हरिणोंको खदेड़कर हाथ रूपी टाँकीके द्वारा गण्डस्थल विदारण करनेवाले सिंहने मोतियोंकी खान स्वरूप हाथियोंको घायल किया है ॥४२॥ अरे ! इधर यह आकाश कहाँ ? दिशाएँ कहाँ ? सूर्य, चन्द्रमा कहाँ और ये अत्यन्त चंचल कान्तिको धारण करनेवाले तारा कहाँ ? मैं तो ऐसा समझता हूँ मानो इस पर्वत रूपी राक्षसने सबको निगलकर अपने-आपको खूब ही मोटा बना लिया है ॥४३॥ इधर ये हरिण लालमणि समूहकी कान्तिको दावानल समझ दूरसे ही छोड़ रहे हैं और इधर ये शृगालियाँ उसे छलछलाते खूनका झरना समझ बड़े प्रेमसे चाट रही हैं ॥४४॥ चूँकि यहाँ रसहीन—दुबली-पतली वियोगिनी स्त्री पति द्वारा पूर्वमे प्राप्त हुए सम्भोगका आँख बन्द कर स्मरण करने लगती है

---

१ भ्रान्तिमान् । २ आकरो मौक्तिकाना खनिरस्ति येषा ते तथाभूता । ३ प्रमिताक्षरा 'प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता' इति लक्षणात् । ४ इन्द्रवशावशस्थयो. समिश्रणादुपजातिवृत्तम् ।

अत्रोच्चरुक्मशिखरी[1] गिरिरत्र रौप्यः
साक्षादिह स्फटिकसारशिलोच्चयोऽपि[2]।
अस्मिन्वनैर्हिममयोऽत्र च चित्रकूटो[3]
रत्नैरनेकगिरिभिर्घटितोऽयमेकः ॥४६॥
अनेन पूर्वापरदिग्विभागयोः प्रमाणदण्डायितमत्र भारते।
अथ कुबेरान्तकगुप्तयोर्दिशोरलङ्घ्यसीमेव पृथुः स्थितोऽन्तरे ॥४७॥
ढक्का नदन्तीह भवत्यरीणां नवाशु भङ्गाय तिरोहितानाम्।
यशस्तवोच्चैः शुचि किन्नरेन्द्रे न वा शुभं गायति रोहितानाम् ॥४८॥
प्रेङ्खन्मरुच्चलितचम्पकचारुपुष्पै-
रर्घं च निर्झरजलैश्च वितीर्य पाद्यम्।
त्वय्यागते मणिशिलाकृतविष्टरार्थः
शैलः करोति सकलामयमातिथेयीम् ॥४९॥

अय विन्ध्याद्रिरनेकपर्वतैर्निर्मित इव तथाहि—किंचित्सुवर्णमयं शिखरं दृश्यते किंचिच्च तारमयं किंचिच्च स्फटिकमयं किंचिच्च पञ्चवर्णरत्नैश्चित्रकूटं किंचिद्वनैर्जलैः शिशिरमयं पक्षे नानाप्रकारा एते पर्वताः ॥४६॥ अनेनेति—अनेन विन्ध्याद्रिणा पूर्वपश्चिमदिग्भागयोः प्रमाणदण्डेनेवाचरितम् दक्षिणोत्तरयोश्च सीमेव स्थितः। भारते भरतक्षेत्रे[4] ॥४७॥ ढक्केति—इह पर्वते नवाश्रुतपूर्वा नवढक्का नदन्ती तिरोहितानां प्रच्छन्नानामरीणामाशु शीघ्रं भङ्गाय भवति। क्व सति। किन्नरेन्द्रे सति। किं कुर्वति। गायति। किम्। तद् यशः। कस्य। तव। किंविशिष्टं यशः। शुभं शुभहेतुत्वात्। पुनः किंविशिष्टम्। शुचि निर्मलम्। कथम्। उच्चैरतिशयेन रोहितानां हरिणानां न वा[5] भङ्गाय। मृगा अधिकत्रासा अपि गीतासक्त्या अङ्गमीयुरित्यर्थः ॥४८॥ प्रेङ्खदिति—वातानीतैश्चम्पकपुष्पैरर्घं निर्झरणजलैश्च पाद्यं रत्नशिलाभिश्च विष्टरप्रतिपत्तिं संपादयन् विन्ध्य

अतः क्षणभरमे मूर्च्छारूप भयंकर अन्धकारको प्राप्त हो जाती है ॥४५॥ इधर यह उच्चरुक्म शिखरी—सुवर्णके ऊँचे-ऊँचे शिखरोंसे युक्त है [पक्षमें उत्तुङ्ग सुवर्णगिरि—सुमेरु है] इधर रौप्य गिरि—चाँदीसे निर्मित है [पक्षमें विजयार्ध पर्वत है], इधर साक्षात् स्फटिक सार शिलोच्च—स्फटिक की श्रेष्ठ शिलाओंके ढेरसे युक्त है [पक्षमें कैलास पर्वत है], इधर वन—जल अथवा वनोंसे हिममय बर्फसे तन्मयकी तरह ठण्डा है [पक्षमे हिमालय पर्वत है] और इधर रत्नोंके द्वारा चित्रकूट—नाना प्रकारके शिखरोंसे युक्त है [पक्षमें चित्रकूट नामका पर्वत है] इस प्रकार यह नाना पर्वतोंसे युक्त होकर भी एक है ॥४६॥ यह पर्वत इस भारतवर्षमें पूर्व तथा पश्चिम दिशाका विभाग करनेके लिए प्रमाणदण्डका काम करता है और उत्तर तथा दक्षिण दिशाके बीच स्थूल एवं अलंघ्य सीमाकी भाँति स्थित है ॥४७॥ यह जो आपकी नयी-नयी भेरी बज रही है वह यहाँ छिपे हुए शत्रुओंका विनाश सूचित करती है और इधर जब किन्नरेन्द्र उच्च स्वरसे आपका निर्मल यश गाने लगता है तब हरिणों का कल्याण दूर हो जाता है—उनकी भलाई नहीं रहती ॥४८॥ यह पर्वत चंचल वायुके द्वारा कम्पित चम्पेके सुन्दर-सुन्दर फूलोंसे अर्घ और झरनोंके जलसे पादोदक देकर मणिमय शिलाओंका आसन बिछा रहा है—इस प्रकार यह आपके पधारने

१ उच्चानि रुक्मशिखराणि सन्ति यस्य स पक्षे उच्चश्चासौ रुक्मशिखरी च। २. स्फटिकसारशिलानामुच्चयः समूहो यत्र तथाभूतः पक्षे स्फटिकसारश्चासौ शिलोच्चयश्च। ३ चित्राणि कूटानि यस्य स पक्षे तन्नामपर्वतः। ४ अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः। पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः। —कुमारसंभवे। ५ न वा शुभमिति संबन्धः किन्तु भङ्गाय नाशाय।

उद्दामसामोद्भवचीत्कृताना प्रत्यारवैर्भूरिदरीमुखोत्थैः ।
त्वत्सैन्यसमर्दभवोरुदुःखान्मुहुर्मुहु: पूत्कुरुतेऽयमद्रि: ॥५०॥

कृतार्थीकृतार्थीहित त्वा हितत्वात्सदान सदा नन्दिनं वादिनं वा ।
विभालम्बिभालं सुधर्मा सुधर्मापितख्यापितख्याति सा नौति सानौ ॥५१॥

प्राभाकरीरिति गिरो विनिशम्य सम्यग्-
देवेऽपि ता परिषद प्रति दत्तनेत्रे ।
एकोऽवतीर्य शिखरादथ किंनराणा-
मिन्द्रः प्रणम्य विनयाज्जिनमित्यवादीत् ॥५२॥

दिक्सैव पुण्यजननी विषय स धन्य
सेव्यानि तानि नगपत्तनकाननानि ।
यान्यर्हता भगवता भवता कथचि-
दध्यासितान्यपरमस्ति किमत्र तीर्थम् ॥५३॥

भव्यस्तवस्याद्यमलङ्कृतीनामनर्घरत्नत्रयमाश्रितोऽपि ।
भव्यस्तवस्याद्यमलङ्कृतीना प्रोप्याङ्घ्रिपङ्केरुहयोः क्षणेन ॥५४॥

सकलमातिथ्य करोति युष्मत्पादानाम् ॥४९॥ उद्दामेति—मत्तगजाना वृंहितगर्जितैर्गुहामुखप्रतिशब्दपूरीभूतैर्युष्मत्सेनासमर्ददु खादिव पूत्कुरुते ॥५०॥ कृतार्थीति—सा प्रसिद्धा सुधर्मा देवसभा सानौ पर्वतैकदेशे त्वा कर्मतापन्न नौति स्तौति । कथ यथा भवति सुधर्मापितख्यापितख्याति शोभनधर्मेण आपिता प्रापिता सती ख्यापिता प्रकटिता ख्याति कीर्तिर्यत्र स्तवने तथाभूत क्रियाविशेषणम् । कृतार्थीकृतमर्थिनामीहितमभिलषित येन स तथाभूतस्तस्य सबोधन हे कृतार्थी कृतार्थीहित । त्वा कथभूतम् । सदान तथा सदानन्दिन साधुप्रमोदकारिणम् । कुत । हितत्वात् । पुन कथभूतम् । वादिन वा विद्वास च । पुनरपि किंविशिष्टम् । विभालम्बिभालम् विभालम्बी सप्रभो भालो यस्य त तथाभूतम् । महायमकम्[2] ॥५१॥ प्राभाकरीरिति—इति तस्य प्रभाकरस्य वचन श्रुत्वा किंनरसभाया दत्तनेत्रे देवे किंनरेन्द्र एकशिखरादवतीर्य एव व्यजिज्ञपत् ॥५२॥ दिगिति—सैव दिक् पुण्यवती त एव देशा धन्यास्तान्येव स्थानानि सेव्यानि यानि भगवच्चरणारविन्दैरलङ्कृतानि

पर मानो समस्त अतिथि सत्कार ही कर रहा है ॥४९॥ बड़े-बड़े हाथियोंकी चिग्घाड़ोंकी जो प्रतिध्वनि गुफाओंके मुखसे निकल रही है उससे ऐसा जान पड़ता है मानो यह पर्वत आपके सैनिकोंके सम्मर्दसे समुत्पन्न दुःखके कारण बार-बार रो ही रहा हो ॥५०॥ हे याचकोंका मनोरथ पूर्ण करनेवाले, आप हितकारी होनेसे सदा दान देते हैं, सदा समृद्धि सम्पन्न हैं, सदा प्रशस्त वचन बोलते हैं और सदा देदीप्यमान ललाटके धारक हैं। इधर देखिए, इस शिखरपर यह देवोंकी सभा समीचीन धर्मके द्वारा प्रसिद्ध कीर्तिको प्राप्त कराती हुई आपको नमस्कार कर रही है ॥५१॥ इस प्रकार प्रभाकरके वचन सुन धर्मनाथ भी उस सभाकी ओर देखने लगे। उसी समय एक किन्नरेन्द्रने शिखरसे उतर विनयपूर्वक जिनेन्द्रदेवको प्रणाम किया और फिर निम्न प्रकार निवेदन किया ॥५२॥ भगवन्! वही दिशा पुण्यकी जननी है, वही देश धन्य है, वही पर्वत, नगर और वन सेवनीय है जो कि आप अरहन्तदेवके द्वारा किसी भी तरह अधिष्ठित होता है। उसके सिवाय इस संसारमे अन्य तीर्थ है ही क्या ॥५३॥ हे स्वामिन्! अमूल्य रत्नत्रय भव्य समूहके अलंकारोंमे सर्वश्रेष्ठ अलंकार है जो भव्य पुरुष उसे प्राप्त कर चुकता है वह भी क्षणभरके लिए आपके चरण कमलोंके युगलका आश्रय पाकर

---

१ प्राप्याङ्घ्रि घ० म० । २. भुजङ्गप्रयातं वृत्तम् ।

अत्र प्रचारो न विपल्लवाना विपल्लवाना यदि वा तरूणाम् ।
आवासमस्मद्गृहसंनिधाने हसन्निधानेशपुरी ददातु ॥५५॥

कुशोपरुद्धा द्रुतमालपल्लवा वराप्सरोभिर्महितामकल्मषाम् ।
नृपेषु रामस्त्वमिहोररीकुरु प्रसीद सीतामिव काननस्थलीम् ॥५६॥

इत्याकर्ण्य स तस्य किंनरपतेर्भक्तिप्रगल्भा गिर
श्रान्त सैन्यमवेत्य वीक्ष्य करिणा सभोगयोग्या भुवम् ।

॥५३॥ भव्येति—भव्यो ना भव्यपुरुष कृती कृतकृत्य क्षण न स्यात् । किं कृत्वा प्राप्य, किं तत् । यमल युग कयो । अङ्घ्रिपङ्केरुहयो कस्य तव । किंभूतस्य । शुभहेतुस्तवो यस्य । किंविशिष्टो ना । आश्रितोऽपि किं तत् । अनर्घरत्नत्रयम् । कथभूतम् । आद्यम् । कासाम् । अलकृतीनाम् । इदानी भवदङ्घ्रिप्रापणान्ममापि कृतार्थता सजातेत्यर्थ ॥५४॥ अत्रेति—अत्रास्मद्गृहसनिधाने आवास देवो ददातु । किं कुर्वन् । हसन् । काम् । विधावेशपुरीम् । अलकाम् । यस्मात्कारणात् अत्र प्रचारो न विपल्लवाना विपदा लवा विपल्लवास्तेषाम् । यदि वा तरूणा प्रचार । कथभूताना विपल्लवाना विगतप्रवालानाम् ॥५५॥ कुशेति—त्व नृपेषु रामो मनोज्ञ अन्यत्र तु राघवः ततस्त्व प्रसीद इहोररीकुरु काननस्थलीम् । कामिव । सीतामिव । कथभूता सीता काननस्थली च । कुशोपरुद्धाम्—कुशेन पुत्रेणोपरुद्धाम् अन्यत्र कुशैर्दर्भैरुपरुद्धाम् । द्रुतमालपल्लवा द्रुत शीघ्रमालपन् लवो यस्यास्ता तथाभूताम् । तथा वराप्सरोभिर्महिता सतीत्वात् अन्यत्र तु वरपानीयसरोभिर्महिताम् । तथाकल्मषाम् । ईदृशी काननस्थली सीता च स्वीकारयोग्या भवति[3] ॥५६॥ इतीति—इति तस्य किन्नरेन्द्रस्य भक्तिवचन

ही कृतकृत्य होता है ॥५४॥ चूँकि यहाँपर विपल्लवोंका—विपदाओंके अंशोंका प्रचार नहीं है, हाँ, यदि विपल्लवों—पत्र रहितोंका प्रचार है तो वृक्षोंका ही है अतः आप हमारे घरके समीप ही अलकापुरीकी हँसी करते हुए निवास प्रदान करें—डेरा डालें ॥५५॥ हे भगवन् ! यह वनस्थली ठीक सीताके समान है क्योंकि जिस प्रकार सीता कुशोपरुद्धा—कुश नामक पुत्रसे उपरुद्ध थी उसी प्रकार यह वनस्थली भी कुशोपरुद्धा—डाभोंसे भरी है, जिस प्रकार सीता द्रुतमालपल्लवा—जल्दी-जल्दी बोलते हुए लव नामक पुत्रसे सहित थी उसी प्रकार यह वनस्थली भी द्रुतमालपल्लवा—तमाल वृक्षके पत्तोंसे व्याप्त है, जिस प्रकार सीता वराप्सरोभिर्महिता—उत्तमोत्तम अप्सराओंसे पूजित थी उसी प्रकार वह वनस्थली भी उत्तमोत्तम जलके सरोवरोंसे सुशोभित है और जिस प्रकार सीता स्वयं अकल्मषा—निर्दोष थी उसी प्रकार वह वनस्थली भी पंक आदि दोषोंसे रहित है। चूँकि आप राजाओंमें रामचन्द्र है [पक्षमे रमणीय हैं] अतः सीताको समानता रखनेवाली इस वनस्थलीको स्वीकृत कीजिए प्रसन्न होइए ॥५६॥ इस प्रकार भगवान् धर्मनाथ, उस किन्नरेन्द्रके भक्तिपूर्ण वचन सुन सेनाको थका जान और हाथियोंके विहारयोग्य भूमिको देखकर ज्योंही वहाँ ठहरनेका

१ विपदवानाम् । २ विगता पल्लवा येषा तेषा विगतकिसलयानाम् । ३ अत्रेद सुगम व्याख्यानम्—नृपेषु राजसु रामो रमणीय पक्षे राघवस्त्वम् प्रसीद प्रसन्नो भव सीतामिव जनकतनयामिव काननस्थली वनभूमिम् उररीकुरु स्वीकुरु । अथोभयो सादृश्यमाह—कुशैर्दर्भैरुपरुद्धा ताम् काननस्थली पक्षे कुशेन तन्नामतनयेनोपरुद्धा ता सीताम् । द्रवश्च ते तमालाश्च इति द्रुतमाला वृक्षतापिच्छास्तेषा पल्लवा किसलया यस्या तथाभूता पक्षे द्रुत शीघ्र यथा स्यात्तथा आलपन् लवस्तन्नामपुत्रो यस्यास्ता सीताम्, वराप्सरोभिर्निर्मलजलकासारैर्महिता शोभिता काननस्थली पक्षे उत्कृष्टदेवीभि महिता पूजिता सतीत्वादिति यावत् । अकल्मषा पङ्करहिता काननस्थली पक्षे पापरहिताम् । श्लिष्टोपमालकार ॥५६॥

देवो यावदचिन्तयन्निधिभृता तावत्क्षणान्निर्मितं
शालामन्दिरमन्दुराट्टवलभीप्राकारसारं पुरम् ॥५७॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये
गिरिवर्णनो नाम दशमः सर्गः ॥१०॥

श्रुत्वा खिन्ना निजसेना च ज्ञात्वा गजाना च विश्रामसभोगयोग्या पृथ्वी च वीक्ष्य यावदेव आवासस्थिति चिन्तयाचकार तावद्धनदकृत गजाश्वशालाक्रीडागिरिवेदिकादिमनोहर नगरमीक्षाचक्रे ॥५७॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयश कीर्तिविरचितायां सन्देहध्वान्तदीपिकायां
धर्मशर्माभ्युदयटीकायां दशमः सर्ग समर्थित ॥१०॥

विचार करते हैं त्योंही कुबेरने तत्काल शाला, मन्दिर, घुड़साल, अट्टालिका, छपरी और कोट से सुन्दर नगर बना दिया ॥५७॥

इस प्रकार महाकवि हरिचन्द्रद्वारा विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें
विन्ध्यगिरिका वर्णन करने वाला दशम सर्ग समाप्त हुआ ॥१०॥

एकादशः सर्गः[1]

अथ स तत्र निधीश्वरनिर्मिते प्रविशति स्म पुरे परमेश्वरः ।
समुदितोऽपि चतुर्विधसेनया विहितमोहतमोहतिरद्भुतम् ॥१॥
सुहृदमात्यगणाननुजीविनो नयनिधिर्विनिवेश्य यथायथम् ।
स्वयमिहोज्ज्वलरत्ननिकेतने स पदमाप दमान्वितमानसः ॥२॥
बलभरोच्छलितैः पिहितप्रभोऽभजत मृण्मयतामिव यैर्जनः ।
मुकुरवत्स तु तैरपि पांसुभिर्नरमणी रमणीयतरोऽभवत् ॥३॥
न घनघर्मपयःपृषतोदयो न च तनुत्वमजायत यत्प्रभोः ।
तदभिनत्पटुता न जगज्जनोत्सवपुषो वपुषोऽध्वपरिश्रमः ॥४॥
तदपि रूढिवशात्कृतमज्जनो विहितयात्रिकवेषविपर्ययः ।
अयमुवाह रुचिं नयनप्रिया न च न काचन काञ्चनदीधितिः ॥५॥
नभसि दिक्षु वनेषु च संचरन्नृतुगणोऽथ गुणाढ्यमियाय तम् ।
समुपभोक्तुमिवैतदुपासनारसमयं समयं स्वमवन्निव ॥६॥

अथेति—अथानन्तरं स परमेश्वरो धनदयक्षनिर्मापिते नगरे प्रविवेश । किंविशिष्टः सन् । कृतमोहध्वान्तहननः गजरथाश्वपदातिलक्षणया चतुःप्रकारसेनया उपचितोऽपि । यः किल ससेनः स्यात्स निर्मोहः कथं स्यादित्याह ॥१॥ सुहृदिति—स मित्रमन्त्रिप्रमुखान् सेवकानुचितोचितस्थानेषु विनिवेश्य स्वयं रत्नमयगृहे पदं स्थानं प्राप । दमान्वितमानसो निर्विषयचेता ॥२॥ बलेति—यैः सेनारेणुभिः प्रच्छादितकान्तिको लोको मृत्तिकानिर्मित इव बभूव पुनस्तैरेव नरमणिः पुरुषरत्नं दर्पण इव रम्यतरो बभूव ॥३॥ न घनेति—अस्य प्रभोर्यत्प्रचुरप्रस्वेदवारिबिन्दूद्गमो नाभूत् यच्च तनुत्वं कृशत्वं नाविर्भूतं तदहं मन्ये वपुषः शरीरस्य मार्गपरिश्रमः पटुतां नाभिनत् तद्दृढतां न निराचकार । किंविशिष्टस्य प्रभोरित्याह—जगज्जनानामुत्सवं मङ्गलं पुष्णातीति तस्य । यो जगतः परिश्रमं नाशयति तस्य कुतः परिश्रमः स्यादिति भावः ॥४॥ तदपीति—तदपि अपरिश्रान्तोऽपि मुक्तियात्रोचितवेषः कृतस्नानो न न सुवर्णवर्णवर्णः सन् नयनवल्लभप्रभा बभार अपितु बभारैव काञ्चनानिर्वाच्याम् ॥५॥ नभसीति—वसन्तप्रभृतिकमृतुचक्रं प्रभुं निषेवितुं समाजगाम । किं कुर्वन्नित्याह—

अथानन्तर चार प्रकारकी सेनासे युक्त होनेपर भी जिन्होंने मोह रूपी अन्धकारको नष्ट कर दिया है ऐसे श्री धर्मनाथ स्वामीने कुबेरके द्वारा निर्मित नगरमें प्रवेश किया ॥१॥ वह नीतिके भण्डार जितेन्द्रिय जिनेन्द्र स्वयं मित्रों, मन्त्रियों और सेवकोंको यथायोग्य स्थान पर ठहराकर देदीप्यमान रत्नोंके भवनमें अपने स्थानपर जा पहुँचे ॥२॥ सेनाके भारसे उड़ी हुई जिस धूलिसे आच्छादित हो कर लोग ऐसे लग रहे थे मानो मिट्टीके ही बने हों, उसी धूलिसे नरोत्तम धर्मनाथ दर्पणकी तरह अत्यन्त सुन्दर लगने लगे थे ॥३॥ न तो भगवान्‌के शरीरमें पसीनाकी बूँद ही उठी थी और न कृशता ही उत्पन्न हुई थी अतः मार्गका परिश्रम जगज्जीवोंके उत्सवको पुष्ट करनेवाले उनके शरीरकी सामर्थ्यको नष्ट नहीं कर सका था ॥४॥ फिर भी रूढि वश उन्होंने स्नान किया और मार्गका वेष बदला । उस समय सुवर्णके समान चमचमाती कान्तिको धारण करनेवाले भगवान् किस नयनहारी शोभाको धारण नहीं कर रहे थे ? ॥५॥ तदनन्तर आकाश दिशाओं और वनमें—सर्वत्र संचार करता हुआ ऋतुओंका

१ अत्र सर्गे चतुर्थपादयमकालंकारः । उपान्त्यं यावद् द्रुतविलम्बितवृत्तम् ।

हिममहामहिमानमपोहितु सरसतामनुशासितुमङ्गिनाम् ।
दधदनिन्द्यगुणोपनतामृतुक्रमधुर मधुरञ्चति काननम् ॥७॥

कतिपयैर्दशनैरिव कोरकैः कुरवकप्रभवैर्विहसन्मुख' ।
शिशुरिव स्खलितस्खलित मधु पदमदादमदालिनि कानने ॥८॥

मलयशैलतटीमटतो रवेर्ध्रुवमभूत्प्रणयी मलयानिलः ।
पुनरमुष्य यतो दिशमुत्तरामपरथाप रथाग्रवरः कथम् ॥९॥

कलविराजिविराजितकानने नवरसालरसालसषट्पद' ।
सुरभिकेसरकेसरशोभित प्रविससार स सारबलो मधुः ॥१०॥

अहह निर्दहति स्म वियोगिता सुभगमङ्गमनङ्गहुताशनः ।
मुहुरुदीरितरोचिरय चलत्कमलया मलयानिललीलया ॥११॥

गगने दिक्चक्रे वनेषु च चङ्क्रम्यमाणो, गगन दिङ्मण्डल व्याप्य युगपदृतुभि समुज्जृम्भितमित्यर्थ । निजं समय जानन्निव तस्य जिनस्योपासनारसमय सेवाभावयुक्त मम सेवाया अयमेव समय पश्चात्प्रव्रजितो वीतरागो भविष्यतीत्यर्थ ॥६॥ हिमेति—मधुर्वसन्तो वनमञ्चति काननराजीमवगाहते । ऋतुचक्रप्रथमधुरा दधानः । अनिन्द्या अन्येषामृतूनामदृष्टा ये गुणास्तैरुपनता शीतप्रभावमन्तरयितुम् अपर च सर्वेषा प्राणिना च सरसता कामता शिक्षयितुम् ॥७॥ कतिपयैरिति—मधुर्वसन्त पद स्थान वने ददौ अमदभ्रमरे । कथम् । मन्द मन्द बालक इव कैश्चिद्दन्तैरिव कुरवककलिकोद्गमै सहासमुख ॥८॥ मलयेति—दक्षिणायने मलयपर्वतसमीप गच्छत आदित्यस्य तत्र वासी मलयानिलो मित्र बभूव । वितथमिति चेत् । अपरथा रथाग्रचर सन् कथमुत्तरा दिशं प्राप । अथ चोत्तरायणे वायुर्मलयाचलादुत्तरा दिश गच्छति दक्षिणानिलो वातीत्यर्थ ॥९॥ कलेति—स जगन्मनोलुण्टाक. सारशक्तिको मधु समुज्जजृम्भे । किंविशिष्ट इत्याह—कलविराजय कोकिला-पङ्क्तयस्ताभिर्विराजितानि काननानि यत्र नवरसालाना मञ्जरी जालजटिलचूताना रसेन अलसा मत्ता षट्पदा यत्र । सुरभिकेसरै सरसकिञ्जल्कैरुपलक्षिता. केसरा वकुलास्तै. शोभित ॥१०॥ अहहेति—अय मदनानलो विरहिकोमलशरीरमधाक्षीत् । किंविशिष्ट, प्रकटीकृतज्वालाकलाप. । कया । आन्दोलितकमल-

---

समूह उन गुणवान् जिनेन्द्रकी सेवा करनेके लिए वहाँ ऐसा आ पहुँचा मानो सेवा रससे उपस्थित अपने समयकार्यकी रक्षा ही कर रहा हो ॥६॥ सर्व प्रथम हिमकी महामहिमाको नष्ट करने और प्राणियोंमे सरसताका उपदेश देनेके लिए प्रशंसनीय गुणोंसे प्राप्त ऋतुओंकी प्रधानता-को धारण करनेवाला वसन्त वनको अलंकृत करने लगा ॥७॥ दाँतोंकी तरह कहीं-कहीं प्रकट हुई कुरवककी बोंडियोंसे जिसका मुख हँस रहा है ऐसे वसन्तने बालककी तरह मदहीन भ्रमरोंसे युक्त वनमे अपना लडखडाता पैर रखा—स्थान जमाया ॥८॥ जब सूर्य दक्षिणायन-के समय मलयाचलके निकट घूम रहा था तब निश्चित ही मलय समीर उसका मित्र बन गया था । यदि ऐसा न होता तो सूर्यके उत्तर दिशाकी ओर जानेपर वह भी उसके रथके आगे चल उत्तर दिशाको क्यों प्राप्त होता ? ॥९॥ उस समय भ्रमर आम्रमंजरियोंका नवीन रस पानकर अलस हो रहे थे और मनोहर नकुल वृक्षकी केसर जहाँ तहाँ उड़ रही थी इससे ऐसा जान पड़ता था मानो कोकिलाओंकी पंक्तिसे सुशोभित वनमे वसन्त अपनी श्रेष्ठ सेना-से युक्त हो घूम रहा हो ॥१०॥ बड़े खेदकी बात है कि कमलोंको कम्पित करनेवाले मलय समीरके झोंकोंसे बार-बार प्रज्वलित हुई कामाग्नि वियोगी मनुष्योंके सुन्दर शरीरको

---

१ गच्छत. । २. रथाग्रवर घ० म० ।

तदभिधानपदैरिव षट्पदै शबलिताम्रतरोरिह मञ्जरी ।
कनकभल्लिरिव स्मरधन्विनो जनमदारमदारयदञ्जसा ॥१२॥
समधिरुह्य शिर कुसुमच्छलादयमशोकतरोर्मदनानलः ।
पथि दिधक्षुरिवेक्षत सर्वतः समवधूतवधूतरसोऽध्वगान् ॥१३॥
युवतिदीर्घकटाक्षनिरीक्षितः पुलकितस्तिलक. कुसुमच्छलात् ।
अकृत लास्यमिवास्य जगत्पतेरुपवने पवनेरितपल्लवः ॥१४॥
शशिमुखीवदनासवलालसे बकुलभूरुहि पुष्पसमाकुले ।
धृतिमधत्त परा मधुपावलिः किमसमा न समानगुणे रतिः ॥१५॥
उचितमाप पलाश इति ध्वनि द्रुमपिशाचपतिः कथमन्यथा ।
अजनि पुष्पपदाद्दलिताध्वगो नृगलजङ्गलजम्भरसोन्मुखः ॥१६॥
गहनकुञ्जलतान्तरितक्रमा सहचरी निभृतः प्रतिपालयन् ।
विधुरितोऽपि पपौ स पिपासया कुसुमलीनमली न मधु क्षणम् ॥१७॥

षण्डया दक्षिणानिलप्रसृमरलीलया । वातेन हि ज्वलनो ज्वल्यते ॥११॥ तदिति—आम्रवृक्षमञ्जरी कामभल्लिरिवादारमकलत्र जन परमार्थेन बिभेद । षट्पदैश्चित्रिता कामस्य मषीनामाक्षरैरिव । कामनामाङ्किता स्वर्णभल्लीव मञ्जरीति तात्पर्यम् ॥१२॥ समधिरुह्येति—असौ मदनदावानलोऽशोकवृक्षस्योपरितनशिखरकुसुमव्याजात् उच्चै शिरस्थान चटित्वा सर्वदिग्भागत पथिकानीक्षाचक्रे । किं कर्तुमिच्छुरिव दग्धुमिच्छुरिव । किंविशिष्टानित्याह—समवधूतान्यवगणितानि वधूना तरासि कोण यैस्तान् ॥१३॥ युवतीति—अस्य त्रिभुवननाथस्य क्रीडोपवने तिलकवृक्षो नृत्यमिव चक्रे । किंविशिष्ट । दक्षिणानिलकम्पितपल्लव । मृगाक्षीतीक्ष्णकटाक्षनिरीक्षणात्सजातपुलक इव ॥१४॥ शशीति—चन्द्रमुखीवदनमदिरापानलम्भितदोहदे पुष्पितबकुले मधुपश्रेणी परा तृप्तिमधारयत् । युक्तमेतत्—किं सदृशगुणे असमा निरुपमाना रतिर्न स्यात् । अपि तु स्यादेव । बकुलो मदिरादोहदी तेऽपि मधुपा इति सादृश्यम् ॥१५॥ उचितमिति—द्रुमच्छद्मना पिशाचपति स पल मासमश्नातीति पलाश इत्याख्यामुचितामाप युक्त लेभे । अन्यथा कथमसौ समजनि । किंविशिष्ट समजनीत्याह—भक्षितपान्थमनुष्यकण्ठमासतृप्त्यादायिकाभावप्रसारितमुख । कुसुमव्याजात् मनुष्यगलकमांस भक्षयित्वा आकण्ठोष्ठ तृप्त सन् मुख व्याददातीति भाव ॥१६॥ गहनेति—वनकुञ्जलतान्तरिता भ्रमरी प्रतीक्षमाणो भ्रमरो मकरन्द न पपौ कुसुमलीन तृषाविधुरोऽपि । अथ च विलासिना प्रिया

जला रही थी ॥११॥ नामाक्षरोंकी तरह दिखनेवाले भौरोंसे चित्रित आम्रवृक्षकी मजरी कामदेव रूप धानुष्कके सुवर्णमय भालेकी तरह स्त्री रहित मनुष्यको निश्चय ही विदीर्ण कर रही थी ॥१२॥ ऐसा जान पड़ता है कि लाल-लाल फूलोंके बहाने कामाग्नि अशोकवृक्षके ऊपर चढकर स्त्रियोंके कोपका अनादर करनेवाले पथिकोंको मार्गमे ही जला देनेकी इच्छासे मानो सब ओर देख रही थी ॥१३॥ युवतियोंके बड़े-बड़े कटाक्षोंसे अवलोकित तिलक वृक्ष फूलोंके छलसे पुलकित हो ऐसा जान पड़ता था मानो वायुके आघातसे पत्तोंको कँपाता हुआ भगवान्के उपवनमें थिरक-थिरक कर नृत्य ही कर रहा हो ॥१४॥ मधुपों—भ्रमरों [पक्षमे मद्यपायियोंकी पंक्ति चन्द्रमुखी स्त्रीके मुख की मदिरामे लालसा रखनेवाले बकुल वृक्षपर बहुत ही आनन्द पाती थी सो ठीक ही है क्योंकि समान गुणवालेमे क्या अनुपम प्रेम नहीं होता ? ॥१५॥ टेसूके वृक्षने 'पलाश' [पक्षमे मास खानेवाला] यह उचित ही नाम प्राप्त किया है। यदि ऐसा न होता तो वह फूलोंके बहाने पथिकोंको नष्ट कर मनुष्योंके गलेका मास खानेमे क्यों उत्सुकतासे तत्पर होता ॥१६॥ भ्रमर यद्यपि प्याससे पीड़ित हो रहा था फिर भी सघन लतागृहोंकी लताओंसे अन्तरित भ्रमरीकी चुपचाप प्रतीक्षा करता हुआ पुष्पस्थ मधुका पान

रसविलासविशेषविदो नरा' कथममी विलयं न ययु' क्षणात् ।
विकसितास्तरवोऽपि विचेतना मृगदृशोऽङ्ग दृशोर्व्यतिषङ्गतः ॥१८॥
मलयमारुतचूतपिकध्वनिप्रभृतिसायकसचयमर्पयन् ।
मधुरसौ विदधे स्मरधन्विन कमपि नाकिपिनाकिजयोर्जितम् ॥१९॥
श्वसिति मुह्यति रोदिति कम्पते स्खलति ताम्यति यत्सहसाध्वग ।
तदयमक्षतपक्षशिलीमुखैः किमधुना मधुना हृदि नाहतः ॥२०॥
विनिहतोऽयमनाथवधूजनो विधुरिता धुरि ता मुनिपङ्क्तय' ।
सुरभिणा समभेदि नतभ्रुवामिह स मानसमानमतङ्गज ॥२१॥
इति विशङ्क्य मधोर्वनवासिनः प्रहरत परितोऽपि पराभवम् ।
प्रणयिनीकुचकञ्चुकमुच्चकैरुरसि को रसिको न दधे जन' ॥२२॥ कुलकम् ।
प्रचलवेणिलताञ्चलताडितोन्नतनितम्बतटस्तरुणीजन ।
स्मर निषाद कशाभिरिवाहतश्चिरमतोऽरमतोद्धुरदोलया ॥२३॥

विना मधुपान न रोचते ॥१७॥ रसेति—अमी रसविशेषवेदिनो विलासिन. कथ नाम न विलय प्राप्ता यतो मृगाक्ष्या अङ्गसङ्गाद्दृशोर्निरीक्षणाद्वा अशोकतिलकादयोऽचेतना अपि विचकसु । कामिन्या कटाक्षित आलिङ्गितो वृक्षोऽपि सहर्ष स्यात् । कामी च न विलीयत इति महच्चित्रम् ॥१८॥ मलयेति—असौ वसन्तो मदनयोध नाकिनो देवा पिनाकी त्रिनयनस्तेषा जयो निर्दलन तत्रोर्जित समर्थ करोति । किं कुर्वन्नित्याह—दक्षिणानल-सहकारमञ्जरी-कोकिलकूजितप्रभृतिकममोघबाणसचय समर्पयन् ॥१९॥ श्वसितीति—असौ पान्थो मदन-विह्वलो यदेव चेष्टते तत्किमिदानी वसन्ते मानसे न हतोऽपि तु व्याहत एव । कै । सपुङ्खबाणै, पक्षे प्रसूत-पक्षैर्भ्रमरै ॥२०॥ विनिहत इति—अमुना वसन्तेन असौ विरहिणीजनो निर्जीवीकृत ता. प्रसिद्धा मुनिसभा धुरि प्रथम विधुरिता व्याकुलिता । न केवल पूर्वोक्त मनस्विनीना च मान एव मतङ्गजो हस्ती सोऽपि व्यापादित ॥२१॥ इतीति—इति पूर्वोक्तप्रकारेण निर्दय निघ्नतो वसन्तात्पराभव वितर्कयन् क कालो-चितवेदी कामिनीस्तनसन्नाहं निजहृदये न सनिदधे अपि तु सनिदध एव । यदि वा षष्ठीप्रयोगात् मधो-र्वसन्तस्य प्रहरात् यामात् पराभव शङ्कमान । वसन्तस्य कामिना कामिनोव्यतिरेकेण प्रहरोऽपि वर्षशतायत इति भाव ॥२२॥ प्रचलेति—असौ तरुणीजनोऽत कारणात् चिरमरमत दोलया दोलयाञ्चक्रे । किंविशिष्ट'

नहीं करता था ॥१७॥ जब कि मृगनयनीके शरीर और नेत्रोंके सम्बन्धसे अचेतन वृक्ष भी खिल उठते हैं तब रस विलासकी विशेषताको जाननेवाले ये मनुष्य क्यों न क्षणभरमें विलीनताको प्राप्त हो जावें ॥१८॥ मलय समीर, आम्रमंजरी तथा कोयलकी कूक आदि बाणोंका समूह समर्पित करता हुआ वसन्त कामदेव रूपी धानुष्कको मनुष्योंकी क्या बात, देव—महादेवको भी जीतनेमें बलाढ्य बना रहा था ॥१९॥ इस समय जो यह पथिक सहसा श्वास भर रहा है, मूर्च्छित हो रहा है, रो रहा है, कॉप रहा है, लड़खड़ा रहा है और बेचैन हो रहा है सो क्या वसन्तके द्वारा अपने अखण्ड पक्षवाले बाणोंके द्वारा हृदयमें घायल नहीं किया गया है ? ॥२०॥ वसन्तने क्या नहीं किया ? यह अनाथ स्त्रियोंका समूह नष्ट कर दिया, उन उत्तमोत्तम मुनियोंके समूहको विधुर—दुःखी बना दिया और इधर स्त्रियोंका मान तुल्य मदोन्मत्त हाथी नष्ट कर दिया ॥२१॥ इस प्रकार चारों ओर प्रहार करनेवाले वसन्त रूपी वनचरसे पराभवकी आशंका कर ऐसा कौन-सा रसिक जन था जिसने अपने वक्षःस्थलपर स्त्रियोंका उन्नत स्तनरूपी कवच धारण नहीं किया था ॥२२॥ जिनके उन्नत नितम्बोंके तट चञ्चल वेणीरूपी लताओंके अन्तभागसे ताडित हो रहे हैं ऐसी तरुण स्त्रियाँ मानो कामरूप

१ रोदिति मुह्यति म० घ० ।

स्मरवशीकरणौषधचूर्णवन्निदधतोपरि सौमनस रज ।
किमपर मधुना वशिनेऽपि ते मुनिजना निजनामवशीकृता ॥२४॥

स्वयमगाद्वसतिं कलिमत्यजद् दृशमदत्त मुखे प्रियकामिनाम् ।
इति बहूनि चकार वधूजन स किल कोकिलकोविदशिक्षया ॥२५॥

मधुनिवृत्तिजुषा शुचिसगमाद्धृतमुदामिव काननसपदाम् ।
विचकिलप्रसवावलिरन्वगादिह सिता हसितानुकृतिं मुखे ॥२६॥

सकलदिग्विजये वरमल्लिकाकुसुमसगतभृङ्गरवच्छलात् ।
इह निनाय जन स्मरभूपतेर्न न वश नवशङ्खभवो ध्वनि ॥२७॥

युवतिदृष्टिरिवासवपाटला स्मरनृपस्य बभौ नवपाटला ।
प्रणदिता मधुपैरिव काहला प्रियतमायतमानपराजये ॥२८॥

सन्नित्याह—कामाश्वचारेण पश्चाद्भागे चर्मयष्टिभिराहत इव । दोलावेगवशात् प्रचलितेन वेणीलतान्तेन यत्ताडन तेन विशेषोन्नतो नितम्बतटो यस्य स तद्विध. । कशावेण्योरुपमानोपमेयभाव ॥२३॥ स्मरेति—किमपर किमन्यजनस्य कथ्यते । वसन्तेन ते बिल्वपत्रभोजिनो यतिजना अपि निजनाम्ना वशीकृता कामवार्तयापि चलितचारित्रा इत्यर्थ । किं कुर्वन्नित्याह—पौष्पपरागमुपरि निक्षिपता कामकर्मणा भेषजचूर्णमिव ॥२४॥ स्वयमिति—स कष्टानुष्ठानो यो मनस्विनीजन कोकिलपण्डितोपदेशत इति बहूनि चाटूनि चकार । किं किं चकारेत्याह—अनाकारितोऽपि शयनीय जगाम, चिरसचितमानमुज्झाचकार, स्वयमेवाभीष्टतमाना मुखमीक्षामास इति ॥२५॥ मध्वति—इह सिता शुभ्रा मल्लिकापुष्पमाला हसितानुराग चकार । वनलक्ष्मीणा मुखे मधुनिवृत्तिजुषा वसन्तापसरणश्रितानाम् । शुचिसगमादाषाढभराद् । यथापूर्वं मद्यपान पश्चाच्छुचिपुरुषसगमात् मदिरानिवृत्तियुक्ताना सहर्षाणा सप्रसरो हास. स्यात् ॥२६॥ सकलेति—इह ग्रीष्मे सकलदिग्विजयार्थमभिषिषेणयिषो कामभूपस्य शङ्खध्वनिर्जन वश नयति स्म । अर्द्धविकसितविचकिलपुष्पनिलीनभ्रमरव्याजात् । अत्र पुष्पशङ्खयो भृङ्ग भृङ्गवादकयो भृङ्गध्वनिशङ्खध्वन्योश्चोपमानोपमेयभाव ॥२७॥ युवतीति—मदिरामत्तकामिनीशोणदृष्टिसदृशी पाटला शुशुभे मधुपैरन्त्यजैरिव काहला प्रदत्ता प्रियतमानामायतो दीर्घो मानस्तस्य पराजये निर्णाशने । अत्र च पाटलापुष्प काहलासदृश भवति भ्रमराश्च कृष्णत्वात् काहलिका इव ॥२८॥

भीलके कोडोंसे आहत होकर ही उत्तम झूला द्वारा चिरकाल तक क्रीडा कर रही थीं ॥२३॥ कामदेवके वशीकरण औषधके चूर्णकी तरह फूलोंका पराग ऊपर डालते हुए वसन्तने और की तो बात क्या, उन जितेन्द्रिय मुनियोंको भी अपने नामसे वश कर लिया था ॥२४॥ स्वयं विना बुलाये ही शय्यागृह जाने लगीं, कलह छोड़ दीं और प्रिय कामियोंके मुखपर दृष्टि देने लगीं—इस प्रकार स्त्रियोंने कोयलरूप अध्यापककी शिक्षासे बहुत कुछ चेष्टाएँ की थीं ॥२५॥ वसन्त समाप्त हुआ, ग्रीष्मका प्रवेश हुआ, उस समय सर्वत्र विचकिलके फूलोंकी सफेद-सफेद पङ्क्ति फूल रही थी जो ऐसी जान पडती थी मानो शुचि—ग्रीष्म ऋतुके समागमसे [पक्षमे पवित्र पुरुषोंके ससर्गसे] मधु—वसन्त [पक्षमे मदिरा] का त्याग करने वाले प्रसन्नचित्त वनरूप सम्पदाओंके मुखपर हास्यकी रेखा प्रकट हुई हो ॥२६॥ मालतीके उत्तमोत्तम फूलोंपर बैठे हुए भ्रमर आनन्दसे गुजार कर रहे थे उसके छलसे ऐसा जान पडता था मानो दिग्विजयके समय होने वाली शखकी नयी नयी घोषणा प्रत्येक मनुष्यको कामरूपी राजाके वश कर रही थी ॥२७॥ मदिरा पान करने से लाल लाल दिखने वाली स्त्रियोंकी दृष्टिकी तरह जो गुलाबके नये-नये फूल खिल रहे थे वे ऐसे जान पडते थे मानो कामदेव रूपी राजाने स्त्रियोंके विस्तृत मान का पराजय कर दिया अतः मधुपों—भ्रमरों [पक्षमे मद्यपायियों]

वपुषि चन्दनमुज्ज्वलमल्लिका शिरसि हारलता गलकन्दले ।
मृगदृशामिति वेषविधिर्नृणामनवमो नवमोहमजीजनत् ॥२९॥
इह तृषातुरमर्थिनमागत विगलिताशमवेक्ष्य मुहुर्मुहुः ।
हृदयभूस्त्रपयेव भिदा गता गतरसा तरसा सरसी शुचौ ॥३०॥
इह शुना रसना वदनाद्बहिर्निरगमन्नवपल्लवचञ्चला ।
हृदि खरांशुकरप्रकरार्पिताः किमकृशा नु कृशानुशिखा शुचौ ॥३१॥
खल इव द्विजराजमपि[1] क्षिपन् दलितमित्रगुणो[2] नवकन्दलः[3] ।
अजनि कामकुतूहलिना पुना रसमय समयः स घनागमः ॥३२॥
इह घनैर्मलिनैरपहस्तिता कुटजपुष्पमिषादुडुसततिः ।
गिरिवने भ्रमरारवपूत्कृतैरवततार ततारतिरम्बरात् ॥३३॥

वपुषीति—मृगाक्षीणामित्यनवमो मनोहरतप [वेषविन्यासो] कामिना नवमोह जनयामास ॥२९॥ इहेति—सरसा तडागाना हृदयभूर्मध्यप्रदेशस्त्रपया लज्जयेव विभिदे । गतरसा शुष्कसलिला तरसा झटिति । किं कृत्वेत्याह—तृषातुरान्पान्थांस्तृपितानेव व्याघुटय गच्छतो विलोक्य । अथ चोक्तिलेश —येन किल सदैवातिथय प्रीणिता भवन्ति स एव दैववशाद्दरिद्रता गतोऽकृतातिथ्यानतिथिन्विलोक्य स्फुटितहृदयो भवति ॥३०॥ इहेति—इह शुचावाषाढमासे कौलेयकानामतितापवशान्मुखवाह्ये जिह्वा निर्गता पल्लववत्कम्पमाना भान्ति स्म । अतश्च ज्ञायते चण्डकिरणप्रतापप्रसरनिष्कासिता अकृशा दीर्घतरा नु वितर्के कृशानुशिखा ज्वलनज्वाला इव । अतिग्रीष्मतापेन उदराग्निरधिकमुद्दीपित इवेति भाव ॥३१॥ खल इति—स घनागमसमय. कामकुतूहलिना खलवदपि रसमयो बभूव । कथ खल इवेत्याह—द्विजराज चन्द्रं ब्राह्मणगुरु वा अधिक्षिपन् दलितमित्रगुणो निराकृतादित्यतेजा पक्षे निर्लोठितसुहृद्गुण' नवीनकन्दानामुद्भेदा यत्र पक्षे नित्यकलह एवविधोऽपि कामिना पुन सुखरसमय ॥३२॥ इहेति—इह वर्षासमये नक्षत्रसतति पर्वतवने अवततार । मलिनैर्घनैरपहस्तिता पराभूता कुटजपुष्पव्याजात् । तता प्रसृता अरति पराभवसपत्तिर्यस्या. सा ततारतिः ।

के द्वारा बजाये हुए काहल नामक बाजे ही हों ॥२८॥ शरीरपर चन्दन, शिरपर मालतीकी निर्मल माला और गलेमें हार—स्त्रियोंका यह उत्कृष्टवेष पुरुषोंमें नया-नया मोह उत्पन्न कर रहा था ॥२९॥ ग्रीष्मऋतुमें निर्जल सरोवरकी भूमि सूख कर फट गयी थी जो ऐसी जान पड़ती थी मानो आगत तृषातुर मनुष्यको निराश देख लज्जा से उसका हृदय ही फट गया हो ॥३०॥ इस ऋतुमे नवीन पल्लवोंके समान लपलपाती जिह्वाएँ कुत्तोंके मुखसे बाहर निकल रही थीं जो ऐसी जान पड़ती थीं मानो सूर्यकी किरणोंके समूहसे हृदयमे उत्पन्न हुई अग्निकी बड़ी-बड़ी ज्वालाएँ ही थीं क्या ।॥३१॥ तदनन्तर कामियोंको आनन्द देने वाला वह वर्षाकाल आया जो कि ठीक दुर्जनके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार दुर्जन—द्विजराज—ब्राह्मणको भी नष्ट कर देता है उसी प्रकार वर्षाकाल भी द्विजराज—चन्द्रमाको भी नष्ट कर रहा था, जिस प्रकार दुर्जन मित्रके गुणको नष्ट करने वाला होता है उसी प्रकार वर्षाकाल भी मित्र—सूर्यके गुणोंको नष्ट करने वाला था और जिस प्रकार दुर्जन नव कन्दल होता है—नूतनसुखको खण्डित करने वाला होता है उसी प्रकार वर्षाकाल भी नव कन्दल था—नये-नये अकुरोंसे सहित था ॥३२॥ जहाँ-तहाँ कुटज

१ खलपक्षे द्विजराज ब्राह्मण घनागमपक्षे चन्द्रमसम् । २ दलिता खण्डिता मित्रस्य सुहृदो गुणा येन तथाभूत खल घनागमपक्षे दलिता मित्रस्य सूर्यस्य गुणा प्रतापा येन स । ३ नवक नूतनसुख दलयति खण्डयतीति नवकन्दल खल, घनागमपक्षे नवा कन्दला यस्मिन् स ।

भृशमधार्यत नीपनभस्वता सह पयोधरनम्रनभःश्रिया ।
गलितहारनिभोदकधारया प्रथमसङ्गमसङ्गरविभ्रम ॥३४॥
भुवनतापकमर्कमिवेक्षितु कलितकान्तचलद्युतिदीपिका ।
दिशि दिशि प्रससार कृषीवता सह मु[1]दारमुदारघनावलि ॥३५॥
जलधरेण पयः पिबताम्बुधेर्ध्रुवमपीयत वाडवपावक ।
कथमिहेतरथा तडिदाख्यया रुचिररोचिररोचत वह्निजाम् ॥३६॥
नभसि निर्गतकोमलमालतीकलिकया स्मरतोमरतीक्ष्णया ।
हृदयविद्ध इवालिगणः परो[2]श्चलति का लतिका स्म निरीक्षितुम् ॥३७॥
निभृतभृङ्गकुलाकुलकेतकीतरुरुदीर्णसितप्रसवाङ्कुर ।
भृशमशोभत मत्त इव स्मरद्विरदनो रदनोदितभूत्रय ॥३८॥

अम्बरादाकाशात् । भ्रमरशब्दा एव पूत्कारास्तैरुपलक्षिता ॥३३॥ भृशमिति—पयोधरा मेघास्तैर्नम्रा नभश्रीस्तया कदम्बपवनकामुकेन सार्द्धं प्रथमरतिकेलिविभ्रमो बभ्रे । यत किंविशिष्टया । गलिता हारा इवोदकधारा यस्या सा तद्विधया । कामकलहे हि हारास्त्रुटयन्ति पवनेन च नभश्री सवेग वर्षति ॥३४॥ भुवनेति—असौ घनावलिर्दिक्चक्रे भ्राम्यति स्म । किमर्थमित्याह—सकललोकतापकारक ग्रीष्मशोषितजल पलायितमादित्यमवलोकयितुमिव कलिता कान्ता कार्यसाधनशीला चलद्युतिर्दीपिका यया । ध्वान्ते दीप विना गतस्य पद न लभ्यते । कृषीवता कुटुम्बिकाना मुदा हर्षेण सह अरमत्यर्थमुदारवार्युक्घनावलि ॥३५॥ जलेति—मेघेन समुद्रस्य पानीय पिबता निश्चित मध्यस्थो वाडवाग्निरपि पीत । अन्यथा कुत इति मेघे विद्युन्नाम्ना रुचिररोचिर्देदीप्यमान तेजोऽरोचत शुशुभे वह्निजमग्निज्वालासदृशम् ॥३६॥ नभसीति—नभसि श्रावणे मासि जातीकलिकया कामतोमरेणेवालिगणो विद्ध सन् उपलोभित अन्या लतिका पुष्पितवल्ली का जगाम अपि तु न का अपीत्यर्थः ॥३७॥ निभृतेति—नि शब्दभृङ्गकुलैराकुल केतकीतरूद्गतशुभ्रपुष्पाङ्कुर शुशुभे स्मरद्विरदन कामहस्तीव रदनोदितभूत्रयो दन्तोत्पाटित-

---

के फूल फूले हुए थे उनके छलसे ऐसा जान पड़ता था मानो काले-काले [पक्षमें दुष्ट हृदय] मेघोंके द्वारा खदेडी नक्षत्रोंकी पंक्ति ही भ्रमर-ध्वनिके बहाने रोती हुई बड़े खेदके साथ आकाशसे इस विन्ध्याचलके वनमे अवतीर्ण हुई हो ॥३३॥ मेघोंसे [पक्षमे स्तनोंसे] झुकी आकाश लक्ष्मी, हारके समान टूट-टूट कर गिरनेवाली जलधारासे ऐसी जान पड़ती थी मानो कदम्बके फूलोंसे सुवासित वायुरूप नायकके साथ प्रथम समागम ही कर रही हो ॥३४॥ बड़े-बड़े मेघोंकी पंक्ति ऐसी जान पड़ती थी मानो बिजली रूप सुन्दर दीपक ले संसार को सतापित करने वाले सूर्यको खोजनेके लिए ही किसानोंके आनन्दके साथ प्रत्येक दिशा मे घूम रही हो ॥३५॥ ऐसा जान पडता है कि समुद्रका जल पीते समय मेघने मानो वड़वानल भी पी लिया था । यदि ऐसा न होता तो बिजलीके नामसे अग्निकी सुन्दर ज्योति क्यों देदीप्यमान होती ? ॥३६॥ सावनके माहमे निकली कामदेवके बाणोंके समान तीक्ष्ण मालती की कोमल कलिकाओंसे मानो हृदयमे घायल हुआ भ्रमरोंका समूह अन्य किन लताओंको देखनेके लिए जा सका था ? ॥३७॥ जिसमे सफेद-सफेद फूलोंके अकुर प्रकट हुए हैं ऐसा निश्चल भ्रमर समूहसे व्याप्त केतकीका वृक्ष दाँतोंके द्वारा तीनों लोकोंको रौंदनेवाले कामदेव

---

१ मुदा + अरम् + उदारघनावलि । २ पुरा घ० म० ।

त्वयि विभावपि भावपिधायिनि ध्रुवमनाथवतीमिव तां सखीम् ।
रिपुरिवैष विषं जलदो ददत्समदहन्ति दहन्ति च विद्युतः ॥३९॥
समधिगम्य पयः सरसामसावसहतापहता पतिवञ्चिता ।
यदतनोत्तनुतापितपूत्तरं तदयि तद्दयितस्य न पातकम् ॥४०॥
स्वयमनम्बुजमेव सरोऽभवद्व्यधित सा तु वनान्तमपल्लवम् ।
यदि तया मृतयैव सुखं स्खलन्निनदया न दयास्ति वनेऽपि ते ॥४१॥
न रमते स्मयते न न भाषते स्वपिति नात्ति न वेत्ति न किञ्चन ।
सुभग केवलमस्मितलोचना स्मरति सा रतिसारगुणस्य ते ॥४२॥
इति कयापि दयापरयापरः प्रणयपूर्वमिहाभिहितो युवा ।
मुदमिवोदवहन्न च चारुता मदममन्दममन्थरमन्मथः ॥४३॥ (कुलकम्)
तृणकुटीरनिभे हृदि योषितां ज्वलति तीव्रवियोगहुताशने ।
स्वजनवच्छिखिभेकगणो नदन्नकृत पूत्कृतपूरमिवाकुलः ॥४४॥

त्रिभुवन ॥३८॥ त्वयीति—हे समद ! त्वयि नापि तामनाथवतीमिव मेघो निहन्ति । किं कुर्वन् । विषं गरलं ददत् निष्कारणशत्रुरिव । न केवलं मेघ एव हन्ति विद्युतोऽपि दहन्ति । भावपिधायिनि कृतकामनिगूहने ॥३९॥ समधिगम्येति—असौ वराकी पतिवञ्चिता त्वया विप्रयुक्ता महातापपीडिताना यत्तडागानां पानीयमवगाह्य शरीरतापतापितकृमिविशेषं चकार । अयीति कोमलामन्त्रणे दयितस्य तव किं न पातकम् अपि तु पातकमेव । त्वद्विरहतप्ता सा सरोजलमवगाहयन्ती पूतरान्निहन्तीति तत्तव पातकम् ॥४०॥ स्वयमिति—हे निर्दय ! तस्यास्त्वद्विरहमहातापतमाया अहर्निशमवगाहने क्वचित् जलत्वात्स्वयमेव सरसि पद्मानि भ्रष्टानि समस्तमपि वनान्तं पुनः सा लूनपल्लवं शयनार्थं चकार । यदि तया मृतयैव तव निर्वृत्तिः स्खलन्निनदया सावरुद्धवचनया निजोद्यानेऽपि न दया रक्षणबुद्धिः । सा सरो वनं च विनाशयिष्यतीति भावः ॥४१॥ नेति—हे सुभग ! किमपि क्रीडादिकं क्रियाकलापं न करोति केवलं निमीलितलोचना तव स्मरति सुरतसारगुणस्य ॥४२॥ इतीति—कश्चिद्युवा सस्नेहमभ्यर्थितः सन् हर्षमिव रूपाहंकारमपि न बभार । अमन्दमत्यर्थम्, अमन्थरमन्मथः कामातुरः ॥४३॥ तृणेति—योषितां हृदि तृणकुटीरकसदृशे विरहवैश्वानरे जाज्वल्यमाने बन्धुवर्ग इव मयूरदर्दुरगणः शब्दायमानः पूत्कारयाचकारेव । यथा तृणकुटीरके ज्वलति

के मदोन्मत्त हाथीके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥३८॥ हे सगर्व ! दूसरेकी बात जाने दो जब तुम नाथ हो कर भी अपना स्नेहपूर्ण भाव छिपाने लगे तब मेरी उस सखीको निश्चित ही अनाथ-सा समझ वह मेघ, शत्रुकी तरह विष [पक्षमें जल] देता हुआ मार रहा है और बिजलियाँ जला रही हैं ॥३९॥ पतिके अभावमें असह्य संतापसे पीड़ित रहने वाली इस सखीने सरोवरोंके जलमें प्रवेश कर उसके कीड़ोंको जो अपने शरीरसे संतापित किया है वह पाप क्या उसके पतिको न होगा ! ॥४०॥ इस पावसके समय सरोवर अपने आप कमल रहित हो गया है और वनको उसने पल्लव रहित कर दिया है । यदि चुपचाप पड़ी रहनेवाली उस सखीके मरनेसे ही तुम्हें सुख होता है तो कोई बात नहीं परन्तु वनपर भी तो तुम्हें दया नहीं है ॥४१॥ हे सुभग ! न वह क्रीडा करती है, न हँसती है, न बोलती है, न सोती है, न खाती है, और न कुछ जानती ही है । वह तो सिर्फ नेत्र बन्द कर रतिरूप श्रेष्ठ गुणोंको धारण करनेवाले एक तुम्हारा ही स्मरण करती रहती है ॥४२॥ इस प्रकार किसी दयावती स्त्रीने जब प्रेमपूर्वक किसी युवासे कहा तब उसका काम उत्तेजित हो उठा । अब वह जैसा आनन्द धारण कर रहा था वैसा सौन्दर्यका अहंकार नहीं ॥४३॥ जब तृणकी कुटीके समान स्त्रियोंके हृदयमें तीव्र वियोग रूप अग्नि जलने लगी तब शब्द

प्रलपता कृपयैव वियोगिना किमपि दाहमहाज्वरशान्तये ।
शरदियं सरसीषु निरन्तर व्यतनुतातनुतामरस पय ॥४५॥
इयमुदस्य करैं परिचुम्बत सरसिजास्यमभून्न घनादरा ।
शरददत्त सुधाकरलालनासुखरता खरतापमतो रवे ॥४६॥
किमपि पाण्डुपयोधरमण्डले प्रकटितामरचापनखक्षता ।
अपि मुनीन्द्रजनाय ददौ शरत्कुसुमचापमचापलचेतसे ॥४७॥
विघटिताम्बुपटानि शनै शनैरिह दधुः पुलिनानि महापगा ।
नवसमागमजातह्रियो यथा स्वजघनानि घनानि कुलस्त्रिय ॥४८॥
स्फुरदमन्दतडिद्द्युतिभासुर शरदि शुभ्रमुदीक्ष्य पयोधरम् ।
कपिशकेसरकेसरिशङ्कया प्रतिनदन्ति न दन्तिगणा क्षणम् ॥४९।
कलमरालवधूमुखखण्डित[1] विपुलवप्रजले कमलाकरम् ।
निकटमप्यवधीरयति स्म साभिनवशालिवशालिपरम्परा ॥५०॥

बन्धु प्रातिवेशिकानापातयति ॥४४॥ अथ शरद्वर्णनम्—प्रलपतामिति—आक्रन्दता विरहिणा दाहोपशमाय दयालुरिव शरन्महातडागेषु सलिल व्यतनुत निर्ममे । किंविशिष्टम् । अतनुतामरस महापद्मम् ॥४५॥ इयमिति—इय शरत् सरसिजास्य कमलमेव मुखमुन्नमय्य परिचुम्बतोऽपि सूर्यस्य घनादरा मेघान्धकारा स्नेहवती च न बभूव । अत कारणात्प्रत्युत खरताप तीव्रताप ददौ । किंविशिष्टा सतीत्याह—सुधाकरलालनैव सुखरत यस्या पक्षे[2] (?) । यथा काचिद्वेश्या नायके सचाटुकार ब्रुवत्यपि निरादरा प्रतिनायकसुरतेन सुखरता नायकस्य ताप करोति ॥४६॥ किमपीति—शुभ्राभ्रमध्ये सुरचाप दर्शयन्ती कुसुमचाप काम ददौ शरत् यथा काचित्पीनकुच-मण्डले नखक्षत दर्शयन्ती दृढचित्ताय मुनिजनायापि कामाभिलाप ददाति ॥४७॥ विघटितेति—इह शरत्समये महानद्योऽपगतसलिलावरणानि पुलिनानि मन्द-मन्द दधु प्रथमसुरतलज्जिता कुलस्त्रिय इव पीनपरिणाहि जघनानि न वेश्याचेटीवन्निरावरणानि तत्क्षणम् ॥४८॥ स्फुरदिति—शरदि विद्युन्मालाभासुर धवलमेघ गर्जन्त श्रुत्वा दन्तिगणा हस्तिघटा न प्रतिगर्जित कुर्वन्ति पिङ्गलसटाटोपस्य सिंहस्य भ्रमेण ॥४९॥ कलेति—सा नवीन-

करनेवाले मयूर और मेंढक ऐसे जान पड़ते थे मानो घबड़ाये हुए कुटुम्बियोंके समान रोदन ही कर रहे हों ॥४४॥ प्रलाप करनेवाले वियोगियोंपर दया कर ही मानो यह शरद् ऋतु प्रकट हुई है और उनके दाह रूप तीव्र ज्वरको शमन करनेके लिए ही मानो उसने सरोवरोंका जल निरन्तर बड़े-बड़े कमलोंसे युक्त कर दिया है ॥४५॥ किरणों द्वारा [पक्षमे हाथोंके द्वारा] कमलरूपी मुखको ऊपर उठा चुम्बन करनेवाले सूर्यपर इस शरद् ऋतुने अधिक आदर प्रकट नहीं किया किन्तु उसके विपरीत चन्द्रमाके साथ केलि करनेमें सुख-पूर्वक तत्पर रही। शरद्ने अपनी इस प्रवृत्तिसे ही मानो सूर्यको अधिक संताप दिया था ॥४६॥ जिसके सफेद मेघमण्डलपर [पक्षमें गौरवर्ण स्तनमण्डलपर] इन्द्रधनुष रूप नखक्षतका चिह्न प्रकट है ऐसी शरद् ऋतुने गम्भीर चित्तवाले मुनियोंको भी कामबाधा उत्पन्न कर दी थी॥४७॥ जिस प्रकार नवीन समागमके समय लज्जा धारण करनेवाली कुलवती स्त्रियाँ धीरे-धीरे अपने स्थूल नितम्बमण्डल वस्त्र रहित करती हैं उसी प्रकार इस शरद् ऋतुमे बडी-बड़ी नदियाँ अपने विशालतट जलरूप वस्त्रसे रहित कर रही थीं ॥४८॥ इस शरद्के समय चमचमाती बिजलीकी विशालकान्तिसे देदीप्यमान सफेद मेघको देख पीली-पीली जटाओंसे सुशोभित सिंहकी शकासे हाथियोंके समूह क्षणभरके लिए अपनी गर्जना बन्द कर देते हैं ॥४९॥ इधर भ्रमर पंक्तिका नवीन धानके साथ सम्बन्ध हो गया अतः उसने

१ मण्डित च० । २ सुधाकरोऽधरस्तस्य लालनया सेवनया चुम्बनेन सुखरता अतितीक्ष्णता यस्या, सा ।

अयमनङ्गगजस्य मदाम्भसः परिमलो न तु शारदभूरुहः ।
इयमयस्त्रिपदी त्रुटिताभितः कमलिनीमलिनीविततिर्न तु ॥५१॥
हृदयहारिहरिन्मणिकण्ठिकाकलितशोणमणीव नभःश्रियः ।
ततिरुदैक्षि जनैः शुकपत्त्रिणां भ्रमवतामवतारितकौतुका ॥५२॥
मरुति वाति हिमोदयदुःसहे सहसि सततशीतभयादिव ।
हृदि समिद्धवियोगहुताशने वरतनोरतनोद्वसतिं स्मरः ॥५३॥
पतितमेव तदा हिममङ्गिना वपुषि कान्तिहरं[1] शरदत्यये ।
शरणमुद्धतयौवनकामिनीस्तनभरो न भरोपचितो यदि ॥५४॥
बहलकुङ्कुमपङ्ककृतादरा मदनमुद्रितदन्तपदाधराः ।
तुहिनकालयतो घनकञ्चुका निजगदुर्जगदुत्सवमङ्गनाः ॥५५॥
अपि जगत्सु मनोभवतेजसा प्रवणयन्त्यतिरेकमनेकशः ।
हिममयानि तदा सवितुर्महोमहिमहानिमहानि वितेनिरे ॥५६॥

कलमवशवर्तिनी भ्रमरमाला कमलखण्डमवगणयांचकार । कुत इत्याह—कलहंसीचञ्चूचूर्णितं तत्. कलिकाप्राय मन्यमाना ॥५०॥ अयमिति—अयं पुष्पितसप्तपर्णो न भवति किन्तु कामकरीन्द्रमदसौरभप्रसरोऽयम् । इयं चालिनीविततिभ्रमरवधूश्रेणी पद्मिनीमभिभ्रमन्ती न भवति, किं तर्हि । इयं लोहमयी पादहिञ्जीरमाला मत्तेन कामगजेन त्रोटिता[2] ॥५१॥ हृदयेति—शुकपक्षिणां श्रेणी जनैरीक्षाचक्रे । अन्तरान्तरा पद्मरागमिश्रा नीलमणिगुलिकामालिकेव । अवतारितकौतुका समुत्पादिताश्चर्या भ्रमेणावर्त्तेन भ्राम्यताम् ॥५२॥ अथ हेमन्तवर्णनम्—मरुतीति— मार्गशीर्षे मासे महाहिमोत्कटे वायौ वाति सरति वरतनोर्मृगाक्ष्या हृदये जाज्वल्यमानविरहवह्नौ शीतार्त्त इव कामस्तत्राध्युवास ॥५३॥ पतितमिति—तदा शीतकाले प्राणिनां शरीरे शीतसंघातप्रपातः पतित एव । यदि किम् । यदि नवयौवनोद्धतवधूस्तनभारपरिणाहोपचितं शरणं शीतयन्त्रणं यदि वा शरणं[3] गृहं प्रावरणं वा न स्यादित्यर्थः ॥५४॥ बहलेति—अङ्गनाः सुगन्धितैलकुङ्कुमादिकं प्रति कृतादरा बिम्बाधरदत्तसिक्थका गजपटीनिर्मितसबाहुकूर्पासा शीतकालं भुवनोत्सवकारकमिव बभासिरे ॥५५॥ अपीति—तदा कामनृपतिप्रतापानामतिशयं प्रकाशयन्त्यपि अहानि दिवसा आदित्यतेजःप्रभावहानिं

बड़े-बड़े खेतोंके जलमें खिले हुए उस कमलसमूहका जो कि मनोहर हंसीके मुखसे खण्डित था निकट होनेपर भी तिरस्कार कर दिया ॥५०॥ यह कामदेव रूपी हाथीके मदजलकी वास है, सप्तपर्ण वृक्षकी नहीं और यह कमलिनीके चारों ओर उसी हस्तीके पैरकी टूटी जंजीर है भ्रमरियोंकी पंक्ति नहीं है ॥५१॥ लोग बागमें घूमनेवाले तोताओंकी कौतुक उत्पन्न करनेवाली पंक्तिको आँख उठा-उठा कर ऐसा देखते थे मानो आकाश-लक्ष्मीकी लालमणि खचित हरे-हरे मणियोंकी मनोहर कण्ठी ही हो ॥५२॥ मार्गशीर्षमें बर्फसे मिली दुःसह वायु चल रही थी अतः निरन्तरकी शीतसे डर कामदेव, जिसमें वियोगाग्नि जल रही थी ऐसे किसी सुन्दरांगीके हृदय में जा बसा था ॥५३॥ यदि अत्यन्त तरुण स्त्रियोंके स्थूल स्तनोंका समूह शरण न होता तो उस हेमन्तके समय कान्तिको हरनेवाला बर्फ मनुष्योंके शरीरपर आ ही पड़ा होता ॥५४॥ चूँकि उस समय स्त्रियाँ बड़े आदरके साथ केशरका खूब लेप लगाती थीं, ओठोंमें जो दन्ताघातके व्रण थे उन्हें मोमसे बन्द कर लेती थीं और घनी-मोटी चोली पहिनती थीं अतः उन्होंने घोषणा कर दी थी कि यह हेमन्तकाल तो संसारके उत्सवका काल है ॥५५॥ चूँकि बर्फसे भरे दिन, संसारमे बार-बार कामदेवके तेजकी अधिकता बढ़ा रहे थे अतः उन्होंने सूर्यके तेजकी

१ कीर्तिहरं घ० म० । २ अपह्नुतिः । ३. 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः ।

स महिमोदयत शिशिरो व्यधादपहृतप्रसरत्कमला प्रजा' ।
इति कृपालुरिवाश्रितदक्षिणो दिनकरो न करोपचयं दधौ ॥५७॥
विघटयन्निखिलेन्द्रियपाटव भृशमुरीकृतधर्मदिगाश्रय ।
वपुषि बिभ्रदसौ तपसा महः कृशमिन शमिन समता दधौ ॥५८॥
मृगदृशामिह सीत्कृतकम्पिताधरपुटस्फुटदन्तसमद्युत ।
विदधिरे नवकुन्दलता दलत्सुमनसो मनसो धृतिमङ्गिनाम् ॥५९॥
सुरभिपत्रवत कुसुमेष्वभून्मरुवकस्य जनो विगतस्पृह ।
सुभगरूपजुषो मृगचक्षुषः प्रथितमान्यतमान्यगुणेष्विव ॥६०॥
इह हि रोध्ररजांसि यशांसि वा विशदभासि जगज्जयशालिनः ।
विदधिरे न मनोभवभूपतेः सममनन्तमनन्तरित भुवा ॥६१॥

वितन्वन्ति स्म ॥५६॥ स इति—इति करुणापर इव दिनकरो निजकरप्रसर न पुपोष दक्षिणायनस्थ । इतीति किम् । शीतकाल सममेककाल हिमोदयस्तस्माद्विनाशितविकसितकमला जनता अकार्षीत् । यथा कश्चिद्धर्मविजयी राजा देयभाग न गृह्णाति आश्रितदक्षिण सेवकानुकूल । इति चिन्तयन्निव—अयमग्रेतनो जडात्मा राजा महिमोदयाल्लुण्ठितलक्ष्मीका. प्रजा कृतवान् ॥५७॥ विघटयन्निति—असौ दिनकर शमिनो मुने समता सादृश्य जगाम । किं कुर्वन् । तपसा माघमासेन कृशमल्प तेजो धारयन् दक्षिणदिग्भाग शीतवधिरिताना सर्वेन्द्रियाणा विशेषेण घटयन् पाटवम् । व्रती च तपसा कायक्लेशेन मन्दतेजस्क शरीर दधाति पञ्चेन्द्रियाणा पाटव चञ्चलता निगृह्णाति आश्रितपुण्याचरणगति ॥५८॥ मृगदृशामिति—इह कुन्दलतानां विकसत्पुष्पाणि चित्तधृतिं वितेनिरे । सीत्कृतेन कम्पितौ यावधरपुटौ तत्र स्फुटा दृश्यमाना ये दन्ता तत्सदृशी द्युतिर्दीधितिर्यासाम् ॥५९॥ सुरभीति—सुगन्धिपत्राणि बिभ्रतो मरुवकस्य पुष्पनिरपेक्षी जनो बभूव । यथा कस्याश्चिन्मृगाक्ष्या सौभाग्यैकरूपं बिभ्रत्या अन्येषु प्रसिद्धतमेषु पूज्यतमेषु च गुणेषु नि स्पृहो भवति ॥६०॥ इहेति—इह शिशिरे रोध्रपरागा कामनृपकीर्तिप्रसरा इव अनन्त गगन

महिमा घटा दी थी ॥५६॥ जब कोई दुष्ट राजा अपनी महिमाके उदयसे प्रजाकी कमला—लक्ष्मीको छीन उसे दरिद्र बना देता है तब जिस प्रकार दूसरा दयालु उदार राजा पदासीन होनेपर प्रजासे करोपचय—टैक्सका संग्रह नहीं करता उसी प्रकार जब शिशिरने निरन्तर बर्फकी वर्षासे प्रजाके कमल छीन उसे कमलरहित कर दिया तब दयालु एवं उदार [पक्षमे दक्षिणदिशास्थ] सूर्यने करोपचय—किरणोंका संग्रह नहीं किया ॥५७॥ उस समय सूर्य किसी तपस्वीकी समता धारण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार तपस्वी समस्त इन्द्रियोंकी सामर्थ्य नष्ट कर देता है अथवा इन्द्रियोंकी सामर्थ्यको विशेष रूपसे घटित करता है उसी प्रकार सूर्य भी समस्त इन्द्रियोंकी सामर्थ्य नष्ट कर रहा था अथवा विशेष रूपसे घटित कर रहा था, जिस प्रकार तपस्वी धर्मदिक्—धर्मोपदेष्टाका आश्रय ग्रहण करता है उसी प्रकार सूर्य भी धर्मदिक्—यमराजकी दक्षिण दिशाका आश्रय ग्रहण कर रहा था, और जिस प्रकार तपस्वी तपसा—तपश्चरणके द्वारा शरीरमें कृश तेज धारण करता है उसी प्रकार सूर्य भी तपसा—माघ मासके द्वारा शरीरमें कृश तेज धारण कर रहा था ॥५८॥ इस शिशिरके समय मृगनयनी स्त्रियोंके सीत्कृतसे कम्पित ओठोंके बीच प्रकट दाँतोंके समान कान्ति वाली कुन्दकी खिली हुई नवीन लताओंने जिस किसी तरह मनुष्योंके हृदयमे धैर्य उत्पन्न किया था ॥५९॥ जिस प्रकार मनुष्य सुन्दर रूप वाली स्त्रीके प्रसिद्ध एवं माननीय अन्य गुणोंमे निःस्पृह हो जाते है उसी प्रकार लोग सुगन्धित पत्तों वाले मरुवक वृक्षके फूलोंमे निःस्पृह हो गये थे ॥६०॥ इस शिशिर ऋतुमें पृथिवी लोध्र पुष्पकी पराग और जगद्विजयी कामदेवरूपी राजाकी

करणबन्धविवर्तनसाक्षिणी समधिगम्य निशाः सुरतक्षमाः ।
तपसि कामिजन[1]स्तरुणीजनैररमतारमतामसमानसैः ॥६२॥
अथ दिदक्षुममु रमणीयतामृतुगणस्य सम समुपेयुषः ।
अभिदधे जिनमित्यमराधिपो विनयतो नयतोषितभूत्रयम् ॥६३॥
ऋतुकदम्बकमाह्वयतीव व श्रवणगोचरता युगपद्गतैः ।
भ्रमरकोकिलहंसकलापिना रसकलैः सकलैरपि नि स्वनैः ॥६४॥
सेना सुराणाममना मितारम्भवत्ययाना मधुना च येन[2] ।
सेना सुराणा मम नामितारं भवत्ययानामधुना चयेन ॥६५॥
प्रभावितानेकलतागताया प्रभाविताने कलता गता या ।
[3]प्रभावितानेकलतागताया सा स्त्री मधौ किं स्पृहणीयपुण्या ॥६६॥

भुवा सार्द्धं चक्रु । किंविशिष्टं चक्रुरित्याह—अनन्तरितम्—अन्तर्मध्ये इत गतम् अन्तरित, न अन्तरितमनन्तरित बहिर्भूत किं तु भूमिलितमेव चक्रु ॥६१॥ करणेति—कामुकजनो वाणिनीभिररमति शयेन रेमे । अतामसमानसो गतगर्व. । किं कृत्वा । माघे दीर्घतमा रात्री. प्राप्य । पुन किंविशिष्टा । चतुरशीतिकरणबन्धविधानावलोकनसाक्षिणी ॥६२॥ अथेति—आजग्मुष ऋतुगणस्य लक्ष्मी सफलयितुमिच्छु जिन देवाधिपो व्यजिज्ञपत् नयेन न्यायप्रतिपालनेन तोषित भूत्रय येन ॥६३॥ ऋतुकदम्बकमिति—हे प्रभो ! भ्रमरादीना नि स्वनैर्युष्मानृतुगण आकारयतीव । रसेन कलैर्मनोहरै ॥६४॥ सेनेति—इन ! स्वामिन् ! या मम सुराणा सेना देवाना सेना मधुना वसन्तेन अमना अभूत् गतमनस्का सजाता तथा मितारम्भवती मनोविरहात्स्तोकारम्भा । तथा अयाना च गमनरहिता च बभूव सा सेना इना कामेन सह भवति त्वयि नामिता । केन नामिता । चयेन समूहेन । केषाम् । अयाना शुभकर्मणाम् । क्व । अधुना सम्प्रति । कथम् । अरम् अतिशयेन । कथभूता सेना । सुराणा सुशब्दा स्तुति—मुखरेत्यर्थ । अयमभिप्राय —या मधुना निश्चेष्टा सजाता सापि शुभकर्मवशात् त्वयि नमन्ती विलोक्यताम् इतीन्द्र कालमाहात्म्य स्वसेनानमस्कार च दर्शयति[4] ॥६५॥ प्रभावितेति—इ कामस्तद्वत्कलता मनोज्ञता लक्ष्मीर्यस्य स इकलतस्तस्य सबोधनं हे इकलत ! जिन ! मधौ वसन्ते सा स्त्री आगताया प्राप्तशुभविधि किं स्पृहणीयपुण्या न भवति

उज्ज्वल कीर्तिको एक साथ ही क्या स्पष्ट रूपसे नहीं धारण कर रही थी ॥६१॥ इस माघके महीनेमे कामीजन अनेक आसनों—कामशास्त्रमें प्रसिद्ध चौरासी आसनोंका साक्षात् करनेवाली सुरत योग्य बड़ी-बडी रात्रियाँ पाकर प्रसन्नचित्त युवतियोंके साथ अत्यन्त रमण करते थे ॥६२॥ तदनन्तर एक साथ उपस्थित ऋतु-समूहकी सुन्दरता देखनेके इच्छुक और नयसे तीनों लोकोंको सन्तुष्ट करने वाले जिनेन्द्रदेवसे किन्नरेन्द्र बडी विनयके साथ इस प्रकार बोला ॥६३॥ भगवन् ! ऐसा जान पड़ता है मानो यह ऋतुओंका समूह एक साथ सुनाई देने वाले भ्रमर, कोयल, हंस और मयूरोंके रसाभिराम समस्त शब्दोंके द्वारा आपका आह्वान ही कर रहा हो—आपको बुला ही रहा हो ॥६४॥ हे स्वामिन् ! देवोंकी जो सेना निर्मनस्क परिमित आरम्भवाली एव गमनसे रहित थी वही आज वसन्तके कारण कामवश सुन्दर शब्द कर रही है—स्तुतिसे मुखर हो रही है और शुभकर्मके समूहसे आपके विषयमे अत्यन्त नम्र बन गयी है—आपको नमस्कार कर रही है ॥६५॥ हे मदनसुन्दर ! जिसने अनेक लताओं और वृक्षोंका विस्तार भले ही देखा हो तथा जो प्रभाके समूहमे सुन्दरताको भले ही प्राप्त होती हो पर वह स्त्री इस वसन्तके समय क्या उत्तम पुण्यवती कही जा सकती है जो कि अपने पति

१ कामिगण—घ० ङ० च० छ० म० । २ या + इन इति पदच्छेद । ३ प्रभौ + इता + न, इकलत + आगताया इति पदच्छेद. । ४ उपजातिवृत्त यमकालकारश्च ।

[१]वीक्ष्याङ्गना सत्तिलकान्सरागा विलासमुद्रायतनेऽत्र कान्ते ।
गुणास्त्वयीवाभवदस्तशत्राविलासमुद्रायतनेत्रकान्ते ॥६७॥
पदप्रहारै· पुरुषेण दध्रे मद समुद्यत्तरुणीहतेन ।
रुत तदश्रावि वने पिकीनामद समुद्यत्तरुणीह तेन ॥६८॥
त्वामद्य केकिध्वनितापदेशात्सुराजमानेन स मानवेन ।
घनागम स्तौत्यमृतोदयार्थी सुराजमानेनस मा नवेन ॥६९॥
कलापि नो मन्दरसानुगास्ते पयोदलेशोपहिता हिमांशो ।
कलापिनो मन्दरसानुगास्ते सभाव्यते तेन शरत्प्रवृत्ति ॥७०॥

अपि तु भवत्येव । या कथभूता । इता प्राप्ता । क्व । प्रभौ भर्तरि । पुन कथभूता । प्रभावितानेकलतागताया अगा वृक्षा., लताश्च अगाश्च लतागा अनेके च ते लतागा अनेकलतागास्तेषा ताय सतानो विस्तार प्रभावित अनेकलतागतायो यया सा तथा । पुन किंविशिष्टा । गता प्राप्ता । का कर्मतापन्ना । कलता मनोज्ञता । क्व । प्रभाविताने प्रभासमूहे । या मघौ वियोगिनी न भवति सा लतावृक्षसमृद्धि वीक्षते प्रभा च स्यान्नान्येत्यर्थ. ॥६६॥ वीक्ष्येति—अत्र पर्वते अङ्गना सत्तिलकान् वृक्षान् वीक्ष्य कान्ते भर्तरि सरागाऽभवत् । किंविशिष्टे कान्ते । विकासमुद्रायतने । केव । कस्मिन्निव । कान् वीक्ष्य । तत्राह—यथा इला पृथ्वी आ-समुद्रा समुद्रपर्यन्ता त्वयि सरागा अभवत् । त्वयि कथभूते । अस्तशत्रौ आयतनेत्रकान्ते च विलासमुद्रायतने च । किं कृत्वा । वीक्ष्य । कान् । गुणान् । कथम्भूतान् । सत्तिलकान् सता मण्डनीभूतान् ॥६७॥ पदेति—पदप्रहारै कृत्वा तरुणीहतेन पुरुषेण यत् मदो दध्रे । कथभूतो मद । समुद् हर्षसहित । तत् तेन पुरुषेण अश्रावि । किं तत् । रुत शब्दित पतत् । कासाम् । पिकीनाम् । क्व । इह वने । किंविशिष्टे । समुद्यतरुणि समुद्यन्तस्तरवो यत्र तत्तथा । पदप्रहारैरपि यदहकारधारण तत्र पिकीशब्द एव हेतु कामोद्दीपनभावत्वात्[२] ॥६८॥ त्वामिति—मानवा मनुष्यास्तेषामिन स्वामी तस्य सबोधन हे माननेन ! त्वा स घनागमो जलदकाल स्तौति । केन कृत्वा । आननेन । किंविशिष्टेन । सुराजमानेन शोभमानेन । कुत । केकिध्वनिता-पदेशात् । कथभूतो घनागम । अमृतोदयार्थी जललाभार्थी । त्वा किंविशिष्टम् । अनेनस नि पापम् । सुराजमेति सबोधनपदम्—शोभना राजमा राजलक्ष्मीर्यस्येति समास । य किल घनागमो ज्ञातप्रचुरशास्त्रो भवति स त्वाम् अमृतोदयार्थी मोक्षलाभाय स्तौति—इति व्यङ्ग्यार्थध्वनि ॥६९॥ कलेति—तेन कारणेन शरत्प्रवृत्ति सभाव्यते येन हिमांशो· कलापि नो आस्ते । कथभूता । पयोदलेशोपहता । पुन किंविशिष्टा । मन्दरसानुगा मन्दरसानु गच्छतीति मन्दरसानुगा । किल उच्चैस्तरपर्वतसनिधाने प्रचुरा मेघा भवन्ति पर तत्रापि

को प्राप्त नहीं है—वियोगिनी है ? अरे ! वह तो स्पष्ट पुण्यहीन है ॥६६॥ हे विशालनेत्र ! जिस प्रकार यह समुद्रान्त पृथिवी शत्रुओंको नष्ट करने वाले आपमे गुण देख अनुराग सहित है उसी प्रकार यह स्त्री इस वनमें उत्तम तिलक वृक्षोंको देख विलासमुद्राके स्थानस्वरूप अपने पतिमे अनुराग सहित हो रही है ॥६७॥ चूँकि वह पुरुष इस ऊँचे-ऊँचे वृक्षोंसे युक्त वन मे कोयलोंका मनोहर शब्द सुन चुका है अतः पदप्रहारद्वारा उत्तम तरुणीसे आहत हो हर्ष सहित मद धारण कर रहा है ॥६८॥ हे मनुजश्रेष्ठ ! हे उत्तम राजाओंकी लक्ष्मीसे युक्त ! आप पापरहित हैं इसलिए यह जलके उदयको चाहनेवाला वर्षाकाल मयूरध्वनिके बहाने सुन्दर स्तवनसे आज आपकी स्तुति कर रहा है [उस तरह जिस तरह कि अमृतोदयार्थी—मोक्ष-प्राप्तिका अभिलाषी और घनागम—प्रचुर शास्त्रोंका ज्ञाता पुरुष आपकी स्तुति करता है ।] ॥६९॥ मन्दर गिरिके शिखर पर स्थित चन्द्रमाकी कला भी मेघखण्डसे आच्छादित नहीं है और वे मयूर भी जो कि वर्षा कालमे अमन्दरससे युक्त रहते थे इस समय मन्दरसके

१ च पुस्तके ६६-६७ श्लोकयो पूर्वार्धे क्रमभेद । २ उपेन्द्रवज्रावृत्तम् ।

गुणलतेव धनुर्भ्रमरावली शरदि तामरसं गमितधिकम्[1] ।
ततिरतोऽप्सरसा कुसुमेषुणा शरदितामरसङ्गमिताधिकम् ॥७१॥

इति वचनमुदार भाषमाणे मुदारं
प्रशमितवृजिनस्य स्वर्गिनाथे जिनस्य ।
मतिरिह घनगाना रन्तुमासीन्नगाना
ततिषु कुसुमलीना वीक्ष्य पालीमलीनाम् ॥७२॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्य ऋतु-
वर्णनो नामैकादशः सर्गः ॥११॥

यच्चन्द्रकला पयोदलेशेनाच्छादिता नास्ति ।। येन च कारणेन कलापिनो मयूरास्ते मन्दरसानुगतास्तेन शरत्प्रवृत्ति संभाव्यत इत्यर्थ ॥७०॥ गुणेति—शरदि काले अधिक पानीयमधिलक्ष्मीकृत्य तामरस पद्म भ्रमरावली गमिता प्रापिता कुसुमेषुणा गुणलतेव धनु यथा मौर्वी धनु प्राप्यते तथालिपङ्क्ति पद्म प्रापिता । अतोऽप्सरसा तति कुसुमेषुणा शरदिता बाणखण्डिता सती अमरसंगमिता देवसगम प्राप्ता । अधिकम् अतिशयेन[2] ॥७१॥ इतीति—इह पर्वते रन्तु जिनस्य मतिरासीत् । जिनस्य कथंभूतस्य । प्रशमितवृजिनस्य प्रशमितपापस्य । क्व सति । स्वर्गिनाथे इति पूर्वोक्त वचनमुदार भाषमाणे सति । कया । मुदा हर्षेण । अरमतिशयेन । तथा वीक्ष्य च। काम् । आली पङ्क्तिम् । केषाम् । अलीनाम् । कथभूतामालीम् । कुसुमलीनाम् । कासु । ततिषु पङ्क्तिषु । केषाम् । नगाना वृक्षाणाम् । पुनरपि किंविशिष्टा घनगाना घन गान शब्दो यस्या' सा तथाभूता[3] ॥७२॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयश कीर्तिविरचितायां सन्देहध्वान्त-
दीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकायामेकादश' सर्ग ॥११॥

अनुगामी हो रहे हैं इन सब कारणोंसे जान पड़ता है कि शरद् ऋतु आ गयी है ॥७०॥ जिस प्रकार प्रत्यंचा रूप लता धनुषके पास जाती है उसी प्रकार भ्रमरोंकी पंक्ति जलमें प्रफुल्लित कमलोंके पास पहुँच गयी है, यही कारण है कि इस शरद् ऋतुके समय अप्सराओंकी पंक्ति कामदेवके बाणोंसे खण्डित हो देवोंकी अधिकाधिक संगति कर रही है ॥७१॥ इस प्रकार इन्द्रने जब आनन्दके साथ उत्कृष्ट वचन कहे तब फूलोंमें छिपी मधुर गान करने वाली भ्रमर-पंक्तिको देख पापरहित जिनेन्द्रदेवकी वृक्ष समुदायके बीच क्रीड़ा करनेकी इच्छा हुई ॥७२॥

इस प्रकार महाकवि श्रीहरिचन्द्र द्वारा विरचित धर्मशर्माभ्युदय नामक महाकाव्यमें ऋतुओंका
वर्णन करनेवाला ग्यारहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥११॥

---

१. के इति अधिकम् अधिजलम् अव्ययीभावसमास । २ द्रुतविलम्बितवृत्तम् । ३ मालिनीच्छन्द ।

द्वादशः सर्गः

दिदृक्षया काननसपदा पुरादथायमिक्ष्वाकुपतिर्विनिर्ययौ ।
विधीयतेऽन्योऽप्यनुयायिना गुणै समाहित. किं न तथाविध प्रभु ॥१॥
बभूव यत्पुष्पवतीमृतुक्षणे वनस्थली सेवितुमुत्सुको जन ।
अचिन्तितात्मक्रमविप्लवो महान्मनोऽनुराग खलु तत्र कारणम् ॥२॥
विकासिपुष्पद्रुणि कानने जना प्रयातुमीषु सह कामिनीगणै ।
स्मरस्य पञ्चापि न पुष्पमार्गणा भवन्ति सह्या किमसख्यता गता ॥३॥
बभौ तदारक्तमलक्तकद्रवैर्वधूजनस्याङ्घ्रिसरोरुहद्वयम् ।
पथि स्थलाम्भोरुहकोटिकण्टकक्षतक्षरच्छोणितसचयैरिव ॥४॥
गतागतेषु स्खलित वितन्वता नितम्बभारेण सम जडात्मना ।
भुजौ सुवृत्तावपि कङ्कणक्वणै किलाङ्गनाना कलह प्रचक्रतु ॥५॥

दिदृक्षयेति—अथानन्तरमसाविक्ष्वाकुवशतिलको वनलक्ष्मीणा द्रष्टुमिच्छया नगरान्निर्जगाम । युक्तमेतत्-सदासेवकाना सेवागुणैरितरप्रायोऽप्युपरुध्यते किं पुन स विवेककरुणानिधि प्रभु [2] ॥१॥ बभूवेति—यत् पुष्पिता वनस्थली विहर्तुमना लोक उत्सुको बभूव तत्रार्थे मनोऽनुरागो हेतु । न चिन्तित आत्मक्रमयोर्विप्लव स्खलनादिक यत्र तथा । यथा कस्यचित्कामुकस्यातिविषयलौल्यादृतुसमये पुष्पमयीमपि स्त्रिय भजमानस्य न निजकुलविप्लवचिन्ता ॥२॥ विकासतीति—विकसत्पुष्पवृक्षकदम्बकवने सकामिनीका जना जिगमिषाचक्रु । अन्यथा कामिनीभिर्विना कामपुष्पबाणपञ्चकमपि सोढु न पार्यते किमुत वन व्याप्य तस्थिवास पुष्पबाणसमूहा । स्त्रिय विना प्रभूतपुष्पवनदर्शन पीडाकरमेव ॥३॥ बभाविति—तदा पुष्पावचयागमने यावकलिप्तं चरणयुगल कामिनीना शुशुभे । स्थलकमलकर्णिकागर्भनिर्भरसचरणेन पीडितनिर्गलितशोणितच्छटारुणितमिव । कामिनी-पदानामतिसौकुमार्यवर्णनम् ॥४॥ गतेति—तदा तन्वीना भुजौ कङ्कणक्वणितै कलहमिव नितम्बभारेण सह विदधाते । किं कारण कलहस्येत्याह—सरसभावोपेतो नितम्बभारो लीलगमनागमनेषु अतिपरिणाहित्वाद्भुज-

तदनन्तर इक्ष्वाकुवशके अधिपति भगवान् धर्मनाथ वन-वैभव देखनेकी इच्छासे नगरसे बाहर निकले सो ठीक ही है क्योंकि जब साधारण मनुष्य भी अनुयायियोंके अनुकूल प्रवृत्ति करने लगते हैं तब गुणशाली उन प्रभुका तो कहना ही क्या है ? ॥१॥ उस ऋतुकालमे पुष्पवती वनस्थली [पक्षमे मासिक धर्म वाली स्त्री] का सेवन करनेके लिए जो मनुष्य उत्कण्ठित हो उठे थे उसमे अपने क्रमों—चरणोंके विप्लव—स्खलन आदिकी [पक्षमें स्वकुल-विघात अथवा स्वकीय पुरुषत्व हानिकी] चिन्तासे रहित मनका बडा भारी अनुराग ही कारण था ॥२॥ खिले हुए पुष्प-वृक्षोंसे युक्त वनमें मनुष्योंने स्त्री समूहके साथ ही जाना अच्छा समझा क्योंकि जब कामके पॉच ही बाण सह्य नहीं होते तब असख्यात बाण सह्य कैसे हो सकेंगे ॥३॥ उस समय महावरसे रँगे हुए स्त्रियोंके चरण-कमलोंका युगल ऐसा जान पडता था मानो गुलाबके अग्रभागके कण्टकसे क्षत हो जाने के कारण निकलते हुए रक्तके समूहसे ही लाल-लाल हो रहा था ॥४॥ स्त्रियोंकी भुजाएँ यद्यपि सुवृत्त थीं—गोल थीं [पक्षमे सदाचारी

१ जनस्याङ्घ्रि घ० म० । २ वशस्थवृत्तम् ।

गुणलतेव धनुर्भ्रमरावली शरदि तामरसं गमिताधिकम्[1] ।
ततिरतोऽप्सरसा कुसुमेषुणा शरदितामरसङ्गमिताधिकम् ॥७१॥
इति वचनमुदार भाषमाणे मुदार
प्रशमितवृजिनस्य स्वर्गिनाथे जिनस्य ।
मतिरिह घनगाना रन्तुमासीन्नगाना
ततिषु कुसुमलीना वीक्ष्य पालीमलीनाम् ॥७२॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्य ऋतु-
वर्णनो नामैकादशः सर्गः ॥११॥

यच्चन्द्रकला पयोदलेशेनाच्छादिता नास्ति ।। येन च कारणेन कलापिनो मयूरास्ते मन्दरसानुगतास्तेन शरत्प्रवृत्ति सभाव्यत इत्यर्थ ॥७०॥ गुणेति—शरदि काले अधिक पानीयमधिलक्ष्मीकृत्य तामरस पद्म भ्रमरावली गमिता प्रापिता कुसुमेषुणा गुणलतेव धनु यथा मौर्वी धनु प्राप्यते तथालिपङ्क्ति पद्म प्रापिता । अतोऽप्सरसा तति कुसुमेषुणा शरदिता बाणखण्डिता सती अमरसगमिता देवसगम प्राप्ता । अधिकम् अतिशयेन[2] ॥७१॥ इतीति—इह पर्वते रन्तुं जिनस्य मतिरासीत् । जिनस्य कथभूतस्य । प्रशमितवृजिनस्य प्रशमितपापस्य । क्व सति । स्वर्गिनाथे इति पूर्वोक्त वचनमुदारं भाषमाणे सति । कया । मुदा हर्षेण । अरमतिशयेन । तथा वीक्ष्य च। काम् । आली पङ्क्तिम् । केषाम् । अलीनाम् । कथभूतामालीम् । कुसुमलीनाम् । कासु । ततिषु पङ्क्तिषु । केषाम् । नगाना वृक्षाणाम् । पुनरपि किंविशिष्टा घनगाना घन गान शब्दो यस्या' सा तथाभूता[3] ॥७२॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयश कीर्तिविरचितायां सन्देहध्वान्त-
दीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकायामेकादशः सर्गः ॥११॥

अनुगामी हो रहे हैं इन सब कारणोंसे जान पड़ता है कि शरद् ऋतु आ गयी है ॥७०॥ जिस प्रकार प्रत्यंचा रूप लता धनुषके पास जाती है उसी प्रकार भ्रमरोंकी पंक्ति जलमें प्रफुल्लित कमलोंके पास पहुँच गयी है, यही कारण है कि इस शरद् ऋतुके समय अप्सराओंकी पंक्ति कामदेवके बाणोंसे खण्डित हो देवोंकी अधिकाधिक सगति कर रही है ॥७१॥ इस प्रकार इन्द्रने जब आनन्दके साथ उत्कृष्ट वचन कहे तब फूलोंमे छिपी मधुर गान करने वाली भ्रमर-पंक्तिको देख पापरहित जिनेन्द्रदेवकी वृक्ष समुदायके बीच क्रीडा करनेकी इच्छा हुई ॥७२॥

इस प्रकार महाकवि श्रीहरिचन्द्र द्वारा विरचित धर्मशर्माभ्युदय नामक महाकाव्यमें ऋतुओंका
वर्णन करनेवाला ग्यारहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥११॥

---

१ के इति अधिकम् अधिजलम् अव्ययीभावसमास. । २ द्रुतविलम्बितवृत्तम् । ३ मालिनीच्छन्द ।

द्वादशः सर्गः

दिदृक्षया काननसपदा पुरादथायमिक्ष्वाकुपतिर्विनिर्ययौ ।
विधीयतेऽन्योऽप्यनुयायिना गुणै समाहितः किं न तथाविध प्रभु ॥१॥
बभूव यत्पुष्पवतीमृतुक्षणे वनस्थली सेवितुमुत्सुको जन ।
अचिन्तितात्मक्रमविप्लवो महान्मनोऽनुराग खलु तत्र कारणम् ॥२॥
विकासिपुष्पद्रुणि कानने जना प्रयातुमीषु सह कामिनीगणै ।
स्मरस्य पञ्चापि न पुष्पमार्गणा भवन्ति सह्या किमसख्यता गता ॥३॥
बभौ तदारक्तमलक्तकद्रवैर्वधूजनस्याङ्घ्रिसरोरुहद्वयम् ।
पथि स्थलाम्भोरुहकोटिकण्टकक्षतक्षरच्छोणितसचयैरिव ॥४॥
गतागतेषु स्खलित वितन्वता नितम्बभारेण सम जडात्मना ।
भुजौ सुवृत्तावपि कङ्कणक्वणै किलाङ्गनाना कलह प्रचक्रतु ॥५॥

दिदृक्षयेति—अथानन्तरमसाविक्ष्वाकुवशतिलको वनलक्ष्मीणा द्रष्टुमिच्छया नगरान्निर्जगाम । युक्तमेतत्-सदासेवकाना सेवागुणैरितरप्रायोऽप्युपरुध्यते किं पुन स विवेककरुणानिधि प्रभु [2] ॥१॥ बभूवेति—यत् पुष्पिता वनस्थली विहर्तुमना लोक उत्सुको बभूव तत्रार्थे मनोऽनुरागो हेतु । न चिन्तित आत्मक्रमयोर्विप्लव स्खलनादिक यत्र तथा । यथा कस्यचित्कामुकस्यातिविषयलौल्यादृतुसमये पुष्पमयीमपि स्त्रिय भजमानस्य न निजकुलविप्लवचिन्ता ॥२॥ विकासतीति—विकसत्पुष्पवृक्षकदम्बकवने सकामिनीका जना जिगमिषाचक्रु । अन्यथा कामिनीभिर्विना कामपुष्पबाणपञ्चकमपि सोढु न पार्यते किमुत वन व्याप्य तस्थिवास पुष्पबाणसमूहा । स्त्रिय विना प्रभूतपुष्पवनदर्शन पीडाकरमेव ॥३॥ बभाविति—तदा पुष्पावचयागमने यावकलिप्त चरणयुगल कामिनीना शुशुभे । स्थलकमलकर्णिकागर्भनिर्भरसचरणेन पीडितनिर्गलितशोणितच्छटारुणितमिव । कामिनी-पदानामतिसौकुमार्यवर्णनम् ॥४॥ गतेति—तदा तन्वीना भुजौ कङ्कणक्वणितै कलहमिव नितम्बभारेण सह विदधाते । किं कारण कलहस्येत्याह—सरसभावोपेतो नितम्बभारो लीलगमनागमनेषु अतिपरिणाहित्वाज्जङ्घ-

तदनन्तर इक्ष्वाकुवशके अधिपति भगवान् धर्मनाथ वन-वैभव देखनेकी इच्छासे नगरसे बाहर निकले सो ठीक ही है क्योंकि जब साधारण मनुष्य भी अनुयायियोंके अनुकूल प्रवृत्ति करने लगते हैं तब गुणशाली उन प्रभुका तो कहना ही क्या है ? ॥१॥ उस ऋतुकालमे पुष्पवती वनस्थली [पक्षमें मासिक धर्म वाली स्त्री] का सेवन करनेके लिए जो मनुष्य उत्कण्ठित हो उठे थे उसमें अपने क्रमों—चरणोंके विप्लव—स्खलन आदिकी [पक्षमे स्वकुल-विघात अथवा स्वकीय पुरुषत्व हानिकी] चिन्तासे रहित मनका बडा भारी अनुराग ही कारण था ॥२॥ खिले हुए पुष्प-वृक्षोंसे युक्त वनमे मनुष्योंने स्त्री समूहके साथ ही जाना अच्छा समझा क्योंकि जब कामके पॉच ही बाण सह्य नहीं होते तब असख्यात बाण सह्य कैसे हो सकेंगे ॥३॥ उस समय महावरसे रॅगे हुए स्त्रियोंके चरण-कमलोंका युगल ऐसा जान पडता था मानो गुलाबके अग्रभागके कण्टकसे क्षत हो जाने के कारण निकलते हुए रक्तके समूहसे ही लाल-लाल हो रहा था ॥४॥ स्त्रियोंकी भुजाऍ यद्यपि सुवृत्त थीं—गोल थीं [पक्षमे सदाचारी

१. जनस्याङ्घ्रि घ० म० । २ वशस्थवृत्तम् ।

गुरुस्तनाभोगभरेण मध्यतः कृशोदरीयं झटिति त्रुटिष्यति ।
इतीव काञ्ची कलकिङ्किणीक्वणैर्मृगीदृशः पूत्कुरुते स्म वर्त्मनि ॥६॥
नितम्बसंवाहनबाहुलालनश्रमोदभारापनयादिभिर्घनैः ।
चटूनि चक्रे मुहुरेणचक्षुषां विचक्षणो दक्षिणमारुतः पथि ॥७॥
प्रवालशालिन्यनपेतविभ्रमा नितान्तमुच्चैस्तनगुच्छलाञ्छिता ।
सलीलमुद्यत्तरुणावलम्बिता ययौ[1] वनं कापि लतेव जङ्गमा ॥८॥
नितम्बबिम्बप्रसराहतक्रमः कुचस्थलीताडनमूर्च्छितश्च यः ।
विलासिनीनां मलयाद्रिमारुतः स जीव्यते स्म श्वसितानिलैः पथि ॥९॥

लतानां स्खलितं करोति । अन्योऽपि यो मार्गे गच्छता मूर्खः पादादिकमन्तरेण निक्षिप्य स्खलितं करोति तेन सार्द्धं सुवृत्तानां सुशीलानामप्युच्चावचं स्यात् ॥५॥ गुरुस्तनेति—इयं मुष्टिमेयमध्या शातोदरी महास्तनमण्डलाभोगभरेण मध्ये चलन्ती झटिति त्रुटिष्यति विघटिष्यते । इति पूत्कारयन्निव काञ्चीकलापो रणज्झणायते । कस्याश्चिन्मृगास्या अतिललितावलग्नवर्णनम् ॥६॥ नितम्बेति—पथि श्रान्तानां मृगाक्षीणां दक्षिणानिलो बहूनि चाटूनि चकार श्रमजाम्भोनिराकरणादिभिः कर्मभिः । यथा कश्चिच्चतुरोऽङ्गसंवाहनादिव्याजेनाभिलषितं पूरयति ॥७॥ प्रवालेति—काचित्तन्वी संचारिणीलतेव वनं जगाम, कुन्तलशालिनी पल्लवशालिनी च, सविलासा भ्रमरचुम्बिता च, उच्चैस्तना एव गुच्छाः पुष्पस्तवकास्तैर्मण्डिता तरुणे यूनि अवलम्बिता वर्द्धमानवृक्षेण[2] ॥८॥ नितम्बेति—यो दक्षिणानिलो नितम्बचक्रपरिणाहेन स्खलितप्रचारः स्तनपर्वततटीताडनेन च मूर्च्छां गतः स खिन्नानां विलासिनीनां निःश्वासैर्जीवयाचकार सविशेषतरो बभूवेत्यर्थः ।

थीं] फिर भी आने-जानेमें रुकावट डालनेवाले जड-स्थूल [पक्षमें धूर्त] नितम्बके साथ कंकणोंकी ध्वनिके बहाने मानो कलह कर रही थीं ॥५॥ मार्गमें चलते समय किसी मृगनयनीकी करधनी किंकिणियोंके मनोहर शब्दोंसे ऐसी जान पडती थी मानो वह यह जान कर रो ही रही थी कि यह कृशोदरी स्थूल स्तनमण्डलके बोझके कारण मध्यभागसे जल्दी ही टूट जायेगी ॥६॥ मार्गमें दक्षिणका पवन चतुर नायककी भाँति नितम्बसंमर्दन, भुजाओंका गुदगुदाना एवं पसीना दूर करना आदि क्रियाओंसे मृगनयनी स्त्रियोंकी बार-बार चापलूसी कर रहा था ॥७॥ कोई स्त्री चलती-फिरती लताके समान लीलापूर्वक वनको जा रही थी। क्योंकि जिस प्रकार लता प्रवालशालिनी—उत्तमपल्लवोंसे सुशोभित होती है उसी प्रकार स्त्री भी प्रवालशालिनी—उत्तम केशोंसे सुशोभित थी। जिस प्रकार लता अनपेतविभ्रमा—पक्षियोंके संचारसे सहित होती है उसी प्रकार स्त्री भी अनपेतविभ्रमा—विलास चेष्टाओंसे सहित थी। जिस प्रकार लता उच्चैस्तनगुच्छलाञ्छिता—ऊँचे भागमें लगे हुए गुच्छोंसे सहित होती है उसी प्रकार स्त्री भी उच्चैस्तनगुच्छलाञ्छिता—गुच्छोंके समान सुशोभित उन्नत स्तनोंसे सहित थी और जिस प्रकार लता उद्यत्तरुणावलम्बिता—उन्नत वृक्षसे अवलम्बित होती है उसी प्रकार स्त्री भी उद्यत्तरुणावलम्बिता—उत्कृष्ट तरुण पुरुषसे अवलम्बित थी ॥८॥ मार्गमें मलय पर्वतका जो वायु स्त्रियोंके नितम्बस्थलके आघातसे रुक गया था तथा स्तनोंके ताड़नसे मूर्च्छित हो गया था वह उन्हींके श्वास-निःश्वाससे जीवित हो गया था ॥९॥

१ वनं ययौ घ० म० । २ अत्रेदं सुगमं व्याख्यानम्—तदा कापि मृगाक्षी जङ्गमा गतिशीला लतेव वल्लरीव वनमरण्यं सलीलं यथा स्यात्तथा ययौ जगाम । अथोभयोः सादृश्यमाह—प्रवालशालिनी प्रवालैः प्रकृष्टकेशैः शालते शोभते इत्येवंशीला मृगाक्षी, प्रवालैः किसलयैः शालते इत्येवंशीला लता । अनपेतविभ्रमा न अपेता अनपेता अरहिता सहिता इत्यर्थः अनपेता विभ्रमा विलासा यस्याः सा मृगाक्षी, वीनां पक्षिणां भ्रमाः संचारा विभ्रमाः अनपेताः सहिताः विभ्रमाः यस्याः तथाभूता लता । नितान्तमतिशयेन उच्चैः तारुण्यभारेणो-

प्रियस्य कण्ठार्पितबाहुबन्धना पथि स्खलन्ती विनिमीलनाद्दृशो ।
प्रकाशयन्तीव मनोभवान्धता जगाम काचिद्वनमेणलोचना ॥१०॥
यथाभवन्नूपुरपाणिकङ्कणक्वणप्रगल्भो मणिकिङ्किणीरव ।
उपेयुषीणा वनमेणचक्षुषा तथा पुरो लास्यमधत्त मन्मथ[1] ॥११॥
उदञ्चति भ्रूलतिका मुहुर्मुहुः प्रकम्पते तन्वि यदोष्ठपल्लव ।
अवैमि[2] तेन स्मितपुष्पशातनो[3] विजृम्भते ते हृदि मानमारुत ॥१२॥
जगज्जनानन्दविधायिनि क्षणे वृथा त्वयारम्भि मृगाक्षि विग्रह ।
मनस्विनीना सुलभाभिमानता महानृतुप्रक्रम एष दुर्लभ ॥१३॥
अथापराद्ध दयितेन कुत्रचिद्विनोपपत्त्येति तवाकुल मन ।
परस्पर प्रेमसमुन्नति गत भयानि भामिन्यपदेऽपि पश्यति ॥१४॥
अनन्यनारीप्रणयिन्यपि त्वया यदागसा चिह्नमदर्शि स भ्रम ।
रसेन यस्त्वामभितोऽपि वीक्षते कथ स ते विप्रियमाचरिष्यति ॥१५॥

नितम्बस्तनतटयोरतिपरिणाहसूचने ॥९॥ प्रियस्येति—काचित्कान्तकण्ठावलम्बिनी लीलानिमीलितलोचना पथि पौन पुन्येन स्खलन्ती अतएव कामान्धता प्रकटयन्तीव जगाम ॥१०॥ यथेति—यथा यथा मञ्जरिकरकङ्कणक्वाणप्रगल्भो मेखलामणिक्षुद्रघण्टिकारव सबभूव वन गच्छन्तीना मृगाक्षीणा पुरतस्तथा तेन लयेन मदनो नट इव ननाट। कङ्कणादिक्वाणेन काम सहस्रधा जागरयन्त्योऽवजग्मुरिति भाव ॥११॥ उदञ्चतीति—यथेय भ्रूलतिका उदञ्चति विभ्रमयति ऊर्ध्वं चेष्टते यथा च विम्बाधर कम्पते तथा जाने ते हृदि मानपवन प्रवर्तते हास्यपुष्पपातन.। वायौ वाति लता पल्लवाश्चलन्ति पुष्पाणि पतन्ति च ॥१२॥ जगदिति—अस्मिंस्त्रिभुवनमहोत्सवकारिणि ऋतुसमये त्वयात्मसुखविनाशाय कलह आरब्ध। किन्त्वान्यदैव मान स्यादय वसन्तोत्सवस्तु सर्वदा दुर्लभ ॥१३॥ अथेति—हे भामिनि! तव मन प्रेमपरवशता गत युक्तिमन्तरेणापि व्याकुल सत् मम कान्तोऽन्या भजतीति भयस्थान पश्यति पर न दयिते किमप्यपराधस्थान पश्यामि ॥१४॥ अनन्येति—यत्त्वया तस्य किमप्यपराधस्थान दृष्ट स भ्रमो मिथ्या यतोऽसौ नान्या नारी प्रति स्निह्यति। यश्च

कोई मृगलोचना पतिके गलेमे भुजबन्धन डाल नेत्रोंके बन्द होनेसे गिरती-पडती मार्गमे इस प्रकार जा रही थी मानो कामसे होने वाली अन्धताको ही प्रकट कर रही हो ॥१०॥ वन जाने वाली मृगलोचनाओंके नूपुर और हस्तकंकणोंके शब्दसे मिश्रित रत्नमयी किंकिणिकाओं का जैसा-जैसा शब्द होता था वैसा-वैसा ही कामदेव उनके आगे नृत्य करता जाता था ॥११॥ हे तन्वि! तेरी भृकुटी रूप लता बार-बार ऊपर उठ रही है और ओष्ठ रूप पल्लव भी कॉप रहा है इससे जान पडता है कि तेरे हृदयमे मुसकान रूप पुष्पको नष्ट करने वाला मान रूप वायु बढ रहा है ॥१२॥ हे मृगनयनि! इस समय, जो कि ससारके समस्त प्राणियोंको आनन्द करने वाला है, तू ने व्यर्थ कलह कर रखी। मानवती स्त्रियोंको अभिमान सदा सुलभ रहता है परन्तु यह ऋतुओंका क्रम दुर्लभ होता है ॥१३॥ पतिसे किसी अन्य स्त्रीके विषयमे अपराध बन पडा है—इस निर्हेतुक बातसे ही तेरा मन व्याकुल हो रहा है। पर हे भामिनि! यह निश्चित समझ कि परस्पर उन्नतिको प्राप्त हुआ प्रेम अस्थानमे भी भय देखने लगता है ॥१४॥ अन्य स्त्रीमे प्रेम करने वाले पतिमें जो तूने अपराधका

न्नतौ यौस्तनौ गुच्छाविव पुष्पस्तवकाविव ताभ्या लाञ्छिता सहिता मृगाक्षी, उच्चैर्भवा उच्चैस्तना ये गुच्छा पुष्पस्तवकास्तैर्लाञ्छिता सहिता लता। उद्यश्चासौ तरुणश्च युवा चेत्युद्यत्तरुणस्तेनावलम्बिता धृता मृगाक्षी, उद्यश्चासौ तरुश्चेत्युद्यत्तरुर्वर्धमानवृक्षस्तेनावलम्बिताश्रिता लता। श्लिष्टोपमालकार ॥८॥

१ मन्मथम् छ०। २ अवैम म० छ०। ३ पुष्पपातनो छ०।

अपास्तपीयूषमयूखशोभया प्रभातकान्त्येव वियुक्तया त्वया ।
अनुज्झितस्नेहभरः स सप्रति प्रपद्यते दीप इवाभिपाण्डुताम् ॥१६॥
कृतेर्ष्ययेव त्वयि दत्तचेतसो गतं क्षुधेव क्वचिदस्य निद्रया ।
मुखस्य ते दास्यमिवागतोऽधुना शशी स शीतोऽपि ददाह तद्वपु ॥१७॥
ध्रुवं वियोगे कुसुमेषुमार्गणैस्तवापि भिन्न हृदय विभाव्यते ।
अमी समुल्लासितसारसौरभा स्फुरन्ति निःश्वाससमीरणा कुत ॥१८॥
तदस्तु सन्धिर्युवयो प्रसीद नः प्रतप्तयोरायसपिण्डयोरिव ।
सखीभिरित्थ गदितानुकूलयाचकार कान्त किल कापि कामिनी ॥१९॥

[सप्तभि कुलकम्]

विभिद्य मान कलकोकिलस्वने मनोऽनुराग मिथुनेषु तन्वति ।
कुतूहलादेव स केवल तदा धनुर्धुनीते स्म जगज्जयी स्मर ॥२०॥
त्रिनेत्रसग्रामभरे पलायितः स्मरस्य विश्वासपद कथ मधुः ।
उमार्पितप्रत्यय एष मन्यते विलासिनीर्जीवितदानपण्डिता ॥२१॥

पृष्ठत पुरत पार्श्वत सर्वतो वा त्वामग्रस्थिता पश्यति स कथमन्यामभिसरति ॥१५॥ अपास्तेति—हे तन्वि। साम्प्रत निरपराधबाधितस्त्वत्प्रियो विरहवेदनावशात्पाण्डुरतामापद्यते जितचन्द्रश्रिया त्वया विमुक्तोऽक्षीणप्रेमानुबन्ध । यथा प्रभातेऽरुणच्छायया दीप पाण्डुरता याति ॥१६॥ कृतेर्ष्येति—अस्य निद्रया क्वचित्पलाय्य गतम् । किंविशिष्टस्य । त्वयि दत्तचित्तस्य । अतश्च कृतकोपयेव । न केवल निद्रया तथैव तव सापत्न्याद् बुभुक्षयापि । अय च चन्द्र पीयूषकिरणोऽपि त्वन्मुखकर्मकर इव तद्देहमधाक्षीत् ॥१७॥ ध्रुवमिति—निश्चितमहमेव मन्ये तद्विरहे कामकाण्डैस्तवापि हृदय विदारित कामपुष्पबाणास्तव हृदये प्रविश्य शल्यवत् स्थिता. । अन्यथा पद्मसौरभशालिनो नि श्वासवाता कुतो निर्यान्ति ॥१८॥ तदिति—ततश्चण्डि ! विरहतप्तयोर्युवयोस्तप्तलोहखण्डयोरिव सधानमस्तु इत्यस्माक प्रसाद क्रियतामिति सोपरोध प्रियसखीभिरनुनीता काचित्कामिनी मनस्विनी प्राणनाथमभिजगाम ॥१९॥ विभिद्येति— तदा स्त्रैणेषु पौंस्नेषु च पुस्कोकिलकूजिते मनोऽनुराग तन्वाने कामकोदण्डकार्यं कृतमेव कामस्तु केवल धनुरास्फालनकौतुकात् धुनीते टणत्कारयति प्रत्यञ्चामाकर्षतीत्यर्थ ॥२०॥ त्रिनेत्रेति—अय वसन्त कामस्य कथ नाम विश्वासस्थान स्यात् यतोऽसौ शङ्कर-

चिह्न देखा है वह तेरा निरा भ्रम है क्योंकि जो स्नेहसे तुझे सब ओर देखा करता है वह तेरे विरुद्ध आचरण कैसे कर सकता है ? ॥१५॥ जिस प्रकार स्नेह—तेलसे भरा हुआ दीपक चन्द्रमाकी शोभाको दूर करने वाली प्रातःकालकी सुषमासे सफेदीको प्राप्त हो जाता है—निष्प्रभ हो जाता है उसी प्रकार स्नेह—प्रेमसे भरा हुआ तेरा वल्लभ भी चन्द्रमाकी शोभाको तिरस्कृत करने वाली तुझ दूरवर्तिनीसे सफेद हो रहा है—विरहसे पाण्डुवर्ण हो रहा है ॥१६॥ उसने अपना चित्त तुझे दे रखा है इस ईर्ष्यासे ही मानो उसकी भूख और निद्रा कहीं चली गयी है और यह चन्द्रमा शीतल होने पर भी मानो तुम्हारे मुखकी दासताको प्राप्त हो कर ही निरन्तर उसके शरीरको जलाता रहता है ॥१७॥ मालूम होता है उसके वियोगमे तुम्हारा हृदय भी तो कामके बाणोंसे खण्डित हो चुका है अन्यथा श्रेष्ठ सुगन्धिको प्रकट करने वाले ये निःश्वासके पवन क्यों निकलते ? ॥१८॥ अतः मुझ पर प्रसन्न होओ और सतप्त लोहपिण्डोंकी तरह तुम दोनोंका मेल हो—इस प्रकार सखियों द्वारा प्रार्थित किसी स्त्रीने अपने पतिको अनुकूल किया था—कृत्रिम कलह छोड़ उसे स्वीकृत किया था ॥१९॥ उस समय जब कि कोयलकी मीठी कूक मान नष्ट कर स्त्री-पुरुषोंका मानसिक अनुराग बढा रही थी तब जगद्विजयी कामदेव केवल कौतुकसे ही धनुष हिला रहा था ॥२०॥ महादेवजीके युद्धके समय भागा हुआ वसन्त कामदेवका विश्वासपात्र कैसे

विवर्णता लोकबहिस्थिति पिका मधु प्रभुद्रोहिणमाश्रिता ययु ।
नतभ्रुवा पादयुगस्य पङ्कज समाश्रितच्छायमभूत्पद श्रिय ॥२२॥

तरूंन्निषङ्गानिव बिभ्रतामुना स्मरस्य पौष्पा कति नार्पिता शराः ।
पर तथाप्येष जगज्जये वधूकटाक्षमेवेषुममन्यत क्षमम् ॥२३॥

वसन्तलीलामलयानिलादिभि सम मनोभू समयेन युज्यते ।
निरन्तर तस्य समस्तदिग्जये सहायभाव सुदृशो वितन्वते ॥२४॥

इति प्रसङ्गादुपलालिता[1] प्रियै स्वशक्तिमाव र्ण्य मधुप्रवर्पिणीम् ।
स्वरूपगर्वोद्धुरकन्धरा स्खलत्पदप्रचार पथि जग्मुरङ्गना ॥२५॥
[पञ्चभि कुलकम्]

प्रभोदयाह्लादितलोकलोचनो विलासिनीभि परिवारितस्तत ।
शशीव ताराभिरलङ्कृतो घन वन विवेशोत्तरकोसलेश्वर ॥२६॥

सग्रामकाले काममोच प्रणष्ट परमेता कामिन्यो जीवितदानसमर्था इति कामो मन्यते यतोऽसावुमार्पितप्रत्ययो गौरीदृष्टप्रत्यय । गौरीविवाहे पुनर्जीवित इत्यर्थ ॥२१॥ विवर्णतामिति—तत शिवसग्रामपलायित वसन्त स्मरस्वामिद्रोहक ये कोकिला सेवन्ते ते सर्वलोकनिन्दिता कृष्णतामापु । यानि तु स्मरप्रत्युज्जीविनीना विलासिनीना चरणकमलच्छायामाश्रितवन्ति पङ्कजानि तानि सर्वलोकप्रतीता लक्ष्मीस्थानता जग्मु ॥२२॥ तरूनिति— अमुना वसन्तेनानुनयचाटुकोटिं कुर्वता सहकारप्रभृतिवृक्षान् भस्त्रकानिव धारयता कति पुष्पबाणा न प्राभृतीकृता पर तथापि पूर्वप्रघट्टकस्मरणाज्जगज्जये वाणिनीतीक्ष्णकटाक्षभल्लिमेवामोघ शस्त्र मन्यते ॥२३॥ वसन्तेति—वसन्तलीलया मलयानिलेन कोकिलकूजितै सहकारमञ्जरीभिरन्यैरपि रसोद्रेककारकै काम काले परिवार्यते सर्वदा तु लोकजये सहायता मृगाक्ष्य एवापद्यन्ते ॥२४॥ इतीति—इति प्रसङ्गवदन्तीगोचरागतामात्मप्रभावशक्ति सहचरैरुपवर्ण्यमाना श्रुत्वा मार्गे जग्मु ॥२५॥ प्रभेति—तदा प्रभासफलीकृतजननयनो वारवनिताभि परिवारितस्तराभिरिव चन्द्र उत्तरकोसलदेशाधिप सान्द्र वन मेघमिव प्राविक्षत् ॥२६॥ गिरीशेति—गिरौ पर्वते ईश गिरीशस्तस्य लीलावन वनमिति लोकोक्तेस्त्रिनयनानलदाहभीषितो लावण्यामृतकुम्भयोरिव कान्तास्तनयो प्रतीकारहेतुत्वात्समीप स्मरो न मुञ्चति । पक्षे गिरीश पर्वतेश

हो सकता था । हाँ, पार्वतीका विश्वास प्राप्त कर वह स्त्रियोंको अपना जीवन प्रदान करनेमे पण्डित मानता है ॥२१॥ स्वामिद्रोही वसन्तका आश्रय करनेवाली कोकिलाएँ विवर्णता—वर्णराहित्य [पक्षमे कृष्णता] और लोक बहिष्कार [पक्षमे वनवास] को प्राप्त हुईं तथा स्वामिभक्त स्त्रियोंके चरण युगलकी छायाको प्राप्त कमल लक्ष्मीका स्थान बन गया ॥२२॥ तरकसोंकी तरह वृक्षोंको धारण करने वाले इस वसन्तने कामदेवके लिए कितने फूलोंके बाण नहीं दिये ? फिर भी यह जगत्के जीतनेमे स्त्रीके कटाक्षको ही समर्थ बाण मानता है ॥२३॥ कामदेव, वसन्त क्रीडा और मलयसमीर आदिके साथ आचारमात्रसे अथवा तत्तत्समय पर ही मेल रखता है यथार्थमे तो समस्त दिग्विजयके समय स्त्रियाँ ही उसकी निरन्तर सहायता करती हैं ॥२४॥ इस प्रकार स्त्रियाँ प्रकरणवश पतियों द्वारा प्रशंसित वसन्तका तिरस्कार करने वाली अपनी शक्तिको सुन सौन्दर्यके गर्वसे गर्दन ऊँची उठाती हुई लडखडाते पैरोंसे मार्गमें जा रही थीं ॥२५॥ कान्तिके उदयसे मनुष्योंके नेत्रोंको आनन्दित करने वाले एवं विलासिनी-स्त्रियोंसे घिरे उत्तर कोसलाधिपति भगवान् धर्मनाथने वनमे इस प्रकार प्रवेश

---

१ दुपलालिता म० घ० ।

गिरीशलीलावनमित्युपश्रुतेर्भ्रमन्निह प्लोषभयादिव स्मरः।
न कान्तिपीयूषनिधानकुम्भयोर्मुमोच कान्ताकुचयोरुपान्तिकम् ॥२७॥
[1]ध्रुवं त्रिनेत्रानलदाहतः प्रभृत्युदर्चिषि द्वेषमुपागतः स्मरः।
यदत्र सान्द्रद्रुमदीर्घदुर्दिने वने निवासैकरसो बभूव स ॥२८॥
इहाबभौ मारुतधूतकेतकी परागपांसुप्रकरः समन्ततः।
अनङ्गदावानलमीलितात्मना वियोगभाजामिव भस्मसञ्चयः ॥२९॥
इतस्ततः कज्जलकोमला दधौ पुरो भ्रमन्ती भ्रमराङ्गनावलिः।
जगज्जिगीपोर्विषमेषुभूभुजः कराग्रवल्गन्निशितासिविभ्रमम् ॥३०॥
विजित्य बाणैर्मदनस्य कुर्वतः समस्तमेकातपवारणं जगत्।
अभङ्गुरा षट्पदवन्दिनो वने जगुस्तदानीं विरुदावलीमिव ॥३१॥
परागपुञ्जा यदि पुष्पजा अमी न पांसुतल्पाः स्मरमत्तदन्तिनः।
अलिच्छलात्पान्थवधाय धावतः कथं तदन्तस्त्रुटिताङ्घ्रिशृङ्खला[2] ॥३२॥

॥२७॥ [ध्रुवमिति—यत् यस्मात्कारणात् स्मरो मदनो महादेवस्य ललाटलोचनाग्निदाहादारभ्य उद्गतज्वालाके तेजस्विनी पदार्थे द्वेषम् उपागत इति ध्रुवमुत्प्रेक्षायां ततः स सान्द्रद्रुमे सघनतरुभिर्दीर्घं बहुदिनव्याप्य दुर्दिनं मेघाच्छादितदिवसो यस्मिन् तथाभूतेऽत्र वने कान्तारे निवासैकरतो निवासैकतत्परो बभूव[3] ॥२८॥] इहेति—इह पवनोद्धूतः सर्वतः कैतकपरागपांसुप्रकरः शुशुभे कामाग्निदग्धानां विरहिणां चिताभसितराशिरिव ॥२९॥ इतस्तत इति—कज्जलश्यामला भ्रमरश्रेणी वल्गन्ती विभाव्यते रतिपतिनृपतेः खड्गलतेव ॥३०॥ विजित्येति—कामस्य निजपुष्पबाणैर्जगद्वशवर्ति कुर्वतो भ्रमरा मङ्गलपाठका इवास्खलिता यथार्थां विरुदावलीं जयप्रघट्टकश्रेणीं पेठुः ॥३१॥ परागेति—यद्येते मकरन्दसन्दोहाः स्मरस्य मत्तहस्तिनः पांसुतल्पाः शय्यानिभा न भवन्ति ततः कथमेषा मधुपावलिः पान्थवधाय प्रवरीवृत्यमानस्यास्य त्रुटिता त्रिवली

किया जिस प्रकार कि ताराओंसे अलंकृत चन्द्रमा मेघमें प्रवेश करता है ॥२६॥ यह गिरीश—महादेवजीका [पक्षमें भगवान् धर्मनाथका] क्रीडावन है ऐसा सुननेसे वहाँ घूमता हुआ कामदेव मानो दाहके भयसे ही कान्तिरूप अमृतके कोश-कलशके समान सुशोभित स्त्रियोंके स्तनोंका सन्निधान नहीं छोड रहा था ॥२७॥ ऐसा जान पडता है कि कामदेव जबसे महादेवजीके नेत्रानलसे जला तबसे प्रज्वलित अग्निमें द्वेष रखने लगा था। यही कारण है कि वह सघन वृक्षोंसे जिसमें सदा दुर्दिन बना रहता है ऐसे इस वनमें निवास करनेका प्रेमी हो गया था ॥२८॥ इस वनमें जो सब ओर वायुके द्वारा कम्पित केतकी परागरूपी धूलिका समूह उड़ रहा था वह ऐसा जान पडता था मानो कामरूप दावानलसे जले विरही मनुष्योंकी भस्मका समूह ही हो ॥२९॥ इधर-उधर घूमती कज्जलके समान काली भ्रमरियोंकी पंक्ति जगद्विजयी मदन महाराजके हाथमें लपलपाती पैनी तलवारका भ्रम धारण कर रही थी। ॥३०॥ उस समय वनमें ऐसा जान पडता था मानो भ्रमररूपी चारण बाणोंके द्वारा समस्त संसारको जीत एकच्छत्र करनेवाले कामभूपालकी मानो अविनाशी विरुदावली ही गा रहे हों ॥३१॥ यदि यह परागके समूह फूलोंके हैं, कामरूप मत्त हस्तीके धूलिमय विस्तर नहीं हैं तो यह भ्रमरोंके बहाने, पथिकोंको मारनेके लिए दौड़नेवाले उस हाथीकी पादशृंखला—

१ टीकायां सप्तविंशतितमश्लोकव्याख्यानन्तरम् 'अग्रेतनश्लोकद्वयं सुगमम्' अष्टाविंशतितमस्य श्लोकस्य व्याख्या न प्रदत्ता। एकोनत्रिंशत्तमस्य तु संक्षेपेण प्रदत्ता। २ ताड्घ्रिशृङ्खला म० घ०। ३ टीकेयं सम्पादकेन मेलिता।

ददत्प्रवालौष्ठमुपात्तयौवनो मधु प्रसूनाशुककर्षणोत्सुक ।
लतावधूनामिह सगमे जनैरदर्शि कूजन्निव कोकिलस्वने ॥३३॥
शिखण्डिना ताण्डवमत्र वीक्षितु तवास्ति चेच्चेतसि तन्वि कौतुकम् ।
समाल्यमुद्दामनितम्बचुम्बिन सुकेशि तत्सवृणु केशसञ्चयम् ॥३४॥

[पड्भि सवन्ध]

जलेपु ते वक्त्रसरोजनिर्जितो जनै स्फुटच्चारुसरोरुहाकर ।
अदर्शि सव्रीड इवोदरे क्षिपन् कृपाणपुत्रीमिव षट्पदावलिम् ॥३५॥
सविभ्रम वीक्ष्य तवेक्षणद्वयं गतं च वाचालितरत्ननूपुरम् ।
महोत्पलैर्वारि निमीलित दिवि ह्रियेव हसैश्च पलायित जवात् ॥३६॥
यदि स्फुरिष्यन्ति तवाधरद्युते पुर कियत्कालमशोकपल्लवा ।
तदाधिगम्यान्तरमुद्यतत्रपा ध्रुव गमिष्यन्ति विवर्णताममी ॥३७॥
भव क्षण चण्डि वियोगिनीजने दयालुरुन्मुद्रय सुन्दरी गिरम् ।
अमी हताशा प्रथयन्तु मूकता कृतान्तदूता इव [1]लज्जिता पिका ॥३८॥

लक्ष्यते ॥३२॥ ददिति—जनैर्लतावधूसगमे वसन्त कोकिलकूजितै कूजन्निव दृष्ट । प्रवाल एव ओष्ठ प्रवालौष्ठस्त ददान । पुष्पपटाकर्षणोत्सुक ॥३३॥ शिखण्डिनामिति—हे तन्वि ! यदि तव मयूरताण्डवावलोकने कौतुकमस्ति तदा पञ्चवर्णपुष्पमाला कवरी तिरोहिता विधेहि । तव कवरी पश्यन् निजपिच्छावचूलेन लज्जमानो मयूरो नीचै पलायते ॥३४॥ जलेष्विति—तव वदननिर्जितो विकसन् कमलाकरो निवारणभयाज्जलेपु प्रविश्य भ्रमरश्रेणीव्याजात्क्षुरिकामिव कुक्षौ निक्षिपन् दृश्यते ॥३५॥ सविभ्रममिति—हे तन्वि ! अनेकविभ्रमनिधान तव लोचनद्वय गमनञ्च रणज्झणितरत्ननूपुर दृष्ट्वा लज्जमानैर्नीलोत्पलै सलिले निमग्न हसैश्च गगने समुड्डीय गतम् । नीलोत्पलाना विभ्रमाभावाद्राजहसानाञ्च तादृग्मनोहरशब्दाभावाल्लज्जास्थानम् ॥३६॥ यदीति—यद्यमी अशोकपल्लवास्तव विम्बाधरस्य पुरत. कियत्काल स्फुरिष्यन्ति तदात्मपरविभाग त्रोटन वा लब्ध्वा मलिनता यास्यन्ति ॥३७॥ भवेति—दु खानुनेया नारी चण्डी । हे चण्डि ! यदि न मा प्रति दयार्द्रासि तदा विरहिणीजने दया कुरु । किं करोमीत्याह—समुच्चर सुधाक्षरा वाणी यतोऽमी विरहमर्मभेदकुठारा कोकिला मौनीभवन्ति यमकिङ्करा इव ॥३८॥

पैरोंकी जंजीर बीचमें ही क्यों टूट जाती ? ॥३२॥ पल्लव रूपी ओठको देता और पुष्परूपी वस्त्रको खींचनेमें उत्सुक तरुण वसन्त ऐसा दिखाई देता था मानो कोयलकी कूकके बहाने लतारूप स्त्रियोंके समागमके समय हर्षसे शब्द ही कर रहा हो ॥३३॥ हे तन्वि ! यदि तेरे चित्तमे यहाँ मयूरोंका ताण्डव नृत्य देखनेका कौतुक है तो हे सुकेशि ! स्थूल नितम्बका चुम्बन करनेवाले इन मालाओं सहित केश-समूहको ढँक ले ॥३४॥ जलमे खिला हुआ सुन्दर कमलोंका समूह तेरे मुख कमलसे पराजित हो गया था इसलिए वह लज्जित हो अपने पेट-मे भ्रमरावली रूप छुरीको भोंकता हुआ सा दिखाई देता था ॥३५॥ तेरे विलासपूर्ण नेत्रोका युगल देख नीलकमल लज्जासे पानीमे जा डूबे और जिसमें मणिमय नूपुर शब्द कर रहे हैं ऐसा तेरा गमन देख हंस लज्जासे शीघ्र ही आकाशमे भाग गये ॥३६॥ यदि यह अशोकके पल्लव तेरे ओष्ठके कान्तिके आगे कुछ समय तक प्रकाशमान रहेंगे तो अन्तर समझ कर लज्जित हो अवश्य ही विवर्णताको प्राप्त हो जायेंगे ॥३७॥ हे चण्डि ! क्षण भरके लिए वियोगिनी स्त्रियोंपर दयालु हो जा और अपनी सुन्दर वाणी प्रकट कर दे जिससे यमराजके

१ गत्यान्तर घ० म० । २ लक्षिता घ० म० ।

उदीरयन्नित्यमृतप्रपा गिरं विचित्रचाटूक्तिविचक्षणः क्षणात् ।
प्रसर्पदानन्दतिरोहितक्रुध चकार कश्चित्तरुणो मनस्विनीम् ॥३९॥ [कुलकम्]
अगोचरं चण्डरुचेरपि द्युतां निकुञ्जलीलासदनेषु पुञ्जितम् ।
प्रभाभिरुद्भासितवीरुधस्तमो विनिन्यिरे भङ्गमनङ्गदीपिका ॥४०॥
परिभ्रमन्त्य कुसुमोच्चिचीषया विरेजिरे तत्र सरोजलोचना ।
जिनेन्द्रमभ्यर्चयितु सपर्यया कृतप्रयत्ना वनदेवता इव ॥४१॥
उदग्रशाखाकुसुमार्थमुद्भुजा व्युदस्य पार्ष्णिद्वयमञ्चितोदरी ।
नितम्बभूस्रस्तदुकूलबन्धना नितम्बिनी कस्य चकार नोत्सवम् ॥४२॥
करै प्रवालान्कुसुमानि लोचनैर्नखांशुभिस्तत्र विजित्य मञ्जरी ।
वधूजनस्यास्य जिघृक्षतो [1]भयात् किलाचकम्पे पवनाहत वनम् ॥४३॥
प्रमत्तकान्ताकरसगमादपि [2]सदागमाभ्यासरसोज्ज्वला अपि ।
क्षणान्निपेतु सुमनोगणा यतो ह्रियेव विच्छायमभूत्ततो [3]वनम् ॥४४॥

उदीरयन्निति—इति पीयूषप्रपा चाटुवचनरचना समुच्चरन् आविर्भवत्प्रमोदरस. ग्लपितकोपा कश्चित्काञ्चित्कामुक कामिनी कृतवान् ॥३९॥ अगोचरमिति—यद् ध्वान्त रविकिरणानामपि दु साध्य तन्निविडलतागृहमध्यगमनङ्गदीपिका निजतेजोभिर्निरासु । (कथभूतास्ता) द्योतितलता ॥४०॥ परीति—तत्र पुष्पावचयाय हेतवे इतस्ततो भ्रमन्त्य शतपत्रपत्रनेत्रा शुशुभिरे जिनपूजनाय प्रत्यक्षीभूतवनदेवता वा ॥४१॥ उदग्रेति—उच्चशाखापुष्पग्रहणार्थ नितम्बिनी काचिदूर्ध्वीकृतभुजा ततश्च दृश्यमानबाहुमूला पार्ष्णिद्वयमुत्पाद्याङ्घ्रिभारेण स्थित्वा अञ्चितोदरी सरलितोदरी भग्नवलीका ततश्च दृश्यमाननाभिमूला नितम्बबिम्बात् सरलितोदरशिथिलत्वेन स्रस्तान्तरीया । एव सती कस्य यूनो नयनोत्सवाय नाभूत् ? ॥४२॥ करैरिति—अस्य विलासिनीजनस्य भयेन पवनान्दोलित मद्वन चकम्पे । किं चिकीर्षो । आदित्सो । किं कृत्वा । विजित्य । कै कान् विजित्येत्याह—कोमलारुणै करै पल्लवान्, कुसुमानि लोचनै, नखकिरणै कोमलवल्लरीरिति । पल्लवकरयो कुसुमसुदृशोरुपमानोपमेयभावो नखांशुमञ्जर्योश्च ॥४३॥ प्रमत्तेति—वाणिनीकराकर्षणादमी सुमनोगणा पुष्पसमूहा सदा वृक्षलक्ष्मीसमीपभावशोभिता अपि यन्निपतितास्ततो

दूतोंके समान ये दुष्ट कोयल लज्जित हो चुप हो जाये ॥३८॥ इस प्रकार अनेक तरहके चाटुवचन कहनेमें निपुण किसी तरुण पुरुषने अमृतकी प्याऊके तुल्य मीठे-मीठे वचन कह अपनी मानवती प्रियाको क्षणभरमे बढते हुए आनन्दसे क्रोध रहित कर दिया ॥३९॥ लतागृह रूप क्रीडाभवनोंमें सञ्चित एवं सूर्यकी भी किरणोंके अगोचर अन्धकारको अपनी प्रभाओंके द्वारा लताओंको आलोकित करनेवाली, कामदीपिकाओंने क्षणभरमें नष्ट कर दिया था ॥४०॥ फूल तोड़नेकी इच्छासे इधर-उधर घूमती हुई कमलनयना स्त्रियाँ पूजा द्वारा जिनेन्द्रदेवकी अर्चा करनेके लिए प्रयत्नशील वनदेवियोंके समान सुशोभित हो रही थीं ॥४१॥ ऊँची डाली पर लगे फूलके लिए जिसने दोनों एड़ियाँ उठा अपनी भुजाएँ ऊपर की थीं परन्तु बीच ही में पेटके पुलख जानेसे जिसके नितम्ब स्थलका वस्त्र खुलकर नीचे गिर गया था ऐसी स्थूल नितम्ब वाली स्त्रीने किसे आनन्दित नहीं किया था ? ॥४२॥ उस समय वन पवनसे ताडित हो कम्पित हो रहा था, अतः ऐसा जान पडता मानो हाथोंसे पल्लवोंको, नेत्रोंसे फूलोंको और नखोंकी किरणोंसे मंजरियोंको जीत, ग्रहण करनेकी इच्छा करनेवाली स्त्रियोंके भयसे ही मानो काँप उठा हो ॥४३॥ चूँकि सदा आगमाभ्यास रूप रससे उज्ज्वल रहनेवाले [प्रकृतमे

१ भिया च० । २ सदा सर्वदा अगाना वृक्षाणा माया लक्ष्म्या अभ्यासरसेन उज्ज्वला निर्मला अपि ।
३ पक्षे ततो + अवनमितिच्छेद: ।

किमन्यदन्ये पिकपञ्चमादयो यशांसि पुण्यैरलभन्त सेवका ।
समर्थ्यते कार्यमनङ्गभूपते पुनस्तदेकेन वसन्तशाखिना[1] ॥४५॥
इतीव काचिन्नवचूतमञ्जरी प्रियस्य वश्यौषधिमाददे मुदा ।
स्वमेव तद्दर्शनमात्रकर्मणा विवेद मुग्धा न वशीकृतं पुरा ॥४६॥
लताग्रदोलाञ्चनलीलया मुहुर्नतोन्नतस्फारनितम्बमण्डला ।
श्रम प्रचक्रे पुरुषायितक्रिया[2]प्रकर्षहेतोरिव कापि कामिनी ॥४७॥
स्वमूर्ध्नि चूडामणिरश्मिकार्मुके निवेशयन्ती नवनीपगोलकम् ।
पिकाय मर्मव्यथकाय कानने निबद्धलक्ष्येव[3] वधूरलक्ष्यत ॥४८॥
कयाचिदुज्जृम्भितचारुचम्पकप्रसूनमाला जगृहे न पाणिना ।
स्मरान्तकग्रस्तवियोगिनीच्युता विडम्बयन्ती कलधौतमेखलाम् ॥४९॥
उदग्रशाखाञ्चनचञ्चलाङ्गुलेर्भुजस्य मूलं स्पृशति प्रिये छलात् ।
स्मितं वधूनामिव वीक्ष्य सत्रपैरमुच्यतात्मा कुसुमैर्द्रुमाग्रतः ॥५०॥

लज्जयेव गुरुस्थान वन नि श्रीक बभूव । अथ चोक्तिलेश —ये किल सतामागममभ्यसन्ति सुमनोगणा सुविचारचेतसस्ते यदि मद्यपकलत्राभिलाषुका भवन्ति । तदा भवन कुल समस्तमपि विच्छाय भवति ॥४४॥ किमन्यदिति—एते कोकिलपञ्चमादय केवल पुण्यैरेव कामसहाया इति प्रसिद्धि लेभिरे पर कामविजिगीषो कार्यं केवलेन मञ्जरितसहकारेणैव साध्यते ॥४५॥ इतीवेति—इति पूर्वोक्त काचिज्जानन्ती सहकारपुष्पाङ्कुर प्रियस्य वश्यगुटिकामिवाददौ जग्राह पर सा मुग्धा तस्य चूतपुष्पस्य दर्शनमात्रेणात्मान वशीकृत प्रथमत एव नाज्ञासीत्[4] ॥४६॥ लताग्रेति—काचिद्दोलया नीचैरुच्चै क्रीडन्ती गमनागमनेन परिणाहिनितम्बेन कर्कशविपरीतरताभ्यासमिवाकार्षीत् ॥४७॥ स्वेति—काचिन्निजमस्तकचूडामणिकिरणै समुत्पादितेन्द्रायुधे नीपपुष्पगोलक मध्ये स्थापयन्ती मर्मोच्छेदकाय पिकाय सहितगोलकधनुष्किकेवादृश्यत ॥४८॥ कयाचिदिति—कयाचिन्मुग्धया चञ्चच्चारुचम्पकमालाहस्तेन न सजगृहे कामकवलितविरहिणीजननितम्बभ्रष्टस्वर्णमेखलाशङ्कया ॥४९॥ उदग्रेति—उदग्रशाखाकर्षणचञ्चलाङ्गुलीकस्य बाहोर्मूल स्पृशति प्रियतमे

सदा वृक्षोंकी शोभाके अभ्यास रससे प्रकाशमान रहनेवाले] सुमनोगण—विद्वानोंके समूह भी [प्रकृतमें पुष्पोंके समूह भी] प्रमत्त स्त्रियोंके हाथोंके समागमसे क्षण भरमे पतित हो गये [प्रकृतमे-नीचे आ गिरे] अतः वह वन लज्जासे ही मानो कान्तिहीन हो गया था ॥४४॥ और क्या ? यह कोयलका पचम स्वर आदि अन्य सेवक पुण्यसे ही यश प्राप्त करते हैं परन्तु कामदेव रूप राजाका कार्य उसी एक आम्र वृक्षके द्वारा सिद्ध होता है ॥४५॥ यह विचार किसी स्त्रीने पतिको वश करनेवाली ओषधिके समान आमकी नयी मजरी बड़े आनन्द से धारण की । परन्तु उस भोलीने यह नहीं जाना कि इनके दर्शन मात्रसे मैं स्वय पहलेसे ही इनके वश हो चुकी हूँ ॥४६॥ कोई एक स्त्री लताओंके अग्रभागसे झूला झूल रही थी, झूलते समय उसके स्थूल नितम्बमण्डल बार बार नत-उन्नत हो रहे थे जिससे वह ऐसी जान पडती थी मानो पुरुपायित क्रियाको बढानेके लिए परिश्रम ही कर रही हो ॥४७॥ कोई एक स्त्री चूडामणिकी किरण रूप धनुषसे युक्त अपने मस्तकपर कदम्बके फूलका नवीन गोलक धारण कर रही थं जिससे ऐसी जान पडती थी मानो वनमे मर्मभेदी कोयलके लिए उसने निशाना ही बाँध रखा हो ॥४८॥ किसी स्त्रीने खिले हुए चम्पेके सुन्दर फूलोंकी मालाको इस कारण अपने हाथसे नहीं उठाया था कि वह कामदेव रूप यमराजके द्वारा ग्रस्त विरहिणी स्त्रीकी गिरी हुई स्वर्ण-मेखलाकी विडम्बना कर रही थी—उसके समान जान पड़ती थी ॥४९॥ किसी

१ वसन्तशालिना क० । २ प्रहर्ष छ० । ३ लक्षेव, क० । ४ म पुस्तके ४५–४६ तमौ श्लोकौ युग्मत्वेन मुद्रितौ ।

मिथ प्रदत्तैर्नवपुष्पदामभिर्बभुस्तदानी मिथुनानि सर्वत ।
अवन्ध्यपातप्रसरै प्रकोपतश्चितानि बाणैरिव पुष्पधन्वना ॥५१॥
विपक्षनामापि कुरङ्गचक्षुषा बभूव मन्त्रो ध्रुवमाभिचारिकः ।
प्रियैस्तदुच्चारणपूर्वमर्पिता प्रसूनमाला यदियाय वज्रताम् ॥५२॥
रतावसाने लतिकागृहाद्वधूर्विनिर्यती स्विन्नकपोलमण्डलाः ।
प्रवीजयन्ति स्म समीरणेरितै प्रवाललीलाव्यजनैर्महीरुहाः ॥५३॥
स्रजो विचित्रा हृदि जीवितेश्वरै समाहिताश्चारुचकोरचक्षुषाम् ।
तदन्तरेऽन्तर्विशतो मनोभुवश्चकासिरे वन्दनमालिका इव ॥५४॥
स्मित विलासस्य कटाक्षविभ्रम रतेरनङ्गस्य सुधारसच्छटा ।
यशासि तारुण्यनृपस्य मेनिरे विलासिनीना शिरसि स्रजो जना ॥५५॥
प्रसूनशून्येऽपि तदर्थिनी तरौ नियोजयन्ती करपल्लव मुहु ।
निरीक्षणात्पत्युरनङ्गविह्वला स्मित सखीना विदधे सुलोचना ॥५६॥

कक्षाया पञ्चाङ्गुलीकं ददाने वधूना हास्यमवलोक्य सलज्जैरिव वृक्षेभ्य पुष्पैरपाति । पुष्पेभ्यो हासो मनोहर इत्यर्थ ॥५०॥ मिथ इति—परस्पर पुष्पमालामण्डितानि मिथुनानि रेजिरे अमोघै कामशरसघातै पूरितानीव ॥५१॥ विपक्षेति—तदा मृगाक्षीणा सपत्नीनामापि मारणमन्त्रो बभूव यत्प्रियतमै सपत्नीनामग्राहपूर्वक प्रदत्ता माला वज्रघाततुल्यता जगाम ॥५२॥ रतेति—सुरतावसाने श्रमार्ता विलासिनीर्लतागृहान्निर्यान्ती पल्लवव्यजनैर्वृक्षा वीजयन्ति ॥५३॥ स्रज इति—मदिरामत्तलोचनाना कामिनीना हृदये कान्तै क्षिप्ता पञ्चवर्णपुष्पमाला शुशुभिरे तस्मिन् हृदयगृहे मङ्गलप्रवेशे कामस्य तोरणवन्दनमालिका इव ॥५४॥ स्मितमिति—विलासिनीना शिरसि नवपुष्पमाला जनैर्वितर्किता । एता माला न भवन्ति किन्तु विलासस्य शृङ्गाररहस्यवैदग्ध्यस्य हास्यमिव । अथवा सुरतलक्ष्म्यास्तीक्ष्णा कटाक्षविक्षेपपरम्परा एता । आहोस्विदुग्रदग्धस्य कामस्य जीवनाय पीयूषधारा । उत चित्रयौवनविजिगीषो कीर्तिसरा इति शशङ्किरे लोका ॥५५॥ प्रसूनेति—काचित्तारतरललोचना कामान्ध्य नाटयन्ती चुण्टितपुष्पे वृक्षे पुष्पापेक्षया कर प्रसारयन्ती वल्लभ-

---

स्त्रीने ऊँची डालीको झुकानेके लिए अपनी चचल अंगुलियोंवाली भुजा ऊपर उठायी ही थी कि पतिने छलसे उसके बाहुमूलमें गुदगुदा दिया। इस क्रियासे स्त्रीको हँसी आ गयी और फूल टूट कर नीचे आ पड़े। उस समय वे फूल, ऐसे जान पड़ते थे मानो स्त्रीकी मुसकान देख लज्जित ही हो गये हों और इसीलिए आत्मघातकी इच्छासे उन्होने अपने-आपको वृक्षके अग्रभागसे नीचे गिरा दिया हो ॥५०॥ उस समय परस्पर एक-दूसरेकी दी हुई पुष्पमालाओंसे स्त्री-पुरुष ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो कामदेवने उन्हें तीव्र कोपसे अपने अव्यर्थ बाणोंके द्वारा ही व्याप्त कर लिया हो ॥५१॥ सपत्नीका नाम भी मृगनयनी स्त्रियोंके लिए मानो आभिचारिक—बलिदानका मन्त्र हो रहा था। यही कारण था कि सपत्नीका नाम लेकर पतियोंके द्वारा दी हुई पुष्पमाला भी उसके लिए वज्र हो रही थी ॥५२॥ सभोगके बाद लतागृहसे बाहर निकलतीं स्वेदयुक्त कपोलोंवाली स्त्रियोंको वृक्ष वायुसे कम्पित पल्लवरूपी पखोंके द्वारा मानो हवा ही कर रहे थे ॥५३॥ चकोरके समान सुन्दर नेत्रोंवाली स्त्रियोंके वक्षःस्थलपर पतियोंने जो चित्र-विचित्र मालाएँ पहनायी थीं वे ऐसी जान पड़ती थी मानो उनके भीतर प्रवेश करनेवाले कामदेवकी वन्दनमालाएँ ही हों ॥५४॥ मनुष्योंने स्त्रियोंके मस्तकपर स्थित मालाओंको विलासकी मुस्कान, रतिके कटाक्षोका विलास, कामदेवकी अमृतरसकी छटा अथवा यौवन रूपी राजाका यश माना था ॥५५॥ कोई एक सुलोचना पतिके देखनेसे कामविह्वल हो गयी थी अतः फूलरहित वृक्षपर भी फूलोंकी इच्छासे बार-बार अपना हस्तरूपी पल्लव डालती

तदा यदासीत्तनुरामणीयकं प्रसूनमालाभरणैर्मृगीदृशाम् ।
अवैति तद्वर्णयितु तदा स्मरो यदा कवित्व लभते प्रसादत[1] ॥५७॥
कृतेऽपि पुष्पावचये समन्ततो लतासु लीलार्पितपाणिपल्लवा ।
स्फुरन्नखांशुप्रकरेण तत्क्षण वितेनिरे पुष्पविभङ्गिमङ्गना ॥५८॥
प्रसूनलक्ष्मीमपहृत्य गच्छता वधूजनाना भयलोलचक्षुषाम् ।
वनेन मुक्ता विषमेषुशालिना शिलीमुखास्तत्र निपेतुरन्तिके ॥५९॥
समुल्लसत्समदवाष्पबिन्दुभिर्निलीयमानैरिव लोचनैर्नृणाम् ।
वपुर्जलार्द्रं श्रमभारभङ्गुरास्तदा वहन्ति स्म कुरङ्गलोचना ॥६०॥

शुभ्राम्भोजविशाललोचनयुगोपान्तेषु बिभ्रन्नवा
सद्य प्रस्फुटशुक्तिसपुटतटीनिष्क्रान्तमुक्ताकृतिम् ।
मूले च स्तनकुम्भयोरनुकृतश्चोतत्सुधाम्भोलव
स्त्रीणा जीवितमन्मथ समजनि स्वेदोदबिन्दुव्रज ॥६१॥[2]

वनान्मकरकेतनप्रणयिनः करोल्लासित–
स्फुरत्कमलकेलयस्तुलितपूर्णचन्द्रानना ।

दर्शनात् कामविह्वला सखीना हास्याय बभूव ॥५६॥ तदेति—तदा पुष्पावचये पुष्पमालाशालिनीना तासा वपुषि यत्सौभाग्यभरभङ्गिप्रकर्षो बभूव त वर्णयितु काम एव शक्नोति यदि तस्य कविता सहजप्रतिभोद्भासिनी दैवाज्जाघटीति ॥५७॥ कृतेऽपीति—तास्तरुण्यो वञ्चितपल्लवासु लतासु न्यस्तहस्ता नखकिरणै करशोणिम्ना च तथैव पल्लवपुष्पाञ्जनमकार्षु ॥५८॥ प्रसूनेति—तदा पुष्पलक्ष्मीमपहृत्य गच्छता वधूजनाना समीपे भ्रमरा निपतन्ति स्म पुष्पभावाद्वनेन त्यक्ता विषमेषुशालिना सकामेन । यथा केनचिच्चौरपृष्ठलग्नेन विषमेषुशालिना नाराचिकेन मुक्ता बाणास्तस्करसमीपे निपतन्ति ॥५९॥ समुल्लसदिति—तदा प्रमोदवाष्पकरम्बितैर्जननयनै सगलद्भिरिव श्रमजलार्द्रशरीर मृगलोचना वहन्ति स्म ॥६०॥ शुभ्रेति—तदा कमलपत्रसदृशेषु लोचनेषु तरलाक्षीणा स्वेदबिन्दव स्फुटितसिप्रासपुटस्थितमुक्ता कणसदृशा विरेजु । स्तनकुम्भयोश्च मूलेऽपि निपतत्पीयूषलव इव जीवितमन्मथ उद्दीपितकाम ॥६१॥ वनादिति—कामप्रेमनिवासात्क्रीडा-

हुई सखियोंको हास्य उत्पन्न कर रही थी ॥५६॥ उस समय पुष्पमाला रूप आभरणोंसे मृगनयनी स्त्रियोंके शरीरमे जो सौन्दर्य उत्पन्न हुआ था, कामदेव ही उसका वर्णन करना जानता है और वह भी तब, जब कि किसीके प्रसादसे कवित्व शक्ति प्राप्त कर ले ॥५७॥ सब ओरसे फूल तोड लेनेपर भी लताओंपर लीलापूर्वक हस्तकमल रखनेवाली स्त्रियाँ अपने देदीप्यमान नखोंकी किरणोंके समूहसे क्षणभरके लिए उनपर फूलोंकी शोभा बढा रही थी ॥५८॥ पुष्परूपी लक्ष्मीको हरण कर जाने एवं भीति-चपल नेत्रोंको धारण करनेवाली स्त्रियोंके पास विषमेषु—कामदेव [पक्षमें तीक्ष्ण बाणों] से सुशोभित वनके द्वारा छोड़े हुए शिलीमुख—भ्रमर [पक्षमे बाण] आ पहुँचे ॥५९॥ उस समय परिश्रमके भारसे थकी स्त्रियाँ जलसे आर्द्र शरीरको धारण कर रही थीं और उससे ऐसी जान पडती थीं मानो हर्षाश्रुओंकी बूँदोंसे छलकते हुए पुरुषोंके नेत्र ही शरीरके भीतर लीन हो रहे हों ॥६०॥ उस समय स्त्रियोंके शरीरमे कामदेवको जीवित करनेवाला जो स्वेदजलकी बूँदोंका समूह उत्पन्न हुआ था वह श्वेतकमलके समान विशाल लोचनयुगलके समीप तत्काल फटी हुई सीपके समीप निकले मोतियोंका आकार धारण कर रहा था और स्तनरूप कलशोंके मूलमे झरते हुए अमृतरूपी जलके कणोंका अनुकरण कर रहा था ॥६१॥ जो अपने हाथोंसे विकसित कमलकी क्रीडा प्रकट कर

१ प्रमोदत च० ज० प्रमादत छ० ग० । २ शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

अशेषकुसुमोच्चयश्रमजलार्द्रदेहास्ततो
जवाज्जनितविस्मयाः श्रिय इव स्त्रियो निर्ययु ॥६२॥
तादृक्कान्ताचरणकमलस्पर्शजाग्रत्स्मरस्य
प्रस्वेदाम्बुद्रव इव पुरो विन्ध्यधात्रीधरस्य ।
उद्दामोर्मिप्रसरपुलको धर्ममर्मव्यथाया
दृष्ट सैन्यैरसिरिव महान्नर्मदाम्भ' प्रवाहः ॥६३॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये पुष्पावचयो नाम द्वादशः सर्गः ॥१२॥

वनात्करधृतक्रीडापद्मारचन्द्रमुख्य कुसुमावचये श्रमजलबिन्दुमुक्तास्तवकिता कामिन्यो विनिर्गता । यथा वा मकरालयस्य वनात् जलात् करधृतपद्मा सचन्द्रा जलार्द्रा देवदानवजनितक्षोभा लक्ष्मीर्निजगाम[1] ॥६२॥ तादृगिति—तदा पुष्पावचायश्रान्तैर्मिथुनैर्नर्मदाप्रवाहो दृष्ट । सात्त्विकभावप्रस्विन्नस्य विन्ध्याचलस्य स्वेदपूर इव । अथवा तस्यैवभूपते रुत्कटलोलकल्लोलपुलको धर्मव्यथाछेदने श्यामलखड्ग इव[2] ॥६३॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयश.कीर्तिविरचिताया सन्देहध्वान्त-दीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकायां द्वादशः सर्ग ॥१२॥

रही हैं, जिन्होंने अपने मुखसे पूर्ण चन्द्रकी तुलना की है और पुष्पावचयके परिश्रमसे जिनका समस्त शरीर पसीनेसे आर्द्र हो रहा है ऐसी स्त्रियाँ लक्ष्मीकी तरह आश्चर्य उत्पन्न करती हुई कामदेवके स्नेही [पक्षमें मकर रूप पताकासे युक्त] वनसे [पक्षमे जलसे] बाहर निकली ॥६२॥ तदनन्तर घामकी मर्मवेधी पीडा होनेपर सैनिकोंने बड़ी-बड़ी तरंगोंके समूहसे व्याप्त एवं तलवारके समान उज्ज्वल नर्मदा नदीके जलका वह महाप्रवाह देखा जो कि ऐसा जान पड़ता था मानो उन सुन्दरी स्त्रियोंके चरण कमलोंके स्पर्शसे जिसे कामव्यथा उत्पन्न हो रही है ऐसे विन्ध्याचलके शरीरसे नि.सृत स्वेदजलका प्रवाह ही हो ॥६३॥

इस प्रकार महाकवि श्रीहरिचन्द्र द्वारा विरचित धर्मशर्माभ्युदय नामक महाकाव्यमें पुष्पा-वचयका वर्णन करनेवाला बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१२॥

---

१ पृथ्वीच्छन्द । २ मन्दाक्रान्ताच्छन्द ।

त्रयोदशः सर्गः

द्विगुणितमिव यात्रया वनाना स्तनजघनोद्वहनश्रम वहन्त्य ।
जलविहरणवाञ्छया सकान्ता ययुरथ मेकलकन्यका तरुण्य· ॥१॥
[1]क्षितितलविनिवेशनात्प्रसर्पन्नखमणिशोणमयूखमङ्घ्रियुग्मम्[2] ।
श्रमनिवहविलम्बमानजिह्वाप्रसरमिवाध्वनि सुभ्रुवा बभासे ॥२॥
प्रियकरकलित विलासिनीना नवशिखिपत्रमयातपत्रवृन्दम् ।
मृदुकरपरिमर्शनात्तसौख्य वनमिव पृष्ठगत रराज रागात् ॥३॥
इह मृगनयनासु साम्यमक्ष्णो प्रथममवेक्ष्य विशश्वसु कुरङ्ग्य ।
तदनु निरुपमैर्भ्रुवो[3] विलासैर्विजितगुणा इव ता प्रणश्य जग्मु. ॥४॥
जलभरपरिरम्भदत्तचित्ता श्रमसलिलप्रसरच्छलेन रागात् ।
प्रथममिव समेत्य संमुख ता· सपदि जले परिरेभिरे तरुण्यः ॥५॥

द्विगुणितमिति—महापरिणाहिस्तनजघनभारश्रम वनविहरणेन द्विगुणतम वहन्त्यो जलक्रीडावाञ्छया नर्मदा प्रापु[4] ॥१॥ क्षितीति—भूतलचङ्क्रमणवशात्पुरत प्रसारितशोणनखकिरणजाल चरणयुगल कामिनीना शोभते स्म मार्गश्रमवशात् प्रसारितसरलशोणजिह्वमिव ॥२॥ प्रियेति—सहचरैरुपनीत श्रीकिरीटखण्ड तासा शुशुभे कोमलकरस्पर्शेन पल्लवादित्रोटने नखक्षतेन च लब्धसुखरस वनमिवानुगत रागादनुभावाभिलाषात् ॥३॥ इहेति—इह वने तासु मृगलोचनासु प्रथम नयनसादृश्य ज्ञात्वा हरिण्यो विश्वास चक्रु पश्चादनन्यसदृशैर्विभ्रमविलासैर्विजिता लज्जिता इव पलायाचक्रिरे । प्रथममुत्कीर्णकर्णा पश्यन्त पश्चान्मृगा. पलायन्त इत्यमीषा स्वभाव ॥४॥ जलेति—जले चिक्रीडिषव प्रस्वेदबिन्दुसदोहदम्भादागत्य जलै प्रथममेवालिङ्गिता इव । अन्योऽप्यात्मानुरागिणी स्त्री मत्वा सहसागत्यालिङ्गने कालविलम्ब न करोति ॥५॥

तदनन्तर वनविहारसे जो मानो दूना हो गया था ऐसा स्तन तथा जघन धारण करनेका खेद वहन करनेवाली तरुण स्त्रियाँ जलक्रीड़ाकी इच्छासे अपने-अपने पतियोंके साथ नर्मदा नदीकी ओर चलीं ॥१॥ पृथिवीतलपर रखनेसे जिसके नखरूपी मणियोंकी लाल-लाल किरणें फैल रही हैं ऐसा उन सुन्दर भौहोंवाली स्त्रियोंका चरणयुगल इस प्रकार सुशोभित हो रहा था मानो खेद समूहके कारण उसकी जिह्वाओंका समूह ही बाहर निकल रहा हो ॥२॥ उन स्त्रियोंके पीछे पतियोंके हाथमें स्थित नवीन मयूरपत्रके छत्रोंका जो समूह था वह ऐसा जान पड़ता था मानो कोमल हाथोंके स्पर्शसे सुख प्राप्त कर वन ही प्रेमवश उन स्त्रियोंके पीछे लग गया हो ॥३॥ हरिणियाँ इन मृगनयनी स्त्रियोंमे पहले तो अपने नेत्रोंकी सदृशता देख विश्वासको प्राप्त हुई थीं परन्तु बादमे भौहोंके अनुपम विलाससे पराजित होकर ही मानो चौकड़ी भर भाग गयी थीं ॥४॥ जिनका चित्त जलसमूहके आलिंगनमे लग रहा है ऐसी वे स्त्रियाँ स्वेदसमूहके छलसे ऐसी जान पड़ती थीं मानो जलने अनुरागके साथ

---

१. अस्य श्लोकस्य स्थाने ख० ग० घ० म० च० छ० ज० पुस्तकेषु 'जलभरपरिरम्भदत्तचित्ता—इति श्लोको दत्त, कपुस्तके त्वेष श्लोक पञ्चमसख्याकस्तत्रैव व्याख्यातश्च । २ —मङ्घ्रियुग्मम् घ० म० । ३. —भ्रुंवो विलासै— घ० म० । ४ पुष्पिताग्रावृत्तम् ।

वदनमनु मृगीदृशो द्रुमाग्रात्पतदलिमण्डलमाशु गन्धलुब्धम् ।
क्षितिगतशशिनो भ्रमेण राहोरवतरतो गगनाद् द्युतिं जहार ॥६॥

दिनकरकिरणैरुपर्यधस्तात्तुलितकुकूलकृशानुभि परागैः ।
पुटनिहितसुवर्णवद्वधूभिः स्वतनुरमन्यत हन्त तप्यमाना ॥७॥

वनविहरणखेदनिःसह ते वपुरतिपीनपयोधरं बभूव ।
इति किल समुदस्य कोऽपि दोर्भ्यां युवतिमनाकुलितो जगाम रागी ॥८॥

मिलदुरसिजचक्रवाकयुग्माः प्रथयति भास्वति यौवने प्रकाशम् ।
स्फुटरवकलहंसकास्तरुण्यः सरित इव प्रतिपेदिरे नदीं ताम् ॥९॥

अधिगतकरुणारसेव रेवा श्रमभरमन्दरुचो विलोक्य तन्वीः ।
जललवनिचितारविन्ददम्भात्सपदि सबाष्पकणेक्षणा बभूव ॥१०॥

प्रकटय पुलिनानि दर्शयाम्भोभ्रमणमुदञ्चय निर्भरं तरङ्गान् ।
घनजघनगभीरनाभिनृत्यद्भ्रुकुटितुला न तथाप्युपैषि तन्व्या ॥११॥

वदनमिति—मृगाक्षीवदनाभिमुखमवचितपुष्पवृक्षादलिवलय गन्धलुब्धमापतत्पृथ्वीतलगतचन्द्रमण्डलभ्रान्त्या गगनाद् धावमानस्य सिंहिकासुतस्याकृतिमनुचकार ॥६॥ दिनेति—गौराङ्गीभिर्निजशरीर पुटपाकपच्यमानस्य सुवर्णस्य सदृश मन्यते स्म । उपरिष्टाच्चण्डकरकिरणैरधस्तात्तुषकरीषाङ्गारसदृशैर्धूलिपटलैस्तप्यमानम् ॥७॥ वनेति—हे तन्वि ! वनविहरणखेदात्तव वपु खिन्न स्वभावेन च पीनपयोधर ततश्चलितु न शक्नोषीति प्रतिबोध्य प्रियामङ्कमारोप्य कश्चित्सुखेन सलील जगाम ॥८॥ मिलदिति—तास्तरुण्यो जङ्गमनद्य इव नर्मदा प्रापु । किंविशिष्टा इत्याह—प्रकटरवमनोहरनूपुरा. पक्षे शब्दायमानराजहंसाः मिलन्तौ सघटमानावुरसिजौ स्तनाविव चक्रवाकयुग्म यासु ता । क्व सति । तारुण्यरवौ प्रकाश विस्तारयति । यौवनाभावे स्तनविघटन सूर्याभावे चक्रवाकयुग्मवत् ॥९॥ अधिगतेति—नर्मदा गृहीतकरुणाभावेन ता सखीः सुश्रमखेदमन्दायमाना विलोक्य जलदबिन्दुसिक्तकमलपत्रव्याजात् तत्क्षण वाष्पकणकरम्बितलोचना बभूव ॥१०॥ प्रकटयेति—कश्चित्तरुणो नदीमुवाच—हे नर्मदे ! त्वमस्यास्तन्व्या जघनेन नाभिचक्रेण वलद्भ्रूलताविभ्रमेण वा सादृश्य न यासि । यदि किम् । यदि वा विपुलानि जघनपरिणामप्रासानि प्रकाशय । आवर्तशत वा नाभिशोभायाममपि परिपूर्णं दर्शय । रङ्गत्तरङ्गान्वा भ्रूविभ्रमसदृशान् चालय । तथापि न तादृग् लक्ष्मी भजसि ॥११॥

शीघ्र ही सामने आकर पहले ही उनका आलिंगन कर लिया हो ॥५॥ भ्रमरोंका समूह किसी मृगाक्षीके प्रसन्नमुखको कमल समझकर फूले हुए वृक्षोंसे उसके ऊपर ही टूट पड़ा मानो राहु चन्द्रमाके ऊपर ही टूट पड़ा हो ॥६॥ ऊपर सूर्यकी किरणोंसे और नीचे तुषाग्निकी तुलना करनेवाली परागसे तपते हुए अपने शरीरको उन स्त्रियोंने किसी साँचेके भीतर रखे हुए सुवर्णके समान माना था ॥७॥ अत्यन्त स्थूल स्तनोंको धारण करनेवाला शरीर वनविहारके खेदसे बहुत ही शिथिल हो गया है—ऐसा कह कोई रागी युवा उसे अपनी भुजाओंसे उठाकर निश्चिन्ततासे जा रहा था ॥८॥ यौवन रूपी सूर्यके प्रकाशको विस्तृत करनेपर जिनमें स्तनरूपी चक्रपक्षियोंके युगल परस्पर मिल रहे हैं तथा नूपुररूपी कलहंस पक्षी स्पष्ट शब्द कर रहे हैं ऐसी स्त्रियाँ नदियोंके समान नर्मदाके पास जा पहुँची ॥ ॥ नर्मदा नदी उन स्त्रियोंको परिश्रमके भारसे कान्तिहीन देख मानो करुणा रससे भर आयी थी इसीलिए तो जलके छींटोंसे युक्त कमलोंके बहाने उसके नेत्रोंमें मानो अश्रुकण छलक उठे थे ॥१०॥ तुम भले ही तट प्रकट करो, आवर्त्त दिखलाओ और तरंगोंको बार-बार ऊपर उठाओ फिर भी स्त्रीके स्थूल नितम्ब, गम्भीर नाभि और नाचती हुई भौंहोंकी तुलना नहीं प्राप्त कर

नयनमिव महोत्पल तरुण्या सरसिजमास्यनिभ च मन्यसे यत् ।
तदुभयमपि विभ्रमैरुभाभ्या जितमिह वल्गसि किं वृथोद्वहन्ती ॥१२॥

इति मुहुरपरैर्यथार्थमुक्ता क्षणमपि न स्थिरता दधौ ह्रियेव ।
गिरिविवरतलान्यधोमुखी सा परमपराब्धिवधूर्द्रुत जगाम ॥१३॥ [त्रिभिर्विशेषकम्]

प्रकटितपुलकेव सा स्रवन्ती विदलितशैवलराजिमञ्जरीभिः ।
सरलिततरलोर्मिबाहुदण्डा प्रणयभरादिव दातुमङ्कपालिम् ॥१४॥

स्मितमिव नवफेनमुद्वहन्ती प्रथममनल्पसरोजकल्पितार्घा ।
कलविहगरवैरिवालपन्ती व्यतनुत पाद्यमिवाम्बुभिर्वधूनाम् ॥१५॥ [युग्मम्]

उपनदि पुलिने प्रियस्य मुक्तामणिमयभूषणभाजि वक्षसीव ।
स्वयमुपरि निपत्य कापि रागान्मुहुरिव लोलयति स्म चञ्चलाक्षी ॥१६॥

प्रणिहितमनसो मृगेक्षणाना चटुलविवर्तितनेत्रविभ्रमेषु ।
प्रविदधुरधिकस्पृहा ह्रदिन्या चलशफरीस्फुरिते क्षण युवान ॥१७॥

नयनमिति—हे तरङ्गिणि, यत्तरुण्या नयनसदृश नीलोत्पल यच्च वदनसदृश पद्म मन्यसे तदद्भुतविभ्रमाभ्या द्वयमपि विभ्रमैरुभाभ्या जित तत्किं वृथैव तरङ्गैर्निर्लज्जेव रङ्गसि ॥१२॥ इतीति—इति कैश्चित्तरुणै सत्यमालापिता न मन्दवेगा बभूव किन्तु गिरिगह्वरप्रदेशान् व्याप्नुवती वेगप्रवाहिनी बभूव । अन्यापि या काचिन्मर्मोद्घाटह्लेपिता भवति सा शीघ्रगा कन्दरविवरादौ निपतति ॥१३॥ प्रकटितेति—सा नदी तानि मिथुनान्यागच्छन्त्यवलोक्य जम्बालाङ्कुरैर्हर्षोत्कण्टकितेव प्रसारितदीर्घकल्लोलबाहुदण्डेव स्नेहादालिङ्गितुमिव ॥१४॥ स्मितमिति—सा नदी तेषा जलकेलिकुतूहलिना मिथुनानामर्घपाद्यादिकमातिथ्य चकार । किंविशिष्टा सती । फेनिलकल्लोलव्याजेन हास्यमिव दर्शयन्ती । तदनु मधुरमनोहरहारीतहससारसादिकूजितै सभ्रमालाप विदधती । पश्चाद्विकसितशतकमलैरर्घं कल्पयन्ती । पुलिनानि चासनकानि समर्पयन्तीत्यनुक्तमपि वोद्धव्यम् ॥१५॥ उपनदीति—काचित्कातराक्षी वक्षसीव विस्तीर्णपुलिने विघटितसिप्रापुटनिष्च्यूतमुक्ताफलचतुष्किते अनुरागान्निपत्य वेल्लयाचकार ॥१६॥ प्रणिहितेति—तदा तरुणाश्चटुलाक्षीणा चटुलकटाक्षभङ्गिषु नियमित-

---

सकती ॥११॥ तुम जो समझ रही हो कि मेरा नीलकमल स्त्रीके नेत्रके समान है और कमल मुखके समान सो यह दोनों ही उन दोनोंके द्वारा विलासोंकी विशेषतासे जीत लिये गये है, व्यर्थ ही उन्हें धारण कर क्यो उछल रही हो ? ॥१२॥ इस प्रकार पश्चिम समुद्रकी वधू नर्मदा नदीसे जब किन्हींने बार-बार सच बात कही तब वह लज्जासे ही मानो क्षणभरके लिए स्थिर नहीं रह सकी और नीचा मुख कर शीघ्रताके साथ पर्वतकी गुफाओंकी ओर जाने लगी ॥१३॥ वह नदी शैवाल समूहकी खिली हुई मजरियोंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो उन स्त्रियोंको देख रोमाचित ही हो उठी हो और सीधी-सीधी चंचल तरगोंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो स्नेहवश उनका आलिंगन करनेके लिए भुजाएँ ही ऊपर उठा रही हो ॥१४॥ नवीन फेनसे ऐसी जान पडती थी मानो मन्दहास्य ही धारण कर रही हो, बहुत भारी कमलोंसे ऐसी लगती थी मानो अर्घ ही दे रही हो । पक्षियोंकी अव्यक्त मधुरध्वनिसे ऐसी जान पडती थी मानो वार्तालाप ही कर रही हो और जलके द्वारा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो पादोदक ही प्रदान कर रही हो ॥१५॥ कोई एक चंचललोचना स्त्री नदीके समीप मोती और मणिमय आभूषणोंसे युक्त पतिके वक्षःस्थलकी तरह किनारेपर पडकर रागसे बार-बार नेत्र चलाने लगी ॥१६॥ स्त्रियोंके चपलतापूर्वक घूमते हुए नेत्रोंके विलासमे जिनके मन लग रहे हैं ऐसे तरुण पुरुषोंने नदीके बीच चचल मछलियोंके उत्क्षेपमे क्षणभरके लिए

उपनदि नलिनीवनेषु गुञ्जत्यलिनि निमीलितलोचनः कुरङ्गः ।
तटगतमपि नो ददर्श सैन्य नहि विषयान्धमतिः किमप्यवैति ॥१८॥
कथमपि तटिनीमगाहमानाश्चकितदृशः प्रतिमाच्छलेन तन्व्यः ।
इह पयसि भुजावलम्बनार्थं समभिसृता इव वारिदेवताभिः ॥१९॥
अधिगतनदमप्यगाधभावैः सलिलविहारपरिच्छद वहन्त्यः ।
प्रणयिभिरथ धार्यमाणहस्ताः प्रविविशुरम्भसि कातरास्तरुण्यः ॥२०॥
अविरलपलितायमानफेन वलिनमिवोर्मिभिरङ्गमुद्वहन्ती ।
जतुबहलवधूपदप्रहारैरजनि सरिज्जरती रुषेव रक्ता ॥२१॥
ध्वनिविजितगुणोऽप्यनेकधाय रटति पुरः कथमत्रपो मरालः ।
इति समुचितवेदिनेव तन्व्याः स्थितमिह वारिणि नूपुरेण तूष्णीम् ॥२२॥
प्रसरति जललीलया जनेऽस्मिन्बिसवदनो दिवमुत्पपात हसः ।
नवपरिभवलेखभृन्नलिन्या प्रहित इवाशुमते प्रियाय दूतः ॥२३॥

चेतसस्तरङ्गिण्या तरलतमतिमिकोद्वर्तनस्फुरित बहु मेनिरे ॥१७॥ उपनदीति—अत्र नदीसमीपे मधुरभ्रमररवश्रवणसुखामृतानुभवनिमीलितलोचनः सारङ्गो नेदीयान्समप्यागतं जनसमूहं न ददर्श तत्रार्थे नासावुपालम्भनीयस्तपस्वी पशुः पटुमतिरपि विषयान्ध सर्वान्ध एव ॥१८॥ कथमिति—ता यावद्भीरुतया जलमनवगाहमानास्तावन्निजप्रतिमा प्रत्यक्षीभूता हस्तावलम्बनार्थं जलदेवतामिव ददृशु ॥१९॥ अधिगतमिति—अथानन्तर जलस्य ज्ञातगभीरत्वावधिभिः सहचरैः प्राप्तहस्तावलम्बना जलक्रीडोचित मण्डन धारयन्त्य साशङ्कमम्भसि ता प्राविक्षन् ॥२०॥ अविरलेति—सा नदी बहुलतया यावकरसविगलनै पदप्रहारैस्तरुणीना रक्ता बभूव । अतश्च ज्ञायते वृद्धेव कोपेन रक्ता । कथ रक्तत्वमित्याह—बहलपलितजालसदृशडिण्डीरपिण्डमण्डलं विस्तारयन्ती कल्लोलैर्वलिभिरिव व्याप्त शरीर वहन्ती । अथ च नवोढया जरती सपत्नी चरणाहता कोपारुणा स्यात् ॥२१॥ ध्वनीति—अय मधुरध्वनिना मया बहुशो निर्जितोऽपि निर्लज्जो राजहंसो रारटीति । इति विचिन्तयतेव नूपुरेण मौनमाश्रितम् । अन्योऽपि प्रतिवादिनमनेकशो निर्जितमपि निर्लज्जतया गर्जन्तमवालोक्य तत्त्ववेदी जोषपोषं तिष्ठति ॥२२॥ प्रसरतीति—जले रिरसौ जनसघाते प्रसर्पति चञ्च्वा विधृतकिसलयो हसो गगनाभिमुखमुड्डीनवान् । अतश्च सभाव्यते नवीनपराभवकदर्थितया पद्मिन्या तत्कालस्वरूप-

अधिक लालसा की थी ॥१७॥ नदीके समीप ही कमलिनीके वनोंमें भ्रमरोंके मधुर शब्द करनेपर आँख बन्द कर खड़ा हुआ हरिण किनारेपर स्थित सेना—जन समूहको नहीं देख रहा था सो ठीक ही है क्योंकि विषयान्ध मनुष्य कुछ भी नहीं जानता है ॥१८॥ कितनी ही चंचललोचना स्त्रियाँ नदीके पास जाकर भी उसमें प्रवेश नहीं कर रही थीं परन्तु पानीमें उनके प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे जिससे ऐसी जान पड़ती थीं मानो उनकी भुजाएँ पकड़नेके लिए जलदेवियाँ ही उनके सम्मुख आयी हों ॥१९॥ जलक्रीडाके योग्य वेषको धारण करनेवाली कितनी ही भीरु स्त्रियाँ नदीमें पहुँच कर भी गहराईके कारण भीतर प्रवेश नहीं कर रही थीं परन्तु बादमें जब पतियोंने उनके हाथ पकड़े तब कहीं प्रविष्ट हुईं ॥२०॥ फेनरूपी सफेद बालों और तरंगरूपी सिकुड़नोंसे युक्त शरीरको धारण करनेवाली नदी रूपी वृद्धा स्त्री, लाक्षारगसे रंगे स्त्रियोंके चरण प्रहारोंके द्वारा क्रोधसे ही मानो लालवर्ण हो गयी थीं ॥२१॥ यह हंस अनेक बार शब्दों द्वारा जीता जा चुका फिर भी निर्लज्ज हो मेरे आगे क्यों शब्द कर रहा है ? इस प्रकार मानो उचित सभ्यताको जाननेवाला तरुणस्त्रीका नूपुरसमूह पानीके भीतर चुप हो रहा ॥२२॥ जब लोग जलक्रीडा करते हुए इधर-उधर फैल गये तब हस अपने मुँहमें मृणालका टुकड़ा दाबे हुए आकाशमें उड़ गया जो ऐसा जान पड़ता था मानो कमलिनीने

पृथुतरजघनैर्नितम्बिनीना स्खलितगतिः पयसामभूत्प्रवाहः ।
अधिगतवनितानितम्बभार कथमथवा सरसः पुर प्रयाति ॥२४॥
अपहृतवसने जडेन लौल्याज्जघनशिलाफलके नितम्बवत्या ।
करजलिपिपदात्तदाविरासीद्विषमशरस्य जगज्जयप्रशस्तिः ॥२५॥
कथमधिकगुण कर मृगाक्षी क्षिपति मयीह वनान्तमाश्रितायाम् ।
इति विदितपराभवेव लक्ष्मीः सपदि सरोजनिवासमुत्ससर्ज ॥२६॥
निवसनमिव शैवल निरस्य स्पृशति जने नवसङ्गभाजि मध्यम् ।
वदनमिव पिधातुमुद्यतोर्मिप्रसरकराथ सरिद्वधूश्चकम्पे ॥२७॥
पृथुतरजघनैर्विलोड्यमाना युवतिजनैः कलुषत्वमाश्रयन्ती ।
स्वपुलिनमुपसर्पिभिः पयोभिः सरिदुपगोपयति स्म लज्जितेव ॥२८॥
प्रतियुवति निषेव्य नाभिरन्ध्रेष्वभिनवविन्ध्यदरीप्रवेशलीलाम् ।
अभजत गुरुगण्डशैलयुक्त्या स्तनकलशाग्रविघट्टनानि रेवा ॥२९॥

लेखधारी दूत इव मित्रकथनाय प्रहित ॥२३॥ पृथुतरेति—पुलिनविशालैर्जघनफलकैस्तदा तासा नर्मदाप्रवाहे सेतुबन्धायितम् । रुद्ध इत्यर्थ । यदि वा नैतच्चित्रम्, अन्योऽपि रसविशेषवेदी लब्धपरिणाहिवनिताजघनस्पर्शसौख्यकोऽग्रतो भूत्वा गन्तु क शक्नोति । न कोऽपीत्यर्थ ॥२४॥ अपहृतेति—सलिलेन लोलत्वादन्तरीयेऽपाकृते नखक्षताक्षरव्याजात्तन्वीजघनफलके कामस्य त्रिभुवनजयप्रशस्तिराविर्बभूव । यथा कस्मिंश्चिन्मूर्खे यवनादिकमपाकृतवति प्रच्छन्न महालिपिशासन जनानामग्रे प्रकटीकरोति ॥२५॥ कथमिति—जलमध्यस्थिताया मयि कथमेषा चञ्चलाक्षी अधिकसुकुमारशोण हस्त निक्षिपतीति चिन्तयन्तीव पराभव सरसिज लक्ष्मीस्तत्याज । हस्तत्रोटितं पद्म म्लानमित्यर्थ । यथा कश्चित् कुटुम्बिक पर्वतग्रामवासी 'द्विगुणमिदानी परिवृढो याचते' इति मत्वा तमपि वासमुत्सृजति ॥२६॥ निवसनमिति—अस्मिन् जने जम्बालवसनमुत्क्षिप्य नाभिमूल स्पृशति सति नदीवधू कल्लोलैर्मस्तकोदूर्ध्वं जगाम । यथा काचिन्नवोढा अन्तरीयमाक्षिप्य नाभिमूललोलचक्षुषो जीवितेशस्य सात्त्विकभावेन कम्पमाना पाणिभ्या लोचने पिदधाति ॥२७॥ पृथुतरेति—विशालैर्जघनफलकैः स्त्रीजनेन विलोड्यमाना नर्मदा सृतैः कल्लोलैः परिणाहप्रसिद्ध निजपुलिन लज्जितेव तिरोदधाति ॥२८॥ प्रतीति—नर्मदा नारीणा गभीरनाभिह्लदेषु आवर्त्यमाना गभीरदरीप्रवेशसौख्यमनुबभूव ।

नूतन पराभवके लेखसे युक्त दूत ही अपने पति—सूर्यके पास भेजा हो ॥२३॥ पानीका प्रवाह स्त्रियोंके स्थूल नितम्बोंसे टकरा कर रुक गया सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रियोंके नितम्बस्थलको प्राप्त हुआ सरस मनुष्य आगे कैसे जा सकता है ? ॥२४॥ किसी स्त्रीके नितम्बरूप शिलापट्टकसे जब जलने चपलतावश वस्त्र दूर कर दिया तब नखक्षतरूप लिपिके छलसे उसपर लिखी हुई कामदेवकी जगद्विजयकी प्रशस्ति प्रकट हो गयी—साफ-साफ दिखने लगी ॥२५॥ यह मृगनयनी मुझ वनवासिनी—जलवासिनी (पक्षमें अरण्यवासिनी) के ऊपर अधिक गुणोंसे युक्त (पक्षमे कई गुण अधिक) कर—हाथ (पक्षमें टेक्स) क्यों डालती है ? इसप्रकार पराभवका अनुभव कर ही मानो लक्ष्मीने शीघ्र ही कमलोंमें निवास करना छोड़ दिया ॥२६॥ नवीन समागम करनेवाले पुरुषने वस्त्रकी तरह शैवालको दूर कर ज्यों ही मध्यभागका स्पर्श किया त्यों ही मानो मुख ढँकनेके लिए जिसने तरंगसमूह रूपी हाथ ऊपर उठाये हैं ऐसी नदीरूपी स्त्री सिहर उठी ॥२७॥ स्त्रियों द्वारा स्थूल नितम्बोंसे आलोडित होनेके कारण कलुषताको प्राप्त हुई नदी मानो लज्जित होकर ही बढनेवाले जलसे अपने पुलिन—तटप्रदेशको छिपा रही थी ॥२८॥ उस समय रेवा नदी, प्रत्येक स्त्रीके नाभिरूप विलमे प्रवेश कर विन्ध्याचलकी नयी-नयी गुफाओंमें प्रवेश करनेकी लीलाका अनुभव कर रही थी और स्तनोंके

वरतनुजघनाहतैर्गभीरप्रकृतिभिरप्यति चुक्षुभे पयोभिः ।
इह विकृतिमुपैति पण्डितोऽपि प्रणयवतीषु न किं जडस्वभावः ॥३०॥
समसिचत मुहुर्मुहुः कुचाग्रं करसलिलैर्दयितो विमुग्धवध्वाः ।
मृदुतरहृदयस्थलीप्ररूढस्मरनवकल्पतरोरिवाभिवृद्धयै ॥३१॥
स्तनतटपरिघट्टितैः पयोभिः सपदि गले परिरेभिरे तरुण्यः ।
अधिगतहृदया मनस्विनीनां किमु विलसन्मकरध्वजा न कुर्युः ॥३२॥
हृदि निहितघटेव बद्धतुम्बीफलतु[1]लिताङ्गलतेव कापि तन्वी ।
इह पयसि सविभ्रमं तरन्ती पृथुलकुचोच्चयशालिनी रराज ॥३३॥
तटमनयत चारुचम्पकानां स्रजमबलागलविच्युतां तरङ्गैः ।
निजदयितरिपोरिवौर्ववह्नेः प्रचुरशिखापरिशङ्कया स्रवन्ती ॥३४॥
प्रियतमकरकल्पितेऽङ्गरागे प्रथममगान्न तथा क्लमं सपत्नी ।
अनुनदि सलिलैर्यथापनीते नखपदमण्डनवीक्षणान्मृगाक्ष्याः ॥३५॥

तासामेव स्तनशैलास्फालनेन गण्डशैललोलनस्थितिं प्राप । अत्र नाभिह्रदयोर्गण्डशैलस्तनयोश्चोपमानोपमेयभावः ॥२९॥ वरेति—नितम्बिनीनां जघनफलकैर्व्यालोडितो जलाशयः सचलयाचकार । युक्तमेतत्—गभीरमहिमा पण्डितोऽपि वाणिनीजघनाहतश्चञ्चलायते किं पुनस्तादृक् जडस्वभावः ॥३०॥ समेति—कश्चिद् विलासी नवोढाया अञ्जलिसलिलैः स्तनयुगलं पौनःपुन्येन सिषेच हृदयस्थलीप्ररूढस्य कोमलकल्पवृक्षस्य वर्द्धनायेव । सुरतवार्तामप्यसहमाना नवोढा जलसेकं साहयतीत्यर्थः ॥३१॥ स्तनेति—स्तनतटसमदोत्कलितैर्जलैस्तरुण्य आकण्ठं व्यानशिरे । उचितमेतत् अवगाहितमानसाः कामिनीनां किमिव कामुकाश्चेष्टितं न कुर्वन्ति ? ॥३२॥ हृदीति—काचिदुच्चकुचाभ्यामुपलक्षिता तरन्ती रराज हृदयनिहिताभ्यां घटाभ्यामथवा पृथुलवर्तुलमहातुम्बीफलाभ्यामिव ॥३३॥ तटमिति—सा नदी जले क्रीडन्तीनां तासां विकसितचम्पकपुष्पमाला कण्ठच्युतां तरलतरङ्गैर्बाह्यतटे निचिक्षेप निजदयितसमुद्रस्य संत्यक्तवाडवाग्निज्वालाकलापमिव ॥३४॥ प्रियतमेति—कस्याश्चिन्मृगाक्ष्याः प्रियतमेन निजकरेण रचितविलेपने प्रथमं तद्दर्शनेन सपत्नी न तथा

अग्रभागसे टकराकर बड़ी-बड़ी गोल चट्टानोंसे टकरानेका आनन्द पा रही थी ॥२९॥ यद्यपि नर्मदाका जल अत्यन्त गम्भीर प्रकृतिका था [पक्षमें धैर्यशाली था] फिर भी स्त्रियोंके नितम्बोंके आघातसे क्षोभको प्राप्त हो गया सो ठीक ही है क्योंकि जब पण्डित पुरुष भी स्त्रियोंके विषयमें विकार भावको प्राप्त हो जाता है तब जडस्वभाववाला [पक्षमें जलस्वभाववाला] क्यों नहीं प्राप्त होगा ? ॥३०॥ कोई एक पुरुष हाथोंसे पानी उछाल-उछाल कर अपनी भोली-भाली नयी स्त्रीके स्तनाग्रभागको बार-बार सींच रहा था जो ऐसा जान पड़ता था मानो उसके कोमल हृदय क्षेत्रमें जमे हुए कामरूपी नवीन कल्पवृक्षको बढ़ानेके लिए ही सींच रहा हो ॥३१॥ स्तन तटसे टकराये हुए जलने शीघ्र ही स्त्रियोंका गले लगकर आलिंगन कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रियोंका हृदय समझनेवाले कामी मनुष्य क्या नहीं करते । ॥३२॥ स्थूल स्तनमण्डलसे सुशोभित कोई एक स्त्री पानीमें बड़े विभ्रमके साथ तैर रही थी और उससे ऐसी जान पड़ती थी मानो उसने अपने हृदयके नीचे दो घट ही रख छोड़े हों अथवा शरीररूपी लताके नीचे तुम्बीके दो फल ही बाँध रखे हों ॥३३॥ नदीने स्त्रियोंके गलेसे गिरी हुई चम्पेकी सुन्दरमालाको तरगोंके द्वारा किनारेपर ला दिया था मानो उसे यह आशंका हो रही थी कि यह हमारे पति—समुद्रके शत्रु वडवानलकी बड़ी ज्वाला ही है ॥३४॥ प्रियतमके हाथके द्वारा किसी मृगनयनीके शरीरमें अंगराग लगाये जानेपर पहले

[1] लुलिताङ्ग ख० ग० घ० ङ० म० ।

नवनखपदराजिरम्बुजाक्ष्या हृदि जलबिन्दुकरम्बिता बभासे।
वरसरिदुपढौकितप्रवालव्यतिकरदन्तुररत्नकण्ठिकेव ॥३६॥
सरभसमधिपेन सिंच्यमाने पृथुलपयोधरमण्डले प्रियाया ।
श्रमसलिलमिषात्सखेदमश्रूण्यहह मुमोच कुचद्वय सपत्न्या ॥३७॥
प्रियकरसलिलोक्षितातिपीनस्तनकलशोत्थितसीकरैस्तरुण्या ।
प्रतियुवतिरथर्वसारमन्त्राक्षरनिकरैरिव ताडिता मुमूर्च्छ ॥३८॥
अहमिह गुरुलज्जया हतोऽस्मि भ्रमर विवेकनिधिस्त्वमेक एव ।
मुखमनु सुमुखी करौ धुनाना यदुपजन भवता मुहुश्चुचुम्बे[1] ॥३९॥
इति सरसिरुहभ्रमात्प्रियाणामनुसरते वदनानि षट्पदाय ।
रतिरसरसिकोऽपि लज्जमान किमपि हृदि स्पृहयाबभूव कामी ॥४०॥ [युग्मम्]
प्रियकरसलिलैर्मनस्विनीना न्यशमि हृदि प्रबलोऽपि मन्युवह्नि ।
अविरलमलिनाञ्जनप्रवाहो नयनयुगान्निरगादिवास्य धूम ॥४१॥

दुदुवे यथा तस्मिन्नेव सर्वाङ्गजलै प्रक्षालिते स्पष्टभूतानि नखपदानि पश्यन्ती पश्चात्सतेपे । विलेपनादिकरणे हि बाह्यस्नेह नखपदादौ च महान्तरस्नेह मन्यमानेति भाव ॥३५॥ नवेति—कस्याश्चित्कमलदलदीर्घाक्ष्या हृदयस्था जलबिन्दुकरम्बिता सरसनखश्रेणी शोभते स्म नद्या प्राभृतीकृता अन्तरान्तरा ग्रथितविद्रुमगुलिका-मुक्ताफलमालिकेव ॥३६॥ सरभसेति—सोत्कण्ठ प्राणाधिनाथेन तन्व्या स्तनमण्डले सेपिच्यमाने सपत्न्या ईर्ष्याभावजनितप्रस्वेदबिन्दुभि सखेद स्तनद्वय रोदितीव ॥३७॥ प्रियेति—कस्याश्चित्प्रियतमकरसलिलै सिच्यमानाया पीनस्तनभित्त्यास्फालनोत्थितै शीकरनिकरै सिक्ता निश्चेष्ट पपात । अभिचारिकमन्त्राक्षर-निकरैरिव ताडिता सपत्नी ॥३८॥ अहमिति—कश्चित्कामी भ्रमरमालापयति—अहो भ्रमर ! भवानेव समुचितवेदी अस्मादृशस्तु लज्जालक्षणेन विघ्नेन निहतो मुग्ध एव । यदेना सुमुखी सपाणिकम्प ससीत्कारं सर्वसमक्षमेव भवान् चुम्बति स्म ॥३९॥ इतीति—इति पूर्वोक्त मनसि चिन्तयन् कश्चित्कामी भ्रमरत्व-मभिललाष पद्मभ्रान्त्या स्त्रीमुखानि धावमानाय । शेष सुगमम् ॥४०॥ प्रियेति—प्रियतमप्रेरितै सलिलै-र्मानिनीना मानदहनो विस्थापित कथ ज्ञायत इति चेत् । प्रक्षालितनयनयुगकज्जलव्याजत्वात् यथा निर्याति

सपत्नीको उतना खेद नहीं हुआ था जितना कि नदीमे जलके द्वारा अंगरागके धुल जानेपर नखक्षतरूप आभूषणके देखनेसे हुआ था ॥३५॥ किसी कमललोचनाके वक्षःस्थलपर जलके बिन्दुओंसे व्याप्त नवीन नखक्षतोंकी पक्ति ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो उत्तम नदीने उसे मूँगाओंसे मिली छोटे-बडे रत्नोंकी कण्ठी ही भेंट की हो ॥३६॥ ज्योंही पतिने अपनी प्रियाका स्थूल स्तनमण्डल सहसा पानीसे सींचा त्योंही सपत्नीके दोनों स्तन पसीनाके छलसे बड़े खेद के साथ आँसू छोडने लगे ॥३७॥ पतिके हाथों द्वारा उछाले हुए जलसे सिक्त किसी स्त्रीके स्थूल स्तनमण्डलसे उचटे हुए जलके छींटोंसे सपत्नी ऐसी मूर्च्छित हो गयी मानो अथर्ववेदके सारभूत मन्त्राक्षरोंके समूहसे ही मूर्छित हो गयी हो ॥३८॥ भाई भ्रमर ! मैं तो इस बड़ी लज्जाके द्वारा ही मारा गया पर विवेकके भण्डार तुम्हीं एक हो जो कि सब लोगोंके समक्ष ही मुखके पास हाथ हिलानेवाली इस सुमुखीका बार-बार चुम्बन करते हो ॥३९॥ इस प्रकार कमलोंके भ्रमसे स्त्रियोंके मुखका अनुगमन करनेवाले भ्रमरकी रतिरूपरसके रसिक होनेपर भी किसी कामी पुरुषने लज्जित होते हुए हृदयमे बहुत इच्छा की थी—उसे अच्छा समझा था ॥४०॥ पतियोंके हाथों द्वारा उछाले हुए जलसे मानवती स्त्रियोंके हृदयकी कोपरूपी अग्नि

१ चलापाङ्गा दृष्टि स्पृशसि बहुशो वेपथुमती रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचर । कर व्याधुन्वन्त्याया पिबसि रतिसर्वस्वमधर वय तत्त्वान्वेष्यन्मधुकरहतास्त्व खलु कृती ॥ अभिज्ञानशाकुन्तले कालिदासस्य ।

अपहृतवसने जलैर्नितम्बे निहितदृशं करकेलिपङ्कजेन ।
प्रियमुरसि विनिघ्नती स्मरस्य स्फुटमकरोत्कुसुमायुधत्वमेका ॥४२॥
मुखतुहिनकरेऽपि सहतेन स्तनयुगलेन तुला कुतोऽधिरूढौ ।
इति जघनहत पयो वधूना रजनिवियोगिविहगमौ निरासे ॥४३॥
सरभसमिह यत्तटात्पतन्त्यः प्रविविशुरन्तरशङ्कितास्तरुण्य' ।
घनपुलक इवाशयो जलाना तदुदितबुद्बुदबिन्दुभिर्बभूव ॥४४॥
प्रियकरविहितामृताभिषेकैरुरसि हरानलदग्धविग्रहोऽपि ।
प्रतिफलितचलद्द्विरेफदम्भादजनि सजीव इव स्मरस्तरुण्या' ॥४५॥
निपतितमरविन्दमङ्गनाया' श्रवणतटाददतिदुर्लभोपभोगात् ।
मधुकरनिकरस्वनैर्विलोले पयसि शुचेव समाकुलं रुरोद ॥४६॥
अविरललहरीप्रसार्यमाणैस्तरलदृशश्चकितेव केशजालैः ।
स्तनकलशतटान्ममज्ज पत्रान्तरमकरी सरित पयस्यगाधे ॥४७॥

धूमशिखा । न जाज्वल्यमानस्य हि वह्नेर्धूमसभावना ॥४१॥ अपहृतेति—काचिज्जलापनीतान्तरीये धौरावाहिनी नितम्बे दृष्टि ददान क्रीडापद्मेन कान्तं जघान । ततश्च कामस्य पुष्पायुधाख्या स्पष्टीचकार । साक्षात्कामबाणेनेवाहत इत्यर्थ ॥४२॥ मुखेति—वधूना जघनकल्लोलितेन जलेन चक्रवाकयुग्म त्रासितम् । एतौ चक्रवाकौ मुखचन्द्रसंनिधावपि तथैव मिलितेन स्तनयुगलेन सादृश्य कुतो गतौ । न गतावित्यर्थ । एतौ तु चन्द्रोदये विघटितौ स्याताम् ।४३॥ सरभसमिति—यदेतास्तरुण्य औत्सुक्यनुन्ना सपद्यापतन्ति निशङ्क च प्रविशन्ति तदेतत् स्वमनसि सौभाग्य मन्यमान इव क्रीडानद उद्घुषितरोमेव उद्गतबुद्बुदजालैर्बभूव ॥४४॥ प्रियेति—प्रियकरक्षिप्तै सुधाभिषेकैस्त्रिनयनाग्निदग्धशरीरोऽपि काम प्रत्युज्जीवाचकार । कस्मात् मृगाक्ष्या सलिलार्द्रहृदयप्रतिबिम्बितवभ्रम्यमाणभ्रमरव्याजात् । जीवतो हि चलनादिका क्रिया । अतिकान्तिमत्त्वान्मृगाक्षीवपुषि भ्रमरप्रतिबिम्बसभव ॥४५॥ निपतितमिति—कस्याश्चित्तरुण्या कर्णोत्पल पपात । अतश्च पुन कृतकर्णस्पर्शसौख्यश्रिय लप्स्ये इति शोचयदिव भ्रमररुतैर्जले कर्णोत्पल रुरोदेव ॥४६॥ अविरलेति—तरलतरङ्गैस्तरुण्या केशजाले मत्स्यबन्धन इव प्रसारिते स्तनभित्तिलिखिता पत्रावली मकरिका ' '। प्रक्षालिताननना सेयम् । यथा धीवरैर्जाले प्रसारिते नदतटोपविष्टा मकरी पलायते । चकितेव भीतेव ॥४७॥

प्रबल होनेपर भी बुझ गयी थी। इसीलिए तो उनके नयन युगलसे धुएँकी तरह मलिन अंजनका प्रवाह निरन्तर निकल रहा था ॥४१॥ जलके द्वारा जिसका वस्त्र दूर हो गया है ऐसे नितम्बपर दृष्टि डालनेवाले प्रियको कोई एक स्त्री हाथके क्रीडा-कमलसे ही वक्षःस्थलपर मार रही थी मानो वह यह प्रकट कर रही थी कि यथार्थमें कामदेवका शस्त्र कुसुम ही है ॥४२॥ यह स्तनयुगल तो मुखरूपी चन्द्रमाके रहते हुए भी परस्पर मिले रहते हैं फिर तुम इनके साथ तुलापर क्यों आरूढ हुए, इनकी समानता क्यों करने चले ? यह विचार कर ही मानो स्त्रियोंके नितम्बसे ताडित जलने चकवा-चकवियोंको हटा दिया था ॥४३॥ कितनी ही स्त्रियाँ बड़े वेगके साथ तटसे कूदकर निर्भय हो जलके भीतर जा घुसी थीं उससे उठते हुए बबूलोंसे जलका मध्यभाग ऐसा जान पडता था मानो उसके सघन रोमाच ही निकल रहे हों ॥४४॥ किसी एक तरुणीके वक्षःस्थलपर उड़ते हुए भ्रमरका प्रतिबिम्ब पड रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो पतिके हाथों द्वारा किये हुए जलरूप अमृतके सिंचनसे महादेवके कोपानलसे जला हुआ भी कामदेव पुनः सजीव हो उठा हो ॥४५॥ किसी एक स्त्रीके अत्यन्त दुर्लभ कर्ण-प्रदेशसे गिरकर कमल चचल जलमे आ पडा था जो कि भ्रमर समूहके शब्दके बहाने ऐसा जान पड़ता था मानो शोकसे व्याकुल हो रो ही रहा हो ॥४६॥ अविरल तरगोंसे फैले हुए किसी चंचलाक्षीके केशजालसे डर कर ही मानो उसकी पत्ररचनाकी मकरी स्तनकलशके

अभजत जघन जघान वक्षस्तरलतरङ्गकरैश्चकर्ष केशान् ।
विट इव जलराशिरङ्गनाना सरभसपाणिपुटाहतश्चुकूज ॥४८॥
मुखमपहृतपत्रमङ्गनाना प्रबलजलैरवलोक्य शङ्कितेव ।
सरिदकृत पुनस्तदर्थमूर्मिप्रसरकरार्पितशैवलप्ररोहै ॥४९॥
सपदि वरतनोरतन्यतान्तर्य इह परिष्वजता जडेन राग ।
स किल विमलयोर्युगे तदक्ष्णो स्फटिक इव प्रकटीबभूव तस्या ॥५०॥
निरलकमपवस्त्रमस्तमाल्यं क्षततिलकं च्युतयावकाधरोष्ठम् ।
सह दयिततमैर्निषेव्यमाण सुरतमिवाम्बु मुदेऽभवद्वधूनाम् ॥५१॥
श्रवणपथरतापि कामिनीना विशदगुणाप्यपदूषणापि दृष्टि ।
अभजत जडसंगमेन रागं धिगधिकनीचरताश्रय जनानाम् ॥५२॥
धुतकरवलयस्वन निशम्य प्रतियुवतेरलिखण्डिताधराया ।
अविहितकथया कयापि सेर्ष्यं विवलितकन्धरमैक्षि जीवितेश' ॥५३॥

अभजतेति—असौ जलराशिरङ्गनाना विटचेष्टितं चकार । कया युक्त्येत्याह—नितम्बमाश्रितवान्, हृदयमाश्लिष्टवान्, तरङ्गहस्तै कचानाकृष्टवाश्च चपेटाहतश्च कण्ठकूजित कृतवानिति ॥४८॥ मुखेति—तासा मुख निजकल्लोलैर्मुष्टपत्रावलीकमवलोक्य तरङ्गिणी शङ्कितेव ऊर्मिप्रसरोपनीत शैवालाङ्कुरजाल तदर्थं कृतवती॥४९॥ सपदीति—अस्यास्तन्वङ्ग्या जडेन सलिलेन मूर्खेण वा स्वैरमाश्लिष्यता योऽन्तर्मध्ये राग कृत स स्फटिकनिर्मलयोर्नयनयोर्युगलेन प्रकटीकृत । यथा जपापुष्पादिक स्फटिकोपलपिहित तदवस्थमेव दृश्यत इति भाव ॥५०॥ निरलकेति—तत्पानीय तासा सुरतप्रसगसादृश्ये मनो मोदयाचकार । कथ सुरतसादृश्य तस्येत्याह—वल्लभतमै सहानुभूयमान कदर्थितालक भ्रष्टान्तरीयोत्तरीयक दरमिलितपुष्पमाल मृष्टपत्रवल्लीक प्रक्षालिताधरोष्ठयावकमिति ॥५१॥ श्रवणेति—कामिनीना दृष्टी रक्ता बभूव पक्षे रागो रोषाभिमानिता । किंविशिष्टापीत्याह—कर्णान्त विश्रान्तापि पक्षे श्रवण शास्त्र । अपदूषणा गतदूषिकादिदोषा पक्षे निष्कलङ्कापि । अथ च य किल विद्वान् स खलसयोगेन सरागो भवति । अतो मन्ये साधूना नीचजनाश्रयो दोषकर एव ॥५२॥ धुतेति—कस्याश्चिद् भ्रमरदष्टाधराया कम्पितकरकङ्कणरणित श्रुत्वा सपत्नी किमसौ नवोढा भवतीति

तटसे कूदकर नदीके गहरे पानीमे डूब गयी थी ॥४७॥ जलसमूह विटकी तरह कभी स्त्रियोंके नितम्बस्थलकी सेवा करता था, कभी वक्षःस्थलका ताड़न करता था, और कभी चंचल तरंग रूप हाथोंसे उनके केश खींचता था। बदलेमे जब स्त्रियाँ अपने हस्ततलसे उसे ताडित करती थीं तब वह आनन्दसे कूज उठता था, आखिर, जडसमूह ही तो ठहरा॥४८॥ नदी अपने प्रबल जलसे स्त्रियोंके मुखकी पत्ररचनाको अपहृत देख मानो डर गयी थी। इसीलिए उसने तरंग समूहरूपी हाथोंसे अर्पित शैवालके अंकुरोंसे उसे पुनः ठीक कर दिया था ॥४९॥ क्रीडाके समय आलिंगन करनेवाले जलने [पक्षमे धूर्त नायकने] किसी सुन्दरांगीके हृदयमे जो राग उत्पन्न किया था वह उसके स्फटिकके समान उज्ज्वल नेत्रोंके युगलमे सहसा प्रकट हो गया था ॥५०॥ जिसने केश बिखेर दिये हैं, वस्त्र खोल दिये हैं, मालाएँ गिरा दी हैं, तिलक मिटा दिया है और अधरोष्ठका लाल रङ्ग छुटा दिया है ऐसा वह जल पतियोंके साथ सेवन किये हुए सुरतकी तरह स्त्रियोंके आनन्दके लिए हुआ था ॥५१॥ यद्यपि स्त्रियोंकी दृष्टि श्रवणमार्गमें लीन थी [पक्षमे शास्त्र सुननेमे तत्पर थी], निर्मल गुणवाली और दोषोंसे रहित थी फिर भी जलके समागमसे [पक्षमे मूर्खके समागमसे] राग-लालिमा [पक्षमे विषयानुराग]को प्राप्त हो गयी थी अतः मनुष्योंके नीचजनोंके आश्रयसे होनेवाले रागको धिक्कार हो ॥५२॥ कोई एक स्त्री भ्रमर द्वारा खण्डित ओष्ठवाली सपत्नीके कम्पित हाथके वलयका शब्द सुन

अकलुषतरवारिभिर्विभिन्नास्वभिनवपत्त्रलतासु कामिनीनाम् ।
नखपदविततिर्दधौ कुचान्तर्भुवि परिशेषितरक्तकन्दलीलाम् ॥५४॥
अविरतजलकेलिलोलकान्तास्तनकलशच्युतकुङ्कुमैस्तदानीम् ।
कृतबहलविलेपनेव रेवा पतिमकरोत्सरितामतीव रक्तम् ॥५५॥
अहमुदयवता जनेन नीचैः पथनिरतापि यदृच्छयोपभुक्ता ।
इति सरलितवीचिबाहुदण्डा प्रमदभरादिव वाहिनी ननर्त ॥५६॥
दिनमबलमतो गृहान्प्रयाथ क्षणमहमप्यभयं भजामि कान्तम् ।
इति करुणरुतेन चक्रवाक्या समभिहिता इव ता प्रयातुमीषुः ॥५७॥
इति कृतजलकेलिकौतुकास्ताः सह दयितैः सुदृशस्ततोऽवतेरु ।
कलुषितहृदयस्तदा नवोऽपि प्रकटमभूदिव तद्वियोगदुःखैः ॥५८॥
जलविहरणकेलिमुत्सृजन्त्याः कचनिचयः क्षरदम्बुरम्बुजाक्ष्याः ।
परिविदितनितम्बसङ्गसौख्यः पुनरपि बन्धभियेव रोदिति स्म ॥५९॥

सदिहाना सक्रोध वक्रितकन्धर सखीभि सह वार्तां मुक्त्वा पतिमीक्षाचक्रे ॥५३॥ अकलुषेति—निर्मलसलिलप्रक्षालितासु पत्रवल्लीषु कुचस्थले नखक्षतपङ्क्ति शुशुभे खड्गच्छिन्नासु वल्लीषु उद्धृतरक्तमूलकन्दश्रेणिरिव ॥५४॥ अविरतेति—जलकेलिप्रवृत्ताना कामिनीना स्तनतटविगलितै. कुङ्कुमैर्नर्मदा पिञ्जरिता समुद्रमपि रञ्जयाचकार। यथा काचित् प्रचुरसपत्नीना कुङ्कुमादिविशेषभोगलक्ष्मीका पतिमनुकूलयति ॥५५॥ अहमिति—अह निम्नगामित्वेन प्रसिद्धापि जनै सर्वविदित स्वैरमुपभुक्ता । इति महाप्रमोदमाद्यन्मानसा नर्मदा तरलतरङ्गहस्तैर्नृत्य चकारेव । यथा काचिन्नीचविटासक्तापि जनैरुपभुज्यमाना सुभगमन्यमाना प्रमोदलीलानृत्यं विदधाति ॥५६॥ दिनमिति—सप्रति दिन मन्दायते ततो यूयं विरहवेदना यदि जानीथ तदा गृहं प्रतियात यथाहमकादिशीक निजकान्त प्रसादयामीति करुणाक्रन्देन चक्रवाक्या विज्ञप्ता इव ता सर्वा अपि स्त्रियो गृहान् प्रति प्रतस्थिरे ॥५७॥ इतीति—ताभिर्मुक्तो जलाशयो गडुलो बभूव । अतश्चोत्प्रेक्ष्यते विरहदु.खम्लान इव । शेष सुगमम् ॥५८॥ जलेति—कस्याश्चिज्जलक्रीडाया विरमन्त्या कवरीकलापश्च्योतद्बिन्दुजालको रुरोदेव । किमर्थं रोदितीत्याह बन्धग्रन्थिभयेनेव । यतोऽसौ मुक्तल सलब्धपृथुलनितम्बलोलनस्पर्शनसौख्य । अथ चोक्तिलेश —यथा कश्चिच्चिरबन्धनाद्दैवयोगेन मुक्त कियत्काल लब्धप्रसर पुनर्बन्धनाय प्रगुणितो महा-

चुपचाप गर्दन घुमाकर ईर्ष्याके साथ पतिको देखने लगी ॥५३॥ जब स्त्रियोंकी नयी-नयी पत्रलताएँ स्वच्छ जलसे धुलकर साफ हो गयीं तब स्तनोंकी मध्यभूमिमे नखक्षतोंकी पंक्तिने अवशिष्ट लाल कन्दकी शोभा धारण की ॥५४॥ उस समय निरन्तर जलक्रीडामें चपल स्त्रियोंके स्तनकलशसे छूटी हुई केशरसे नर्मदा नदी इतनी रक्त हो गयी थी मानो उसने शरीरमें बहुत भारी अंगराग ही लगाया हो और इसीलिए मानो उसने नदीपति—समुद्रको अत्यन्त रक्त—लालवर्ण [पक्षमें अनुरागसे युक्त] किया था ॥५५॥ मैं यद्यपि नीच मार्गमें आसक्त हूँ [पक्षमें नीचे बहने वाली हूँ] फिर भी अभ्युदयशाली मनुष्योंने मेरा इच्छानुसार उपभोग किया—यह विचारकर नर्मदा नदी तरंगरूप बाहुदण्ड फैलाकर आनन्दके भारसे मानो नृत्य ही कर रही थी ॥५६॥ अब दिन क्षीण हो गया है—समाप्त होने वाला है, आप लोग घर जावें, मैं भी क्षणभर निर्भय हो अपने पतिका उपभोग कर लूँ—इस प्रकार चक्रवाकीने दयनीय शब्दों द्वारा उन स्त्रियोंसे मानो प्रार्थना की थी इसलिए उन्होंने घर जानेकी इच्छा की ॥५७॥ इस प्रकार जलक्रीड़ाका कौतुक कर वे सुलोचनाएँ अपने पतियोंके साथ नदीसे बाहर निकलीं। उस समय नदीका हृदय [मध्यभाग] मानो उनके वियोगरूप दुःखसे कलुपित—दुःखी [पक्षमे मलीन] हो गया था ॥५८॥ जलविहारकी क्रीडा छोड़नेवाली किसी कमलनयनाके केशोंसे पानी झर रहा था जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे कि 'अबतक तो

मुखशशिविमुखीकृतावतारे सतमसि पक्ष इवोच्चये कचानाम् ।
अविरलजलबिन्दवस्तदानीमुडुनिकरा इव रेजिरे वधूनाम् ॥६०॥
प्रणयमथ जलाविलांशुकाना मुमुचुरुदारदृशः क्षणात्तदानीम् ।
ध्रुवमवगणयन्ति जाड्यभीत्या स्वयमपि नीरसमागत विदग्धाः ॥६१॥
अतिशयपरिभोगतोऽम्बुलीला रसमयतामिव सुभ्रुवोऽभिजग्मु ।
सितसिचयपदाद्यदुत्तरङ्ग पुनरपि भेजुरिमा' पय पयोधिम् ॥६२॥
मरुदपहृतकङ्कणापि काम करकलितामलकङ्कणा तदानीम् ।
कचनिचयविभूषितापि चित्र विकचसरोजमुखी रराज काचित् ॥६३॥
अनुकलितगुणस्य सौमनस्यं प्रकटमभूत्कुसुमोच्चयस्य तेन ।
अहमहमिकया स्वयं वधूभिर्यदयमधार्यत मूर्ध्नि सभ्रमेण ॥६४॥

ध्रुवाहं रोदिति ॥५९॥ मुखेति—कवरीकलापे कृष्णपक्ष इव मुखचन्द्रविभीत्या पराङ्मुख पलायमाने तन्मध्यगजलबिन्दवस्तदानीमुडुनिकरा इव शुशुभिरे । अत्र मुखचन्द्रयो कुन्तलकलापकृष्णपक्षयोस्तारकजलबिन्दूना चोपमानोपमेयभाव ॥६०॥ प्रणयमिति—अथानन्तर तास्तरलदृशो जलार्द्रवसनानामभिलाष तत्याज । अथवा युक्तमेतत्—शीतभयेन निजमपि वस्त्रादिक नीरे समागत नीरसमागतं पक्षे नीरसमरसम् आगत प्राप्त विदग्धा गुणिनो जडजन त्यजन्ति मूर्खत्वदोषसक्रान्तिभयेन ॥६१॥ अतिशयेति—एता मृगाक्ष्यो जलकेलिरसप्रवृत्ता महानुभवनाज्जलक्रीडैकलम्पटा इव बभूवु । कथ ज्ञायन्त इत्याह—यदमूर्धवलवसनपरिधानव्याजात् पुनरपि दुग्धाब्धिमिव प्रविविशु । धवलवसनकिरणैः प्रच्छादिता दुग्धाब्धिमध्यगता इवेति भाव । उत्तरङ्गमुत्कल्लोल समुद्रम् उत्कलिक वसनमिति ॥६२॥ मरुदिति—काचिद्विकसत्कमलमुखी रराज । मन्दवातशोषितजलकणापि परिहितकङ्कणाद्यलङ्करणा शिथिलकुन्तलभारग्रन्थिमण्डिता । अथ च विरोध । या किल देवापहृतकङ्कणाद्यलकरणा सा कथ सकङ्कणा स्यात् । या कचनिचयभूषिता सा कथ विकचसरोजमुखी स्यादिति ॥६३॥ अनुकलितेति—गुणगुम्फितस्य पुष्पसमूहस्य सौमनस्य सुचेतनत्व तदा सर्वजनानुभूतं प्रकटीबभूव । यत्कियदेताभिर्मनस्विनीभिरहमहमिकया मुक्तयथाक्रमग्रहणेन सभ्रमेण उत्तालचेतसा शिरसि बिभराबभूवे । यथा कस्यचिद्गुणिनो जनैरहमहमिकया पोपूज्यमानस्य सहृदयत्वादिगुणा प्रकटीभवन्ति ॥६४॥

हमने खुले रहनेसे नितम्बके साथ समागमके सुखका अनुभव किया पर अब फिर बाँध दिये जावेंगे' इस भयसे मानो रो ही रहे थे ॥५९॥ कितनी ही स्त्रियोंके मुखरूप चन्द्रमासे पीछेकी ओर केशोंका समूह नीचेकी ओर लटक रहा था और वह ऐसा जान पड़ता था मानो मुखरूपी चन्द्रमासे भयभीत हो उलटा भागता हुआ अन्धकार युक्त कृष्ण पक्ष ही हो। तथा उस केशसमूहसे जो अविरल जलकी बूँदें निकल रही थीं वे नक्षत्रोंके समूहके समान सुशोभित हो रही थीं ॥६०॥ उस समय उदार दृष्टिवाली स्त्रियोंने जलसे भीगे वस्त्रोंका स्नेह क्षणभरमें छोड दिया था सो ठीक ही है क्योंकि चतुर मनुष्य जाड्य-शैत्यके भयसे [पक्षमें जडताके भयसे] नीरसमागत—जलसे युक्त वस्त्रोंको [पक्षमें आगत नीरस मनुष्यको] स्वयं ही छोड देते हैं ॥६१॥ ऐसा जान पडता था मानो वे स्त्रियाँ अधिक कालतक उपभोग करनेके कारण जलक्रीडाके रससे तन्मयताको ही प्राप्त हो चुकी थीं इसीलिए तो सफेद वस्त्रोंके छलसे लहराते हुए क्षीरसमुद्रमें पुनः जा पहुँची थीं ॥६२॥ उस समय किसी स्त्रीके कंकण [पक्षमे जलकण] वायुने अपहृत कर लिये थे फिर भी उसके हाथमें उज्ज्वल कंकण थे। यद्यपि वह कचनिचय—केशसमूहसे विभूषित थी फिर भी विकचसरोजमुखी—केशरहित कमलरूप मुखसे सुशोभित थी [पक्षमें खिले हुए कमलके समान मुखसे सुशोभित] थी यह बडा आश्चर्य था ॥६३॥ गुणोंसे [पक्षमे तन्तुओंसे] सहित पुष्प समूहका सौमनस्य—पाण्डित्य [पक्षमे पुष्पपना] प्रकट ही था इसीलिए तो स्त्रियोंने उसे बडी शीघ्रताके

समुचितसमयेन मन्मथस्य त्रिभुवनराज्यपदे प्रतिष्ठितस्य ।
मृगमदतिलकच्छलान्मृगाक्षी न्यधित मुखे नवनीलमातपत्रम् ॥६५॥

अभिनवशशिनो भ्रमेण मा भून्मम वदनेन समागमो[1] मृगस्य ।
श्रवणगतमितीव कापि पाशद्वयमकरोन्मणिकुण्डलच्छलेन ॥६६॥

मृगमदघनसारसारपङ्कस्तबकितकुम्भनिभस्तनी सखीनाम् ।
हृदि मदनगजेन्द्रमात्तधूलीमदमिव काचिददर्शयत्कृशाङ्गी ॥६७॥

लवणिमरसपूर्णनाभिवापीमनु जलयन्त्रघटीगुणोपमानम् ।
निरवधि दधती कयापि मुक्तामणिमयहारलता न्यधायि कण्ठे ॥६८॥

अभिमुखमभिदह्यमानकृष्णागुरुघनधूमचयच्छलेन तन्व्य ।
स्मरपरवशवल्लभाभिसारोत्सुकमनसः परिरेभिरे तमांसि ॥६९॥

समुचितेति—काचिन्मृगाक्षी कस्तूरिकाविरचितपत्रवल्लीवलयव्याजात् कामस्य नीलमेघडम्बर बिभरावभूव । किंविशिष्टस्येत्याह—योग्यकालेन त्रिभुवनराज्यलक्ष्मीपदेऽभिषिक्तस्य । भामिनीभालफलके कस्तूरीलिखित वर्तुलतिलक कामच्छत्रमिवेति भाव ॥६५॥ अभिनवेति—काचित्तरललोचना कर्णगतरत्नताटङ्कव्याजेन पाशयुग्म रचयाचकार । किमर्थमित्याह—मम मुखे पूर्णचन्द्रमण्डलभ्रान्त्या मा मृग आगमदिति । बाह्य एव पाशाभ्या रुध्यतामिति भाव ॥६६॥ मृगेति—काचित्तन्वी कस्तूरीकर्पूरपरागधूसरितपीनस्तनी निजहृदये गृहीतधूलीमद कामकरीन्द्र सखीना पुरत प्रतिपादयामास । मामद्यमानो हि हस्ती प्रथममात्मान धूसरयतीति धूलीमद ॥६७॥ लवणिमेति—कयाचिन्निस्तुलवर्तुलशीतलनिर्मलस्थूलमुक्ताफलमाला कण्ठे समारोपिता । किं कुर्वतीत्याह—अरघट्टस्य सघट्टीकमालामनुकुर्वती । अन्याप्यरघट्टमाला कूपादौ भवति । तदर्थमाह—लावण्यपीयूषपरिपूर्णनाभीवापीसमीपे ॥६८॥ अभीति—दह्यमानकृष्णागुरुधूमवर्तिव्याजेन तास्तन्व्यो ध्वान्तान्याशिश्लिषु । किमर्थमित्याह—कामविह्वलत्वेन परवशा. । अतश्च दिवापि प्रियाभिसरणोत्तालचेतस-

---

साथ संभ्रमपूर्वक अपने मस्तकपर धारण किया था ॥६४॥ किसी मृगनयनीने अपने मुखपर कस्तूरीका गोल-गोल तिलक लगा रखा था उससे वह ऐसी जान पड़ती थी मानो उसने योग्य समयमें त्रिभुवनके राज्य स्थानपर प्रतिष्ठित कामदेवके ऊपर नीलमणिका नूतन छत्र ही लगाया था ॥६५॥ नये चन्द्रमाके भ्रमसे मेरे मुखके साथ मृगका समागम न हो जावे—इस विचारसे ही मानो किसी स्त्रीने मणिमय कुण्डलोंके छलसे अपने कानोंमे दो पाश धारण कर रखे थे ॥६६॥ जिसके कलशतुल्य स्तन कस्तूरी और कपूरके श्रेष्ठ पङ्कसे लिप्त हैं ऐसी कोई स्त्री मानो अपनी सखियोंको यह दिखला रही थी कि मेरे हृदयमे धूली और मदसे युक्त कामदेवरूपी करीन्द्र विद्यमान है ॥६७॥ किसी एक स्त्रीने मोतियों और मणियोंसे बनी वह हारलता धारण की थी जो कि सौन्दर्यरूपी जलसे भरी नाभिरूपी वापिकाके समीप घटीयन्त्रकी रस्सियोंकी शोभा धारण कर रही थी ॥६८॥ कितनी ही स्त्रियाँ सम्मुख जलते हुए कालागुरुके सघन धूम समूहका आलिंगन कर रही थी और उससे वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो कामसे विह्वल हो पतिके साथ अभिसार करनेके लिए उत्सुक चित्त हो अन्धकारका ही आलिङ्गन कर रही थीं—कामातिरेकसे विवश हो दिनको ही रात्रि बना रही थीं ॥६९॥

---

१. समागतो म० घ० ।

रतिरमणविलासोल्लासलीलासु लोला·
किमपि किमपि चित्ते चिन्तयन्त्यस्तरुण्य· ।
प्रविरचितविचित्रोदारशृङ्गारसारा·
सह निजनिजनाथै स्वानि धामानि जग्मु ॥७०॥

इत्थ वारिविहारकेलिगलितश्रोणीदुकूलाञ्चला
वीक्ष्यैता परयोषित सुकृतधूर्धुर्यो जगद्बान्धव ।
तद्दोषोपचयप्रमार्जनविधौ दत्ताशय साशुको-
प्यब्धि स्नातुमिवापर दिनमणिस्तत्कालमेवागमत् ॥७१॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये
जलविहारो नाम त्रयोदशः सर्ग ॥१३॥

स्तदर्थं ध्वान्तमन्तरेण दिवा प्रियाभिसरण न भवतीति भाव. ॥६९॥ रतीति—तास्तन्व्य सहचरै सह निजवासान् प्रापु । सुरतविलासरहस्यलीलासु लम्पटास्तत्कृत्य किमपि चेतसि चिन्तयन्त्य शृङ्गारसारा इति ॥७०॥ इत्थमिति—इत्थ ता परस्त्रीर्जलकेलिविगलितान्तरीया दृष्ट्वा धर्मधुराधुरीणो भुवनज्येष्ठभ्राता ततो वधूटीसर्वाङ्गदर्शनोद्भूत दोष निराकर्तुमना सकिरण पश्चिमसमुद्रे तदा स्नातु दिनमणिरादित्यो जगाम । अथ सदोष सचेल स्नातीति प्रसिद्धम् ॥७१॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितयश कीर्तिविरचितायां सन्देहध्वान्तदीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकाया त्रयोदश सर्ग परिसमाप्त· ॥१३॥

काम विलाससे पूर्ण लीलाओंमें सतृष्ण स्त्रियाँ विविध प्रकारका उत्तम शृंगार कर मनमें नये-नये मनसूबे बाँधती हुई अपने-अपने पतियोंके साथ अपने-अपने घर गयीं ॥७०॥ इस प्रकार पुण्यात्माओंमें श्रेष्ठ जगद्बान्धव-सूर्य जल विहारकी क्रीड़ामें वस्त्ररहित इन परस्त्रियोंको देख, दोषसमूहको दूर करनेके अभिप्रायसे सांशुक—सवस्त्र [पक्षमे किरण सहित] स्नान करनेके लिए ही मानो पश्चिम समुद्रकी ओर चल पड़ा ॥७१॥

इस प्रकार महाकवि श्रीहरिचन्द्र द्वारा विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें
जलविहारका वर्णन करनेवाला तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१३॥

चतुर्दशः सर्गः

स्व सप्तधा स्यन्दनसप्तिदम्भात्कृत्वा समाराधयतोऽथ वृद्ध्यै ।
ध्वान्तस्य भानु· कृपयेव दातुं प्रस्तावमस्ताचलसमुखोऽभूत् ॥१॥
अपास्य पूर्वामभिसर्तुकामो गुप्ता दिशं पाशधरेण सूर्यः ।
विलम्बमानापसरन्मयूखै पपात पाशैरिव कृष्यमाण· ॥२॥
स्वैराभिसारोत्सवसंनिरोधात्क्रोधोद्धुराणामिव बन्धकीनाम् ।
अर्कस्तदा रक्तकटाक्षलक्षच्छटाभिराताम्ररुचिर्बभूव ॥३॥
ता पूर्वगोत्रस्थितिमप्यपास्य यद्वारुणी नीचरत· सिषेवे ।
स्वसंनिधानादपसार्यते स्म महीयसा तेन विहायसार्क· ॥४॥
यथा यथा चण्डरुचि प्रतीच्या सतापमुत्सृज्य बभूव रक्तः ।
स्पर्धानुबन्धादिव कामिनोऽपि तथा तथा प्रेमवतीष्वरज्यन् ॥५॥

स्वमिति—आत्मानं रथनीलाश्वव्याजेन सप्तरूपं कृत्वा सेवमानस्यान्धतमसस्य प्रसरप्रस्तावं दातु-मस्ताचलचूलिकामादित्य आरुरोह कृपयेव दयाभरेणेव । वाहनादिप्रकारेण सेवमानस्य शत्रोरपि कृपाभरेणो-परोधिता महान्तस्तदभीष्ट पूरयन्त्येव ॥१॥ अपास्येति—पूर्वां दिश त्यक्त्वा पश्चिमा वरुणप्रतिपालिता जिगमिषुर्विलम्बमानैरपसरद्भि किरणैर्वरुणपाशैरिव कृष्यमाण आदित्योऽधस्तात्पतित· । यथा कश्चिद्विवाहिता पूर्वपत्नी परित्यज्यापरा दण्डपाशिकादिनाधिष्ठितामभिसिसीर्षु पाशैराकृष्य पात्यते ॥२॥ स्वैरेति—तदा चरमाचलचूलचुम्बी भास्वान् जपापुष्पस्तवक इव रक्तो बभूव । कथमस्य रक्तत्वमित्याह—कोपारुणै स्वैरि-णीना कटाक्षपरम्परापातैश्छुरित इव । कथमासा कोप इत्याह—स्वैरविहारमहोत्सवप्रतिरोधकत्वादस्य । रक्तकटाक्षै पावकपोतैरिवाहत आदित्य इत्यर्थ ॥३॥ तामिति—यत्ता भास्वान् पूर्वाचलस्थिति परित्यज्य नीचै पश्चिमाशा शिश्राय तेनैव कारणेन गुरुणा गगनेनात्मसमीपान्नि कास्यते । यथा कश्चिन्निजकुलस्थिति मुक्त्वाऽधममित्रविप्रतारितो मदिरा पिबति तत· कुलवृद्धेन त्यज्यते ॥४॥ यथेति—यथा यथादित्य सताप मुक्त्वा पश्चिमकामिन्या गत प्रेमरक्तो बभूव तथा तथा तमनुस्पर्धमाना इव कामिनोऽपि निजप्रियासु स्व-

तदनन्तर रथके घोड़ोंके बहाने अपने आपको सात प्रकार कर वृद्धिके लिए आराधना करनेवाले अन्धकारको दयापूर्वक अवसर देनेके लिए ही मानो सूर्य अस्ताचलके सन्मुख हुआ ॥१॥ सूर्य, पूर्व दिशा [पक्षमें पहली स्त्री]को छोड पाशधर—वरुण [पक्षमें बन्धन-को धारण करनेवाले पुरुष]के द्वारा सुरक्षित—पश्चिमदिशा [पक्षमे अन्य स्त्री]के साथ अभिसार करना चाहता था अतः नीचे लटकती हुई किरणोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो पाशधरके पाशोंसे खींचकर ही नीचे गिर रहा हो ॥२॥ उस समय सूर्य रक्तवर्ण हो गया था सो ऐसा जान पड़ता था मानो स्वच्छन्दतापूर्वक प्रेमियोंके पास आना-जाना रूप उत्सव-में रुकावट डालनेके कारण अत्यन्त कुपित व्यभिचारिणी स्त्रियोंके लाल-लाल लाखो कटाक्षोंसे ही रक्तवर्ण हो गया था ॥३॥ चूँकि सूर्य, पूर्वगोत्र—उदयाचलकी स्थितिको [पक्षमे अपने वंशकी पूर्व परम्पराको] छोड़ नीचे स्थानोंमे आसक्त हो [पक्षमे नीच मनुष्योंकी सगतिमे पड] वारुणी पश्चिम दिशा [पक्षमे मदिरा]का सेवन करने लगा था अत· महान् [पक्षमें उच्चकुलीन] आकाशने उसे अपने सपर्कसे हटा दिया था ॥४॥ सूर्य संताप छोड पश्चिम दिशामे जिस-जिस प्रकार रक्त—लालवर्ण [पक्षमे अनुरागयुक्त] होता जाता था उसी-उसी

प्राप्तुं पुन प्रत्ययमोषधीषु न्यासीचकारात्मरुचोऽत्र काश्चित् ।
शेषाः रवि स्थापयितु दिनान्ते यियासुरस्ताचलमाजगाम ॥६॥
मूर्ध्नीव लीलावनकुन्तलाढ्ये तिष्ठन् भुवो भानुरिहास्तशैले ।
चूडामणित्व प्रययौ दिनान्तेऽप्यहो महत्त्व महतामचिन्त्यम् ॥७॥
अस्ताद्रिमारुह्य रवि पयोधौ कैवर्तवत्क्षिप्तकराग्रजाल ।
आकृष्य चिक्षेप नभस्तटेऽसौ क्रमात्कुलीरं मकर च मीनम् ॥८॥
आविर्भवद्ध्वान्तकृपाणयष्ट्या छिन्नेव मूले दिनवल्लिरुच्चै ।
स्रस्ताशुमत्पक्वफला पतन्ती सद्यो जगद्व्याकुलमाततान ॥९॥
बिम्बेऽर्धमग्ने सवितु पयोधौ प्रोद्वृत्तपोतभ्रममादधाने ।
लीलाशुकाष्ठाग्रविलम्बिताह सायात्रिकेणाम्बुनि मङ्क्तुमीषे ॥१०॥
भूयो जगद्भूषणमेव कर्तुं तप्त सुवर्णोज्ज्वलभानुगोलम् ।
कराग्रसदशधृत पयोधेश्चिक्षेप नीरे विधिहेमकार ॥११॥

मनुराग वितेनिरे ॥५॥ प्राप्तुमिति—अस्त जिगमिषुरादित्य पर्वत प्रति महौषधीषु कानिचित्तेजासि स्वपनिकामिव मुमोच । अन्या अवशिष्टा भासो न्यासीकर्तुं दिवसात्ययेऽस्ताचल प्रतिचचाल । अथ च यथा यथा पश्चिमाशा प्रसर्पति तथा तथा मन्दतेजा जायते । यथा कश्चित् कृती पुण्यदशापरिवर्ते प्रवास चिकीर्षुर्गुरुमित्रस्थानेषु किंचिद् द्रव्यादिक मुञ्चति पुन प्राप्तुकामो व्यसनान्ते निशान्ते च ॥६॥ मूर्ध्नीवेति—पश्चिमाचलभृङ्गस्थो दिनमणिश्चूडामणिसादृश्य प्राप । अस्ताचले भूविलासिनीमस्तक इव । लीलावनान्येव कुन्तलास्तैराढ्ये । अहो इति प्रकटामन्त्रणे । महता पुण्यात्मना दिनान्तेऽपि शुभदशाच्छेदेऽपि प्रभुत्वमद्भुतप्रभावमनन्यसाधारणम् । अत्र भू स्त्री प्ररूपिता । अस्ताचलमस्तकयोर्वनालिकुन्तलाना चूडामणिभानुबिम्बयोश्चोपमानोपमेयभाव ॥७॥ अस्ताद्रीति—सूर्योऽस्ताचलाधिरूढो मत्स्यबन्धीव क्षिप्तकिरणजाल समुद्रतोये समाकृष्य कुलीर कर्कराशि मकरराशि मीनराशि च क्रमेण प्रकटीकरोति नभस्तले । पक्षे त्रयोऽपि जलचरा ॥८॥ आविरिति—कृष्णत्वात्प्रकटीभवदन्धतमसासियष्ट्या छिन्नमूलेव गगनाङ्गणमण्डपविस्तृता दिवसवल्ली त्रुटितादित्यलक्षणपक्वरक्तफला पतन्ती विश्व निजनिजसान्ध्यकृत्यव्याकुल चकार ॥९॥ बिम्ब इति—अर्द्धमग्नादित्यबिम्बे उद्वृत्तब्रुडयमानप्रवहणसदृशे तदा चञ्चलकिरणव्याजदिगन्तस्थितेन दिवसेन कल्लोलभ्राम्यमाणकाष्ठफलकाग्रस्थितेन प्रवहणवणिजेव जले मिमक्षाचक्रे ॥१०॥ भूय इति—पुनरपि भुवनालकरण दिनमणि-

---

प्रकार कामी लोग भी स्पर्धासे ही मानो अपनी-अपनी प्रेमिकाओंमें अनुरक्त होते जाते थे ॥५॥ सायंकालके समय जानेके इच्छुक सूर्यने प्रत्येक पर्वतपर ओषधियोंके बीच अपनी कितनी ही किरणोंको धरोहरके रूपमे रखा था और जो कुछ बाकी बची थीं उन्हें भी रखनेके लिए अस्ताचलकी ओर जा रहा था ॥६॥ सूर्य दिनान्तके समय भी [पक्षमें पुण्य क्षीण हो जानेपर भी] उस अस्ताचलपर जो कि क्रीडावन रूप केशोंसे युक्त पृथ्वीके मस्तकके समान जान पडता था, चूडामणिपनेको प्राप्त हो रहा था। अहा ! महापुरुषोंका माहात्म्य अचिन्त्य ही होता है ॥७॥ सूर्य एक धीवरकी तरह अस्ताचलपर आरूढ हो समुद्रमे अपना किरणरूपी जाल डाले हुआ था, ज्योंही कर्क—केंकड़ा, मकर और मीन [पक्षमे राशियाँ] उसके जालमें फँसे त्योंही उसने खींचकर उन्हें क्रम-क्रमसे आकाशमें उछाल दिया ॥८॥ प्रकट होते हुए अन्धकाररूपी छुरीके द्वारा जिसका मूल काट दिया गया है और जिसका सूर्यरूपी पका फल नीचे गिर गया है ऐसी दिन रूपी लताने गिरते ही सारे ससारको व्याकुल बना दिया ॥९॥ समुद्रमे आधा डूबा हुआ सूर्यबिम्ब पतनोन्मुख जहाजका भ्रम उत्पन्न कर रहा था अतः चचल किरणरूप काष्ठके अग्रभागपर बैठा हुआ दिनरूपी जहाजका व्यापारी मानो पानीमें डूबना चाहता था ॥१०॥ उस समय लाल-लाल सूर्य समुद्रके जलमे विलीन

आवर्त्तगर्तान्तरसौ पयोधेर्न्यधीयत स्यन्दनवाहवेषैः ।
आकृष्य शूरोऽपि तमःसमूहैरहो दुरन्तो बलिना विरोधः ॥१२॥
प्रवासिना तद्विरहाक्षमेव सूर्येण पत्यारुणकान्तिदम्भात् ।
दत्त्वालये पत्रकपाटमुद्रां ययौ सहाम्भोजवनस्य लक्ष्मीः ॥१३॥
दिशा समानेऽपि वियोगदुःखे पूर्वैव पूर्वं यदभूद्विवर्णा ।
तेनात्मनि प्रेम रवेरतुल्यं प्रवासिनोऽनक्षरमाचचक्षे ॥१४॥
कामस्तदानीं मिथुनानि शीघ्रं प्रत्येकमेकः प्रजहार बाणैः ।
न लक्ष्यशुद्धिर्निबिडान्धकारे भविष्यतीत्याहितचेतसेव ॥१५॥
अन्योऽन्यदत्तं बिसखण्डमास्ये रथाङ्गनाम्नोर्युगलं प्रयत्नात् ।
सायं वियोगादद्रुतमुत्पतिष्णोर्जीवस्य वज्रार्गलवद्बभार ॥१६॥

बिम्बं अवर्तितसुवर्णगोलकमिव समुद्रसलिले [1]डुवोल (?) कालसुवर्णकारः । करा एव सदंशस्तेन धृतम् । नहि समुद्रमज्जनमन्तरेण तदवस्थमेव भुवनालंकरणसमर्थं प्रगे पूर्वस्यां दिशि समुदितं रविबिम्बं जायत इति भावः । यथा कश्चित्सुवर्णकारो भग्नताटङ्कादिकमावर्त्य गोलकं कृत्वा पुनरपि घटनार्थं जले [2]वोलयति ॥११॥ आवर्त्तेति—असौ प्रतापपुञ्जोऽप्यादित्यो रथाश्ववेषं धृत्वा ध्वान्तपटलैः समुद्रगर्भावर्तविवरमध्ये निचिक्षिपे । आकृष्य बलात्कारेण, अथवा बलिनामप्रतिकार्याणां विरोधः सापत्नभावो दुरन्तो दुस्तरः । यथा कश्चित्सुभटः सततमविस्मृतवैरैः सपत्नैः केनचिच्छलेनाकृष्य दुरन्तामापदं नीयते ॥१२॥ प्रवासिनेति—अस्तं यियासता भास्वता परित्रेणेव विरहं सोढुमपारयन्ती पद्मखण्डलक्ष्मीः सार्द्धं जगाम शोणप्रभाव्याजात् । सकुचितपद्मानां हि बाह्यपत्रनीलच्छाया प्रतिभासते नाभ्यन्तरपत्रशोणच्छायेति भावः । किं कृत्वेत्याह—निजगृहे दलाररमुद्रां दत्त्वा । यथा काचित्प्रवासिनी निजगृहे कपाटापिधानं दत्त्वा प्रयाति ॥१३॥ दिशामिति—सर्वदिशामपि ककुभां साधारणेऽपि विरहदुःखे परं प्रथममैन्द्री दिक् श्यामला बभूव तदात्मनोऽनन्यसाधारणं प्रेमानुबन्धमादित्यस्य क्षेत्रान्तराश्रितस्यानुक्तमपि कथयाचकार ॥१४॥ काम इति—कामस्तदा सन्ध्यासमये चन्द्राद्यसहायोऽपि सर्वतो मिथुनानि निजघान । पश्चादन्धतमसे विजृम्भमाणे न लक्ष्यं द्रक्ष्यामीति वितर्कयन्निव ॥१५॥ अन्योऽन्येति—परस्परदत्तं बिसकिसलयमचर्वितमेव चक्रवाकयुगलं मुखे बभार विरहवेदनापीडितस्य निर्जि-

---

हो गया जो ऐसा जान पड़ता था मानो विधातारूपी स्वर्णकारने फिरसे संसारका आभूषण बनानेके लिए उज्ज्वल सुवर्णकी तरह सूर्यका गोला तपाया हो और किरणाग्र [पक्षमें हस्ताग्र] रूप सँड़सीसे पकड़ कर उसे समुद्रके जलमें डाल दिया हो ॥११॥ रथके घोड़ोंका वेष धारण करनेवाले अन्धकारके समूहने शूरवीर सूर्यको भी ले जाकर समुद्रके आवर्तरूप गर्तमें डाल दिया सो ठीक ही है क्योंकि बलवानोंके साथ विरोध करना अच्छा नहीं होता ॥१२॥ चूँकि कमलवनकी लक्ष्मी सूर्यका विरह सहनेमे असमर्थ थी अतः अपने घरमें पत्ररूपी किवाड बन्द कर लाल-लाल कान्तिके छलसे प्रवासी सूर्यके साथ ही मानो चली गयी थी ॥१३॥ यद्यपि वियोगका दुःख सभी दिशाओंको समान था फिर भी जो पहले पूर्वदिशा मलिन हुई थी उससे वह प्रवासी सूर्यका अपने आपमे चुपचाप अतुल्य प्रेम प्रकट कर रही थी ॥१४॥ सघन अन्धकारमे लक्ष्यका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकेगा—यह विचार कर ही मानो कामदेव उस समय बडी शीघ्रताके साथ अपने बाणोंके द्वारा प्रत्येक स्त्री-पुरुषपर प्रहार कर रहा था ॥१५॥ चकवा-चकवियोंके युगल परस्पर दिये हुए मृणालके जिन टुकड़ोंको बड़े प्रयत्नसे अपने मुखमें धारण किये हुए थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो सायंकालके समय

---

१ ब्रोडयित्वा । २ ब्रोडयति ।

लब्ध्वा पयोमज्जनपूर्वमध्ये रम्यांशुकप्रावरणं दिनान्ते ।
मित्रेण दूराध्वचरेण मुक्तं वर्त्माम्बरं ध्वान्तमलीमसं तत् ॥१७॥
निमज्ज्य[1] सिन्धौ सवितुर्दिनान्ते वृथोडुरत्नोद्धरणाय यत्नः ।
यत्तत्करस्पर्शमवाप्य जग्मुर्भूयोऽपि रत्नाकरमेव तानि ॥१८॥
मित्रं क्वचित्कूटनिधिर्निधत्ते वसूनि हृत्वेत्युदितापवादः ।
सन्ध्यामथोदीरितरागरक्तां शस्त्रीमिवान्तर्निदधेऽस्तशैलः ॥१९॥
प्रदोषपञ्चास्यचपेटयोच्चैरुन्मुक्तमुक्तोज्ज्वलतारकौघः ।
ध्वस्तो नभःप्रौढगजस्य भास्वत्कुम्भोऽपरश्चेन्दुमिषादुदस्तः ॥२०॥
अथास्तसंध्यारुधिराणि पातुं विस्तारिताराभरदन्तुरास्यः ।
वेतालवत्कालकरालमूर्तिः समुज्जजृम्भे सहसान्धकारः ॥२१॥

गमिषोर्जीवस्य दम्भोलिस्तम्भार्गलासदृशम् ॥१६॥ लब्ध्वेति—जलस्नानपूर्वं भास्वत्किरणाच्छादनं समुद्रात् प्राप्य सूर्येण गगनमार्गस्तमस्काण्डमलिनो मुमुचे । यथा कश्चिद् दूराध्वगो गन्तव्यस्वजनसकाशात्स्नानाद्यनन्तरं वस्त्राणि लब्ध्वा धूलिप्रस्वेदादिमलिनं मार्गवसनं मुञ्चति ॥१७॥ निमज्ज्येति—समुद्रे मङ्क्त्वा नक्षत्रसदृशानि स्थूलमुक्ताफलरत्नानि ग्रहीष्यामीति सध्याया यदादित्यस्य प्रयासस्तद् वृथा निरर्थक एव । कुत इत्याह—यत कारणात् प्रभाते तान्येवोडुरत्नानि करस्पृष्टानि समुद्रे मग्नानि अस्तमयाचक्रिरे इत्यर्थः । ततो यस्य शुभदशायामपि हस्ताद्रत्नादिकं प्रच्यवते तस्य दिनान्ते दुर्दशायां तदर्थमारम्भो मोघ एव ॥१८॥ मित्रमिति—अथानन्तरमस्ताचलः सन्ध्यामपि प्रच्छादयामास छुरिकामिव प्रकटलोकापवादः । कथमपवादः । इत्याह—अयमस्ताचलो नैकोत्तुङ्गशिखरशाली किरणान् हृत्वा सूर्यं क्वचिदज्ञातस्थाने निक्षिपति । यथा कश्चिन्मित्रद्रोही छद्मनिधानो द्रव्यं गृहीत्वा निजमित्रं घातयतीति लोकप्रसिद्धेऽरक्तलिप्तां कार्यकारिणीं क्षुरिकां पिदधाति ॥१९॥ प्रदोषेति—रजनीमुखपञ्चाननकरतलाभिघातेन गगनगजेन्द्रस्य एक आदित्यलक्षणः कुम्भोऽध पातितः । किंविशिष्टः स इत्याह—विक्षिप्तमुक्ताफलतारकनिकरः । द्वितीयश्च कुम्भो मृगाङ्कव्याजादूर्ध्वमुच्छालितः । प्रदोषे सूर्योऽस्तमितश्चन्द्रश्चोद्गत इति ॥२०॥ अथेति—अथानन्तरमज्ञातस्थानाद्ध्वान्तसंचयो यमास्यमलिनमूर्तिः सन्ध्याशोणितपानलम्पटो वेताल इव प्रकटीबभूव ॥२१॥

शीघ्र ही उड़नेवाले जीवको रोकनेके लिए वज्रके अर्गल ही हों ॥१६॥ लम्बा मार्ग तय करनेवाले सूर्यने सायंकालके समय समुद्रके जलमें अवगाहन कर उत्तम किरणरूप वस्त्र प्राप्त कर लिया था अतः अन्धकारसे मलिन आकाशरूप मार्गका वस्त्र छोड़ दिया था ॥१७॥ सूर्य सायंकालके समय समुद्रमें गोता लगाकर नक्षत्ररूपी रत्नोंको निकालनेके लिए जो प्रयत्न करता है वह व्यर्थ है क्योंकि प्रातःकाल उसकी किरणोंका [पक्षमें हाथोंका] स्पर्श पाकर वे पुनः समुद्र ही में चले जाते हैं ॥१८॥ यह कूटनिधि—कपटका भाण्डार [पक्षमें शिखरोंसे युक्त] अस्ताचल, वसुओं—किरणों [पक्षमें धन] का अपहरण कर मित्र—सूर्य [पक्षमें सखा] को कहीं नष्ट कर देता है—इस प्रकार ज्योंही उसका लोकमें अपवाद फैला त्योंही उसने खूनसे रंगी छुरीकी तरह लालिमासे आरक्त संध्याको शीघ्र ही अपने भीतर छिपा लिया ॥१९॥ इधर आकाशरूपी प्रौढ हाथीका मोतियोंके समान उज्ज्वल ताराओंके समूहको बिखेरनेवाला सूर्यरूपी एक गण्डस्थल सायंकालरूपी सिंहके नखाघातसे नष्ट हुआ उधर चन्द्रमाके छलसे दूसरा गण्डस्थल उठ खड़ा हुआ ॥२०॥ तदनन्तर जिसने संध्याकी लालिमारूप रुधिर पीनेके लिए ताराओंरूप दाँतोंसे युक्त मुँह खोल रखा है और कालके समान जिसकी भयंकर मूर्ति है ऐसा अन्धकार वेतालके समान सहसा प्रकट हुआ ॥२१॥

[1] निर्मज्ज्य घ० म० ।

अस्ताचलात्कालवलीमुखेन क्षिप्ते मधुच्छत्त्र इवार्कबिम्बे ।
उड्डीयमानैरिव चञ्चरीकैर्निरन्तरं व्यापि नभस्तमोभि. ॥२२॥

अन्यं जलाधारमित' प्रविष्टे कुतोऽपि हसे सहिते सहायैं ।
नभ सरोऽच्छेदगरीयसीभिश्छन्न तम'शैवलमञ्जरोभि' ॥२३॥

अस्तं गते भास्वति जीवितेशे विकीर्णकेशेव तम समूहै' ।
ताराश्रुबिन्दुप्रकरैर्वियोगदु:खादिव द्यौ रुदती रराज ॥२४॥

तेजो निरस्तद्विजराजजीवे गते जगत्तापिनि तिग्मरश्मौ ।
तद्वासहर्म्यं तमसा विशुद्ध्यै द्यौर्गोमयेनेव विलिम्पति स्म ॥२५॥

नून महो ध्वान्तभयादिवान्तश्चित्ते निलीन परिहृत्य चक्षु ।
यच्चेतसैवेक्षणनिर्व्यपेक्षमद्राक्षुरुच्चावचमत्र लोका: ॥२६॥

आज्ञामतिक्रम्य मनोभवस्य यियासता सत्वरमध्वगानाम् ।
पुनस्तदा नीलशिलामयोच्चप्राकारबन्धायितमन्धकारै ॥२७॥

अस्तेति—कालमर्कटेन सूर्यबिम्बे मधुच्छत्र इव त्रोटितक्षिप्ते तस्मादुड्डीनैर्मधुमक्षिकापटलैरिव ध्वान्तपटलैर्नभस्तल परित परितस्तरे ॥२२॥ अन्यमिति—इतो गगनाम्भोधेर्भास्वति पश्चिमसमुद्र प्रविष्टे सहायै सहिते प्रतापैर्व्याप्ते गगनतडागोऽच्छेदगुरुतमतमोजम्बालजटाभि पिहित । यथा एकस्मात्तडागात्तडागान्तर सपरिवारे हसे गते छेदकाभावाज्जम्बालजाल वरीवृध्यमान सर आच्छादयति ॥२३॥ अस्तमिति—आदित्ये कान्तेऽस्तगते गगनलक्ष्मीस्तम पटलैर्विलुलितकवरीकलापेव दुस्सहप्रियविरहपीडितेव नक्षत्रबाष्पबिन्दुभिर्नि शब्द रुदतीव राजते स्म ॥२४॥ तेज इति—भुवनतापकारिणि चण्डकिरणे निजप्रतापनिर्दलितचन्द्रबृहस्पतौ क्वाप्यस्तगते द्यौर्नभ श्रीस्तद्वासगृह विशुद्ध्यै पवित्रकरणाय ध्वान्तेन पिदधाति। यथा कस्मिंश्चित्पापात्मनि नियोगिनि निगृहीतब्राह्मणराजे तस्मिन् मृते प्रवसिते वा तद्गृह साधुवासार्थं गोमयेन काचित्पवित्रयति ॥२५॥ नूनमिति—महातेजस्विनि भास्करे निगृहीते नूनमहमेव मन्ये ध्वान्तेन कादिशीक तेज स्फुरित जनाना नयन परित्यज्य हृदयदुर्गं समाश्रितम् । कथ ज्ञातमित्याह—यतोऽमी लोका पदार्थसार्थं निम्नोन्नतं हृदयेनैव ईक्षाचक्रिरे न चक्षुषा स्थलगह्वरादिक स्मार स्मार सचरन्तीत्यर्थ ॥२६॥ आज्ञामिति—कदर्पसार्वभौमाज्ञामुल्लङ्घ्य जिगमिषता पथिकाना पुरत. सध्यासमये नीलशिलाघटितसालवलयेनेवाचरितमन्धतमसेन । नवत

जब काल रूपी वानरने मधुके छत्तेकी तरह सूर्य बिम्बको अस्ताचलसे उखाड कर फेंक दिया तब उडनेवाली मधुमक्खियोंकी तरह अन्धकारसे यह आकाश निरन्तर व्याप्त हो गया ॥२२॥ जब सूर्य रूपी हंस अपने साथियोंके साथ वहाँसे किसी दूसरे जलाशयमे जा घुसा तब यह आकाश रूपी सरोवर कभी न कटनेके कारण बडी-बडी अन्धकार रूप शैवाल की मंजरियोंसे व्याप्त हो गया ॥२३॥ उस समय ऐसा जान पडता था कि आकाश रूपी स्त्री सूर्य रूप पतिके नष्ट हो जानेपर अन्धकार समूहके बहाने केश बिखेरकर तारा रूप अश्रुबिन्दुओंके समूहसे मानो रो ही रही हो ॥२४॥ जब अपने तेजके द्वारा द्विजराज चन्द्रमा और जीव-बृहस्पति [पक्षमे ब्राह्मणका] प्राणघात करने एव संसारको सन्ताप देने वाला सूर्य वहाँसे चला गया तब आकाश रूपी स्त्रीने उसके निवासगृहको शुद्ध करनेके लिए अन्धकारसे क्या, मानो गोबरसे ही लीपा था ॥२५॥ ऐसा जान पडता था कि उस समय प्रकाश अन्धकारके भयसे आँख बचाकर मानो लोगोंके चित्तमें जा छिपा था इसीलिए तो वे नेत्रोंकी परवाह न कर केवल चित्तसे ही ऊँचे-नीचे स्थानको देख रहे थे ॥२६॥ उस समय कामदेवकी आज्ञाका उल्लंघन कर जो पथिक शीघ्र ही जाना चाहते थे उन्हें रोकनेके लिए अन्धकार

लब्ध्वा समृद्धिं रतये स्वभावान्मलीमसाना मलिना भवन्ति ।
यत्पांसुला दस्युनिशाचराणामभून्मुदे केवलमन्धकारः ॥२८॥
तथाविधे सूचिमुखाग्रभेद्ये जातेऽन्धकारे वसतिं प्रियस्य ।
हृत्कक्षलग्नस्मरदाहवह्निविज्ञातमार्गेव जगाम काचित् ॥२९॥
सचार्यमाणा निशि कामिनीभिर्गृहाद्गृहं रेजुरमी प्रदीपाः ।
तेजोगुणद्वेषितया प्रवृद्धैस्तमोभिरान्ध्यं गमिता इवोच्चैः ॥३०॥
दधुर्वधूभिर्निशि साभिलाषमुल्लासितप्रांशुशिखाः प्रदीपाः ।
प्रत्यालयं क्रुध्यदनङ्गमुक्तप्रोत्तप्तनाराचनिकायलीलाम् ॥३१॥
पूर्वाद्रिभित्त्यन्तरितोऽथ रागात्स्वज्ञापनायोपपतिः किलेन्दुः ।
पुरन्दराशाभिमुखं कराग्रैश्चिक्षेप ताम्बूलनिभां स्वकान्तिम् ॥३२॥
ऐरावणेन प्रतिदन्तिबुद्ध्या क्षते तमोध्यामलपूर्वशैले ।
प्राची तटोत्थैरिव धातुचूर्णैरिन्दोः कराग्रैश्छुरिता रराज ॥३३॥

कामाज्ञया कीलिताः स्थानस्था एव लोका न कुत्रचित् सचरिष्णव ॥२७॥ लब्ध्वेति—मलिना दुष्टात्मानः समृद्धिं प्रभुत्वकाष्ठां लब्ध्वा मलीमसानां तादृशदुर्जनानामेव रतये हर्षहेतवे भवन्ति न साधूनाम् । केनोल्लेखेनेत्याह—यतः स्वैरिणीचोरराक्षसानामेव प्रमोदाय ध्वान्तं बभूव न दिवाकर्मणा जनानाम् ॥२८॥ तथेति—तथा सूचिमुखभेद्ये निबिडान्धकारेऽपि काचिन्मृगाक्षी प्रियवसतिं त्वरितं जगाम हृदयजीर्णतृणसचयदेदीप्यमानकामदावाग्निप्रकाशदृष्टमार्गेव ॥२९॥ सचार्यमाणेति—अमी प्रदीपाः गृहाद् गृहं कामिनीभिः करे धृताः सचार्यमाणाः शोभन्ते स्म । अतिप्रसरप्रभुत्वमापन्नैर्ध्वान्तैरन्धत्वं प्रापिता इव । किं कारणमित्याह—तेजोगुणद्वेषितया तेजोगुणशत्रुभावेन । अन्धो हि हस्तधृतः सचार्यते न चक्षुष्मानिति भावः ॥३०॥ दधुरिति—सुरतगृहप्रकटप्रकाशार्थं वधूभिरुल्लासिता दीर्घकलिकाः प्रदीपाः प्रतिगृहं दृप्यत्कदर्पप्रहितजाज्वल्यमानलोहनाराचसचयतुलना बिभराबभूवुः । समयप्राबल्येन पुष्पशरान्मुक्त्वा तप्तनाराचान्कामः प्रहिणोतीत्यर्थः ॥३१॥ पूर्वेति—चन्द्रो जार इव पूर्वपर्वतलक्षणमित्यन्तरितः आगतोऽहमस्मीति ज्ञापनाय पूर्वदिक्स्वैरिण्याः सम्मुखं शोणप्रभापटलं ताम्बूलमिव निचिक्षेप प्राहिणोत् ॥३२॥ ऐरावणेनेति—ध्वान्तध्यामलितपूर्वाचलो हस्तिभ्रमं दधानो परहस्तिबुद्ध्या धावितेन सुरकरिणा दन्तमुशलैश्चूर्णितः । ततस्तस्य तटसमुद्भूतैर्गैरिकचूर्णैरिव चन्द्र-

---

नील पत्थरके बने ऊँचे प्राकारका काम कर रहा था ॥२७॥ चूँकि अनेक दोषोंसे युक्त अन्धकार केवल चोर और राक्षसोंके लिए ही आनन्द दे रहा था अतः यह बात स्वाभाविक है कि मलिन पुरुष सम्पत्ति पाकर मलिन पुरुषोंके लिए ही आनन्ददायी होते हैं ॥२८॥ सुईकी अनीके अग्रभागके द्वारा दुर्भेद्य उस सघन अन्धकारके समय भी कोई एक स्त्री अपने प्रेमीके घर जा रही थी मानो हृदय रूपी वनमें लगी हुई कामदाह रूपी अग्निसे ही उसे मार्ग विदित हो रहा था ॥२९॥ रात्रिके समय स्त्रियोंके द्वारा एक घरसे दूसरे घर ले जाये जाने वाले दीपक ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो अतिशय वृद्धिको प्राप्त हुए अन्धकारने तेजोगुणके साथ द्वेष होनेके कारण उन्हें बिलकुल अन्धा ही बना दिया हो ॥३०॥ रात्रिके समय स्त्रियोंके द्वारा घर-घर बड़ी उमगके साथ ऊँची-ऊँची शिखाओंसे सुशोभित जो दीपक जलाये गये थे वे कुपित कामदेवके द्वारा छोड़े गये सन्तप्तबाण समूहकी शोभाको धारण कर रहे थे ॥३१॥ तदनन्तर पूर्वाचलकी दीवालसे छिपे हुए चन्द्रमा रूपी उपपतिने अपना परिचय देनेके लिए पूर्वदिशाके सम्मुख किरणोंके अग्रभागसे [पक्षमे हाथोंके अग्रभागसे] पानके समान अपनी लाल-लाल कान्ति फेंकी ॥३२॥ जब ऐरावत हाथीने अन्धकारसे मलिन पूर्वाचलको प्रतिहस्ती—शत्रुहस्ती समझ नष्ट कर दिया तब चन्द्रमाकी लाल-लाल किरणोंसे व्याप्त पूर्व दिशा ऐसी सुशोभित

उदशुमत्या कलया हिमाशो' कोदण्डयष्ट्यार्पितबाणमेव ।
भेत्तु तमस्तोमगजेन्द्रमासीदाबद्धसधान इवोदयाद्रि' ॥३४॥

व्यापारितेनेन्द्रककुब्भवान्या हत्वार्धचन्द्रेण तमोलुलायम् ।
कीलालधारा इव तस्य शोणा. प्रसारिता दिक्षु रुच' क्षणेन ॥३५॥

अर्धोदितेन्दो शुकचञ्चुरक्त वपु स्तनाभोग इवोदयाद्रौ ।
प्राच्या प्रदोषेण समागताया क्षतं नखस्येव तदाबभासे ॥३६॥

इन्दुर्यदन्यासु कला क्रमेण तिथिष्वशेषा अपि पौर्णमास्याम् ।
धत्ते स्म तद्वेद्मि गुणान्पुरन्ध्रीप्रेमानुरूप पुरुषो व्यनक्ति ॥३७॥

उद्धर्तुमुद्दामतमिस्रपङ्काद्व्योमापि कारुण्यनिधि पिशङ्ग. ।
भूद्धारलीलाकिणकालिकाङ्क[1]' सिन्धो शशी कूर्म इवोज्जगाम ॥३८॥

शोणकरै कर्बुरिता पूर्वा दिक् राजते स्म ॥३३॥ उदशुमत्येति—ऊर्ध्वप्रसृतकिरणया चापाकार धारयन्त्या चन्द्रकलया सहितबाणयेव धनुर्लतया पूर्वाचल आरोपितसधान इव । किं कर्तुम् । तमस्तोमकरीन्द्र हन्तुम् ॥३४॥ व्यापारितेनेति—इन्द्रदिगेव भवानी चण्डिका तया ध्वान्तमहिष प्रकटिताद्धोद्गतचन्द्रेण निहत्य महिषशोणधारा इव अरुणदीधितय सर्वत्र प्रसारिता । यथा महिषासुर अर्द्धचन्द्रप्रहरणेन हतवती रुधिरधारा सर्वत्र प्रसारयामास ॥३५॥ अर्धोदित इति—पूर्वदिगङ्गनाया उदयाचलकुचस्थले अर्धोद्गतचन्द्रस्य शुकचञ्चुसदृशीकला शोभते स्म प्रदोषभुजङ्गेन सगताया नखक्षतिरिव । प्रथमोद्गतत्वात्कीरचञ्चुसादृश्यम् ॥३६॥ इन्दुरिति—यदपरासु द्वितीयादिषु तिथिषु क्रमेण एकादिसख्या कला दधाति राकाया च षोडशापि प्रकाशयति तदहमेव मन्ये सर्वोऽपि पुमान् स्त्रीस्नेहानुमात्र गुणान् प्रकाशयति । यस्या स्त्रिया यावन्मात्रस्नेहानुबन्धस्तावन्मात्र पुसा गुणप्रकाश इति ॥३७॥ उद्धर्तुमिति—शशी चन्द्र एव कूर्म कमठ समुद्रादभ्युद्गत । भूतलोद्धारलीलाव्रणकार्ष्ण्यमेव अङ्को लाञ्छन यस्य । पीतवर्ण प्रथमोद्गतत्वाच्चन्द्रस्य । किं कर्तुमित्याह—न केवल पृथिवी गगनमपि तम समुद्रकर्दमादुद्धर्तुम् । अत्र चन्द्रकूर्मयो किणकालिकालाञ्छनयोस्तम समुद्र-

---

होने लगी मानो पूर्वाचलके तटसे उड़ी गेरूके चूर्णसे ही व्याप्त हो ॥३३॥ उदयाचल, चन्द्रमाकी उदयोन्मुख कलासे ऐसा जान पड़ता था मानो अन्धकार समूह रूप हाथीको नष्ट करने के लिए धनुषपर बाण रख निशाना बाँधे ही खडा हो ॥३४॥ उस समय दिशाओंमें जो लाल-लाल कान्ति फैल रही थी वह ऐसी जान पड़ती थी मानो पूर्व दिशा रूपी पार्वतीके द्वारा चलाये हुए अर्धचन्द्र—बाणने अन्धकार रूपी महिषासुरको नष्ट कर उसके रुधिरकी धारा ही फैला दी हो ॥३५॥ उस समय उदयाचलपर अर्धोदित चन्द्रमाका तोताकी चोंचके समान लाल शरीर ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो प्रदोष (सायकाल) रूप पुरुषके साथ समागम करनेवाली पूर्व दिशा रूपी स्त्रीके स्तनपर दिया हुआ नखक्षत ही हो ॥३६॥ चूँकि चन्द्रमा अन्य तिथियोंमे अपनी कलाएँ क्रम-क्रमसे प्रकट करता है परन्तु पूर्णिमा तिथिमें एक साथ सभी कलाएँ प्रकट कर देता है अतः मालूम होता है कि पुरुष स्त्रियोंके प्रेमानुसार ही अपने गुण प्रकट करता है ॥३७॥ समुद्रसे पीतवर्ण चन्द्रमाका उदय हुआ मानो उत्कट अन्धकार रूपी कीचड़से आकाशका भी उद्धार करनेके लिए दयाका भाण्डार एव पृथिवी उद्धारकी लीलासे उत्पन्न भट्टकी कालिमासे युक्त शरीरका धारक कच्छप ही समुद्रसे उठ रहा हो ॥३८॥

---

१ कालिकाङ्क म० घ० ।

मुख निमीलन्नयनारविन्द कलानिधौ चुम्बति राज्ञि रागात् ।
[1]गलत्तमो नीलदुकूलबन्धा श्यामाद्रवच्चन्द्रमणिच्छलेन ॥३९॥

एकत्र नक्षत्रपतिः स्वशक्त्या निशाचरोऽन्यत्र दुनोति वायु ।
निमील्य नेत्राब्जमत कथचित्पत्युर्वियोग नलिनी विषेहे ॥४०॥

लेभे शशी शोणरुच किरातैर्यो बाणविद्धैण इवोदयाद्रौ ।
अग्रेऽवदातद्युतिरङ्गनाना धौत स हर्षाश्रुजलैरिवासीत् ॥४१॥

रात्रौ नभश्चत्वरमापतन्तमुद्वेल्लदुल्लोलभुज पयोधि ।
तनूजमिन्दु सुतवत्सलत्वादुत्सङ्गमानेतुमिवोल्ललास ॥४२॥

तथाश्नुवानेन जगन्महोभि कृतस्तनीयाञ्शशिनान्धकार ।
मन्ये यथास्यैव कलङ्कदम्भादनन्यगामी शरण प्रपेदे ॥४३॥

कर्दमयोश्चोपमानोपमेयभाव ॥३८॥ मुखमिति—श्यामारात्रिरप्रस्तुता स्त्री च चन्द्रकान्तव्याजाज्जलममुचत् सात्त्विकरसरहस्य चादर्शयत् । क्व सति । राज्ञि चन्द्रे भूपतौ च षोडशकलानिधाने गीतवाद्यलिखितादिकला-कुशले च सकुचन्ति नयनान्येवारविन्दानि [यस्मिंस्तथाभूत] मुख प्रथमारम्भ वदन च चुम्बति ॥३९॥ एकत्रेति—एकत्र तारकपतिरात्मबलेन तापयति अन्यत्र च रात्रिवात कम्पयति अतएव तन्महादु ख पद्मिनी-मित्रविरह कथमपि नलिननयन सकोच्य सहते स्म । यथा काचित्कुलस्त्री प्रोषिते भर्तरि अक्षत्रकारिणि क्षितिपतौ कस्मिंश्चिद् राक्षसे च भीषयति पत्युर्विरह लोचने निमील्य सहते ॥४०॥ लेभ इति—उदयाचलस्थश्चन्द्र. शोणप्रभा बभार भिल्लैर्बाणैर्विद्धो भेदितो मृगो यस्य, मृगरक्तशोणप्रभ इव । पश्चात् स एव चन्द्र उदयाचल-मतिक्रान्तो धवलरुचिर्बभूव । कामिनीना हर्षाश्रुप्रवाहै प्रक्षालित इव ॥४१॥ रात्राविति—नक्त गगनचतुष्पथ-मागच्छन्त निजाङ्गज चन्द्र प्रसारिततरलतरङ्गबाहु समुद्रो निजाङ्कमारोपयितुमूर्ध्वमुज्जृम्भते । यथा कश्चित्सुतवत्सलो रिरसया चत्वरे गच्छन्त सुत वेगेन धावित्वा उत्सङ्गे करोति ॥४२॥ तथेति—तथा भुवन व्याप्नुवता चन्द्रेण निजकिरणकलापैस्तथा कृशीकृतोऽन्धकारो यथाह वितर्कयामि कलङ्कवेष धृत्वा शशिनमेव

ज्योंही चन्द्रमा रूपी चतुर [पक्षमें कलाओंसे युक्त] पतिने, जिसमे नेत्र रूपी नील कमल निमीलित हैं ऐसे रात्रिरूपी युवतीके मुखका रागपूर्वक चुम्बन किया त्योंही उसकी अन्धकार रूपी नील साडीकी गाँठ खुल गयी और यह स्वयं चन्द्रकान्तमणिके छलसे द्रवीभूत हो गयी ॥३९॥ एक ओर यह नक्षत्रपति—चन्द्रमा [पक्षमे क्षत्रियत्वसे रहित दुष्ट राजा] अपनी शक्तिसे दुखी कर रहा है और दूसरी ओर वह रात्रिमे चलने वाला [पक्षमें राक्षस रूप] पवन दुःखी कर रहा है अत नेत्रकमल बन्द कर कमलिनी जिस किसी तरह पतिका वियोग सह रही थी—वियोगका समय काट रही थी ॥४०॥ जिस चन्द्रमाने उदयाचलपर लालकान्ति प्राप्त की थी मानो भीलोंने उसके हरिणको बाणोंसे घायल ही कर दिया हो वही चन्द्रमा आगे चलकर स्त्रियोंके हर्षाश्रु जलसे धुल कर ही मानो अत्यन्त उज्ज्वल हो गया था ॥४१॥ जब रात्रिके समय चन्द्रमा आकाशरूप ऑगनमे आया तब तरङ्गरूप भुजाओंको हिलाता हुआ समुद्र ऐसा जान पडता था मानो पुत्रवत्सल होनेके कारण चन्द्रमा रूपी पुत्रको गोदमे लेनेके लिए ही उमँग रहा हो ॥४२॥ अपने तेजसे समस्त ससारको व्याप्त करनेवाले चन्द्रमाने अन्धकारको मानो उतना कृश कर दिया था जिससे कि वह अनन्यगति हो कलंकके छलसे

---

१ गलन् कामातिरेकात्स्रसमानस्तम एव तिमिरमेव दुकूलबन्धो यस्यास्तथाभूता श्यामा रात्रि पक्षे युवतिश्च ।

कुमुद्वतीविभ्रमहासकेलिं कर्तुं प्रवृत्ते भृशमोषधीशे ।
प्रभावभाजा ज्वलति स्म रात्रौ महौषधीना ततिरीर्ष्ययेव ॥४४॥
दिवार्कतप्ते कुमुदे सुहृत्वात्प्रकाश्यमाने हृदये सितांशु ।
उत्खाततत्पक्षसरोजमूलो रुषेव रेजे लसमानरश्मि ॥४५॥
विलासिनीचित्तकरण्डिकाया जगद्भ्रमात्खिन्न इवाह्नि सुप्तः।
उत्थाप्यते स्म द्रुतमंशुदण्डै संताड्य चन्द्रेण रतेर्भुजङ्ग. ॥४६॥
शशी जगत्ताडनकुण्ठिताना निशानपट्ट स्मरमार्गणानाम् ।
उत्तेजितास्तान्यदनेन भूयो व्यापारयामास जगत्सु काम ॥४७॥
कर्पूरपूरैरिव चन्दनाढ्यैर्मालाकलापैरिव मालतीनाम् ।
द्यौर्दक्षिणेनेव सम धरित्र्या प्रसाधिता चन्द्रमसा कराग्रै ॥४८॥
वपु सुधांशो स्मरपार्थिवस्य मानातपच्छेदि सितातपत्रम् ।
अनेन कामास्पदमानिनीना छाया परा कापि मुखे यदासीत् ॥४९॥

शरण जगाम । यथा कश्चिद्बलवता शत्रुणा क्लशितस्तमेव समाश्रयत्यन्यस्थानाभावात् ॥४३॥ कुमुद्वतीति—कुमुदिनी विकास चिकीर्षौ चन्द्रमसि महाप्रभावाश्रयाणा महौषधीना श्रेणी कोपेन जाज्वल्यते । यथा कश्चिदेतस्या असौ पतिरिति सर्वप्रसिद्धोऽप्यन्या नारीमभिलषति यदा तदाग्रेतनी कोपेन जाज्वल्यते ॥४४॥ दिवेति—दिवसे चण्डकिरणप्रतापितै. कैरवै कोशे विकास्यमाने चन्द्र उत्खातसूर्यवंशीयपद्ममूलकाण्डनाल इव आत्मपक्षीयोपतापरोपात् देदीप्यमानकिरण । चन्द्रकिरणा बिसकाण्डधवला इत्यर्थ । यथा कश्चित्तेजस्वी प्रोष्यागत कलत्रकथितपराभव श्रुत्वा परेभ्यः कुपित पश्चात् स परस्यापकर्तुर्मित्राणा सहस्रधामूलोत्खातप्रकारमपकार करोति ॥४५॥ विलासिनीति—स्त्रीमन.करण्डके भुवनभ्रमणात् श्रान्त इव दिवसे सुप्तो रतिभुजङ्ग. कामसर्प । तदनन्तर चन्द्रेण गारुडिकविटेनेव कुतूहलिकिरणदण्डैराहत्योत्थाप्यते ॥४६॥ शशीति—चन्द्रो भुवनजनवज्रहृदयभेदनकुण्ठिताना कामकाण्डाना शाणपट्ट । कथ ज्ञातमिति चेत् । यदनेन शाणपट्टेन तीक्ष्णीकृतास्तान्पुनरपि जगद्भेदनसमर्थान् काम प्रेरयामास ॥४७॥ कर्पूरेति—चन्द्रेण निजकिरणैर्गगनलक्ष्मीर्भूम्या सार्धमलकृता । श्रीखण्डपरागमिश्रैर्घनसारसारैरिव । अथवा सरलैर्जातीमालाकलापैरिव । दक्षिणेनेव उभयो स्त्रियोर्य एकरूपप्रेमा स दक्षिणस्तेनेव । तथा चन्द्रेण द्यावाभूमी एकप्रकारा धवलता चक्राते ॥४८॥ वपुरिति—चन्द्रमण्डल कामचक्रवर्तिनो मानातपच्छेदकमेकातपत्रमिव यदनेन चन्द्रमसा कामान्धाना स्त्रीणा

उसीकी शरणमें आ पहुँचा ॥४३॥ रात्रिके समय ज्योंही ओषधिपति चन्द्रमा कुमुदिनियोंके साथ विलास पूर्वक हास्य क्रीडा करनेके लिए प्रवृत्त हुआ त्योंही प्रभावशाली महौषधियोंकी पक्ति मानो ईर्ष्यासे ही प्रज्वलित हो उठी ॥४४॥ जब दिन भर सूर्यके द्वारा तपाये हुए कुमुदों ने मित्रताके नाते चन्द्रमाको अपना हृदय खोल कर दिखाया तब सुशोभित किरणोंका धारक चन्द्रमा ऐसा जान पड़ता था मानो क्रोधसे सूर्यके मित्रभूत कमलोंकी सफेद-सफेद जड़ें ही उखाड़ रहा हो ॥४५॥ जो कामदेव रूपी सर्प समस्त जगत्में घूमते रहनेसे मानो खिन्न हो हो गया था और इसीलिए दिनके समय स्त्रियोंके चित्त रूपी पिटारेमे मानो सो रहा था वह उस समय किरण रूप दण्डोंसे ताड़ित कर शीघ्र जगाया जा रहा था ॥४६॥ ऐसा जान पडता है कि चन्द्रमा, समस्त जगत्को ताडित करनेसे मोथर हुए कामदेवके बाणोंको पुनः तीक्ष्ण करनेका पट्टक है इसीलिए तो इसके द्वारा तीक्ष्ण किये हुए बाणोंको कामदेव ससार पर पुनः चलाता है ॥४७॥ जिस प्रकार दक्षिण नायक अपने कर—हाथोंके अग्रभागसे अपनी समस्त स्त्रियोंको अलकृत करता है उसी प्रकार चन्द्रमाने भी अपने कर—किरणोंके अग्रभागसे आकाश और पृथिवी दोनोंको ही चन्दन मिश्रित कपूरके समूहसे अथवा मालती मालाओंके समूहसे ही मानो अलंकृत किया था ॥४८॥ चन्द्रमाका शरीर कामदेव रूपी राजाका मान

किमप्यहो धाष्टर्यमचिन्त्यमस्य पश्यन्तु चन्द्रस्य कलङ्कभाज ।
यदेष निर्दोषतया जितोऽपि तस्थौ पुरस्तात्तरुणीमुखानाम् ॥५०॥

यन्मन्दमन्द बहलान्धकारे मनो जगामाभिमुखं प्रियस्य ।
तन्मानिनीनामुदिते मृगाङ्के मार्गोपलम्भादिव धावति स्म ॥५१॥

तावत्सती स्त्री ध्रुवमन्यपुसो हस्ताग्रसस्पर्शसहा न यावत् ।
स्पृष्टा कराग्रै कमला तथाहि त्यक्तारविन्दाभिससार चन्द्रम् ॥५२॥

उपात्ततारामणिभूषणाभिरायाति पत्यौ निलये कलानाम् ।
कान्ताजनो दिग्भिरिवोपदिष्ट प्रचक्रमेऽथ प्रतिकर्म कर्तुम् ॥५३॥

जनैरमूल्यस्य कियन्ममेद हैम तुलाकोटियुग निबद्धम् ।
इत्यम्बुजाक्ष्या नवयावकार्द्रं रुषेव रक्त पदयुग्ममासीत् ॥५४॥

त्रिनेत्रभालानलदाहबिभ्यत्कदर्पलीलानगरस्य हैमम् ।
प्रकारमुच्चैर्जघनस्य पार्श्वे बबन्ध काचिद्रशनाच्छलेन ॥५५॥

कापिच्छाया प्रमोदश्रीराविर्बभूव । छत्र विना छायोत्पत्तिर्न स्यादिति छत्रत्वम् ॥४९॥ किमपीति—अस्य प्रसिद्धकलङ्कस्य चन्द्रस्य धृष्टता पश्यत यूय परिभावयत। किं निर्लज्जत्वमित्याह—असौ कलङ्की तरुणीमुखैर्निष्कलङ्कत्वेन जितोऽपि तथापि निर्दोषाणा पुरत सकलङ्कदोष एव स्थितवान् ॥५०॥ यदिति—यन्महान्धतमसे स्त्रीणा मनो निजप्रियाभिमुख स्खलित जगाम तन्मन्ये चन्द्रोद्योते प्रकटमार्गदर्शनादुत्तालता नाटयति । अथ चन्द्रोद्योते उन्मत्तमिव मन शतधा समुज्जृम्भते ॥५१॥ तावदिति—स्त्रीणा सतीत्व तावदेव यावदन्यपुरुषकरस्पर्शो न भवति। तथाहि स्पष्ट दृश्यता लक्ष्मी कमलानि मुक्त्वा चन्द्रकरस्पृष्टा शीघ्र चन्द्रमेव शिश्राय । सकुचितपद्माना लक्ष्मीश्चन्द्रे गतेवेत्यर्थ ॥५२॥ उपात्तेति—अथानन्तर कामिनीजन आत्मानमलचिकीर्षाचक्रे । गृहीतनक्षत्रमालाभूषणादिभिर्दिगङ्गनाभिरात्मप्रदर्शनेन प्रबोधित इव ॥५३॥ जनैरिति—ममानर्घ्यस्य मूल्यभावमतिक्रान्तस्य किमिति सुवर्णतुलाकोटिद्वय निबद्ध मूल्ये कृत पक्षे सुवर्णघटितनूपुरयुग्मम् इति कोपेन पदयुगलमलक्तकरसलिप्त कस्याश्चिन्मृगाक्ष्या बभूव ॥५४॥ त्रिनेत्रेति—काचिन्मृगाक्षी निजजघनमण्डलपार्श्वे मेखलावलयव्याजेन त्रिनेत्रललाटलोचनज्वालादाहात् शङ्कमानस्य कन्दर्पस्येव नगरे सौवर्ण-

---

रूपी आतपको नष्ट करने वाला मानो सफेद छत्र था इसीलिए तो कामवती माननी स्त्रियोंके मुख पर कोई अद्भुत छाया—कान्ति थी ॥४९॥ अरे ! इस कलंकी चन्द्रमाकी यह अनिर्वचनीय धृष्टता तो देखो, यह निर्दोषताके द्वारा हार कर भी तरुण स्त्रियोंके सामने खड़ा है, कैसा निर्लज्ज है । ॥५०॥ मानवती स्त्रियोंका जो मन सघन अन्धकारके समय पतियोंके सम्मुख धीरे-धीरे जा रहा था अब वह चन्द्रमाके उदित होनेपर मानो मार्ग मिल जानेसे ही दौड़ने लगा था ॥५१॥ ऐसा जान पडता है कि स्त्री तभी तक सती रहती है जब तक कि वह अन्य पुरुषके हाथका स्पर्श नहीं करती । देखो न, ज्यों ही चन्द्रमाने अपने कराग्रसे [पक्षमे हस्ताग्र से] लक्ष्मीका स्पर्श किया त्योंही वह कमलको छोड उसके पास जा पहुँची ॥५२॥ तदनन्तर पतियोंके आने पर स्त्रियोंने आभूषण धारण करना शुरू किया। ऐसा जान पडता था कि चन्द्रमा-रूप पतिके आने पर तारा-रूप मणिमय आभूषण धारण करने वाली दिशाओंने ही मानो उन्हें यह उपदेश दिया था ॥५३॥ मैं तो अमूल्य हूँ लोगोंने मेरे लिए यह कितने से सुवर्णके नूपूर पहना रखे—यह सोच कर ही मानो किसी कमलनयनाके नवीन महावरसे गीले चरणयुगल क्रोधसे लाल हो गये थे ॥५४॥ किसी स्त्रीने महादेवजीकी ललाटाग्निकी

पयोधराणामुदयः प्रसर्पद्धारानुबन्धेन[1] विलासिनीनाम् ।
विशेषतः कस्य मलीमसास्यो न दीप्रभावोन्नतिमाततान[2] ॥५६॥

चन्द्रोदयोज्जृम्भितरागवार्धेर्वेलाग्रकल्लोलमिवोल्ललन्तम् ।
श्वासैः सकम्पं निशि मानिनीनां मेने जनो यावकरक्तमोष्ठम् ॥५७॥

कायस्थ एव स्मर एष कृत्वा दृग्लेखनीं कज्जलमञ्जुलां यः ।
शृङ्गारसाम्राज्यविभोगपत्रं[3] तारुण्यलक्ष्म्या सुदृशो लिलेख ॥५८॥

श्लक्ष्णं यदेवावरणाय दध्रे नितम्बिनीभिर्नवमुल्लसन्त्या ।
क्रोधादिवोच्छृङ्खलया तदङ्गकान्त्यात्मनान्तर्निदधे दुकूलम् ॥५९॥

आरोप्य चित्रा वरपत्रवल्लीः श्रीखण्डसारं तिलकं प्रकाश्य ।
नारङ्गपु नागनिषेवणीया कयापि चक्रे नैवकाननश्री[4] ॥६०॥

शालमिव बबन्ध । यदि वा हिमस्येद हैम तुहिनशिलाप्राकारमिव दाहस्य शीतलेन प्रतिकार्यत्वात् ॥५५॥ पयोधराणामिति—विलासिनीना स्तनभारोदय प्रलम्बितहारानुबन्धेन कस्य सरसस्य पुसो दीप्तभावोन्नतिं कामोद्रेकता न विततान अपि तु विततानैव विशेषत प्राबल्येन । यथा मेघानामुदयो वर्द्धमानजलधाराधोरणि-सधाने नदी प्रभावोन्नतिं विशेषेण विस्तारयति । मलीमसास्यो गवलवर्णसूचक पक्षे जम्बूश्यामलवर्णश्च ॥५६॥ चन्द्रोदय इति—पौर्णमासीचन्द्रदर्शनमत्तस्य रागसमुद्रस्य तटप्रथमकल्लोलमिव यावकलिप्तो बिम्बाधरो मानिनीना जनैर्विकल्पयाचक्रे । कथ कल्लोलवच्चञ्चलत्वमित्याह—श्वासै सकम्प दीर्घोच्छ्वासनिश्वासै-र्वेदमान हृदये धृतमानत्वात् ॥५७॥ कायस्थ इति—असौ काम काये तिष्ठतीति कायस्थ एव पक्षेऽक्षर-जीवक । किं कृतवानित्याह—यो नयनलेखनी कज्जलमनोहरा कृत्वा शृङ्गारसर्वस्वोपभोगपत्र मृगाक्ष्या सबन्धित्वेनालेखीत् । या तारुण्यलक्ष्मीस्तस्या अलेखीत् । मृगाक्षी तारुण्यश्रिया शृङ्गारसर्वस्वमुपभोक्तव्य-मिति पत्रार्थ ॥५८॥ श्लक्ष्णमिति—यदेवातिसूक्ष्मतम दुकूल नितम्बिनीभि परिदधे तत्प्रच्युतकोपेनेव उद्ग-च्छन्त्या शरीरप्रभया आत्मनोऽन्तर्विदधे प्रच्छादितमित्यर्थ । इद मा प्रच्छादयतीति कोपेन विशेषोल्लासि-तया प्रभया दुकूलमुद्भिद्य प्रच्छादितम् । शरीरप्रभाधिक्यवर्णनम् ॥५९॥ आरोप्येति—कयाचित्तरुण्या आननश्रीर्मुखलक्ष्मी का न चक्रे का न कृता अपि तु कृतैव । यदि वा कुत्सितमानन कानन तस्य श्रीर्न कानन-

दाहसे डरनेवाले कामदेवके क्रीडानगरके समान सुशोभित अपने नितम्ब स्थलके चारों ओर मेखलाके छलसे सुवर्णका [पक्षमें बर्फका] ऊँचा प्राकार बाँध रखा था ॥५५॥ कृष्णाग्रभाग-से सुशोभित स्त्रियोंके स्तनोंकी ऊँचाई हिलते हुए हारके सम्बन्धसे किस पुरुषके हृदयमें सातिशय कामोद्रेक नहीं कर रही थी। कृष्ण मेघोंका आगमन झरती हुई धाराओंके सम्बन्ध से नदियोंके प्रभाव द्वारा जलकी विशेष उन्नति कर रहा था ॥५६॥ रात्रिके समय श्वाससे काँपते एवं लाक्षा रससे रँगे स्त्रियोंके ओठको लोगोंने ऐसा माना था मानो चन्द्रमाके उदयमें बढनेवाले रागरूपी समुद्रके तटपर छलकती हुई तरंग ही हो ॥५७॥ ऐसा जान पडता है कि कामदेव रूपी कायस्थ [लेखक] किसी सुलोचना स्त्रीकी दृष्टि रूपी लेखनीको कज्जलसे मनोहर कर तारुण्य लक्ष्मीका शृंगार भोग सम्बन्धी शासन पत्र ही मानो लिख रहा था ॥५८॥ स्त्रियाँ आवरणके लिए जो भी सुकोमल नूतनवस्त्र धारण करती थीं उनके शरीरकी बढती हुई कान्ति मानो क्रोधसे ही उच्छृंखल हो उसे अपने द्वारा अन्तर्हित कर लेती थी ॥५९॥ किसी एक स्त्रीने अच्छी-अच्छी पत्रलताओंको आरोपित कर चन्दनका उत्तम तिलक लगाया

१ प्रसर्पत्—हारानुबन्धेन, प्रसर्पत् धारानुबन्धेन । २ न-दीप्रभावोन्नतिम्, दीप्रभाव कामोद्रेक, नदी-प्रभावोन्नतिम् । ३ विभाग्यपत्र क० । ४ नवकाननश्री घ० म० [नवका-आननश्री, नवकानन-श्री] ।

आदाय नेपथ्यमथोत्सुकोऽस्य कान्ताजन· कान्तमतिप्रगल्भा ।
मूर्ता इवाज्ञा. स्मरभूमिभर्तुरलङ्घनीया प्रजिघाय दूती ॥६१॥

गच्छ त्वमाच्छादितदैन्यमन्यव्याजेन तस्यापसदस्य पार्श्वे ।
ज्ञात्वाशय ब्रूहि किल प्रसङ्गात्तथा यथास्मिल्लँघिमा न मे स्यात् ॥६२॥

यद्वा निवेद्य प्रणय प्रकाश्य दु खं निपत्य क्रमयोरपि त्वम् ।
प्रिय तमत्रानय दूति यस्मात्क्षीणो जनः किं न करोत्यकृत्यम् ॥६३॥

नार्थी स्वदोष यदि वाधिगच्छत्यालि त्वमेवात्र तत प्रमाणम् ।
इत्याकुला काचिदनङ्गतापादभिप्रिय सदिदिशे वयस्याम् ॥६४॥ [कुलकम्]

दृष्टापराधो दयित श्रयन्ते प्राणाश्च मे सत्वरगत्वरत्वम् ।
तदत्र यत्कृत्यविधौ विदग्धा इति त्वमेवेति जगाद काचित् ॥६५॥

श्रीरपि तु अद्भुतप्रभावैव । किंविशिष्टा । अरङ्गपुन्नागनिषेवणीया न, अपि तु सरङ्गपुरुपप्रधानोपभोगयोग्या । किं कृत्वा । प्रधानवल्लोर्निर्माय चित्रा नानाभङ्गीयुक्ता, पुन किं कृत्वा । श्रीखण्डमय तिलक कृत्वा । पक्षे कयापि मालिन्या वनलक्ष्मी कृता । नारङ्गपुन्नागौ वृक्षविशेषौ ताभ्यामाश्रयणीया नानाप्रकारवल्लीयुक्ता हरिचन्दनप्रभृतिवृक्षशोभिता च ॥६०॥ आदायेति—अथानन्तरमात्मानमलङ्कृत्यात्युत्कण्ठितस्त्रीजन पतिं प्रति प्रगल्भा गम्भीरवाचो दूती प्रेरयामास कामनृपस्य मूर्तिमतीरनवगणनीया आज्ञा इव ॥६१॥ गच्छेति—हे सखि, तस्य अपसदस्य शतशोऽपराधकारकस्य समीपे त्व प्रयाहि अप्रकटितानुनयभाव पश्चात् तत्सत्कृता भवती तस्याभिप्राय ज्ञात्वा प्रसङ्गेन ब्रूता तथा यथा ममास्मिन्प्रघट्टके लघुत्व न स्यात् । यद्येषा सपत्नी विरोधकारिका मयानुनीत कान्त जानाति तदा महालघुत्वमित्यस्मिन् पदोपादानम् ॥६२॥ यद्वेति—यद्वेति पूर्वगर्ववैरमोचने । अथवा हे सखि ! न त्वया पूर्वोक्त कर्तव्य किन्तु अनुनय एव । पूर्वप्रतिपन्नप्रेमभाव स्मारयित्वा मम विरहपीडा प्रकाश्य । किं बहुना । तस्य पादयोरपि निपत्य त्वमेकवार तमानयेति । यत सर्वोपायहीनो दीनो जन किमकार्यं न करोति अपि तु करोत्येव ॥६३॥ नार्थीति—अथवा सखि ! अर्थी दोष न जानातीति मत्वा यत्किमपि भवति तत्त्वया कर्तव्यमिति काचिद् विरहजज्वरज्वलनज्वालाजटालाङ्गी सखी सदिदेश सदेश दत्तवती ॥६४॥ दृष्टेति—हे सखि ! अत्र कृत्यविधौ त्वमेव विदग्धा इतोऽग्रे अय मम पतिर्धृष्ट. शतशो दृष्टापराध प्राणाश्च मे सत्वर विरहदु खोपद्रुता यियासव इति काचित् निजरहस्य

[पक्षमें पत्ते वाली लताएँ लगा कर चन्दन और तिलकका वृक्ष लगाया] और इस प्रकार अच्छे-अच्छे विटोंके द्वारा [पक्षमें सतरे और नाग केशरके वृक्षोंके द्वारा] सेवनीय मुखकी नयी शोभा कर दी [पक्षमे नवीन वनकी शोभा बढा दी] ॥६०॥ इस प्रकार वेप धारण कर उत्सुकताको प्राप्त हुई स्त्रियोंने कामदेव रूपी राजाकी मूर्तिक आज्ञाओंके समान अलंघनीय अतिशय चतुर दूतियाँ पतियोंके पास भेजीं ॥६१॥ तू दीनता को छिपा अन्य कार्यके बहाने उस अधमके पास जा और उसका अभिप्राय जान प्रकरणके अनुसार इस प्रकार निवेदन करना जिस प्रकार कि उसके सामने मेरी लघुता न हो ॥६२॥ अथवा हे दूति ! प्रेम प्रकट कर दु ख प्रकाशित कर और चरणोंमें भी गिर कर उस प्रियको इधर ला, क्योंकि क्षीणमनुष्य कौन सा अकृत्य नहीं करते ? ॥६३॥ अथवा अर्थी मनुष्य दोष नहीं देखता तू ही इस विषयमें प्रमाण है जो उचित समझे वह कर । इस प्रकार कामके संतापसे व्याकुल हुई किसी स्त्रीने अपनी सखीको सन्देश दिया ॥६४॥ उधर पतिका अपराध मैंने स्वयं देखा है और इधर ये मेरे प्राण शीघ्र ही जानेकी तैयारी कर रहे हैं अतः इस कार्यके करनेमे हे दूति ! तू ही चतुर

पयोधराणामुदय. प्रसर्पद्धारानुबन्धेन विलासिनीनाम् ।
विशेषत कस्य मलीमसास्यो न दीप्रभावोन्नतिमाततान ॥५६॥

चन्द्रोदयोज्जृम्भितरागवार्धेर्वेलाग्रकल्लोलमिवोल्ललन्तम् ।
श्वासै. सकम्प निशि मानिनीना मेने जनो यावकरक्तमोष्ठम् ॥५७॥

कायस्थ एव स्मर एष कृत्वा दृग्लेखनी कज्जलमञ्जुलां यः ।
शृङ्गारसाम्राज्यविभोगपत्र तारुण्यलक्ष्म्या सुदृशो लिलेख ॥५८॥

श्लक्ष्ण यदेवावरणाय दध्रे नितम्बिनीभिर्नवमुल्लसन्त्या ।
क्रोधादिवोच्छृङ्खलया तदङ्गकान्त्यात्मनान्तर्निदधे दुकूलम् ॥५९॥

आरोप्य चित्रा वरपत्रवल्लो श्रीखण्डसारं तिलक प्रकाश्य ।
नारङ्गपु नागनिषेवणीया कयापि चक्रे नवकाननश्री ॥६०॥

शालमिव बबन्ध । यदि वा हिमस्येद हैम तुहिनशिलाप्राकारमिव दाहस्य शीतलेन प्रतिकार्यत्वात् ॥५५॥ पयोधराणामिति—विलासिनीना स्तनभारोदय प्रलम्बितहारानुबन्धेन कस्य सरसस्य पुंसो दीप्तभावोन्नतिं कामोद्रेकता न वितताने अपि तु वितताने विशेषत प्राबल्येन । यथा मेघानामुदयो वर्द्धमानजलधाराधोरणि-सधाने नदी प्रभावोन्नतिं विशेषेण विस्तारयति । मलीमसास्यो गवलवर्णसूचक पक्षे जम्बूश्यामलवर्णश्च ॥५६॥ चन्द्रोदय इति—पौर्णमासीचन्द्रदर्शनमत्तस्य रागसमुद्रस्य तटप्रथमकल्लोलमिव यावकलिप्तो बिम्बाधरो मानिनीना जनैर्विकल्पयाचक्रे । कथ कल्लोलवच्चञ्चलत्वमित्याह—श्वासै सकम्प दीर्घोच्छ्वासनिश्वासै-र्वेदमान हृदये धृतमानत्वात् ॥५७॥ कायस्थ इति—असौ काम काये तिष्ठतीति कायस्थ एव पक्षेऽक्षर-जीवक । किं कृतवानित्याह—यो नयनलेखनी कज्जलमनोहरा कृत्वा शृङ्गारसर्वस्वोपभोगपत्र मृगाक्ष्या सबन्धित्वेनालेखीत् । या तारुण्यलक्ष्मीस्तस्या अलेखीत् । मृगाक्षी तारुण्यश्रिया शृङ्गारसर्वस्वमुपभोक्तव्य-मिति पत्रार्थ ॥५८॥ श्लक्ष्णमिति—यदेवातिसूक्ष्मतम दुकूल नितम्बिनीभि परिदधे तत्प्रच्युतकोपेनेव उद्ग-च्छन्त्या शरीरप्रभया आत्मनोऽन्तर्विदधे प्रच्छादितमित्यर्थ । इद मा प्रच्छादयतीति कोपेन विशेषोल्लासि-तया प्रभया दुकूलमुद्भिद्य प्रच्छादितम् । शरीरप्रभाधिक्यवर्णनम् ॥५९॥ आरोप्येति—कयाचित्तरुण्या आननश्रीर्मुखलक्ष्मी का न चक्रे का न कृता अपि तु कृतैव । यदि वा कुत्सितमाननं कानन तस्य श्रीर्न कानन-

दाहसे डरनेवाले कामदेवके क्रीडानगरके समान सुशोभित अपने नितम्ब स्थलके चारों ओर मेखलाके छलसे सुवर्णका [पक्षमें बर्फका] ऊँचा प्राकार बाँध रखा था ॥५५॥ कृष्णाग्रभाग-से सुशोभित स्त्रियोंके स्तनोंकी ऊँचाई हिलते हुए हारके सम्बन्धसे किस पुरुषके हृदयमें सातिशय कामोद्रेक नहीं कर रही थी । कृष्ण मेघोंका आगमन झरती हुई धाराओंके सम्बन्ध से नदियोंके प्रभाव द्वारा जलकी विशेष उन्नति कर रहा था ॥५६॥ रात्रिके समय श्वाससे काँपते एवं लाक्षा रससे रँगे स्त्रियोंके ओठको लोगोंने ऐसा माना था मानो चन्द्रमाके उदयमें बढनेवाले रागरूपी समुद्रके तटपर छलकती हुई तरंग ही हो ॥५७॥ ऐसा जान पडता है कि कामदेव रूपी कायस्थ [लेखक] किसी सुलोचना स्त्रीकी दृष्टि रूपी लेखनीको कज्जलसे मनोहर कर तारुण्य लक्ष्मीका शृंगार भोग सम्बन्धी शासन पत्र ही मानो लिख रहा था ॥५८॥ स्त्रियाँ आवरणके लिए जो भी सुकोमल नूतनवस्त्र धारण करती थीं उनके शरीरकी बढती हुई कान्ति मानो क्रोधसे ही उच्छृंखल हो उसे अपने द्वारा अन्तर्हित कर लेती थी ॥५९॥ किसी एक स्त्रीने अच्छी-अच्छी पत्रलताओंको आरोपित कर चन्दनका उत्तम तिलक लगाया

१ प्रसर्पत्—हारानुबन्धेन, प्रसर्पत् धारानुबन्धेन । २ न-दीप्रभावोन्नतिम्, दीप्रभाव कामोद्रेक, नदी-प्रभावोन्नतिम् । ३. विभाग्यपत्र क० । ४ नवकाननश्री ख० म० [नवका-आननश्री, नवकानन-श्री] ।

आदाय नेपथ्यमथोत्सुकोऽथ कान्ताजन कान्तमतिप्रगल्भा ।
मूर्ता इवाज्ञा स्मरभूमिभर्तुरलङ्घनीया प्रजिघाय दूती ॥६१॥

गच्छ त्वमाच्छादितदैन्यमन्यव्याजेन तस्यापसदस्य पार्श्वे ।
ज्ञात्वाशय ब्रूहि किल प्रसङ्गात्तथा यथास्मिल्लँघिमा न मे स्यात् ॥६२॥

यद्वा निवेद्य प्रणयं प्रकाश्य दुःखं निपत्य क्रमयोरपि त्वम् ।
प्रिय तमत्रानय दूति यस्मात्क्षीणो जनः किं न करोत्यकृत्यम् ॥६३॥

नार्थी स्वदोष यदि वाधिगच्छत्यालि त्वमेवात्र तत प्रमाणम् ।
इत्याकुला काचिदनङ्गतापादभिप्रिय सदिदिशे वयस्याम् ॥६४॥ [कुलकम्]

दृष्टापराधो दयित श्रयन्ते प्राणाश्च मे सत्वरगत्वरत्वम् ।
तदत्र यत्कृत्यविधौ विदग्धा इति त्वमेवेति जगाद काचित् ॥६५॥

श्रीरपि तु अद्भुतप्रभावैव । किंविशिष्टा । अरङ्गपुन्नागनिषेवणीया न, अपि तु सरङ्गपुरुषप्रधानोपभोगयोग्या । किं कृत्वा । प्रधानवल्लीर्निर्माय चित्रा नानाभङ्गीयुक्ता, पुन किं कृत्वा । श्रीखण्डमय तिलक कृत्वा । पक्षे कयापि मालिन्या वनलक्ष्मी कृता । नारङ्गपुन्नागौ वृक्षविशेषौ ताभ्यामाश्रयणीया नानाप्रकारवल्लीयुक्ता हरिचन्दनप्रभृतिवृक्षशोभिता च ॥६०॥ आदायेति—अथानन्तरमात्मानमलङ्कृत्यात्युत्कण्ठितस्त्रीजन पतिं प्रति प्रगल्भा गम्भीरवाचो दूती प्रेरयामास कामनृपस्य मूर्तिमतीरनवगणनीया आज्ञा इव ॥६१॥ गच्छेति—हे सखि, तस्य अपसदस्य शतशोऽपराधकारकस्य समीपे त्व प्रयाहि अप्रकटितानुनयभाव पश्चात् तत्सत्कृता भवती तस्याभिप्राय ज्ञात्वा प्रसङ्गेन ब्रूता तथा यथा ममास्मिन्प्रघट्टके लघुत्व न स्यात् । यद्येपा सपत्नी विरोधकारिका मयानुनीत कान्त जानाति तदा महालघुत्वमित्यस्मिन् पदोपादानम् ॥६२॥ यद्वेति—यद्वेति पूर्वगर्ववैरमोचने । अथवा हे सखि ! न त्वया पूर्वोक्त कर्तव्य किन्तु अनुनय एव । पूर्वप्रतिपन्नप्रेमभाव स्मारयित्वा मम विरहपीडा प्रकाश्य । किं बहुना । तस्य पादयोरपि निपत्य त्वमेकवार तमानयेति । यत सर्वोपायहीनो दीनो जन किमकार्यं न करोति अपि तु करोत्येव ॥६३॥ नार्थीति—अथवा सखि ! अर्थी दोष न जानातीति मत्वा यत्किमपि भवति तत्त्वया कर्तव्यमिति काचिद् विरहजज्वरज्वलनज्वालाजटालाङ्गी सखी सदिदेश सदेश दत्तवती ॥६४॥ दृष्टेति—हे सखि ! अत्र कृत्यविधौ त्वमेव विदग्धा इतोऽग्रे अय मम पतिर्धृष्ट. शतशो दृष्टापराध प्राणाश्च मे सत्वर विरहदुःखोपद्रुता यियासव इति काचित् निजरहस्य

[पक्षमें पत्ते वाली लताएँ लगा कर चन्दन और तिलकका वृक्ष लगाया] और इस प्रकार अच्छे-अच्छे विटोंके द्वारा [पक्षमे संतरे और नाग केशरके वृक्षोंके द्वारा] सेवनीय मुखकी नयी शोभा कर दी [पक्षमें नवीन वनकी शोभा वढा दी] ॥६०॥ इस प्रकार वेप धारण कर उत्सुकताको प्राप्त हुई स्त्रियोंने कामदेव रूपी राजाकी मूर्तिक आज्ञाओंके समान अलंघनीय अतिशय चतुर दूतियाँ पतियोंके पास भेजीं ॥६१॥ तू दीनता को छिपा अन्य कार्यके बहाने उस अधमके पास जा और उसका अभिप्राय जान प्रकरणके अनुसार इस प्रकार निवेदन करना जिस प्रकार कि उसके सामने मेरी लघुता न हो ॥६२॥ अथवा हे दूति ! प्रेम प्रकट कर दुःख प्रकाशित कर और चरणोंमें भी गिर कर उस प्रियको इधर ला, क्योंकि क्षीणमनुष्य कौन सा अकृत्य नहीं करते ? ॥६३॥ अथवा अर्थी मनुष्य दोष नहीं देखता तू ही इस विषयमे प्रमाण है जो उचित समझे वह कर । इस प्रकार कामके संतापसे व्याकुल हुई किसी स्त्रीने अपनी सखीको सन्देश दिया ॥६४॥ उधर पतिका अपराध मैंने स्वयं देखा है और इधर ये मेरे प्राण शीघ्र ही जानेकी तैयारी कर रहे हैं अतः इस कार्यके करनेमे हे दूति ! तू ही चतुर

त्वद्वासवेश्माभिमुखे गवाक्षे प्रतिक्षणं चक्षुरनुक्षिपन्ती ।
त्वद्रूपमालिख्य मुहुः पतन्ती त्वत्पादयोः सा गमयत्यहानि ॥६६॥
स्त्रीत्वादरुद्धप्रसरो यथास्याः शरैरमोघैः प्रहरत्यनङ्गः ।
साशङ्कवत्केवलपौरुषस्थे तथा न दृप्ते त्वयि किं करोमि[1] ॥६७॥
यत्कम्पते निःश्वसितैः कवोष्णं गृह्णाति यल्लोचनमुक्तमम्भः ।
अवैम्यनङ्गज्वरजर्जरं तत्त्वद्विप्रयोगे हृदयं मृगाक्ष्याः ॥६८॥
आविर्बभूवुः स्मरसूर्यतापे हारावलीमूलजटा यथाङ्गे ।
त्वन्नामलीना गलकन्दलीयं तथाधिकं शुष्यति चञ्चलाक्ष्याः ॥६९॥
स्तुत्वा दिने रात्रिमहश्च रात्रौ स्तौति स्म सा पूर्वमपूर्वतापात् ।
सम्प्रत्यहो वाञ्छति तत्र तन्वी स्थातुं न यत्रास्ति दिनं न रात्रिः ॥७०॥
प्रगल्भतां शीतकरः स्फुरन्तु कर्णोत्पलानि प्रसरन्तु हंसाः ।
त्वद्विप्रलम्भज्वरभाजि तस्यां वीणाप्यवीणा रणतु प्रकामम् ॥७१॥

सख्युः पुरतः प्रतिपादयामास ॥६५॥ त्वदिति—दूती प्रियतमं प्रति गत्वा निवेदयतीति सबन्धः । हे सुभग ! सा मम सखी तव गेहसन्मुखे गवाक्षे प्रतिसमयं नयनं ददती । किं च त्वत्प्रतिबिम्बं लिखित्वा बारम्बारं पादयोः पतन्ती दिनान्यतिवाहयति ॥६६॥ स्त्रीति—हे सुभग ! सगर्व ! यथा एतस्यामबलायां स्त्रीत्वादिति तां तृणायाप्यमन्यमानोऽरुद्धप्रसरो जितकामी कामः शरैरमोघैः प्रहरति तथा न त्वयि पुरुषाकारगर्विते किन्तु भीत इव प्रहरति ततः किं करोमि। त्वमतिकार्यं सिद्ध इति ॥६७॥ यदिति—यत्तस्यास्तन्वङ्ग्या दीर्घसमश्वासैर्वेपते हृदयं यच्च तप्तबाष्पजलं गृह्णाति ततो मन्ये त्वद्विरहे कामज्वरज्वालाजटिलितम् । अन्योऽपि यः किल ज्वरगृहीतो भवति तस्य कम्पादिकमुष्णोदकपानं च युक्तं स्यात् ॥६८॥ आविरिति—यथा तस्याः कृशाङ्ग्या वपुषि कामादित्यतापे जाज्वल्यमाने हारावल्य एव मूलजटाः प्रकटीबभूवुस्तथा गलकन्दली शोषं याति । यथा प्रकटीभवत्सु मूलेषु कन्दलीलता शुष्यति । प्रतिक्षणं तव नामोच्चरन्ती ॥६९॥ स्तुत्वेति—सा तन्वी दिवसे रात्रिं रात्रौ च दिवसं बहुमन्यमाना यद्यद्वर्तमानकाले समापतति तत्तद्विद्वेष्टि यद्यद्याति तत्तदभिनन्दति । साम्प्रतं पुनर्दिवसरात्रिविनिर्मुक्ते स्थानके तिष्ठासति ॥७०॥ प्रगल्भतामिति—तस्यास्त्वद्विरहज्वरपीडितायाः विच्छायं वदनलक्ष्मीकायां मृगाङ्कः प्रगल्भः स्यात् । मीलितलोचनायाः कर्णावतंसनीलोत्पलानि

है ऐसा किसीने कहा ॥६५॥ वह तुम्हारे निवासगृहके सम्मुख झरोखेमें प्रतिक्षण दृष्टि डालती और तुम्हारा चित्र लिख बार-बार तुम्हारे चरणोंमें पड़ती हुई दिन बिताती है ॥६६॥ स्त्री होनेके कारण बिना रुकावटके कामदेव अपने अमोघबाणोंके द्वारा जिस प्रकार इस पर प्रहार करता है उस प्रकार आप अहंकारी पर नहीं करता क्योंकि आप पौरुष सम्पन्न हैं अतः आपसे मानो डरता है ॥६७॥ चूँकि उस मृगनयनीका हृदय श्वासोच्छ्वाससे कम्पित हो रहा है और कुछ-कुछ उष्ण अश्रु धारण कर रहा है इससे जान पड़ता है कि मानो आपके वियोगमें कामज्वरसे जर्जर हो रहा है ॥६८॥ काम रूपी सूर्यके सन्तापके समय उस चञ्चलाक्षीके शरीरमें ज्यों-ज्यों हारावली रूपी जड़ें प्रकट होती जाती हैं त्यों-त्यों आपके नाममें लीन रहने वाली यह कण्ठ रूपी कन्दली अधिक सूखती जाती है ॥६९॥ वह कृशांगी पहले तो दिनके समय रात्रिकी और रात्रिके समय दिनकी प्रशंसा किया करती थी परन्तु अब उत्तरोत्तर अधिक सन्ताप होनेसे वहाँ रहना चाहती है जहाँ न दिन हो न रात्रि ॥७०॥ अब जब कि वह तुम्हारे विरहज्वरसे पीडित है चन्द्रमा देदीप्यमान हो ले कर्णोत्पल विकसित हो लें हंस

१ करोति म० घ० ।

इत्थ घने व्यञ्जितनेत्रनीरे प्रदर्शिते प्रेम्णि सखीजनेन ।
क्षणान्मृगाक्षी हृदयेश्वरस्य हंसीव सा मानसमाविवेश ॥७२॥
प्रकाशितप्रेमगुणैर्वचोभिराक्रम्य बद्धा हृदये सखीभि ।
आकृष्यमाणा इव निर्विलम्ब ययुर्युवानः संविधे वधूनाम् ॥७३॥
आ संचरन्नम्भसि वारिराशे श्लिष्ट किमौर्वाग्निशिखाकलापै ।
स्विच्चण्डचण्डद्युतिमण्डलाग्रप्रवेशसक्रान्तकठोरताप ॥७४॥
अथाङ्कदम्भेन सहोदरत्वात्सोत्साहमुत्सङ्गितकालकूट ।
अङ्गानि यन्मुर्मुरवह्निपुञ्जभाञ्जीव मे शीतकर करोति ॥७५॥
इत्थ वियोगानलदाहमङ्गे निवेदयन्ती सुमुखी सखीनाम् ।
समेयुषस्तत्क्षणमद्वितीयामजीजनत्कापि रति प्रियस्य ॥७६॥ [विशेपकम्]
आयाति कान्ते हृदय विधेयविवेकवैकल्यमगान्मृगाक्ष्या ।
तत्कालनिस्त्रिंशमनोभवास्त्रसघातघातैरिव घूर्णमानम् ॥७७॥

प्रतिभान्तु । अहर्निश कुसुमतल्पस्थिताया हसाश्चङ्क्रम्यन्ताम् । मौनमास्थिताया वीणा मधुरस्वरा प्रतिभासताम् । श्रीणा मनोहरा ॥७१॥ इत्थमिति—अनेन प्रकारेण सबाष्पनेत्र दूतीजनेन निवेदिते सा प्रियतमस्य हृदये प्रविष्टा । यथा मेघे व्यञ्जिते प्रेरकनीरे हसी मानससरसि प्रविशति ॥७२॥ प्रकाशितेति—तरुणा वधूना समीपे जग्मु । बलान्नीयमाना इव । किंविशिष्टा । सखीभिर्हृदये नियन्त्रिता पकटितस्नेहगुणैर्वचनै । यथा कश्चिद्गुणैराबद्ध आकृष्यमाण आगच्छति ॥७३॥ आ इति—यन्ममाङ्गानि शीतकरो दहति—इति संबन्ध । आ इति स्मरणेऽनुतापे वा । अय चन्द्र समुद्रजलान्त सचरन् बाडवाग्निना किं तापित आहोस्वित्तीव्रचण्डकिरणमण्डलप्रवेशेन सक्रान्ततीव्रताप ॥७४॥ अथेति—उतस्वित्सहोदरस्नेहभावात्कलङ्कव्याजेनालिङ्गितकालकूटोऽय यदेतावत्तापकारी ममाङ्गानि सधुक्षितवह्निसचय दधानीव करोति ॥७५॥ इत्थमिति—इति पूर्वोक्तप्रकारेण सखीना पुरतो विरहाग्निताप निवेदयन्ती काचित् पृष्ठभागे प्रच्छन्नमागतवतो जीवितेश्वरस्याभूतपूर्वां रागलक्ष्मी समुदपादयत् ॥७६॥ आयातीति—प्रियतमे आगच्छति सति मृगाक्षीणाम् आतिथ्यकृत्ये हृदय विवेकशून्यतामाजगाम । सर्वसात्त्विकभावादाकुलीबभूवेत्यर्थ । तदा निर्दयकदर्पवाणव्रातपातैस्ताडय-

---

इधर-उधर फैल लें और मनोहर वीणा भी खूब शब्द कर ले ॥७१॥ इस प्रकार अश्रु प्रकट करते हुए सखीजनने जब घना प्रेम [पक्षमे मेघ] प्रकट किया तब वह मृगनयनी हसीके समान क्षण भरमें अपने हृदयवल्लभके मानसमे [पक्षमें मान सरोवरमे] प्रविष्ट हो गयी—पतिने अपने हृदयमें उसका ध्यान किया ॥७२॥ युवा पुरुष शीघ्र ही अपनी स्त्रियोंके पास गये मानो सखियोंने उन्हें प्रेमरूपी गुण [पक्षमें रस्सी] को प्रकाशित करने वाले वचनों के द्वारा जबरन बाँध कर खींच ही लिया हो ॥७३॥ अरे ! क्या यह चन्द्रमा समुद्रके जलमें विहार करते समय बडवानलकी ज्वालाओंके समूहसे आलिंगित हो गया था, अथवा अत्यन्त उष्ण सूर्यमण्डलके अग्रभागमे प्रवेश करनेसे उसका कठोर सन्ताप इसमे आ मिला है ? ॥७४॥ अथवा कलंकके बहाने सहोदर होनेके कारण बड़े उत्साहके साथ कालकूटको अपनी गोदमें धारण कर रहा है, जिससे कि मेरे अंगोंको मुर्मुरानलके समूहसे व्याप्त-सा बना रहा है ॥७५॥ इस प्रकार शरीरमें स्थित वियोगाग्निकी दाहको सखियोंके आगे प्रकट करती हुई किसी सुमुखीने तत्काल आनेवाले पतिके हृदयमें अनुपम अनुराग उत्पन्न कर दिया था ॥७६॥[3] पतिके आने पर किसी मृगाक्षीका हृदय 'क्या करना चाहिए' इस विवेकसे विकलताको प्राप्त

---

१ सविध घ० म० च० । २. कुलक ६६-७२ । ३ विशेपक ।

बाष्पाम्बुसप्लावितपक्ष्मलेख चक्षु' क्षणात्स्फारिततारक च ।
किं प्रेम मानं यदि वा मृगाक्ष्या. प्रियावलोके प्रकटीचकार ॥७८॥
समुच्छ्वसन्नीवि गलद्दुकूलं स्खलत्पद सक्वणकङ्कण वा ।
प्रियागमे स्थानकमायताक्ष्या विसिस्मिये प्रेक्ष्य सखीजनोऽपि ॥७९॥
लावण्यमङ्गे भवती बिभर्ति दाहश्च मेऽभूद्व्यवधानतोऽपि ।
तद्ब्रूहि शृङ्गारिणि सप्रतोद कुतस्त्वया शिक्षितमिन्द्रजालम् ॥८०॥
जाड्य यदि प्राप्यमुरोजयोस्ते तद्वेपथुर्मानिनि मे कुतस्त्य ।
इत्युच्चरश्चाटुवचासि कश्चित्प्रियामकार्षीच्च्युतमानवेगाम् ॥८१॥ [युग्मम्]
मानस्य गाढानुनयेन तन्व्या निर्वासितस्यापि किमस्ति शेष ।
इतीव बोद्धु हृदि चन्दनार्द्रं व्यापारयामास कर विलासी ॥८२॥
सभ्रूभङ्ग करकिसलयोल्लासलीलाभिनीत-
प्रत्यग्रार्थाप्रतिविदधती विस्मयस्मेरमास्यम् ।

मान मूर्च्छा गतमिव ॥७७॥ बाष्पेति—अश्रुस्नात चक्षुर्न केवल तथाविध स्फारिततारक विकसितकनीनिक च एवविध सत् किमिति स्नेह दर्शयामास आहोस्वित् सचितमानमाविर्भावयाचकार । प्रियदर्शने मृगाक्ष्या प्रेममानयो सदृशचेष्टत्वात् । स्फारितनयनत्वमश्रुजलदर्शन चोभयत्रापि समानत्वात् ॥७८॥ समुच्छ्वसन्निति—कस्याश्चित्सात्त्विकभावाकुलिताया एतच्चेष्टितमवलोक्य सखीजनोऽपि विस्मयाचकार किं पुन प्रेमानुबन्धान्धरसिक पति । किं तदित्याह—नीविबन्धशिथिलान्तरीय स्खलच्चरण रणज्झणायमानकङ्कणमिति ॥७९॥ लावण्येति—कश्चिच्चाटुवचनान्युदीरन् गतमानशल्या मनस्विनी चकारेति सबन्ध । हे शृङ्गारिणि ! लावण्यभार भवती भरति दाहप्रकर्षश्च ममान्यत स्थितस्यापि । लवणस्य भावो लावण्य क्षारत्व य. किल बिभर्ति तस्य दाह स्यात् । एतच्च त्वया करणं हरमेखलसदृश कुत शिक्षित येनेदमेव स्यादिति ॥८०॥ जाड्यमिति—अपर च जाड्य पीनत्व तव कुचद्वये कम्पश्च मम वर्तते । अन्यत्र यत्र किल शीतत्व तत्रैव कम्पो-नान्यत्र एतदपि इन्द्रजालम् ॥८१॥ मानस्येति—मया शतशोऽनुनीताया मनस्विन्या किमद्यापि निर्घाटितमानस्य लवमात्रमस्ति न वेति परीक्षितुमिव कश्चिद्विलासी चन्दनरससरस करे हृदये परिभ्रमयामास ॥८२॥ सभ्रूभङ्गमिति—तदा जायापत्यो कापि रहसि गोष्ठी प्रवर्तते स्म । स भ्रूलतोत्क्षेप यथा स्यात् । किंविशिष्टा ।

हो गया था मानो तत्काल कामदेवके अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र-समूहके आघातसे घूम ही रहा हो ॥७ ॥ जिनकी बिरूनियाँ आँसुओंसे तर-बतर हैं और कनीनिका क्षण-क्षणमें घूम रही है ऐसे किसी मृगाक्षीके नेत्र प्रियदर्शनके समय क्या प्रेम प्रकट कर रहे थे या मान ॥७८॥ प्रिय आगमनके समय, जिसमे नीवीबन्धन खुल रहा है, वस्त्र खिसक रहा है, पैर लड़खड़ा रहे हैं और ककण खनक रहा है ऐसा किसी विशालाक्षीका स्थान देख उसकी सखियाँ भी आश्चर्यमे पड रही थीं ॥७९॥ लावण्य—खारापन [पक्षमे सौन्दर्य] आप अपने शरीरमे धारण कर रही हैं और व्यवधान होने पर भी मेरे शरीरमें दाह हो रहा है। हे शृगारवति! यह तो कहो कि तुमने यह इन्द्रजाल कहाँसे सीख लिया है ? ॥८०॥ यदि तुम्हारे स्तनोंमे जाड्य—शैत्य [पक्षमे स्थूलता] है तो मेरे शरीरमे कम्पन क्यों हो रहा है ?—इस प्रकार चापलूसीके वचनोंका उच्चारण करते हुए किसी युवाने अपनी प्रियाको मानरहित कर दिया था ॥८१॥ यद्यपि तन्वीका मान गाढ अनुनयके द्वारा बाहर निकाल दिया है फिर भी उसका कुछ अंश बाकी तो नहीं रह गया—यह जाननेके लिए मानो विलासी पुरुष अपना चन्दनसे गीला हाथ उसके हृदय—वक्षस्थल पर चला रहा था ॥८२॥ भौंहोंके भङ्गके साथ कर-किसलयोंके उल्लासकी लीलासे जिसमे नये-नये भाव प्रकट हो रहे हैं, जो मुखको आश्चर्य

सा दम्पत्योरजनि मदनोज्जीविनी कापि गोष्ठी
यस्या मन्ये श्रवणमयता जग्मुरन्येन्द्रियाणि[1] ॥८३॥
चन्द्रे सिञ्चति चान्दनैरिव रसैराशा महोभिः क्षणा-
दुन्मीलत्मकरन्दसौरभमिव प्रादाय दूतीवचः ।
सोत्कण्ठं समुपेत्य कैरवमिव प्रोल्लासि कान्तामुखं
स्वस्थाः केऽपि मधुव्रता इव मधून्यापातुमारेभिरे ॥८४॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये प्रदोषवर्णनो
नाम चतुर्दशः सर्गः ॥१४॥

पाणिपल्लवलीलानाटिताभिनवार्थाभिप्राया । किं कुर्वती । प्रतिकुर्वाणा विस्मयविकसितं वदनं । प्रियस्य वार्तया स्त्रिया मुखं विस्मयविकसितं तस्याश्च वार्तया प्रियस्येति प्रतिशब्दस्यार्थः मदनोद्रेककारिका । किं बहुना । यस्यामनुभूयमानायां शेषाणि चत्वारीन्द्रियाणि श्रवणत्वं गतानि स्वकार्ये न्यस्तानीत्यर्थः ॥८३॥ चन्द्र इति— चन्द्रे निजतेजःपीयूषवर्षैश्चन्दनरसैरिव दिगङ्गनाः स्नपयति सति केचिद्विलासिनः स्वस्थाः सुखिनो मधूनि पिपासामासुः सतृष्णं कान्तामुखमाश्रित्य । दूतीप्रणीतानुनयाश्च गृहीत्वा । यथा मकरन्दसौरभेण कृष्टा विकसितकैरववनमागत्य मधुपा मधु पिबन्ति ॥८४॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितयशःकीर्तिविरचितायां सन्देहध्वान्त-
दीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकायां चतुर्दशः सर्गः ॥१४॥

से विहँसित बना रही है एवं जो कामको उज्जीवित कर रही है ऐसी दम्पतियोंकी वह अभूतपूर्व गोष्ठी हुई जिसमें कि मानो अन्य इन्द्रियाँ कानोंके साथ तन्मयताको प्राप्त हो रही थीं ॥८३॥ जब चन्द्रमा चन्दनके रसके समान अपने तेजसे दिशाओंको सींच रहा था तब कितने ही स्वस्थ युवा दूतीके वचन सुन बड़ी उत्कण्ठाके साथ स्त्रियोंके मुख प्राप्त कर उस प्रकार मधुपान करने लगे जिस प्रकार कि खिली हुई मकरन्दकी सुगन्धि ले भ्रमर बड़ी उत्कण्ठाके साथ विकसित कुमुदके पास जा कर मधुका पान करने लगते हैं ॥८४॥

इस प्रकार महाकवि श्रीहरिचन्द्र द्वारा विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें
चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१४॥

---

१ मन्दाक्रान्ता ।

पञ्चदशः सर्गः

[1]भर्गभालनयनानलदग्ध मन्मथं यदधिजीवयति स्म ।
कोऽपि कल्पतरुमध्वमृत तत्पातुमारभत किंनरलोक ॥१॥

शीतदीधितिविकासि सुगन्ध पत्रवद्दशनकेसरकान्तम् ।
स्त्रीमुख कुमुदवन्मधुपाना पातुमत्र मधुभाजनमासीत् ॥२॥

यावदाहितपरिस्रुतिपात्रे चित्तमुत्तरलित मिथुनानाम् ।
तावदन्तरिह बिम्बपदेन द्रागमज्जि वदनैरतिलौल्यात् ॥३॥

दन्तकान्तिशबलं सविलासा साभिलाषमपिबन्मधु पात्रे ।
श्लिष्यमाणमिव सोदरभावाद् व्यक्तरागममृतेन तरुण्य ॥४॥

यामिनीप्रथमसङ्गमकाले शोणता यदभजद्द्विजनाथ ।
तन्मधूनि ललनाकरपात्रे सोऽपि नूनमपिबत्प्रतिमूर्त्या ॥५॥

भर्गेति—त्रिनयनललाटलोचनाग्निप्लुष्ट काम प्रत्युज्जीवयाचकार यत्तत्कल्पवृक्षसभूत मदिरापीयूष किन्नरलोक पिपासति स्म । किन्नरा देवविशेषास्तुरङ्गवक्त्रादय ॥१॥ शीतेति—मधुपाना पानगाना भ्रमराणा च मध्वास्वादयितु विलासिनीमुख कैरव च चषकस्थानीयं बभूव । चन्द्रोदयपरिपूर्णमनोरथप्रमोदित च विकसित च, सुगन्ध सहजसौरभोपेत लिखितपत्रवल्लीक सदल च दशनकिरणमनोहर सितवकुलपुष्पवत्सित च ॥२॥ यावदिति—यावद् धृतमदिरारसचषके मिथुनाना मानसमुत्तान बभूव तावद्वदनैरतिगार्ध्यात्प्रथममेव बिम्बव्याजात्तन्मध्ये पतितम् ॥३॥ दन्तेति—दन्तज्योत्स्नाश्वेतमान मधु स्मेरवदना कामिन्य पेपीयाचक्रिरे । अथ च भ्रातृस्नेहत्वात्पीयूषेणालिङ्ग्यमानमिव विगतराग प्रकटितानुराग मधुपक्षे शोणच्छायम् । मदिरापीयूषयो समुद्राज्जन्मेति प्रसिद्धि । मधु सर्वगुणैरमृतसदृशमित्यर्थ. ॥४॥ यामिनीति—प्रथमरात्रिसगमसमये उदयाचलस्थश्चन्द्रो यद्रक्तच्छाया बभार तन्मन्ये कामिनीकरस्थितेषु चषकेषु प्रतिबिम्बव्याजेन मदिरापानमकार्षीत् ।

अनन्तर जिसने महादेवजीके ललाटस्थ नेत्रकी अग्निसे दग्ध कामदेवको जीवित कर दिया था, कोई कोई किन्नर लोग उस कल्पवृक्षके मधुरूप अमृतका पान करनेके लिए उद्यत हुए ॥१॥ चन्द्रमाके उदयमे विकसित होनेवाला, सुगन्धित, कलिकाओंसे युक्त और दाँतोंके समान केसरसे सुन्दर कुमुद जिस प्रकार भ्रमरोंके मधुपान करनेका पात्र होता है उसी प्रकार चन्द्रमाके समान प्रकाशमान, सुगन्धित, पत्ररचनाओंसे युक्त एव वकुलपुष्पके समान सफेद दाँतोंसे सुन्दर स्त्रीका मुख, मधुपान करनेवाले लोगोंका मधुपात्र हुआ था ॥२॥ अधिकताके कारण जिससे भरा हुआ मधु छलक रहा है ऐसे पात्र जब तक दम्पतियोंके चित्त उत्सुक हुए कि उसके पहले ही प्रतिबिम्बके छलसे उनके मुख अतिलोलुपताके कारण शीघ्र ही निमग्न हो गये ॥३॥ विलाससम्पन्न स्त्रियोंने पात्रके अन्दर दाँतोंकी कान्तिसे मिश्रित जिस लाल मधुका बड़ी रुचिके साथ पान किया था वह ऐसा जान पड़ता था मानो भाईचारेके नातेसे ही आलिंगित हो रहा हो ॥४॥ रात्रिके प्रथम समागमके समय जो चन्द्रमा भी लालवर्ण हो रहा था उसका एक मात्र कारण था कि उसने भी मानो स्त्रीके हाथमे स्थित पात्रके अन्दर

१ स्वागताछन्द 'स्वागतेतिरनभाद्गुरुयुग्मम्' इति लक्षणात् । २ सुगन्धि च० ज० ।

श्वासकीर्णनवनीरजरेणुच्छद्मना चषकसीधु पिबन्ती ।
कान्तपाणिपरिमार्जनशिष्टं मानचूर्णमपि कापि मुमोच ॥६॥

निष्ठितासवरसे मणिपात्रे पाणिशोणमणिकङ्कणभासः ।
कापिशायनधियाशु पिबन्ती काप्यहस्यत सखीभिरभीक्ष्णम् ॥७॥

यौवनेन मदनेन मदेन त्वं कृशोदरि सदाप्यसि मत्ता ।
तद्वृथायमधुना मधुधारापानकेलिकलनास्वभियोग ॥८॥ [चतुर्भि सबन्ध]

पुण्डरीककमलोत्पलसारैर्यत्त्रिवर्णमकरोत्किल वेधा ।
किं तु कोकनदकान्तिचिकीर्षुर्नेत्रयुग्ममधुना मधुपानात् ॥९॥

अङ्गसादमवसादितधैर्यो यो ददाति मतिमोहनमुच्चै ।
सोऽपि सस्पृहतया रमणीभिः सेव्यते कथमहो मधुवार ॥१०॥

सीधुपानविधिना किल कालक्षेपमेव कलयन्मदनान्ध ।
कामिनी रहसि कोऽपि रिरंसुश्चाटुचारुपदमित्थमवादीत् ॥११॥ [कलापकम्]

अन्यथा सहजधवलवर्णस्य मदिरापानमन्तरेण रक्तच्छायाया अभावात् ॥५॥ श्वासेति—काचन चषकोपरिस्थितपद्मपराग श्वासैरुत्क्षिपन्ती तद्व्याजेन मानपरागमपि तत्याज । किंविशिष्ट । प्रियकरपरिमार्जनोद्धृत प्रियेण बलादालिङ्गिताया कस्याश्चित् यो मानोऽवशिष्ट स मदिरापानात्सपदि गत ॥६॥ निष्ठितेति—काचिन्मुग्धा मदभ्रान्तिवशात्पीतमदिरारसे चषके निजपद्मरागवलयकिरणान् शोणमदिराबुद्ध्या झटिति पिबन्ती सखीभि पौन पुन्येन जहसे ॥७॥ यौवनेनेति—कश्चिन्मधुपाने मधुधारापानकालक्षेप प्रतिपालयितु मदनान्धस्तरुण इत्थमवादीत्—हे ललितोदरि ! त्वमग्रेऽपि तारुण्येन कामेन सौभाग्यगर्वेण च मत्तासि तस्मात्तव साम्प्रत मदिरापानकेलिकलनासु आग्रहो वृथा निरर्थक एव ॥८॥ पुण्डरीकेति—हे मृगाक्षि ! यत्तव नेत्रयुगल धवलकृष्णप्रान्तशोण ब्रह्मा सितकमलनीलोत्पलरक्तोत्पलवर्णैस्त्रिप्रकार कृतवान् तदिद मधु धवलकृष्णवर्णोपि कोकनदसदृश रक्तमेव कर्तुमिच्छति तस्मात्त्याज्यमेव । अथ च मदिरापानाद् दृशो शोणत्व स्यात् । तव ब्रह्मणोपकृतमेतच्चापकरोतीति ॥९॥ अङ्गेति—यो मधुवारो मदिरासेवनातिशयोऽङ्गसादमालस्य मतिमोह च ददाति । किंविशिष्ट । निगृहीतधैर्य कृतविकलभाव, सोऽप्येवमपराधकारी कथ नाम रमणीयतया स्त्रीभि सेव्यते । न सेवितु युक्त इत्यर्थ ॥१०॥ सीध्विति—इति काचित्कश्चित् कामिनी रहसि रन्तुमिच्छुर्मदिरा-

प्रतिबिम्बके द्वारा मधुपान किया था ॥५॥ कोई एक स्त्री श्वासके द्वारा [फूँक-फूँक कर] नूतन कमलकी परागको दूर हटा-हटा कर प्यालेका मधु पी रही थी जो ऐसी जान पडती थी मानो पतिके हाथके परिमार्जनसे बाकी बचे मानरूपी चूर्णको ही छोड रही हो ॥६॥ कोई एक स्त्री मधुरस समाप्त हो जाने पर भी मणिमय पात्रमें पड़ने वाली लालमणिनिर्मित कंकणकी प्रभाको मधु समझ जल्दी-जल्दी पी रही थी, यह देख सखियोंने उसकी खूब हँसी उडायी ॥७॥ हे कृशोदरि ! चूँकि तुम जवानीसे, कामसे और गर्वसे सदासे ही मत्त रहती हो अतः तुम्हारा इस समय मधुधाराकी पान क्रीडामें जो यह उद्यम हो रहा है वह व्यर्थ है ॥८॥ विधाताने जिस नेत्र युगलको सफेद कमल, लाल कमल, और नील कमलका सार लेकर तीन रंगका बनाया था उसे तुम इस समय मधुपानसे केवल लाल रगका करना चाहती हो ॥९॥ जो अंग-अग मे पीड़ा पहुँचाता है, धैर्य नष्ट कर देता है, और बुद्धिको भ्रान्त बना देता है, आश्चर्य है कि स्त्रियाँ उस मधुको भी बड़ी लालसाके साथ क्यों पीती हैं ? ॥१०॥ इस प्रकार एकान्तमे रमण करनेके इच्छुक किसी कामान्ध युवाने मद्यपानसे व्यर्थ ही विलम्ब होगा यह

उल्ललास विनिमीलितनेत्र मन्मृगीदृशि मधूनि पिबन्त्याम् ।
तन्निपीतचषके स्फुरिताक्ष्या लज्जयेव गतमब्जमधस्तात् ॥१२॥

मद्यमन्यपुरुषेण निपीत पीयते कथमिवेति जिहासु. ।
चन्द्रबिम्बपरिचुम्बितमेतत्कामिना बहिरहस्यत काचित् ॥१३॥

किं न पश्यति पतिं तव पार्श्वे धृष्ट एष सखि शीतमयूख' ।
आसवान्तरवतीर्य यदुच्चै. पातुमाननमुपैति पुरस्तात् ॥१४॥

त्वत्प्रदष्टमथवा कथमग्रे दर्शयिष्यति मुख स्ववधूनाम् ।
इत्युदीक्ष्य चषके शशिबिम्बं काप्यगद्यत सनर्म सखीभि' ॥१५॥ [युग्मम्]

स्त्रीमुखानि च मधूनि च पीत्वा द्वित्रिवेलमपर कुतुकेन ।
अन्तर महदिह प्रतिपद्य प्रीतिमासवरसेषु मुमोच ॥१६॥

रसमतीत्यजत् ॥११॥ उल्ललासेति—यत्तामरस भृतमधुरसे चषके तरत् सत् कस्याश्चिन्मृगाक्ष्यामतिसुस्वादुरसमुखनिमीलितनेत्र यथा स्यादेव पानतत्परायामुल्ललास उज्जजृम्भे सश्रीकं बभूवेत्यर्थ । तदेव पश्चाल्लज्जाभरेणेवाधोगतम् । किंविशिष्टायाम् । चषके विकसितलोचनायाम् । किं कृत्वा । तन्मधु पीत्वा । यावन्मृगाक्षी मीलितलोचना तावत्पद्मस्य श्रीरभूत् । उन्मिषितदृष्ट्या च पद्मस्य लज्जैवेति भाव । अथ च निष्ठितमधुत्वान्निरालम्ब पद्ममध पतत्येवेति प्रसिद्धि ॥१२॥ मद्येति—केनचित्कामिना मदिरा त्यक्तुमिच्छन्ती प्राङ्गणोपविष्टा हसिता । इत्युक्तवता—हे कामिनी ! परपुरुषेणार्द्धपीत मद्य भवत्या पतिव्रतया कथ पीयते ? कथ परपुरुषनिपीतमित्याह—चन्द्रबिम्बपरिचुम्बितम् कलङ्किबिम्बाधरोत्सृष्ट प्रतिफलितचन्द्रमूर्तिकमित्यर्थ ॥१३॥ किमिति—काचित् सहास परिवारसखीभिरालपितेति युग्मेन सबन्ध । सखि, कामान्धोऽय धृष्टश्चन्द्रस्तव पार्श्वे परिणेतार किं न पश्यति । यदसौ मधुपात्रमध्येऽवतार नाटयित्वा तव बिम्बाधर पिपासुरपसर्पति ॥१४॥ चन्द्रस्यैव विचारशून्यता दर्शयन्नाह—त्वदिति—(अथवा त्वया प्रदष्टं मुख स्वकीयमिति यावत् स्ववल्लभाना पुरस्तात्कथ दर्शयिष्यति स्वस्यान्यस्त्रीभुक्तत्व कथ प्रकटयिष्यति । सर्वथा निर्लज्जोऽयमिति भाव । इत्थ पानपात्रे पतित चन्द्रप्रतिबिम्ब दृष्ट्वा काचित् सहास सखीभिरालपिता[1]) ॥१५॥ स्त्रीति—कश्चित्तरुणो द्वित्रिवारान् मदिरा विलासिनीबिम्बाधर च पीत्वा कुतुकेन कस्य रसाधिक्यमिति

विचार अपनी स्त्रीसे चापलूसीके सुन्दर वचन कहे ॥११॥ जब कोई एक मृगनयनी नेत्र बन्द कर मधु पी रही थी तब प्यालेका कमल खिल रहा था पर जब उसमें मधु पी चुकनेके बाद नेत्र खोले और खाली प्याले पर उनका प्रतिबिम्ब पडा तब ऐसा जान पडने लगा कि कमल लज्जासे ही मानो नीचे जा छिपा हो ॥१२॥ कोई एक स्त्री बाहर खुले आँगनमे बैठी हुई चन्द्रमाके बिम्बसे प्रतिबिम्बित मदिरा पी रही थी, पीती-पीती जब वह उसे छोड़ने लगी तब उसके पतिने उसकी इस प्रकार हँसी उड़ाना शुरू कर दिया कि हाँ, आप अन्यपुरुषके द्वारा निपीत मदिराको कैसे पियेंगी यह चन्द्रमाके बिम्बसे चुम्बित जो हो रही है ॥१३॥ हे सखि ! यह चन्द्रमा बड़ा ढीठ मालूम होता है, क्या यह पास ही खड़े हुए पतिको नहीं देखता कि जिससे मद्यके भीतर उतर कर मुखपान करनेके लिए सामने चला आ रहा है ? ॥१४॥ अथवा तेरे द्वारा डसा हुआ मुख अपनी स्त्रियोंके आगे कैसे दिखायेगा ? इस प्रकार प्यालेमे पडे हुए चन्द्रबिम्बको देख कर सखियोंने किसी स्त्रीसे हासपूर्वक कहा ॥१५॥ किसी एक पुरुष ने बड़े कौतुकके साथ दो तीन बार स्त्रियोंका मुख और मधु पीकर मधु रसमे प्रीति छोड दी

१ कोष्ठकान्तर्गत. पाठ सम्पादकेन योजित ।

बिम्बितेन शशिना सह नूनं पीवरोरुभिरपीयत मद्यम् ।
यत्तदीयहृदयान्तरलीनैर्निर्गतं सपदि मन्युतमोभिः ॥१७॥

कामहेतुरुदितो मधुदाने गोत्रभेदमकरोत्पुरतोऽन्य ।
सगताप्यपुरुषोत्तमबुद्ध्या श्रीर्न्यवर्तत ततो वनितायाः ॥१८॥

ह्रीविमोहमपनीय निरस्यन्नन्तरीयमपि चुम्बितवक्त्रः ।
सस्पृहं प्रणयवानिव भेजे कामिनीभिरसकृन्मधुवारः ॥१९॥

जग्मतुर्मुहुरलक्तकतिक्तौ यद्विदशपदवीमधरोष्ठौ ।
तेन मद्यमधिकं स्वदते स्म स्मेरमन्मथवते मिथुनाय ॥२०॥

क्षालितोऽपि मधुना परिपीतोऽप्याननेन दशनैर्दलितोऽपि ।
स्वां मुमोच न रुचिं मिथुनानां यत्ततः कथमभूदधरोऽयम् ॥२१॥

परीक्षणाभिप्रायेण बिम्बाधरस्य महान् रस इति निश्चिकाय मदिरां प्रति च प्रीतिं तत्याज ॥१६॥ [युग्मम्] बिम्बितेनेति—अहमेव वितर्कयामि पीनस्तनीभिश्चन्द्रेण प्रतिबिम्बितेन सार्धं मद्यमपायि यतस्तासां हृदयमध्यगौ कोपध्वान्तौ शीघ्रमेव दध्वसे तेजस्विव्यतिरेकेण ध्वान्तच्छेदाभावात् ॥१७॥ कामेति—कश्चित्कामी कामभावोत्पादको मद्यार्पणे समुद्यतो गोत्रभेदमकरोत् नामव्यत्ययं कारितवान् आत्मन्यन्यनामारोपात् । काचिद् विलासिनी निःश्रीका बभूव । धृष्टोऽयमन्यासक्त इत्यभिप्रायेण । यथा कश्चित्पुरुषः प्रद्युम्नपितापि मधुदानवखण्डनोद्यतोऽपि लक्ष्म्या अपुरुषोत्तमबुद्ध्या 'अनारायणोऽय'मित्यभिप्रायेण त्यज्यते । कथमनारायण इत्याह—यतोऽसौ गोत्रभेदं कृतवान् गिरिपक्षच्छेदं कृतवान् ततोऽयं शक्र इति सगतोऽपि पलायते ॥१८॥ ह्रीति—मधुपानातिशयः कामिनीभिः पौनःपुन्येन सिषेवे । किंविशिष्टः । जीवितेश इव । यथा जीवितेशो लज्जाद्यं विमोच्याधोवस्त्रमाकर्षत् वक्त्रं चुम्बति तथा सोऽपि । मत्तानां स्त्रीणां निर्लज्जत्वं वस्त्रधारणाक्षमत्वं च ॥१९॥ जग्मतुरिति—तेन कारणेन दृप्यत्कन्दर्पयुक्ताय मिथुनाय अतिशयेन मदिरास्वादं ददौ । येन किमित्याह—यावकरसलेपेन तिक्तस्वादौ उभयोर्बिम्बाधरौ अपदशपदे बभूवतुः । आर्द्रकाद्यमन्तरान्तरा भक्षस्थानं समाशिश्रियतुः । मधुरसो हि तिक्तेन सार्द्धं भृशं स्वदते इति भावः ॥२०॥ क्षालितोऽपीति—मिथुनानां दन्तच्छदस्य 'अधर' इति सञ्ज्ञाकरणं न युक्तम् । पीडावशाद् गृहीतस्वरूपत्यागी हि अधरः प्रसिद्धः । अयं च न तथा । तथाहि मधुरसेन प्रक्षालितोऽपि परस्परं मुखैः परिपीतोऽपि दन्तैः खण्डितोऽपि निजसहजरागं न तत्याज ततोऽसौ

थी मानो वह उन दोनोंके बीच बड़े भारी अन्तरको ही समझ गया हो ॥१६॥ चूँकि स्थूल जाँघों वाली स्त्रियोंने प्रतिबिम्बित चन्द्रमाके साथ मद्य पिया था इसलिए मानो उनके हृदयोंके भीतर छिपे हुए क्रोध रूपी अन्धकार शीघ्र ही निकल भागे थे ॥१७॥ किसी स्त्रीने काम उत्पन्न करने वाले [पक्षमें प्रद्युम्नको जन्म देने वाले] किसी एक पुरुषसे मद्य देनेकी बात कही पर उसने मद्य देते समय गोत्र भेद कर दिया—सपत्नीका नाम लेकर मद्य समर्पण कर दिया [पक्षमे वंशका उल्लघन कर दिया] अतः स्त्रीकी श्री—शोभा [पक्षमें लक्ष्मी] सगत होने पर भी उसे अपुरुषोत्तम नीच पुरुष [पक्षमे अनारायण] समझ उससे दूर हट गयी ॥१८॥ लज्जा जनित व्यामोह और वस्त्रको दूर कर प्रेमी पतिकी तरह मुखका चुम्बन करने वाले मधुजलका स्त्रियोंने बड़ी अभिलाषाके साथ अनेक बार सेवन किया था ॥१९॥ चूँकि लाक्षारससे तिक्त ओष्ठ मद्यके द्वारा दंशजनित व्रणोंसे रहित हो गये थे अतः कामी दम्पतियोंके लिए मद्य अधिक रुचिकर हो रहा था ॥२०॥ यद्यपि स्त्री-पुरुषोंका ओष्ठ मधुके द्वारा धोया गया था, मुखके द्वारा पिया गया था, और दाँतोंके द्वारा खण्डित भी हुआ था फिर भी उसने अपनी रुचि—कान्ति [पक्षमे प्रीति] नहीं छोड़ी थी तब वह अधर—नीच कैसे हुआ ॥२१॥

त्यज्यता पिपिपिपिप्रिय पात्रं दीयतां मुमुमुखासव एव ।
इत्यमन्थरपदस्खलितोक्ति प्रेयसी मुदमदाद्दयितस्य ॥२२॥
कापिशायनरसैरभिषिच्य प्रायश सरलता हृदि नीते ।
भ्रूलतासु रचनासु च वाचा सुभ्रुवा घनमभूत्कुटिलत्वम् ॥२३॥
प्रोल्लसन्मृगदृशा मदनो हृद्यालवाल इव सीधुरसेन ।
भ्रूलताविलसितैरिह साक्षात्कस्य हास्यकुसुमं न चकार ॥२४॥
तोषितापि रुषमाहितरोषाप्याप तोषमबला मधुपानात् ।
सर्वथा हि पिहितेन्द्रियवृत्तिर्वाम एव मदिरापरिणामः ॥२५॥
भ्रूलता ललितलास्यमकस्मात्स्मेरमास्यमवशानि वचासि ।
सुभ्रुवा चरणयोः स्खलितानि क्षीबता भृशमनक्षरमूचुः ॥२६॥
भिन्नमानदृढवज्रकवाटेनास्यता जवनिकामिव लज्जाम् ।
तत्क्षणाञ्चितशरासनचण्डः सीधुना प्रकटितो विषमेषुः ॥२७॥

नाधर इव ॥२१॥ त्यज्यतामिति—काचित्प्रिया निजस्य पत्यु हर्षं ददौ । किंविशिष्टा । अमन्थरैरुत्तालै पदै स्खलिता अर्धोच्चरितवर्णा उक्तिर्यस्या सा तथाविधा । अतिमदिरारसपारवश्येन गद्गदवाग् घूर्णमानेत्यर्थ । कथमित्याह—प्रिय प्रिय इति वक्तव्ये स्खलितोक्तित्वात् पिपि-पिपीति प्रिय चषक त्यज्यतामिति हृदयार्थ । मुखासव इति वाच्ये मुमुमु इति मुखासवो गण्डूषो दीयतामिति ॥२२॥ कापिशायनेति—मदिरारसै सिक्त्वा भङ्गुरभ्रुवा हृदये ऋजुत्व प्रापिते सति कोपकुटिलता त्याजिते हृदयान्निर्घाटित कुटिलत्व भ्रूवल्लरीषु वचनभङ्गीषु च तस्थौ । मत्ताना तासा विभ्रमो वक्रवचन च कुतश्चित्प्रादुर्बभूव ॥२३॥ प्रोल्लसदिति—स्त्रीणा मानसस्थानके मदिरारसेन कामो भ्रूलताविभ्रमै कस्य हास्य न चकार । अदृष्टपूर्वैर्भ्रूभङ्गीविलासै कस्य चमत्कृतहृदयस्य स्मेरास्य न विदधे । प्रोल्लसन् वर्द्धमान यथा मदनो वृक्षविशेषो मधुमधुरेण जलेन शाखाविलसितैर्वर्द्धमानो हास्यधवल पुष्प दर्शयति ॥२४॥ तोषितापीति—सर्वथापि सर्वप्रकारेणापि मदिरापरिपाको विपरीत एव यतोऽसौ मोहितसर्वेन्द्रियस्वरूप अस्य मधुन पानात्काचित्तरुणी वैकल्य नाटयति । तद्यथा प्रसादितापि रुष कोप प्राप । प्रकोपिता अनुनयमन्तरेणापि तोषमाप तुतोष ॥२५॥ भ्रूलतेति—मदाधिक्यमावर्ण्यते—सुभ्रुवा मदपारवश्येन क्षीबता मत्तता भृशमेतानि चेष्टितानि अनक्षर वचनरहितान्यपि बभाषिरे । कानि तानीत्याह—भ्रूविभ्रमनर्त्तित नि कारणप्रहसितमुखम्, अवशानि विकलानि वचनानि ॥२६॥ भिन्नमानेति—मधुना दलितमानवज्रकपाटेन लज्जा जवनिकापटमिवोत्क्षिपता तस्मिन्काले आरोपितचापभीष्मपञ्चबाण प्रकटी-

---

हे पि पि पि पि प्रिय ! प्याला छोड़िए और मु मु मु मु मुख का ही मद्य दीजिए—इस प्रकार शीघ्रतासे उच्चरित शब्दोंके द्वारा जिसके वचन स्खलित हो रहे हैं ऐसी स्त्री अपने हृदयवल्लभको आनन्द दे रही थी ॥२२॥ मद्य रूपी रसके द्वारा सींच-सींच कर स्त्रियोंका हृदय प्रायः सरल कर दिया गया था अतः अत्यधिक कुटिलता उनकी भौहों और वचनोंकी रचनाओं में ही रह गयी थी ॥२३॥ स्त्रियोंके हृदय रूपी क्यारीमे मद्य रूपी जलके द्वारा हराभरा रहने वाला मदन वृक्ष भ्रुकुटिरूपी लताओंके विलाससे साक्षात् किस पुरुषके हास्य रूपी पुष्प उत्पन्न नहीं कर रहा था ?—स्त्रियोंकी भौहोंका संचार देख किसे हँसी नहीं आ रही थी ॥२४॥ जो स्त्री सन्तुष्ट थी वह मदिरापानसे असन्तुष्ट हो गयी और जो असन्तुष्ट थी वह सन्तोष को प्राप्त हो गयी सो ठीक ही है क्योंकि इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिको आच्छादित करने वाला मदिराका परिणाम सब प्रकारसे विपरीत ही होता है ॥२५॥ भ्रुकुटिरूप लताओंका सुन्दर नृत्य, मुखका अकस्मात् हँस पडना, स्वच्छन्द वचन, और पैरोंकी लडखड़ाहट—यह सब चुपचाप स्त्रियोंके नशाको अच्छी तरह सूचित कर रहे थे ॥२६॥ मानरूपी वज्रमय सुदृढ किवाडोंको तोडने वाले एवं परदाकी तरह लज्जाको दूर करनेवाले मद्यने तत्काल

प्रावृता शुचिपटैरतिमृद्वी स्पर्शदीपितमनोभवभावा ।
प्रेयसी समगुणा इह शय्या कामिनो रतिसुखाय विनिन्यु ॥२८॥
कान्तकान्तदशनच्छददेशे लग्नदन्तमणिदीधितिरेका ।
आबभावुपजनेऽपि मृणालीनालकैरिव रस प्रपिबन्ती ॥२९॥
प्रेयसा धृतकरापि चकम्पे चुम्बितापि मुखमाक्षिपति स्म ।
व्याहृतापि बहुधा सकृदूचे किंचिदप्रकटमेव नवोढा ॥३०॥
उत्तरीयमपकर्षति नाथे प्रावरिष्ट हृदय स्वकराभ्याम् ।
अन्तरीयमपरा पुनराशु भ्रष्टमेव न विवेद नितम्बात् ॥३१॥
कामिना द्रुतमपास्य मुखान्तर्धानवस्त्रमिव कञ्चुकमस्या ।
व्यञ्जित पृथुपयोधरकुम्भो दु सहो मदनगन्धगजेन्द्र. ॥३२॥
पीनतुङ्गकठिनस्तनशैलैराहतोऽपि न मुमूर्च्छ युवा यत् ।
तत्र नूनमधरामृतपानप्रेम कारणमवैम्यबलाया ॥३३॥

कृत ॥२७॥ प्रावृता इति—धृतदुकूलपिहिता कोमला स्पर्शोत्पादितकामभावा प्रिया कर्मतापन्ना कामिनस्तरुणास्तल्पिनानि निन्यिरे समगुणा शय्या सदृशगुणा रतिसुखाय सुरतसुखाय ॥२८॥ कान्तेति—काचिन्मृगाक्षी निजदशनदीर्घकिरणै प्रतिबिम्बाधरलग्नैर्मृणालनालैरिव रस पिबन्ती रराज । लज्जावशादुपजनेऽपि जनसकुलेऽपि दन्तकिरणनालै सर्वदा सर्वविदितमेव पिबति तदानुरहस्ये मुखपानयोग्यमदलज्जावशादिव ॥२९॥ प्रेयसेति—काचिदभिनवपरिणीता कान्तेन करधृतापि कम्पिता चुम्बितापि मुखमपनयति बहुधालापितापि किंचिन्मिताप्रकटाक्षर कष्टेन व्याचष्टे स्म ॥३०॥ उत्तरीयमिति—उपरितनवस्त्र कान्ते समाकर्षति काचिन्निजकराभ्या हृदयमाच्छादयामास । अधोवस्त्र च नितम्बाद् गलितमेव न ज्ञातवती व्याकुला सात्त्विकभावात् ॥३१॥ कामिनेति—केनचित्कामिना झटिति कञ्चुकमुत्क्षिप्य मुखपटमिव पृथुलपयोधरकुम्भस्थलो मत्तमदनगन्धगजेन्द्र प्रकटीकृत ॥३२॥ पीनेति—यत्पृथुलोच्चकठिनकुचस्थलपर्वतैर्जंहन्यमानोऽपि तरुणो न मूर्च्छा जगाम तन्मन्ये बिम्बाधरसुधापानप्रीतिरेव तत्र जीवनकारण बभूव । वज्रादिना चूर्णितोऽपि हि [1]जीमूतवाहन-

धारण किये हुए धनुषसे अतिशय तेजस्वी कामदेवको प्रकट कर दिया ॥२७॥ तदनन्तर कामीजन उज्ज्वल वस्त्रोंसे आच्छादित, अतिशय कोमलाङ्गी और स्पर्शमात्रसे कामवासनाको प्रकट करने वाली प्रियतमाओंको संभोग सुखके लिए उन्हींके समान गुणोंवाली शय्याओं पर ले गये ॥२८॥ पतिके सुन्दर ओठोंके समीप, जिस पर दन्तरूपी मणियोंकी किरणें पड़ रही हैं ऐसी कोई स्त्री इस प्रकार सुशोभित हो रही थी मानो मनुष्योंके समीप रहने पर भी मृणाल रूपी नलीके द्वारा रसका पान ही कर रही हो ॥२९॥ किसी नवोढा स्त्रीका हाथ यद्यपि उसका पति पकडे हुए था फिर भी वह कॉप रही थी, पति उसका चुम्बन करता था फिर भी वह अपना मुख हटा लेती थी और पति यद्यपि उससे बहुत बार बोलता था फिर भी वह एक-आध बार कुछ थोड़ा-सा अस्पष्ट बोलती थी ॥३०॥ जब पतिने उत्तरीय वस्त्र खींचना शुरू किया तब स्त्रीने अपने हाथोंसे वक्षःस्थल ढँक लिया पर उस बेचारीको इसका पता ही नहीं चला कि अधोवस्त्र मेरे नितम्बसे स्वयमेव शीघ्र ही नीचे खिसक गया है ॥३१॥ किसी कामुक पुरुषने शीघ्र ही मुख ढँकनेके वस्त्रके समान स्त्रीकी चोली दूर कर दी, मानो स्थूल स्तनरूपी गण्डस्थलोंसे सुशोभित कामरूपी अजेय मत्तहस्तीको ही प्रकट कर दिया ॥३२॥ स्त्रीके स्थूल उन्नत और कठोर स्तनरूपी पर्वतोंसे टकराकर भी जो युवा पुरुष मूर्च्छित नहीं हुआ था, उसमे मै

१ अस्य कथा नागानन्दनाटके द्रष्टव्या ।

वक्षसा पृथुपयोधरभारं निष्पिपेष हृदयं दयिताया: ।
कोऽपि कर्तुमिह चूर्णमिहान्तर्लीनदुर्ललितकोपकणानाम् ॥३४॥
श्लिष्टमिष्टवनितावपुरादौ नापनेतुमपरः प्रशशाक ।
प्रीतिभिन्नपुलकाङ्कुरशङ्कुप्रोतविग्रह इवाग्रहतोऽपि ॥३५॥
श्लिष्यतापि जघनस्तनमुच्चैरन्तरे प्रणयिनाहमपास्तम् ।
सुभ्रुवो वलिमिषादिह मध्यं भ्रूविभङ्गमतनिष्ट रुषेव ॥३६॥
योषिता सरसपाणिजरेखालंकृतो घनतरः स्तनभार: ।
आबभौ प्रणयिसगमहर्षोच्छ्वासवेगभरभिन्न इवोच्चै: ॥३७॥
कर्कशस्तनयुगेन न भग्नास्त्वन्नखा हृदि न वा व्यथितस्त्वम् ।
इत्युदारनवयौवनगर्वा कापि कान्तमधिगर्वमहासीत् ॥३८॥
सुप्त इत्यतिविविक्ततया स्वं संप्रकाश्य निलयः कुतुकेन ।
प्रेक्षतेव[1] सुतनो रतचित्रं बोधितैकतरदीपकनेत्र. ॥३९॥

वत्पीयूषेण जीवतीति ॥३३॥ वक्षसेति—हठात् मध्यस्थिताना [कोपकणाना] चूर्ण चिकीर्षुरिव [कश्चित्-कामी स्वकीयवक्षःस्थलेन वल्लभाया स्थूलस्तनोपेत हृदय नि शेषेण पिनष्टि स्म][2] ॥३४॥ श्लिष्टेति—कश्चित्प्रथमाश्लिष्ट प्रियाशरीर बलतोऽपि दूरे कर्तुं न शक्नोति स्म प्रेमोद्भिन्नपुलकाङ्कुरकीलककीलितशरीर इव ॥३५॥ श्लिष्यतेति—अत्युच्चैर्जघन पीनस्तनभार चालिङ्गता कान्तेन मध्यस्थमप्यह मुक्तमिति कस्याश्चित्सुभ्रुवो मध्यमवलग्न वलित्रयमिषाद् भ्रूभङ्ग भ्रुकुटिं कोपेनेव चकार । यथा कश्चित्पङ्क्तिमध्यस्थोऽपि पूजादिना वञ्चितो भ्रुकुटिं करोति ॥३६॥ योषितामिति—तरुणीना नूतननखलेखामण्डित स्तनभार शुशुभे प्रियतमसगमसभूतमहाप्रमोदप्राणोल्लासवेगभरस्फुटित इव । यथा परिपचेलिमबीजसचयप्राणोच्छ्वासेन दाडिमादिक स्फुटति ॥३७॥ कर्कशेति—कठिनस्तनपर्वतेन तव पाणिजा न भग्ना यदि वा एताभ्यामाश्लिष्टो न भवान् हृदये पीडित इति गाढतारुण्याहङ्कारा सगर्व यथा स्यात्काचित् पतिमुपहसितवती । सहास्यालापव्याजेनात्मयौवन सभावयतीति भाव ॥३८॥ सुप्त इति—सर्वोऽपि सुप्त इति शून्यतया आत्मान ज्ञापयित्वा शयनावास कुतूहलेनेव तरुणी सुरतप्रसङ्ग प्रेक्षाचक्रे । केनेत्याह—बोधितेन प्रज्वालितेन दीपेन नेत्रेणेव । यथा कश्चित् धूर्त

निश्चयसे अधररूपी अमृतके पीनेका प्रेम ही कारण समझता हूँ ॥३३॥ किसी एक युवाने स्थूल स्तनोंका भार धारण करनेवाली प्रियतमाके हृदय—वक्षःस्थलको इस प्रकार पीसा मानो उसके भीतर छिपे हुए क्रोधके दुःखदायी कणोंका चूर्ण ही करना चाहता हो ॥३४॥ कोई एक युवा स्वयं अग्रभागमें पीडित होनेपर भी प्रथम आलिंगित प्रियतमाके शरीरको दूर करनेमें समर्थ नहीं हो सका था मानो प्रेमसे प्रकट हुए रोमांचरूपी कीलोंसे उसका शरीर निःस्यूत ही हो गया था ॥३५॥ उन्नत नितम्ब और स्तनोंका आलिंगन करनेवाले वल्लभने मुझे बीचमे यूँ ही छोड़ दिया—इस क्रोधसे ही मानो स्त्रीका मध्यभाग त्रिवलिके छलसे भौंहें टेढी कर रहा था ॥३६॥ सरस नखक्षतसे सुशोभित स्त्रियोंके स्थूल एवं उन्नत स्तनोंका भार ऐसा जान पड़ता था मानो पतिके समागमसे उत्पन्न सुखोच्छ्वासके वेगके भारसे विदीर्ण ही हो गया हो ॥३७॥ मेरे कठोर स्तनयुगलसे न तुम्हारे नाखून भग्न हुए और न हृदयपर तुम्हें चोट ही लगी—इस प्रकार उत्तम नव-यौवनसे गर्वीली किसी स्त्रीने बड़े गर्वके साथ अपने पतिकी हँसी की थी ॥३८॥ क्रीड़ा-गृहमे निश्चल दीपक जल रहा था अतः ऐसा जान पडता था कि 'अत्यन्त निर्जन होनेके कारण यह सो गया' इस प्रकार अपने-आपको प्रकट कर वह कौतुक-वश दीपकरूपी नेत्रको खोलकर किसी शोभनागीके सयोगरूपी चित्रको ही देख रहा हो ॥३९॥

---

१ ऐक्षतेव घ० म० । २ इह श्लोके [ ] कोष्ठकान्तर्गत पाठ सम्पादकेन योजित ।

नात्र काचिदपरा परिणेतु' प्रीतिधाम वसतीति पुरन्ध्री ।
ईर्ष्ययेव परिरब्धवतोऽन्तर्द्रष्टुमस्य हृदयं प्रविवेश ॥४०॥
कुन्तलाञ्चनविचक्षणपाणि' प्रोन्नमय्य वदन वनिताया. ।
कोऽपि लोलरसनाञ्चललीलालालनाचतुरमोष्ठमघासीत् ॥४१॥
पीवरोच्चकुचतुम्बुकचुम्बिन्यापुपोष कमितु. करदण्डे ।
वल्लकीत्वमनुताडिततन्त्रीक्वाणकूजितगुणेन पुरन्ध्री ॥४२॥
स्पर्शभाजि न पर करदण्डे कामिन प्रकटकण्टकयोग' ।
ईषदुज्छ्वसितकोमलनाभीपङ्कजेऽपि सुदृशोऽद्भुतमासीत् ॥४३॥
सचरन्नित इतो नतनाभीकूपके निपतित' प्रियपाणि ।
मेखलागुणमवाप्य मदान्धोऽप्यारुरोह जघनस्थलमस्या ॥४४॥
[1]अङ्गसग्रहपरः करपातं मध्यदेशमभितो विदधान' ।
योषित स्म विजिगीषुरिवान्य क्षिप्रमाक्षिपति काञ्चनकाञ्चीम् ॥४५॥

आत्मान सुप्त ज्ञापयित्वा दुर्दर्शमुद्घाटितैकनेत्र कौतुक पश्यति ॥३९॥ नात्रेति—काचित्पुरन्ध्री निजनायकस्यालिङ्गितवतो हृदयमध्य प्राविक्षत् । अस्य स्नेहस्थान हृदय न काचिदपरा वसतीति कोपेन दिदृक्षुरिव ॥४०॥ कुन्तलेति—कश्चित्कुन्तलाकर्षणचतुरपाणिश्चञ्चलजिह्वाञ्चललीलालालनमनोहर प्रियाबिम्बाधर पपौ । किं कृत्वा वदनमूर्ध्वीकृत्य । अथदिव अमुक्तेष्वपि कृकाटिकाकेशेष्वाकृष्यैवेति ॥४१॥ पीवरेति—काचित्पुरन्ध्री वीणात्व दधौ । क्व सति । पत्यु करदण्डे पीनस्तनतुम्बुकमण्डिते । कुत शब्द इत्याह—केनाप्यनुताडितवीणाक्वाणवत् यत्कण्ठकूजित तस्य गुणेन । अत्र स्तनतुम्बीफलाना करदण्डवीणादण्डयो क्वाणकण्ठकूजितयोर्वीणापुरन्ध्र्योश्चोपमानोपमेयभाव ॥४२॥ स्पर्शेति—न केवल कोमले सुरतस्पर्शसुखात् तरुणकरदण्डे रोमोद्गमो बभूव । यच्च पुन स्तोकमात्रोच्छ्वसितमृदुलनाभीकमलेऽपि रोमोद्गमस्तच्चित्रम् । कमलदण्डे हि कण्टका प्रसिद्धा यच्च कमलेऽपि दृश्यन्ते तदाश्चर्यमिति ॥४३॥ सचरन्निति—इत इतो वलिस्तनपार्श्वप्रदेशे मदान्ध इव परिभ्रम्य प्रियपाणिर्नाभिकूपे पपात । ततो मेखलागुणमरघट्टकूपमालामिवावलम्ब्य जघनतट कस्याश्चित्समारूढवान् । नाभिगभीरत्व जघनस्थलस्थूलत्व च वर्णितम् ॥४४॥ अङ्गेति—कश्चित्तरुण कस्याश्चित्काञ्ची मेखलामाकर्षति । अङ्गसग्रहपर आश्लिष्टसर्वाङ्गो नाभिदेशे कर निक्षिपन् । यथा कश्चित्सार्वभौम अङ्गो देशो राज्याङ्गानि वा तेषा सग्रहपर प्रसिद्ध ।

यहाँ पतिकी प्रीतिपात्र कोई दूसरी स्त्री तो नहीं रहती, ईर्ष्यासे भीतर यह देखनेके लिए ही मानो कोई स्त्री आलिंगन करनेवाले पतिके हृदयमे जा प्रविष्ट हुई थी ॥४०॥ हाथसे आगेके बाल सँभालनेवाले किसी युवाने प्रियतमाका मुख ऊपर उठाकर चंचल जिह्वाके अग्रभागको बडी चतुराईके साथ चलाते हुए उसके अधरोष्ठका पान किया था ॥४१॥ जब पतिका हाथरूपी दण्ड, स्त्रीके स्थूल एवं उन्नत स्तनरूपी तुम्बीफलका चुम्बन करने लगा तब उसने ताड़ित तन्त्रीके शब्दके समान अव्यक्त शब्दसे अपने आपका वीणापन पुष्ट किया था—ज्योंही पतिने अपने हाथोंसे स्त्रीके स्तनोंका स्पर्श किया त्योंही वह वीणाके समान कूज उठी ॥४२॥ बड़ा आश्चर्य था कि सुखद स्पर्शको प्राप्त पतिके हस्तरूपी दण्डसे ही रोमांचरूपी कण्टकोंका संयोग नहीं हुआ था किन्तु स्त्रीके कुछ-कुछ विकसित कोमल नाभिरूपी कमलमें भी हुआ था ॥४३॥ यद्यपि इधर-उधर चलता हुआ पतिका हाथ प्रियाके नाभिरूपी गहरे कुएँमे जा पड़ा था तथापि मदान्ध होनेपर भी वह मेखलारूपी रस्सीको पाकर उसके जघन स्थलपर आरूढ हो गया था ॥४४॥ जिस प्रकार अगदेश अपना सहाय आदि अंगोंके संग्रह करनेमे तत्पर विजि-

१ एप श्लोक घ० म० पुस्तकेपु द्वाचत्वारिंशत्तमश्लोकादनन्तर वर्तते क० ख० ग० च० छ० ज० पुस्तकेपु तु पञ्चत्वारिंशत्तमो विद्यते ।

वक्षसा पृथुपयोधरभारं निष्पिपेष हृदयं दयितायाः ।
कोऽपि कर्तुमिह चूर्णमिहान्तर्लीनदुर्ललितकोपकणानाम् ॥३४॥
श्लिष्टमिष्टवनितावपुरादौ नापनेतुमपरः प्रशशाक ।
प्रीतिभिन्नपुलकाङ्कुरशङ्कुप्रोतविग्रह इवाग्रहतोऽपि ॥३५॥
श्लिष्यतापि जघनस्तनमुच्चैरन्तरे प्रणयिनाहमपास्तम् ।
सुभ्रुवो वलिमिषादिह मध्य भ्रूविभङ्गमतनिष्ट रुषेव ॥३६॥
योषिता सरसपाणिजरेखालंकृतो घनतरः स्तनभारः ।
आबभौ प्रणयिसगमहर्षोच्छ्वासवेगभरभिन्न इवोच्चैः ॥३७॥
कर्कशस्तनयुगेन न भग्नास्त्वन्नखा हृदि न वा व्यथितस्त्वम् ।
इत्युदारनवयौवनगर्वा कापि कान्तमधिगर्वमहासीत् ॥३८॥
सुप्त इत्यतिविविक्ततया स्वं संप्रकाश्य निलयः कुतुकेन ।
प्रैक्षतेव[1] सुतनो रतचित्र बोधितैकतरदीपकनेत्र ॥३९॥

वत्पीयूषेण जीवतीति ॥३३॥ वक्षसेति—हठात् मध्यस्थिताना [कोपकणाना] चूर्णं चिकीर्षुरिव [कश्चित्-कामी स्वकीयवक्षःस्थलेन वल्लभाया स्थूलस्तनोपेत हृदय निःशेषेण पिनष्टि स्म][2] ॥३४॥ श्लिष्टेति—कश्चित्प्रथमाश्लिष्ट प्रियाशरीर बलतोऽपि दूरे कर्तुं न शक्नोति स्म प्रेमोद्भिन्नपुलकाङ्कुरकीलककीलितशरीर इव ॥३५॥ श्लिष्यतेति—अत्युच्चैर्जघन पीनस्तनभार चालिङ्गता कान्तेन मध्यस्थमप्यह मुक्तमिति कस्याश्चित्सुभ्रुवो मध्यमवलग्न वलित्रयमिषाद् भ्रूभङ्ग भ्रुकुटिं कोपेनेव चकार । यथा कश्चित्पङ्क्तिमध्यस्थोऽपि पूजादिना वञ्चितो भ्रुकुटिं करोति ॥३६॥ योषितामिति—तरुणीना नूतननखलेखामण्डितः स्तनभार शुशुभे प्रियतमसगमसभूतमहाप्रमोदप्राणोल्लासवेगभरस्फुटित इव । यथा परिपचेलिमबीजसचयप्राणोच्छ्वासेन दाडिमादिक स्फुटति ॥३७॥ कर्कशेति—कठिनस्तनपर्वतेन तव पाणिजा न भग्ना यदि वा एताभ्यामाश्लिष्टो न भवान् हृदये पीडित इति गाढतारुण्याहङ्कारा सगर्व यथा स्यात्काचित् पतिमुपहसितवती । सहास्यालापव्याजेनात्मयौवन सभावयतीति भाव ॥३८॥ सुप्त इति—सर्वोऽपि सुप्त इति शून्यतया आत्मान ज्ञापयित्वा शयनावास कुतूहलेनेव तरुणी सुरतप्रसङ्ग प्रेक्षाचक्रे । केनेत्याह—बोधितेन प्रज्वालितेन दीपेन नेत्रेणेव । यथा कश्चित् धूर्त

निश्चयसे अधररूपी अमृतके पीनेका प्रेम ही कारण समझता हूँ ॥३३॥ किसी एक युवाने स्थूल स्तनोंका भार धारण करनेवाली प्रियतमाके हृदय—वक्षःस्थलको इस प्रकार पीसा मानो उसके भीतर छिपे हुए क्रोधके दुःखदायी कणोंका चूर्ण ही करना चाहता हो ॥३४॥ कोई एक युवा स्वयं अग्रभागमें पीड़ित होनेपर भी प्रथम आलिंगित प्रियतमाके शरीरको दूर करनेमें समर्थ नहीं हो सका था मानो प्रेमसे प्रकट हुए रोमांचरूपी कीलोंसे उसका शरीर निःस्यूत ही हो गया था ॥३५॥ उन्नत नितम्ब और स्तनोंका आलिंगन करनेवाले वल्लभने मुझे बीचमें यूँ ही छोड़ दिया—इस क्रोधसे ही मानो स्त्रीका मध्यभाग त्रिवलिके छलसे भौंहें टेढी कर रहा था ॥३६॥ सरस नखक्षतसे सुशोभित स्त्रियोंके स्थूल एवं उन्नत स्तनोंका भार ऐसा जान पड़ता था मानो पतिके समागमसे उत्पन्न सुखोच्छ्वासके वेगके भारसे विदीर्ण ही हो गया हो ॥३७॥ मेरे कठोर स्तनयुगलसे न तुम्हारे नाखून भग्न हुए और न हृदयपर तुम्हें चोट ही लगी—इस प्रकार उत्तम नव-यौवनसे गर्वीली किसी स्त्रीने बड़े गर्वके साथ अपने पतिकी हँसी की थी ॥३८॥ क्रीड़ा-गृहमें निश्चल दीपक जल रहा था अतः ऐसा जान पडता था कि 'अत्यन्त निर्जन होनेके कारण यह सो गया' इस प्रकार अपने-आपको प्रकट कर वह कौतुक-वश दीपकरूपी नेत्रको खोलकर किसी शोभनांगीके सयोगरूपी चित्रको ही देख रहा हो ॥३९॥

१. ऐक्षतेव घ० म० । २. इह श्लोके [ ] कोष्ठकान्तर्गत पाठ सम्पादकेन योजित ।

नात्र काचिदपरा परिणेतु· प्रीतिधाम वसतीति पुरन्ध्री ।
ईर्ष्ययेव परिरब्धवतोऽन्तर्द्रष्टुमस्य हृदय प्रविवेश ॥४०॥
कुन्तलाञ्चनविचक्षणपाणि· प्रोन्नमय्य वदन वनिताया. ।
कोऽपि लोलरसनाञ्चललीलालालनाचतुरमोष्ठमधासीत् ॥४१॥
पीवरोच्चकुचतुम्बुकचुम्बिन्यापुपोष कमितु करदण्डे ।
वल्लकीत्वमनुताडिततन्त्रीक्वाणकूजितगुणेन पुरन्ध्री ॥४२॥
स्पर्शभाजि न पर करदण्डे कामिन प्रकटकण्टकयोग: ।
ईषदुच्छ्वसितकोमलनाभीपङ्कजेऽपि सुदृशोऽद्भुतमासीत् ॥४३॥
सचरन्नित इतो नतनाभीकूपके निपतित· प्रियपाणि ।
मेखलागुणमवाप्य मदान्धोऽप्यारुरोह जघनस्थलमस्या. ॥४४॥
[1]अङ्गसग्रहपर: करपातं मध्यदेशमभितो विदधान ।
योषित· स्म विजिगीषुरिवान्य क्षिप्रमाक्षिपति काञ्चनकाञ्चीम् ॥४५॥

आत्मान सुप्त ज्ञापयित्वा दुर्दर्शमुद्घाटितैकनेत्र कौतुक पश्यति ॥३९॥ नात्रेति—काचित्पुरन्ध्री निजनायकस्यालिङ्गितवतो हृदयमध्य प्राविक्षत् । अस्य स्नेहस्थान हृदय न काचिदपरा वसतीति कोपेन दिदृक्षुरिव ॥४०॥ कुन्तलेति—कश्चित्कुन्तलाकर्षणचतुरपाणिश्चञ्चलजिह्वाञ्चललीलालालनमनोहर प्रियाबिम्बाधर पपौ । किं कृत्वा वदनमूर्ध्वीकृत्य । अर्थादेव अमुक्तेष्वपि कृकाटिकाकेशेष्वाकृष्यैवेति ॥४१॥ पीवरेति—काचित्पुरन्ध्री वीणात्व दधौ । क्व सति । पत्यु करदण्डे पीनस्तनतुम्बुकमण्डिते । कुत शब्द इत्याह—केनाप्यनुताडितवीणाक्वाणवत् यत्कण्ठकूजित तस्य गुणेन । अत्र स्तनतुम्बीफलाना करदण्डवीणादण्डयो क्वाणकण्ठकूजितयोर्वीणापुरन्ध्योश्चोपमानोपमेयभाव ॥४२॥ स्पर्शेति—न केवल कोमले सुरतस्पर्शसुखात् तरुणकरदण्डे रोमोद्गमो बभूव । यच्च पुन स्तोकमात्रोच्छ्वसितमृदुलनाभीकमलेऽपि रोमोद्गमस्तच्चित्रम् । कमलदण्डे हि कण्टका प्रसिद्धा यच्च कमलेऽपि दृश्यन्ते तदाश्चर्यमिति ॥४३॥ सचरन्निति—इत इतो वलिस्तनपार्श्वप्रदेशे मदान्ध इव परिभ्रम्य प्रियपाणिर्नाभिकूपे पपात । ततो मेखलागुणमरघट्टकूपमालामिवावलम्ब्य जघनतट कस्याश्चित्समारूढवान् । नाभिगभीरत्व जघनस्थलस्थूलत्व च वर्णितम् ॥४४॥ अङ्गेति—कश्चित्तरुण कस्याश्चित्काञ्ची मेखलामाकर्षति । अङ्गसग्रहपर आश्लिष्टसर्वाङ्गो नाभिदेशे कर निक्षिपन् । यथा कश्चित्सार्वभौम अङ्गो देशो राज्याङ्गानि वा तेषा सग्रहपर प्रसिद्ध ।

यहाँ पतिकी प्रीतिपात्र कोई दूसरी स्त्री तो नहीं रहती, ईर्ष्यासे भीतर यह देखनेके लिए ही मानो कोई स्त्री आलिंगन करनेवाले पतिके हृदयमें जा प्रविष्ट हुई थी ॥४०॥ हाथसे आगेके बाल सँभालनेवाले किसी युवाने प्रियतमाका मुख ऊपर उठाकर चंचल जिह्वाके अग्रभागको बडी चतुराईके साथ चलाते हुए उसके अधरोष्ठका पान किया था ॥४१॥ जब पतिका हाथरूपी दण्ड, स्त्रीके स्थूल एवं उन्नत स्तनरूपी तुम्बीफलका चुम्बन करने लगा तब उसने ताड़ित तन्त्रीके शब्दके समान अव्यक्त शब्दसे अपने आपका वीणापन पुष्ट किया था—ज्योंही पतिने अपने हाथोंसे स्त्रीके स्तनोंका स्पर्श किया त्योंही वह वीणाके समान कूज उठी ॥४२॥ बड़ा आश्चर्य था कि सुखद स्पर्शको प्राप्त पतिके हस्तरूपी दण्डमें ही रोमांचरूपी कण्टकोंका संयोग नहीं हुआ था किन्तु स्त्रीके कुछ-कुछ विकसित कोमल नाभिरूपी कमलमे भी हुआ था ॥४३॥ यद्यपि इधर-उधर चलता हुआ पतिका हाथ प्रियाके नाभिरूपी गहरे कुएँमें जा पड़ा था तथापि मदान्ध होनेपर भी वह मेखलारूपी रस्सीको पाकर उसके जघन स्थलपर आरूढ हो गया था ॥४४॥ जिस प्रकार अगदेश अपना सहाय आदि अंगोंके संग्रह करनेमे तत्पर विजि-

१ एष श्लोक घ० म० पुस्तकेपु द्वाचत्वारिंशत्तमश्लोकादनन्तरं वर्तते क० ख० ग० च० छ० ज० पुस्तकेपु तु पञ्चत्वारिंशत्तमो विद्यते ।

नीविबन्धभिदि वल्लभपाणौ सुभ्रुव कलकलो मणिकाञ्च्या ।
नोदितालिसुरतोत्सवलीलारम्भसभ्रमपटु पटहोऽभूत् ॥४६॥

नीविबन्धमतिलङ्घ्य कराग्रे कामिन प्रसरतीह यथेच्छम् ।
भर्त्सना स्मितमलीकतरा इत्याख्यदक्षतमनङ्गवतीनाम् ॥४७॥

पाणिना परिमृशन्नबलोरुस्तम्भमञ्चितकलापगुणेन ।
कश्चिदाकलितमारमहेभ मोचयन्निव रतेषु रराज ॥४८॥

भ्रूकपोलचिबुकाधरचक्षुश्चूचुकादिपरिचुम्बनदक्ष. ।
कोऽपि कोपितवधूप्रतिषिद्धा सान्त्वयन्निव रतिं विरराज ॥४९॥

सीत्कृतानि कलहसकनाद. पाणिकङ्कणरणत्कृतमुच्चै ।
ओष्ठखण्डनमनोभवसूत्रे भाष्यता ययुरमूनि वधूनाम् ॥५०॥

गण्डमण्डलभुवि स्तनशैले नाभिगह्वरतले च विहृत्य ।
सभ्रमा इव दृशो दयितस्यानङ्गवेश्मनि विशश्रमुरासाम् ॥५१॥

मध्यदेशे राजदेयभागमुद्ग्राहयन् काञ्चीदेश विगृह्णाति ॥४५॥ नीवीति—नीविबन्धोद्भेदके प्रियकरे वनिताया मेखलाकिङ्किणीकलकल पटहनादसदृशो बभूव । किंविशिष्ट । निर्घाटितसखीकोपोऽसौ सुरतोत्सवलीलारम्भसूत्र-सभ्रमेण पटीयान् ॥४६॥ नीविबन्धेति—नीविबन्धमुल्लङ्घ्य कामिकरे यथेष्ट विजृम्भमाणे कामिनीना हासस्फुरित कर्तृभूत भर्त्सना प्रतिषेधवचनानि मिथ्यामयानीति कथयामास। अक्षत सहसात्त्विकाद्भव प्रतिषेधवचनान्यपि स्त्रीणा हास्यदर्शनात्प्रत्युत प्रोत्साहकानीति ॥४७॥ पाणिनेति—कश्चित्करेण वनिताया ऊरुस्तम्भ स्पृशन् बद्धकाम-गजेन्द्र मोचयन्निव रराज । किंविशिष्टेन । अञ्चितकलापगुणेन कलापो नीविबन्धो गजबन्धेन वारी च । उत्कृष्ट उन्मोचित कलापगुणो येन स तथाविधस्तेन ॥४८॥ भ्रूकपोलेति—भ्रुवौ च कपोलौ च चिबुक च अधरश्च चक्षुषी च चूचुकौ च एतत्प्रभृतिस्थानेषु चुम्बनकोविद कश्चित् कोपितकामिनी दूरीकृता रतिमनुकूलयन्निव राजते स्म ॥४९॥ सीत्कृतानीति—सीत्कृता नूपुरनादा उच्चैर्विधूननात् पाणिकङ्कणरणज्झणित च एतानि सर्वाण्यपि बिम्बाधरखण्डनकथनसूत्रे टीकारूपाणि बभूवु । ओष्ठखण्डनमेतैर्दूरस्थानामपि कथितमिति भाव ॥५०॥ गण्डेति—आसा स्मरमन्दिरे कान्तदृष्टयो विश्रान्ता खिन्ना इव परिभ्रम्य कपोलदेशपृथ्व्या स्तनभारपर्वते नाभि-

---

गीषु राजा देशके मध्यभागमे सब ओर करपात करता है—टैक्स लगाता है उसी प्रकार नितम्ब आदि अंगोंके संग्रह करनेमें तत्पर कोई युवा स्त्रीके मध्यभागमे सब ओर करपात—हस्तसंचार कर रहा था और बडी उतावलीके साथ उसकी सुवर्णमेखला छीन रहा था ॥४५॥ अधोवस्त्रकी गाँठ खोलते समय वल्लभाकी मणिमयी करधनीका जो कलकल शब्द हो रहा था वही सखीके सम्भोगोत्सवकी लीलाके प्रारम्भमे बजनेवाला मानो उत्तम नगाडा था ॥४६॥ जब पतिका हाथ नीवीका बन्धन खोल आगे इच्छानुसार बढने लगा तब स्त्रियोंने जो डॉट-डपट की थी उसे उन्हींकी अखण्ड मुसकराहट बिलकुल झूठ बतला रही थी ॥४७॥ कोई युवा मेखलारूपी रस्सीको चलानेवाले हाथसे स्त्रीके ऊरुरूपी स्तम्भोंका स्पर्श कर रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो सभोगके समय बँधे हुए कामदेवरूपी हस्तीको ही छोड रहा हो ॥४८॥ भौह, कपोल, ठोड़ी, अधर, नेत्र तथा स्तनाग्रके चुम्बन करनेमे चतुर कोई युवा ऐसा जान पड़ता था मानो रुष्ट स्त्रीके द्वारा निषिद्ध रतिको ही समझा रहा हो ॥४९॥ सी-सी शब्द, पायलकी झनकार और हाथके ककणोंकी रुन झुन—यह सब स्त्रियोंके ओष्ठ खण्डनरूप काम-सूत्रके विषयमें भाष्यपनेको प्राप्त हुए थे ॥५०॥ चूँकि पतिकी दृष्टि स्त्रियोंकी कपोलभूमि, स्तन-रूपी पर्वत और नाभिरूपी गर्तके नीचे विहार करके मानो थक गयी थी इसीलिए वह उनके

नोत्पपात पतिता नवकामिन्यूरुमूलफलके खलु दृष्टिः ।
कामिनः प्रमदकारिणि रङ्कस्येव गूढमणिभाजि निधाने ॥५२॥

पूर्वशैलमिव तुङ्गकुचाग्रं प्रेयसि श्रयति लोचनचन्द्रे ।
प्लावितं मनसिजार्णवनीरैः सुभ्रुवो जघनमण्डलमुच्चैः ॥५३॥

प्रेङ्खति प्रियतमे निरवद्यातोद्यवाद्यपटुकूजितकण्ठे ।
चित्रलास्यलयवल्गु नितम्बो वल्गति स्म सुरते वनितायाः ॥५४॥

ओष्ठखण्डननखक्षतिवक्षस्ताडनस्तनकचग्रहणाद्यैः ।
मत्सरादिव मिथो मिथुनानां कामकेलिकलहस्तुमुलोऽभूत् ॥५५॥

सोत्सवैः करणसंपरिवर्तैश्चाटुभिश्च मणितैः स्तनितैश्च ।
पूर्वसंस्तुतमपि च्युतलज्जं कामिनां रतमपूर्वमिवासीत् ॥५६॥

अश्रुगद्गदगिरामिह तावद्योषितां रतविधौ करुणोक्तिः ।
तानि शुष्करुदितान्यपि यूनां भेजिरे श्रवणयोरमृतत्वम् ॥५७॥

गह्वरतले च ॥५१॥ नोत्पपातेति—कामिनो दृष्टिस्तरुण्या ऊरुमूलफलके पतिता न उत्पपात न व्यावर्तते स्म। आजन्मभिक्षो रतिप्रमोदकारके मणिनिधानघट इव पक्षे गूढमणिभाजि मदनाङ्कुरमण्डिते ॥५२॥ पूर्वेति—लोचनामृतवर्त्तिसदृशे प्रियतमे कुचभारमाश्लिष्यति कामिन्या कामोद्रेकसात्त्विकनीरैर्नितम्बमण्डलं स्नपितम् । यथा चन्द्रे उदयमाश्रितवति सति समुद्रनीरैर्वेलातटाद्रिः प्लाव्यते ॥५३॥ प्रेङ्खतीति—सकन्दर्पावतारं चेष्टमाने प्रियतमे यथोक्तवाद्यसदृशकूजितकण्ठे नानाप्रकारनृत्यमानमनोहरं कामिन्या नितम्बो नरीनृत्याचक्रे ॥५४॥ ओष्ठेति—ओष्ठदलनप्रभृतिभिश्चेष्टितैः कामक्रीडाकलहस्तुमुलो घोरतः कोपकलह इव बभूव ॥५५॥ सोत्सवैरिति—सोत्साहकरणबन्धैश्चाटुवचनैः कण्ठकूजितैः स्तनितैर्मिथ्यादुःखप्रलपितैश्च तैः सर्वैरपि शतशोऽनुभूयमानमपि निस्त्रपं सुरतं नवीनसदृशं बभूव ॥५६॥ अश्रिवति—आस्तां तावद्दूरेण स्त्रीणां करुणोक्तिस्तानि शुष्करुदितान्यपि तरुणानां कर्णामृतसदृशानि बभूवुः । शोककारणं विना सुरते रुदितं शुष्करुदितम् ॥५७॥

वरांगमें विश्राम करने लगी थी ॥५१॥ जिस प्रकार गुप्त मणियोंसे युक्त हर्षोत्पादक खजाने पर पडी दरिद्र मनुष्यकी दृष्टि उसपर-से नहीं उठती उसी प्रकार नव-वधूके नितम्ब फलकपर पडी पतिकी दृष्टि उसपरसे नहीं उठ रही थी ॥५२॥ जिस प्रकार चन्द्रमाके उदयाचलपर आरूढ होते ही तटवर्ति-पर्वत समुद्रके लहराते हुए जलसे प्लावित हो जाता है उसी प्रकार नेत्रोंके लिए चन्द्रमाके समान आनन्ददायी पतिके उन्नत कुचाग्रका आलिंगन करते ही स्त्रीका जघनस्थल कामोद्रेकसे प्रकट होनेवाले सात्त्विक जलसे प्लावित हो उठा ॥५३॥ जिसका कण्ठ निर्दोष मृदंगादि वादित्रके समान अव्यक्त शब्द कर रहा है ऐसा वल्लभ रतिक्रियाके समय ज्यों-ज्यों चंचल होता था त्यों-त्यों स्त्रीका नितम्ब विविध नृत्यकालीन लयके अनुसार चंचल होता जाता था ॥५४॥ उस समय दम्पतियोंमें परस्परके मात्सर्यसे ही मानो ओष्ठखण्डन, नखाघात, वक्षःस्थलताडन, स्तन तथा केशग्रहण आदिके द्वारा अत्यधिक कामक्रीडाका कलह हुआ था ॥५५॥ कामी पुरुषोंका वह लज्जाहीन संभोग यद्यपि पहले अनेक बार अनुभूत था फिर भी हर्षके साथ आसनोंके परिवर्तनों, चाटुवचनों तथा रतिकालीन अव्यक्त शब्दोंके द्वारा अपूर्व-सा—नवीनके समान हुआ था ॥५६॥ संभोगके समय अश्रुओंसे गद्गद कण्ठ-वाली स्त्रियोंकी करुणोक्तियाँ अथवा शुष्करोदनोंके जो शब्द हो रहे थे वे युवा पुरुषोंके कानों-

आहतानि पुरुषायितमुच्चैर्धार्ष्ट्यमीदृगुपमर्दसहत्वम् ।
कामिभिः क्षणमवेक्ष्य वधूनामन्यतैव सुरते प्रतिपेदे ॥५८॥
भग्नपाणिवलया च्युतमाल्या भिन्नतारमणिहारलतापि ।
ताम्यति स्म सुरते न कथंचित्प्रेमकार्मणवशेव कृशाङ्गी ॥५९॥
स्पष्टधार्ष्ट्यमविरोधितवाञ्छ मञ्जुकूजितमनादृतदेहम् ।
चित्रचाटुरुचि यत्प्रणयिन्यास्तत्प्रियस्य रतये रतमासीत् ॥६०॥
मीलितेक्षणपुटै रतिसौख्य योषितामनुभवद्भिरभीष्टैः ।
निर्निमेषनयनैकविभोग्यं तत्त्रिविष्टपसुखं लघु मेने ॥६१॥
सवितेनुरधिक मिथुनानां प्रीतिमप्यवमतात्मसुखानि ।
प्रेमनिर्भरपरस्परचित्ताराधनोत्सवरतानि रतानि ॥६२॥
भूरिमद्यरसपानविनोदैर्गाढशून्यहृदयानि तदानीम् ।
कान्यपि स्म मिथुनानि न वेगात्प्राप्नुवन्ति रतिकेलिसमाप्तिम् ॥६३॥
उत्थितान्यपि रतोत्सवलीलाकौशलापहृतनेत्रमनांसि ।
युक्तमेव मिथुनानि रतान्तेऽन्योन्यवस्त्रपरिवर्तमकार्षुः ॥६४॥

आहतानीति—कामिभि कामिनीना सुरते महावक्ष स्थलहननानि पुरुषायित कर्कशविपरीतरत धार्ष्ट्यं निर्लज्जत्व किं वहुना निर्दयतादृशविमर्दसहिष्णुत्व च विलोक्य तदवसरसदृशैर्निर्दयैरिव बभूवे । कामिनोऽपि सदयत्व मुक्त्वा तासु निर्दया इव वभूवु ॥५८॥ भग्नेति—काचित्तन्वी वशीकरणयन्त्रमन्त्रयुक्तिवशीकृतेव सुरते कथंचन न खिद्यते स्म सर्वथाभग्नाङ्गप्रसाधनोपकरणापि ॥५९॥ स्पष्टेति—कामिन्यास्तत्सुरत प्रियस्य द्वितीय-सुरतप्रारम्भाय वभूव । यत्किमित्याह—प्रकटितधार्ष्ट्यं अप्रतिषिद्धवाञ्छ मधुरमनोहरकूजित नखक्षतादावरक्षित-शरीरम ॥६०॥ मीलितेति—कामिनीना सुखमनुभवद्भि स्वर्गसुख निर्निमेषनयनैर्भोग्य देवाना तद्विधत्वात् । लोके हि यत्सुख सकुचितस्तिमितनयनैरनुभूयते तन्महत्तम यत्तु प्रसारितनयनैस्तल्लघुमात्रमेव ॥६१॥ सवितेनु-रिति—परस्पर मिथुनाना प्रीतिमधिकमनुराग सुरतानि विस्तारयामासु । किंविशिष्टानि । अवगणितात्मसुखानि । पुन किंविशिष्टानि । प्रेमानुवन्धरसिकान्योन्यमनोरञ्जनतत्पराणि ॥६२॥ भूरीति—कानिचिन्मिथुनानि शीघ्र सुरतकेलिसमाप्ति न प्रापु । यतोऽमूनि प्रचुरमदिरापानक्रीडानिर्मोहितहृदयानि । सुरततत्परहृदयेन हि रत-समाप्ति स्यात् । तच्च हृदय मदिराशून्य तत कालक्षेप ॥६३॥ उत्थितानीति—सुरतविनोदानि मिथुनानि

मे अमृतपनेको प्राप्त हो रहे थे—अमृत जैसा आनन्द दे रहे थे ॥५७॥ कामी पुरुषोंने संभोग के समय स्त्रियोंके प्रत्याघात, पुरुषायित चेष्टा, अत्यन्तधृष्टता और इस प्रकारका उपमर्द सहन करनेकी सामर्थ्य देख क्षणभरमे यह निश्चय कर लिया था कि यह स्त्री मानो कोई अन्य स्त्री ही है ॥५८॥ यद्यपि किसी कृशांगीके हाथकी चूडी टूट गयी थी, मालाएँ गिर गयी थीं और हारलताका मध्यमणि विदीर्ण हो गया था फिर भी वह सभोगके समय किसी तरह श्रान्त नहीं हुई मानो प्रेमरूप तन्त्र-मन्त्रके वशीभूत ही थी ॥५९॥ जिसमें धृष्टता स्पष्ट थी, इच्छाओंपर किसी प्रकारकी रुकावट नहीं थी, मनोहर अव्यक्त शब्द हो रहा था, शरीर की परवाह नहीं थी और जो विविध प्रकारके चाटुवचनोंसे मनोहर था ऐसा प्रियतमाका सुरत पतिके लिए आनन्ददायी था ॥६०॥ नेत्र निमीलित कर स्त्रियोंके रतिसुखका अनुभव करनेवाले पतियोंने मात्र देवोंके द्वारा भोगनेयोग्य स्वर्गका सुख तुच्छ समझा था ॥६१॥ आत्मसुखका तिरस्कार करनेवाले एवं प्रेमसे भरे हुए एक दूसरे के चित्तको प्रसन्न करनेवाले उत्सवमे तत्पर सभोगने दम्पतियोंका प्रेम अत्यधिक बढाया था ॥६२॥ अत्यधिक मद्यरसके पानजनित विनोदसे जिनके हृदय अत्यन्त शून्य हो रहे थे ऐसे कितने ही स्त्री-पुरुष वेगसे रतिक्रीडाकी समाप्तिको प्राप्त नहीं हो रहे थे ॥६३॥ यद्यपि

प्रेयसीपृथुपयोधरकुम्भे वल्लभस्य शुशुभे नखपङ्क्ति ।
चारुतामणिनिधाविव मुद्रावर्णपद्धतिरनङ्गनृपस्य ॥६५॥
सम्प्रविश्य वलभीषु गवाक्षैर्वीक्ष्य चोन्नतपयोधरमङ्गम् ।
कामतप्त इव कामधुनीनामाचचाम पवन श्रमवारि ॥६६॥
पश्यति प्रियतमेऽवनतास्या कान्तदष्टदशनच्छदबिम्बम् ।
ऐक्षतेव हृदय त्रपमाणा स्त्री पुन स्मरशरव्रणचिह्नम् ॥६७॥
गन्तुमारभत कोऽपि रतान्ते गृह्यमाणवसनान्तरदृष्टम् ।
ऊरुदण्डमवलम्ब्य तरुण्या सश्रमोऽपि रतवर्त्मनि भूय ॥६८॥
चुम्बनेन हरिणीनयनानामोष्ठतो मिलितयावकरागम् ।
ईर्ष्ययेव दयितेक्षणयुग्म चुम्बति स्म समयेऽपि न निद्रा ॥६९॥

मिथोवस्त्रपरिवर्तन यच्चक्रुस्तद्युक्तमेव यत परस्पर मैथुनोत्सवकेलिचातुर्येण अपहृतानि नेत्रमनासि येषा तानि तद्विधानि । पुरुषचित्तनेत्राणि निजकृष्णवस्त्र प्रतिसबद्धानि तानि च स्त्रिया गृहीतानि तत्स्त्रीशरीरे स्थितान्यपि तानि निजपुरुषवस्त्रमेव गृह्णन्ति । स्त्रीचित्तनेत्राणि च कौसुम्भनिजवस्त्र प्रतिसबद्धानि तानि पुरुषेण गृहीतानि । तत पुरुषशरीरस्थितान्यपि तानि ता निजकौसुम्भवस्त्रमेव गृह्णन्ति । अन्यत्रस्थान्यपि निजवस्त्र गृह्णन्तीति भाव ॥६४॥ प्रेयसीति—प्रियतमापीनतुङ्गकठिनस्तनकलशे प्रियकृतनखक्षतश्रेणी रराज सौभाग्यनिधानकलशे कामराजमुद्राक्षरपङ्क्तिरिव । सौभाग्यभारसमुच्चयोऽत्रास्तीति भाव ॥६५॥ सम्प्रविश्येति—वलभीषु उपरितनगृहभूमिकासु गवाक्षमार्गे प्रविश्य कदर्पदर्परसनदीना तासा कामकलभकुम्भकुचमण्डलादिक शरीर विलोक्य कामाग्नितप्त इव वात प्रस्वेदवारि पपौ । यथा कश्चित्तापतप्तो नदीना जल पिबति ॥६६॥ पश्यतीति—सुरतान्ते साभिलाप प्रियतमेऽवलोकमाने काचिल्लज्जमाना नम्रमुखी निजहृदयमीक्षाचक्रे । किं विशिष्ट हृदयम् । मुखावनमनात्प्रतिबिम्बितदष्टबिम्बाधरम् । पुन सुरतान्तेऽपि कामशरव्रणितमिव । अत्र व्रणप्रतिबिम्बितबिम्बाधरयोरुपमानोपमेयभाव ॥६७॥॥ गन्तुमिति—कश्चित्सुरतायासश्रान्तोऽपि पुन सुरतमार्गे जिगमिषाचकार । किं कृत्वेत्याह—ऊरुदण्डमवष्टम्भ्य तस्या एव तरुण्या परिधीयमानान्तरीयान्तदृष्टम् । यथा कश्चिन्मार्गगमनखिन्नोऽपि यष्ट्यावलम्बनेन पुनश्चङ्क्रमते ॥६८॥ चुम्बनेनेति—वल्लभलोचनयुग्मे निद्रा न ढौकते ईर्ष्यया कोपेनेव । किं निद्राया ईर्ष्याकारणमित्याह—मृगाक्षीचुम्बनेन लग्नाधरयावकरागम् । समयेऽपि निशीथातिक्रमेऽपि । यथा मानिनी निजोपभोग्य वल्लभ परया चुम्बित दृष्ट्वा चतुर्थदिवससमये स्नातापि नागच्छति

कुछ स्त्री-पुरुष शय्यापर-से उठकर खड़े भी हुए थे परन्तु चूँकि रतोत्सवकी लीलाकी कुशलतासे उनके नेत्र और मन दोनों ही हरण कर लिये थे अतः सभोगके अन्तमें उन्होंने और वस्त्रोंका परिवर्तन किया था वह उचित ही था ॥६४॥ प्रियतमाके स्थूल स्तनकलशपर हृदय वल्लभकी नखक्षत पक्ति ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो सुन्दरतारूपी मणियोंके खजानेपर कामदेवरूपी राजाकी मुहरके अक्षर ही अंकित हों ॥६५॥ झरोखों द्वारा अट्टालिकाओंमे प्रवेश कर पवन उन्नत स्तनोंसे सुशोभित स्त्रियोंका शरीर देखकर मानो कामसे संतप्त हो गया था इसीलिए उसने उनके स्वेदजलका आचमन कर लिया था ॥६६॥ किसी स्त्रीका पति अपने द्वारा दष्ट वनिताके अधरबिम्बकी ओर देख रहा था अतः उसने अपना मुख नीचा कर लिया जिससे वह ऐसी जान पडती थी मानो पुनः कामदेवके बाणोंके घावसे चिह्नित हृदयको ही लज्जित होती हुई देख रही हो ॥६७॥ कोई एक युवा यद्यपि काफी थका था फिर भी संभोगके वाद वस्त्र पहिनते समय बीचमे दिखे हुए स्त्रीके ऊरुदण्डका अवलम्बन कर सभोगके मार्गमे चलनेके लिए पुनः उद्यत हुआ था ॥६८॥ चुम्बन द्वारा मृगनयनी स्त्रियोंके ओष्ठसे जिसमे लाक्षारसकी लालिमा आ मिली थी ऐसे पतिके नेत्रयुगलका ईर्ष्यासे ही मानो निद्रा, समय-

इत्थं विलोक्य मधुपानविनोदमत्त-
कान्तारतोत्सवरतान्स्पृहयेव लोकान् ।
चन्द्रोऽपि कैरवमधूनि समं रजन्या
पीत्वास्तशैलरतिकाननसंमुखोऽभूत् ॥७०॥

इति श्रीमहाकविहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये रतोत्सववर्णनो नाम पञ्चदश सर्गः ॥१५॥

॥६९॥ इत्थमिति—अनेन प्रकारेण मदिरामदविनोदादिमत्तकान्ताभि सुरतोत्सवयुक्तान् लोकान् वीक्ष्य सुरतश्रद्धालुरिव स्पर्द्धानुबन्धेनेव कुमुदखण्डमकरन्दमदिरा पीत्वा चन्द्रोऽपि पश्चिमावलम्बन सभोगवन प्रतिप्रतस्थे ॥७०॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयश कीर्तिविरचितायां सन्देहध्वान्तदीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकायां पञ्चदश सर्गः ॥१५॥

पर चुम्बन नहीं कर रही थी ॥६९॥ इस प्रकार मधुपानके विनोदसे मत्त स्त्रियोंके रतोत्सवमें लीन लोगोंको बड़ी लालसाके साथ देखकर चन्द्रमा भी रात्रिके साथ कुमुदोंका मधु पीकर अस्ताचल सम्बन्धी क्रीडावनके सम्मुख हुआ ॥७०॥

इस प्रकार महाकवि श्रीहरिचन्द्र द्वारा विरचित धर्मशर्माभ्युदयमहाकाव्यमें रतोत्सवका वर्णन करने वाला पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१५॥

षोडशः सर्गः[1]

सेवायै समयविदागतः सुराणां सन्दोहः क्षुभितपयोधिमन्द्रनादः[2] ।
धर्माय त्रिभुवनभानवेऽभ्युदेतुं यामिन्याः परिणतिमित्थमाचचक्षे ॥१॥
रथ्यासु त्वदमलकीर्तिकीर्तनेषु प्रारब्धेष्वनवधिमागधैरिदानीम् ।
व्योमाग्रात्पतति मुदामरप्रयुक्तः पुष्पाणां प्रकर इवैष तारकौघः ॥२॥
संभोगं प्रविदधता कुमुद्वतीभिश्चन्द्रेण द्विगुणित आत्मनः कलङ्कः ।
तन्नूनं नतिपर[3]मम्बरान्तलग्नं यात्येनं समवगणय्य यामिनीयम् ॥३॥
गाढस्त्रीभुजपरिरम्भनिर्भरोद्यन्निद्राणि स्फुटपटहारवैश्च भूयः ।
वर्तन्ते विघटितसंपुटानि यूनां भ्रूकुंसप्रगुणगुणानि लोचनानि ॥४॥
दृग्दोषव्यपनयहेतवे सगर्वा निर्वाणोल्मुकमिव कर्परं पुरस्तात् ।
वक्त्रेन्दोरुपरि तवावतार्य दूरे[4] द्यौरेषा क्षिपति सलक्ष्मचन्द्रबिम्बम् ॥५॥

सेवायै इति—लोकालोकप्रकाशकादित्याय श्रीधर्मनाथाय मन्दराद्रिमथ्यमानसमुद्रगम्भीरनादः समयज्ञः सेवागतः सुरसमूहो रात्रिपरिणतिं प्रभातसमयं प्रतिपादयामास । इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण ॥१॥ रथ्यास्विति—हे प्रभो ! त्रिभुवनप्रकाशन तव निर्मलयशःस्तवनेषु प्रारब्धेषु मुख्यमङ्गलपाठकैः सांप्रतं वीथीमार्गेषु गगनतलात्प्रमोदितसुरसार्थमुक्तपुष्पप्रकर इव तारकानिकरः पतति ॥२॥ संभोगमिति—कैरविणीभिः सार्धं चन्द्रेण संभोगं कुर्वता निजकलङ्को द्विगुणीकृतः । तत्तस्मादपराधान्नूनं नतिपरमस्तमयमानं गगनप्रान्तलग्नं समवगणय्यावमत्यैव रात्रिर्वियाति यथा कश्चित्कामी कुत्सिता मुद् यासां ताभिः सार्धं संभोगं कुर्वन्नधिकजनापवादस्तनितो निजवल्लभायाश्चरणलग्नो वस्त्राञ्चलमाकर्षन्नपि अवगण्यते ॥३॥ गाढेति—तरुणानां लोचनानि प्रकटितनर्तकगुणानि वर्तन्ते । किंविशिष्टानि । विघटितसंपुटानि उन्मिषितानि । केन । प्रथमजागृतस्त्रीगाढालिङ्गनेन । पुनरपि उन्मिषितानि । कैः । प्रभातपटहनादैः । प्रथमं निद्रामुद्रितानि परिरम्भणोन्निद्रितानि पुनर्मिलितानि ततश्च पटहरवोन्मीलितानि इति नर्तकगुणयुक्तानीव ॥४॥ दृगिति—हे प्रभो ! तव वदनचन्द्रस्योपरि

अथानन्तर सेवाके लिए आये हुए, समय अथवा आचारको जाननेवाले एवं क्षुभित-समुद्रके समान गम्भीर शब्दसे युक्त देवोंका समूह त्रिभुवन सूर्य श्रीधर्मनाथ स्वामीके लिए अभ्युदय प्राप्त करनेके अर्थ इस प्रकार रात्रिके अवसानका निवेदन करने लगा ॥१॥ हे स्वामिन् ! इस समय जबकि अपरिमित चारण गलियोंमें आपकी निर्मल कीर्तिका स्तवन प्रारम्भ कर रहे हैं, आकाशसे यह ताराओंका समूह ऐसा पड रहा है मानो हर्षवश देवोंके द्वारा छोड़ा हुआ पुष्पोंका समूह ही हो ॥२॥ चूँकि कुमुदिनियोंके साथ संभोग करनेवाले चन्द्रमाने अपने कलंकको दुगुना कर लिया है इसलिए मानो यह रात्रि रतिमें तत्पर और अम्बरान्त—आकाशान्त [पक्षमें वस्त्रान्त] में लग्न इस चन्द्रमाको अपमानित कर—छोड़कर जा रही है ॥३॥ स्त्रियोंके गाढ भुजालिंगनसे उनींदे तरुणोंके नेत्र जोर-जोरसे बजनेवाले नगाड़ोंके शब्दोंसे नर्तकोंकी तरह बार-बार पलकोंको खोलते और लगाते हैं—अर्थात् नर्तकोंकी तरह चंचल हो रहे हैं ॥४॥ यह आकाशरूपी गर्वीली स्त्री दृष्टिदोषको दूर करनेके

१ प्रहर्षिणीवृत्तम् 'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' इति लक्षणात् । २ ध्वमिनव—ख० ग० म० घ० ।
३. रतिपर म० घ० । ४ दूरं म० घ० ।

ते भावा करणविवर्तनानि तानि प्रौढि सा मृदुमणितेषु कामिनीनाम् ।
एकैकं तदिव रताद्भुतं स्मरन्तो धुन्वन्ति श्वसनहता शिरांसि दीपा. ॥६॥
यद्दोषोपचिततमोऽपि ते कथासु प्रारब्धास्वमरवरैर्विलीयतेऽस्मिन् ।
तन्मन्ये तव गुणकीर्तनानि नाम-साधर्म्योदयमपि न द्विषा सहन्ते ॥७॥
राजानं जगति निरस्य सूरसूतेनाक्रान्ते प्रसरति दुन्दुभेरिदानीम् ।
यामिन्या प्रियतमविप्रयोगदु खैर्हृत्सन्धे. स्फुटत इवोद्भट. क्वणाद ॥८॥
चेतस्ते यदि चपलं पुरानुशेते तन्मानिन्यमुमधुनापि मानयेशम् ।
आकर्ण्य ध्वनितमितीव ताम्रचूडस्यानम्रं प्रियमुषसि प्रपद्यतेऽन्या ॥९॥
सदष्टे प्रियविधिनाधरीकृतेऽस्मिञ्शीतार्ता हिमपवनार्तपान्थवक्त्रै ।
सीत्कारं प्रवितनुते विधूतहस्ता मुग्धापि क्षणरजनी विवृत्तलक्ष्मी ॥१०॥

दृष्टिदोपनिराकरणाय निर्वाणाङ्गारमध्य शरावमिवावतार्य एपा गगनलक्ष्मी सकलङ्क चन्द्र दूरे पश्चिमसमुद्रप्रान्ते निक्षिपति । अत्र कर्परचन्द्रयोरङ्गारकलङ्कयोश्चोपमानोपमेयभाव ॥५॥ ते भावा इति—प्रभातवाताहता सुरभिश्वासाहता वा दीपा मस्तकानि कम्पयाचक्रिरे । एकैक तासा कामिनीना सुरतविलसिताश्चर्यं चेतसि चिन्तयन्त इव । किमद्भुतमित्याह—तेऽद्भुतप्रभावा मदनरसविलासास्तानि चतुरशीतिकरणकारणानि । सा च प्रगल्भता मधुरकण्ठकूजितेपु [कोमलरतिशब्देपु] । एतदेकैकमपि महाश्चर्यकारणम् ॥६॥ यदिति—हे प्रभो ! दोपैर्महापापैरुपचित यत् तदपि तमोऽन्यनिराकरणीय तव स्तुतिपु शक्रप्रमुखै प्रारब्धासु विलीयते सर्वथा विलय याति । तदह वितर्कयामि—युष्मद्गुणकीर्तनानि नाम साधर्म्योदय सदृशनामधेयमपि न सहन्ते द्विषा तमसा पक्षेऽज्ञानलक्षण तमो, नामसादृश्याद्दोषाया रजन्यामुपचित दोपोपचित तमो निहतमिति अज्ञाननामबिभ्राण भ्रान्त्या ध्वान्त विध्वस्तमिति भाव ॥७॥ राजानमिति—चन्द्र निर्घाट्यारुणेन भुवने व्याप्ते प्रभातपटहप्रणाद समुज्जृम्भते प्रियविरहदु खैर्विभिद्यमानहृदयसन्धे रात्रे स्फुटत शब्द इव । अथ चोक्तिलेश —यथा केनचित्सुभट-पुत्रेण अन्यभूपान् विजित्य भूमण्डले व्याप्ते जयपटह शब्दायते विरहविभिद्यमानशत्रुस्त्रीहृदयस्फोटशब्दमनु-कुर्वन् ॥८॥ चेत इति—अन्या काचिन्मनस्विनी रजनिविरामसमये पादावनतं प्रियमनुकूलयति कुक्कुटस्य तारध्वनि श्रुत्वा । इति प्रतिपादकस्येव—यदि तव मन पश्चादपि पश्चात्ताप करिष्यति चपल कातर तन्मन-स्विनि साम्प्रतमपि निजप्रभुमनुभजस्व त्वमिति ॥९॥ संदष्ट इति—बिम्बाधररूपे नीचै कृते चन्द्रे शीतालु-पथिकमुखै प्रभातलक्ष्मी सीत्कार करोति । मुग्धापि किंचिद्भिीतापि विधूतहस्ता कम्पितविच्छायहस्तनक्षत्रा ।

लिए जिसपर बुझा हुआ अंगार रखा है ऐसे कपालकी भाँति कलंकयुक्त चन्द्रबिम्बको आपके मुखचन्द्रके ऊपर उतारकर दूर फेंक रही है ॥५॥ स्त्रियोंके वे भाव, वे आसनोंके परिवर्तन और रतिजनित कोमल शब्दोंमें वह अलौकिक चातुरी—इस प्रकार एक-एक आश्चर्यकारी रतका स्मरण करते हुए दीपक वायुसे ताड़ित हो मानो शिर ही हिला रहे हैं ॥६॥ हे प्रभो ! चूँकि इस समय श्रेष्ठ देवोंके द्वारा आपकी कथाओंके प्रारब्ध होनेपर—आपका गुणगान प्रारम्भ होनेपर दोषा—रात्रिका संचित तम—अन्धकार तो नष्ट होता ही है किन्तु दोषों—अनेक अवगुणोंसे संचिततम—अज्ञान भी विलीन हो रहा है ? इससे मै समझता हूँ कि आपके गुणों-के कीर्तन, शत्रुओंके नाम सादृश्यको भी सहन नहीं करते ॥७॥ जब राजा—चन्द्रमा [पक्षमें नृपति] को नष्ट कर अरुणने सारे संसारपर आक्रमण कर लिया तब बजनेवाली दुन्दुभियों-का शब्द ऐसा फैल रहा था मानो पति विरहसे फटनेवाले रात्रिके हृदयका उन्नत शब्द ही है ॥८॥ हे मानिनि ! यदि तेरा चंचल चित्त पिछले कार्योंमे पश्चात्ताप करता है तो वल्लभको अब भी मना ले—इस प्रकार मुर्गेका शब्द सुन कोई स्त्री प्रातःकालके समय अपने नम्रीभूत प्रियतमको प्राप्त हो रही है—उसे स्वीकृत कर रही है ॥९॥ यह अल्पकालिक सुन्दर रात्रि

विध्वस्ता निजवसतिं विलोक्य कोपान्निष्क्रान्ता किल कमलेयमोषधीशात् ।
निःश्रीक तमिव शुचावलोकयन्ती स्व तेजस्त्यजति च पङ्क्तिरोषधीनाम् ॥११॥

सभोगश्रमसलिलैरिवाङ्गनानामङ्गेषु प्रशममित मनोभवाग्निम् ।
उन्मीलज्जलजरज कणान्किरन्त प्रत्यूषे पुनरनिला प्रदीपयन्ति ॥१२॥

युष्माभि प्रकटितकामकौशलाभि साध्वेतन्निधुवनयुद्धमत्र सोढम् ।
इत्युक्त्वा स्पृशति मुदेव भृङ्गनादै प्रत्यूषानिललहरी वधू सखीव ॥१३॥

प्रागल्भ्य विहितममीभिरत्ययेऽह्ना नाथस्य प्रतिगृहमित्यसौ रुषेव ।
प्रत्यूष पवनकरेण धूमकेशेष्वाकृष्य क्षपयति सप्रति प्रदीपान् ॥१४॥

मूर्ध्नीवोद्गतपलितायमानरश्मौ चन्द्रेऽस्मिन्नमति विभावरीजरत्या ।
अन्योऽन्य विहगरवैरिवोल्लसन्त्यो दिग्वध्वो विदधति विप्लवाट्टहासम्[1] ॥१५॥

यथा काचित् कम्पमानकरा प्रियेण दष्टेऽधरे मुग्धापि रसोद्रेकवशात्सीत्कार करोति ॥१०॥ विध्वस्तामिति—निजपद्मगृहान् विध्वस्तान्निरीक्ष्य किलेति सभावने । मदीयगृहाणि अनेन चन्द्रेण विध्वस्तानीति चन्द्राल्लक्ष्मीर्निष्क्रान्ता ततश्च त निजपतिं दारिद्रचोपद्रुतमिव निरीक्षमाणा महौषधिश्रेणिरपि निजतेजोऽहङ्कार त्यजति ॥११॥ सभोग इति—सुरतायासप्रस्वेदवारिभिरिव प्रशमित विध्यापित विदलत्कमलकुलकलिकागर्भकिञ्जल्कचक्रवातोड्डीनै परागकणैर्मुर्मुरचूर्णैरिव सधुक्षयन्ति पुन प्रभातवाता ॥१२॥ युष्माभिरिति—प्रभातमृदुलवात्या भृङ्गस्वनैरालापयन्ती वधू स्पृशति हर्षेणेव भवतीभिर्नक्त प्रकटितकामकरणविज्ञानाभिरेतत्सुरतयुद्ध भव्य सोढमिति ॥१३॥ प्रागल्भ्यमिति—अस्तगते भास्वति प्रतिगृहमेतै सप्रभावै प्रगल्भितमिति कोपेनेव प्रभात वातहस्तेन धूमशिखाकेशेषु गृहीत्वा साप्रत सविकार धूनयति । यथा कस्मिंश्चिन्नायके दैवदशावशाद्दिनक्षये सजाते प्रोषिते परोक्षसमुद्दीपितभावान् दुर्जनान्पुनरुज्जिगमिषौ भर्तरि तदग्रेसरस्तान्निगृह्णाति ॥१४॥ मूर्ध्नीति—पलितकुन्तलायमानकिरणे चन्द्रमसि वृद्धाया रात्रे सवन्धित्वेन नमति सति परस्पर पक्षिकोलाहलैरिव उज्जृम्भमाणा दिगङ्गना महोपहास्य कुर्वन्ति । यथा कश्चिज्जरिण दोलत्कराया स्त्रिया पादयो पतन्तमवलोक्य

मुग्धा होनेपर भी प्रियरूप विधाताके द्वारा इस चन्द्रमारूपी अधरोष्ठके खण्डित होनेपर शीतल वायुसे पीडित पथिकोंके मुखोंसे सीत्कार कर रही है और साथ ही हस्त—हाथ [पक्षमे हस्त नक्षत्र] हिला रही है ॥१०॥ इधर यह लक्ष्मी अपने निवासगृह—कमलको विध्वस्त देख क्रोधवश चन्द्रमासे बाहर निकल गयी उधर ओषधियोंकी पंक्ति भी उसे लक्ष्मीरहित देख शोकसे ही मानो अपना तेज छोड़ रही है ॥११॥ संभोगजनित स्वेदजलसे जो कामाग्नि स्त्रियोंके शरीरमे बुझ चुकी थी उसे प्रातःकालके समय खिलते हुए कमलोंकी परागके छोटे-छोटे कण बिखेरनेवाली वायु पुनः प्रज्वलित कर रही है ॥१२॥ कामकी चतुराईको प्रकट करनेवाली आप लोगोंने यह सभोगरूपी युद्ध अच्छी तरह सहन किया—भ्रमरोंके शब्दके बहाने यह प्रातःकालकी वायुकी परम्परा सखीकी भाँति हर्षसे मानो स्त्रियोंका स्पर्श ही कर रही है ॥१३॥ इन दीपकोंने दिवानाथके अस्त होनेपर घर-घर अपना बडप्पन दिखलाया—इस क्रोधसे ही मानो प्रातःकाल पवनरूपी हाथसे धूमरूपी बाल खींचकर इस समय दीपकोंको नष्ट कर रहा है ॥१४॥ जिसपर किरणरूपी सफेद बाल निकले हैं ऐसे मस्तकके समान चन्द्रमा जब रात्रिरूपी वृद्धा स्त्रीके आगे झुक गया तब पक्षियोंके शब्दोंके बहाने परस्पर खिलखिलाती

१ हासान् छ० ज० व० म० ।

[1]आसाद्योद्धृतचरणापरार्धमेताः कण्ठाग्रं मुकुलितलोचनास्तरुण्यः ।
प्रस्थातुं शयनतलोत्थितानभीष्टान् याचन्ते प्रकटितचाटु चुम्बनानि ॥१६॥
पद्मिन्यामहनि विधाय कोशपानं चिक्रीडुर्निशि यदमी कुमुद्वतीभिः ।
तद्वर्णेन परमुदीरयन्ति भृङ्गाः कृष्णत्वं निजचरितैरपि प्रकामम् ॥१७॥
पर्यस्ते दिवसमणौ न काचिदासीद् बाधा वस्तिमिरपिशाचगोचराणाम् ।
इत्याशाः पतितहिमद्रवाश्रुलोकान् वात्सल्याद् विहगरुतैरिवालपन्ति ॥१८॥
भात्येषा सुभगतमक्षपापवृत्तौ विच्छाया नभसि निशाकरस्य कान्तिः ।
एतत् ते मुखमुकुरं प्रमार्ज्य लक्ष्म्या प्रक्षिप्ता स्वगुणदिदृक्षयेव भूतिः ॥१९॥
तन्नूनं प्रियविरहार्तचक्रवाक्या कारुण्यान्निशि रुदितं घनं नलिन्या ।
यत्प्रातर्जललवलाञ्छितारुणानि प्रेक्ष्यन्ते कमलविलोचनानि तस्याः ॥२०॥
स्रस्तोडुक्रमपरिणामि पाण्डुपत्रे व्योमाग्रे द्रुम इव सश्रये खगानाम् ।
उन्मीलत्किसलयविभ्रमं भजन्ते जम्भारेः ककुभि विभाकरस्य भासः ॥२१॥

तरुण्यः सशब्दमुपहसन्ति ॥१५॥ आसाद्येति—निजफणकभरेण स्थित्वा प्रियकण्ठमवलम्ब्य यियासून्प्रियतमान् चटुलचाटुचुम्बनानि तरुण्यो याचन्ते ॥१६॥ पद्मिन्यामिति—ये दिवसे कमलमुकुलमकरन्दपानं कृत्वा नक्तं कैरविणीभिः सार्धं रेमिरे तन्न केवलं वर्णेन मालिन्यं बिभ्रति निजप्रतिपन्नैश्चरितैरपि । यथा कश्चित्कोशं पीत्वा शपथादिकं कृत्वा पुनस्तदेवाकृत्यं कुर्वन् निजदुश्चरित्रं प्रकटयति ॥१७॥ पर्यस्त इति—आदित्येऽस्तमिते ध्वान्तरक्षाश्लिष्टानां युष्माकं न काचित्पीडा बभूव इति कुशलवार्तायन्त्य इव दिगङ्गनामातर इव पतितप्रालेयकणैर्दर्शितबाष्पलवानिव लोकान् वात्सल्यात्पक्षिकोलाहलैः सभाषयन्तीति ॥१८॥ भातीति—सुभगतम, निशाविरामे निःश्रीका चन्द्रकान्तिर्विभाति आत्मगुणदिदृक्षुकया लक्ष्म्या एतत् तव वदनादर्शं प्रमार्ज्य दूरे भसितमिव प्रक्षिप्तम् । त्वन्मुखस्थं निजसौभाग्यगुणं लक्ष्मीर्बहु मनुते इति भावः ॥१९॥ तन्नूनमिति—चक्रवाकीप्रियसखीदुःखेन नलिन्यापि रुदितं यत्तः प्रभाते हिमलवाश्रुकलितानि शोणानि कमलनयनानि तस्या दृश्यन्ते ॥२०॥ स्रस्तेति—खे गच्छन्तीति खगा आदित्यादयः परिणामपक्वपतन्नक्षत्रपाण्डुपत्रे गगनद्रुमे उद्गच्छत्किसलयश्रियं पूर्वदिग्भागे

हुई दिशारूपी स्त्रियाँ मानो विप्लवसूचक अट्टहास ही करने लगीं ॥१५॥ ये युवतियाँ जो कि चरणोंका उत्तरार्ध भाग ऊपर उठा [घुटनोंके बल शय्यापर खड़ी हो] गलेका आलिंगन कर आनन्दसे नेत्र बन्द कर रही हैं, वे जानेके लिए शय्यातलसे उठकर खड़े हुए पतियोंसे चापलूसी करती हुई चुम्बनोंकी याचना कर रही हैं ॥१६॥ चूँकि ये भ्रमर दिनके समय कमलिनीमें मधुपान कर रात्रिके समय कुमुदिनियोंके साथ क्रीड़ा करते रहे हैं अतः ये न केवल वर्णके द्वारा ही अपनी कृष्णता प्रकट करते हैं अपितु अपने आचरणके द्वारा भी ॥१७॥ सूर्यके अस्त होनेपर अन्धकाररूपी पिशाचके वश पड़े हुए आप लोगोंको कोई बाधा तो नहीं हुई ?, मानो दिशाएँ स्नेहवश ओसरूपी अश्रुओंको छोड़ती हुई पक्षियोंकी बोलीके बहाने लोगोंसे यही पूछ रही है ॥१८॥ हे सौभाग्यशालिन् ! रात्रिके समाप्त होनेपर आकाशमें चन्द्रमाकी यह फीकी कान्ति ऐसी जान पड़ती है मानो लक्ष्मीने अपने गुण देखनेकी इच्छासे तुम्हारे इस मुखरूपी दर्पणको माँजकर राख ही फेंकी हो ॥१९॥ पतिके विरहसे दुःखी चकवीपर दया आनेसे कमलिनी मानो रात भर खूब रोती रही है इसीलिए तो उसके कमलरूपी नेत्र प्रातःकालके समय जलकणोंसे चिह्नित एवं लाल लाल दिखाई दे रहे हैं ॥२०॥ आकाशका अग्रभाग पक्षियोंके [पक्षमें सूर्यादि ग्रहोंके] निवासभूत वृक्षके समान है चूँकि उसके नक्षत्ररूपी क्रमसे पके हुए पीले पत्ते गिर चुके हैं अतः पूर्व दिशामें सूर्यकी प्रभा उसपर निकलते हुए नये

1 आसज्योद्धृत ख० ग० च० छ० ज० घ० म० ।

भस्मास्थिप्रकरकपालकश्मलोऽभ्रे[1] यः संध्यावसरकपालिनावकीर्णं ।
त भास्वत्युदयति चन्द्रिकोडुचन्द्रव्याजेनावकरमपाकरोति कालः ॥२२॥
निःशेष हृतजनजातरूपवृत्तेर्ध्वान्तस्य प्रविरचितोऽमुनावकाश ।
इत्युच्चैर्गगनमुदस्तमण्डलाग्रो विच्छिन्नश्रवणकर करोति भानु ॥२३॥
आरम्भोच्छलिततुरङ्गकुञ्जरश्री क्षुण्णोद्यन्मकरकुलीरमीनरक्त ।
देवार्थं विदधदहीनरश्मिरब्धेरुन्मज्जत्ययमहिमाशुमन्दराद्रि ॥२४॥
पाथोधेरुपजलतैलमुत्थितार्चिर्ध्वान्तच्छिद्व्रजति रवि प्रदीपलक्ष्मीम् ।
यस्याभात्युपरि पतङ्गपातभीत्या विन्यस्तं मरकतपात्रवद्विहाय ॥२५॥
दीपेनाम्बरमणिना रथाश्वदूर्वं[2] संयोज्यारुणघुसृण खमेव पात्रम् ।
नक्षत्राक्षतनिकर पुर. क्षिपन्ती प्राचीय प्रगुणयतीव मङ्गल ते ॥२६॥

रविरुचयो भासन्ते ॥२१॥ भस्मेति—सध्यावसर एव कपाली महाव्रतिकस्तेन भस्मास्थिशकलनिकरकपालकचवारो गगनप्राङ्गणे निक्षिप्तस्त प्रभातसमयो भास्वति महापुरुप इव उद्गच्छति ज्योत्स्नानक्षत्रचन्द्रव्याजेन समार्जयति । भस्मज्योत्स्नयोरस्थितारयो कपालचन्द्रयोरुपमानोपमेयभाव ॥२२॥ नि शेषमिति—सर्वथापहृतलोकसमूहरूपाचरणस्य ध्वान्तस्यानेनावकाशो दत्त पक्षेऽपहृतजनसुवर्णस्य । इति हेतोरुदितादित्यो गगन विगतश्रवणनक्षत्रकिरण दर्शितमण्डलो रुषा उत्खातखड्गश्च पक्षे कर्तितकर्णहस्तम् ॥२३॥ आरम्भ इति—समुद्रादादित्यमन्दराद्रिरुद्गच्छति । किंविशिष्ट ।आरम्भे मथनप्रारम्भे उच्छलिता उद्गता उच्चैश्च ऐरावणप्रभृतयो यस्मात् । रविपक्षे प्रथमोद्गता तुरङ्गप्रधानाना हरिताश्वाना श्रीर्यस्य स तथाविध । कदर्थितमकरादिजलचरविशेष पक्षे ग्लपितमकरमीनकर्कराशिश्च सुवर्णवर्णश्च । देवार्थं सुरसार्थनिमित्त पक्षे देवाना विभव कुर्वन् अगृहीतरश्मिशेषनेत्रक पक्षे प्रचुरकिरण ॥२४॥ पाथोधेरिति—समुद्रजलमेव तैल तस्य समीपे समुद्भूतकिरणजालशिखो विवस्वान् दीपश्रिय बिभर्त्ति । यस्योपरि शलभपातभीत्या मरकतकर्परमिव गगन दत्त विभाति ॥२५॥ दीपेनेति—हे प्रभो ! इय पूर्वदिगङ्गनागगन मङ्गलपात्रमिव विधाय अर्घाय प्रगुणीभवति । किंविशिष्ट-

पल्लवोंकी शोभा धारण कर रही है ॥२१॥ संध्याकालरूपी कपालीने जो आगे भस्म, हड्डियोंका समूह और कपालरूपी मलिन वस्तुओंका समूह फैला रखा था उसे प्रातःकाल, सूर्यके उदित होनेपर चाँदनी, नक्षत्र और चन्द्रमाके बहाने कचडाकी तरह दूर कर रहा है ॥२२॥ चूँकि इस आकाशने सम्पूर्ण रूपसे मनुष्यसमूहका सौन्दर्य नष्ट करनेवाले अन्धकारके लिए अवकाश दिया था अतः सूर्य अपने मण्डलाग्र—बिम्बाग्ररूपी तलवारको ऊपर उठा उसे श्रवणकर रहित—श्रवणनक्षत्रकी किरणोंसे रहित [पक्षमें कान और हस्त रहित] कर रहा है—उसके कान और हाथ काट रहा है ॥२३॥ जिसके आरम्भमें ही उच्चैःश्रवा अश्व, ऐरावत हाथी तथा लक्ष्मी प्रकट हुई है [पक्षमे तत्काल निकलनेवाले उच्चैःश्रवा और ऐरावतके समान जिसकी शोभा है] जो क्षुण्ण होकर ऊपर आनेवाले मकर, कुलीर और मीनोंसे रक्तवर्ण हो रहा है [पक्षमें उदित होनेवाली मकर, कर्क और मीनराशिसे युक्त तथा रक्तवर्ण है] और अहीनरश्मि—शेषनागरूपी रस्सीसे सहित है [पक्षमें विशाल किरणोंका धारक है] ऐसा यह चन्द्रमारूपी मन्दरगिरि, देवोंका कार्य करता हुआ समुद्रसे उन्मग्न हो रहा है—मथनके उपरान्त बाहर निकल रहा है ॥२४॥ ऊपर जानेवाली किरणोंके द्वारा अन्धकारका नाश करनेवाला सूर्य, समुद्रके जलरूपी तेलके समीप उत्तम दीपककी शोभाको प्राप्त हो रहा है और उसके ऊपर यह आकाश पतंगपातके भयसे रखे हुए मरकत मणिके पात्रकी तरह सुशोभित हो रहा है ॥२५॥ ऐसा जान पडता है मानो यह पूर्वदिशा, सूर्यको दीपक, रथके घोडों-

१ कश्मलोऽग्रे म० घ० । २ घूर्यं म० घ० ।

पाथोधेरधिगतविद्रुमांशुभिर्वा सिद्धस्त्रीकरकलितार्घकुङ्कुमैर्वा ।
लोकानामयमनुरागकन्दलैर्वा प्रत्यूषे वपुररुणं बिभर्ति भानुः ॥२७॥

उत्तिष्ठ त्रिजगदधीश मुञ्च शय्यामात्मानं बहिरुपदर्शयाश्रितानाम् ।
तिग्मांशुर्द्रुतमधिरोहतु त्वदीयैस्तेजोभिर्विजित इवोदयाद्रिदुर्गम् ॥२८॥

आयातो दुरधिगमामतीत्य वीथीमासीनः क्षणमुदयाद्रिभद्रपीठे ।
प्रारब्धाभ्युदयमहोत्सवो विवस्वान् दिक्कान्ताः करघुसृणैर्विलिम्पतीव ॥२९॥

मार्तण्डप्रखरकराग्रपीड्यमानादेतस्मादमृतमिव च्युतं सुधांशोः ।
मथ्नन्त्योदधिकलशीषु मेघमन्द्रैः प्रध्वानैः शिखिकुलमुत्कयन्ति गोप्यः ॥३०॥

यामिन्यामनिशमनीक्षितेन्दुबिम्बं व्यावृत्ते प्रणयिनि भास्करे मुदेव ।
[1]सोत्साहं मधुकरकज्जलैरिदानीं पद्मिन्यः सरसिजनेत्रमञ्जयन्ति ॥३१॥

मित्याह—सूर्यदीपेनोपलक्षितं हरितसप्तसारथ्यदूर्वाङ्कुरम् अरुणोऽनूरुरेव कुङ्कुमं यत्र । किं कुर्वन्ती । नक्षत्राक्षतानि पुरो निक्षिपन्ती । अथ च नक्षत्राणां तदा प्रणाशः ॥२६॥ पाथोधेरिति—प्रभातेऽरुणं वपुर्ये कारणैः रविर्दधाति तान्याह—समुद्रप्रवालकप्रभाभिः रञ्जितः । अथवा सिद्धाङ्गनाभिः पूजयन्तीभिः कुङ्कुमस्यासकैः पिञ्जरितः । यदि वा जनानुरागकन्दलैः सश्लिष्ट इति ॥२७॥ उत्तिष्ठेति—हे प्रभो ! शय्यां परित्यज्य निजाश्रितानामात्मानं दर्शय । यथा यौष्माकैः प्रतापैर्भीषित इवादित्य उदयाचलमारोहतु दुर्गमिव ॥२८॥ आयात इति—उदयाचलसिंहासनमधिरूढो दिननाथो दिगङ्गना किरणैः कुङ्कुमैरिव लेपनं करोति । दुस्तरां वीथीमापदमिवातिक्रम्येति भावार्थः । यथा कश्चिच्चिरप्रवासी गृहागतो निजाङ्गना विलेपनादिना सन्मानयति ॥२९॥ मार्तण्डेति—प्रभाते दधिमथनकारणं वितर्कयन्नाह—खरकिरणकरैर्निपीलितादिव चन्द्रान्निर्गलितं सस्त्यानं पीयूषमिव दधिमन्थनीषु निक्षिप्तं मथ्नन्त्यो गोपवध्वो मेघगर्जितसदृशैर्मन्थध्वानैर्मयूरकुलमुत्कयन्ति ॥३०॥ यामिन्यामिति—येन रात्रौ चन्द्रबिम्बं परपुरुषबिम्बमिव न दृष्टं ततो निजपतौ भास्करे समागते भ्रमरश्रेणिकज्जलैः कमलिन्य.

को दूर्वा, सारथिको कुंकुम और आकाशको पात्र बनाकर नक्षत्ररूपी अक्षतोंके समूहको आगे फेकती हुई आपका मंगलाचार ही कर रही हो ॥२६॥ प्रातःकालके समय यह सूर्य समुद्रसे साथ लगी हुई मूँगाओंकी किरणोंसे अथवा सिद्धांगनाओंके हाथोंमें स्थित अर्घ की कुंकुमसे अथवा मनुष्योंके अनुरागकी कन्दलियोंसे ही मानो लाल-लाल हुए शरीरको धारण कर रहा है ॥२७॥ हे त्रिलोकीनाथ ! उठिए, शय्या छोड़िए और बाहर स्थित आश्रितजनोंके लिए अपना दर्शन दीजिए। आपके तेजसे पराजित हुआ सूर्य शीघ्र ही उदयाचलरूपी दुर्गपर आरूढ हो ॥२८॥ दुर्गम मार्गको तय कर आया एवं उदयाचलरूपी उत्तम सिंहासन पर अधिरूढ हुआ यह सूर्य क्षण-भरके लिए ऐसा जान पड़ता है मानो अभ्युदयका महोत्सव प्रारम्भ कर किरणरूप केशरसे दिशारूप स्त्रियोंको विलिप्त ही कर रहा हो ॥२९॥ इधर ये गोपिकाएँ उस दधिको, जो कि सूर्यकी किरणों [पक्षमें हाथों] के अग्रभागसे पीड़ित चन्द्रमासे च्युत अमृतके समान जान पड़ता है, कलशियोंमें मथती हुई मेघध्वनिके समान गम्भीर ध्वनिसे मयूरोंके समूहको उत्कण्ठित कर रही हैं ॥३०॥ इस समय कमलिनियाँ [पक्षमें पद्मिनी स्त्रियाँ] जिसने रात्रि भर चन्द्रबिम्बको नहीं देखा ऐसे अपने कमलरूपी नेत्रको सूर्यरूपी प्रियतमके वापस लौट आनेपर आनन्दसे बड़े उत्साहके साथ मानो भ्रमररूपी कज्जलके

---

१ सोल्लास ख० ग० घ० म० ।

सिन्दूरद्युतिमिह मूर्ध्नि [1]कुङ्कुमाभा वक्त्रेन्दौ वसनगता कुसुम्भशोभाम् ।
बिभ्राणा नवतरणित्विषोऽपि साध्वीर्वैधव्येऽभिजनवधूर्विदूषयन्ति ॥३२॥
स्वच्छन्द विधुमभिसार्य यत्प्रविष्टा प्रात' श्रीः कमलगृहे निरस्य मुद्राम् ।
भूयोऽपि प्रियमनुवर्तते दिनेश क स्त्रीणा गहनमवैति तच्चरित्रम् ॥३३॥
प्रस्थातु तव विहितोद्यमस्य भर्तु प्रोत्सर्पद्वदनविलोलनीलपत्र ।
प्राच्याय समुचितमङ्गलार्थमग्रे सौवर्ण कलश इवाशुमानुदस्त ॥३४॥
[2]त्वद्द्वारि द्विरदमदोक्षिते मिथोऽङ्गसघट्टच्युतमणिमण्डिते नृपाणाम् ।
राज्यश्रीश्चलतुरगाङ्घ्रितूर्यनादैर्व्यालोलध्वजकपटेन नृत्यतीव ॥३५॥
मार्तण्डप्रखरकराग्रटङ्कघातप्रक्षुण्णस्थपुटतमस्तुषारकूटा ।
उद्योगप्रगुणचमूचरस्य योग्या प्रस्थातु तव ककुभोऽधुना बभूवु ॥३६॥

पद्मनेत्रमञ्जयन्ति हर्षेणेव ॥३१॥ सिन्दूरेति—वैधव्यव्रते स्थिता साधुवधू रविकिरणा सधवा इव कुर्वन्ति । कथमित्याह—तासा शिरसि पतन्तोऽतिरक्तत्वात्सिन्दूरच्छाया वितरन्ति वक्त्रे च कुकुमच्छायाम् । वसनस्थितौ गता वसनगता कुसुम्भवस्त्रशोभा बिभ्राणा एतद्वैधव्यदूषित सर्वमपि ततो दूषयन्ति ॥३२॥ स्वच्छन्दमिति—स्वच्छन्द यथा स्यादेव चन्द्र समभिश्रित्य प्रभाते पुनरपि कमलगृहे पत्रकपाटमुद्रा निरस्य सकोचतालक समुद्घाटय यल्लक्ष्मी प्रविष्टा तथैव च रविपतिं भजति । यथा काचित्स्वैरिणी नक्त विहृत्य स्वैर प्रभाते शनै कलाकौशलेन गृहद्वारमुद्घाटय प्रविष्टा भर्तारमनुवर्तते । ततो मन्ये स्त्रीणा चरित्र दु परिच्छेद्य महासाहसिकत्वात् ॥३३॥ प्रस्थातुमिति—हे प्रभो ! तव प्रस्थातु कृतोद्यमस्य पूर्वदिगङ्गनया पुरस्तादादित्यबिम्ब मङ्गलकनककलश इव उत्तम्भित । प्रोत्सर्पन्त परिक्रामन्त वदनेऽग्रभागे विलोलाश्चञ्चला नीला हरिता पत्राणि रथाश्वा यस्य, पक्षे मुखनिक्षिप्ताम्रादिपत्रसचय प्रस्तुतमङ्गलार्थम् ॥३४॥ त्वद्द्वारीति—हे प्रभो ! तव राजद्वारे करिकपोलविगलितमदजलगन्धोदसिक्ते परस्परसघट्टप्रभृष्टभूषणमुक्ताफलचतुष्किते चटुलतुरङ्गखुरप्रहारतूर्यनादैर्वातदोधूयमानध्वजपटलव्याजेन सर्वेषा नृपाणा राज्यलक्ष्मीर्नटतीव सेवागतवारविलासिनी नर्तकीव ॥३५॥ मार्तण्डेति—मार्तण्डनिष्ठुरकराग्रटङ्किकानिर्घातनिर्दलिता विषमोन्नता ध्वान्ततुषारयो कूटा यासु तास्तथाविधा दिशस्तव सेना-

द्वारा आँज ही रही है ॥३१॥ इधर ये सूर्यकी नयी-नयी किरणें जो कि मस्तकमे सिन्दूरकी, मुखचन्द्रमे कुकुमकी, और वस्त्रोंमें कुसुम्भ रगकी शोभा धारण कर रही है, पतिव्रता कुलीन स्त्रियोंको वैधव्य दशामे दोषयुक्त बना रही हैं । [पतिव्रता विधवाएँ मस्तकमें सिन्दूर नहीं लगातीं, मुखपर कुकुम नहीं मलतीं और रगे हुए वस्त्र भी नहीं पहनतीं परन्तु सूर्यकी लाल-लाल किरणोंके पडनेसे वे उक्त कार्य करती हुई सी जान पडती हैं ।] ॥३२॥ लक्ष्मी रात्रिके समय स्वच्छन्दतापूर्वक चन्द्रमाके साथ अभिसार कर प्रातःकाल कमलरूपी घरमें कपाट खोल आ प्रविष्ट हुई और अब सूर्यरूप पतिके अनुकूल पुनः आचरण कर रही है सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रियोंके गहन चरित्रको कौन जानता है ॥३३॥ यह उदित होता हुआ सूर्य ऐसा जान पडता है मानो प्रस्थान करनेके लिए उद्यत स्वामीका [आपका] योग्य मगलाचार करनेके लिए प्राचीने, जिसके मुखपर चचल हरित पत्र ढँका हुआ है [पक्ष मे आगे हरित-वर्णके घोडोंका समूह जुता हुआ है] ऐसा सुवर्ण कलश ही उठा रखा है ॥३४॥ हाथियोंके मदसे सिक्त एव राजाओंके परस्पर शरीर समर्दसे पतित मणियोंसे सुशोभित आपके द्वारपर चचल घोडोंके चरणरूपी वादित्रके शब्दों और फहराती हुई ध्वजाओंके कपटसे ऐसा जान पडता है मानो राज्यलक्ष्मी ही नृत्य कर रही हो ॥३५॥ हे भगवन ! आप उद्योगशाली श्रेष्ठ सेनाके साथ विहार करनेवाले हैं अतः सूर्यकी तीक्ष्ण किरणोंके अग्रभागरूपी

१ कुङ्कुमाना घ० म० । २ तद्द्वारि घ० म० ।

आयाति प्रबलतरप्रतापपात्रे नेत्राणा दिवसकृति त्वयीव मैत्रीम् ।
सतापः प्रकटतरो भवत्विदानी शत्रूणामिव तपनाश्मना गणेषु ॥३७॥
इत्थ स त्रिदशजनस्य मन्दराद्रिक्षुब्धाम्भोनिनदसमा निशम्य वाणीम् ।
उत्तस्थौ सितवसनोर्मिरम्यतल्पाद्दुग्धाब्धे पवनतरङ्गितादिवेन्दुः ॥३८॥
उत्तिष्ठन्नुदयगिरेरिवेन्दुरस्माद्देवेन्द्रान्मुकुलितपाणिपङ्कजाग्रात् ।
सोऽद्राक्षीदथ नमतो नगोपमेभ्यः पीठेभ्यो भुवि सरितामिव प्रवाहान् ॥३९॥
कारुण्यद्रविणनिधे निधेहि दृष्टि सेवार्थी भवतु जनश्चिरात्कृतार्थः ।
यच्चिन्ताभ्यधिकफलान्यसौ ददाना ता चिन्तामणिगणनामपाकरोति ॥४०॥
इत्युच्चैर्निगदति वेत्रिणामधीशे श्रीधर्मः समुचितविन्नरामरेन्द्रान् ।
भ्रूदृष्टिस्मितवचसामसौ प्रसादै प्रत्येक सदसि यथार्हमाचचक्षे ॥४१॥ [कुलकम्]
नि शेष भुवनविभुर्विभातकृत्य कृत्वाय कृतसमयानुरूपवेष ।
आरुह्य द्विरदमुदग्रदानमुच्चै प्रत्यग्र सुकृतमिवाथ सप्रतस्थे ॥४२॥

प्रस्थानयोग्या बभूवु । उद्योग उद्यमे या प्रगुणा तत्परा चमूस्तत्र चरतीति । पक्षे प्रकृष्टगुणसमूहयुक्तस्य ॥३६॥ आयातीति—साप्रत बलप्रतापयुक्ते भास्वतीव त्वयि नेत्रपथमवतरति शत्रूणा सतापो भवतु सूर्यकान्तानामिव समूहेषु ज्वालाकलाप ॥३७॥ इत्थमिति—अनेन प्रकारेण देवगणस्य तारगम्भीरा वाणी श्रुत्वा तल्पादुत्थित धवलप्रच्छादनवस्त्रतरङ्गरम्यात् । मन्दराद्रिमथनध्वान श्रुत्वा क्षीरसमुद्राच्चन्द्र इव ॥३८॥ उत्तिष्ठन्निति—स प्रभु शयनादुत्तिष्ठन् निजनिजसिंहासनपरित्यागेन भूतलमिलितमस्तकान् देवेन्द्रान् शिरसि कृतहस्तान् प्रणमतो ददर्श यथा उदयाद्रिश्रृङ्गादुदयमानश्चन्द्र पर्वतेभ्य पर्वतेभ्य प्रवर्तमानान् सकुचितपद्मनदीप्रवाहान् पश्यति ॥३९॥ कारुण्येति—हे प्रभो ! करुणाद्रव्यनिधान ! दृष्टि निधेहि प्रसन्ना कुरु । सेवागतश्च अस्मल्लक्षणो जन कृतार्थी स्यात् । यतश्चिन्तिताधिकफलानि दृष्टिरसौ ददाना चिन्तामणिप्रभुत्व निराकरोति ॥४०॥ इतीति—इति पूर्वोक्तप्रकारेण प्रतीहारराजे विज्ञपयति सति श्रीधर्म समुचितज्ञो नरसुरेन्द्रान् यथोचितमान भ्रूदृष्टिहास्यवचनाना प्रसादैर्यथायथ प्रत्येक सभावयामास ॥४१॥ नि शेषमिति—स श्रीधर्मनाथ

टाँकियोंके आघातसे जिनका अन्धकार एव नतोन्नत बर्फके शिखर खुद कर एक-से हो चुके हैं ऐसी दिशाएँ इस समय आपके प्रस्थानके योग्य हो गयी है ॥३६॥ जिस प्रकार अत्यन्त प्रबल प्रतापके पात्रस्वरूप आपके दृष्टिगत होनेपर शत्रुओंके समूहमें सन्ताप प्रकट होने लगता है उसी प्रकार इस समय अतिशय प्रतापी सूर्यके दृष्टिगत होते ही—उदित होते ही सूर्यकान्त मणियोंके समूहमें सन्ताप प्रकट होने लगा है ॥३७॥ इस प्रकार श्री धर्मनाथ स्वामी मन्दराचलसे क्षुभित जलके शब्दोंके समान देवोंकी वाणी सुनकर सफेद वस्त्रसे सुशोभित विस्तरसे उस तरह उठे जिस तरह कि वायुसे लहराते हुए क्षीर समुद्रसे चन्द्रमा उठता है—उदित होता है ॥३८॥ तदनन्तर उत्तुङ्ग सिंहासनसे उठनेवाले भगवान् धर्मनाथने जिनके हस्त कमलोंके अग्रभाग मुकुलित हो रहे हैं और जो पर्वत तुल्य सिंहासनोंसे उठकर पृथिवीपर नमस्कार कर रहे हैं ऐसे देवेन्द्रोंको उस प्रकार देखा जिस प्रकार कि उदयाचलसे उदित होता हुआ चन्द्रमा प्रत्येक पर्वतसे बहनेवाले सकुचित कमलोंसे युक्त नदियोंके प्रवाहको देखता है ॥३९॥ हे दयारूप धनके भाण्डार ! आप अपनी दृष्टि डालिए जिससे कि सेवाभिलाषी जन चिरकालके लिए कृतार्थ हो जावें, क्योंकि आपकी वह दृष्टि चिन्तित—इच्छासे अधिक फल प्रदान करती हुई चिन्तामणिकी गणनाको दूर करती है—उससे भी कहीं अधिक है ॥४०॥ प्रतीहारीके उच्चस्वरसे ऐसा निवेदन करनेपर योग्य शिष्टाचारको जाननेवाले श्रीधर्मनाथ स्वामीने सभाके प्रत्येक मनुष्य और देवेन्द्रसे भौह, दृष्टि, मुसकान और वचनोंकी प्रसन्नता द्वारा यथायोग्य वार्तालाप किया ॥४१॥ जिन्होंने प्रातःकाल सम्बन्धी

भास्वन्त द्युतिरिव कीर्तिवद्गुणाढ्य सोत्साह सुभटमिवोत्सुका जयश्री ।
दुर्धर्षाभुवनविसर्पिणी दुरापा तं सेना त्रिभुवननाथमन्वियाय ॥४३॥

आक्षिप्तप्रलयनटोद्भटाट्टहासै प्रेङ्खद्भि पटुपटहारवै प्रयाणे।
एकत्रोच्छलितरजश्छलेन सर्वा ससक्ता इव ककुभो भयाद्बभूवु ॥४४॥

[1]मिण्ठेन द्विपमपनीतबन्धमन्य प्रेक्ष्यैतत्प्रमथनमासलाभिलाष ।
प्रश्चोतद्द्विगुणमदाम्बुधारमुच्चैरालानद्रुवरमिभो हठादभाङ्क्षीत् ॥४५॥

तिष्ठन्ती मृदुलभुजङ्गराजमूर्धन्युद्बोढु दृढपदमक्षमा क्षमा ते ।
कर्णान्तेऽभिहित इतीव भङ्गदूतैर्नागेन्द्र पथि पदमन्थर जगाम ॥४६॥

भ्रश्यन्त्याश्चरणभरात्करावलम्ब ये दातु भुव इव लम्बमानहस्ता ।
कर्णान्तध्वनदलिकोपकूणिताक्षास्ते जग्मु पथि पुरतोऽस्य वारणेन्द्रा ॥४७॥

सकल प्रभातकृत्य कृत्वाय कृतयात्रिकवेपपरिग्रह करीन्द्र मूर्तिमद्धर्ममिवाधिरुह्य प्रस्थान ददौ ॥४२॥ भास्वन्तमिति—त त्रिभुवननाथ सकलसेनादीधितिरिव रविं, गुणान्वित कीर्तिरिव, सुभट जयलक्ष्मीरिव दुर्धर्षा सप्रतापा सर्वत्र द्युतीत्यादौ योजनीय दुराप पुण्यप्राप्यम् ॥४३॥ आक्षिप्तेति—तदा प्रयाणकाले प्रेङ्खद्भिरुज्जृम्भमाणै पटुपटहनिनादैरुपहसितप्रलयकालरुद्रोत्कटाट्टहासैर्भयाद्भीता इव सर्वा अपि दिश उच्छलितधूलिपटलव्याजेन समेलाचक्रु । अतिप्रसृतधूलिपटलेन पूर्वापरादिदिग्विभागो निरस्त ॥४४॥ मिण्ठेनेति—हस्तिपकेनान्य द्विरदमालानस्तम्भान्मुक्त वीक्ष्य एतस्य युद्धकाम्यया विशेषविगलितमदजलधार यथा स्यादेवमपरो गजो बन्धनवृक्ष बलेन बभञ्ज निर्मूलयाचकार ॥४५॥ तिष्ठन्तीति—हे गजाधिराज ! मृणाल-नालकोमलशेपफणाफलकस्थिता पृथ्वी तव पादप्रचारभार वोढु न क्षमते । ततोऽस्या वराक्या कृपा क्रियतामिति भ्रमरदूतैर्निवेदिते कश्चिन्नागेन्द्रो मदालसो मार्गे मन्द मन्द जगाम ॥४६॥ भ्रश्यन्त्या इति—पादभरेण अध पतन्त्या पृथिव्या ये हस्तावलम्ब दित्सव इव दीर्घशुण्डादण्ड प्रसारयन्ति । ये च श्रवणसमीपशब्दायमान-

---

समस्त कार्य करके समयके अनुरूप वेष धारण किया है ऐसे जगत्पति भगवान् श्रीधर्मनाथने नूतन पुण्यके समान मदस्रावी [पक्षमे उत्कृष्ट दानको देनेवाले] ऊँचे हाथीपर सवार होकर प्रस्थान किया ॥४२॥ जिस प्रकार सूर्यके पीछे प्रभा जाती है, गुणीके पीछे कीर्ति जाती है और उत्साही योद्धाके पीछे विजयलक्ष्मी जाती है उसी प्रकार ससारमे फैलनेवाली अजेय एव दुर्लभ सेना उन त्रिलोकीनाथके पीछे जा रही थी ॥४३॥ प्रस्थानके समय प्रलयनट—रुद्रके भारी अट्टहासको तिरस्कृत करनेवाले बड़े-बड़े नगाड़ोके शब्दों और उड़ती हुई धूलिके छलसे ऐसा जान पडता था मानो समस्त दिशाएँ भयसे एक स्थान-पर एकत्रित ही हो रही हों ॥४४॥ महावतके द्वारा बन्धनमुक्त किये गये किसी अन्य हाथीको देख उसे नष्ट करनेके तीव्र इच्छुक हाथीने मदजलकी दूनी धारा छोडते हुए बन्धनके ऊँचे वृक्षको हठपूर्वक तोड़ डाला ॥४५॥ कोमल शेषनागके मस्तकपर स्थित पृथिवी तुम्हारे सुदृढ पैरोंको धारण करनेके लिए समर्थ नहीं है—इस प्रकार भ्रमररूप दूतोंने मानो कानोंके पास जाकर गजराजसे कह दिया था इसीलिए वह मार्गमें धीरे-धीरे पैर उठाता हुआ जा रहा था ॥४६॥ चरणोंके भारसे नष्ट होनेवाली पृथिवीको हस्तावलम्बन देनेके लिए ही मानो जिनके हस्त (सूँड) नीचेकी ओर लटक रहे हैं तथा कानोंके समीप शब्द करनेवाले भ्रमरोंपर क्रोधवश जिनके नेत्र कुछ-कुछ सकुचित हो रहे हैं ऐसे बडे-बड़े गजराज मार्गमे

---

१ मेण्ठेन म० घ० ।

सचेलु प्रचलितकर्णताललीलावातोर्मिव्यतिकरशीतलैः समन्तात् ।
सघट्टभ्रमभरमूच्छिता इवाशाः सिञ्चन्त पृथुकरसीकरैः करीन्द्राः ॥४८॥
अश्रान्त श्रिय इव चारुचामराणा य पश्चाद्विचरति लोलवालधीनाम् ।
क्रामद्भिर्भुवमभितो जवेन वाहैः स व्यक्त कथमिव लङ्घितो न वायु ॥४९॥
अन्योन्यस्खलनवशादय खलीनप्रोद्गच्छज्ज्वलनकणच्छलेन सान्द्रम् ।
कान्तारे विदधति भूरिवेगबाधा गन्धर्वा निदधुरिव क्रुधा दवाग्निम् ॥५०॥
आक्रान्ते चटुलतुरङ्गपुङ्गवाह्रिक्षुण्णोर्वीवलयरजोभिरन्तरिक्षे ।
दिङ्मोहात्पतित इव क्वचित्तदानी तिग्माशुर्न नयनगोचरीबभूव ॥५१॥
उत्फालैर्द्रुतमवटस्थलीरुच्चास्तद्वाहैर्गतिरभसेन लङ्घयद्भि ।
सर्वत्रश्वसनकुरङ्गपुङ्गवोत्था सभ्रान्तिर्मनसि समादधे न केषाम् ॥५२॥
उद्वल्गत्तुरगतरङ्गिताग्रसेनासचारक्षतशिखरोच्चयच्छलेन ।
विन्ध्याद्रे प्रथमकृताध्वसनिरोधस्योल्लून शिर इव सैनिकैः प्रकोपात् ॥५३॥

भ्रमरकोपेनार्द्धनिमीलितनेत्रास्तेऽस्य मार्गेऽग्रे यान्ति स्म नान्ये प्राकृतप्राया ॥४७॥ सचेलुरिति—चञ्चलकर्णतालव्यजनलीला वातलहरी सपर्कशीतलैर्बहलशीकरैर्महासैन्यसपर्क इव भ्रमो मोहविशेषस्तस्य भरेण मूच्छिता इव दिश सिञ्चन्त करीन्द्रा सचरन्ति स्म ॥४८॥ अश्रान्तमिति—अनवरत लक्ष्मीचामरसदृशाना चञ्चलवालधीना यो वायु पश्चाद्भागे वर्तते स कथ मनोवेगेन पृथ्वीमाक्रामद्भिरश्वैर्न लङ्घितो न जितोऽपि । तु लङ्घित एव । अथ च सर्वदा विलोललाङ्गूलदर्शनाद्वायु समीपे वसति, वायुमन्तरेण वलनस्यान्यथानुपपत्ते । ततो युगपद्धावतोर्य पश्चात्पतति स व्यक्त जित एव ॥४९॥ अन्योन्येति—परस्परसघट्टवशाल्लोहकविकाप्रोद्गच्छद्दहनकणव्याजेन वहल दवाग्नि ये वने निक्षपन्ति । किं कारणमित्याह भूरिवेगबाधा विदधाने ॥५०॥ आक्रान्त इति—चटुलाश्वप्रधानक्षुरक्षुण्णभूवलयधूलिभिर्गगने पिहिते सजातदिङ्मोहादादित्य क्वचित्पतित इव तदा प्रयाणकाले न दृष्ट । प्रयाणे रजोभावाद्दिन रात्रि मन्यमान इत्यर्थ ॥५१॥ उत्फालैरिति—उत्फालैर्महोच्छालै शीघ्रम्, अवटस्थली अवटाश्च स्थल्यश्च अवटस्थलीरुच्चैस्तरा गमनसवेगेन क्रामद्भिर्वातवहनमृगशङ्का केषा [हृदि] न समुत्पादिता ? अपि तु सर्वेषा समुत्पादिता एव । वायुहरिणवेगातिशयेन अश्वा गच्छन्तीत्यर्थ ॥५२॥ उद्वल्गदिति—चमूचरैर्मार्गसनिरोधकोपेनेव विन्ध्याद्रे शिर इव सैनिकै प्रकोपात्कर्त्तितम् । कथमित्याह—त्वङ्गत्तुङ्गतरङ्गनिष्ठुरखुरक्षुण्णशिखरसचयव्याजात् । प्रथमचलितै खुरशाणैरश्वै पर्वतशिखराण्यपि

इनके आगे जा रहे थे ॥४७॥ उस समय सब ओर बड़े-बड़े गजराज ऐसे चल रहे थे मानो चंचल कर्णरूपी तालपत्रकी वायुपरम्पराके सपर्कसे शीतल, विशाल शुण्डादण्डके जलकणोंके द्वारा संमर्दके भारसे मूच्छित दिशाओंको सींचते ही जा रहे हों ॥४८॥ जो लक्ष्मीके सुन्दर चमरोंके समान चंचल पूँछोंके पीछे निरन्तर चल रहा था वह वायु, वेगके द्वारा सब ओरसे पृथिवीपर आक्रमण करनेवाले घोड़ोंके द्वारा किस प्रकार उल्लंघित नहीं किया गया था ? ॥४९॥ परस्परके आघातवश लोहेकी लगामोंसे उछलते हुए अग्निकणोंके छलसे घोडे ऐसे जान पड़ते थे मानो अत्यधिक वेगमे बाधा करनेवाले वनमे क्रोधसे दावानल ही डालते जा रहे हों ॥५०॥ उस समय अच्छे-अच्छे चचल घोड़ोंके चरणोंसे खुदे भूमण्डलकी धूलिसे आकाशके व्याप्त हो जानेपर सूर्य दिखाई नहीं दे रहा था, मानो दिशाभ्रान्ति होनेसे कहीं अन्यत्र जा पड़ा हो ॥५१॥ जल्दी-जल्दी छलाँग भरने एवं गतिके वेग द्वारा अलघनीय गर्तमयी भूमिको लाँघनेवाले घोड़ोने सर्वत्र किन पुरुषोंके मनमे वातप्रमी जातिके श्रेष्ठ मृगोंकी भ्रान्ति उत्पन्न नहीं कर दी थी ? ॥५२॥ उछलते हुए घोड़ों, लहराती अग्रगामी सेनाके सचार-

---

१. साङ्घ्रि घ० म० ।

उत्खाताचलशिखरैः पुर परागेणाश्वीयैः स्फुटमवटेपु पूरितेपु ।
सा बुद्धि. खलु रथिनो यदस्य पश्चात् प्रस्थाने सुगमतरो वभूव मार्ग ॥५४॥

प्राग्भाग द्विरदभयादुदग्रदन्त प्रोत्सृज्य प्रकटितघर्घरोरुनाद ।
उत्कूर्दन् विकटपदैरितस्ततोऽग्रे दासेर पटुनटकौतुक चकार ॥५५॥

सर्वाशाद्विपमदवाहिनीषु सेनासचारोच्छलितरज स्थलीकृतासु ।
उड्डीनैर्भ्रमरकुलैरिवावकीर्णं व्योमासीदविरलदुर्दिनच्छलेन ॥५६॥

आतङ्काकुलशबरीवितीर्णगुञ्जापुञ्जेषु ज्वलितदवानलभ्रमेण ।
कारुण्यामृतरसवर्षिणी स गच्छश्चिक्षेप प्रभुरसकृद्वनेषु दृष्टिम् ॥५७॥

ससर्पद्बलभररुद्धसिन्धुवेग प्रोद्दामद्विरदतिरस्कृताग्रशृङ्गम् ।
आक्रम्य ध्वजविजितोरुकन्दलीक विन्ध्याद्रि स विभुगुणैरधश्चकार ॥५८॥

चूर्णितानीत्यर्थ ॥५३॥ उत्खातेति—यदग्रे धूलिपटलेनाश्वसमूहैरुच्चावचेपु पूरितेपु समुत्खातपर्वतशिखरै साग्रे तुरङ्गसचारिका वुद्धि पथिकस्य सुखाय वभूव यतोऽस्य पश्चाद्गमने मार्ग सुगमतर ॥५४॥ प्राग्भागमिति—प्राक्प्रथममेव हस्तिभयात्त्रस्तो भार त्यक्त्वा प्रकटितदन्त क्रूरघोरनाद करभ उच्छृङ्खलविकटपदनिर्क्षेपे क्रीडानटनाट्यमनुचकार ॥५५॥ सर्वाशेति—सर्वदिग्गजकपोलार्द्रमदनदीपु कटकसचारोच्छलितधूलिस्थलीपिहितासु निराश्रयैरुड्डीनैर्भ्रमरकुलैरिव पिहित गगन रजोऽन्धकारव्याजेन वभूव ॥५६॥ आतङ्केति—कटकभयभीताभि पुलिन्दीभिर्गृहीतमुक्तेपु गुञ्जाफलपुञ्जेषु ज्वलितदवाङ्गारशङ्कया करुणापीयूपवर्पिणी दृष्टि वनेपु स प्रभुर्निचिक्षेप ॥५७॥ ससर्पदिति—स प्रभुर्निजैर्विभुगुणैर्विन्ध्यपर्वतमधश्चकार जिगाय । किंविशिष्टमित्याह—चङ्क्रम्यमाणेन सेनाभरेण निरुद्ध सिन्धूना वेगो यस्य स त तथाविधम् । प्रोद्दामैरुत्कटैस्तिरस्कृतान्युच्च शृङ्गाणि यस्य त तथाविध वलात्कारेण ध्वजैर्विजिता महाकन्दल्यो यस्य त तथाविधम् । अथ च विन्ध्यमतिक्रम्य

से खुदे शिखरसमूहके छलसे ऐसा जान पडता था मानो मार्गमें सर्वप्रथम रुकावट डालनेवाले विन्ध्याचलका शिर ही सैनिकोंने क्रोधवश छेद डाला हो ॥५३॥ आगे चलकर पर्वतके शिखरोंको खोदनेवाले घोड़ोंके समूहने धूलिके द्वारा समस्त गर्तमय प्रदेश पूर दिये थे अतः रथ चलानेवालेकी वह उचित ही बुद्धि उत्पन्न हुई थी कि जिससे पीछे चलनेमें उसे मार्ग अत्यन्त सुगम हो गया था ॥५४॥ जो हाथीके भयसे अग्रभागको छोड दाँत ऊपर करता हुआ बड़े जोरका घर्घर शब्द कर रहा था तथा बड़े-बड़े पैरों द्वारा इधर-उधर कूद रहा था ऐसा ऊँट सेनाके अग्रभागमे चतुर नटका तमाशा कर रहा था ॥५५॥ आकाशमे निरन्तर धूलिरूप अन्धकार छा रहा था उससे वह ऐसा जान पडता था मानो समस्त दिग्गजोंकी मदरूपी नदियोंके, सैन्य-सचारसे उडी धूलिसे स्थलरूप किये जानेपर उड़े हुए भ्रमरसमूहसे ही व्याप्त हो रहा हो । भावार्थ—पहले भ्रमर हाथियोंके मदकी धाराओंपर बैठे थे परन्तु पीछे सेनाके संचारसे उडी धूलिसे वे मदकी नदियाँ स्थलरूप हो गयीं अतः भ्रमर निराधार होकर आकाशमे उड पडे हों ऐसा जान पड़ता था ॥५६॥ जाते हुए भगवान्‌ने भयसे व्याकुल शबरियोंके द्वारा फेंके हुए गुमचियोंके समूहमे प्रज्वलित दावानलका भ्रम होनेसे वनोंपर कई बार दयारूप अमृतरसको झरानेवाली दृष्टि डाली थी ॥५७॥ चलनेवाली सेनाके भारसे जिसकी नदियोंका वेग रुक गया है, वड़े-बड़े हाथियोंके द्वारा जिसके उन्नत शिखर तिरस्कृत हो गये हैं और ध्वजाओंके द्वारा जिसकी कदलियोंकी शोभा जीत ली गयी है ऐसे विन्ध्याचलपर चढकर भगवान्‌ने अपने व्यापक गुणोंसे उसे नीचा कर दिया था [पक्षमे पराजित कर दिया था] ॥५८॥

सचेलु प्रचलितकर्णताललीलावातोर्मिव्यतिकरशीतलैः समन्तात् ।
सघट्टभ्रमभरमूर्च्छिता इवाशा सिञ्चन्त. पृथुकरसीकरैः करीन्द्राः ॥४८॥
अश्रान्त श्रिय इव चारुचामराणा य पश्चाद्विचरति लोलवालधीनाम् ।
क्रामद्भिर्भुवमभितो जवेन वाहै स व्यक्त कथमिव लङ्घितो न वायु ॥४९॥
अन्योन्यस्खलनवशादय खलीनप्रोद्गच्छज्ज्वलनकणच्छलेन सान्द्रम् ।
कान्तारे विदधति भूरिवेगबाधा गन्धर्वा निदधुरिव क्रुधा दवाग्निम् ॥५०॥
आक्रान्ते चटुलतुरङ्गपुङ्गवाह्निक्षुण्णोर्वीवलयरजोभिरन्तरिक्षे ।
दिङ्मोहात्पतित इव क्वचित्तदानी तिग्माशुर्न नयनगोचरीबभूव ॥५१॥
उत्फालैर्द्रुतमवटस्थलीरलङ्घ्यास्तद्वाहैर्गतिरभसेन लङ्घयद्भि ।
सर्वत्रश्वसनकुरङ्गपुङ्गवोत्था सभ्रान्तिर्मनसि समादधे न केषाम् ॥५२॥
उद्वल्गत्तुरगतरङ्गिताग्रसेनासचारक्षतशिखरोच्चयच्छलेन ।
विन्ध्याद्रे प्रथमकृताध्वसनिरोधस्योल्लून शिर इव सैनिकैः प्रकोपात् ॥५३॥

भ्रमरकोपेनार्द्धनिमीलितनेत्रास्तेऽस्य मार्गेऽग्रे यान्ति स्म नान्ये प्राकृतप्राया ॥४७॥ सचेलुरिति—चञ्चलकर्णतालव्यजनलीला वातलहरी सपर्कशीतलैर्बहलशीकरैर्महासैन्यसपर्क इव भ्रमो मोहविशेषस्तस्य भरेण मूर्च्छिता इव दिश सिञ्चन्त करीन्द्रा सचरन्ति स्म ॥४८॥ अश्रान्तमिति—अनवरत लक्ष्मीचामरसदृशाना चञ्चलवालधीना यो वायु पश्चाद्भागे वर्तते स कथ मनोवेगेन पृथ्वीमाक्रामद्भिरश्वैर्न लङ्घितो न जितोऽपि । तु लङ्घित एव । अथ च सर्वदा विलोललाङ्गूलदर्शनाद्वायु समीपे वसति, वायुमन्तरेण वलनस्यान्यथानुपपत्ते । ततो युगपद्धावतोर्य पश्चात्पतति स व्यक्त जित एव ॥४९॥ अन्योन्येति—परस्परसघट्टवशाल्लोहकविकाप्रोद्गच्छद्दहनकणव्याजेन बहल दवाग्नि ये वने निक्षपन्ति । किं कारणमित्याह भूरिवेगबाधा विदधाने ॥५०॥ आक्रान्त इति—चटुलाश्वप्रधानक्षुरक्षुण्णभूवलयधूलिभिर्गगने पिहिते सजातदिङ्मोहादादित्य क्वचित्पतित इव तदा प्रयाणकाले न दृष्ट । प्रयाणे रजोभावाद्दिन रात्रि मन्यमान इत्यर्थ ॥५१॥ उत्फालैरिति—उत्फालैर्महोच्छालै शीघ्रम्, अवटस्थली अवटाश्च स्थल्यश्च अवटस्थलीरुच्चैस्तरा गमनसवेगेन क्रामद्भिर्वातवहनमृगशङ्का केषा [हृदि] न समुत्पादिता ? अपि तु सर्वेषा समुत्पादिता एव । वायुहरिणवेगातिशयेन अश्वा गच्छन्तीत्यर्थ ॥५२॥ उद्वल्गदिति—चमूचरैर्मार्गसनिरोधकोपेनेव विन्ध्याद्रे शिर इव सैनिकै प्रकोपात्कर्त्तितम् । कथमित्याह—त्वङ्गत्तुङ्गतरङ्गनिष्ठुरखुरक्षुण्णशिखरसचयव्याजात् । प्रथमचलितै खुरशाणैरश्वै पर्वतशिखराण्यपि

इनके आगे जा रहे थे ॥४७॥ उस समय सब ओर बड़े-बड़े गजराज ऐसे चल रहे थे मानो चंचल कर्णरूपी तालपत्रकी वायुपरम्पराके सपर्कसे शीतल, विशाल शुण्डादण्डके जलकणोंके द्वारा संमर्दके भारसे मूर्च्छित दिशाओंको सींचते ही जा रहे हों ॥४८॥ जो लक्ष्मीके सुन्दर चमरोंके समान चंचल पूँछोंके पीछे निरन्तर चल रहा था वह वायु, वेगके द्वारा सब ओरसे पृथिवीपर आक्रमण करनेवाले घोड़ोंके द्वारा किस प्रकार उल्लंघित नहीं किया गया था ? ॥४९॥ परस्परके आघातवश लोहेकी लगामोंसे उछलते हुए अग्निकणोंके छलसे घोड़े ऐसे जान पड़ते थे मानो अत्यधिक वेगमे बाधा करनेवाले वनमे क्रोधसे दावानल ही डालते जा रहे हो ॥५०॥ उस समय अच्छे-अच्छे चचल घोडोके चरणोंसे खुदे भूमण्डलकी धूलिसे आकाशके व्याप्त हो जानेपर सूर्य दिखाई नहीं दे रहा था, मानो दिशाभ्रान्ति होनेसे कहीं अन्यत्र जा पड़ा हो ॥५१॥ जल्दी-जल्दी छलाँग भरने एवं गतिके वेग द्वारा अलघनीय गर्तमयी भूमिको लाँघनेवाले घोड़ोंने सर्वत्र किन पुरुषोंके मनमें वातप्रमी जातिके श्रेष्ठ मृगोंकी भ्रान्ति उत्पन्न नहीं कर दी थी ? ॥५२॥ उछलते हुए घोड़ों, लहराती अग्रगामी सेनाके सचार-

१. साङ्घ्रि घ० म० ।

उत्खाताचलशिखरैः पुर परागेणाश्वीयै स्फुटमवटेपु पूरितेपु ।
सा बुद्धि खलु रथिनो यदस्य पश्चात् प्रस्थाने सुगमतरो बभूव मार्ग ॥५४॥

प्राग्भाग द्विरदभयादुदग्रदन्त प्रोत्सृज्य प्रकटितघर्घरोरुनाद ।
उत्कूर्दन् विकटपदैरितस्ततोऽग्रे दासेर पटुनटकौतुक चकार ॥५५॥

सर्वाशाद्विपमदवाहिनीषु सेनासचारोच्छलितरज स्थलीकृतासु ।
उड्डीनैर्भ्रमरकुलैरिवावकीर्णं व्योमासीदविरलदुर्दिनच्छलेन ॥५६॥

आतङ्काकुलशबरीवितीर्णगुञ्जापुञ्जेपु ज्वलितदवानलभ्रमेण ।
कारुण्यामृतरसवर्पिणी स गच्छश्चिक्षेप प्रभुरसकृद्वनेपु दृष्टिम् ॥५७॥

ससर्पद्बलभररुद्धसिन्धुवेग प्रोद्दामद्विरदतिरस्कृताग्रशृङ्गम् ।
आक्रम्य ध्वजविजितोरुकन्दलीक विन्ध्याद्रि स विभुगुणैरधश्चकार ॥५८॥

चूर्णितानीत्यर्थं ॥५३॥ उत्खातेति—यदग्रे धूलिपटलेनाश्वसमूहैरुच्चावचेपु पूरितेपु समुत्खातपर्वतशिखरं साग्रे तुरङ्गसचारिका बुद्धि पथिकस्य सुखाय बभूव यतोऽस्य पश्चाद्गमने मार्ग सुगमतर ॥५४॥ प्राग्भागमिति—प्राक्प्रथममेव हस्तिभयात्त्रस्तो भार त्यक्त्वा प्रकटितदन्त क्रूरघोरनाद करभ उच्छृङ्खलविकटपदनिक्षेपे क्रीडानटनाट्यमनुचकार ॥५५॥ सर्वाशेति—सर्वदिग्गजकपोलार्द्रमदनदीपु कटकसचारोच्छलितधूलिस्थलीपिहितासु निराश्रयैरुड्डीनैर्भ्रमरकुलैरिव पिहित गगन रजोऽन्धकारव्याजेन बभूव ॥५६॥ आतङ्केति—कटकभयभीताभि पुलिन्दीभिर्गृहीतमुक्तेपु गुञ्जाफलपुञ्जेपु ज्वलितदवाङ्गारशङ्कया करुणापीयूषवर्पिणी दृष्टि वनेपु स प्रभुर्निचिक्षेप ॥५७॥ ससर्पदिति—स प्रभुर्निजैर्विभुगुणैर्विन्ध्यपर्वतमधश्चकार जिगाय । किंविशिष्टमित्याह—चङ्क्रम्यमाणेन सेनाभरेण निरुद्ध सिन्धूना वेगो यस्य स त तथाविधम् । प्रोद्दामैरुत्कटैस्तिरस्कृतान्युच्च शृङ्गाणि यस्य त तथाविध बलात्कारेण ध्वजैर्विजिता महाकन्दल्यो यस्य त तथाविधम् । अथ च विन्ध्यमतिक्रम्य

से खुदे शिखरसमूहके छलसे ऐसा जान पडता था मानो मार्गमें सर्वप्रथम रुकावट डालनेवाले विन्ध्याचलका शिर ही सैनिकोने क्रोधवश छेद डाला हो ॥५३॥ आगे चलकर पर्वतके शिखरोंको खोदनेवाले घोडोंके समूहने धूलिके द्वारा समस्त गर्तमय प्रदेश पूर दिये थे अतः रथ चलानेवालेकी वह उचित ही बुद्धि उत्पन्न हुई थी कि जिससे पीछे चलनेमे उसे मार्ग अत्यन्त सुगम हो गया था ॥५४॥ जो हाथीके भयसे अग्रभागको छोड दाँत ऊपर करता हुआ बडे जोरका घर्घर शब्द कर रहा था तथा बड़े-बड़े पैरों द्वारा इधर-उधर कूद रहा था ऐसा ऊँट सेनाके अग्रभागमे चतुर नटका तमाशा कर रहा था ॥५५॥ आकाशमे निरन्तर धूलिरूप अन्धकार छा रहा था उससे वह ऐसा जान पड़ता था मानो समस्त दिग्गजोंकी मदरूपी नदियोंके, सैन्य-सचारसे उडी धूलिसे स्थलरूप किये जानेपर उड़े हुए भ्रमरसमूहसे ही व्याप्त हो रहा हो । भावार्थ—पहले भ्रमर हाथियोंके मदकी धाराओंपर बैठे थे परन्तु पीछे सेनाके संचारसे उड़ी धूलिसे वे मदकी नदियाँ स्थलरूप हो गयीं अतः भ्रमर निराधार होकर आकाशमे उड पड़े हों ऐसा जान पड़ता था ॥५६॥ जाते हुए भगवान्ने भयसे व्याकुल शबरियोंके द्वारा फेके हुए गुमचियोंके समूहमे प्रज्वलित दावानलका भ्रम होनेसे वनोंपर कई बार दयारूप अमृतरसको झरानेवाली दृष्टि डाली थी ॥५७॥ चलनेवाली सेनाके भारसे जिसकी नदियोंका वेग रुक गया है, बड़े-बड़े हाथियोंके द्वारा जिसके उन्नत शिखर तिरस्कृत हो गये हैं और ध्वजाओंके द्वारा जिसकी कदलियोंकी शोभा जीत ली गयी है ऐसे विन्ध्याचलपर चढकर भगवान्ने अपने व्यापक गुणोंसे उसे नीचा कर दिया था [पक्षमे पराजित कर दिया था] ॥५८॥

सर्पत्सु द्विरदबलेषु नर्मदायाः सजात सपदि पथ. प्रतीपगामि ।
वाहिन्यो मदजलनिर्मितास्त्वमीषामुत्सङ्ग द्रुतमुदधेरवापुरेव ॥५९॥
मद्दन्तद्वयवलभीनिवासलीलालोलेय नियतमनन्यगा तु लक्ष्मी. ।
सामर्षप्रसरमितीव चिन्तयन्तो दन्तीन्द्रा सरिति बभञ्जुरम्बुजानि ॥६०॥
आस्कन्ध जलमवगाह्य दीर्घदन्तैरामूलोद्धृतसरलारविन्दनालाः[1] ।
आलोड्याखिलमुदर तरङ्गवत्या कृष्टान्त्रावलय इव द्विपा विरेजु ॥६१॥
उन्मीलन्नवनलिनीमराललीलालंकारव्यतिकरसुन्दरी समस्तात् ।
आनन्दोदवसितदेहलीमिवार्थश्रीसिद्धे सरितमलङ्घयत्स रेवाम् ॥६२॥
एकान्त सुरसवरार्थमाश्रयन्ती प्रेक्ष्योच्चैरतनुपयोधराग्रलक्ष्मीः ।
स्त्रीरत्नोत्सुकमनसा न सापि विन्ध्यारण्यानी गुणगुरुणा स्थिर सिषेवे ॥६३॥

अग्रे गत इत्यर्थ ॥५८॥ सर्पत्स्विति—गजघटाया विचञ्चूर्यमाणाया नर्मदासलिलमूर्द्ध्वगामि बभूव। पश्चाच्चलितमिति भाव । एतेषा तु नद्यो मदजलस्य शीघ्र समुद्रमध्ये जग्मु ॥५९॥ मद्दन्तेति—अस्माक दन्तद्वयपल्यङ्के शायिकेय लक्ष्मीर्नान्यत्र गामिनीति कोपप्रसरमिव चेतसि चिन्तयन्तो मार्गतडागेषु श्रीवास-बुद्ध्याश्रयाणि कमलानि उन्मूलयाचक्रु करीन्द्रा ॥६०॥ आ स्कन्धमिति—स्कन्धदघ्न जले मङ्क्त्वा दीर्घ-दन्तैरुत्खातकमलिनीनाला करिण शुशुभिरे। समस्तोदर विलोड्य नद्या अन्त्रवलयानीव उद्धृतानि ॥६१॥ उन्मीलन्निति—हर्षगृहस्य देहलीमिव स प्रभुर्नदीरेवा लङ्घयामास विकसत्कमलिनीस्थितहसमण्डनमनोहराम् । देहल्यामपि पद्महसादीनि चित्ररूपाणि भवन्ति ॥६२॥ एकान्तमिति—सुरा देवा सवरा पर्वतवासिजनास्तदर्थ-मेकान्त रह सभोगनिकुञ्ज समाश्रयन्ती उच्चै शिखरलग्नमेघा सश्रीका विन्ध्याटवी चिरकाल प्रभुणा न सेविता । यत किंविशिष्टेन । स्त्रीरत्ने उत्सुक मनो यस्य तेन तथा। केनचिद् विदग्धस्त्रीसभोगाय चलितेन सुरसवरार्थ

हाथियोंकी सेनाके चलनेपर नर्मदाका पानी सहसा उलटा बहने लगा था परन्तु उनकी मद-जलनिर्मित नदियाँ समुद्रके ही मध्य पहुँची थीं ॥५९॥ हमारे दन्तद्वयरूप अट्टालिकामें रहने-वाली लक्ष्मी चंचल है परन्तु इन कमलोंमें रहनेवाली लक्ष्मी निश्चित ही अनन्यगामिनी है—इन्हें छोडकर अन्यत्र नहीं जाती—इस प्रकार क्रोधसे विचरते हुए ही मानो गजराजोंने नदीके कमल तोड डाले थे ॥६०॥ स्कन्ध पर्यन्त जलमें घुसकर बडे-बडे दाँतोंके द्वारा जिन्होंने कमलोंके सीधे नाल जडसे उखाड़ लिये हैं ऐसे हाथी इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो नदीके समस्त उदरका विलोडन कर उसकी आँतोंका समूह ही उन्होंने खींच लिया हो ॥६१॥ सब ओर खिली हुई नवीन कमलिनियोंपर स्थित हंसोंकी क्रीडारूप अलंकारोंके संभेदसे सुन्दर नर्मदा नदीको भगवान् धर्मनाथने ऐसा पार किया था, मानो कार्यसिद्धिके आनन्द-भवनकी देहली ही को पार किया हो ॥६२॥ जो देव और भीलोंके लिए एकान्त स्थान धारण कर रही थी—जो देव और भीलोंके उपभोगके योग्य अनेक एकान्त निकुंजोंसे सहित थी [पक्षमें जो सुरस—रसीले वरके लिए एकान्तका आश्रय कर रही थी] तथा अत्यन्त उन्नत एव विशाल पयोधरो—मेघोंसे जिसके अग्रभागकी लक्ष्मी दर्शनीय थी [पक्षमें जिसके उन्नत एव स्थूल स्तनोंके अग्रभागकी शोभा दर्शनीय थी] ऐसी उस विन्ध्याटवीका [पक्षमें किसी स्त्रीका] स्त्रीरत्नमें उत्सुक मनके धारक एवं जितेन्द्रियता आदि गुणोंसे श्रेष्ठ भगवान् धर्मनाथने स्थिरतापूर्वक सेवन नहीं किया था—वहाँ अधिक दिन तक निवास नहीं किया

१ नाली छ० ।

उत्तुङ्गद्रुमवलभीषु पानगोष्ठ्यो[1]व्यासक्तैर्मधुपकुलैर्निपीतमुक्तम् ।
बिभ्राणा मधु मधुरं प्रसूनपात्रे गञ्जेव द्रुतमटवी बलैः प्रमुक्ता ।।६४।।
वाहिन्यो हिमसलिलाः सशाद्वला भूर्यत्रोच्चैर्द्विरदभरक्षमा द्रुमाश्च ।
ससिद्ध्यै द्रुतमटतो बभूवुरध्वन्यावासाः कतिचिदमुष्य तत्र तत्र ।।६५।।
द्राघीयान्समपि जवान्नितान्तदुर्गं गव्यूतिप्रमितमिव व्यतीत्य मार्गम् ।
सोत्कण्ठं हृदयमसौ दधत्प्रियाया वैदर्भं विषयमथ प्रभुः प्रपेदे ।।६६।।
आरूढस्तुरगमिभं सुखासनं वा प्रोल्लङ्घ्य द्रुतमसमं सुखेन मार्गम् ।
देशेऽस्मिन्महति पुनर्वसुप्रधाने व्योम्नीव द्युमणिरगादसौ रथस्थः ।।६७।।
प्रध्वानैरनुकृतमन्द्रमेघनादैः पाण्डित्यं दधति शिखण्डिताण्डवेषु ।
ग्रामीणैर्घन इव वीक्षितः सहर्षं वज्रीव प्रभुरधिकं रथे रराज ।।६८।।
क्षेत्रश्रीरधिकतिलोत्तमा सुकेश्यः कामिन्यो दिशि दिशि निष्कुटाः सरम्भाः ।
इत्येनं ग्रथितमशेषमप्सरोभिः स्वर्गादप्यधिकममंस्त देशमीशः ।।६९।।

सुरसकान्तनिमित्तमेकान्ते स्थिता पीनपयोधरापि मार्गे मिलितान्या त्यज्यते ।।६३।। उत्तुङ्गेति—उच्चवृक्षवलभीनिविष्टैर्भ्रमरकुलैः पानगोष्ठीससक्तैर्मधुपैरिव पीतमुक्तं मधु दधाना गञ्जेवाटवी चमूचरैः प्रमुक्ता । मद्याकरस्थानं गञ्जा ।।६४।। वाहिन्य इति—यत्र शीतलजला नद्यो हरिततृणाभूमिर्हस्त्यालानयोग्याश्च वृक्षा येषु येषु प्रदेशेषु तेषु अध्वन्या मार्गावासा बभूवुः । द्रुतं कार्यसिद्ध्यै गच्छतः ।।६५।। द्राघीयान्समिति—दीर्घं विषममपि मार्गं क्रोशद्वयमिवातिक्रम्य प्रियायाः साभिलाषं हृदयं दधानः प्रभुः शीघ्रं विदर्भदेशं प्राप्तवान् ।।६६।। आरूढेति—तुरङ्गमं हस्तिनं शिबिकां वा समारूढो विषममार्गं सुखेन जगाम । अस्मिन् विदर्भदेशे पुनः सुगमत्वाद्रथस्थ एव ययौ गगने रविरिव वसुप्रधाने देशे च द्रव्याढ्ये ।।६७।। प्रध्वानैरिति—रथे ग्रामीणैर्मेघ इव दृष्टे शक्र इवाधिकं प्रभुः शुशुभे । मयूरताण्डवेषु पाण्डित्यं रङ्गाचार्यकं दधाने । कैः प्रध्वानैरनुकृतगभीरमेघगर्जिभिः ।।६८।। क्षेत्रश्रीरिति—स प्रभुस्तं विदर्भदेशं स्वर्गादपि मनोहरं मेने । कथमित्याह—यत्र क्षेत्रश्री-

था—उसे छोड़ आगे गमन किया था [पक्षमें उपभोग नहीं किया था] ।।६३।। उन्नत वृक्षरूपी अट्टालिकाओंपर पानगोष्ठीमें आसक्त भ्रमरसमूहके द्वारा पान करनेके बाद छोड़ी हुई मधुर मदिराको पुष्परूपी पात्रमें धारण करनेवाली वह विन्ध्याटवी मद्यशालाकी तरह सैनिकोंके द्वारा शीघ्र ही छोड़ दी गयी ।।६४।। यद्यपि भगवान् धर्मनाथ कार्यसिद्धिके लिए शीघ्र ही गमन कर रहे थे फिर भी मार्गमें जहाँ शीतल जलसे युक्त नदियाँ, हरी घाससे युक्त पृथिवी और उन्नत हाथियोंका भार सहन करनेमें समर्थ वृक्ष होते थे वहाँ उनके कुछ आवास हुए थे ।।६५।। वह मार्ग यद्यपि बड़ा लम्बा और अत्यन्त दुर्गम था फिर भी उन्होंने वेगसे उसे इस प्रकार पार कर लिया मानो दो कोश प्रमाण ही हो । इस तरह अपना उत्कण्ठापूर्ण हृदय प्रियामें धारण करते हुए स्वामी धर्मनाथ, विदर्भ देश जा पहुँचे ।।६६।। भगवान् धर्मनाथने अब तकका विषममार्ग कहीं घोड़ेपर, कहीं हाथीपर और कहीं पालकीपर बैठकर सुखसे शीघ्र ही व्यतीत किया था किन्तु धनप्रधान इस विशाल देशमें उन्होंने रथपर बैठकर ही उस प्रकार गमन किया था जिस प्रकार पुनर्वसु नक्षत्रप्रधान अथवा किरणप्रधान विशाल आकाशमें सूर्य गमन करता है ।।६७।। मेघोंकी गम्भीर गर्जनाका अनुकरण करनेवाले शब्दोंके द्वारा मयूरोंके ताण्डव नृत्यमें पाण्डित्य धारण करनेवाले एवं ग्रामीण मनुष्योंके द्वारा बड़े हर्षके साथ अवलोकित रथपर विराजमान भगवान् मेघपर विराजित इन्द्रके समान सुशोभित हो रहे थे ।।६८।। चूँकि यहाँके क्षेत्रकी शोभा अधिक तिलोंसे उत्तम है [पक्षमें—तिलोत्तमा

१ –व्यासक्तै– घ० म० ।

विस्फारैरविदितविभ्रमैः स्वभावाद्ग्रामेयीनयनपुटैर्निपीयमानम् ।
लावण्यामृतमधिकाधिकं तथापि श्रीधर्मो भुवनविभुर्बभार चित्रम् ॥७०॥

पुण्ड्रेक्षु व्यतिकरशालिशालिवप्रे प्रोन्मीलद्विशदसरोरुहच्छलेन ।
अन्येषा श्रियमिव नीवृता हसन्ती देशश्रीर्गुणगुरुणा मुदा लुलोके ॥७१॥

कूष्माण्डीफलभरगर्भचिर्भटेभ्यो वृन्ताकस्तबकविनम्रवास्तुकेभ्य ।
सकीर्णे मिथ इव दृष्टिरस्य लग्ना निष्क्रान्ता कथमपि शाकवाटकेभ्य. ॥७२॥

देशश्रीहृतहृदयेक्षणः क्षणेन प्रोल्लङ्घ्य क्लममिव वर्त्म नातिदूरे ।
तत्रोर्वीमणिमयकुण्डलानुकारिप्राकार पुरमथ कुण्डिनं ददर्श ॥७३॥

वार्तादौ तदनु रजस्तत प्रणादो भेरीणामतनुबलान्वितस्य भर्तु ।
एतस्याभिमुखगमोत्सुक तदानी सानन्दं पुरि विदधे विदर्भराजम् ॥७४॥

रधिकैस्तिलैर्धान्यविशेषैरुत्तमा । यत्र च कामिन्य सुकेश्यो मनोहरकुन्तलकलापा । दिशि दिशि निकुञ्जा सकदलीका । अद्भिरुपलक्षितानि सरासि अप्सरासि तैरप्सरोभि पक्षे तिलोत्तमासुकेशीरम्भाप्रभृतिभिरप्सरोभिर्देवाङ्गनाभिरसख्याभि सर्वत्र मण्डित च स्वर्गवत्सख्याताभिस्ततोऽसौ स्वर्गं विशिनष्टि ॥६९॥ विस्फारैरिति—सहजमुग्धत्वादज्ञातविभ्रमैस्तारतरलैर्ग्रामीणस्त्रीनयनपुटै सिप्रापुटैरिव पेपीयमानमपि वपुर्लावण्यसुधारस प्रभुरधिक बभार । अन्यच्च जलादिक पीयमान क्षीयते एतच्च न तथेति महाश्चर्यम् ॥७०॥ पुण्ड्रक्षिवति—इक्षुविशेषसपर्कितकलभक्षेत्रे विदलद्धवलकमलव्याजेन अन्येषा देशाना लक्ष्मी हसन्तीव तद्देशश्री प्रभुणा ददृशे ॥७१॥ कूष्माण्डीति—कूष्माण्डी कर्कटी [चिर्भटी] वृन्ताकवास्तुकसभृतेभ्य सकीर्णे पतितेव चिरेणास्य दृष्टिर्निष्क्रान्ता ॥७२॥ देशश्रीति—देशरामणीयकापहृतलोचनमना क्षणेन मार्गं खेदमिव व्यतिक्रम्य भूमिस्त्रीरत्नकुण्डलानुकारिप्राकार पुरमथ कुण्डिन विदर्भराजपुर ददर्श ॥७३॥ वार्तादाविति—अस्य प्रभोरभिमुखगमनोत्सुक विदर्भराज विदधे । क को विदधे । इत्याह—आदौ वार्ता तत सेनासमुत्थापितरेणुस्तत आगन्तुकमङ्गलभेरीनिनाद । त्रिभि कथिते विदर्भराज समुख जगाम ॥७४॥

नामक अप्सरासे सहित है] यहाँकी स्त्रियाँ सुकेशी—उत्तम केशोंसे युक्त हैं [पक्षमें—सुकेशी नामक अप्सराएँ है], यहाँ प्रत्येक दिशामें रम्भा—कदली सहित गृहके उद्यान हैं [पक्षमे रम्भा नामक अप्सरासे सहित है] इस प्रकार अनेक जलके सरोवरों [पक्षमे अप्सराओं] से युक्त है अतः स्वामी धर्मनाथने इस देशको स्वर्गसे भी कहीं अधिक माना था ॥६९॥ जगत्पति श्रीधर्मनाथ स्वामी जिस सौन्दर्यरूपी अमृतको धारण कर रहे थे वह यद्यपि स्वभावसे ही विस्तृत और विलास चेष्टाओंसे अपरिचित ग्रामीण स्त्रियोंके नयनपुटोंके द्वारा पिया जा रहा था फिर भी उत्तरोत्तर अधिक होता जा रहा था—यह एक आश्चर्यकी बात है ॥७०॥ गुणगुरु भगवान् धर्मनाथने उस देशकी उस लक्ष्मीको बडे हर्षके साथ देखा था, जो कि पौडा और ईखसे मिश्रित धानसे सुशोभित खेतोंमे खिले हुए सफेद कमलोंके छलसे मानो अन्य देशोंकी लक्ष्मी की हँसी ही कर रही थी ॥७१॥ कुम्हडा, कचरिया, बैंगन तथा गुच्छासे नम्रीभूत बथुएसे युक्त शाकके कच्छवाटोंसे परस्पर व्याप्त देशमें उलझी हुई भगवान्की दृष्टि बडी कठिनाईसे निकल सकी थी ॥७२॥ देशकी शोभाके द्वारा जिनके हृदय और नेत्र दोनों ही हृत हो चुके हैं ऐसे भगवान् धर्मनाथने थकावटकी तरह उस मार्गको क्षणभरमे व्यतीत कर समीप ही वह कुण्डिनपुर नगर देखा, जिसका कि कोट, पृथिवीके मणिमय कुण्डलका अनुकरण कर रहा था ॥७३॥ सर्व-प्रथम वार्ताने, फिर धूलिने और तदुपरान्त भेरियोंके शब्दने नगरमे आनन्द सहित स्थित विदर्भराजको इस विशाल सेनासे युक्त श्रीधर्मनाथ स्वामीके सम्मुख

[1]सोल्लासं कतिपयवेगवत्तुरङ्गैरेत्यास्मिन्नभिमुखमशुमानिवासीत् ।
अस्योद्यद्गुणगरिमप्रकर्षमेरो पादान्ते प्रणतिपर॰ प्रतापराज ॥७५॥
देवोऽपि प्रणयवशीकृत कराभ्यामुत्क्षिप्य क्षितिमिलितोत्तमाङ्गमेनम् ।
यद्गम्य क्षणमपि नो मनोरथाना तद्वाह्वो पृथुतरमन्तर निनाय ॥७६॥
[2]सोऽप्यन्तर्मनसि महानय प्रसादो देवस्येत्यविरतमेव मन्यमान ।
उन्मीलद्घनपुलकाङ्कुर प्रमोदादित्यूचे विनयनिधिर्विदर्भराज ॥७७॥
श्लाघ्य मे कुलमखिल दिगप्यवाची धन्येयं समजनि सतति कृतार्था ।
कीर्तिश्च प्रसरतु सर्वतोऽद्य पुण्यैरातिथ्य भुवनगुरौ त्वयि प्रयाते ॥७८॥
किं ब्रूम शिरसि जगत्त्रयेऽपि लोकैराज्ञेय स्रगिव पुरापि धार्यते ते ।
स्वीकारस्तदखिलराज्यवैभवेषु प्राणेष्वप्ययमधुना विधीयता न॰ ॥७९॥
[3]अत्यन्त किमपि वचोभिरित्युदारै सप्रेम प्रवणयति प्रतापराजे ।
देवोऽथ सरलतर स्वभावमस्य प्रेक्ष्येति प्रियमुचितं मुदाचचक्षे ॥८०॥

सोल्लासमिति—तदनन्तर सहर्षं कैश्चिद्वेगवद्भिस्तुरगै ममुखमागत्य अस्य नि सीमगुणगुरुत्वप्रकर्षस्वर्णशैलस्य प्रभो पादसमीपे प्रणतितत्पर प्रतापराजस्तस्थौ । यथा प्रतापेन राजते प्रतापराज आदित्य स स्वाश्वैरागत्य मेरो समीपे तिष्ठति ॥७५॥ देव इति—श्रीधर्मनाथोऽपि स्नेहविह्वलत्वेन वशीकृतचेता एन भूलुठितमस्तक प्रतापराज प्रणमन्तमुत्क्षिप्य यन्मनोरथस्याप्यगम्य तद् हृदय निनाय । आलिलिङ्गेत्यर्थ ॥७६॥ स इति—विदर्भराजोऽपि 'देवेन महान् आलिङ्गनादिप्रसाद कृत' इति मनसि मन्यमान उद्गतबहलपुलकाङ्कुरप्रमोदमदगद्गदवाक् वक्ष्यमाणमिति वचनमुवाच ॥७७॥ श्लाघ्यमिति—हे प्रभो ! साप्रत त्वयि समायाते मम सर्वगोत्र श्लाघ्यतम सजात । न केवल मम कुल दक्षिणदिगसौ धन्या ममेय पुत्रीप्रभृति प्रसूतिश्च धन्या । एतद्दिवसमारभ्य मे कीर्तिश्च सर्वत प्रसरतु महापुण्यैस्त्वयि आतिथ्य प्राप्ते सति ॥७८॥ किमिति—हे प्रभो ! तवाज्ञा शिरसि त्रिभुवनेऽपि पुरा चूडामणिरिव धार्यते ततो वय तवाज्ञा विधारयाम इति वचन चर्वितचर्वणमिव । पर साप्रतमेतद्विज्ञापयामि—मम साम्राज्यसर्वस्वेषु प्राणेषु च स्वीकारो ममत्वबुद्धि क्रियतामिति ॥७९॥ अत्यन्तमिति—इति पूर्वोक्तप्रकारेण अत्यन्त किमपि स्नेहसर्वस्व प्रतापराजे प्रकटयति सति सहजप्रेम-

आनेमें उत्सुक किया था ॥७४॥ वह प्रतापराज सूर्यकी भाँति कुछ वेगशाली घोड़ोंके द्वारा बड़े उल्लासके साथ संमुख आकर उत्कृष्टगुणोंकी गरिमाके प्रकर्षसे मेरुकी समानताको धारण करने वाले इन धर्मनाथ स्वामीके चरणोंके समीप [पक्षमें प्रत्यन्त पर्वतके समीप] नम्रीभूत हुआ ॥७५॥ प्रेमसे वशीभूत भगवान्‌ने पृथिवी पर मस्तक झुकाये हुए इस प्रतापराजको दोनों हाथोंसे उठाकर अपने उस विशाल वक्षस्थलसे लगा लिया जो कि क्षणभरके लिए भी मनोरथोंका गम्य नहीं था ॥७६॥ जिसके अत्यधिक रोमाचरूपी अकुर उठ रहे हैं ऐसा विनयका भाण्डार विदर्भराज भी अपने मनमें वह सब भगवान्‌का ही महान् प्रसाद है ऐसा निरन्तर मानता हुआ बड़े हर्षके साथ निम्न प्रकार कहने लगा ॥७७॥ चूँकि आज त्रिभुवनगुरु पुण्योदयसे मेरे आतिथ्यको प्राप्त हुए हैं अत मेरा समस्त कुल प्रशसनीय हो गया, यह दक्षिण दिशा धन्य हुई, मेरी सन्तान कृतकृत्य हुई और आजसे मेरा यश सर्वत्र फैले ॥७८॥ हे प्रभो ! आपकी आज्ञा तो तीनों लोकोंमे लोगोंके द्वारा पहलेसे ही मालाकी तरह शिरपर धारण की जाती है अतः अधिक क्या कहूँ ? हाँ, अब मेरे समस्त राज्य-वैभव एव प्राणोंमे भी आत्मीय बुद्धि कीजिए ॥७९॥ जब प्रतापराजने इस प्रकारके उत्कृष्ट वचनोंके द्वारा प्रेमसहित अत्यन्त नम्रता दिखायी तब भगवान् धर्मनाथने भी उसका अत्यन्त सरलस्वभाव देख हर्षसहित निम्नाकित प्रिय

१ प्रोल्लास ख॰ । २ घ॰ म॰ पुस्तकयो ७७–७८ श्लोकयो क्रमभेदोऽस्ति । ३ औचित्य छ॰ ज॰ च॰ ।

सर्वस्वोपनयनमत्र तावदास्ता जाता· स्मस्त्वदुपगमाद्वयं कृतार्था· ।
नास्माक तव विभवे परस्वबुद्धिर्नो वास्ते वपुषि मनागनात्मभाव ॥८१॥

आलापैरिति बहुमानयन्समीपे गच्छन्त तमुचितसत्क्रियाप्रतीत· ।
ताम्बूलार्पणमुदित विदर्भराज [1]स्वावासान्प्रति विससर्ज धर्मनाथ ॥८२॥

आनन्दोच्छ्वसितमनाः पुरोपकण्ठे योग्यायामथ वरदाप्रतीरभूमौ ।
आवासस्थितिमविरोधिनी विधातु सेनायाः पतिमयमादिदेश देव· ॥८३॥

स यावत्सेनानीरलमलभताज्ञामिति विभो
पुर पूर्वस्थित्या सपदि धनदस्तावदकरोत् ।
सुरस्कन्धावारद्युतिविजयिनो यस्य विशिखा-
समासन्न शाखानगरमिव तत्कुण्डिनमभूत्[2] ॥८४॥

द्वारि द्वारि पुरे पुरे पथि पथि प्रत्युल्लसत्तोरणा
पौरा पूर्णमनोरथा रचयत प्रत्यग्ररङ्गावलिम् ।
पुण्यैर्वस्त्रिदशेन्द्रशेखरमणि· सोऽय जगद्वल्लभ
प्राप्तो रत्नपुरेश्वरस्य तनय· श्रीधर्मनाथ प्रभु[3] ॥८५॥

रसिकोऽयमिति ज्ञात्वा प्रभुरुचित प्रियवचन बभाषे ॥८०॥ सर्वस्वेति—सर्वस्वोपनयन तावद्दूरे तिष्ठतु तव समागमनेन वयमपि कृतार्था सजाता न वास्माक तव विभवे परद्रव्यबुद्धि न च वा तव शरीरे परशरीरभाव । सर्वात्मना तवास्माक च एकाकीभाव इति ॥८१॥ आलापैरिति—इति रथसमीपे पादचारेण गच्छन्त प्रताप-राज प्रियवचनैर्बहुसभावयन् तत्कालोचितसत्कारेण प्रतीत ताम्बूलदानप्रसादित निजगृहान्प्रति प्रेषयामास ॥८२॥ आनन्देति—अथानन्तर सप्रमोदो देवो नगरसमीपे वरदानदीतीरे आवासस्थितिं कर्तुमना सेनापतिमादिदेश अविरोधिनी यथायोग्याम् ॥८३॥ स इति—स सेनानीर्यावत्प्रभोराज्ञामगृहीत् तावत् पूर्वप्रकारेणैव धनदेन नगर कृत यस्य सुरशकटकावासश्रीविजयिन समीपे तदेव कुण्डिनपुर शाखानगरसदृश शुशुभे ॥८४॥ द्वारीति—प्रतापराजाज्ञया पुरजान्प्रति दण्डपाशिको भाषते—हे पौरा ! सर्वत्र द्वारचत्वरादौ मण्डपगगनोड्डिका-वन्दनमालामुक्तामयस्वस्तिकप्रभृतीनि प्रवेशमङ्गलकरणीयानि यूय कुरुत । असौ प्रभुस्त्रिदशेन्द्रवन्दितो भवत्पुण्यै

तथा उचित वचन कहे ॥८०॥ सर्वस्व समर्पण दूर रहे आपके समागमसे ही हम कृतार्थ हो गये । न आपके विभवमे मेरी परत्वबुद्धि है और न आपके शरीरमें ही मेरा अनात्मभाव है ॥८१॥ उचित सत्कारसे प्रसन्न धर्मनाथने, समीपमें आये हुए विदर्भराजका पूर्वोक्त वार्तालाप से बहुत सम्मान किया, पान देकर आनन्दित किया और तदुपरान्त उसे अपने निवास-स्थान के लिए विदा किया ॥८२॥ तदनन्तर आनन्दसे जिनका मन उच्छ्वसित हो रहा है ऐसे देवा-धिदेव धर्मनाथने नगरके समीप वरदा नदीके तटकी योग्य तथा उत्तमभूमि पर सेनाकी अविरोध स्थिति करनेके लिए सेनापतिको आज्ञा दी ॥८३॥ इधर सेनापतिने जब तक प्रभुकी आज्ञा प्राप्त की उधर तब तक कुबेरने पहलेकी तरह शीघ्र ही वह नगर बना दिया जो कि देवोंके शिविरकी शोभाको जीत रहा था तथा जिसकी गलियोंके निकट कुण्डिनपुर शाखा-नगर जैसा हो गया था ॥८४॥ हे नगरवासियो ! चूँकि आप लोगोंके पुण्यसे इन्द्रके शिखा-मणि, जगत्के स्वामी, रत्नपुरके राजा महासेनके पुत्र श्रीधर्मनाथ स्वामी आपके यहाँ पधारे हैं अतः आप लोग द्वार-द्वारमें, पुर-पुरमे और गली-गलीमे पूर्ण-मनोरथ होकर तोरणोंसे

---

१ स्वावास म० घ० । २ शिखरिणीवृत्त 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलाग शिखरिणी' इति लक्षणात् ।
३ शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् 'सूर्याश्वैर्मसजास्तत सगुरव शार्दूलविक्रीडितम्' इति लक्षणात् ।

यास्तूर्यारवहारिगीतमुखरा' पात्राणि दध्यक्षत-
स्रग्दूर्वादलभाञ्जि बिभ्रति करे सोत्तसवेषा स्त्रियः ।
श्रीशृङ्गारवतीचिरार्जिततप सौभाग्यशोभा इव
श्रेय प्राप्यसमागम वरमिम धन्या प्रतीच्छन्तु ता' ॥८६॥

अद्योत्क्षिप्य कर ब्रवीम्यहमित शृण्वन्तु रे पार्थिवाः
का शृङ्गारवतो कथापि भवता प्राप्ते जिने सप्रति ।
वार्ता तावदमी ग्रहप्रभृतय कुर्वन्तु भाप्राप्तये
देवो यावदुदेति नाखिलजगच्चूडामणिर्भास्कर ॥८७॥

इत्थ विदर्भवसुधाधिपराजधान्या द्राग्दण्डपाशिकवचः शकुन निशम्य ।
तिष्ठन् स तत्र नगरे धनदोपनीते सिद्धि विभुर्द्रढयति स्म हृदि स्वकार्ये ॥८८॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये प्रभात-
प्रयाणकवर्णनो नाम षोडश सर्ग ॥१६॥

समागत इति ॥८५॥ या इति—या अविधवा सुभगास्तूर्यध्वनिमनोहरगीतमुखरा दधिचन्दनादिचूर्णानि मङ्गलपात्राणि हस्तयोर्धारयन्ति ता धृतोत्तमशृङ्गारा इम पुण्यप्राप्य परिणेतार प्रतीच्छन्तु दिष्ट्या वर्द्धयन्तु । शृङ्गारवत्या यच्चिरार्जित तपस्तस्मात् यच्च समुद्भूत सौभाग्य तस्य शोभा इव महिमश्रिय इव । न महातपसा विना ईदृश पति पतिवरा लभत इति भाव ॥८६॥ अद्येति—अद्य हस्तमुत्क्षिप्य कथयामि हे नृपा ! सर्वे यूयमाकर्णयत—अस्मिन् स्वयवरे शृङ्गारवतीकथापि भवता नास्ति । जिने प्राप्ते का पुन शृङ्गारवतीनामधेया कन्या । तावद्ग्रहाणा दीधितिसपत्तिर्यावत्सहस्रकर उदेति ॥८७॥ इत्थमिति—इत्थ नगर्या दण्डपाशिकवचन शकुनरूप श्रुत्वा निजनगरे स्थित कन्यासिद्धि प्रति मनसि प्रभुर्निश्चय चकारेति ॥८८॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयश कीर्तिविरचितायां
सन्देहध्वान्तदीपिकाया धर्मशर्माभ्युदयटीकाया षोडश सर्ग ॥१६॥

समुल्लसित नयी-नयी रंगावली बनाओ ॥८५॥ जो तुरहीके शब्दके समान मनोहर गीतोंसे मुखर है, उत्तम वेषभूषासे युक्त है, श्रीशृङ्गारवतीके चिरार्जित तपश्चरणके फलस्वरूप सौभाग्य की शोभाके समान जान पडती हैं और हाथोंमें दही, अक्षत, माला, तथा दूर्वादलसे युक्त पात्र धारण कर रही हैं वे धन्य स्त्रियाँ जिसका समागम बड़े पुण्यसे प्राप्त हो सकता है ऐसे इस वरकी अगवानी करे ॥८६॥ हे राजाओ ! अब मैं हाथ उठा कर कहता हूँ सुनिए, इस समय श्रीजिनेन्द्रदेवके पधारने पर आप लोगोंको शृङ्गारवती की कथा क्या करना है ? आप लोग उसकी आशा छोडिए क्योंकि ये ग्रह आदि ज्योतिष्क तभी तक दीप्तिको प्राप्त करनेके लिए वार्ता करते हैं जब तक कि समस्त ससारका चूडामणि सूर्यदेव उदित नहीं होता ॥८७॥ इस प्रकार कुबेर निर्मित नगरमे रहनेवाले भगवान् धर्मनाथने विदर्भराजकी राजधानीमे शीघ्र ही दण्डधारी प्रतिहारीके शकुन रूप वचन सुनकर हृदयमे अपने कार्यकी सिद्धिको दृढ किया ॥८८॥

इस प्रकार महाकवि हरिचन्द्र द्वारा विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें प्रभातकाल
और प्रयाणका वर्णन करने वाला सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१६॥

सप्तदशः सर्गः

अथायमन्येद्युरुदारवेष प्रतापराजाप्तजनोपहूत. ।
देशान्तरायातनरेन्द्रपूर्णा स्वयवरारम्भभुव प्रपेदे ॥१॥

मुक्तामयी कुङ्कुमपङ्किलाया रङ्गावलिर्यत्र पतिवराया ।
सौभाग्यभाग्योदयभूरुहाणामुप्तेव रेजे नवबीजराजि ॥२॥

यश सुधाकूर्चिकमेव तत्र शुभ्र नभोवेश्म स कर्तुमुच्चै ।
मञ्चोच्चयान् कुण्डिनमण्डनेन प्रपञ्चितान्भूमिभुजा ददर्श ॥३॥

शृङ्गाररसारङ्गविहारलीलाशैलेषु तेषु स्थितभूपतीनाम् ।
वैमानिकाना च मुदागताना देवोऽन्तर किंचन नोपलेभे ॥४॥

नि सीमरूपातिशयो ददर्श प्रदह्यमानागुरुधूपवर्त्या ।
मुख न केषामिह पार्थिवाना लज्जामषीकूर्चिकयेव कृष्णम् ॥५॥

अथेति—अथानन्तरमपरस्मिन् दिने प्रतापराजेन स्वजनमुख्यजनमुखेन सगौरवमाकारित कृतमहाशृङ्गारो देशान्तरागतबहुविधनरेन्द्रसकीर्णस्वयवरमण्डप प्रभु प्राप ॥१॥ मुक्तेति—मुक्तामयी स्वस्तिकभङ्गी, घुसृणलिप्ताया पृथिव्या शुशुभे तस्या शृङ्गारवत्या पतिवराया सौभाग्यपुण्योदयवृक्षाणा बीजपङ्क्तिरिव वापिता । श्रीधर्मनाथपतिलाभि च तस्या सौभाग्य पुण्य च वाढ वर्द्धिष्यत इत्यर्थ ॥२॥ यश इति—स कुण्डिनपतिना नगरेन्द्रेण मञ्चसचयानुच्चैस्तरान्निर्मापितान् ददर्श । नभोवेश्म गगनगृह धवलीकर्तुमिव । कया । यश सुधाकूर्चिकया कीर्तिचूर्णरसशृङ्गिकया । यथा देवगृहादिक धवलयितुमुच्चैर्मञ्चा बध्यन्ते तथा । तेन तेन विहितदुहितृस्वयवरेण आकल्प प्रतापराज प्रसिद्धो बभूव ॥३॥ शृङ्गारेति—तेषु पञ्चवर्णरत्नमण्डनसभूतशृङ्गारमृगसचरणक्रीडापर्वतेषु मञ्चेषु स्थितताना भूपतीना विमानेषु स्थितताना देवाना च किंचनाप्यन्तर तेन प्रभुणा नोपलब्धम् । मञ्चा विमानसदृशा भूपा देवसदृशा इत्यर्थ ॥४॥ नि सीमेति—निरुपमरूपप्रभावो देवो दह्यमानागुरुधूमवर्त्या लज्जामषीकूर्चिकयेव सर्वेषा तरुणपार्थिवाना कृष्णमुख वीक्षाचक्रे । प्रभोरद्भुत-

---

अथानन्तर दूसरे दिन उत्कृष्ट वेषको धारण करने वाले एव प्रतापराजके प्रामाणिक जनोंके द्वारा बुलाये हुए भगवान् धर्मनाथ, दूसरे देशोंसे आये हुए राजाओंसे परिपूर्ण स्वयवर भूमिमे पधारे ॥१॥ केशरकी कीचसे युक्त उस स्वयंवर सभामे मोतियोंकी रङ्गावली ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो कन्याके सौभाग्य एव भाग्योदय रूप वृक्षोंकी नूतन बीजोंकी पक्ति ही बोयी गयी हो ॥२॥ वहाँ उन्होंने कुण्डिनपुरके आभरण स्वरूप प्रतापराजके द्वारा विस्तारित उन्नत मचोंके समूहको इस प्रकार देखा मानो वे कीर्तिरूपी कलईकी कूचीसे आकाशमन्दिरको धवल करनेके लिए ही बनाये गये हों ॥३॥ देवाधिदेव भगवान् धर्मनाथने शृगाररूपी मृगोंके विहारसे युक्त क्रीडा-पर्वतोंके समान उन मंचोंके समूहपर स्थित राजाओं और आनन्दसे समागत विमानचारी देवोंके बीच कुछ भी अन्तर नहीं पाया था ॥४॥ अत्यधिक रूपके अतिशयसे युक्त श्रीधर्मनाथ स्वामीने जलती हुई अगुरु धूपकी वत्तियोंसे किस राजाका मुख लज्जारूपी स्याहीकी कूचीसे ही मानो काला हुआ नहीं देखा था—

अथ स कामो नियत भ्रमेण कमप्यधाक्षीद् गिरिशस्तदानीम् ।
इत्यद्भुत रूपमवेक्ष्य जैन जनाधिनाथा प्रतिपेदिरे ते ॥६॥
[1]अथाङ्गिना नेत्रसहस्रपात्र निर्दिष्टमिष्टेन स मञ्चमुच्चै ।
सोपानमार्गेण समारुरोह हैम मरुत्वानिव वैजयन्तम् ॥७॥
सिंहासने शृङ्ग इवोदयाद्रेस्तत्र स्थितो रत्नमये कुमार ।
स तारकाणामिव भूपतीना प्रभा पराभूय शशीव रेजे ॥८॥
उल्लासितानन्दपय पयोधौ पीयूषधाम्नीव विशेषरम्ये ।
कासा न नेत्राणि पुराङ्गनाना दृष्टेऽपि तत्रेन्दुमणीबभूवु ॥९॥
इक्ष्वाकुमुख्यक्षितिपालकीर्ति पठत्स्वथो मङ्गलपाठकेषु ।
दृप्तस्मरास्फालितकार्मुकज्यानिर्घोषवन्मूर्च्छति तूर्यनादे ॥१०॥
करेणुमारुह्य पतिंवरा सा विवेश चामीकरचारुकान्ति ।
विस्तारिमञ्चान्तरमन्तरिक्ष कादम्बिनीलीनतडिल्लतेव ॥११॥ युग्मम् ।

प्रभावावलोकनेन सर्वे भूपाला लज्जामपीस्नपिता इवेति भाव ॥५॥ अयमिति—अय साक्षान्मकरध्वजो यच्च त्रिनयनेन कामो दग्ध इति पुराणकथा सा वृथा । तेनेश्वरेण कामभ्रमेण अन्यपुरुपप्राय किमपि दग्धमिति मनसि वितर्कयन्तो भूपा जिनरूपमीक्षाचक्रिरे ॥६॥ अथेति—अथ नयनसहस्रै साभिलाप निरीक्ष्य प्रतापराजप्रधानेन सविनय प्रदर्शित मञ्च सोपानमार्गेण सुवर्णमयमारूढवान यथा सहस्राक्ष शक्रो वैजयन्तनामधेय विमानमारोहति ॥७॥ सिंहासन इति—स प्रभुस्तत्र सुवर्णमयसिंहासनोपविष्ट सर्वेषा भूपतीना रूपशृङ्गारप्रभाव पराभूय स्थितवान् । यथा उदयाचलशृङ्गस्थश्चन्द्रमा इतरतारकादीना प्रभा परिभूय तिष्ठतीति ॥८॥ उल्लासितेति—कल्लोलितहर्षसमुद्रे तस्मिन् प्रभौ चन्द्र इव दृष्टमात्रेऽपि कासा पौराङ्गनाना चन्द्रकान्ता इव नयनानि हर्षाश्रुजलप्लुतानि न बभूवुरपि तु बभूवुरेव । यतोऽन्येभ्यस्तरुणेभ्यो विशेषरम्येऽतिसौभाग्यरूपयुक्त इत्यर्थ ॥९॥ इक्ष्वाकु इति—इक्ष्वाकुप्रभृतिषु क्षत्रचन्द्रेषु वैतालिकैर्वर्ण्यमानेषु तूर्यनादे च उज्जृम्भमाणे उन्मत्तकामटणत्कारितकार्मुकप्रत्यञ्चागम्भीरनादसदृशे । तथा सति किमभूदित्याह— ॥१०॥ करेणु इति—तदनन्तर हस्तिनीमारूढा सा पतिंवरा सुवर्णप्रभाङ्गयष्टिरुभयमञ्चश्रेणिमध्यमार्गं प्रविष्टा । यथा मेघशिखरस्थिता विद्युत्

भगवान्के अद्भुत प्रभावको देख कर समस्त राजाओंके मुख श्याम पड गये थे ॥५॥ उस समय जिनेन्द्र भगवान्का अद्भुत रूप देख कर उन राजाओंने समझा था कि सचमुचका काम तो यही है महादेवने भ्रमसे किसी दूसरेको जलाया था ॥६॥ तदनन्तर मनुष्योंके हजारों नेत्रोंके पात्र भगवान् धर्मनाथ किसी इष्ट जनके द्वारा दिखलाये हुए सुवर्णमय उन्नत सिंहासन पर श्रेणीमार्गसे उस प्रकार आरूढ हुए जिस प्रकार कि इन्द्र वैजयन्त नामक अपने भवनमे आरूढ होता है ॥७॥ रत्नमय सिंहासन पर अधिरूढ श्रीधर्मनाथ कुमार राजाओंकी प्रभाको तिरस्कृत कर इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे जिस प्रकार कि उदयाचल के शिखर पर स्थित चन्द्रमा ताराओंकी प्रभाको तिरस्कृत कर सुशोभित होता है ॥८॥ आनन्दरूपी क्षीरसमुद्रको उल्लासित करने वाले चन्द्रमाके समान अत्यन्त सुन्दर भगवान् धर्मनाथके दिखनेपर किन नगरनिवासिनी स्त्रियोंके नेत्र चन्द्रकान्तमणि नहीं हो गये थे—किनके नेत्रोंसे आनन्दके आँसू नहीं निकलने लगे थे ॥९॥ तदनन्तर जब मगल पाठक लोग इक्ष्वाकुवशीय राजाओंकी कीर्तिको पढ रहे थे और अहकारी कामदेवके द्वारा आस्फालित धनुषकी डोरीके शब्दके समान तुरही वादित्रका शब्द सब ओर फैल रहा था ॥१०॥ तब सुवर्णके समान सुन्दर कान्तिवाली कन्या हस्तिनीपर आरूढ हो विस्तृत सिंहासनोंके मध्य-

१ अथोऽङ्गिना म० घ० ।

सा वागुरा नेत्रकुरङ्गकाणामनङ्गमृत्युञ्जयमन्त्रशक्तिः ।
शृङ्गारभूवल्लभराजधानी जगन्मनःकार्मणमेकमेव ॥१२॥
लावण्यपीयूषपयोधिवेला ससारसर्वस्वमुदारकान्तिः ।
एकाप्यनेकैर्जितनाकनारी नृपैः सकामं ददृशे कुमारी ॥१३॥ युग्मम् ।
[1]एतां धनुर्यष्टिमिवैष मुष्टिग्राह्यैकमध्यां समवाप्य तन्वीम् ।
नृपानशेषानपि लाघवेन तुल्यं मनोभूरिषुभिर्जघान ॥१४॥
यद्यत्र चक्षुः पतितं तदङ्गे तत्रैव तत्कान्तिजले निमग्नम् ।
शेषाङ्गमालोकयितुं सहस्रनेत्राय भूपाः स्पृहयाबभूवुः ॥१५॥
पयोधरश्रीसमये प्रसर्पद्धारावलीशालिनि सप्रवृत्ते ।
सा राजहंसीव विशुद्धपक्षा महीभृतां मानसमाविवेश ॥१६॥
स्वभावशोणौ चरणौ दधत्या न्यस्ते पदेऽन्तःस्फटिकावदातम् ।
उपाधियोगादिव भूपतीनां मनस्तदानीमतिरक्तमासीत् ॥१७॥

गगनं प्रविशति । अत्र मञ्चमार्गान्तरिक्षयोर्हस्तिनीकादम्बिन्योः स्वर्णकान्तिकन्याविद्युतोश्चोपमानोपमेयभावः ॥११॥ सेति—सा सर्वजननयनमृगाणां बन्धनपाशिकेव अथवा त्रिनयनदग्धकामप्रत्युज्जीवनमृत्युञ्जयमन्त्रशक्तिरिव अथवा मृत्युं जयतीति मृत्युंजयः । अस्यां सत्यां कामस्य मृत्युरेव नास्तीति । पुनः किंविशिष्टा । शृङ्गारनृपराजधानी । आहोस्वित् किंबहुना त्रिभुवनजनमनोवशीकरणमेकमेवेति ॥१२॥ लावण्येति—सा लावण्यामृतसमुद्रवेला ससारसर्वस्वभूता अद्भुतप्रभावा सर्वैर्नृपैरेकापि साभिलाषं ददृशे जितदेवाङ्गनारूपातिशया ॥१३॥ एतामिति—तां ललिताङ्गीं मुष्टिमेयमध्यां धनुर्लतामिव गृहीत्वा सर्वान्नृपान् महावेगलाघवेन समं युगपत्सर्वानपि शरैर्बिभेद कामः ॥१४॥ यद्यत्रेति—तस्या अङ्गे यच्चक्षुर्यत्र लग्नं तत्तत्रैव लावण्यजले निमग्नं ततः शेषाङ्गनिरीक्षणश्रद्धालवो नृपाः सहस्रनेत्राय स्पृहयाबभूवुः । चक्षुर्द्वयेन तदङ्गं सर्वं वीक्षितुं न शक्यते सर्वत्राप्यतिशायिरामणीयकत्वात् ततो नेत्रसहस्रं वाञ्छति ॥१५॥ पयोधरेति—सा महीभृतां सर्वेषां राज्ञां चित्ते चमत्कृता । विशुद्धौ मातापित्रोः पक्षौ कुले यस्याः सा तथाविधा । पयोधरश्रीसमये कुचलक्ष्मीकाले सम्प्राप्ते स्फारितमुक्तावलीशोभिते । शुक्लपक्षा हिमालयशिरसि मानसं सरः प्रयाति ॥१६॥ स्वभावेति—तदा

मार्गमें उस प्रकार प्रविष्ट हुई जिस प्रकार कि मेघमालामें विलीन बिजली आकाशके बीच प्रविष्ट होती है ॥११॥ [युग्म] वह कुमारी नेत्ररूपी हरिणोंके लिए जाल थी, कामदेवकी मृत्युको जीतनेवाली मन्त्रशक्ति थी, शृंगाररूपी राजाकी राजधानी थी, संसारके समस्त जीवोंके मनका एक वशीकरण थी ॥१२॥ सौन्दर्यरूपी सुधाके समुद्रकी वेला थी, संसारका सर्वस्व थी, उत्कृष्ट कान्तिवाली थी, देवाङ्गनाओंको जीतनेवाली थी और एक होकर भी अनेक राजाओंके द्वारा काम सहित एक साथ देखी गयी थी ॥१३॥ [युग्म] । जिसका मध्यभाग एक मुट्ठिके द्वारा ग्राह्य था ऐसी उस कुमारीको धनुषयष्टिके समान पाकर कामदेवने बड़ी शीघ्रताके साथ बाणोंके द्वारा समस्त राजाओंको घायल किया था ॥१४॥ उसके जिस-जिस अंगमें चक्षु पड़ते थे वहीं-वहीं कान्तिरूपी जलमें डूब जाते थे अतः अवशिष्ट अंग देखनेके लिए राजा लोग सहस्र नेत्र होनेकी इच्छा करते थे ॥१५॥ हिलते हुए हारोंके समूहसे सुशोभित [पक्षमें चलती हुई धाराओंसे सुशोभित] स्तनोंकी शोभाका समय—तारुण्यकाल [पक्षमें वर्षाऋतु] प्रवृत्त होने पर विशुद्ध पक्ष वाली [पक्षमें श्वेत पखों वाली] वह राज-हंसी—श्रेष्ठ राजकुमारी [पक्षमें हंसी] राजाओंके मनरूपी मानस सरोवर में प्रविष्ट हो गयी थी ॥१६॥ स्वभावसे रक्तवर्ण चरण धारण करने वाली राजकुमारीने ज्योंही भीतर चरण

१ एका क० ।

अहो समुन्मीलति धातुरेषा शिल्पक्रियाया परिणामरेखा।
जगद्द्वयं मन्मथवैजयन्त्या यया जयत्येष मनुष्यलोक ॥१८॥

धनुर्लता भ्रूरिषव कटाक्षा स्तनौ च सर्वस्वनिधानकुम्भौ।
सिंहासन श्रोणिरतुल्यमस्या कि किं न योग्य स्मरपार्थिवस्य ॥१९॥

मङ्क्तु जले वाञ्छति पद्मिन्दुर्व्योमाङ्गण सर्पति लङ्घनार्थम्।
क्लिश्यन्ति लक्ष्म्या सुदृशा हृतायाः [1]प्रत्यागमार्थं कति न त्रिलोक्याम् ॥२०॥

कुत सुवृत्त स्तनयुग्ममस्या नितम्बभारोऽपि गुरु कथ वा।
येन द्वयेनापि महोन्नतेन समाश्रित मध्यमकारि दीनम् ॥२१॥

यद्वर्ण्यते निर्वृतिधाम धन्यैर्ध्रुव तदस्या स्तनयुग्ममेव।
नो चेत्कुतस्त्यक्तकलङ्कपङ्का युक्ता गुणैरत्र वसन्ति मुक्ता ॥२२॥

भूपतीना चेतस्ता प्रति भृश रक्तमासीत् अतश्च ज्ञायते सहजरक्तौ चरणौ दधानायास्तस्या सचारयोगादिव स्फटिकावदात सहजनिर्मलम्। यथा जपापुष्पादिसनिधाने निर्मलस्फटिकादिक शोणच्छायामातनुते तथा शुद्धमपि चित्त रक्तपदन्यासयोगादिव रक्तमित्यर्थ ॥१७॥ अहो इति—अहो ब्रह्मण एषा विज्ञानपरमकाष्ठा क्रियाया परिणामलेखा एषा विज्ञायते यया अमुया मध्यलोक स्वर्ग पाताल च जयति मन्मथपताकया। अस्या प्रादुर्भूताया भुवनद्वयसकाशान्मनुष्यलोक प्रभावीत्यर्थ ॥१८॥ धनुरिति—अस्या मृगाक्ष्या अङ्गावयवा स्मरनृपस्य राज्योपकरण किं किं न यान्ति अपि तु यान्त्येव। तथाहि—भ्रूलता धनुर्यष्टि कटाक्षा बाणा स्तनौ सर्वस्वनिधानकुम्भौ श्रोणीतट सिंहासनमिति ॥१९॥ मङ्क्तुमिति—अमुया मृगाक्ष्या लुण्टितलक्ष्मीका कति कति चन्द्रादयो निजश्रीप्रतिलाभाय न प्रतियतन्त एव। तथाहि पद्म सदा जले मिमङ्क्षति, चन्द्रो व्योमप्रान्त प्रतिदिन याति, निजापहृतश्रीप्रत्यागमोपाय चिन्तयन्निव ॥२०॥ कुत इति—यस्या स्तनयुग्म कथ सुवृत्तम्। कथ वा नितम्बभारो गुरुतम। येन द्वयेनाप्यवलग्न कृशतर बभूव। अन्यत्र यो हि सुवृत्त सुशीलो यश्च गुरुर्भवति स निजसेवक मध्य मध्यस्थ साधुजन न दीन करोति ॥२१॥ यदिति—यन्निर्वृतिधाम मोक्षस्थान धन्यैस्तत्त्ववेदिभि कथ्यते ध्रुव निश्चयेन तन्मन्ये अस्या स्तनमण्डलमेव नो चेद्दृश्यताम् त्यक्तससारदोषा ज्ञानादि-

रखा त्योंही राजाओंका स्फटिकके समान स्वच्छ मन उपाधिके संसर्गसे ही मानो उस समय अत्यन्त अनुरक्त [पक्षमे लालवर्ण] हो गया था ॥१७॥ यह नरलोक कामदेवकी पताका तुल्य जिस श्रृंगारवतीके द्वारा दोनों लोकों—ऊर्ध्व एवं अधोलोकोंको जीतता था आश्चर्य है कि वह विधाताके शिल्प निर्माणकी अन्तिम रेखा थी ॥१८॥ उसकी भौंह धनुपलता थी, कटाक्ष बाण थे, स्तन सर्वस्व खजानेके कलश थे और नितम्ब अतुल्य सिंहासन था इस प्रकार उसका कौन-कौनसा अग कामदेवरूपी राजाके योग्य नहीं था ? ॥१९॥ कमल जलमे डूबना चाहता है और चन्द्रमा उल्लंघन करनेके लिए आकाशरूपी आँगनमे गमन करता है सो ठीक ही है क्योंकि उस सुलोचनाके द्वारा अपहृत लक्ष्मीको पुनः प्राप्त करनेके लिए तीनों लोकोंमे कितने लोग क्लेश नहीं उठाते ? ॥२०॥ इसका यह स्तनयुगल सुवृत्त सदाचारी [पक्षमे गोलाकार] और नितम्बभार गुरु—उपाध्याय [पक्षमे स्थूल] कैसे हो सकता था जिन दोनोंने कि स्वयं अत्यन्त उन्नत होकर अपने आश्रित मध्यभागको अत्यन्त दीन बना दिया था ॥२१॥ धन्य पुरुषोंके द्वारा जो मुक्तिधामका वर्णन किया जाता है निश्चयसे वह इसका स्तनयुगल ही है। यदि ऐसा न होता तो यहाँ कलकरूपी पंकसे रहित और सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे [पक्षमे तन्तुओंसे] युक्त मुक्त सिद्ध परमेष्ठी [पक्षमे मुक्ताफल] क्यों निवास

१ प्रत्यागतार्थं छ०।

इत्यङ्गशोभातिशयेन तस्याश्चमत्कृताश्चेतसि चिन्तयन्त. ।
मनोभवास्त्रैरिव हन्यमाना' शिरासि के के दुधुवुर्न भूपा ॥२३॥
मन्त्रान्निपेठुस्तिलकान्यकार्षुर्ध्यानं दधुश्चिक्षिपुरिष्टचूर्णम् ।
इमां वशीकर्तुमनन्यरूपा किं किं न चक्रुर्निभृत नरेन्द्रा. ॥२४॥
शृङ्गारलीलामुकुरायमाणान्यासन्नृपाणा विविधेङ्गितानि ।
कन्यानुरागि प्रतिबिम्ब्यमान व्यक्त मनोऽलक्ष्यत यत्र तेषाम् ॥२५॥
कदर्पकोदण्डलतामिवैको भ्रुव समुत्क्षिप्य सम सुहृद्भि ।
करप्रयोगाभिनयप्रगल्भा विलासगोष्ठी रसिकश्चकार ॥२६॥
स्कन्धे मुहुर्वक्रितकन्धरोऽन्य कस्तूरिकायास्तिलक ददर्श ।
अभ्युद्धरत्युद्धुरवैरिवार्धेर्वसुन्धरापङ्कमिवात्र लग्नम् ॥२७॥
लीलाचलत्कुण्डलरत्नकान्त्या कर्णान्तकृष्ट धनुरैन्द्रमन्य ।
अदर्शयच्चन्द्रधिया गतस्य सङ्ग मृगस्येव मुखे निषेद्धुम् ॥२८॥

गुणयुक्ता सिद्धा अत्र असन्ति पक्षे तन्तुप्रोतानि मुक्ताफलानि ॥२२॥ इतिति—इति पूर्वोक्तप्रकारेण अङ्गलक्ष्मीसौभाग्यभरप्रभावेण मनसि विस्मिता राजान शिरासि कम्पयाचक्रिरे। अतश्च ज्ञायते कामबाणघातैस्ताडिता इव ॥२३॥ मन्त्रानिति—बहिर्निगूहिताकार यथा स्यादेव ता वशीकर्तुं नरेन्द्रा बीजाक्षरप्रभावानुच्चारयामासु । वश्यौपधविशेषैस्तिलकानि कृतवन्त । ध्यान सप्रभावचित्तैकाग्र्य नाटयामासु । वश्यचूर्णं च समुख क्षिपन्ति स्मेति ॥२४॥ शृङ्गारेति—तदानी सर्वेषा कामकदर्थिताना नृपाणा विविधानि चेष्टितानि बभूवु शृङ्गारदर्पणसदृशानि शृङ्गारलीलावलोकनाय दर्पण इत्यर्थ । कथ दर्पणसादृश्यमित्याह—येन कारणेन कन्यालाभाभिलाषुक तेषा चित्त प्रतिबिम्ब्यमानम् । चेष्टितैस्तेषा मनस्ता प्रति कामग्रहिल ज्ञायत इति भाव ॥२५॥ कंदर्पेति—कामधनुर्लतामिव सविलास भ्रूलतामुत्क्षिप्य रहस्यमित्रै सार्ध हस्तप्रयोगाभिनयप्रगल्भा विलासगोष्ठी कश्चिद्रसभाववेदी चकार ॥२६॥ स्कन्ध इति—कश्चिद् ग्रीवा वक्रीकृत्य निजस्कन्धे कस्तूरिकातिलकमद्राक्षीत् दर्पिष्ठदुष्टसमुद्रात् भूभारमुद्धाने लग्नपङ्कलवमिव ॥२७॥ लीलेति—अन्य कश्चिद्रत्नकुण्डलतेजोभिर्निर्मित शक्रचाप विस्फारयामास कर्णसमीपस्थितम् । किमर्थमित्याह—मृगाङ्कबुद्धया समभिधावमानस्य कुरङ्गस्य निजमुखे स्थान निषेद्धुम् । मुख चन्द्राधिक निष्कलङ्कत्वात् मृगे च सगते मृगाङ्कतुल्य स्यादिति मृग प्रतिषेधयति ॥२८॥

करते ? ॥२२॥ इस प्रकार उसके शरीरकी शोभाके अतिशयसे चमत्कृत हो चित्तमे कुछ-कुछ चिन्तन करनेवाले कौन-कौन राजा मानो कामदेवके शस्त्रोसे आहत होकर ही अपने शिर नहीं हिला रहे थे ॥२३॥ राजा लोग चुपचाप मन्त्र पढ रहे थे, तिलक कर रहे थे, ध्यान रख रख रहे थे और इष्टचूर्ण फेंक रहे थे इस प्रकार अनन्य सुन्दरीको वश करनेके लिए क्या-क्या नहीं कर रहे थे ॥२४॥ राजाओंकी विविध चेष्टाएँ मानो शृगार लीलाके दर्पण थीं इसीलिए तो उनमें कन्याके अनुरागसे युक्त राजाओंका मन प्रतिबिम्बित होता हुआ स्पष्ट दिखाई देता था ॥२५॥ कोई एक रसीला राजकुमार कामदेवकी धनुपलताके समान भौंहको ऊपर उठाकर मित्रोंके साथ कर-प्रयोगके अभिनयसे पूर्ण विलास-गोष्ठी कर रहा था ॥२६॥ कोई दूसरा राजकुमार बार-बार गर्दन टेढी कर कन्धेपर लगा हुआ कस्तूरीका तिलक देख रहा था। उसका वह तिलक ऐसा जान पडता था मानो उत्कट शत्रुरूपी समुद्रसे पृथिवीका उद्धार करते समय लगा हुआ पंक ही हो ॥२७॥ कोई एक राजकुमार मुखमे चन्द्रमाकी बुद्धिसे आये हुए मृगका सम्बन्ध रोकनेके लिए ही मानो लीलापूर्वक हिलते हुए कुण्डलके रत्नोंकी कान्तिके द्वारा कर्णपर्यन्त खींचा हुआ इन्द्रधनुप दिखला रहा था ॥२८॥

१ प्रवाला म० घ० ।

व्यराजतान्यो निजनासिकाग्रे निधाय जिघ्रन्करकेलिपद्मम् ।
सदस्यलक्ष्य कमलाश्रितेव श्रियानुरागात्परिचुम्ब्यमान ॥२९॥

कश्चित्कराभ्या नखरागरक्त सलीलमावर्तयति स्म हारम् ।
स्मरास्त्रभिन्ने हृदयेऽस्रधाराभ्रमजनाना जनयन्तमुच्चै ॥३०॥

ताम्बूलरागोल्वणमोष्ठबिम्ब प्रमार्जयञ्शोणकराङ्गुलीभि ।
पिबन्निवालक्ष्यत दन्तकान्तिच्छलेन शृङ्गारसुधामिवान्य ॥३१॥

अथ प्रतीहारपदे प्रयुक्ता श्रुताखिलक्ष्मापतिवृत्तवशा ।
प्रगल्भवागित्यनुमालवेन्द्र नीत्वा सुभद्राभिदधे कुमारीम् ॥३२॥

अवन्तिनाथोऽयमनिन्द्यमूर्तिरमध्यमो मध्यमभूमिपाल ।
ग्रहा ध्रुवस्येव समग्रशक्तेर्यस्यानुवृत्ति विदधुर्नरेन्द्रा ॥३३॥

त्रुटयत्सु वेलाद्रितटेषु नश्यत्युदग्रदिक्कुञ्जरचक्रवाले ।
यस्य प्रयाणे पटहप्रणादे स्पष्टाट्टहासा इव रेजुराशा ॥३४॥

व्यराजतेति—अन्य कश्चित् नासिकाग्रे क्रीडापद्म कृत्वा सभायामलक्ष्य यथा स्यादेव कमलावासया लक्ष्म्या दृढानुरागवशात्परिचुम्ब्यमान इव । लक्ष्मी सभायामपि क्षणमात्र मोक्तु न प्रगल्भते तत प्रच्छन्न चुम्बति ॥२९॥ कश्चिदिति—कश्चित्सविनोद हार लालयाचकार । किंविशिष्टम् । शोणकरजकिरणरागरक्तम् । अतश्च कन्दर्पबाणविदारित इव हृदये रुधिरधारासादृश्य समुत्पादयन्तम् ॥३०॥ ताम्बूलेति—कश्चित्ताम्बूलरागरक्त बिम्बाधर शोणकराङ्गुलीभि प्रमार्जयन् दृष्टस्तरलदन्तकान्तिव्याजेन पीयूषधारा पिबन्निव ॥३१॥ अथेति—अथानन्तर प्रतीहारपदाधिकृता ज्ञातसमस्तभूपतिवृत्तान्तान्वया प्रगल्भवचना मालवराजसमीपे नीत्वा सुभद्रा नामधेया ता कुमारी बभाषे ॥३२॥ अवन्तीति—हे शृङ्गारवति ! अय भद्रमूर्तिरवन्तिनाथो मालवपतिरमध्यम सर्वोत्तमो भरतक्षेत्रस्य मध्यभूमिं नाभिभूता पालयतीति 'उज्जयिनी हि भरतक्षेत्रनाभिरिति वचनात् । अस्य राजान सर्वेऽपि समग्रसामग्रीसमेतस्य सेवा कुर्वन्ति । यथा मध्यभूतस्य ध्रुवस्य सूर्यप्रभृतयो गृहा प्रान्ते वर्तमाना ॥३३॥ त्रुट्यत्स्विति—यस्य यात्राया पटहध्वानै कुलाचलशृङ्गेषु पतत्सु दिग्गजेषु च पलाय-

---

कोई दूसरा राजकुमार हाथका क्रीडाकमल अपनी नाकके अग्रभागके समीपकर सूँघ रहा था अतः ऐसा जान पडता था मानो सभामे अलक्ष्य--गुप्तरूपसे कमलवासिनी लक्ष्मीके द्वारा अनुरागवश चुम्बित ही हो रहा हो ॥२९॥ कोई राजा अपने हाथोंके द्वारा नाखूनोंकी लालिमासे रक्तवर्ण अतएव कामदेवके शस्त्रोंसे भिन्न हृदयमे लोगोंके रुधिरधाराका भारी भ्रम उत्पन्न करनेवाले हारको लीलापूर्वक घुमा रहा था ॥३०॥ और कोई एक राजकुमार पानकी लालिमासे युक्त ओष्ठबिम्बको हाथकी लाल-लाल अगुलियोंसे साफ कर रहा था अतः ऐसा जान पड़ता था मानो दाँतोंकी कान्तिके छलसे शृंगार-सुधाका पान ही कर रहा हो ॥३१॥ तदनन्तर जिसने समस्त राजाओंके आचार और वश पहलेसे सुन रखे हैं तथा जिसके वचन अत्यन्त प्रगल्भ हैं—गाम्भीर्यपूर्ण हैं ऐसी सुभद्रा नामक प्रतीहारी राजकुमारीको मालव नरेशके पास ले जाकर इस प्रकार बोली—॥३२॥ यह निर्दोष शरीरका धारक अवन्ति देशका राजा है जो मध्यम न हो कर भी [पक्षमे उत्तम होकर] मध्यम लोकका पालक है अथवा भारतवर्षकी मध्यभूमिका रक्षक है और जिस प्रकार समस्त ग्रह ध्रुव नक्षत्रका अनुगमन करते हैं उसी प्रकार समस्त राजा जिस सर्वशक्तिसम्पन्नका अनुगमन करते हैं ॥३३॥ जिसके प्रस्थानके समय समुद्रके तटवर्ती पर्वतोंके किनारे टूटने लगते हैं और ऊँचे-ऊँचे दिग्गजोंके मण्डल नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं अतः नगाडोंके शब्दों-

नि क्षत्रियादेव रणान्निवृत्तो विनार्थिन कामपुषश्च दानात् ।
अभूत्कर' केवलमस्य कान्तापृथुस्तनाभोगविभोगयोग्यः ॥३५॥

अस्येदमावर्जितमौलिमालाभृङ्गच्छलेनाह्रियुग नरेन्द्राः ।
के के न भूपृष्ठलुठल्ललाटभ्रष्टोद्भटभ्रूकुटय' प्रणेमुः ॥३६॥

एन पतिं प्राप्य दिवाप्यवन्तीप्रासादश्रृङ्गाग्रजुषस्तवायम् ।
सिप्रातटोद्यानचकोरकान्तानेत्रोत्सवायास्तु चिर मुखेन्दु' ॥३७॥

ततः सुभद्रावचनावसाने श्रीमालवेन्द्रादवतारिताक्षीम् ।
नीत्वा नरेन्द्रान्तरमन्तरज्ञा पतिंवरा ता पुनरित्यवोचत् ॥३८॥

दुष्कर्मचिन्तामिव यो निषेद्धु विवेश चित्ते सततं प्रजानाम् ।
विलोक्यता दुर्नयवह्निपाथ सोऽयं पुरस्तान्मगधाधिनाथ ॥३९॥

मानेषु तत पूर्वोक्तमद्भुतहास्यकारणं निरीक्ष्य उच्चैर्महाशब्दमट्टहासमिव दिगङ्गनाश्चक्रु ॥३४॥ नि क्षत्रियादिति—अस्य कर कान्तापीनस्तनपरिणाहसभोगयोग्य एव बभूव । किमिति खड्गादाने च न प्रवर्तत इत्याह—सग्रामक्रीडाया अभावात् । कुत सग्रामाभाव ? शात्रवाभावात् । दानेऽपि न यथा याचकाभावात् । कुतो याचकाभाव । सर्वप्रीणितत्वात् । तत केवल स्त्रीस्तनस्तवककेलिकौतूहले रसिक एवैतत्कर ॥३५॥ अस्येति—अस्य पादयुगल समस्तभूपाला नमश्चक्रु । किंविशिष्टा । भूपृष्ठलुठल्ललाटपतितोद्भटभ्रुकुटिभङ्गा इव । केन आकृष्टमौलिपुष्पमालाभृङ्गपङ्क्तिव्याजेन अवनमनात् पतिता पुष्पमाला तस्या या भ्रमरश्रेणी सा भ्रुकुटिरिव तेषा पतितेत्यर्थ ॥३६॥ एनमिति—एन मालवपतिं परिणेतार लब्ध्वा उज्जयिनीप्रासादवातायनस्था सिप्रानदीतीरसश्रिताना चकोरेणा नेत्रप्रीतये दिवापि मुखचन्द्र दर्शय ॥३७॥ तत इति—तत सुभद्रा प्रतीहारीवचनावसाने मालवराजाद् व्यावर्तितदृष्टिमन्य नरेन्द्र नीत्वा ता पुनरप्युवाच । अन्तरज्ञा सर्वराजस्वरूपज्ञा ॥३८॥ दुष्कर्मेति—हे श्रृङ्गारवति ! त्वया स मगधदेशाधिपो निरीक्ष्यताम् य किम । य प्रतापचमत्कारेण सर्वेषा लोकाना हृदयप्रविष्टो वर्तते । अतश्च ज्ञायते—चौर्यादिविकल्प प्रतिषेद्धुमिव । अन्यायविकल्पनेऽपि प्रजाना न

से दिशाएँ ऐसी सुशोभित होने लगती हैं मानो अट्टहास ही कर रही हों ॥३४॥ क्षत्रियोंका अभाव होनेके कारण रणसे और याचक न होनेके कारण इच्छापूरक दानसे निवृत्त हुआ इसका हाथ केवल स्त्रियोंके स्थूल स्तन प्रदेशके भोगके योग्य रह गया है ॥३५॥ इसके चरणयुगलको कौन-कौन राजा प्रणाम नहीं करते ? प्रणाम करते समय राजाओंके झुके हुए मस्तकोंकी मालाओंसे जो भ्रमर निकल पडते हैं उनके छलसे ऐसा जान पडता है मानो पृथिवीके पृष्ठपर लोटते हुए ललाटोंसे विकट भौंहें ही टूट कर नीचे गिर रही हों ॥३६॥ इस पतिको पाकर जब तुम उज्जयिनीके राजमहलके शिखरके अग्रभागपर अधिरूढ होओगी तब रात्रिकी बात जाने दो दिनके समय भी तुम्हारा यह मुखचन्द्र सिप्रा नदीके तटवर्ती उद्यानमें विद्यमान चकोरीके नेत्रोंको आनन्द करनेवाला होगा ॥३७॥ तदनन्तर वचन समाप्त होनेपर भी मालव नरेशसे जिसने अपनी दृष्टि हटा ली है ऐसी कन्याको अन्तरगका अभिप्राय जाननेवाली सुभद्रा दूसरे राजाके पास ले जाकर पुनः इस प्रकार कहने लगी ॥३८॥ जो दुष्कर्मका विचार रोकनेके लिए ही मानो सदा प्रजाके मनमें प्रविष्ट रहता है और जो अन्यायरूपी अग्निको बुझानेके लिए जलके समान है ऐसे इस मगधराजको आगे देखिए

---

१ नाङ्घ्रियुग म० घ० ।

सुख समुत्सारितकण्टकस्य बभ्राम कीर्तिर्भुवनत्रयेऽस्य ।
विशालवक्षःस्थलवासलुब्धा दूरान्नृपश्री पुनराजगाम ॥४०॥
महीभुजानेन[1] गुणैर्निबद्ध गोमण्डल पालयता प्रयत्नात् ।
अपूरि पूरै पयसामिवान्तर्ब्रह्माण्डभाण्ड विशदैर्यशोभि ॥४१॥
ज्ञातप्रमाणस्य यशोऽप्रमाण वृद्धास्य जज्ञे तरुणस्य लक्ष्मी ।
दैवात्ततोऽतुल्यपरिग्रहस्य त्वमेव कल्याणि भवानुरूपा ॥४२॥
विदारयन्ती विषमेषुशक्त्या मर्माणि तस्मादहितस्वरूपात् ।
आकृष्यमाणापि तया प्रयत्नात्पराङ्मुखी चापलतेव साभूत् ॥४३॥
स्फुरत्प्रतापस्य ततोऽङ्गभर्तु सूर्याशुराशेरिव सनिकर्षम् ।
कुमुद्वती सा सरसीव कृच्छ्रान्निनाय चैनामिति चाभ्यधत्त ॥४४॥

सहते किमुत दुष्टाचरण यतोऽसौ दुर्नयवह्निपाथ अन्यायाग्निजलरूप ॥३९॥ सुखमिति—अस्य कीर्तिस्त्रिभुवनेषु सुख परिभ्रान्ता । समुत्सारिता उद्धृता उत्पाटिता कण्टका अन्यायकारिणो येन स तस्य पक्षे निष्कण्टकभूतले सुकुमारा स्त्री सुखेन भ्राम्यति । साम्राज्यलक्ष्मी पुनर्दूरादागच्छति स्म । कथ कीर्तिरिव न परिभ्राम्यतीत्याह—विशालवक्ष स्थलवासलुब्धा पृथुलहृदयसुखवासाभिलाषिणी ॥४०॥ महीभुजेति—अनेन राज्ञा गुणै सन्धिविग्रहादिभि प्रतापादिभिर्वा नियुक्त भूवलय पालयता दुग्धपूरैरिव भुवनभाण्ड यशोभि पूरित विशदैर्निर्मलैर्यथा गोपालो गोवृन्द गुणैर्निबद्ध सदानित चारयन् दोहिनी दुग्धेन बिभर्ति ॥४१॥ ज्ञातेति—अस्य प्रमाणशास्त्रवेदिनोऽप्रमाणा भुवनातिक्रान्ता कीर्तिरभूत् । अस्य यूनोऽपि साम्राज्यस्य लक्ष्मीर्वृद्धा महती बभूव । ततोऽस्यातुल्यपरिवारस्य विसदृशस्त्रीकस्य हे कल्याणि ! अनुरूपा योग्यसबन्धा त्व तरुणी तरुणश्चाय ततो योग्य सबन्ध । अग्रे पुन प्रमाणज्ञस्याप्रमाणा कीर्तिस्तरुणस्य वृद्धा लक्ष्मीरिति विसदृशबन्ध । त्व च सर्वगुणैरन्वितेति भाव ॥४२॥ विदारयन्तीति—सा तस्मान्मगधनाथात् पराङ्मुखी बभूव । कामभावोत्पादनेन मर्माणि कृन्तती । तस्मादहितस्वरूपादरुचितमूर्ते । तया सुभद्रया वरणाय प्रेर्यमाणापि । यथा धनुर्यष्टिराकृष्यमाणा योधेन शत्रो पराङ्मुखीभवति । विषमनाराचशक्त्या मर्माणि भिन्दाना ॥४३॥ स्फुरदिति—ततोऽनन्तरमङ्ग-

---

॥३९॥ समस्त क्षुद्र शत्रुरूपी कण्टकोंको दूर करनेवाले इस राजाकी कीर्ति तीनों लोकोंमें सुखसे भ्रमण करती है परन्तु विशाल वक्षःस्थलपर निवास करनेकी लोभी राजलक्ष्मी दूर-दूरसे आती रहती है ॥४०॥ सन्धि, विग्रह आदि गुणोंसे वशीभूत गोमण्डल—पृथिवीमण्डल [पक्षमें रस्सियोंसे निबद्ध गोसमूह] का प्रयत्नपूर्वक पालन करनेवाले इस राजाने दूधके प्रवाहके समान उज्ज्वल यशके द्वारा समस्त ब्रह्माण्डरूपी पात्रको भर दिया है ॥४१॥ चूँकि यह राजा स्वय ज्ञातप्रमाण है—सुविदितप्रमाण—परिमाणसे युक्त है [पक्षमे प्रमाणशास्त्र—न्यायशास्त्रको जाननेवाला है] परन्तु इसका यश अप्रमाण है—अपरिमित है [पक्षमे प्रमाण—न्यायशास्त्रके ज्ञानसे रहित है]। यह स्वयं तरुण है परन्तु इसकी लक्ष्मी [पक्षमे स्त्री] वृद्धा है—बूढी है [पक्षमे विस्तृत है] अतः हे कल्याणि ! दैववश अतुल्य परिग्रह—अनुपम वैभव [पक्षमे विसदृश स्त्री] को धारण करनेवाले इस राजाकी तुम्हीं अनुकूल भार्या होओ ॥४२॥ जिस प्रकार विषम बाणोंकी शक्तिसे मर्मको विदारण करनेवाली धनुर्लता आकृष्यमाण होनेपर भी शत्रुसे पराङ्मुख होती है उसी प्रकार विषमबाण—कामकी शक्तिसे मर्मको विदारण करनेवाली वह राजकुमारी प्रतिहारीके द्वारा प्रयत्नपूर्वक आकृष्यमाण होनेपर भी—प्रेरित होनेपर भी अनिष्ट रूपको धारण करनेवाले उस राजासे पराङ्मुख हो गयी ॥४३॥ जिस प्रकार सरसी देदीप्यमान प्रताप—प्रकृष्ट तापकी धारक सूर्यकिरणोंके समूहके

---

१ महीभुजा तेन म० घ० ।

अङ्गोऽप्यनङ्गो हरिणेक्षणाना राजाप्यसौ चण्डरुचि' परेषाम् ।
भोगैरहीनोऽपि हतद्विजिह्व को वा चरित्र महतामवैति ॥४५॥

वक्त्रेषु विद्वेषिविलासिनीनामुदश्रुधाराप्रसर[1]च्छलेन ।
भेजु' कथंचिन्न पुन प्ररोहमुत्खातमूला इव पत्रवल्ल्य ॥४६॥

सख्येषु साक्षीकृतमात्मसैन्यं खड्गोऽपि वश्यप्रतिभूरुपात्त ।
कृतार्थवत्पत्रपरिग्रहेण दासीकृतानेन विपक्षलक्ष्मी ॥४७॥

गङ्गामुपास्ते श्रयति त्रिनेत्र स्व निर्जरेभ्य प्रविभज्य दत्ते[2] ।
अस्याननेन्दुद्युतिमीहमानो व्योमापि धावन्नधिरोहतीन्दु ॥४८॥

देशाधिपतिसमीपे नीत्वा पुन सुभद्रा ता पतिंवरा व्याजहार । यथा सरसी कुमुद्वती स्फुरत्प्रतापस्य सूर्यांशुसमूहस्य समीप नीत्वा स्थापयति । कुमुदिनीसूर्ययोरुपमानोपमेयभावेन तस्या अङ्गनाथो भर्त्ता न भविष्यतीति सूचयतीति ॥४४॥ अङ्ग इति—विरोधाभासमुद्भावयन् निरूपयति । अयमङ्गनाथोऽपि कामिनीनामनङ्ग कामरूप । राजापि चण्डप्रताप पक्षे चन्द्रोऽप्युष्ण । परेषा रिपूणा भोगै परिपूर्णसौख्यैर्युक्तोऽपि हतदुर्जन पक्षे सर्पशरीरै शेषोऽपि हतसर्प इति विरोध । अथवा महतामीदृशस्वरूपाणा चरित्र कोऽवैति को जानाति न कोऽपीत्यर्थ ॥४५॥ वक्त्रेष्विति—अस्य शत्रुस्त्रीणा गण्डस्थलेषु पत्रवल्ल्य प्ररोह न भजन्ति । किं कारणमित्याह—उत्पाटितमूला इव । उद्गतवाष्पधाराव्याजेन । अश्रुधाराकदम्बकम् [उत्पाटित] पत्रवल्लीमूलकदम्बकमिवेत्यर्थ । अन्यापि वल्ली समुत्खातमूला सती प्रयत्नशतेनापि न प्ररोहति ॥४६॥ सख्येष्विति—अनेन सग्रामाङ्गणेषु लक्ष्मीर्दासीकृता । दासीकरणे यत्पत्राक्षरादिक क्रियते तदर्थमाह—सैन्यसभारेण गृहीता शत्रुश्रीर्भविष्यति तत्र साक्षिमात्रीकृतात्मचतुरङ्गवल पक्षे साक्षित्वप्रदायक चतुरङ्गबलम् । निजहस्तवर्ती खड्ग एव प्रतिभू पत्रार्थविधे कारापक । कृतार्थवत्पत्रपरिग्रहेण कृतार्थवत्कार्यकारी हस्तिरथाश्वादिपरिग्रहो येन पक्षे सर्वपत्राक्षरस्वीकारेण ॥४७॥ गङ्गामिति—अस्य मुखलक्ष्मी लिप्समानश्चन्द्रो गङ्गालक्षणमहातीर्थमुपसेवते । शङ्करमाराधयति । स्व निजशरीर देवेभ्यो विभागीकृत्य ददाति । किं बहुना सकले गगनेऽपि भ्राम्यति तथा-

पास कुमुद्वती—कुमुदिनीको ले जाती है उसी प्रकार वह प्रतीहारी कुमुद्वती—अनिष्ट संसर्गकी सम्भावनासे कुत्सित हर्षको धारण करनेवाली उस इन्दुमतीको देदीप्यमान प्रताप—तेजके धारक अंगराजके समीप ले जाकर निम्न वचन बोली ॥४४॥ यह राजा यद्यपि अंग है—अंग देशका राजा है फिर भी मृगनयनी स्त्रियोंके लिए अंग है—अंगदेशका राजा नहीं है [पक्षमें काम है] स्वयं राजा—चन्द्र है फिर भी शत्रुओंके लिए चण्डरुचि—सूर्य है [पक्षमें राजा होकर प्रतापी है] और स्वयं भोगोंसे—सर्प शरीरोंसे अहीन—शेषनाग है [पक्षमें भोगोपभोगकी सामग्रीसे सहित है] फिर भी द्विजिह्वों—सर्पोंको नष्ट करनेवाला है [पक्षमें दुर्जनोंको नष्ट करनेवाला है] अथवा ठीक ही तो है महा पुरुषोंके चरित्रको कौन जानता है ? ॥४५॥ इसकी शत्रुस्त्रियोंके मुखोंपर निर्गत अश्रुधाराओंके छलसे मूल उखड़ जानेके कारण ही मानो पत्रलताएँ पुनः किसी प्रकार अंकुरको प्राप्त नहीं होतीं ॥४६॥ इसने युद्धके समय सेनाको साक्षी किया, तलवारको जामिनके रूपमें स्वीकार किया और अन्तमें कृतकृत्यकी तरह पत्र—सवारी [पक्षमें दस्तावेज] लेकर शत्रुओंकी लक्ष्मीको अपना दास बना लिया है ॥४७॥ इसके मुखचन्द्रकी शोभाको चाहता हुआ चन्द्रमा कभी तो गंगाकी उपासना करता है कभी महादेवजीका आश्रय लेता है कभी अपने-आपको [पक्षमें धनको] विभक्त कर देवोंके

१ प्रसरज्जलेन ग० । २. धत्ते म० घ० ।

यद्यस्ति तारुण्यविलासलीलासर्वस्वनिर्वेशमनोरथस्ते ।
तत्कामिनीमानसराजहंस मूर्त्यन्तरानङ्गममुं वृणीष्व ॥४९॥

ग्रीष्मार्कतेजोभिरिव स्मरास्त्रैस्तप्ताप्युदञ्चत्कमलेऽपि तत्र ।
सा पल्वले निर्मलमानसोत्का[1] न राजहंसीव रतिं बबन्ध ॥५०॥

संपूर्णचन्द्राननमुन्नतांसं विशालवक्षःस्थलमम्बुजाक्षम् ।
नीत्वा कलिङ्गाधिपतिं कुमारीं दौवारिकी सा पुनरित्युवाच ॥५१॥

खिन्नं मुहुश्चारुचकोरनेत्रे प्रौढप्रतापार्कविलोकनेन ।
नेत्रामृतस्यन्दिनि राज्ञि साक्षान्निक्षिप्यतां निर्वृतयेऽत्र चक्षुः ॥५२॥

अनारतं मन्दरमेदुराङ्गैः प्रमथ्यमानोऽस्य गजैः पयोधिः ।
शुशोच दुःखान्मरणाभ्युपायं ग्रस्तं त्रिनेत्रेण स कालकूटम् ॥५३॥

प्येतन्मुखलक्ष्मीं न लभते ॥४८॥ यदीति—यदि यौवनसर्वस्वलक्ष्मीसंभोगाभिलाषो भवत्या वर्तते तदा कामिनीमानसराजहंसं द्वितीयं काममेनं वृणीष्व ॥४९॥ ग्रीष्मेति—सा कामशरतप्ता समुल्लसल्लक्ष्मीकेऽपि तस्मिन्नङ्गदेशाधिपे नाभिलाषं चकार । निर्मलमानसे धर्मनाथपुरुषलक्षणे उत्कण्ठिता निर्मलमानसोत्का । यथाग्रीष्मकिरणतप्ता राजहंसी मानससरोवरोत्कण्ठिता गड्डुलकेदारे रतिं न बध्नाति ॥५०॥ संपूर्णेति—अथानन्तरं कलिङ्गदेशाधिपतिं तां पतिंवरां नीत्वा सा प्रतीहारी बभाषे—राकामृगाङ्कसदृशवदनं वृषस्कन्धं कपाटविस्तीर्णवक्षःस्थलं कमलदलदीर्घाक्षमिति ॥५१॥ खिन्नमिति—हे चारुचकोरनेत्रे मदिराक्षि प्रचण्डप्रतापानां भूपतीनां विलोकनेन क्लान्तं चक्षुरस्मिन् कलिङ्गाधिपे नयनामृतवर्षिणि सुखाय त्वया प्रेर्यताम् । यथा कस्याश्चिच्चकोर्याश्चक्षुश्चण्डकिरणावलोकनतप्तं चन्द्रे सुखं लभते ॥५२॥ अनारतमिति—अनवरतं यात्रासु मन्दरबहुलदेहैर्गजेन्द्रैर्जलकेलिं कुर्वद्भिर्मथितः समुद्रो महादुःखान्नीलकण्ठग्रस्तं कालकूटं विषं मरणकारणं शम्भुगृहीतं सशोकं

लिए देता है और कभी दौड़ता हुआ आकाशमें अधिरूढ होता है ॥४८॥ यदि 'यौवन-सम्बन्धी विलास लीलाके सर्वस्वका उपभोग करूँ' ऐसा तेरा मनोरथ है तो स्त्रियोंके मनरूपी मानसरोवरके राजहंस एवं अन्य शरीरको धारण करनेवाले कामदेवस्वरूप इस राजाको स्वीकृत कर ॥४९॥ यद्यपि वह ग्रीष्मकालीन सूर्यके समान तेजस्वी कामके अस्त्रोंसे सन्तप्त थी फिर भी जिस प्रकार निर्मल मानसरोवरमें उत्कण्ठित राजहंसी पल्वल—स्वल्प जलाशयमें प्रेम नहीं करती भले ही उसमें कमल क्यों न खिले हों उसी प्रकार निर्मलमानसोत्का—निर्मल चित्तवाले भगवान् धर्मनाथमें उत्कण्ठित राजकुमारीने उस राजामें प्रेम नहीं किया भले ही वह वर्धमान कमला—लक्ष्मीसे सहित था ॥५०॥ तदनन्तर द्वारपालिनी सुभद्रा, कुमारीको जिसका मुख सम्पूर्ण चन्द्रमाके समान है, कन्धे ऊँचे उठे हुए हैं, वक्षःस्थल विशाल है और नेत्र कमलके समान हैं ऐसे कलिंग देशके राजाके पास ले जा कर इस प्रकार बोली ॥५१॥ हे चकोरके समान सुन्दर नेत्रोंवाली राजकुमारी! अत्यन्त प्रतापी अन्य राजारूपी सूर्यके देखनेसे बार-बार खेदको प्राप्त हुए चक्षु सुख-सन्तोष प्राप्त करनेके लिए नेत्रोंके लिए अमृत झरानेवाले इस राजापर [पक्षमें चन्द्रमापर] साक्षात् डाल ॥५२॥ मन्दर गिरिके समान स्थूल शरीरवाले इस राजाके हाथियोंके द्वारा निरन्तर मथे गये समुद्रने, महादेवजीके द्वारा निपीत मरणके साधनभूत कालकूट विषके प्रति बड़े दुःखके साथ शोक प्रकट किया है। इसके उत्तुंग हाथियों की चेष्टा देख यह यही सोचा करता है कि यदि विष बाहर होता और महादेवजीके द्वारा

१ मानसस्था म० घ० ।

चकर्ष निर्मुक्तशिलीमुखा यत्करेण कोदण्डलता रणेषु ।
जगत्त्रयालंकरणैकयोग्यमसौ यशःपुष्पमवाप तेन ॥५४॥
चेतश्चमत्कारिणमत्युदारं नवं रसैरर्थमिवातिरम्यम् ।
त्वमेनमासाद्य पतिं प्रसन्ना श्लाघ्यातिमात्रं भव भारती वा ॥५५॥
भूतिप्रयोगैरतिनिर्मलाङ्गात्तस्मात्सुवृत्तादपि राजपुत्री ।
आदर्शबिम्बादिव चन्द्रबुद्धया न्यस्तं चकोरीव चकर्ष चक्षुः ॥५६॥
नरप्रकर्षोपनिषत्परीक्षा विचक्षणा दक्षिणभूमिभर्तुः ।
नीत्वा पुरस्तादवरोधरक्षा विदर्भभूपालसुता बभासे ॥५७॥
लीलाचलत्कुण्डलमण्डितास्यः पाण्ड्योऽयमुद्दामरहेमकान्तिः ।
आभाति शृङ्गोभयपक्षसर्पत्सूर्येन्दुरुच्चैरिव काञ्चनाद्रिः ॥५८॥
निर्मूलमुन्मूल्य महीधराणां वंशानशेषानपि विक्रमेण ।
तापापनोदार्थमसौ धरित्र्यामेकातपत्रं विदधे स्वराज्यम् ॥५९॥

सस्मार । नित्यमथनपीडां सोढुं न शक्नोमि ततो यदि कालकूटं भवति तदा भक्षयित्वा म्रिये ॥५३॥ चकर्षेति—यन्निर्मुक्तशिलीमुखा क्षिप्तबाणा धनुर्यष्टिः सङ्ग्रामेष्वाकृष्टवान् । तेन भुवनमण्डनभूतं कीर्तिकुसुममसौ लेभे । यथा कश्चिन्मालिको हस्तेन लतामाकर्षन्नन्यदुर्लभं पुष्पं लभते ॥५४॥ चेत इति—हे शृङ्गारवति ! पतिमेनं प्राप्य प्रसन्ना सहर्षा श्लाघ्यतमा भव । किंविशिष्टम् । विविक्तकलाकौशलेन चित्तचमत्कारकमुदारं निर्लोभं तरुणं रसैः शृङ्गारभावैरतिरम्यम् । यथा कस्यचित्सुकवेर्भारती चित्तचमत्कारकमुदारं नवं रससहितमर्थं प्राप्य श्लाघ्यतमा भवति ॥५५॥ भूतेति—भूतिप्रयोगैः साम्राज्योपचारैर्निर्मलाङ्गादपि तस्मात्सुशीतलादपि सा पतिंवरा चक्षुर्व्यावर्तत । यथा चकोरी भस्मनिर्मलितवर्तुलदर्पणाच्चक्षुश्चन्द्रबिम्बभ्रान्तिपतितमाकर्षति ॥५६॥ नरेति—सावरोधरक्षा सुभद्रा दाक्षिणात्यभूपतेरग्रतो नीत्वा तां पतिंवरामुवाच । किंविशिष्टा । पुरुषप्रधानशास्त्रपरीक्षणविचक्षणा ॥५७॥ लीलेति—अयं पाण्ड्यदेशाधिपो रत्नकुण्डलमण्डितमुखः सुवर्णवर्णः शोभते कटकोभयपार्श्वसञ्चरच्चन्द्रादित्यो मेरुरिव ॥५८॥ निर्मूलमिति—असौ सकललोकस्य सुखस्थितये राज्यमेकातपत्रं चकार

ग्रस्त न होता तो उसे खाकर मैं निश्चिन्त हो जाता—आत्मघात कर लेता ॥५३॥ चूँकि उसने युद्धमें हाथसे, बाण छोड़नेवाली [पक्षमें भ्रमर छोड़नेवाली] धनुषरूपी लताको खींचा था अतः उससे तीनों जगत्को अलङ्कृत करनेके योग्य यशरूपी पुष्प प्राप्त किया था ॥५४॥ जिस प्रकार चित्तमें चमत्कार उत्पन्न करनेवाले, अत्यन्त उदार, नवीन और रसोंसे अत्यन्त सुन्दर अर्थको पाकर सरस्वती अतिशय प्रसन्न—प्रसादगुणोपेत और प्रशंसनीय हो जाती है उसी प्रकार चित्तमें आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली अत्यन्त उदार नवीन एवं रसोंसे अत्यन्त सुन्दर इस पतिको पाकर तुम प्रसन्न तथा अत्यधिक प्रशंसनीय होओ ॥५५॥ यद्यपि वह राजकुमार वैभवके प्रयोगसे अत्यन्त निर्मल शरीरवाला एवं स्वयं सदाचारी था फिर भी राजकुमारीने उससे अपने निक्षिप्त चक्षु उस प्रकार खींच लिये जिस प्रकार कि चकोरी चन्द्र समझ कर निक्षिप्त चक्षुको दर्पणके बिम्बसे खींच लेती है भले ही वह दर्पणका बिम्ब भस्मके प्रयोगसे अत्यन्त निर्मल और गोल क्यों न हो ॥५६॥ मनुष्योंकी प्रकर्षतारूपी उपनिषद्की परीक्षा करनेमें चतुर प्रतिहारी अब विदर्भराजकी पुत्रीको दक्षिण देशके राजाके आगे ले जाकर इस प्रकार कहने लगी ॥५७॥ जिसका मुख लीलापूर्वक चलते हुए कुण्डलोंसे मण्डित है एवं शरीरकी कान्ति उत्तम सुवर्णके समान है ऐसा यह पाण्ड्य देशका राजा उस उत्तुंग सुवर्ण गिरिके समान जान पड़ता है जिसके कि शिखरके दोनों ओर सूर्य चन्द्रमा घूम रहे हैं ॥५८॥ यह सन्ताप दूर करनेके लिए पराक्रमसे राजाओंके समस्त वंशोंको निर्मूल उखाडकर [पक्षमे

अनेन कोदण्डसखेन तीक्ष्णैर्बाणैरसंख्यैः सपदि क्षताङ्गः ।
अभाजनं वीररसस्य चक्रे को वा न संख्येषु विपक्षवीरः ॥६०॥

गृहीतपाणिस्त्वमनेन यूना तन्वि स्वनिःश्वाससहोदराणाम् ।
श्रीखण्डसारा मलयानिलाना सखीमिवालोकय जन्मभूमिम् ॥६१॥

कङ्कोलकैलालवलीलवङ्गरम्येषु वेलाद्रिवनेषु सिन्धोः[1] ।
कुरु स्पृहां नागरखण्डवल्लीलीलावलम्बिक्रमुकेषु रन्तुम् ॥६२॥

दिनाधिनाथस्य कुमुद्वतीव पीयूषभानोर्नलिनीव रम्या ।
सा तस्य कान्तिं प्रविलोक्य दैवान्नानन्दसंदोहवती बभूव ॥६३॥

महीभुजो ये जिनधर्मबाह्या सम्यक्त्ववृत्त्येव तया विमुक्ताः ।
सद्योऽपि पातालमिव प्रवेष्टुं बभूवुरत्यन्तमधोमुखास्ते ॥६४॥

कर्णाटलाटद्रविडान्ध्रमुख्यैर्महीधरैः कैरपि नोपरुद्धा ।
रसावहा प्रौढनदीव सम्यग्रत्नाकरं धर्ममथ प्रपेदे ॥६५॥

समूलं समस्तभूपतीनां कुलान्युन्मूल्य । यथा कश्चिद्देवदत्तो निखिलपर्वतानां कीचकान् गृहीत्वा सकलपृथिव्यास्तापापनोदार्थं छत्रमेकं विदधाति ॥५९॥ अनेनेति—अनेन संग्रामेषु चापसहायेन तीक्ष्णैर्बाणैर्भिन्नहृदयो रिपुवीरो वीररसास्थानं को न चक्रे अपि तु चक्र एव । यथा जलादेश्छिद्रितं घटादिकमभाजनस्थानं भवति ॥६०॥ गृहीतेति—त्वमनेन तरुणेन परिणीता सती निजनिःश्वाससदृशानां मलयानिलानां जन्मभूमिं मलयस्थलीं पश्य श्रीखण्डसारां हरिचन्दनद्रुमव्याप्ताम् ॥६१॥ कङ्कोलेति—कङ्कोलप्रभृतिसुगन्धद्रव्यमनोहरेषु समुद्रवेलागिरिवनेषु नागरखण्डनामधेयताम्बूलवल्लीमालितपूगीफलवृक्षेषु रन्तुं वाञ्छां कुरु ॥६२॥ दिनेति—सा पतिंवरा तस्य कान्तिं विलोक्य सानुरागा न बभूव । यथा कुमुदिनी भास्करस्य यथा चन्द्रस्य च पद्मिनी ॥६३॥ महीभुज इति—ये धर्मनाथं विना राजानस्ते सर्वेऽपि पतिंवरया तया निष्क्रान्ता ततश्च लज्जाभरात्पाताले प्रवेष्टुमिव बभूवुरधोमुखाः । अथ च ये जिनोक्तधर्मबहिर्भूता मिथ्यादृष्टयो राजानस्ते सम्यक्त्ववृत्त्या रत्नत्रयानुभूत्या मुक्ताः सन्तो नियमेन पातालं नरकं प्रविशन्ति । 'नरकान्तं राज्य'मिति वचनात् ॥६४॥ कर्णाटेति—सा न केवलं

पर्वतोंके समस्त बाँस जड़से उखाड़कर] पृथिवीपर एकछत्र अपना राज्य कर रहा है ॥५९॥ इस धनुर्धारी राजाने युद्धके समय अपने असंख्यात तीक्ष्ण बाणोंसे शीघ्र ही क्षतशरीर कर किस शत्रुयोद्धाको वीररसका अपात्र नहीं बना दिया था ॥६०॥ हे तन्वि ! तू इस युवाके द्वारा गृहीतपाणि होकर अपने श्वासोच्छ्वासकी समानता रखनेवाली मलय समीरकी उस जन्मभूमिका अवलोकन कर जो कि चन्दनसे श्रेष्ठ है और तेरी सखीके समान है ॥६१॥ हे तन्वि ! तू कबाब चीनी, इलायची, लवली और लौंगके वृक्षोंसे रमणीय, समुद्रके तटवर्ती पर्वतोंके उन वनोंमें क्रीड़ा करनेकी इच्छा कर जिनमें कि सुपारीके वृक्ष ताम्बूलकी लताओंसे लीलापूर्वक अवलम्बित हैं—लिपटे हुए हैं ॥६२॥ सुभद्राने सब कुछ कहा किन्तु जिस प्रकार सूर्यकी कान्ति देख कुमुदिनी और चन्द्रमाकी कान्ति देख कमलिनी आनन्दके समूहसे युक्त नहीं होती उसी प्रकार वह सुन्दरी भी उस राजाकी कान्तिको देख दैववश आनन्द समूहसे युक्त नहीं हुई ॥६३॥ जो राजा उस शृंगारवतीके द्वारा छोड़ दिये गये थे वे सम्यग्दर्शनकी भावनासे त्यक्त जैनेतर लोगोंके समान शीघ्र ही पाताल [नरक] तलमें प्रवेश करनेके लिए ही मानो अत्यन्त नम्रमुख हो गये—लज्जावश नीचेकी ओर देखने लगे ॥६४॥ तदनन्तर

---

१ तटेषु म० घ० ।

यच्चक्षुरस्या' श्रुतिलङ्घनोत्क यद् द्वेष्टि च भ्रू' स्मृतिजातधर्मम् ।
अद्वैतवादं सुगतस्य हन्ति पदक्रमो यच्च जडद्विजानाम् ॥६६॥
प्रजापतिश्रीपतिवाक्पतीनां तत. समुद्यद्वृषलाञ्छनानाम् ।
मुक्त्वा परेषामिह दर्शनानि सर्वाङ्गरक्तेयमभूज्जिनेन्द्रे ॥६७॥ [युग्मम्]
तथाहि दृष्ट्योभयमार्गनिर्यन्मुदश्रुधारान्वितया मृगाक्षी ।
प्रसारितोद्दामभुजाग्रयेव सोत्कण्ठमालिङ्गति नूनमेनम् ॥६८॥
विभावयन्तीत्यथ मन्मथोत्थ विकारमाकारवशेन तस्या ।
अर्हद्गुणग्रामकथासु किंचिद्विस्तारयामास गिर सुभद्रा ॥६९॥

पूर्वोक्ते कर्णाटप्रभृतिभिरपि राजभिरनिवारिता रसावहा महापुरुषपरीक्षणभावज्ञा रत्नत्रयाधिष्ठानं धर्मनाथ प्राप्ता । यथा काचिज्जलपरिपूर्णा महानदी कर्णाटप्रभृतिपु देशेपु स्थितै पर्वतैरस्खलिता सम्यग्रत्नाकर महासमुद्र प्रयाति ॥६५॥ यदिति—इय पतिवरा जिनेन्द्रसर्वाङ्गरक्ता बभूवेति युग्मेन सवन्ध । यत्किमित्याह—यत एतस्याश्चक्षु श्रवणलङ्घनोत्कण्ठित कर्णान्त यावदित्यर्थ । पक्षे वेदनिर्लोठनपरम् । यच्च भ्रूलता स्मृतिजातस्य कामस्य धर्म धनुर्द्वेष्टि उपहसति । पक्षे स्मृतिसमूहोक्त धर्मं निराकरोति । यच्च पदक्रम पदप्रचारो जडद्विजाना हसाना ललितगमनस्याद्वैतवादमनन्यसाधारणत्व निषेधयति । हसाना ललितगमनगर्वं जयपताका निर्दलयतीत्यर्थ । पक्षे बौद्धस्य क्षणिकाद्वैत ब्रह्माद्वैत च निहन्ति तन्मन्ये अन्यधर्मविरोधकत्वाज्जिनभक्तेयमिति ॥६६॥ प्रजापतीति—न केवल तदुक्तो धर्मो मुक्तोऽनया तद्दर्शनान्यपि मुद्राविशेषाणि मुमुचिरे । केपामित्याह—प्रजापतिर्ब्रह्मा श्रीपतिर्विष्णुर्वाक्पतिर्बृहस्पतिर्वृपलाञ्छन शम्भु एतत्प्रभृतीना पक्षे राजा कश्चित्प्रजापति पदातिबहुल कश्चिन्महाकोश, कश्चिन्महापण्डित, कश्चित् पुण्यात्मा, एतेषा सर्वेपामवलोकनानि मुक्त्वा प्रभुसमीप गता ॥६७॥ तथाहीति—तथाहीति पूर्वोक्तसमर्थने । इय पतिवरा दृष्टचा समाश्लिष्यति । किंविशिष्टया । उभयमार्गनिर्गलद्धर्पाश्रुधारायुक्तया । अतश्च प्रसारितसरलबाहुलतयेव ॥६८॥ विभावयन्तीति—ततश्च तद्दर्शनेन तस्या कामविकार विलोक्य धर्मनाथगुणसमूहकथासु किंचित् सविशेपा वाणी विस्तारयामास

जिस प्रकार उत्तम जलको धारण करनेवाली महानदी किन्हीं भी पर्वतोंसे न रुक कर अच्छी तरह रत्नाकर—समुद्रके पास पहुँचती है उसी प्रकार उत्तम स्नेहको धारण करनेवाली शृंगारवती कर्णाट, लाट, द्रविड़ और आन्ध्र आदि देशोंके किन्हीं भी मुख्य राजाओंसे न रुककर अच्छी तरह रत्नाकर—सम्यग्दर्शनादि रत्नोंकी खान स्वरूप श्री धर्मनाथ स्वामीके समीप पहुँची ॥६५॥ चूँकि इसके नेत्र कानोंके उल्लघन करनेमे उत्कण्ठित थे [पक्षमें वेदोंके उल्लंघन करनेमें उद्यत थे], इसकी भौह कामदेवके धनुषके साथ द्वेष रखती थी [पक्षमें मनुस्मृति आदिमें प्रणीत धर्मके साथ द्वेष रखती थी], और इसके चरणोंका प्रचार [पक्षमे वैदिक प्रसिद्ध पद पाठ] मूढ ब्राह्मणों और बुद्धके अद्वैतवादको नष्ट करता था [पक्षमें—हंस पक्षियोंके सुन्दर गमनकी अद्वैतताको नष्ट करता था] ॥६६॥ अतः यह धर्मविषयक कलंकको धारण करनेवाले [अथवा बैलके चिह्नसे युक्त शम्भु], प्रजापति—ब्रह्मा, लक्ष्मीपति—विष्णु और बृहस्पतिके दर्शनों—सिद्धान्तोंको छोड [पक्षमे साधारण राजा लक्ष्मी सम्पन्न राजा और विद्वान् राजा—इन सबके दर्शनों—अवलोकनोंको छोड] सर्वांग रूपसे एक जिनेन्द्र भगवान्मे ही अनुरक्त हुई थी ॥६७॥ (युग्म) दोनों ओरसे निकलते हुए हर्षाश्रुओंकी धारासे सहित दृष्टिके द्वारा वह मृगाक्षी ऐसी जान पडती थी मानो लम्बी-लम्बी भुजाओंके अग्रभाग फैलाकर बडी उत्कण्ठाके साथ इन धर्मनाथका आलिंगन ही कर रही हो ॥६८॥ तदनन्तर आकारवश उसके काम सम्बन्धी विकारका चिन्तन करनेवाली सुभद्राने जिनेन्द्र भगवान्के गुणसमूहकी कथामे अपनी वाणीको कुछ विस्तृत कर लिया

गुणातिरेकप्रतिपत्तिकुण्ठीकृतामरेन्द्रप्रतिभस्य भर्तुः ।
यद्वर्णनं यद्वचसाप्यमुष्य भानोः प्रदीपेन निरीक्षणं तत् ॥७०॥

इक्ष्वाकुवंशप्रभवः प्रशास्ति महीं महासेन इति क्षितीशः ।
तस्यायमारोपितभूमिभारः श्रीधर्मनामा विजयी कुमारः ॥७१॥

मासान्निशान्ते दश जन्मपूर्वानस्याभवत्पञ्च च रत्नवृष्टिः ।
मया न दारिद्र्यरजो जनानां स्वप्नेऽपि दृग्गोचरतां जगाम ॥७२॥

जन्माभिषेकेऽस्य सुरोपनीतैर्दुग्धाब्धितोयैः प्रविधीयमाने ।
सम्प्लाव्यमानः कनकाचलोऽपि कैलासशैलोपमतां जगाम ॥७३॥

लावण्यलक्ष्मीजितमन्मथस्य किं ब्रूमहे निर्मलमस्य रूपम् ।
वीक्ष्यैव यद्विस्मयतो बभूव हरिर्द्विनेत्रोऽपि सहस्रनेत्रः[1] ॥७४॥

वक्षःस्थलात्प्राज्यगुणानुरक्ता युक्तं न लोलापि चचाल लक्ष्मीः ।
बद्धा प्रबन्धैरपि कीर्तिरस्य बभ्राम यद्भूत्रितयेऽद्भुतं तत्[2] ॥७५॥

सुभद्रा ॥६९॥ गुणेति—गुणातिशयप्रभावमलिनीकृतसुरेन्द्रमाहात्म्यस्य-प्रभोर्मद्वचनेन यद्गुणवर्णनं तदादित्यस्य प्रदीपोज्ज्वालेन निरीक्षणसदृशं यथा प्रदीपेनादित्यरूपप्रकाशनं तथा मद्वचसा जिनगुणवर्णनमिति ॥७०॥ इक्ष्वाकुवंशेति—इक्ष्वाकुवंशे महासेननामा भूपः पृथिवीं पालयति तस्यायं समर्पितभूमिभारः श्रीधर्मनामा विजयी कुमारः ॥७१॥ मासानिति—अस्य षण्मासान् गर्भवासपूर्वं तथा नवमासाश्च गर्भस्थितस्य रत्नवृष्टिरेव पञ्चदशमासान् बभूव । यथा रत्नवृष्ट्या जनैर्दौस्थ्यं स्वप्नेऽपि न दृष्टं यथा वृष्टौ सजातायां धूलिपटलं न दृश्यते तथा दारिद्र्यमपि ॥७२॥ जन्मेति—अस्य जन्माभिषेके सुरश्रेणीसमानीतैः क्षीरसमुद्रजलैः प्रक्षाल्यमानः कनकाचलो मेरुरपि कैलासधवलो बभूव ॥७३॥ लावण्येति—लावण्यप्रभावजितकामसौन्दर्यस्यास्य निर्मलमष्टोत्तरसहस्रलक्षणं किं व्यावर्णयामो वयम् । यस्य रूपं दृष्ट्वा द्विनेत्रोऽपि सहस्रनेत्रो बभूव । एतद्रूपं नयनद्वयेन द्रष्टुं न पारयति ॥७४॥ वक्ष इति—अस्य वक्षःस्थलाद्यल्लक्ष्मीर्न चलिता तद्युक्तं यतोऽसौ प्राज्याः प्रचुरा ये गुणास्तेष्वनुरक्ता बद्धसख्या । अस्याः स्वैरता प्रचुरगुणैः सह सुरतानुभवनेनैव पूर्यते ततो नान्यत्र प्रयातीति भावः । यच्च पुनः प्रबन्धैर्ग्रन्थविस्तरैर्नियन्त्रिता कीर्तिर्भुवनत्रये भ्रान्ता तच्चित्रम् । बद्धस्य हि सर्वत्र भ्रमणं

॥६९॥ गुणाधिक्यकी प्रतिपत्तिसे इन्द्रकी प्रतिभाको कुंठित करनेवाले इन स्वामी धर्मनाथका मेरे वचनोंके द्वारा जो वर्णन है वह मानो दीपकके द्वारा सूर्यका दर्शन करना है ॥७०॥ इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न महासेन नामसे प्रसिद्ध राजा पृथिवीका शासन करते हैं। पृथिवीका भार धारण करनेवाले धर्मनामा राजकुमार उन्हींके विजयी कुमार हैं—सुपुत्र हैं ॥७१॥ इनके जन्मके पन्द्रह माह पहले घर पर वह रत्नवृष्टि हुई थी कि जिससे दरिद्रतारूपी धूलि मनुष्योंके स्वप्नगोचर भी नहीं रह गयी थी ॥७२॥ देवोंके द्वारा लाये हुए क्षीरसमुद्रके जलसे जब इनका जन्माभिषेक हुआ था तब तर हुआ सुवर्णगिरि [सुमेरु] भी कैलासकी उपमाको प्राप्त हुआ था ॥७३॥ सौन्दर्य-लक्ष्मीके द्वारा कामको जीतनेवाले इन धर्मनाथ स्वामीके रूपके विषयमें क्या कहें ? क्योंकि उसे देखकर ही इन्द्र स्वभावसे दो नेत्रवाला होकर भी आश्चर्यसे सहस्रनेत्रवाला हो गया था ॥७४॥ लक्ष्मी यद्यपि चंचल है तथापि प्रकृष्ट गुणोंमें अनुरक्त होनेके कारण इनके वक्षःस्थलसे विचलित नहीं हुई यह उचित ही है परन्तु कीर्ति बड़े-बड़े प्रबन्धोंके द्वारा बद्ध होनेपर भी तीनों लोकोंमें घूम रही है यह आश्चर्यकी बात है ॥७५॥

१ यस्य रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनाप्नुवान् । द्व्यक्षः शक्रः सहस्राक्षो बभूव बहुविस्मयः ॥ बृहत्स्वयंभूस्तोत्रे समन्तभद्रस्य । २ तम् म० घ० ।

बुद्धिर्विशाला हृदयस्थलीव सुनिर्मलं लोचनवच्चरित्रम् ।
कीर्तिश्च शुभ्रा दशनप्रभेव प्रायो गुणा मूर्त्यनुसारिणोऽस्य ॥७६॥

सुराङ्गनानामपि दुर्लभं यत्पदाम्बुजद्वन्द्वरजोऽपि [1]पुण्यम् ।
तस्याङ्कमासाद्य गुणाम्बुराशेस्त्रैलोक्यवन्द्या भवसुन्दरि त्वम् ॥७७॥

एवं तयोक्ते द्विगुणीभवन्तं रोमाञ्चमालोकनमात्रभिन्नम् ।
सा दर्शयामास तनौ कुमारी जिनेश्वरे मूर्तमिवाभिलाषम् ॥७८॥

भावं विदित्वापि तथा करेणुं सख्याः सहासं पुरतः क्षिपन्त्याः ।
चेलाञ्चलं सा चलपाणिपद्मा प्रोत्सृज्य लज्जां द्रुतमाचकर्ष ॥७९॥

श्रीधर्मनाथस्य मनोज्ञमूर्तेः प्रवेपमानाग्रकरारविन्दा ।
सवाहिता वेत्रभृता कराभ्यां चिक्षेप कण्ठे वरणस्रजं सा ॥८०॥

निःसीमसौभाग्यपयोधिवेला वीचीव वक्षःपुलिने जिनस्य ।
समुल्लसन्ती परिपूर्णमस्याः सा पुण्यचन्द्रोदयमाचचक्षे ॥८१॥

चित्रस्थानम् ॥७५॥ बुद्धिरिति—प्रायेणास्य गुणा आकारानुकारिणः शरीरावयवसदृशा इत्यर्थः । तथाहि बुद्धिरस्य विस्तीर्णा हृदयस्थलीव, लोचनयुगमिव निर्मलं चारित्रं, दन्तज्योत्स्नेव धवला कीर्तिः । इति गुणानामवयवानां च सादृश्यम् ॥७६॥ सुराङ्गनानामिति—देवाङ्गनानामपि यस्य पदाम्बुजरजो दुर्लभं यत्पवित्रं तस्यार्द्धाङ्गमाश्रित्यानन्तगुणसमुद्रस्य त्रैलोक्येऽपि नमस्या भव ॥७७॥ एवमिति—अनेन प्रकारेण तया सुभद्रयार्हद्गुणग्रामे किंचिद्वर्णिते सति सा कुमारी दर्शनमात्रोद्गतं रोमाञ्चभरं दर्शयामास । निजशरीरे प्रचुरत्वेनामान्तं मूर्त्तमभिलाषमिव ॥७८॥ भावमिति—अथानन्तरं तद्भाववेदिन्या सहासं करेणुकां संचारयन्त्या अग्रासनसख्या लज्जां परित्यज्य पतिंवरा वस्त्राञ्चलमाचकर्ष । लज्जावशात्सात्त्विकभावाद्वा चलपाणिपल्लवा ॥७९॥ श्रीति—मनोहरमूर्तेः श्रीधर्मनाथस्य कण्ठे सा स्वयंवरमालां निचिक्षेप । किंविशिष्टाम् । सवाहिता पुरतः संचारिता प्रतीहारेण निजकराभ्यां यतोऽसौ प्रवेपमानाग्रकरारविन्दा महासभाक्षोभलज्जाभारवशेन कम्पमानपाणिपल्लवा ॥८०॥ निःसीमेति—निःसीमसौभाग्यसमुद्रस्य वीचीसदृशी स्वयंवरमाला हृदयपुलिने जिनस्य प्रकाशमाना परिपूर्णमनन्यसाधारणं पुण्यचन्द्रोदयं कथयामास । यथातिशयोज्जृम्भमाणा कल्लोलमाला दूरसमुद्रपुलिने दृश्यमाना

इनकी बुद्धि वक्षःस्थलके समान विशाल है, चरित्र लोचनके समान निर्मल है, और कीर्ति दाँतोंकी प्रभाके समान शुक्ल है। प्रायः इनके गुण इनके शरीरके अनुसार ही हैं ॥७६॥ हे सुन्दरी! जिनके चरण-कमलकी धूलि देवांगनाओंको भी दुर्लभ है उन गुणसागर धर्मनाथ स्वामीकी गोदको पाकर तुम तीन लोकके द्वारा वन्दनीय होओ ॥७७॥ इस प्रकार कुमारी शृंगारवतीने अपने शरीरमें देखने मात्रसे प्रकट हुए वह रोमांच दिखलाये जो कि सुभद्राके द्वारा उपर्युक्त वर्णन होनेपर दूने हो गये थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो जिनेन्द्र विषयक मूर्तिधारी अभिलाषा ही हो ॥७८॥ इस प्रकार जानकर भी जब सखी हँसकर हस्तिनीको आगे बढ़ाने लगी तब चंचल हस्तकमलवाली कुमारीने लज्जा छोड़ शीघ्र ही उसके वस्त्रका अंचल खींच दिया ॥७९॥ जिसके हस्ताग्ररूपी कमल कम्पित हो रहे हैं ऐसी कुमारी शृंगारवतीने सुन्दर शरीरके धारक श्री धर्मनाथ स्वामीके कण्ठमें प्रतिहारीके हाथों द्वारा ले जायी हुई वरमाला डाल दी ॥८०॥ सीमारहित सौभाग्यरूपी समुद्रकी वेलाकी तरंगके समान जिनेन्द्रदेवके वक्षःस्थलरूपी तटपर समुल्लसित होनेवाली वह वरमाला शृंगारवतीके पुण्य-

---

१ नूनम् म० घ० ।

उन्मुद्रितो यत्नवतापि नून धात्राधुना स्त्रीनररत्नकोश ।
यदस्य युग्मस्य समानमन्यन्नादर्शि रूप न च दृश्यतेऽत्र ॥८२॥

इत्थ मिथः पौरकथा स श्रृण्वन्पुर सरीभूतविदर्भराज ।
स्वकर्मवृत्त्येव नरेन्द्रपुत्र्या सम तदात्मेव पुर विवेश ॥८३॥

वधूवृत वीक्ष्य वर तमन्ये नृपा यथावासमपास्तभास ।
विभान्वित भास्करमाकलय्य जग्मु. समूहा इव तारकाणाम् ॥८४॥

स्वयंवर द्रष्टुमुपागताना ध्वजांशुकैर्व्योमसदामुदग्रै ।
विचित्रवस्त्रार्पणतत्परेव रेजे विदर्भाधिपराजधानी ॥८५॥

अथाभवन्नम्बुदनादमन्द्र ध्वनत्सु तूर्येषु पुराङ्गनानाम् ।
उत्कण्ठितान्त करणानि काम शिखण्डिनीनामिव चेष्टितानि ॥८६॥

करेऽन्दुक कङ्कण मह्रिभागे[1] मुखे च लाक्षारसमायताक्षी ।
तमुत्सुका वीक्षितुमीक्षणे च सचारयामास कुरङ्गनाभिम् ॥८७॥

चन्द्रोदय कथयति । नहि चन्द्रोदय विना कल्लोल दूरपुलिन व्याप्नोति ॥८१॥ उन्मुद्रित इति—ब्रह्मणा यत्नवता गोपनपरेणापि कथमपि निजाभिलाषेण स्त्रीनररत्नभाण्डागार उद्घाटितो यतोऽस्य मिथुनस्य सदृश दृष्ट रूप नान्यच्च दृश्यते ॥८२॥ इत्थमिति—अनेन प्रकारेण पौरवार्ता आकर्णयन् अग्रेसरीभूतविदर्भराज श्रृङ्गारवत्या सार्द्धं प्रभु कुण्डिनपुर प्राविक्षत् । यथा जीवो निजकर्मभूत्या सहित पुर देहान्तर प्रविशति ॥८३॥ वधूवृतमिति—त जिन वधूयुत वीक्ष्य अन्ये नृपा निजगृहान् जग्मु निस्तेजस प्रभान्वित भास्कर दृष्ट्वा तारागणा इव ॥८४॥ स्वयवरमिति—विदर्भराजनगरी ध्वजपटै शुशुभे स्वयवर द्रष्टुमागताना देवाना सरलहस्तैर्वस्त्राणीवार्पयन्ती ॥८५॥ अथेति—अथानन्तर मेघनादगम्भीर यथा स्यादेव तूर्येषु वाद्यमानेषु हर्षितचेतासि पुरस्त्रीणा चेष्टितानि बभूवु । यथा मेघध्वनिश्रवणात्केकिकुटुम्बिनीना हर्षनृत्यचेष्टितानि ॥८६॥ कर इति—तदानी तद्दर्शनात्कौतुकोत्तालचेतस पुरविलासिन्यो हस्तयुगले चरणाभरण चरणयुग्मे च हस्ताभरण मुखे च कुङ्कुम-

---

रूपी चन्द्रका उदय कह रही थी ॥८१॥ ऐसा जान पडता है कि प्रयत्नशाली विधाताने स्त्री और मनुष्यरूपी रत्नोंका खजाना मानो अभी-अभी ही खोला है क्योंकि इस युगलके समान अन्य रूप पहले न कभी दिखा था न अभी दिख रहा है ॥८२॥ इस प्रकार जिनके आगे-आगे विदर्भराज चल रहे हैं ऐसे धर्मनाथ स्वामी नागरिक लोगोंकी परस्परकी कथाओंको सुनते हुए नगरमे राजपुत्रीके साथ उस प्रकार प्रविष्ट हुए जिस प्रकार कि आत्मा अपनी कर्म चेष्टाओंके साथ शरीरमे प्रविष्ट होता है ॥८३॥ अन्य राजा लोग उस वरको वधू द्वारा धृत देख निष्प्रभ होते हुए उस प्रकार यथास्थान चले गये जिस प्रकार कि नक्षत्रोंके समूह कान्तिसम्पन्न सूर्यको देखकर यथा स्थान चले जाते हैं ॥८४॥ ध्वजाओंके वस्त्रोंसे वह विदर्भराजकी राजधानी ऐसी जान पड़ती थी मानो स्वयंवर देखनेके लिए आये हुए देव-विद्याधरोंके लिए विविध प्रकारके वस्त्र ही समर्पित कर रही हो—भेंट कर रही हो ॥८५॥ तदनन्तर मेघगर्जनाके समान गम्भीर बाजोंके बजनेपर नगरनिवासिनी स्त्रियोंकी चेष्टाएँ ठीक मयूरियोंकी चेष्टाओंके समान अन्तःकरणको उत्कण्ठित करनेवाली हुई थीं ॥८६॥ उन्हें देखनेके लिए उत्सुक किसी विशालाक्षीने हाथमे नूपुर, चरणमे कंकड, मुखमे लाक्षारस, और

---

१ -मङ्घ्रिभागे म० घ० ।

एतैत हे धावत पश्यताग्रे जगन्मनोमोहनमस्य रूपम् ।
इत्थ तमुद्दिश्य पुराङ्गनाना कोलाहल. कोऽपि समुज्जगाम ॥८८॥

अट्टालशालापणचत्वरेषु रथ्यासु च व्याकुलकेशपाशाः ।
द्रष्टु तमम्भोजदृशो भ्रमन्त्य स्वमूचिरे कामपिशाचवश्यम् ॥८९॥

मुक्तामये स्वच्छरुचौ गुणाढ्ये तस्मिन्मनोज्ञे हृदयावतीर्णे ।
असूययेव त्रुटितोऽपि हार. स्पृष्टो[1] वधूभिर्न जनावकीर्णे ॥९०॥

पत्राङ्कुरै कापि कपोलमेक सभाव्य नेत्र च तथाञ्जनेन ।
उद्घाटितैकस्तनमण्डलागात्तमर्धनारीश्वरता वहन्ती ॥९१॥

यियासतस्तस्य नरेन्द्रहर्म्यमत्यद्भुत रूपमवेक्ष्य मार्गे ।
पुर प्रयाणप्रतिषेधनाय शिरासि मन्ये दुधुवुस्तरुण्यः ॥९२॥

रुद्धे जनैर्नेत्रपथेऽत्र काचिदुच्चैस्तरा निर्भयमारुरोह ।
आरूढचेतोभवपौरुषाणा किमस्त्यसाध्य हरिणेक्षणानाम् ॥९३॥

भ्रान्त्या यावक नयनयोश्च सचारयामासु कस्तूरिकाम् ॥८७॥ एतैतेति—अनेन प्रकारेण तद्दिदृक्षुणा मृगाक्षीणा सभ्रमितचेतसा आगच्छतागच्छत हे सख्य शीघ्र यूय चलत पुरत पश्यत भुवनजनमोहनमस्य रूपमिति गच्छन्त तमुद्दिश्य कोलाहल कोऽपि समुज्जृम्भते स्म ॥८८॥ अट्टालेति—त जिन द्रष्टु गृहाट्टालचत्वरादिषु मुक्तकेशपाशा भ्रमन्त्य पुरपुरन्ध्र्य आत्मान कामग्रहगृहीत कथयन्ति स्म । ग्रहिलो हि मुक्तकेशश्चत्वरादिषु स्वैर परिभ्राम्यति ॥८९॥ मुक्तामय इति—जनावकीर्णे जनसकुलप्रदेशे हार कोप कृत्वा त्रुटितोऽपि वधूभिर्न स्पृष्ट । किं कारणमित्याह—तस्मिन् जिने हारोक्तगुणयुक्ते हृदयस्थिते सति । किंविशिष्टे । मुक्तापथे मौक्तिकस्वरूपे पक्षे मुक्तरोगे स्वच्छरुचौ निर्मलप्रभे, गुणाढ्ये गुणयुक्ते पक्षे तन्तुप्रोते । तद्दर्शनमोहिता आभरणान्यपि पतितानि न जानन्तीति भाव ॥९०॥ पत्रेति—काचिद् वाम कपोल पत्रवल्लीभिर्मण्डयित्वा तदेव च वामनेत्रमञ्जनेनालङ्कृत्य सभ्रमवशात्पतितवामभागस्तनोत्तरीया तथा सती अर्द्धनारीश्वरता दधती । अर्द्धनारीश्वरस्य वामभाग स्त्रीभूषायुक्त इति प्रसिद्धि ॥९१॥ यियासत इति—तस्य जिनस्य रूपातिशयचमत्कृता नार्य शिरासि कम्पयामासु । अह मन्ये तस्य गमनप्रतिषेधाय सज्ञामिव कुर्वन्ति गन्तुमिच्छो राजभवनम् ॥९२॥ रुद्ध इति—जनैर्दृष्टिपथेऽसूचीसचार निरुद्धे सति काचिन्निर्भयमुच्चै स्तम्भादिकमारुरोह । कथ तत्रारूढा न बिभेतीत्याह—गृहीतचेतो-

---

नेत्रोंमे कस्तूरी धारण की थी ॥८७॥ आओ, आओ, इधर आगे इनका जगत्के मनको मोहित करनेवाला रूप देखो—इस प्रकार उन्हें लक्ष्यकर नगरनिवासिनी स्त्रियोंका कोई महान् कोलाहल उत्पन्न हुआ था ॥८८॥ उन्हें देखनेके लिए अट्टालिकाओं, शालाओं, बाजारों, चौराहों और गलियोंमें घूमनेवाली एवं बिखरे हुए केशपाशोंसे युक्त कितनी ही कमलनयना स्त्रियाँ अपने-आपको कामरूपी पिशाचके वशीभूत बतला रही थीं ॥८९॥ मुक्तामय [पक्षमे रोगरहित] निर्मल रुचि, [पक्षमें निर्मल श्रद्धासे युक्त], और गुणोंसे युक्त [पक्षमे सूत्रसे सहित] उन धर्मनाथरूपी सुन्दर हारके हृदयमे अवतीर्ण होनेपर मनुष्योकी भीड-भाडसे युक्त स्थानमें ईर्ष्यासे ही मानो टूटते हुए हारको स्त्रियोंने छुआ भी नहीं था ॥९०॥ कोई एक स्त्री पत्ररचनाओंके अंकुरोंसे एक कपोलको और अजनसे एक नेत्रको सुशोभित कर एक स्तनको खोले हुए उनके सम्मुख जा रही थी जिससे ऐसी जान पडती थी मानो अर्द्धनारीश्वरपना ही धारण कर रही हो ॥९१॥ राजभवनको जानेवाले उन धर्मनाथका आश्चर्यकारी रूप देखकर मार्गमें स्त्रियाँ अपने शिर हिला रही थीं सो मानो आगे का निषेध

---

१. स्पष्टो म० घ० च० ।

अङ्गेषु जातेष्वपि तद्विलोकादुद्भिन्नरोमोच्चयकञ्चुकेषु ।
दृढप्रहारो विषमेषुवीरो मर्माणि बाणैरभिनद्वधूनाम् ॥९४॥

कोलाहलं कापि मुधा विधाय तस्य स्वमालोकपथं निनाय ।
द्रष्टुं दृढोपायमनङ्ग एव चक्षुस्तृतीयं सुदृशामुदेति ॥९५॥

निर्व्याजपीयूषसहोदरोऽपि तदङ्गलावण्यरसप्रवाहः ।
नेत्रार्धभागेन निपीयमानो न तृप्तयेऽभून्नगराङ्गनानाम् ॥९६॥

आलिङ्ग्य बालाय समर्पयन्ती मुखेन काचित्क्रमुकस्य खण्डम् ।
न केवलं तत्प्रणयानुवृत्तिमूचे निजां चुम्बनचातुरीं च ॥९७॥

[1]उद्यद्भुजालम्बितना[2]सिकाग्रा स्थिता गवाक्षे विगलन्निमेषा ।
गौरी क्षणं दर्शितनाभिचक्रा चक्रे भ्रमं काँ[3]चनपुत्रिकायाः ॥९८॥

भवपौरुषाणां स्त्रीणामसाध्यं किमपि नास्ति । कामपौरुषेण भीरवोऽपि महाधीरा इत्यर्थः ॥९३॥ अङ्गेष्विति—तद्दर्शनप्रमोदाद्रोमाञ्चसूचीसंचयेन गृहीतसन्नाहेष्वप्यङ्गेषु कामवीरो मर्माणि विभेद यतोऽसौ दृढप्रहारः । कञ्चुकः सन्नाहविशेषः ॥९४॥ कोलाहलमिति—काचिच्चातुरीमभिनयन्ती वृथा कोलाहलं कृत्वात्मानं प्रभोर्लक्ष्यीचकार इति कोऽत्र विस्मयो यतोऽसौ वराकीति प्रभुणा निरीक्षिता । युक्तमेतन्मृगाक्षीणां काम एव महोपायं द्रष्टुं तृतीयं चक्षुर्भवति । अनुपायेऽपि कार्ये कामप्रभावान्मृगाक्ष्य उपायं जानन्ति । यथानया कलकलोपायो ज्ञातः ॥९५॥ निर्व्याजेति—अत्यन्तामृतसदृशोऽपि तस्याङ्गलावण्यरसप्रवाहो नेत्रार्द्धभागेन कटाक्षेण पेपीयमानोऽपि तृप्तिकारणं पौराङ्गनानां न बभूव । अथ च यः पीयूषसदृशो मधुरो रसः स तस्य लावण्यं क्षारत्वं न भवतीति खण्डविरोधः ॥९६॥ आलिङ्ग्येति—काचिद्बालाय आलिङ्गनं दत्त्वा पूगखण्डं समर्पयन्ती न केवलं तस्य प्रभोः स्नेहानुबन्धनं कथयामास निजचुम्बनचातुर्यं च दर्शितवती ॥९७॥ उद्यदिति—काचिद् गवाक्षस्था निर्निमेषा सात्त्विकभावाद्विगलदन्तरीया दन्तपुत्रिकेव दृष्टा ऊर्ध्वीकृतभुजलताधिष्ठितनासिकाग्रा । अतश्च चेतनाविरहात्पुत्तलिकेव ॥९८॥

करने के लिए ही हिला रही थीं ॥९२॥ मनुष्योंके द्वारा नेत्रोंका मार्ग रुक जानेपर कोई स्त्री निर्भय हो बहुत ऊँचे जा चढी थी सो ठीक ही है क्योंकि कामके पौरुषसे युक्त स्त्रियोंको असाध्य है ही क्या ? ॥९३॥ यद्यपि स्त्रियोंके शरीरपर श्री धर्मनाथ स्वामीके दर्शनसे प्रकट हुए रोमाच-समूहरूपी कवच विद्यमान थे फिर भी सुदृढ प्रहार करनेवाले कामदेवरूपी वीरने बाणोंके द्वारा उनके मर्मस्थान भिन्न—खण्डित कर दिये थे ॥९४॥ कोई एक स्त्री व्यर्थका कोलाहल कर अपने-आपको उनके दृष्टिपथमे ले गयी थी सो ठीक ही है क्योंकि दृढ उपाय देखनेके लिए स्त्रियोंसे कामरूपी तीसरा नेत्र उत्पन्न ही होता है ॥९५॥ उनके शरीरका सौन्दर्यरूपी रसका प्रवाह यद्यपि वास्तविक अमृतका सहोदर था फिर भी नेत्रके अर्धभागसे पिया गया था अतः नगरनिवासिनी स्त्रियोंकी तृप्तिके लिए नहीं हुआ था ॥९६॥ बालकका आलिंगन कर उसके लिए मुखसे सुपारीका टुकड़ा समर्पित करनेवाली किसी स्त्रीने न केवल भगवद्विषयक स्नेहकी परम्परा ही कही थी किन्तु अपनी चुम्बन-विषयक चतुराई भी प्रकट की थी ॥९७॥ जिसने ऊपर उठायी हुई भुजासे द्वारके ऊपरका काष्ठ छू रखा है, जो झरोखेमें खड़ी है, जिसके पलकोंका गिरना दूर हो गया है तथा जिसका नाभिमण्डल दिख रहा है ऐसी कोई गौर वर्णवाली स्त्री क्षण भरके लिए पुतलीका भ्रम उत्पन्न कर रही थी

---

१ म० घ० पुस्तकयो ९८, ९९ श्लोकयो क्रमभेदो वर्तते । २ द्वारोपरि स्थितं काष्ठं नासिकेत्युच्यते । ३. काञ्चनपुत्रिकायाः घ० म० ।

तस्य प्रभोर्धीवरता गतस्य समन्ततः सर्पति कान्तिजाले ।
बन्धाय सद्यो रसवाहिनीनां पपात लोला शफरीव दृष्टिः ॥९९॥

कामान्धमेव द्रुतमाकुलाभिः क्षिप्तं मनस्तत्र विलासिनीभिः ।
तेनेतरालम्बनविप्रयोगाद्व्यावृत्तियोग्यं न पुनर्बभूव ॥१००॥

शृङ्गारवत्याश्चिरसंचितानां रेखामतिक्रामति का शुभानाम् ।
लब्धो यया नूनमसावगम्यो मनोरथानामपि जीवितेशः ॥१०१॥

किमेणकेतुः किमसावनङ्गः कृष्णोऽथवा किं किमसौ कुबेरः ।
लोकेऽथवामी विकलाङ्गशोभाः कोऽप्यन्य एवैष विशेषितश्रीः ॥१०२॥[1]

पीयूषधाराभिरिवाङ्गनानामित्थं स वाग्भिः परिपूर्णकर्णः ।
उत्तोरणं द्वारमुदारकीर्तिः संबन्धिनः प्राप शनैः कुमारः ॥१०३॥

तत्रायमुत्तीर्य करेणुकायाः सुवासिनीसाधितमङ्गलश्रीः ।
विवेश यक्षाधिपदत्तहस्तः प्रशस्तमुच्चैः श्वसुरस्य सौधम् ॥१०४॥

तस्येति—तस्य धर्मनाथस्य धीवरतां बुद्धिप्राधान्यं गतस्य कायकान्तिकलापे समन्ततः प्रसरति तासां कामिनीनां दृष्टिरात्मबन्धाय शफरीव मत्सीव पतति स्म ॥९९॥ कामान्धमिति—तस्मिन् प्रभौ ताभिर्विलासिनीभिः कामान्धमेव मनः प्रहितम् । कथं ज्ञायते कामान्धमित्याह—द्वितीयाकर्षकाभावाद्यतो न व्यावर्त्तते । अन्धो हि द्वितीयाकर्षकेन विना पदमपि न चलति ॥१००॥ शृङ्गारवत्या इति—चिरसंचितानां शृङ्गारवत्याः पुण्यानां कान्या स्त्री सादृश्यमुपैति । यया मनोरथानामपि दुष्प्राप्य एवंविधः पतिः प्राप्तः ॥१०१॥ किमिति—किमसौ मृगाङ्कः । किं वानङ्गः । कृष्णोऽथवा । किं वा कुबेरः । अथवामी सर्वेऽपि कलङ्केनानङ्गत्वेन कार्ष्ण्येन कुशरीरत्वेन विकलिताङ्गाः । अयं कोऽप्यन्य एव विशिष्टभायुक्तः ॥१०२॥ पीयूषेति—अनेन प्रकारेणामृतधाराभिरिव पौरस्त्रीकथाभिः परिपूर्णकर्णो विदर्भराजस्य द्वारं प्रविवेश ॥१०३॥ तत्रेति—तत्र द्वारे करेणुकायाः

॥९८॥ धीवरता—बुद्धिकी प्रधानता [पक्षमें मल्लाहपने] को प्राप्त श्री धर्मनाथ स्वामीके, सब ओर फैलनेवाली कान्तिरूपी जालमें रसवती स्त्रियोंकी मछलीके समान चंचल दृष्टि बँधनेके लिए सहसा जा पड़ी ॥९९॥ चूँकि व्याकुल स्त्रियोंने अपना कामान्ध मन ही शीघ्रतासे वहाँ भेजा था अतः अन्य सहायकोंका अभाव होनेसे वह पुनः लौटनेके योग्य नहीं रह गया था ॥१००॥ उस शृंगारवतीके चिर संचित पुण्यकर्मकी रेखाको कौन उल्लंघन कर सकती है ? जिसने कि निश्चित ही यह मनोरथोंका अगम्य प्राणपति प्राप्त किया है ॥१०१॥ क्या यह चन्द्रमा है, क्या यह कामदेव है, क्या यह नारायण है, और क्या यह कुबेर है, अथवा संसारमें ये सभी शरीरकी शोभासे विकल हैं—चन्द्रमा कलंकी है, काम अशरीर है, नारायण कृष्ण वर्ण है और कुबेर लम्बोदर हैं अतः विशिष्ट शोभाको धारण करनेवाला यह कोई अन्य ही विलक्षण पुरुष है ॥१०२॥ इस प्रकार अमृतधाराके समान स्त्रियोंके वचनोंसे जिनके कान भर गये हैं ऐसे उत्तम कीर्तिके धारक श्री धर्मनाथ राजकुमार सम्बन्धीके ऊँचे-ऊँचे तोरणोंसे सुशोभित द्वारपर जा पहुँचे ॥१०३॥ वहाँ यह, हस्तिनीसे नीचे उतरे, सुवासिनी स्त्रियोंने मंगलाचार किये, यक्षराज कुबेरने हस्तावलम्बन दिया, और इस प्रकार क्रमशः श्वसुरके

१ म० घ० पुस्तकयोः १०१–१०२ श्लोकयोः क्रमभेदोऽस्ति ।

निर्वर्तिताशेषविवाहदीक्षामहोत्सवोऽसौ श्वसुरेण सम्यक् ।
वध्वा समं तत्र चतुष्कमध्ये सिंहासनं हैममलंचकार ॥१०५॥

अत्रान्तरे वेत्रिनिवेद्यमानमग्रे पितृप्रेषितमेकदूतम् ।
ददर्श सम्यक् स निवेदितार्थं तदर्पितं लेखमपि व्यधत्त ॥१०६॥

अथायमाहूय पतिं चमूनां सुषेणमित्यादिशति स्म देवः ।
स्वराजधानीं प्रति सवृत्तार्थं पित्राहमत्यर्थितयोपहूतः ॥१०७॥

ततोऽतिवेगेन मनोवदाप्तुं वध्वा समं रत्नपुरं समीहे ।
त्वं कायवत्कार्यमशेषयित्वा शनैः ससैन्यो भवितानुगामी[1] ॥१०८॥

उक्त्वा तमित्यनुचरं श्वसुरानुमत्या
यावत्प्रभुः स्वपुरयानसमुत्सुकोऽभूत् ।
तावद्धनाधिपतिरम्बरपुष्पकल्पं
भक्त्या विमानमुपढौकयति स्म तस्मै ॥१०९॥

तत्रारुह्य वितीर्णविस्मयरुचा शृङ्गारवत्याधिकं
पूषेव प्रविकासितास्यकमलो दिश्युत्तरस्यां व्रजन् ।

उत्तीर्य सुवासिनीकृतमङ्गलक्रियो धनदहस्तावलम्बी कृतमङ्गलारम्भं श्वसुरगृहं प्रविष्टवान् ॥१०४॥ निर्वर्तिताशेषेति—कृतसकलविवाहदीक्षामहोत्सवो वध्वा सार्द्धं चतुष्कमध्ये सिंहासनमलंचक्रे ॥१०५॥ अत्रेति—अथानन्तरं प्रतीहारनिवेद्यमानं पितृलेखहरं स प्रभुर्दूतं ददर्श तेनार्पितं लेखं च वाचयामास ॥१०६॥ अथेति—अथ लेखार्थपरिज्ञानानन्तरं सुषेणनामानं सेनापतिमाकार्येत्यादिदेश । अहं केनापि कारणेन शीघ्रं तातेन निजनगरं प्रत्याकारितः ॥१०७॥ तत इति—ततोऽहं ताताज्ञानियोगेन मनोवत् शीघ्रं वध्वा समं जिगमिषामि पश्चात्त्वं ससैन्यः कृत्यं विधाय मन्दं मन्दमागच्छ । यथा त्वरितकार्ये प्रथमं मनो याति पश्चाद्देह इति ॥१०८॥ उक्त्वेति—यावदिति सेनापतिमुक्त्वा श्वसुरं चानुमत्य यियासुरभूत् तावद्धनदढौकितं गगनपुण्डरीकसदृशं विमानमपश्यत् ॥१०९॥ तत्रेति—तत्र विमानेऽधिरूढः प्रमोदविस्तीर्णचित्तया शृङ्गारवत्या अधिकं विकसितवदनः आदित्य इवोत्तराशा

उत्तम एवं ऊँचे भवनमें प्रविष्ट हुए ॥१०४॥ यहाँ श्वसुरने जिनके विवाह दीक्षा सम्बन्धी समस्त महोत्सव अच्छी तरह सम्पन्न किये थे ऐसे श्री धर्मनाथ स्वामीने चौकके बीच वधूके साथ सुवर्णका सिंहासन अलंकृत किया ॥१०५॥ इसी समय उन्होंने द्वारपालके द्वारा निवेदित तथा पिताजीके द्वारा प्रेषित एक दूतको सामने देखा और उसके द्वारा प्रदत्त लेखका समाचार भी अवगत किया ॥१०६॥ तदनन्तर उन्होंने सुषेण सेनापतिको बुलाकर इस प्रकार आदेश दिया कि मुझे पिताजीने प्रयोजन वश बिना कुछ स्पष्ट किये ही राजधानीके प्रति बुलाया है ॥१०७॥ इसलिए मैं मनके समान अत्यन्त वेगसे वधूके साथ रत्नपुरको प्राप्त करना चाहता हूँ, तुम शरीरकी तरह समस्त कार्य समाप्त कर सेनासहित धीरे-धीरे मेरे पृष्ठानुगामी होना ॥१०८॥ इस प्रकार उस अनुयायी सेनापतिको आदेश देकर श्वसुरकी सम्मत्यनुसार ज्यों ही प्रभु अपने नगरकी ओर जानेके लिए उत्सुक हुए त्योंही कुवेरने भक्तिपूर्वक अम्बर पुष्पके समान एक विमान उपस्थित कर दिया ॥१०९॥ तदनन्तर आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली शृंगारवतीके द्वारा जिनका मुख-कमल अत्यन्त विकसित हो रहा है ऐसे इन्द्रसे भी श्रेष्ठ

---

१ भवतानुगामी म० ।

सद्यः प्राप सखेदमाह्वयदिव व्यालोलसौधध्वजै-
देवो रत्नपुरं पुरन्दरगुरुः श्रीधर्मनाथः प्रभुः ॥११०॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये स्वयंवराभिधानको नाम
सप्तदशः सर्गः ॥१७॥

गच्छन् शीघ्रं रत्नपुरं प्रभुर्धर्मनाथः प्रपेदे । किंविशिष्टम् । ध्वजपटाङ्गुलीभिराकारयदिव ॥११०॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयशस्कीर्तिविरचितायां सन्देहध्वान्त-
दीपिकायां धर्मशर्माभ्युदयटीकायां सप्तदशः सर्गः ॥१७॥

श्री धर्मनाथ स्वामीने सूर्यके समान उस विमानपर आरूढ होकर उत्तर दिशाकी ओर प्रयाण किया और शीघ्र ही उस रत्नपुर नगरमें जा पहुँचे जो कि विरहके कारण खेद सहित था तथा मकानोंपर फहराती हुई चंचल ध्वजाओंसे ऐसा जान पड़ता था मानो उन्हें बुला ही रहा हो ॥११०॥

इस प्रकार महाकवि श्रीहरिचन्द्र द्वारा विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें स्वयंवरका
वर्णन करनेवाला सत्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१७॥

अष्टादशः सर्गः

अथ श्रुताशेषसुखप्रवृत्तिना मुद महासेननृपेण बिभ्रता ।
प्रवर्तितानेकमहोत्सव पुर सम कलत्रेण विवेश स प्रभु ॥१॥

स चन्द्रमाश्चन्द्रिकयेव कान्तया तयान्वितोऽत्यन्तमनोरमाकृति ।
कुमुद्वतीनामिव पौरयोषिता चकार दृक्कैरवकाननोत्सवम् ॥२॥

अलकृत मङ्गलसविधानके प्रविश्य हर्म्यं हरिविष्टरस्थितौ ।
तदान्वभूतामनुभाविनाविभौ महत्तरारोपितमक्षतक्रमम् ॥३॥

यदल्पपुण्यैर्मनुजैर्दुरासद सदैव यच्चाननुभूतपूर्वकम् ।
वधूवरालोकनलोलनेत्रयोर्बभूव पित्रो सममेव तत्सुखम् ॥४॥

स नन्दनालोकनजातसंमद सुरागलीलालसनिर्जराङ्गनम्
अमन्यत स्वर्गपुरोपम नृप प्रसक्तसगीतकहारि तद्दिनम् ॥५॥

अथेति—अथानन्तर श्रुतसकलस्वयवरवार्तेन महासेनेन कारितप्रवेशार्थवन्दनमालादिमहोत्सव रत्नपुर कलत्रेण सम प्रभु प्रविवेश ॥१॥ स इति—स चन्द्र इव ज्योत्स्नया तया नवोढया सहित सर्वनयनपीयूषवर्ति-कैरविणीनामिव पुरस्त्रीणा नयनकुमुदवनविलासाय बभूव । अत्र चन्द्रधर्मनाथयोश्चन्द्रिकाशृङ्गारवत्यो कुमुदिनीपौराङ्गनयोश्चोपमानोपमेयभाव ॥२॥ अलकृतमिति—तौ दम्पती मङ्गलद्रव्यापचित मङ्गलगृह प्रविश्य एकसिंहासनस्थितौ महाप्रभावौ मातापित्रादिककृत मङ्गलाक्षतविधि प्रतीच्छाचक्रतु ॥३॥ यदल्पेति—तदा जनकजनन्योर्वधूवरदर्शनलोलनयनयोस्तत्सुखमेककाल बभूव यदल्पपुण्यलोकैर्दुष्प्राप्य यच्च कदाचिदप्य-लब्धपूर्वम् ॥४॥ स इति—स राजा तद्दिवस स्वर्गसदृशममस्त । किंविशिष्टम् । परिणीतपुत्रावलोकनसमुत्पन्न-हर्ष पक्षे नन्दन देववनम् । सुगीतलीलालसा निर्जरास्तरुण्योऽङ्गना यत्र पक्षे देववृक्षेषु लोलालसा क्रीडास्वभावा

तदनन्तर समस्त सुख समाचार सुनने एवं आनन्द धारण करनेवाले महासेन महाराज के द्वारा जिसमें अनेक महोत्सव प्रवृत्त हुए है ऐसे रत्नपुर नगरमे श्रीधर्मनाथ स्वामीने हृदय-वल्लभाके साथ प्रवेश किया ॥१॥ जिस प्रकार चन्द्रिकासे सहित चन्द्रमा कुमुदिनियोंके साथ कुमुदोंको आनन्दित करता है उसी प्रकार उस कान्तासे सहित अतिशय सुन्दर श्रीधर्मनाथ स्वामीने नगरनिवासिनी स्त्रियोंके नेत्र रूपी कुमुदोंके वनको आनन्दित किया था ॥२॥ मगला-चारसे सुशोभित राजमहलमे प्रवेश कर सिंहासन पर बैठे हुए इन प्रभावशाली दम्पतीने उस समय कुलकी वृद्धाओंके द्वारा आरोपित अक्षतारोहण विधिका अनुभव किया था ॥३॥ वधू वरके देखनेमे जिनके नेत्र सतृष्ण हो रहे हैं ऐसे मातापिताको उस समय एक ही साथ वह सुख प्राप्त हुआ था जो कि अल्पपुण्यात्मा मनुष्योंको सर्वथा दुर्लभ था और पहले जिसका कभी अनुभव नहीं हुआ था ॥४॥ राजा महासेनने वह नगर स्वर्गनगरके समान समझा था क्योंकि जिस प्रकार स्वर्ग नगर नन्दन—नन्दन वनके देखनेसे उत्पन्न हर्षसे युक्त होता है उसी प्रकार वह दिन भी नन्दन—पुत्र के देखनेसे उत्पन्न हर्षसे युक्त था। जिस प्रकार स्वर्गनगर कल्प-वृक्षोंके नीचे क्रीडा करनेमे अलस देवागंनाओंसे युक्त होता है उसी प्रकार वह दिन भी उत्तम रँगरेलियोंकी क्रीडाओंमें अलस तरुण स्त्रियोंसे युक्त था और जिस प्रकार स्वर्गनगर

अथैष शृङ्गारवतीमिवापरां सकौतुकेनैव करेण मेदिनीम् ।
तमादराद्ग्राहयितु नरेश्वर स्थितं सदस्यात्मजमित्यभाषत ॥६॥

नियम्य यद्राज्यतृणेऽपि पालित तवोदयात्प्राग्गहनैकसत्त्ववत् ।
विबन्धन तद्विषयेषु निःस्पृह मनो वनायैव ममाद्य धावति ॥७॥

प्रतापटङ्कै शतकोटिनिष्ठुरैः किरीटरत्नोपलपट्टिकाव्रजे ।
स्फुरन्निजाज्ञाक्षरमालिकामयी मया प्रशस्तिर्निहिता महीभुजाम् ॥८॥

यशो जगन्मण्डलमण्डनीकृत कृता कृतार्था कृतिनोऽपि सपदा ।
त्वया च जाता धुरि पुत्रिणा वय किमस्त्यपर्याप्तमतोऽत्र जन्मनि ॥९॥

ततोऽवशिष्टं पुरुषार्थमर्थतश्चतुर्थमेवार्थयतीह मे मन ।
अथान्यदप्यस्ति विधेयमादरात्त्वमेव तत्साधु विचारयोचितम् ॥१०॥

उपेत्य वात्येव जरातिजर्जर करोति यावन्न वपु कुटीरकम् ।
निकेतन तावदुपैतुमक्षय द्रुत यतिष्ये जिननाथवर्त्मना ॥११॥

देवाङ्गना यत्र । प्रसक्तेन तालभावादुपेतेन सगीतकेन मनोहरम् ॥५॥ अथेति—अथ कदाचिन्महासेनो राजा त धर्मनाथ मेदिनी करेण ग्राहयितु द्वितीया शृङ्गारवतीमिव सभास्थित बभाषे । राज्याभिषेक कर्तुमित्यर्थ ॥६॥ नियम्येति—हे तात ! यन्मम मनो राज्यसुखरसिक तत् साप्रत त्वयि निवेशितराज्यभार सासारिकसुखेन निरभिलाष तपोवनायाधुना शीघ्र जिगमिषति । यथा पुत्रजन्ममुक्तो गृहक्रीडामृगस्तृणपालितोऽपि विषयेषु देशेषु निरभिलाष सन् महारण्यानीसन्मुख पलायते । पुत्रजन्ममहोत्सवे हि सर्वेषा पशूना बन्धमोक्ष इत्याचार ॥७॥ प्रतापेति—मया विपक्षपृथिवीभुजा मकुटरत्नोपलशिलासु निजाज्ञाप्रशस्तिर्लिखिता । कस्माद् राजादेशवन्दनमालामणिप्रतिबिम्बितशासनाक्षरव्याजात् । कै तीक्ष्णप्रतापटङ्कसमूहै ॥८॥ यश इति—मया स्वीययशो भुवनभूषणीकृत साधवश्च यथाकाम विभवेन प्रीणिता भवता च पुत्रेण पुत्रिणामाद्या सजाता तत्किमद्यास्माकमपरिपूर्णमस्मिन् जन्मनि विद्यते ॥९॥ तत इति—ततो वर्गत्रयप्राप्त्यनन्तर चतुर्थं मोक्षलक्षणमेव पदार्थमीप्सति मे मन । अथान्यदपि चेत्कृत्यमस्ति त्वमेव तद्विचारय ॥१०॥ उपेत्येति—जरा वातमण्डलीव यावदागत्य शरीर तृणकुटीरकमिवातिजर्जर न करोति तावत् शाश्वतस्थानगृहाय यत्न करिष्ये जिनावरण-

वर्तमान संगीतोंसे मनोहर होता है उसी प्रकार वह दिन भी वर्तमान--चालू सगीतसे मनोहर था ॥५॥ तदनन्तर महाराज महासेनने दूसरी शृगारवतीके समान पृथिवीको कौतुकयुक्त हाथसे ग्रहण करानेके लिए सभामें बैठे हुए पुत्र धर्मनाथसे बड़े आदरके साथ निम्न प्रकार कहा ॥६॥ मेरा जो मन आपके जन्मके पूर्व जंगली प्राणीकी तरह राज्य रूपी तृणमे रोक कर यद्यपि पाला गया था तथापि आज वह बन्धन रहित हो विषयोंमे नि·स्पृह होता हुआ वनके लिए ही दौड रहा है ॥७॥ मैंने राजाओंके मुकुटोंमें लगी हुई रत्नमयी पाषाण-पट्टिकाओंके समूहमें वज्रके समान कठोर प्रताप रूपी टाँकीके द्वारा अपने देदीप्यमान आज्ञाक्षरोंकी मालारूप प्रशस्ति अंकित की है ॥८॥ मैंने यशको समस्त संसारका आभूषण बनाया है, सम्पत्तिके द्वारा कुशल मनुष्योंको कृतकृत्य किया है और आपके द्वारा हम पुत्रवान् मनुष्योंमे प्रधानताको प्राप्त हुए हैं फिर इस जन्ममे मेरा कौन-सा कार्य अपूर्ण रह गया है ॥९॥ एक चतुर्थ पुरुषार्थ--मोक्ष ही अवशिष्ट रह गया है अतः मेरा मन वास्तवमें अब उसे ही प्राप्त करना चाहता है अथवा अन्य कोई वस्तु आदर पूर्वक प्राप्त करने योग्य हो तो आप उसका अच्छी तरह योग्य विचार कीजिए ॥१०॥ जब तक आँधीके समान बुढापा आकर शरीर रूपी कुटियाको अत्यन्त जर्जर नहीं कर देता है तब तक मैं श्रीजिनेन्द्र देवके द्वारा बतलाये

अपत्यमिच्छन्ति तदेव साधवो न येन जातेन पतन्ति पूर्वजाः ।
इति त्वयापत्यगुणैषिणा पतन्नपेक्षणीयो न भवामि संसृतौ ॥१२॥

ततोऽनुमन्यस्व नयज्ञ साधये समीहित त्वद्भुजदण्डशायिनि ।
चिर धरित्रीवलये फणावतामपेतभारः सुखमेधता पति ॥१३॥

तवापि शिक्षा भुवनत्रयीगुरोर्विभाति भानोरिव दीपदीधिति ।
इति प्रपद्यापि यदुच्यते मया ममत्वमोह खलु तत्र कारणम् ॥१४॥

भृश गुणानर्जय सद्गुणो जनैः क्रियासु कोदण्ड इव प्रशस्यते ।
गुणच्युतो बाण इवातिभीषण[1] प्रयाति वैलक्ष्यमिह क्षणादपि ॥१५॥

उपात्ततन्त्रोऽप्यखिलाङ्गरक्षणे न मन्त्रिसान्निध्यमपेतुमर्हसि ।
श्रिया पिशाच्येव नृपत्वचत्वरे परिस्खलन्कश्छलितो न भूपतिः ॥१६॥

मार्गेण ॥११॥ अपत्यमिति—येन जातेन पितर संसारे न पतन्ति तदेवापत्य कृतिन समीहन्ते ततो भवता सुपुत्रेणाह ससारे पतन्नोपेक्षणीय किन्तु तपोवनाय मुक्ति लभनीय इत्यर्थ ॥१२॥ तत इति—ततो हे नयज्ञ ! मा प्रेरय । त्वदाज्ञया मोक्ष साधयामि । क्व सति । भूवलये त्वद्भुजदण्डस्थिते शेषो निश्चिन्त सुख तिष्ठतु भूभारस्य त्वयि स्थितत्वात् ॥१३॥ तवापीति—अथानन्तर कुमारशिक्षाप्रक्रम । यत्तव त्रिभुवनगुरो शिक्षा सा भास्करस्य दीपदीधितिदर्शनमिव । इति ज्ञात्वापि यथा यत् शिक्षा दीयते तन्ममत्वमोह एव समर्थ कारणम् ॥१४॥ भृशमिति—भृशमेकाग्रहेण गुणानुपार्जय यत प्रशस्यगुण पुमान् जनै प्रारम्भेषु धनुर्दण्ड इव प्रशस्यते । यदि वा सता साधूना गुणा यस्य स सद्गुणो न दुर्जन प्रशस्य । गुणाच्च्युतो गुणच्युत प्रत्यञ्चामुक्तशर इवातिभीषणोऽतिभयानक पुमान् वैलक्ष्य लज्जा क्षणेन प्रयाति । पक्षे भयप्रदस्तच्छरो वै स्फुट लक्ष्य वेध्य प्रयाति ॥१५॥ उपात्तेति—परिपूर्णचतुरङ्गसामग्रीकोऽपि सप्ताङ्गराज्यरक्षणे न मन्त्रिणो दूरीकर्तुं त्वमर्हसि यतो लक्ष्म्या साम्राज्ये प्रवर्तमानो भूपति को न विप्लावित । मन्त्रबलान्न विप्लवस्तादृश सद्भाव । पक्षे गृहीतविषापहभेपजोऽपि न मान्त्रिकान् दूरीकरोति । औपधेन विषमेव निराक्रियते न चत्वरपरिभ्रमणसमुद्भूत-

---

हुए मार्गसे शीघ्र ही अविनाशी गृह—मुक्तिधामको प्राप्त करनेका प्रयत्न करूँगा ॥११॥ साधुजन उसी अपत्यकी इच्छा करते हैं जिसके उत्पन्न होने पर उसके पूर्वज पतित न होते हों। चूँकि आप अपत्यके गुणोंकी इच्छा रखते हैं—आप चाहते हैं कि योग्य अपत्यके गुण मुझमे अवतीर्ण हों अत आपके द्वारा ससारमे पतित होता हुआ मैं उपेक्षणीय नहीं हूँ ॥१२॥ इसलिए हे नीतिज्ञ ! अनुमति दो कि जिससे मैं अपना मनोरथ सिद्ध करूँ। इस पृथिवी मण्डलके चिरकाल तक आपके भुजदण्डमें शयन करने पर शेषनाग भार रहित हो सुखसे वृद्धिको प्राप्त हो ॥१३॥ आप लोकत्रयके गुरु हैं अतः आपको शिक्षा देना सूर्यको दीपककी किरण दिखाना है—यह जानकर भी मेरे द्वारा जो कहा जा रहा है उसमे ममता जनित मोह ही कारण है ॥१४॥ गुणोंका खूब अर्जन करो क्योंकि उत्तम गुणोंसे युक्त [पक्षमे उत्तम डोरीसे युक्त] मनुष्य ही कार्योंमे धनुषके समान प्रशंसनीय होता है, गुणोंसे रहित [पक्षमे डोरीसे रहित] मनुष्य बाणके समान अत्यन्त भयंकर होने पर भी क्षणभरमें वैलक्ष्य—लज्जा [पक्षमे लक्ष्य भ्रष्टता] को प्राप्त हो जाता है ॥१५॥ यद्यपि आप समस्त अगोंकी रक्षा करने मे विद्वान् हैं तथापि मन्त्रियोंका सामीप्य छोडनेके योग्य नहीं हैं। क्योंकि पिशाचीके समान लक्ष्मीके द्वारा

---

१ विगत लक्ष्य यस्य विलक्ष्य तस्य भावो वैलक्ष्य अथवा वै स्फुट निश्चयेन वा लक्ष्य शरव्य वेध्य प्रयाति ।

अथैष शृङ्गारवतीमिवापरां सकौतुकेनैव करेण मेदिनीम् ।
तमादराद्ग्राहयितुं नरेश्वरः स्थितं सदस्यात्मजमित्यभाषत ॥६॥

नियम्य यद्राज्यतृणेऽपि पालितं तवोदयात्प्राग्गहनैकसत्त्ववत् ।
विबन्धनं तद्विषयेषु निःस्पृहं मनो वनायैव ममाद्य धावति ॥७॥

प्रतापटङ्कैः शतकोटिनिष्ठुरैः किरीटरत्नोपलपट्टिकाव्रजे ।
स्फुरन्निजाज्ञाक्षरमालिकामयी मया प्रशस्तिर्निहिता महीभुजाम् ॥८॥

यशो जगन्मण्डलमण्डनीकृतं कृता कृतार्था कृतिनोऽपि संपदा ।
त्वया च जाता धुरि पुत्रिणां वयं किमस्त्यपर्याप्तमतोऽत्र जन्मनि ॥९॥

ततोऽवशिष्टं पुरुषार्थमर्थतश्चतुर्थमेवार्थयतीह मे मनः ।
अथान्यदप्यस्ति विधेयमादरात्त्वमेव तत्साधु विचारयोचितम् ॥१०॥

उपेत्य वात्येव जरातिजर्जरं करोति यावन्न वपुः कुटीरकम् ।
निकेतनं तावदुपेतुमक्षयं द्रुतं यतिष्ये जिननाथवर्त्मना ॥११॥

देवाङ्गना यत्र । प्रसक्तेन तालभावादुपेतेन संगीतकेन मनोहरम् ॥५॥ अथेति—अथ कदाचिन्महासेनो राजा तं धर्मनाथं मेदिनीं करेण ग्राहयितुं द्वितीयां शृङ्गारवतीमिव सभास्थितं बभाषे । राज्याभिषेकं कर्तुमित्यर्थः ॥६॥ नियम्येति—हे तात ! यन्मम मनो राज्यसुखरसिकं तत् सांप्रतं त्वयि निवेशितराज्यभारं सांसारिकसुखेन निरभिलाषं तपोवनायाधुना शीघ्रं जिगमिषति । यथा पुत्रजन्ममुक्तो गृहक्रीडामृगस्तृणपालितोऽपि विषयेषु देशेषु निरभिलाषः सन् महारण्यानीसन्मुखं पलायते । पुत्रजन्ममहोत्सवे हि सर्वेषां पशूनां बन्धमोक्ष इत्याचारः ॥७॥ प्रतापेति—मया विपक्षपृथिवीभुजां मकुटरत्नोपलशिलासु निजाज्ञाप्रशस्तिर्लिखिता । कस्माद् राजादेशवन्दनमालामणिप्रतिबिम्बितशासनाक्षरव्याजात् । कैः तीक्ष्णप्रतापटङ्कसमूहैः ॥८॥ यश इति—मया स्वीययशो भुवनभूषणीकृतं साधवश्च यथाकामं विभवेन प्रीणिता भवता च पुत्रेण पुत्रिणामाद्याः संजाताः तत्किमद्यास्माकमपरिपूर्णमस्मिन् जन्मनि विद्यते ॥९॥ तत इति—ततो वर्गत्रयप्राप्त्यनन्तरं चतुर्थं मोक्षलक्षणमेव पदार्थमीप्सति मे मनः । अथान्यदपि चेत्कृत्यमस्ति त्वमेव तद्विचारय ॥१०॥ उपेत्येति—जरा वातमण्डलीव यावदागत्य शरीरं तृणकुटीरकमिवातिजर्जरं न करोति तावत् शाश्वतस्थानगृहाय यत्नं करिष्ये जितावरण-

वर्तमान संगीतोंसे मनोहर होता है उसी प्रकार वह दिन भी वर्तमान—चालू संगीतसे मनोहर था ॥५॥ तदनन्तर महाराज महासेनने दूसरी शृंगारवतीके समान पृथिवीको कौतुकयुक्त हाथसे ग्रहण करानेके लिए सभामें बैठे हुए पुत्र धर्मनाथसे बड़े आदरके साथ निम्न प्रकार कहा ॥६॥ मेरा जो मन आपके जन्मके पूर्व जंगली प्राणीकी तरह राज्य रूपी तृणमें रोक कर यद्यपि पाला गया था तथापि आज वह बन्धन रहित हो विषयोंमें निःस्पृह होता हुआ वनके लिए ही दौड़ रहा है ॥७॥ मैंने राजाओंके मुकुटोंमें लगी हुई रत्नमयी पाषाण-पट्टिकाओंके समूहमें वज्रके समान कठोर प्रताप रूपी टाँकीके द्वारा अपने देदीप्यमान आज्ञाक्षरोंकी मालारूप प्रशस्ति अंकित की है ॥८॥ मैंने यशको समस्त संसारका आभूषण बनाया है, सम्पत्तिके द्वारा कुशल मनुष्योंको कृतकृत्य किया है और आपके द्वारा हम पुत्रवान् मनुष्योंमें प्रधानताको प्राप्त हुए हैं फिर इस जन्ममें मेरा कौन-सा कार्य अपूर्ण रह गया है ॥९॥ एक चतुर्थ पुरुषार्थ—मोक्ष ही अवशिष्ट रह गया है अतः मेरा मन वास्तवमें अब उसे ही प्राप्त करना चाहता है अथवा अन्य कोई वस्तु आदर पूर्वक प्राप्त करने योग्य हो तो आप उसका अच्छी तरह योग्य विचार कीजिए ॥१०॥ जब तक आँधीके समान बुढ़ापा आकर शरीर रूपी कुटियाको अत्यन्त जर्जर नहीं कर देता है तब तक मैं श्रीजिनेन्द्र देवके द्वारा बतलाये

अपत्यमिच्छन्ति तदेव साधवो न येन जातेन पतन्ति पूर्वजाः ।
इति त्वयापत्यगुणैषिणा पतन्नपेक्षणीयो न भवामि संसृतौ ॥१२॥

ततोऽनुमन्यस्व नयज्ञ साधये समीहितं त्वद्भुजदण्डशायिनि ।
चिरं धरित्रीवलये फणावतामपेतभारः सुखमेधतां पतिः ॥१३॥

तवापि शिक्षा भुवनत्रयीगुरोर्विभाति भानोरिव दीपदीधितिः ।
इति प्रपद्यापि यदुच्यते मया ममत्वमोहः खलु तत्र कारणम् ॥१४॥

भृशं गुणानर्जय सद्गुणो जनैः क्रियासु कोदण्ड इव प्रशस्यते ।
गुणच्युतो बाण इवातिभीषणः[१] प्रयाति वैलक्ष्यमिह क्षणादपि ॥१५॥

उपात्ततन्त्रोऽप्यखिलाङ्गरक्षणे न मन्त्रिसांनिध्यमपेतुमर्हसि ।
श्रिया पिशाच्येव नृपत्वचत्वरे परिस्खलन्कश्छलितो न भूपतिः ॥१६॥

मार्गेण ॥११॥ अपत्यमिति—येन जातेन पितरः संसारे न पतन्ति तदेवापत्यं कृतिनः समीहन्ते ततो भवता सुपुत्रेणाहं संसारे पतन्नोपेक्षणीयः किन्तु तपोवनाय मुक्तिं लम्भनीय इत्यर्थः ॥१२॥ तत इति—ततो हे नयज्ञ ! मा प्रेरय । त्वदाज्ञया मोक्षं साधयामि । क्व सति । भूवलये त्वद्भुजदण्डस्थिते शेषो निश्चिन्तः सुखं तिष्ठतु भूभारस्य त्वयि स्थितत्वात् ॥१३॥ तवापीति—अथानन्तरं कुमारशिक्षाप्रक्रमः । यत्तव त्रिभुवनगुरोः शिक्षा सा भास्करस्य दीपदीधितिदर्शनमिव । इति ज्ञात्वापि यथा यत् शिक्षा दीयते तन्ममत्वमोह एव समर्थं कारणम् ॥१४॥ भृशमिति—भृशमेकाग्रहेण गुणाननुपार्जय यतः प्रशस्यगुणः पुमान् जनैः प्रारम्भेषु धनुर्दण्ड इव प्रशस्यते । यदि वा सता साधूना गुणा यस्य स सद्गुणो न दुर्जनः प्रशस्यः । गुणाच्च्युतो गुणच्युतः प्रत्यञ्चामुक्तशर इवातिभीषणोऽतिभयानकः पुमान् वैलक्ष्यं लज्जां क्षणेन प्रयाति । पक्षे भयप्रदस्तच्छरो वै स्फुटं लक्ष्यं वेध्यं प्रयाति ॥१५॥ उपात्तेति—परिपूर्णचतुरङ्गसामग्रीकोऽपि सप्ताङ्गराज्यरक्षणे न मन्त्रिणो दूरीकर्तुं त्वमर्हसि यतो लक्ष्म्या साम्राज्ये प्रवर्तमानो भूपतिः को न विप्लावितः । मन्त्रबलान्न विप्लवस्तादृशः सद्भावः । पक्षे गृहीतविषापहभेषजोऽपि न मान्त्रिकान् दूरीकरोति । औषधेन विषमेव निराक्रियते न चत्वरपरिभ्रमणसमुद्भूत-

---

हुए मार्गसे शीघ्र ही अविनाशी गृह—मुक्तिधामको प्राप्त करनेका प्रयत्न करूँगा ॥११॥ साधुजन उसी अपत्यकी इच्छा करते हैं जिसके उत्पन्न होने पर उसके पूर्वज पतित न होते हों। चूँकि आप अपत्यके गुणोंकी इच्छा रखते हैं—आप चाहते हैं कि योग्य अपत्यके गुण मुझमें अवतीर्ण हों अतः आपके द्वारा संसारमें पतित होता हुआ मैं उपेक्षणीय नहीं हूँ ॥१२॥ इसलिए हे नीतिज्ञ ! अनुमति दो कि जिससे मैं अपना मनोरथ सिद्ध करूँ। इस पृथिवी मण्डलके चिरकाल तक आपके भुजदण्डमें शयन करने पर शेषनाग भार रहित हो सुखसे वृद्धिको प्राप्त हो ॥१३॥ आप लोकत्रयके गुरु हैं अतः आपको शिक्षा देना सूर्यको दीपककी किरण दिखाना है—यह जानकर भी मेरे द्वारा जो कहा जा रहा है उसमें ममता जनित मोह ही कारण है ॥१४॥ गुणोंका खूब अर्जन करो क्योंकि उत्तम गुणोंसे युक्त [पक्षमें उत्तम डोरीसे युक्त] मनुष्य ही कार्योंमें धनुषके समान प्रशंसनीय होता है, गुणोंसे रहित [पक्षमें डोरीसे रहित] मनुष्य बाणके समान अत्यन्त भयंकर होने पर भी क्षणभरमें वैलक्ष्य—लज्जा [पक्षमें लक्ष्य भ्रष्टता] को प्राप्त हो जाता है ॥१५॥ यद्यपि आप समस्त अंगोंकी रक्षा करनेमें विद्वान् हैं तथापि मन्त्रियोंका सामीप्य छोडनेके योग्य नहीं हैं। क्योंकि पिशाचीके समान लक्ष्मीके द्वारा

---

१ विगतं लक्ष्यं यस्य विलक्ष्यं तस्य भावो वैलक्ष्यं अथवा वै स्फुटं निश्चयेन वा लक्ष्यं शरव्यं वेध्यं प्रयाति ।

न बद्धकोप स तथा यथाम्बुज विकोषमाक्रामति षट्पदोच्चय ।
पराभिभूतिप्रतिबन्धनक्षम नृपो विदध्यादिति कोषसंग्रहम् ॥१७॥
अनुज्झितस्नेहभर विभूतये विधेहि सिद्धार्थसमूहमाश्रितम् ।
स [1]पीलितः स्नेहमपास्य तत्क्षणात्खलीभवन् केन निवार्यते पुनः ॥१८॥
स मन्दरागोपहतः पयोनिधिर्मुमोच लक्ष्मी सगजामपि क्षणात् ।
इतीव जानन्निजसंनिधौ जनान्न मन्दरागाननिश विधास्यसि ॥१९॥
गतत्रपो यस्त्रपुणीव सन्मणि नियोजयेद्योग्यमयोग्यकर्मणि ।
विवेकवन्ध्य स महीपति कथ भवेदनौचित्यविदाश्रय सताम् ॥२०॥
अचिन्त्यचिन्तामणिमर्थसंपदा यशस्तरो स्थानकमेकमक्षतम् ।
अशेषभूभृत्परिवारमातर कृतज्ञता तामनिश त्वमाश्रय ॥२१॥

शाकिन्यादिदोष ॥१६॥ नेति—राज्ञा कोपसग्रहो भाण्डागारोपचय कार्य । तथाहि बद्धकोपमविकसित-मुकुलकमलमपि न तथा षट्पदेनोपद्रूयते यथा विकोष विकसितमिति । तत प्रतिपक्षपराभवनिराकरणसमर्थ महाद्रव्यसग्रह कुर्यादिति ॥१७॥ अनुज्झितेति—आश्रित सेवकजन सिद्धो दत्तोऽर्थसमूहो यस्य । यदि वा सिद्धो-ऽर्थसमूहो निजनिजकार्यजात यस्मात् । पुन किंविशिष्टम् । अनुज्झितस्नेह कृतानुबन्ध कुर्या । यदि नैव स्यात्तदा किमित्याह—उत्पीलित सर्वस्वादानेन कृशीकृत पूर्वप्रतिपन्नप्रीतिं परित्यज्य तत्काल दुर्जनायमान केन वार्यते । न केनापि । पक्षे यथा सिद्धार्थसमूह सर्षपराशिरमुक्ततैलो यन्त्रप्रयोगेण निपीलितस्तैल परित्यज्य पिण्याकीभवन् केन प्रतिपिष्यते । ॥१८॥ स इति—समुद्रोऽपि मन्दराद्रिमथित सैरावणा लक्ष्मी परित्यक्तवान्, इति जानन् भवानपि मन्दो रागो येषा ते मन्दरागास्तान् दृढवैरान् निजपरिवारे कर्तुं नार्हसि ॥१९॥ गतत्रप इति—यो निर्लज्जो वङ्गेऽनर्घ मणि जटति सोऽन्याधिकारयोग्यमन्याधिकारे नियोजयति । तथाहि दयालु तलवरनियोगे चण्डकर्माण च धर्माधिकरणे । इति सोऽनौचित्यज्ञो राजा साधूनामाश्रयणीयो न भवति ॥२०॥ अचिन्त्येति—किंच त्व कृतज्ञता सश्रय-उपकृत कस्यापि त्व मा विस्मार्षीरिति । या किंविशिष्टामित्याह—अचिन्त्यचिन्तामणिमशेषलक्ष्मीणा कीर्तिलतायाः प्ररोहस्थानक प्रसरमण्डप वा । अक्षत परिपूर्णम् । सकल-राजपरिवारजननीम् । कृतज्ञ सर्वे राजान आश्रयन्तीति सर्वगुणविभवाद्याश्रयश्च कृतज्ञ एव ॥२१॥

राज्य रूपी ऑगनमें स्खलित होता हुआ कौन राजा नहीं छला गया है ? ॥१६॥ भ्रमरोंका समूह जिस प्रकार कोष—कुड्मल रहित कमलको आक्रान्त कर देता है उस प्रकार बद्धकोष—कुड्मल सहित कमलको आक्रान्त नहीं कर पाता अतः राजाको चाहिए कि वह शत्रुजनित तिरस्कारके रोकनेमें समर्थ कोष सग्रह—खजानेका संग्रह करे ॥१७॥ स्नेहका भार न छोडने-वाले [पक्षमें तेलका भार न छोडने वाले] आश्रित जनको विभूति प्राप्त करनेके लिए सिद्धार्थ समूह—कृतकृत्य [पक्षमें पीतसरसों] बनाओ । क्योंकि पीडित किया नहीं कि वह स्नेह [पक्षमें तैल] छोड़कर तत्क्षण खल—दुर्जन [पक्षमें खली] होता हुआ पुनः किसके द्वारा रोका जा सकता है ? ॥१८॥ उस प्रसिद्ध समुद्रको मन्दरागोपहत—मन्दराचलके द्वारा उपहत होनेके कारण [पक्षमें मन्दस्नेह मनुष्योंके द्वारा उपहत होनेके कारण] तत्काल हस्ती—ऐरावत हाथी तथा लक्ष्मीका भी त्याग करना पडा था—ऐसा जानते हुए ही मानो आप कभी भी मन्दराग—मन्दस्नेह [पक्षमें मन्दराचल] जनोंको अपने पास न करेंगे ॥१६॥ जो निर्लज्ज रागामें उत्तममणिके समान अयोग्य कार्यमें योग्य पुरुषको लगता है वह विवेकसे विकल एवं औचित्यको न जाननेवाला राजा सत्पुरुषोंका आश्रय कैसे हो सकता है ? ॥२०॥ तुम निरन्तर उस कृतज्ञताका आश्रय लो जो कि धन सम्पदाओंके लिए अचिन्त्य चिन्तामणि

१. पीडित म० घ० च० छ० ज० ।

स्थितेऽपि कोषे नृपति पराश्रयी प्रपद्यते लाघवमेव केवलम् ।
अशेषविश्वभंरकुक्षिरच्युतो बलि भजन्कि न बभूव वामन' ॥२२॥

अनादृतोपक्रमकर्णधारका श्रयन्ति ये नीतिमिमा तरीमिव ।
विरोधिदुर्वातविदर्भिता विपन्नदी न दीना परिलङ्घयन्ति ते ॥२३॥

महोभिरन्यानिह कूपदेशवज्जडाशयाञ्शोषय भीषणै क्रमात् ।
यथा न लक्ष्म्या घटवोढयेव ते कृपाणधारासलिल विमुच्यते ॥२४॥

अपेक्ष्य काल कमपि प्रकर्षत स्फुरन्त्यमी धामधना अपि [२]ध्रुवम् ।
हिमेन तेनापि तिरस्कृति कृतामहो सहस्ये सहते न कि रवि ॥२५॥

विशुद्धपार्ष्णि प्रकृतीरकोपयञ्जयाय यायादरिमण्डल नृप ।
बहिर्व्यवस्थामिति बिभ्रदान्तराञ्जयो कथ स्यादनिरुध्य विद्विप ॥२६॥

स्थितेऽपीति—सर्वसामग्रीकोऽपि राजा यदि परसेवक स्यात्तदा लाघव लभते इत्यर्थं दृष्टान्तमाह—चतुर्दशब्रह्माण्डकुक्षिरपि कृष्णो वलिराजप्रार्थनात् कि खर्वशाखी न बभूव । अपि तु बभूवैवेति ॥२२॥ अनादृत इति—य एना नीतिं नावमिवाधिरोहन्ते शत्रुदुर्वातभ्रान्तामपि विपत्तरङ्गिणी नदीना सन्तस्तरन्ति ते । किविशिष्टा अपीत्याह—अनादृत उपक्रम एव कर्णधारको नौप्रेरको यैस्ते तथाविधा अपि अकृतकटकादिप्रयत्ना ॥२३॥ महोभिरिति—निजै प्रतापैरन्यान् महीपतीन् भीपणैर्भीतिगर्जिवाक्यैर्वा भीपयस्व शनै शनै । यथा साम्राज्यलक्ष्म्या घटचेटकयेव खड्गधाराजल न परित्यज्यते । यथा कूपादिपु शोपितेपु दासी नदीसलिलमेव वाञ्छति तथा अन्यभूपेपु भीरुपु लक्ष्मीस्तव खड्ग एव वसति ॥२४॥ अपेक्ष्येति—कमपि कालविशेष विचिन्त्य अमी प्रतापधना अपि जृम्भन्ते न सर्वदैव । अतिशयजाड्येनापि विहिता तिरस्कृति सहस्ये फाल्गुने (?) [पौषे] कि न प्रतापवान् सहते अपि तु सहत एव । आगन्तुकमुदय समीक्ष्य परिभवोऽपि सोढव्य । यथा सूर्य फाल्गुने (?) [पौषे] शीतपराभव सहमानो ग्रीष्मप्रतापाधिक्यमाप्नोति ॥२५॥ विशुद्धेति—निजवशीकृतपार्ष्णिग्राहराजक प्रकृतीरकोपयन् निजाङ्गसेवकान् बहुमन्यमान । जयाय जयनिमित्त यायात् इति पूर्वोक्तप्रकारेण बाह्यशत्रुविजयप्रकार बिभ्राणोऽपि आन्तरान्कामक्रोधादीनजित्वा कथ जयी स्यादित्यर्थ । मुनिरिव

है, कीर्ति रूपी वृक्षका अविनाशी मुख्य स्थान है और समस्त राजपरिवारकी माता है ॥२१॥ निजका खजाना रहने पर भी जो परका आश्रय लेता है वह केवल तुच्छताको प्राप्त होता है। जिसका उदर अपने आपमें समस्त ससारको भरने वाला है ऐसा विष्णु बलि राजाकी आराधना करता हुआ क्या वामन नहीं हो गया था। ॥२२॥ जो कार्यके कर्णधारकों—निर्वाहकों [पक्षमे नाविको] का अनादर कर नौकाकी तरह इस नीतिका आश्रय लेते हैं वे दीन जन विरोधी रूपी ऑधीसे विस्तृत—लहराती हुई विपत्ति रूपी नदीको नहीं तिर पाते हैं ॥२३॥ तुम इस संसारमे भयकर तेजके द्वारा क्रमक्रमसे कूपदेश—कुत्सित उपदेशवालोंके समान [पक्षमे कूपप्रदेशके समान] अन्य जडाशयो—मूर्खो [पक्षमे तालाबों] को सुखा दो जिससे कि घटधारिणी—पनहारिनके समान लक्ष्मीके द्वारा तुम्हारी खड्गधाराका जल न छोडा जा सके ॥२४॥ ये तेजस्वी जन भी किसी समयकी अपेक्षा कर ही अधिक प्रकाशमान हो पाते हैं। क्या पौषमाहमे सूर्य उस हिमके द्वारा कृत तिरस्कारको नहीं सहता। ॥२५॥ जिसकी पिछली सेना शुद्ध—निश्छल है ऐसा राजा मन्त्री आदि प्रकृति वर्गको कुपित न करता हुआ विजयके लिए शत्रुमण्डलकी ओर प्रयाण करे। जो इस प्रकार बाह्य व्यवस्थाको धारण करता हुआ भी अन्तरग शत्रुओको नहीं जीतता वह विजयी किस प्रकार हो सकता

१ विश्वभरि घ० म० ख० ग० । २ द्रुतम् म० घ० ।

ततो जयेच्छुर्विजिगीपुरान्तरान्यतेत जेतु प्रथम विरोधिन ।
कथ प्रदीप्तानवधीर्य वह्निना गृहानिहान्यत्र कृती व्यवस्यति ॥२७॥
यथावदारम्भविदो महीपतेर्गुणाय षाड्गुण्यमपि प्रजायते ।
असशय स्यादविमृश्यकारिणो मणि जिघृक्षोरिव तक्षकात्क्षय ॥२८॥
विधेयमार्गेषु पदे पदे स्खलन्नराधिनाथो मदमोहिताशय' ।
न शारदेन्दुद्युतिकुन्दसोदर यशोऽशुकं स्रस्तमवैति सर्वत ॥२९॥
हिनस्ति धर्मं हृदयाभिनन्दिनी तदर्पिता यो विलसन्नपि श्रियम् ।
स दुर्जनानामकृतज्ञचेतसा धुरि प्रतिष्ठा लभतामचेतन ॥३०॥
सुख फल राज्यपदस्य जन्यते तदत्र कामेन स चार्थसाधन' ।
विमुच्य तौ चेदिह धर्ममीहसे वृथैव राज्य वनमेव सेव्यताम् ॥३१॥
इहार्थकामाभिनिवेशलालसः स्वधर्ममर्माणि भिनत्ति यो नृप' ।
फलाभिलाषेण समीहते तरु समूलमुन्मूलयितु स दुर्मतिः ॥३२॥

कामक्रोधादीनपि गृह्णीयादित्यर्थ ॥२६॥ तत इति—तस्मात्पूर्वोक्तप्रकारात् जयाभिलापुको विजिगीपु कोपादीन् जेतु यत्न कुर्यात् । कथ नाम वह्निना जाज्वल्यमानान् निजगृहान् परित्यज्य विचक्षण कार्यान्तर करोति । न करोत्येव तथा राजापि कोपाग्निना दह्यमानचित्तोपशान्तिबाह्यप्रारम्भेषु न यतते ॥२७॥ यथावदिति—आत्मपरबलाबल ज्ञात्वा विग्रह कुर्यादिति निरूपयति—यथास्थितिप्रारम्भवेदिनो नृपते षाड्गुण्य सन्धिविग्रहयानासनसश्रयद्वैधीभावलक्षण गुणाय विजयाय जायते । सहसाकारिण पुनस्तक्षकमस्तक-मणिग्राहकस्येव नियमेन मृत्युरेव ॥२८॥ विधेयेति—कृत्यपदार्थेषु पौन पुन्येन मुह्यन गर्वमदिरामत्तो राजा निर्मल यशोवस्त्र पतितमपि न जानाति गर्वेण न्यायकरणादात्मनोऽकीर्ति प्रादुर्भवन्ती न बुध्यते ॥२९॥ हिनस्तीति—यो धर्मदत्ता मनोरमा लक्ष्मीमुपभुञ्जानो धर्ममेव निहन्ति स कृतघ्नाना दुर्जनाना प्रथम गणनीय स्यात् । धर्मप्रभावाद्राज्य लब्ध्वा धर्ममेव न करोति स सर्वथा मूढ एवेति भाव ॥३०॥ सुखमिति—तर्हि कामार्थावुपहत्य धर्ममेव सेवत इति निराकुर्वन्नाह—राज्यस्य सुख फल तच्च सुख कामेन साध्यते स कामो द्रव्यसाध्य नौ कामार्थौ चेत्परित्यज्य केवल धर्ममेव करोति तर्हि राज्य मुक्त्वा वनमेव शरण क्रियतामिति । राज्यसेवा हि यथाविधि वर्गत्रयार्थमिति नीतिज्ञा ॥३१॥ इहेति—यो नृपतिर्धर्ममर्माणि भिनत्ति कामार्थोप-

---

है ? ॥२६॥ अतः विजयके इच्छुक विजिगीषु राजाको सर्व प्रथम अन्तरग शत्रुओंको जीतने-का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि कुशल मनुष्य अग्निसे प्रज्वलित घरकी उपेक्षा कर अन्य कार्योंमें कैसे व्यवसाय कर सकता है ? ॥२७॥ सन्धि विग्रह आदि छह गुण भी उसी राजाके लिए गुणकारी होते है जो कि उनका यथायोग्य आरम्भ करना जानता है। बिना विचारे कार्य करनेवाले मनुष्यका निःसन्देह उस प्रकार नाश होता है जिस प्रकार कि तक्षक सर्पसे मणि ग्रहण करनेके इच्छुक मनुष्यका होता है ॥२८॥ जिसका आशय मद—गर्वसे मोहित हो रहा है ऐसा राजा कर्तव्य कार्योंमे पद पद पर स्खलित होता हुआ यह नहीं जानता कि शरद् ऋतुके चन्द्रमाकी कान्ति तथा कुन्दके फूलके समान उज्ज्वल मेरा यश रूपी वस्त्र सब ओरसे नीचे खिसक रहा है ॥२९॥ जो हृदयको आनन्दित करने वाली, धर्मद्वारा प्रदत्त लक्ष्मीका उपभोग करता हुआ भी धर्मको नष्ट करता है वह मूढ अकृतज्ञ चित्तवाले दुर्जनोंके आगे प्रतिष्ठाको प्राप्त हो—वह सबसे अधिक अकृतज्ञ कहलावे ॥३०॥ राज्य पदका फल सुख है, वह सुख कामसे उत्पन्न होता है और काम अर्थसे। यदि तुम दोनोंको छोडकर केवल धर्मकी इच्छा करते हो तो राज्य व्यर्थ है। उससे अच्छा तो यही है कि वनकी सेवा की जाय ॥३१॥ जो राजा धर्म और काम प्राप्तिकी लालसा रख अपने धर्मके मर्मोंका भेदन करता है वह

इहेहते यो नतवर्गसंपदं तथापवर्गप्रतिपत्तिमायतौ ।
अपास्तबाधं स निषेवते क्रमात्त्रिवर्गमेव प्रथमं विचक्षणः ॥३३॥
नृपो गुरूणां विनयं प्रदर्शयन्[1] भवेदिहामुत्र च मङ्गलास्पदम् ।
स चाविनीतस्तु तनूनपादिव ज्वलन्नशेषं दहति स्वमाश्रयम् ॥३४॥
धनं ददानोऽपि न तेन तोषकृत् तथा यथा साम समीरयन्नृपः ।
तदर्थसिद्धावपरैरुपायकैर्न सामसाम्राज्यतुलाधिरुह्यते ॥३५॥
त्वमत्र पात्राय समीहितं ददत् प्रसिद्धिपात्रं परमं भविष्यसि ।
अभिन्नतृष्णे जलधौ कमर्थिनो न बद्धपीताद्यपवादमादधुः ॥३६॥
नितान्तघोरं यदि न प्रसर्पता[2] कृतं कदर्यद्रविणेन पातकम् ।
अदृष्टलोकव्यवहारमन्वहं विपच्यते किं वसुधातलोष्मणा ॥३७॥

भोगाग्रहेण स फलाभिलाषेण वृक्षं समूलमुत्पाटयति । धर्मेण कामार्थौ लभ्येते तद्विघाती चिरं तावपि नोपभुनक्ति । यथा—वृक्षच्छेदेन फलोपभोगः ॥३२॥ इहेति—यो नतवर्गस्य सेवकजनस्य लक्ष्मीं वाञ्छति तथोत्तरकाले मोक्षप्राप्तिं च स निराबाधं धर्मार्थकामलक्षणं त्रिवर्गं सेवते । अथ च यः कश्चिन्न तवर्गं पवर्गं च वक्तुं वाञ्छति स क च ट लक्षणं प्रथमवर्गत्रयं व्याहरति । विचक्षणोऽपवर्गपरिहारवादी यः प्रजाः सुखाकरोति मुमुक्षुः सन् कामाश्चोपभुनक्ति तस्य वर्गत्रयं परिपूर्णमेवेति भावार्थः ॥३३॥ नृप इति—पूज्यानां राजा विनयपरः इह भवे परभवे च सुखकीर्त्याश्रियः स्यात् स एव पुनरविनीतो वह्निरिव कोपजाज्वल्यमानः सर्वं लोकमुपतापयति । यथा वह्निरविना मेषेण नीयत उह्यत इत्यविनीतो निजाश्रयमेव दहति ॥३४॥ धनमिति—कश्चिद् द्रव्यं ददानोऽपि न तेन द्रव्यदानेन न नृणां तोषकारी तथा स्याद्यथा साममधुरवचनानि जल्पन् । तस्मात्कार्यसिद्धौ बहुभिरप्यन्यैरुपायैर्न सामसादृश्यं प्राप्यते । दानात्प्रियालापः कार्यकर इति भावः ॥३५॥ त्वमिति—त्वं धर्मकार्यकामलक्षणाय पात्राय यथेप्सितं द्रव्यं ददानो महायशःस्थानं भविष्यसि । यदि न दीयते ततः किमित्याह—अपूरितजलपानाभिलाषे क्षारसमुद्रे मथितोऽयं देवैर्बद्धोऽयं रामेण पीतोऽयं कुम्भोद्भवेनेत्यपवादमुत्पादयामासुर्जनाः तस्मादवश्यं पात्राय दातव्यमिति ॥३६॥ नितान्तेति—कृपणद्रव्येण महापातकं कृतं, न कृतमिति चेत्पृथ्वीतलोष्मणा कथं प्रतिदिनमन्यथा पापच्यते । न दृष्टो लोकव्यवहारो येन तत्तथाभूतम् ॥३७॥

दुर्मति फलकी इच्छासे समूल वृक्षको उखाड़ना चाहता है ॥३२॥ जो इस समय नतवर्ग-सम्पदा—सेवकादि समूहकी सम्पत्तिकी और आगामी कालमें अपवर्ग—मोक्षकी इच्छा करता है [पक्षमें तवर्ग और पवर्गकी इच्छा नहीं करता] वह बुद्धिमान् निर्बाध रूपसे क्रमशः सर्वप्रथम त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और कामकी ही सेवा करता है [पक्षमें—कवर्ग, चवर्ग और टवर्ग] इन तीन वर्गोंकी ही सेवा करता है ॥३३॥ गुरुओंकी विनयको प्रदर्शित करता हुआ राजा इस लोक तथा परलोक—दोनों ही जगह मंगलका स्थान होता है। यदि वही राजा अविनीत—विनय हीन [पक्षमें अवि—मेष रूप वाहन पर भ्रमण करने वाला] हुआ तो अग्निके समान प्रज्वलित होता हुआ अपने समस्त आश्रयको जला देता है ॥३४॥ धन देता हुआ भी राजा उस प्रकार सन्तोषदायक नहीं होता जिस प्रकार कि सामका प्रयोग करता हुआ सन्तोषदायक होता है अतः अर्थ सिद्धिके विषयमें अन्य उपाय सामके साम्राज्यकी तुला पर नहीं बैठ सकते ॥३५॥ सत्पात्रके लिए इच्छित पदार्थ प्रदान करते हुए तुम इस लोकमें प्रसिद्धिके परम पात्र होगे। जिसकी तृष्णा समाप्त नहीं हुई ऐसे समुद्रके विषयमें याचक जन 'यह रामचन्द्रजीके द्वारा बाँधा गया' और 'अगस्त्य मुनिके द्वारा पिया गया' आदि क्या क्या अपवाद नहीं करते ? ॥३६॥ यदि फैलते हुए कृपण मनुष्यके धनके द्वारा अत्यन्त भयंकर पाप

१ प्रकाशयन् म० घ० । २ प्रसर्पते म० घ० ।

सुमन्त्रबीजोपचय कुतोऽप्यसौ परप्रयोगादिह भेदमोयिवान् ।
सुरक्षणीयो निपुणै फलार्थिभिर्यतः स भिन्नो न पुन. प्ररोहति ॥३८॥
पथि प्रवृत्त विषमे महीभृता नितान्तमस्थाननिवेशितो[1] भ्रमात् ।
स्वमन्धमाख्याति निपातयत्यपि प्रसह्य दण्ड खलु दण्डधारकम् ॥३९॥
धिनोति मित्राणि न पाति न प्रजा बिभर्ति भृत्यानपि नार्थसंपदा ।
न य स्वतुल्यान्विदधाति बान्धवान्स राजशब्दप्रतिपत्तिभाक्कथम् ॥४०॥
विचारयैतद्यदि केऽपि बान्धवा महाकविभ्योऽपि परे महीभुजः ।
यदीयसूक्तामृतसीकरैरसौ गतोऽपि पञ्चत्वमिहाशु जीवति ॥४१॥
इहोपभुक्ता कतमैर्न मेदिनी पर न केनापि जगाम सा समम् ।
फल तु तस्या सकलादिपार्थिवस्फुरद्गुणग्रामनयोर्जित[2] यश ॥४२॥
किमुच्यतेऽन्यद्गुणरत्नभूषणैर्विभूषयात्मानमनन्यसंनिभैः ।
स्वभावलोला अपि यैर्विलोभिता श्रियो न मुञ्चन्ति कदाचिदन्तिकम् ॥४३॥

रत्नालकरणैरात्मानमलकुरु यै स्वभावचपला अपि विलोभिता लक्ष्म्य कदापि न समीप मुञ्चन्ति ॥४३॥ सुमन्त्रेति—मन्त्रभेदो रक्षितव्य कस्मात्परप्रयोगादरिनीतिबलात् । यतोऽसौ मन्त्रप्रयोगो वत नोदित सन् पुनर्न कार्यं करोति । ज्ञाते मन्त्रार्थे तद्विधिं प्रति शत्रुणा दृढ प्रतिविधीयत इत्यर्थ ॥३८॥ पथीति—दण्डो यथोचितनिग्रहोऽनुचितपुरुषेषु कृतो 'निर्बुद्धिरन्ध इवाय राजा' इत्यपवादमुत्पादयति । विषमे दुरवगाहे मार्गे राज्ञा प्रवृत्त दण्डकारक पार्थिव पातयति च । यथा कस्यचित्पर्वतभूमौ विचलितस्य गर्तादौ निवेशिता यष्टिरन्ध कथयति न केवल तथा पातयति च ॥३९॥ धिनोतीति—यो मित्राणि न प्रीणयति, निजप्रजा न रक्षति, सेवकान्न पोषयति, अर्थसम्पत्त्या सहोदरांश्च निजतुल्यान्न करोति कथ स राजा स्यात् । ॥४०॥ विचारयेति—एतच्च तत्त्व मनसि विचारय यदि महाकविभ्योऽपि स्वजना अपरे भूपस्य सन्ति यत कारणाद्येषा महाकवीना वचनामृतबिन्दुभिर्मृता अपि जीवन्त इव पूर्वे नृपा तथा चोक्त 'अतीतोऽपि महाकविप्रबन्धे नायकीभूत प्रत्यक्ष इव' ॥४१॥ इहेति—इह मनुष्यलोके कै कैर्न भूपै पृथिवी न भुक्ता पर सा न केनापि सार्द्धं गता । एतावन्मात्रमेव फलमस्याश्चिरन्तनराजाधिक यश उपार्ज्यते ॥४२॥ किमिति—अत पर किमुच्यते । अनन्यसाधारणैर्गुण-

---

न किया होता तो वह लोकव्यवहारसे रहित हो प्रतिदिन पृथिवीतलकी ऊष्मासे क्यों पचता ? ॥३७॥ शत्रुके किसी भी प्रयोगसे भेदको प्राप्त होने वाला यह सुमन्त्ररूपी बीजोंका समूह फलकी इच्छा रखनेवाले चतुर मनुष्योंके द्वारा अच्छी तरह रक्षा करने योग्य है क्योंकि यह एक बार भेदको प्राप्त हुआ नहीं कि फिर जम नहीं सकता ॥३८॥ राजाओंके विषममार्गमें प्रवृत्त तीव्र दण्डधारकको, भ्रमवश अनुचित स्थानमें दिया हुआ दण्ड अपनेको अन्धा सूचित करता है और उसे बलपूर्वक पतित भी कर देता है—गिरा देता है ॥३९॥ जो न मित्रोंको सन्तुष्ट करता है, न प्रजाकी रक्षा करता है, न भृत्योंका भरण-पोषण करता है, और न अर्थ रूप सम्पत्तिके द्वारा भाई-बन्धुओंको अपने समान ही बनाता है वह राजा कैसे कहलाता है ? ॥४०॥ इस लोकमें मृत्युको प्राप्त हुआ भी राजा जिनके सुभाषित रूपी अमृतके कणोंसे शीघ्र ही जीवित हो जाता है उन महाकवियोंसे भी बढ कर यदि उसके कोई बान्धव हैं तो इसका विचार करो ॥४१॥ यह पृथिवी किन किनके द्वारा उपभुक्त नहीं हुई परन्तु किसीके भी साथ नहीं गयी फिर भी समस्त राजाओंके देदीप्यमान गुणसमूहकी नीतिसे उत्पन्न सुयश उस पृथिवीका फल कहा जा सकता है ॥४२॥ अधिक क्या कहा जाय ? तुम उन अनन्यतुल्य गुणरूपी रत्नमयी आभूषणोंसे अपने आपको विभूषित करो जिनके द्वारा लुभायी हुई लक्ष्मियाँ स्वभावसे चचल

---

१ निवेशिनो म० घ० । २. जयोर्मित म० घ० ।

इति प्रमोदादनुशास्य भूपतिस्तदैव दैवज्ञनिवेदितेऽहनि ।
बलादनिच्छन्तमपि न्यवीविशत्स धर्ममुच्चैरभिषेकपट्टके ॥४४॥

अथैष मूर्च्छत्सु मृदङ्गझल्लरीस्वनेषु रङ्गत्यपि मङ्गलध्वनौ ।
चकार चामीकरकुम्भवारिभिर्महाभिषेकं स्वयमस्य भूपतिः ॥४५॥

सभूषणे तत्परिधाप्य वाससी निवेशितस्यास्य मृगाधिपासने ।
स्वयं दधत्काञ्चनदण्डमञ्जसा पुरः प्रतीहारनियोगमादधे ॥४६॥

प्रसीद दृष्ट्या स्वयमेष नैषधो नमत्यवन्तीपतिरेष सेवते ।
इदं पुरः प्राभृतमङ्गभूपतेरयं स कीरो विनयेन भाषते ॥४७॥

सितातपत्रं द्रविडो बिभर्त्यसौ सचामरौ केरलकुन्तलाविमौ ।
इति प्रियैरप्यपदानुवर्तिनः पितुर्वचोभिः शुचमेव सोऽवहत् ॥४८॥

प्रभाकरे गच्छति वृद्धिमेकतः कलानिधौ राज्ञि विवृत्तिमन्यतः ।
रराज राज्यं रजनीविरामवत्तदा न नक्षत्रविशेषशोभितम् ॥४९॥

इतीति—इति पूर्वोक्तप्रकारेण शिक्षयित्वा तस्मिन्नेव दिने गणकनिर्धारितेऽनभिलपन्तमपि बलादभिषेकपट्टके राज्याभिषेकसिंहासने श्रीधर्मनाथं निवेशयामास ॥४४॥ अथेति—अथानन्तरमयं महासेनो राजा मङ्गलतूर्येषु वाद्यमानेषु सुवासिनीमङ्गलगीते च प्रगीयमाने सुवर्णकलशसलिलैरस्य स्वयमेवाभिषेकं चकार ॥४५॥ सभूषण इति—अस्य गृहीतकटककुण्डलादिविभूषणस्यालंकृतमङ्गलक्षौमस्य राज्यसिंहासनस्थापितस्याग्रे राजा स्वयमेव कनकदण्डं गृहीत्वा प्रतीहारपदं विदधे ॥४६॥ प्रसीदेति—हे धर्मनाथ ! दृष्ट्या प्रसादं कुरु, एष निषधपतिः प्रणमति, अयं च मालवपतिः सविनयं सेवते, इदमग्रतः प्रथमं प्राभृतमङ्गभूपस्य, कीरदेशाधिपो विनयेन किमपि विज्ञपयति ॥४७॥ सितेति—अयं द्रविडनाथः सितं छत्रं धत्ते, इमौ च केरलकुन्तलेश्वरौ कृतबालव्यजनौ, इति मनोरञ्जकैरपि मुक्तजनपदजनकवचनैः पितृवत्सलत्वाद्धर्मनाथः शोकमेव बभार ॥४८॥ प्रभाकर इति—तदा तद्राज्यं कृतराज्याभिषेके धर्मनाथे, महासेने च तपोवनं जिगमिषौ प्रभातसदृशं विभाति स्म । यथा प्रभातं सूर्येऽभ्युदयं गच्छति चन्द्रे चास्तमयमाने नक्षत्रविशेषैर्न शोभितं किन्तु तदवस्थमेव । प्रभाकर-धर्मनाथयोश्चन्द्रमहासेनयो राज्यप्रभातयोश्चोपमानोपमेयभावः । कलाः स्वतो विशेषाभिर्लिखितपठितादि-

होने पर भी कभी समीपता नहीं छोड़तीं ॥४३॥ इस प्रकार हर्षके साथ उपदेश देकर महासेन महाराजने ज्योतिषियोंके द्वारा बतलाये हुए उसी दिन श्रीधर्मनाथको उनके स्वयं न चाहने पर भी अभिषेक पीठ पर जबरदस्ती बैठाया ॥४४॥ तदनन्तर, जब कि मृदंग और झल्लरीके शब्द बढ़ रहे थे तथा मंगलध्वनि सब ओर फैल रही थी तब राजा महासेनने सुवर्णकलशके जलसे स्वयं ही उनका महाभिषेक किया ॥४५॥ स्वयं ही आभूषण सहित वस्त्र पहिना कर सिंहासन पर बैठाया और स्वयं ही सुवर्णका दण्ड लेकर उनके आगे प्रतिहारका कार्य करने लगे ॥४६॥ दृष्टि द्वारा प्रसन्न होओ, यह नैषध स्वयं ही नमस्कार कर रहा है, यह अवन्तीश्वर स्वयं सेवा कर रहा है यह सामने अंग देशके राजाकी भेंट रखी है, और यह कीर देशका राजा विनयपूर्वक भाषण कर रहा है ॥४७॥ यह द्रविडनरेश सफेद छत्र धारण कर रहा है और ये केरल तथा कुन्तल देशके राजा चमर लिये हुए हैं—इस प्रकार अनुचित स्थान पर विद्यमान पिताके वचन यद्यपि प्रिय थे फिर भी यह धर्मनाथ उनसे शोकको ही प्राप्त हो रहे थे ॥४८॥ उस समय एक ओर तो प्रभाके आकर भगवान् धर्मनाथ रूपी सूर्य वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे और दूसरी ओर कलाओंके निधि राजा महासेन रूपी चन्द्रमा निवृत्तिको प्राप्त हो रहे थे अतः वह राज्य रात्रिके अवसानके समान सुशोभित नहीं हो रहा था क्योंकि जिस प्रकार रात्रिका अवसान काल नक्षत्रविशेषसे—खास खास नक्षत्रोंसे सुशोभित होता है उसी प्रकार वह राज्य

पुरा त्रिलोक्यामपि मन्दरे सुरैः कृतेऽभिषेके किमिद पुन' पुन' ।
इति स्फुरद्दन्तरुचेव निर्मलं नभोऽट्टहास पटहस्वनैर्व्यधात् ॥५०॥
कृताभिषेको न परं स गामिमा प्रसूनगन्धोदकरत्नवृष्टिभि. ।
दुदोह कामान् दिवमप्यसशयं किमस्त्यसाध्य सुकृतात्मनामपि ॥५१॥
स पञ्जरेभ्यः कलकेलिपक्षिणो विपक्षबन्दीश्च विमोचयन्नृप' ।
मनोरथादप्यधिकं ददत्तदा प्रवर्तयामास न कस्य संमदम् ॥५२॥
जनेषु गायत्सु जगौ प्रतिस्वनैर्ननर्त नृत्यत्स्वपि लोलकेतुभि ।
अवाप्य सहर्षमिवोत्सवे प्रभोर्मुदा न किं किं विदधे तदा पुरम् ॥५३॥
इति व्यतिक्रम्य दिनानि कानिचिन्महोत्सवेऽस्मिञ्जरठीभवत्यपि ।
स पुत्रमापृच्छ्य तपश्चिकीर्षया ययौ महासेनमहीपतिर्वनम् ॥५४॥
अथ श्लथीभूतविमोहबन्धनोऽप्यसौ वियोगात्पितुरन्वतप्यत ।
अवेत्य ससारगति तत स्वयं प्रबुद्धमार्ग' समचिन्तयत्प्रजाः ॥५५॥

भिश्च । प्रभा प्रतापो दीप्तिश्च ॥४९॥ पुरेति—पूर्वं महेन्द्रगणैर्मन्दरमस्तकाभिषेके त्रिभुवनराज्ये भगवान् प्रतिष्ठित तत्किमिद पौन पुन्येन राज्याभिषेचनमिति प्रभुभावनिर्मल दन्तप्रभाभिरिव धवल महाट्टहास पटहस्वन-व्याजाद् गगन कर्तुं चकार । तदा निर्मल नभो दुन्दुभिनिनादश्च बभूवेत्यर्थ ॥५०॥ कृतेति—स श्रीधर्मनाथ साम्राज्यदीक्षितो न केवल भूमिमेव वाञ्छित दुग्धवान् पुष्पगन्धोदकरत्नवृष्टिव्याजेनाभिलषित निश्चित गगनमपि दुदोह । पुण्यात्मना न किमप्यसाध्य किन्तु सर्वमपि साध्यम् ॥५१॥ स इति—स शुकसारिकादीन् शत्रुबन्दीश्च मोचयन् याचिताधिक द्रव्य च ददान कस्य समदहेतवे न बभूव । पक्षिणा शत्रूणा च स विशेष-हर्षहेतुरिति भाव ॥५२॥ जनेष्विति—पुर कर्तृ जनेषु गीत कुर्वत्सु प्रतिध्वानैर्गीत चकार नटत्सु च नटयाचकार चञ्चलकेतुभि । नगरेणापि हर्षवशात् तदा गीतनृत्यादिक सर्वं कृतमिति भाव ॥५३॥ इतीति—इति पूर्वोक्तप्रकारेण तस्मिन्प्रभौ राज्य प्रतिपालयति राजा त मुत्कलाप्य (?) ततो वनाय प्रतस्थे ॥५४॥ अथेति—अथानन्तर महासेने प्रव्रजिते श्लथीभूतममत्वमूर्च्छाविशेषो जनकविरहादनुताप कृतवान् । तदनु ससारमीदृशस्वरूप परिज्ञाय लोकस्थिर्ति विलोकयाचकार । राज्यभार यथोचितमूढवानित्यर्थ ॥५५॥

भी नक्षत्र-विशेष सुशोभित—क्षत्रिय विशेषसे सुशोभित नहीं था ॥४९॥ पहले तीनों लोकोंमे श्रेष्ठ सुमेरु पर्वत पर देवोंके द्वारा इनका अभिषेक किया जा चुका है फिर यह बार बार क्यों किया जा रहा है ? इस प्रकार दाँतों की कान्तिसे ही सुशोभित निर्मल आकाश नगाडों-के शब्दोंके बहाने मानो अट्टहास ही कर रहा था ॥५०॥ जिनका अभिषेक किया जा चुका है ऐसे भगवान् धर्मनाथने केवल इसी पृथिवीको ही नहीं किन्तु पुष्प गन्धोदक और रत्न वृष्टिके द्वारा आकाश अथवा स्वर्गको भी निःसन्देह दोह डाला था सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यात्मा पुरुषोंको क्या असाध्य है ? ॥५१॥ पिंजरोंसे क्रीडाके मनोहर पक्षियोंको और [कारावाससे] शत्रु बन्दियोंको मुक्त कराते एवं मनोरथसे भी अधिक धन देते हुए उन्होंने किसका आनन्द नहीं बढाया था ? ॥५२॥ उस समय वह नगर लोगोंके आने पर प्रतिध्वनिके द्वारा स्वय गा रहा था और नृत्य करने पर चंचल पताकाओंके द्वारा नृत्य भी कर रहा था। इस प्रकार प्रभुके उत्सवमें हर्षित होकर आनन्दसे क्या क्या नहीं कर रहा था ? ॥५३॥ इस प्रकार कुछ दिन व्यतीत कर जब वह महोत्सव पुराना हो गया तब महासेन महाराज पुत्रसे पूछ कर तप करने की इच्छासे वनमे चले गये ॥५४॥ यद्यपि भगवान् धर्मनाथके मोह रूपी बन्धन शिथिल थे तथापि वह पिताके वियोगसे बहुत सन्तप्त हुए। तदनन्तर ससारका

१ पुरे छ० ।

प्रजा' प्रशस्या खलु ता स्मरन्त्यमु जिनेश्वर या प्रविधूतकल्मपम् ।
स्तुम कथ तत्सुकृतानि चिन्तन चकार यासा स्वयमेव स प्रभुः ॥५६॥
क्वचिन्न चक्रे करवालकर्षण न चापराग विदधे कमप्यसौ ।
स कोमलेनैव करेण लालयन्वशीचकारैकवधूमिव क्षितिम् ॥५७॥
गुणार्णव नम्रनरामरोरगस्फुरत्किरीटोच्चयचुम्बितक्रमम् ।
पतिं समासाद्य मही महीयसी बभूव लोकद्वितयादपि ध्रुवम् ॥५८॥
न चापमृत्युर्न च रोगसचयो बभूव दुर्भिक्षभय न च क्वचित् ।
महोदये शासति तत्र मेदिनी ननन्दुरानन्दजुषश्चिर प्रजा ॥५९॥
ववौ समीर सुखहेतुरङ्गिनां हिमादिवोष्णादपि नाभवद्भयम् ।
प्रभोः प्रभावात्सकलेऽपि भूतले स कामवर्षी जलदोऽप्यजायत ॥६०॥
ध्रुव भुजस्तम्भनियन्त्रिता गुणैरनेन गाढ करिणीकृताचला ।
कुतोऽन्यथा भूभृदुपायनच्छलात्समाययु काममदोद्धता गजा ॥६१॥

प्रजा इति—ते लोका धन्या ये निर्दोप जिन ध्यायन्ति । येपा पुन स्वयमेव स प्रभुश्चिन्ता चकार तेषा पुण्यानि कथ वय स्तोतु शक्नुम । तस्य राज्यसमये ये जनास्ते महाधन्या ॥५६॥ क्वचिदिति—स प्रभु समुद्रसीमभूवलय निजभोग्य चकार तर्हि समरसकटमार्दनकदर्थितो भविष्यति । तन्न, क्वचिदपि खड्ग नाकृष्टवान् न च कमपि विराग कृतवान् । किच सुखदेयराजभागादानेन यथा कश्चित् हस्तकुन्तलाकर्षणमकुर्वन् चित्तखेद चानुत्पाजयन् कोमलकरस्पर्शेनैव नवोढा सुखाकुर्वन् वशीकरोति ॥५७॥ गुणेति—त गुणसमुद्र प्रभु नतनरेन्द्रस्फुरन्मुकुटकोटिसघटितपाद प्राप्य स्वर्गपातालाभ्या पृथ्वी पृथ्वी बभूव । यत पातालस्वर्गयोरपि नाथास्त त्रिसन्ध्य सेवन्ते ॥५८॥ नेति—तस्मिन्प्रभौ प्रजा पालयत्पूर्णायुर्मरण न बभूव । यदि अहिविषकण्टकविद्युदादिभिर्मरणमपमृत्यु । न च रोगसभवो न च दुर्भिक्षागम । महाप्रमोदा जना नन्दन्ति स्म ॥५९॥ ववाविति—किच सुखस्पर्शो वायुर्वाति स्म न च चण्डवेग । शीतग्रीष्मकालौ च न दु खोत्पादकौ । तस्य प्रभो प्रभावान्मेघोऽप्यभिलषित जल वर्षति स्म ॥६०॥ ध्रुवमिति—निश्चित तेन प्रभुणा पृथ्वी भुजस्तम्भबद्धा गुणै करदीकृता । तथाहि समस्तराजप्राभृतनिवेशिता गजा समायान्ति । पक्षे करिणीकृता हस्तिनी पृथ्वी गुणैर्वारीभि स्तम्भे

स्वरूप समझ उन्होंने स्वयं कर्तव्यमार्गका निश्चय किया और प्रजाकी चिन्ता करने लगे ॥५५॥ वह प्रजा प्रशसनीय है जो कि पापको नष्ट करनेवाले इन जिनेन्द्रका सदा स्मरण करती है परन्तु उस प्रजाके पुण्यकी हम किस प्रकार स्तुति करें जिसकी चिन्ता वह जिनेन्द्र ही स्वयं करते थे ॥५६॥ उन्होंने न तो कभी करवाल कर्षण—तलवारका कर्षण किया था [पक्षमे हस्त और बाल पकड कर खींचे थे] और न कभी चापराग—धनुषमे प्रेम [पक्षमे अपराग—विद्वेष] ही किया था। केवल कोमल कर—टैक्स [पक्षमे हाथ] से ही लालन कर स्त्रीके समान पृथिवीको वश कर लिया था ॥५७॥ जिनके चरण नम्रीभूत मनुष्य, देव और नागकुमारोंके देदीप्यमान मुकुटोंके समूहसे चुम्बित हो रहे थे ऐसे गुणसागर श्रीधर्मनाथ स्वामीको पति पाकर यह पृथिवी अन्य दोनों लोकोंसे सदा के लिए श्रेष्ठ हो गयी थी ॥५८॥ महान् वैभवके धारक भगवान् धर्मनाथ जब पृथिवीका शासन कर रहे थे तब न अकालमरण था, न रोगोंका समूह था, और न कहीं दुर्भिक्षका भय ही था। आनन्दको प्राप्त हुई प्रजा चिरकाल तक समृद्धिको प्राप्त होती रही ॥५९॥ उस समय भगवान्के प्रभावसे समस्त पृथिवी तल पर प्राणियोंको सुखका कारण वायु बह रहा था, सर्दी और गरमीसे भी किसीको भय नहीं था और मेघ भी इच्छानुसार वर्षा करनेवाला हो गया था ॥६०॥ ऐसा जान पडता है कि इन धर्मनाथ स्वामीने गुणोंके द्वारा [पक्षमें रस्सियोंके द्वारा] अपनी भुजा रूप

अजस्रमासीद्‌घनसपदागमो [1]न वारिसपत्तिरदृश्यत क्वचित् ।
महौजसि त्रातरि सर्वत सता सदा पराभूतिरभूदिहाद्‌भुतम् ॥६२॥

न नीरसत्त्व सलिलाशयादृते दधावध[2] पङ्कजमेव सद्‌गुणान् ।
अभूदधर्मद्विषि तत्र राजनि त्रिलोचने यद्यजिनानुरागिता ॥६३॥

प्रसह्य रक्षत्यपि नीतिमक्षतामभूदनीति सुखभाजन जन ।
भयापहारिण्यपि तत्र सर्वत क्व नाम नासीत्प्रभयान्वित क्षितौ ॥६४॥

त्रिसन्ध्यमागत्य पुरन्दराज्ञया सुराङ्गना दर्शितभूरिविभ्रमा ।
वितन्वते स्म स्मरराजशासन सुखाय सगीतकमस्य वेश्मनि ॥६५॥

नियन्त्रिता । तथाहि कामकदर्थितात् स्पर्शलुब्धा मत्तगजा समायान्ति पक्षे काम मदोद्धता ॥६१॥ अजस्रमिति—तत्र महस्विनि भूपाले प्रचुरद्रव्यागमो बभूव न च वा शत्रुसपराय क्वचिदपि दृष्ट । सता साधूना परा अनन्यसदृशी भूति प्रभावलक्ष्मीरभूत् । एतच्चेहाद्भुत चित्र यन्मेघसपदागमे सलिलसपत्तिर्नासीत् । साधूना परोत्कृष्टा भस्मसपत्तिरिति वर्णविरोधोऽयमलकार ॥६२॥ नेति—नीरस्य सत्त्व बल नीरसत्त्व पक्षे मूर्खत्व तडाग एव । गुणास्तन्तून् नालाश्रितान् पद्ममेवाधोभागे चकार नान्य कश्चिद्‌गुणाध कारी । तत्र धर्मविजयिनि अजिनानुरागिता चर्मच्छादनाभिलाप शकर एव । अन्य सर्वोऽपि जन आर्हत एवेति परिसख्येयमलकृति ॥६३॥ प्रसह्येति—तस्मिन्प्रभौ बलात्कारेण नीति पालयत्यपि जनो निरीतिरासीत् अतिवृष्टिप्रभृतीतिसप्तकरहित । सर्वभयापहारके प्रभयान्वित प्रकृष्टतेजसा युक्त । यत्र नीतिस्तत्रानीति कथम् । भयापहारके प्रकृष्टभययुक्त इति विरोध ॥६४॥ त्रिसन्ध्यमिति—इन्द्रादेशाद्रम्भादयो देवाङ्गना आगत्य अस्याग्रत प्रेक्षणक चक्रुस्त्रि-

---

स्तम्भमे अतिशय निबद्ध पृथिवीको करिणी—हस्तिनी [पक्षमे टैक्स देने वाली] बना लिया था। यदि ऐसा न होता तो राजाओंके उपहारके छलसे कामके मदसे उद्धत हाथी क्यों आते? ॥६१॥ अतिशय तेजस्वी भगवान् धर्मनाथके सब ओर सज्जनोंकी रक्षा करने पर घन-सम्पदागम—मेघ रूपी सम्पत्तिका आगम [पक्षमें अधिक सम्पत्तिकी प्राप्ति] निरन्तर रहता था किन्तु वारिसम्पत्ति—जल रूप सम्पदा [पक्षमें शत्रुओंकी सम्पदा] कहीं नहीं दिखाई देती थी और सदा पराभूति—अत्यधिक भस्म अथवा अपमान [पक्षमें उत्कृष्ट वैभव] ही दिखता था—यह भारी आश्चर्यकी बात थी ॥६२॥ अधर्मके साथ द्वेष करनेवाले भगवान् धर्मनाथके राजा रहने पर नीरसत्व—जलका सद्भाव जलाशयके सिवाय किसी अन्य स्थान मे नहीं था, [पक्षमे नीरसता किसी अन्य मनुष्यमें नहीं थी], सद्‌गुणोंको—मृणाल तन्तुओं को कमल ही नीचे धारण करता था, अन्य कोई सद्‌गुणों—उत्तमगुणवान् मनुष्योंका तिरस्कार नहीं करता था और अजिनानुरागिता—चर्मसे प्रीति महादेवजीमे ही थी, अन्य किसीमे अजिनानुरागिता—जिनेन्द्र विषयक अनुरागका अभाव अथवा जिनेन्द्रातिरिक्त देव विषयक अनुराग नहीं था ॥६३॥ यद्यपि भगवान् धर्मनाथ अखण्डित नीतिकी रक्षा करते थे फिर भी लोग अनीति—नीति रहित [पक्षमे अतिवृष्टि आदि ईति रहित] होकर सुखके पात्र थे और वे यद्यपि पृथिवीमे सब ओर भयका अपहरण करते थे फिर भी प्रभयान्वित—अधिक भयसे सहित [पक्षमे प्रभासे सहित] कहाँ नहीं था। सर्वत्र था ॥६४॥ अत्यधिक हाव-भाव चेष्टाएँ दिखलाने वाली देवागनाएँ इन्द्रकी आज्ञासे तीनों सन्ध्याओंके समय इनके घर

---

१ स वारि म० घ० । २ को म० ।

वक्त्राब्जेन जयश्रिय विकसता क्रोडीकृता दर्शयन्
हस्तोदस्तजयध्वजेन विदधद्वयक्तामथैना पुन ।
एक· प्राप सुषेणसैन्यपतिना सप्रेषित ससद
तस्यानेकनृपप्रवर्तितसमिद्वृत्तान्तविद्वार्तिक· ॥६६॥

प्रणतशिरसा तेनानुज्ञामवाप्य जगत्पते
कथयितुमुपक्रान्ते मूलादिहाजिपराक्रमे ।
श्रवणमयतामन्यान्यापुस्तदेकरसोदया-
दपरविषयव्यावृत्तानीन्द्रियाणि सभासदाम् ॥६७॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये
राज्याभिषेको नामाष्टादश सर्गः ॥१८॥

सन्ध्यम् ॥६५॥ वक्त्राब्जेनेति—सुषेणसेनापतिप्रहितो लेखहर सभा प्रविश्य विविधराजकृतसग्रामवृत्तान्तवेदी समाजगाम । किं कुर्वन्नित्याह—विकसता मुखेन जयलक्ष्मी क्रोडीकृता दर्शयन्, हस्तगृहीतोद्र्ध्वजयपताकेन च तामेव व्यक्ता विदधान , जयपताका गृहीत्वा दूत समागत इति भाव ॥६६॥ प्रणतेति—तेन दूतेन विनयपरेण प्रभोरनुज्ञा गृहीत्वा कथयितुमारब्धे समूल समरव्यतिकरे सभ्यजनानामपरेन्द्रियाणि कर्णमयता प्रापु । औत्सुक्यैकरसश्रवणाभिलाषेण निजविषयपराङ्मुखानि । एकाग्रचित्तेन सर्वे सभ्या शुश्रूषवो बभूवुरित्यर्थ ॥६७॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयश कीर्तिविरचिताया सन्देह-
ध्वान्तदीपिकाया धर्मशर्माभ्युदयटीकायामष्टादश सर्ग ॥१८॥

आकर सुखके लिए कामवर्धक संगीत करती थीं ॥६५॥ तदनन्तर सुषेण सेनापतिके द्वारा भेजा, अनेक राजाओंके द्वारा प्रवर्तित युद्धके वृत्तान्तको जाननेवाला वह दूत उनकी सभा मे आया जो कि अपने खिले हुए मुख-कमलके द्वारा पहले तो विजयलक्ष्मीको अप्रकट रूपसे दिखला रहा था और तत्पश्चात् हस्त उठायी हुई विजयपताकाके द्वारा उसे स्पष्ट ही प्रकट रहा था ॥६६॥ उस नतमस्तक दूतने जगदीश्वरकी आज्ञा प्राप्त कर जब प्रारम्भसे ही युद्धके पराक्रमका वर्णन करना शुरू किया तब सभासदोंकी इन्द्रियाँ उसी एकके सुननेमे अत्यधिक स्नेह होनेके कारण अन्य अन्य विषयोंसे व्यावृत्त होकर श्रवणमयताको प्राप्त हुई थीं—मानो कर्ण रूप हो गयी थीं ॥६७॥

इस प्रकार महाकवि श्रीहरिचन्द्र द्वारा विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें
राज्याभिषेकका वर्णन करने वाला अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१८॥

एकोनविंशः सर्गः

आहवक्रममामूलमथ दूत पुर' प्रभोः। आह वक्रममामूलमिति विद्वेषिभूभुजाम् ॥१॥

कार्यशेषमशेषज्ञोऽशेषयित्वा स निर्ययौ। यावत्संबन्धिनो देशात्सुपेण सह सेनया ॥२॥

तावदङ्गादयः क्षोणीभुजो दाराधियातया। वामयास्यानुजग्मुस्ते भुजोदारा धिया तया ॥३॥

[युग्मम्]

अथ तै' प्रेषितो दूत पृथ्वीनाथैर्युयुत्सुभि। साक्षाद्गर्व इवागत्य तमवोचच्चमूपतिम् ॥४॥

त्व क्षमो भुवनस्यापि तेने नेन प्रभास्वत। तवानूना चमूचक्रे तेनेऽनेन प्रभा स्वत ॥५॥

तवानूरोरिवाकाशे प्रभुभक्तिर्न बाधिका। अग्रेसरी पुनः किं न वारिराशौ निमज्जत' ॥६॥

आहवेति—अथ सुपेणसेनापतिप्रेपितो दूत प्रभो श्रीधर्मनाथस्य पुर आमूलमाहवक्रम सग्रामक्रममाह। कथभूतम्। वक्र विपमम् अतएव अमामूलम् अलक्ष्मीमूलम्। केषाम्। विद्वेषिभूभुजाम्। कथम्। इति वक्ष्यमाणप्रकारेण ॥१॥ कार्येति—यावत्सुषेण सवन्धिनो देशान्निर्गतस्तावत्तेऽङ्गादय क्षोणीभुजोऽस्यानुजग्मुरस्य पृष्ठतो लग्ना'। कथभूता। भुजोदारा बाहुवीर्यशालिन। कया। तया धिया। किंविशिष्टया। वामया वक्रया। ननु ईदृशी बुद्धि वक्रा कुतो जाता तेषाम्। तत्राह—दाराधियातया शृङ्गारवतीसकाशात्समुत्पन्नमन पीडाया प्रासयेत्यर्थ ॥२–३॥ अथेति—अनन्तर तैरङ्गादिभिर्युयुत्सुभि प्रेपितो दूतस्त चमूपतिमाह ॥४॥ त्वमिति—त्व भुवनस्यापि क्षमो भुवनमध्ये त्व सामर्थ्ययुक्त। तेन कारणेन अनेन इनेन स्वामिना तव प्रभा स्वभावत प्रभायुक्तस्य चमूचक्रे सेनासमूहे प्रभा तेने। प्रभुत्व दत्त। स्वत स्वस्मात् सेवा कृतेत्यर्थ ॥५॥ तवेति—तव प्रभुशक्तिर्न बाधिका नोपद्रवकारणम्। कस्येव। अनूरोरिव। क्व। आकाशे गगने अन्यत्र शून्ये अरिराशौ पुनर्निमज्जत' सैव प्रभुशक्ति किं अग्रेसरो न भवति। अपि तु भवत्येव। नवा इत्यव्ययपद निषेधे। अरुणपक्षे

तदनन्तर जो वक्र है और शत्रुराजाओंकी अलक्ष्मीका मूल कारण है ऐसे युद्धक्रमको वह दूत प्रारम्भसे ही भगवान् धर्मनाथके आगे निम्न प्रकार कहने लगा ॥१॥ उसने कहा कि समस्त कार्योंको जानने वाला सुषेण सेनापति अवशिष्ट कार्यको पूरा कर ज्योंही अपनी सेनाके साथ सम्बन्धीके देशसे बाहर निकला त्योंही स्त्री सम्बन्धी मानसिक व्यथासे प्राप्त हुई कुटिल बुद्धिसे उपलक्षित एव उत्कृष्ट भुजाओंसे युक्त अग आदि देशोंके राजा उसके पीछे हो लिये ॥२-३॥ तदनन्तर युद्धकी इच्छा रखनेवाले उन राजाओंने सर्व प्रथम एक दूत भेजा और वह दूत साक्षात् अहकारके समान सेनापति सुषेणके पास आकर कहने लगा ॥४॥ चूंकि आप स्वयं तेजस्वी हैं और उस पर भी जगत्के स्वामी भगवान् धर्मनाथके द्वारा आपकी सेनाके समूह पर स्वयं ही उत्कृष्ट प्रभा विस्तृत की जा रही है अतः आप सब तरहसे समर्थ हैं ॥५॥ किन्तु जिस प्रकार सूर्यसारथिकी जो प्रभुत्वशक्ति आकाशमे नयी नयी और अधिक अधिक होती रहती है उसकी वही शक्ति समुद्रमे निमग्न होते समय क्या उसके अग्रेसर नहीं होती? अवश्य होती है, उसी प्रकार आपकी जो प्रभुत्व शक्ति आकाशकी तरह शून्य प्रदेशमे प्रतिक्षण नयी नयी और अधिक अधिक होती रहती है अथवा किसीसे बाधित नहीं होती है, आपकी वही शक्ति शत्रुओंके समूहमे निमग्न होते समय—नष्ट होते समय क्या आपके अग्रेसर नहीं होगी? अवश्य होगी अर्थात् शत्रुओंके बीच आते ही आपकी समस्त प्रभुत्व शक्ति नष्ट

चतुरङ्गां चमूं त्यक्त्वा चतुरं गां गत: कथम् । प्रभयाधिकरक्षां स प्रभयाधिगतोऽवति ॥७॥

कार्मणेनैव तेनोढा सा शृङ्गारवतीति य: । साशङ्कस्ते कृत: पत्या राजवर्ग: प्रणश्यता ॥८॥

नवमायोधनं शक्त्यानवमायो धनं ददत् । समनागबलः कर्तुं स मनागवलत्त्वया ॥९॥ [युग्मम्]

लक्ष्मीजिघृक्षया तुभ्यं राजकं नापराध्यति । किं तु रीत्येव वैदर्भ्या गौडीयायाभ्यसूयितम् ॥१०॥

मारसारसमाकारा राकामा सरसा रमा । सा गता हसना तेन न तेनासहतागसा ॥११॥

(प्रतिलोमानुलोमपाद:)

त्वामिहायुङ्क्त विध्वस्तभूतलोपकृतिश्रमम् । न वापराधकृन्नाथ: केवलं भूतिहेतवे ॥१२॥

तु वारिराशौ निमज्जत इति पदभङ्ग्या व्याख्येयम् ॥६॥ चतुरङ्गामिति—कथं त्वदीय: प्रभु: चतुरङ्गां चमूं त्यक्त्वा गत: सन् गां पृथ्वीं चतुरमवति । भव्येन पालयति यत: कारणात् पृथ्वी प्रभया ते ऽसाधिकरक्षां स च प्रभयाधिगत: प्रकर्षेण भयान्वित: । कथं भवति । योऽकारणं चमूं त्यक्त्वा प्रपलायते स भयान्वितो भविष्यत्येव इति छेकोक्त्या किमपि तिरस्कृत्य कार्ये वादं निवेदयन्नाह ॥७॥ कार्मणेनैवेति—स राजवर्गस्त्वया सह शक्त्या नवमायोधनं प्रत्यग्रसंग्रामं कर्तुं मनागवलत् स्वस्वदेशाभिमुखगमनाद्वलित इत्यर्थ: । स कथंभूत: । समनागबल-स्तुल्यहस्तिसैन्य: । किं कुर्वन् । ददत् । किम् । तद् धनम् । इत्थंभूतोऽपि यदिहीनप्रतापो भवति तदा किं करोती-त्याशङ्कायामाह—अनवमाय: उत्कृष्टशुभावहविधि: स: राजवर्ग: । समवलात् यस्ते पत्या स्वामिना प्रणश्यता इति साशङ्क: कृत: । कीदृशी शङ्का । तत्राह कार्मणेनैव शृङ्गारवती ऊढा परिणीतेति । कार्मणं कूटप्रयोग: ॥८–९॥ लक्ष्मीति—किमस्मभ्यं राजवर्गो लक्ष्मीं जिघृक्षतीत्याशङ्कायामाह—न लक्ष्मीजिघृक्षया राजकं तुभ्य-मपराध्यति किन्तु वैदर्भ्या तुभ्यमभ्यसूयितम् । शृङ्गारवत्याश्छद्मपरिणयो नाम राजकस्य कोपकारणमिति पर्यवसानम् । तुभ्यं कथंभूताय । गौडाय गौडदेशोद्भवत्वात् । कयेव । रीत्येव यथा वैदर्भीरीतिर्गौडीवल्लभाय कुप्यति न प्रसीदतीति यावत् ॥१०॥ मारेति । कथं वैदर्भ्या शृङ्गारवत्याभ्यसूयितमिति तामेव युक्तिमाह— सा शृङ्गारवती रमा स्त्री तेन सह गता । कथंभूता । आहसना प्रहसितमुखी । यदि वा अहसना अस्मेरास्या चित्रानुरागविरहात् । तेनागसा अपराधेन तुभ्यमसहत । किंविशिष्टा । मारसारसमाकारा कामसर्वस्वतुल्याकृति-स्तथा राकामा, राकाशब्देन चन्द्र: पूर्णिमा वा भण्यते तद्वन्मा लक्ष्मीर्यस्यास्तथा सरसा च । प्रतिलोमपाद: ॥११॥ ऊदर्ध्वमथ निन्दागर्भितस्तुतिवचनमाह— त्वामिति—नाथस्त्वामिह सैनापतित्वेऽयुङ्क्त केवलं

हो जायेगी ॥६॥ जो धर्मनाथ प्रकृष्ट भयसे युक्त हो प्रभा मात्रसे ही अधिक रक्षा करने वाली चतुरंगसेनाको छोड़कर चले गये वे चतुरताके साथ पृथिवीकी रक्षा किस प्रकार करेंगे यह समझमे नहीं आता ॥७॥ इस प्रकार भागते हुए भगवान् धर्मनाथने राजसमूहको ऐसी आशका उत्पन्न कर दी है कि उन्होंने शूरवीरताके कारण शृंगारवतीको नहीं विवाहा है किन्तु अपने कूटप्रयोग अथवा अनुकूल कर्मोदयसे ही विवाहा है अतः जिसका पुण्यकर्म उत्कृष्ट है, जो धन खर्च कर रहा है और जिसके हाथियोंकी सेना आपके समान ही है ऐसा राजाओंका समूह आपके साथ युद्ध करनेके लिए कुछ कुछ तैयार हो रहा है ॥८-९॥ वह राजसमूह लक्ष्मी ग्रहण करनेकी इच्छासे आपका अपराध नहीं कर रहा है—आपके विरुद्ध खडा नहीं हो रहा है किन्तु जिस प्रकार वैदर्भीरीति गौडी रीतिसे रचित काव्यके प्रति ईर्ष्या रखती है उसी प्रकार वह राजसमूह शृंगारवतीके प्रति ईर्ष्या रखता है—वह शृंगारवतीको चाहता है ॥१०॥ जिसका आकार कामदेवके सर्वस्वके समान है, जिसकी शोभा पूर्णिमाके समान है और जो रसवती है ऐसी वह हँसमुखी स्त्री शृंगारवती चूँकि धर्मनाथके साथ चली गयी है इस अपराधसे वह राजसमूह असहिष्णु हो उठा है ॥११॥ विश्वस्त प्राणियोंका लोप करनेमे समर्थ एव नये नये अपराध करनेवाले स्वामी धर्मनाथने आपको जो इस कार्यमे नियुक्त

अस्य मानाधिकैः सेना अस्यमाना नवाजित । अस्यमानाहतेरेता अस्यमानावितुं क्षमः ॥१३॥
परलोकभय बिभ्रत्प्रभुभक्ति प्रपद्यसे । भवितासि ततो नून स्ववशोद्धरणक्षम ॥१४॥
अरमभीतियुक्तस्ता कष्ट स्कन्दोऽपि रक्षति । अरमभीतियुक्तस्ता दूरे पास्यति वाहिनी. ॥१५॥
अबला ता पुरस्कृत्य त्यक्तोऽसि सबलोऽमुना । निराश्रयस्ततो धीर राजवर्गं त्वमाश्रय ॥१६॥
प्रार्थयेताश्चतुवर्गं रथवाजिप्रदानत । लप्स्यसे पञ्चतामुच्चै रथवाजिप्रदानतः ॥१७॥

भूतिहेतवे सम्पन्निमित्तम् । किंविशिष्टो नाथ विश्वस्तभूतलोपकृतिक्षम विश्वस्तानि यानि भूतानि तेषा लोपकृतये विनाशाय क्षम —विश्वासघातक । केवल त्वामिहायुङ्क्त भूतिहेतवे भस्मनिमित्त निन्दाप्रतीति ॥१२॥ अस्येति—हे अमान ! हे अतुल्य ! एता सेनास्त्वमवितु रक्षितु क्षमोऽसि भवसि । कस्य सेना । अस्य नाथस्य । कथभूता । अस्यमाना क्षिप्यमाणा । कैः । मानाधिकैरहङ्कारोद्धतै । कस्या । अस्यमानाहते असि खड्गस्तस्या अमानाहतिरप्रमाणघातस्तत प्रक्षिप्यमाणा नवाजितो नूतनसग्रामात् इति स्तुति. । द्वितीयपक्षे हे अस्यमानगर्व अपूज्य इति वा आजित जित इति वोत्क्षिप्यमाणा सेना न वाऽवितु • क्षमोऽस्मीति निन्दाप्रतीतिः ॥१३॥ परेति—परलोकाज्जन्मान्तराद्बिभ्यत्प्रभुसभक्ति प्रपद्यसे तर्हि त्व भवितासि भविष्यसि स्ववशोद्धरणक्षम स्वसतानोद्धरणक्षम इति स्तुति । द्वितीयपक्षे परलोकेभ्य शत्रुभ्यो भय बिभ्रत्प्रभुभक्तिप्रतिपत्तौ स्ववशोत्पाटनक्षमो भविष्यसीति निन्दाप्रतीति ॥१४॥ अरमिति—स्कन्दोऽपि सेनानीरपि ता सेना कष्ट रक्षति । कथभूत । अरमभीतियुक्तोऽतिशयेनाभीरु । त्व च दूरेऽतिशयेन पास्यसि रक्षिष्यसि वाहिनी कथभूता । तस्ता उपक्षीणा । त्व किंविशिष्ट । अरमभीतियुक् इति स्तुतिप्रतिभास । द्विपक्षे अरम [1]अलक्ष्मीकभीतियुक् सभयो दूरेऽपास्यसि त्यजसीति निन्दाप्रतीति ॥१५॥ अबलामिति—अबला ता नारी सबल ससैन्य । शेष सुगमम् । अधीरेति निन्दोक्ति ॥१६॥ प्रार्थयेति—अत एतान् नृपान् त्व चतुर्वर्गधर्मार्थकाममोक्षलक्षण प्रार्थय । एतान् कथभूतान् रथवाजि-

---

किया है सो इससे केवल भस्म ही उनके हाथ लगेगी—कुछ लाभ होनेवाला नहीं। [पक्षमें विश्वासको प्राप्त पृथिवीतलका उपकार करनेमें समर्थ एवं अपराध नहीं करनेवाले अथवा नये नये अपराधोंको छेदनेवाले भगवान् धर्मनाथने आपको जो इस कार्यमें नियुक्त किया है सो यह कार्य केवल विभूतिका कारण है—इससे वैभव ही प्राप्त होगा] ॥१२॥ जिसे तलवारके विषयका भान नहीं है ऐसे हे सेनापति ! इन धर्मनाथकी समस्त सेनाए अत्यधिक प्रमाणवाले शत्रुओंके द्वारा नये संग्रामसे बाहर खदेड़ दी जावेगी। तलवारोंके अपरिमित प्रहारोंसे क्या तुम इनकी रक्षा करनेके लिए समर्थ हो ? ॥१३॥ एक ओर तो आप शत्रुओंसे भय खाते हैं और दूसरी ओर अपने स्वामीकी भक्ति प्रकट कर रहे हैं इसलिए निश्चित ही आप अपने वंशके उखाड फेंकने में समर्थ होंगे। [पक्षमें चूँकि आप नरकादि परलोकसे डरते है और अर्हन्त जिनेन्द्रकी भक्तिको प्राप्त हैं इसलिए यह निश्चित है कि आप अपने कुलका उद्धार करनेमें समर्थ होंगे ॥१४॥ अत्यन्त अभयसे युक्त—निर्भय कार्तिकेय भी जब उन सेनाओंकी बड़े कष्टसे रक्षा कर पाता है तब लक्ष्मीहीन और भयसे युक्त रहनेवाले तुम उन उपक्षीण सेनाओंकी रक्षा कर सकोगे यह दूरकी बात है [पक्षमें तुम उन्हें दूरसे ही छोड दोगे] ॥१५॥ शृंगारवती स्त्रीको पाकर धर्मनाथने सेना सहित तुम्हें छोड दिया है इसलिए तुम आश्रयहीन हो गये हो पर हे धीर वीर ! तुम उन राजाओंके समूहका आश्रय ले लो, [पक्षमें हे अधीर ! निराश्रय होनेके कारण तुम राजसमूहका आश्रय ग्रहण करो] ॥१६॥ इसलिए तुम रथ और घोड़े प्रदान करनेवाले इन राजाओंसे धर्म-अर्थ-काम आदि चतुर्वर्गकी

---

१ न विद्यते रमा लक्ष्मीर्यस्य सोऽरम , अरमश्चासौ भीतियुक् च इत्यरमभीतियुक् इति समास ।

परमस्नेहनिष्ठास्ते परदानकृतोद्यमा । समुन्नतिं तवेच्छन्ति प्रधनेन महापदाम् ॥१८॥
राजानस्ते जगत्ख्याता बहुशोभनवाजिन । वने कस्तत्क्रुधा नासीद् बहुशोभनवाजिनः ॥१९॥
सकृपाणा स्थितिं[1] बिभ्रत्स्वधामनिधन तव । दाता वा राजसदोहो द्राक्कान्तारसमाश्रयम् ॥२०॥
सहसा सह सारेभैर्धाविताधाविता रणे । दुःसहेऽद्ु सहेऽल ये कस्य नाकस्य नार्जनम् ॥२१॥
तेषा परमतोषेण सपदातिरस गत । स्वोन्नतिं पतिता बिभ्रत्सन्महीनो भविष्यसि ॥२२॥ [युग्मम्]

प्रदान् । अथवा आजिप्रदानत. सग्रामखण्डनात् सग्रामदानाद्वा पञ्चता लप्स्यसे ॥१७॥ परमेति—ते राजानस्तव समुन्नतिं वाञ्छन्ति । कथभूताम् । महापदाम् महत्पद स्थान यस्यास्ता महापदा केन कृत्वा । प्रधनेन प्रकृष्टधनेन । कथभूतास्ते । परमस्नेहनिष्ठा उत्कृष्टप्रेमपरा । तथा परदानकृतोद्यमा उत्तमत्यागोद्यताश्च इति । द्विपक्षे महापदा बृहदापदा समुन्नतिं प्रधनेन सग्रामेण कृत्वा तवेच्छन्ति । कथभूता । परमतिशयेनास्नेहनिष्ठा परदानकृतोद्यमा शत्रुखण्डनोद्यताश्चेति भय दर्शितवान् ॥१८॥ राजान इति—ते बहुशोभना वाजिनोऽश्वा येषा ते तथा । तत्क्रुधा को वने नासीत् । अपि तु सर्वोऽपि स्थित । कथभूत । बहुशोभानि नवाःजिनानि यस्य स तथा । इतरपरिधानाभावाच्चर्मप्रावरणमेव बहुशोभया मन्यते इत्यर्थ ॥१९॥ सकृपणामिति—स राजसदोहस्तव धन दाता दास्यति आश्रय वा गृह दास्यति । कथभूत । कान्तारस कान्ताया रसो रागो यत्र तत्कान्तारस, द्राक् शीघ्र, क्व धन दास्यति । स्वधामनि स्वगृहे । किं कुर्वन् । बिभ्रत् स्थितिं, कथभूता । सकृपाणा सदयानामिति प्रलोभना । द्विपक्षे राजसन्दोह स्वधामावसान दाता कान्तारसमाश्रय वा । किं कुर्वन् । बिभ्रत् स्थितिं कथभूता । सकृपाणा सखड्गाम् । इति हठोक्त्या भयप्रदर्शनम् ॥२०॥ सहसेति—तेषा राज्ञा परमतोषेण उत्तमप्रसादेन त्व सन्महीन सच्छोभनमहीपतिर्भविष्यसि । किं कुर्वन् । बिभ्रत्, काम् । पतिता स्वामित्वम्, कथभूताम् । स्वोन्नतिं स्वस्यात्मनो ज्ञातिधनादेर्वा उन्नतिर्यस्या ता स्वोन्नतिम्, कथभूतस्त्वम् । अतिरसमतिराग गत , कया । सपदा । तेषा तोषेण, ये, किम् । ये कस्य नाद्ु स्वर्गस्य । स्वर्गे सौख्य यल्लभ्यते तदेते ददतीति भाव । किं तत् अर्जन, कस्य । नाकस्य, कथ । सहेल, कथभूता । इता गता , क्व । रणे, किंविशिष्टे ।

प्रार्थना करो अन्यथा युद्धमे खण्डित होनेसे पंचता—मृत्युको प्राप्त होओगे ॥१७॥ अत्यधिक स्नेह रखनेवाले एवं उत्कृष्ट दान करनेमे उद्यमशील वे सब राजा प्रकृष्ट धनके द्वारा महान् पद—स्थानसे युक्त आपकी उन्नति चाहते है अर्थात् तुम्हें बहुत भारी धन देकर उत्कृष्ट पद प्रदान करेंगे । [पक्षमे वे सब राजा आपके साथ अत्यन्त अस्नेह—अप्रीति रखते हैं और पर—शत्रुको खण्ड-खण्ड करनेमे सदा उद्यमी रहते हैं अतः युद्धके द्वारा आपको हर्षाभावसे युक्त (मुदो हर्षस्य नतिर्मुन्नतिस्तया महिता ता समुन्नतिम्) महापदा—महती आपत्तिकी प्राप्ति हो ऐसी इच्छा रखते हैं ।] ॥१८॥ अच्छी-अच्छी शोभावाले घोड़ोंसे युक्त वे राजा ससार भरमे प्रसिद्ध हैं । ऐसा कौन है ? जिसे उनके क्रोधके कारण अतिशय शोभायमान नूतन चर्मको धारण कर वनमे नहीं रहना पड़ा हो ? ॥१९॥ वह राजाओंका समूह, दयालु मनुष्योंकी स्थिति—रीतिको धारण करता है अतः अपने घरमे तुम्हें बहुत भारी धन प्रदान करेगा और शीघ्र ही स्त्रियोंके स्नेहसे युक्त आश्रय देगा । [पक्षमे—वह राजाओंका समूह तलवार सहित स्थितिको धारण करता है—सदा तलवार लिये रहता है इसलिए अपने तेजके द्वारा तुम्हें निधन—मरण प्राप्त करा देगा अथवा तुम्हारे अपने तेजका अवसान—समाप्ति करा देगा और शीघ्र ही वनका आश्रय प्रदान करेगा अर्थात् खदेडकर वनमे भगा देगा ।] ॥२०॥ सारभूत श्रेष्ठ हाथियोंसे सहित जो, मानसिक व्यथासे रहित दु सह—कठिन युद्धमे पहुँचकर किसके लिए अनायास ही स्वर्ग प्रदान नहीं करा देते अर्थात् सभीको स्वर्गके सुख प्रदान करा देते हैं उन राजाओंके परम सन्तोषसे तुम सम्पत्तिके द्वारा अधिक रागको प्राप्त होओगे तथा

१ स्थित म० घ० ।

बहुशस्त्रासमाप्यैषा बहुशस्त्रासमाहते । को वा न रमते प्राप्ताङ्को वानरमते गिरौ ॥२३॥
किमुदासतया स्थातुमीहसे क्वापि भूभृति । असख्य कर्म तत्कुर्वंल्लप्स्यसे कम्वलोत्सवम् ॥२४॥
बहुधा मरणेऽच्छद्युद्बहुधा मरणेच्छया । परभीरहित पश्येत्परभीरहितं परम् ॥२५॥
बन्धाय वाहिनीशस्य तवैते मेदिनीभृत. । आयान्ति कटकैर्जुष्टा॰ सनागहरिखड्गिभि॰ ॥२६॥

दु सहे, पुन किंविशिष्टे । धाविताधौ धावित आविर्मन पीडा यत्र तस्मिन् धाविताधौ, कथ । सह कै । सारेभै प्रधानगजै , सहसा शीघ्रमिति प्रलोभनस्तुति । द्विपक्षे तु तेषा राज्ञा परमतिशयेनातोषेण त्व सद्महीनो गृहरहितो भविष्यसि । किं कुर्वन् । बिभ्रत् स्वोन्नतिं, कथभूता । पतिता हीना, कथभूत सन् पदाति । पदाति पत्ति सन्, पुन कथभूत । असगतोऽयुक्त एकाकीति यावद् इति भयप्रदर्शनेन निन्दाप्रतीति । शेष सदृशम् ॥२१–२२॥ बहुश इति— एषा राज्ञा बहुशोऽनेकधा त्रास भयमाप्य लब्ध्वा को वा गिरौ न रमते । अपि तु सर्वोऽपि रमते । कुतस्त्रास प्राप्य । बहुशस्त्रासमाहते बहूना शस्त्राणामसमा न तुल्या या आहतिर्घातस्तस्मात् । कथभूत सन् । प्राप्ताङ्क लब्धोत्सङ्ग , गिरौ, किंविशिष्टे । वानरमते मर्कटाभीष्टे ॥२३॥ किम्विति— किमुदासतया उदासीनतया क्वापि भूभृति पर्वते स्यातुमीहसे तर्हि त्व क वलोत्सव सैन्यप्रमोद लप्स्यसे । अपि तु न कस्यापि, किं कुर्वन् । किं तत् । कर्म, कथभूतम् । असख्यमसग्रामार्हमिति स्तुति । द्विपक्षे तु किमु त्व दासतया स्थातु क्वापि भूभृति राज्ञि ईहसे । तर्हि असख्यमप्रमित कर्म दास्य कुर्वन् लप्स्यसे कवलेनोत्सव लप्स्यसे इति निन्दा ॥२४॥ बहुधेति—परभीरविकभय पुरुष पर केवल मरणेच्छया अहित शत्रु पश्येत् । कथभूत शत्रुम् । परभीरहित परेभ्य शत्रुभ्यो भी तेन रहितम् । क्व पश्येत् । बहुधामरणे बहुधाम्ना तेजस्विना रणो बहुधामरणस्तस्मिन्, अच्छद्युत् बृहत्तेजसा रणे स्वल्पतेजा बहुधाहित पश्यन् मरणमेव लभत इत्यर्थ । त्वमपि सभय सन् मा अहितान् पश्येति पर्यवसानम् ॥२५॥ बन्धायेति—एते मेदिनीभृतो राजानस्तव वाहिनीशस्य [[1]सेनापतेर्बन्धाय कटकै सैन्यैर्जुष्टा युक्ता आयान्ति । कथभूतै कटकै । सनागहरिखड्गिभि नागा गजा हरयोऽश्वा खड्गिन कृपाणधारिणो भटास्तै सहितैस्तथा ।] वाहिनीशस्य समुद्रस्य बन्धाय मेदिनीभृत पर्वता कटकै

अपनी उन्नतिसे सहित स्वामित्वको धारण करते हुए शीघ्र ही श्रेष्ठ पृथिवीके इन—स्वामी हो जाओगे । [पक्षमें—सारभूत श्रेष्ठ हाथियोंसे सहित हुए जो राजा मानसिक व्यथाओंसे परिपूर्ण कठिन युद्धमे किसके लिए दुःखका संचय प्रदान नहीं करते अर्थात् सभीके लिए प्रदान करते हैं उन राजाओंको यदि तुमने अत्यन्त असंतुष्ट रखा तो तुम्हें उनका पदाति—सेवक बनना पडेगा, असंगत—अपने परिवारसे पृथक् एकाकी रहना पडेगा, अपनी उन्नतिको छोड देना पड़ेगा और इस तरह तुम सद्महीन—गृहरहित हो जाओगे] ॥२१-२२॥ हे वानरके समान बुद्धिवाले सुषेण सेनापति ! ऐसा कौन मनुष्य होगा जो इन राजाओंके अनेक शस्त्रोंके अनुपम आघातसे अनेक बार त्रास पाकर भी वानरोंके अभीष्ट पहाडके मध्यमें क्रीड़ा न करता हो—इनके शस्त्रोंकी मारसे पहाडके मध्यमे नहीं जा छिपता हो ॥२३॥ तुम उदास बनकर क्या किसी पहाडपर रहना चाहते हो ! वहाँ रहकर असंख्य कार्य करते हुए भी तुम अपनी शक्ति अथवा सेनाका कौन-सा उत्सव प्राप्त कर लोगे ? [पक्षमे—अरे, तुम दास बनकर किसी राजाके पास क्या रहना चाहते हो ? असंख्य कार्य करते हुए यदि तुम कुछ पुरस्कार पा सकोगे तो एक कम्बल ही पा सकोगे, अधिक मिलनेकी आशा नहीं है ।] ॥२४॥ जो स्वच्छ तेजका धारक होता है वह तेजस्वियोंके युद्धमे अनेक तेज पूर्ण युद्ध करने की इच्छासे शत्रुको निर्भय होकर देखता है और जो कायर होता है वह प्रायः मरनेकी इच्छासे ही शत्रुको देखता है अर्थात् ऐसी शंका करता रहता है कि यह शत्रु मुझे मार देगा ॥२५॥ हे सेनापते ! ये सब राजा लोग हाथियों, घोडों और तलवारके धारक सैनिकोंसे

१ कोष्ठकान्तर्गत पाठ सपादकेन योजित ।

मुरलो मुरलोपीव कुन्तल कुन्तलश्च कैः । मालवो मालवोद्ग्रीवैर्वार्यते वार्य ते रणे ॥२७॥

उद्दामद्विरदेनाद्य[1] कलिङ्गेन वृषध्वजः । शिरोऽर्पितार्धचन्द्रेण कार्यस्त्वमगजाश्रितः ॥२८॥

अनेकपापरक्तो बालभ सेनाशम गतः । अनेकपापरक्तो वा लभसे नाशमङ्गतः ॥२९॥

हितहेतु वचस्तुभ्यमभ्यधामहमीदृशम् । विरोधिन्यपि यत्साधुर्न विरुद्धोपदेशकः ॥३०॥

अधिकं दरमेत्याहो अधिकदरमुन्नतान् । समासादयशाः शैलान् समासादय वा नृपान् ॥३१॥

शिखरैर्गजसिंहगण्डकयुक्तैर्जुष्टा किल समायान्तीति ध्वनितार्थप्रतीतिः ॥२६॥ मुरल इति—हे आर्य ! सरल ! रणे ते तव कैः सैनिकैर्मालवोद्ग्रीवैर्वार्यते । अपि तु न कैरपि । मा लक्ष्मीस्तस्या लवो मालवस्तेन उद्ग्रीवैरुद्धतैः । मुरलः, क इव मुरलोपीव विष्णुरिव, तथा कुन्तलः, किंविशिष्टः कुन्तलः । कुन्तं लातीति कुन्तलः । तथा मालवः क्षत्रियश्च ॥२७॥ उद्दामेति—अद्य कलिङ्गेन राज्ञा त्वं शिरोऽर्पितार्द्धचन्द्रेण अगजाश्रितो गजरहितो वृषध्वजः उक्षचरः कार्यः । अन्यत्र वृषध्वजो महेश्वरोऽर्द्धेन्दुशिखरोऽगजया गौर्याश्रितश्च भवति ॥२८॥ अनेकेति—हे बालभ ! बालवद्भासीति बालभः अज्ञः । अनेकपापरक्तः अनेकपा हस्तिनस्तेषु अपरक्तः । सेनाशमं चमूविनाशं गतोऽध्यक्षः नाशं क्षयमद्य लभसे । कुतः । अङ्गतः अङ्गदेशक्षितिपतेः । क इव अनेकपापरक्तो वा, वा इवार्थे यथा बहुकल्मषपरः इत्यर्थः ॥२९॥ हितेति—[[2]राज्ञा दूतः सुषेणं कथयति—इत्थमहं तुभ्यं हितहेतु कल्याणकरं वचोऽभ्यधाम् अकथयम् यद् यस्मात्कारणात्साधुः सज्जनो विरोधिन्यपि शत्रावपि विरुद्धोपदेशकः विरुद्धमार्गदर्शी न भवतीति शेषः] ॥३०॥ अधिकमिति—अधिकं दरं भयमेत्य प्राप्याहो इत्याक्षेपे संबोधने वा उन्नतान् शैलान् समासादय प्राप्नुहि । कथम् । अधिकदरं कन्दरमधि अधिकदरं नृपान्वा आसादय । कुतः । समासात्संक्षेपात् । कथंभूतस्त्वम् । अयशाः

युक्त सेनाओंके साथ तुम्हें बाँधनेके लिए आ रहे हैं [पक्ष मे—हाथियों, सिंहों और गेंडाओंसे सहित कटकों—किनारोंसे सुशोभित ये पर्वत समुद्र बाँधनेके लिए आ रहे हैं ।] ॥२६॥ हे आर्य सेनापति ! देखो, यह विष्णुके समान मुरल देशका राजा आ रहा है, यह भाला लिये हुए कुन्तल देशका राजा आ रहा है और यह मालव देशका राजा है । देखूँ, युद्धमे जरा-सी लक्ष्मीका अहंकार करनेवाले तेरे कौन लोग इनका निवारण करते हैं ?—इन्हें आगे बढनेसे रोकते है ? ॥२७॥ जिसका हाथी अत्यन्त उत्कट है—बलवान् है ऐसा यह कलिंग देशका राजा, आज वृषधर्म—धर्मनाथकी ध्वजा धारण करनेवाले तुमको तुम्हारे शिरमे अर्द्धचन्द्र बाण देकर अथवा एक तमाचा देकर हाथीसे रहित कर देगा—हाथीसे नीचे गिरा देगा और इस तरह वह तुम्हें वृषध्वज—वृषभचारी बना देगा । [पक्षमे, उद्दण्ड हाथीवाला कलिंग देशका राजा आज तुम्हें तुम्हारे शिरमे अर्धचन्द्र देकर अगजा—पार्वतीसे आश्रित वृषध्वज—महादेव बना देगा] ॥२८॥ अरे अज्ञ ! जिस प्रकार अनेक पापोंमे रक्त—लीन पुरुष नाशको प्राप्त होता है उसी प्रकार हाथियोंसे अपरक्त हुआ तू सेनाके नाशको प्राप्त हो अङ्ग देशके राजासे अभी हाल नाशको प्राप्त होता है ॥२९॥ राजाओंका दूत धर्मनाथके सेनापति सुषेणसे कहता है कि हे सेनापते ! इस प्रकार मैने तुम्हारे लिए हितकारी वचन कहे सो ठीक ही है क्योंकि जो सत्पुरुष होते हैं वे शत्रुके लिए भी विरुद्ध उपदेश नहीं देते ॥३०॥ इतना कहनेके बाद दूतने यह और कहा कि संक्षेपमें मेरा कहनेका अभिप्राय यह है कि तुम यदि अधिक भयको प्राप्त हुए हो तो यशको छोड पहाडकी गुफाओंमे जा छिपो अथवा ऊँचे पहाड़ोंपर जा पहुँचो अथवा अन्य शरण न होनेसे इन्ही राजाओंके पास जा

१ नाद्य छ० । नाद्यो म० घ० । २ अस्य श्लोकस्य संस्कृतटीका 'क' पुस्तके नास्ति संपादकेन मेलिता । अयं च श्लोकः २९तमेन श्लोकेन सहावतारितः ।

इति राजगणे तस्मिन्नधिकोपकृतिक्षमे । गतिद्वयमुदाहृत्य प्रणिधिर्विरराम स ॥३२॥

रैरोऽरीरोरुररुरत्काकुक केकिकङ्किक । चञ्चच्चञ्चूच्चचिच्चोचे ततताततीति त ततः ॥३३॥

[चतुरक्षर]

अन्तरत्यन्तनिगूढपदाभिप्रायभीषणा । वाग्भुजङ्गीव ते मृद्वी कस्य विश्वासकृद्बहिः ॥३४॥

दुर्जनः सत्सभा प्रष्टामीहते न स्वभावत । किमुलूकस्तमोहन्त्री भास्वत सहते प्रभाम् ॥३५॥

सीमा सौभाग्यभाग्याना शोभासभावितस्मर । अहो धाष्टर्य जगन्नाथे[1] कार्मणीत्युच्यते खलैः ॥३६॥

[सुगमो गूढचतुर्थक]

प्रभाप्रभावभाग्येन भाग्येन स वधूकरम् । तेने तेनेऽपतन्माला तन्मालाप वृथा कृथा ॥३७॥

यशोरहित ॥३१॥ इतीति—प्रणिधिर्दूतो गतिद्वयमुदाहृत्य विरराम । क्व । तस्मिन् राजगणे, कथभूते । अधिकोपकृतिक्षमे अधिक कोप करोतीति अधिकोपकृत् तस्मिन् क्षमे समर्थे । द्विपक्षे अधिकोपकारक्षमे ॥३२॥ रैर इति—ततोऽनन्तर सुषेणस्त दूतमूचे उक्तवान् । कथमिति वक्ष्यमाणम् । किंविशिष्ट । ततताततीतता विस्तीर्णा ता लक्ष्मी अतति गच्छतीत्येवशीलस्ततताती । कथभूतो । रैरो द्रव्यद । अरीरोरु अरीवरियतीत्यरीरा सुभटास्तेषामुरुर्महान् अरीरोरु । त दूत कथभूतम् । अरु रुत्काकुक मर्मव्यथकशब्दम् । किंविशिष्ट । केकिकङ्किक केकिना मयूरेण कङ्कत इत्येवशील केकिकङ्की कार्तिकेय, तस्येव क कामो यस्य स केकिकङ्किक । पुन किंविशिष्ट । चञ्चच्चञ्चूच्चचित् चञ्चन्ती चञ्चुर्दक्षा उच्चा महती चिद्बुद्धिर्यस्य स चञ्चच्चञ्चूच्चचित् । चकारो विशेषणसमुच्चये । चतुरक्षरश्लोक ॥३३॥ अन्तरित्यादि—वाग्भुजङ्गीव । भुजङ्गी अन्तर्निगूढपदाभिप्रायभीषणा बहिर्मृद्वी च भवति । वागपि अत्यन्तनिगूढपदाभिप्रायभीषणा बहिर्मृद्वी चात कस्य विश्वासकारिणी स्यात् ॥३४॥ प्रभेति—तेन भाग्येन इने स्वामिनि मालापतत् । कथभूता । इला गता, कम् । वधूकरम् । येन भाग्येन स स्वामी प्रभाप्रभावभाक् सजात । प्रभा कान्ति प्रभाव सौभाग्यलक्षणस्तौ

पहुँचो—उन्हींकी शरण प्राप्त करो ॥३१॥ इस प्रकार अधिक क्रोध करनेवाले समर्थ [[2]पक्षमें अधिक उपकार करनेमें समर्थ] राजाओंके विषयमें दोनों उपाय बतलाकर वह दूत चुप हो रहा ॥३२॥ तदनन्तर जो धनको देनेवाला है, शत्रुओंको कम्पित करनेवाले सुभटोंमें सबसे महान् है, कार्तिकेयके समान इच्छावाला है, चतुर एवं उच्च बुद्धिका धारक है और विस्तृत लक्ष्मीको प्राप्त होनेवाला है ऐसा सुषेण सेनापति उस राजदूतसे इस प्रकार मर्मभेदी शब्द कहने लगा ॥३३॥ हे दूत ! जिस प्रकार सर्पिणीके पद अर्थात् चरण अत्यन्त गूढ रहते हैं उसी प्रकार तेरे वचनोंके पद अर्थात् शब्दसमूह भी अत्यन्त गूढ हैं । जिस प्रकार सर्पिणीका अभिप्राय भयंकर होता है, उसी प्रकार तेरे वचनोंका अभिप्राय भी भयंकर है और जिस प्रकार सर्पिणी बाहरसे कोमल दिखती है उसी प्रकार तेरे वचन भी बाहरसे कोमल दिखते हैं इस तरह तेरे वचन ठीक सर्पिणीके समान जान पडते हैं फिर भला वे किसे विश्वास उत्पन्न कर सकते हैं ? ॥३४॥ दुर्जन स्वभावसे ही सज्जनोंकी श्रेष्ठ सभाको नहीं चाहता सो ठीक ही है क्योंकि क्या उल्लू अन्धकारको नष्ट करनेवाली सूर्यकी प्रभाको सहन करता है ? अर्थात् नहीं करता है ॥३५॥ अहो, लोगों की धृष्टता तो देखो, जो भगवान् सौभाग्य और भाग्यकी मानो सीमा हैं और जिन्होंने अपनी शोभासे कामदेवकी तुलना की है उन भगवान्के लिए भी दुर्जन इस कार्यमें ऐसा कहते हैं ॥३६॥ प्रभा और प्रभावको प्राप्त होनेवाले उन भगवान्ने जिस भाग्यसे शृंगारवतीका हाथ फैलाया था उस भाग्यसे उन स्वामी

---

१ जगन्नाथ घ० । २ अधिका चासावुपकृतिस्तस्या क्षमे ।

गुणदोषानविज्ञाय भर्तुर्भक्ताधिका जनाः । स्तुतिमुच्चावचामुच्चैः का न का रचयन्त्यमी ॥३८॥
धर्मे बुद्धिं परित्यज्यापरत्रानेकपापदे । सदयः कुरुते कस्तां परत्रानेकपापदे ॥३९॥
आस्तां जगन्मणेस्तावद्भानोरन्यैर्महस्विभिः । अनूरोरपि किं तेजः संभूय परिभूयते ॥४०॥
मम चापलतां वीक्ष्य नवचापलतां दधत् । अयमाजिरसाद्गन्तुं किं यमाजिरमिच्छति ॥४१॥
सौजन्यसेतुमुद्भिन्दन् यत्त्वया नैष वारितः । तन्नः क्रोधार्णवौघेन प्लावनीयो नृपव्रजः ॥४२॥
विपद्विधास्यतेऽत्राह् कारिभिः कारिभिर्मम । एकाकिनापि रुध्यन्ते हरिणा हरिणा न किम्॥४३॥

भजतीति प्रभाप्रभावभाक् । तन्मालाप वृथा कृथा व्यर्थालाप मा कार्षीः ॥३७॥ गुणेति—भक्ताधिका भक्तेन ओदनेन अधिका पूरिता भक्तेषु श्राद्धेषु अधिका इति निन्दास्तुतिः ॥३८॥ धर्म इति—धर्मे तीर्थकृति अन्यत्र श्रेयसि बुद्धिं परित्यज्यापरत्रानेकपापदे बहुपापदायिनि तां बुद्धिं सदयः कुरुते। एकत्र सदयः सकृपोऽन्यत्र सदनुकूलदैवः । पुनः किंविशिष्टे अन्यस्मिन् परत्रानेकपापदे परेभ्यस्त्रायन्ते येऽनेकपास्तेषामापदे ॥३९॥ [[2]आस्तामिति—जगन्मणेर्लोकश्रेष्ठस्य भानोर्दिवाकरस्य तेजः प्रचण्डज्योतिः अन्यैर्महस्विभिरपरैस्तेजस्विभिः संभूय मिलित्वापि परिभूयते तिरस्क्रियते इति आस्तां दूरे तिष्ठतु अनूरोरपि सूर्यसारथेररुणस्यापि तेजः किमन्यैर्महस्विभिः मिलित्वापि किं परिभूयतेऽपि तु न परिभूयते । अत्र भानुस्थानापन्नो धर्मनाथो भगवान् अनूरुस्थानापन्नश्च सुषेण सेनापतिः] ॥४०॥ ममेति—अयं नृपव्रजः आजिरसात् संग्रामरागात् किं यमाजिरं यमाङ्गणं गन्तुमिच्छति । किं कृत्वा । वीक्ष्य मम चापलतां धनुर्लताम् । [[3]कथंभूतो नृपव्रजः । नवचापलतां नूतनचपलत्वं दधत् बिभ्रत् । पुनश्च कथंभूतः । सौजन्यसेतुं सज्जनतापालीम् उद्भिन्दन् विदारयन् । यद्यस्मात्कारणात् त्वया न वारितो न प्रतिषिद्धस्तत् तस्मात्कारणात् नोऽस्माकं क्रोधार्णवौघेन क्रोधसागरप्रवाहेण प्लावनीयो निमज्जनीयः । अस्तीति शेषः] ॥४१-४२॥ विपदिति—अत्र संग्रामे अहंकारिभिररिभिः का मम विपद्विधास्यते । अपि तु न कापि ।

के ऊपर वरमाला पड़ी थी इसलिए व्यर्थका वकवाद मत करो ॥३७॥ ये भक्ताधिक—भोजनसे परिपूर्ण अथवा श्राद्धोंमें अधिक दिखनेवाले—पिण्डीशूर लोग गुण और दोषोंको जाने बिना ही अपने स्वामीकी ऊँची-नीची क्या-क्या स्तुति नहीं करते हैं ? अर्थात् खानेके लोभी सभी लोग अपने स्वामियोंकी मिथ्या प्रशंसामें लगे हुए हैं ॥३८॥ ऐसा कौन दयालु पुरुष होगा जो धर्मविषयक बुद्धिको छोड़कर परसे रक्षा करनेवाले हाथियोंको आपत्तिमें डालनेके लिए अनेक प्रकारके पापोंके देनेवाले अधर्ममें बुद्धि लगायेगा ? [पक्षमें—ऐसा कौन भाग्यशाली पुरुष होगा जो भगवान् धर्मनाथमें आस्था छोड़कर अनेक प्रकारके पाप प्रदान करनेवाले अन्य राजाओंमें आस्था उत्पन्न करेगा ? ॥३९॥ जगत्के मणि स्वरूप सूर्यके तेजकी बात जाने दो, क्या उसके सारथि स्वरूप अनूरुके तेजका भी अन्य तेजस्वी—तारागण मिलकर तिरस्कार कर सकते हैं ? अर्थात् नहीं कर सकते । भावार्थ—भगवान् धर्मनाथका पराभव करना तो दूर रहा ये सब प्रतापी राजा लोग उनके सेनापति सुषेणका भी मिलकर पराभव नहीं कर सकते ॥४०॥ मेरे धनुषरूपी लताको देखकर नवीन चंचलताको धारण करनेवाला यह राजाओंका समूह युद्धके अनुरागसे क्या यमराजके आँगनमें जानेकी इच्छा करता है अर्थात् मरना चाहता है ॥४१॥ सज्जनता रूपी बाँधको तोड़नेवाले इन राजाओंके समूहको चूँकि तुमने मना नहीं किया—रोका नहीं अतः अब यह राजाओंका समूह मेरे क्रोधरूपी समुद्रके प्रवाहसे अवश्य ही बह जायगा ॥४२॥ ये अहंकारी शत्रु, मुझपर यहाँ क्या आपत्ति

१ परित्यक्त्वा म० घ० । २ एषा टीका संपादकेन मेलिता । सटीकपुस्तके टीका नोपलभ्यते ।
३. कोष्ठकान्तर्गतः पाठः संपादकेन मेलितः । सटीकपुस्तके नास्ति ।

जयश्रियमथोद्वोढु त्वत्प्रतापाग्निसाक्षिकम्[1] । [2]चित्तमाजौ दददूत सुषेणो विससर्ज स ॥४४॥
रागिताजिवरा कापि नेतेनान[3]ततामसा । साम तात ननातेने पिकारावजिता गिरा ॥४५॥
तथाप्यनुनयैरेष शाम्यति स्म न दुर्जनः । और्वस्तनूनपान्नीरैर्नीरधेरिव भूरिभि ॥४६॥
युद्धानकाः स्म तद्भीमा सदानघ नदन्ति नः । ववृहिरे जयायोच्चै सदानघनदन्ति न ॥४७॥
उद्भिन्नोद्दामरोमाञ्चकञ्चुकेषु मुदस्तदा । अन्तरङ्गेषु वीरा[4]णा सन्नाहा न बहिर्ममु ॥४८॥

यस्मात्कारणात् हरिणा सिंहेन एकाकिनापि किं हरिणा मृगा न रुध्यन्ते ॥४३॥ [[5]अथानन्तर सुषेण सेनापतिर्दूत विससर्ज प्रतिप्रेषयामास । कथभूत सुषेण । आजौ समरे चित्त ददत् मनो योजयन् । किं कर्तुम् । उद्वोढु परिणेतुम् । काम् । जयश्रिय विजयलक्ष्मीम्, कथम् । त्वत्प्रतापाग्निसाक्षिक भवत्प्रतापानलसमक्षम् ॥४४॥] विसर्जिते राजदूते सुषेणदूत स्वस्वामिनो निरपराधता प्रतिपादयन्नाह—रागितेति—हे इन ! हे स्वामिन् ! तेन तव सेनान्या कापि रागिता न इता प्राप्ता । कथभूता । आनततामसा, रागद्वेषौ न प्राप्तौ, कथभूता रागिता । आजिवरा सग्रामधरणशीला । तर्हि युद्धोपशमार्थं साम प्रयुक्त न भविष्यतीत्याशङ्कायामाह—साम तात ननातेने तात । पित । साम ननातेने । अपि तु विस्तारितम्, कया । गिरा । कथभूतया । पिकारावजिता । अनुलोमप्रतिलोमार्द्ध । यादृशमनुलोमेनार्द्ध प्रतिलोमेनार्द्ध—प्रतिलोमेन तादृश द्वितीयमित्यर्थ ॥४५॥ [[6]तथापि एष दुर्जनो दुष्टो नृपतिसमूह अनुनयै सान्त्ववचनै न शाम्यति शान्तो न भवति । तदेवोदाहरति—और्व तनूनपाद् वडवानल नीरधे सागरस्य भूरिभि प्रचुरैर्नीरैरिव । यथा सागरस्थो वडवानलो वारिधेर्विपुलवारिभिर्न शाम्यति तथाय दुर्जनोऽनुनयै प्रीतिवचनैर्न शान्तो भवतीति भाव ॥४६॥] युद्धानका इति—सदानघ ! सर्वदा निष्पाप ! तदनन्तर नोऽस्माक युद्धानका सग्रामपटहा भीमा नदन्ति स्म तथा सदानघना दन्तिनोऽपि ववृहिरे । सदाना समदाश्च ते घनदन्तिनश्च सदानघनदन्तिन तत्कालोत्पन्नमदा दन्तिनो जयाय शब्द चक्रु । शकुनत्वाज्जय सभाव्यते । [[7]तदा युद्धावसरे वीराणा शूराणाम् अन्तर्मध्ये हृदयेष्वित्यर्थ । मुद चिरसमरसमर्दजनिता हर्षा नो ममुर्न मान्तिस्म बहिश्च अङ्गेषु शरीरेषु सनाहा कवचा न ममु हर्षोत्फुल्लशरीरत्वादिति भाव । कथभूतेषु अङ्गेषु । उद्भिन्ना प्रकटिता रोमाञ्चा एव कञ्चुका येषु तेषु] ॥४७-४८॥

ला देंगे। जरा यह भी तो सोचो। क्या एक ही सिंहके द्वारा बहुतसे हरिण नहीं रोक लिये जाते ॥४३॥ तदनन्तर आपके प्रतापरूपी अग्निकी साक्षी पूर्वक विजयलक्ष्मीका विवाह करनेके लिए युद्धमे चित्त लगानेवाले सुषेण सेनापतिने राजाओंके दूतको वापिस कर दिया ॥४४॥ युद्धके क्रमका आमूल वर्णन करनेके लिए जो दूत भगवान् धर्मनाथके सामने आया था वह उनसे कहता है कि हे स्वामिन् ! यद्यपि सुषेण सेनापतिने मोहान्धकारसे भरी हुई युद्ध सम्बन्धी अपनी कोई भी इच्छा प्रकट नहीं की थी किन्तु कोयलके शब्दको जीतने वाली मीठी वाणीसे समता भावका ही विस्तार किया था। तथापि ससारमे यह बात प्रसिद्ध है कि जिस प्रकार समुद्रके बहुत भारी जलसे वडवानल शान्त नहीं होता उसी प्रकार अनुनयपूर्ण वचनोंसे दुर्जन शान्त नहीं हुआ था ॥४५-४६॥ तदनन्तर हे दोषरहित भगवन् ! हमारे युद्धके भयकर नगाड़े बज उठे और जिनके मद झर रहा था ऐसे बहुत भारी हाथी विजय प्राप्त करनेके लिए जोरसे गर्जना करने लगे—चिग्घाडें मारने लगे ॥४७॥ उस समय शूरवीरोंके हृदयमें हर्ष नहीं समा रहा था और बाहर प्रकट हुए रोमाच रूपी कचुकोंसे युक्त उनके शरीरों पर कवच नहीं समा रहे थे अर्थात् युद्ध जन्य हर्षसे शरीर फूल जानेके कारण

---

१ साक्षिकाम् छ० म० घ० । २ वित्त—घ० म० । ३ तत म० घ० । ४ वीराणा छ० । शूराणा ख० म० च० घ० द० । ५ अय पाठ सपादकेन मेलित सटीकपुस्तके नास्ति । ६ अय पाठ सपादकस्य सटीकपुस्तके तु नास्ति । ७ अय पाठ सपादकेन मेलित सटीकपुस्तके नास्ति ।

निजदोरदनोदीर्णश्रीरता घनताविभा । तरसारबलं चेरुरिभा भूतहृतो भृशम् ॥४९॥
सभृतो हृतभूभारिरुचेऽलं वरसारतः । भावितानघ तारश्रीर्न दीनो दरदोऽजनि ॥५०॥
[1]शङ्केऽनुकूलपवनप्रेङ्खितैः स्यन्दनध्वजैः । निक्वणत्किङ्किणीक्वाणैर्योद्धुं जुहुविरे द्विपः ॥५१॥
नवप्रियेषु बिभ्राणा सङ्गरागमनायकाः । [2]द्युयोषितोऽभवन्नोत्काः सगरागमनाय काः ॥५२॥
सद्दशावत्यनीकेऽत्र त्वत्प्रतापप्रदीपके । वधायैव निपेतुस्ते पतङ्गा इव शत्रवः ॥५३॥

निजेति—चेरुरिभा गजाश्चरन्ति स्म । किं तत् । आरबलम् अरीणामङ्गादीनां समूह आरं तस्य बलं सैन्यं तरसा वेगेन बलेन वा भृशमतिशयेन । किंविशिष्टा इभाः । भूतहृतो भूतानि प्राणिनो हरन्तीति भूतहृतः प्राणिघातकाः । कथंभूता इभाः । निजदोरदनोदीर्णश्रीरताः निजदोरदनाभ्यां बाहुदन्ताभ्यामुदीर्णा या श्रीस्तस्यां रताः । घनताविभाः घनानां समूहो घनता तद्वद्विभा येषां ते तथाभूताः । प्रातिलोम्यानन्तरश्लोकः ॥४९॥ सभृत इति—ततो हे हृतभूभारिरुचे ! भुवि भान्तीति भूभास्ते च तेऽरयश्च भूभारयस्तेषां रुचिः प्रभा, हृता भूभारिरुचिर्येन स हृतभूभारिरुचिस्तस्य संबोधनं हे हृतभूभारिरुचे ! अलमत्यर्थं वरसारतः उत्कृष्टबलात् सभृतः पूर्णः सेनापतिरित्यर्थः । दरदोऽजनि न दीनः—दरं भयं ददातीति दरदः । किंविशिष्टः । भावितानघतारश्रीः भाविता अधिगता अनघा तारा उज्ज्वला श्रीः क्षात्रलक्षणा शोभा येन स तथा ॥५०॥ [[3]शङ्क इति—शङ्के उत्प्रेक्षे । किमित्याह—स्यन्दनध्वजैः रथपताकाभियोद्धुं समराय द्विपोऽरयः जुहुविरे आहूताः । कथंभूतैः स्यन्दनध्वजैः । अनुकूलेन पृष्ठतः समागतेन पवनेन समीरेण प्रेङ्खितैः । कम्पितैरित्यनुकूलपवनप्रेङ्खितैः । कैर्जुहुविरे । निक्वणत्किङ्किणीक्वाणैः नि क्वणन्तीनां किङ्किणीनां क्षुद्रघण्टिकानां क्वाणाः शब्दास्तैः करणभूतैः ॥५१॥] नवेति—काः द्युयोषितः उत्का नाभवन् । अपि तु सर्वा अभवन् । कस्मै । सगरागमनाय । कथंभूताः । अनायकाः भर्तृरहिताः । किं कुर्वाणाः । बिभ्राणाः । कम् । सङ्गरागम् । अनायकेषु नवप्रियेषु ॥५२॥ [[4]सद्दशावतीति—ते शत्रवोऽङ्गादिदेशजा रिपवः अत्रानीके सैन्ये वधायैव मरणायैव निपेतुः पतन्ति स्म । कुत्र । त्वत्प्रतापप्रदीपके तव प्रताप एव प्रदीपकस्तस्मिन् । कथंभूतेऽनीके । सद्दशावति उत्तमावस्थायुक्ते । कथंभूते त्वत्प्रतापप्रदीपके । सद्दशावति समीचीनवर्तिकायुक्ते । के इव । पतङ्गा इव शलभा इव । यथा पतङ्गाः प्रदीपे मरणायैव पतन्ति तथा क्षुद्रशात्रवस्त्वत्प्र-

उन पर कवच ठीक नहीं बैठ रहे थे ॥४८॥ जो अपने हाथ, सूँड और दाँतोंके द्वारा प्राप्त हुई लक्ष्मी अथवा शोभामे लीन हैं, जिनकी कान्ति मेघसमूहके समान श्यामल है और जो प्राणियोंका विघात करनेवाले हैं ऐसे बहुतसे हाथी बड़े वेगसे शत्रु सेनाकी ओर चल पड़े ॥४९॥ जिन्होंने पृथ्वीतल पर रहनेवाले समस्त शत्रुओंकी रुचिका हरण कर लिया है ऐसे हे भगवन् धर्मनाथ ! निर्दोष एवं उज्ज्वल लक्ष्मीको धारण करनेवाला सुपुष्ट सेनापति सुषेण, अनेक राजाओंके उत्कृष्ट सैन्य बलसे दीन नहीं हुआ था प्रत्युत उन्हें ही भय देनेवाला हुआ था ॥५०॥ उस समय रथों पर लगी हुई ध्वजाएँ अनुकूल वायुसे चचल हो रही थीं और साथ ही उन मे लगी हुई छोटी-छोटी घंटियाँ शब्द कर रही थीं जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो रथ युद्ध करनेके लिए शत्रुओंको बुला ही रहे हों ॥५१॥ अपने नये प्रियतमोंमे समागमके प्रेमको धारण करनेवाली कौन-सी पतिरहित देवागनाएँ युद्धमे जानेके लिए उत्कण्ठित नहीं हो रही थीं ? ॥५२॥ हे भगवन् ! जिस प्रकार किसी उत्तम दशा—बातीसे युक्त दीपक पर पतगे केवल मरनेके लिए पडते हैं उसी प्रकार अच्छी दशा—अवस्था से युक्त इस सेनाके बीच आपके प्रतापरूपी दीपक पर जो शत्रु पड रहे थे—आक्रमण कर रहे थे वे

१ शङ्के दुकूल छ० । २ क्व योषितो—घ० म० । ३. कोष्ठकान्तर्गत पाठ सपादकेन मेलित । ४ कोष्ठकान्तर्गत पाठ सपादकेन मेलित । सटीकपुस्तके पाठो नास्ति ।

जयश्रियमथोद्वोढु त्वत्प्रतापाग्निसाक्षिकम्[1] । [2]चित्तमाजौ दददूतं सुषेणो विससर्ज स ॥४४॥
रागिताजिवरा कापि नेतेनान[3]ततामसा । साम तात ननातेने पिकारावजिता गिरा ॥४५॥
तथाप्यनुनयैरेष शाम्यति स्म न दुर्जनः । और्वस्तनूनपान्नीरैर्नीरधेरिव भूरिभि ॥४६॥
युद्धानकाः स्म तद्भीमा सदानघ नदन्ति नः । बवृंहिरे जयायोच्चै सदानघनदन्ति न ॥४७॥
उद्भिन्नोद्दामरोमाञ्चकञ्चुकेषु मुदस्तदा । अन्तरङ्गेषु वीरा[4]णा सन्नाहा न बहिर्ममु ॥४८॥

यस्मात्कारणात् हरिणा सिंहेन एकाकिनापि किं हरिणा मृगा न रुध्यन्ते ॥४३॥ [[5]अथानन्तर सुषेण सेनापति-र्दूत विससर्ज प्रतिप्रेषयामास । कथभूत सुषेण । आजौ समरे चित्त ददत् मनो योजयन् । किं कर्तुम् । उद्वोढु परिणेतुम् । काम् । जयश्रिय विजयलक्ष्मीम्, कथम् । त्वत्प्रतापाग्निसाक्षिक भवत्प्रतापानलसमक्षम् ॥४४॥] विसर्जिते राजदूते सुषेणदूत स्वस्वामिनो निरपराधता प्रतिपादयन्नाह—रागितेति—हे इन ! हे स्वामिन् ! तेन तव सेनान्या कापि रागिता न इता प्राप्ता । कथभूता । आनततामसा, रागद्वेषौ न प्राप्तौ, कथभूता रागिता । आजिवरा सग्रामधरणशीला । तर्हि युद्धोपशमार्थ साम प्रयुक्त न भविष्यतीत्याशङ्कायामाह—साम तात ननातेने तात । पित । साम ननातेने । अपि तु विस्तारितम्, कया । गिरा । कथभूतया । पिकारावजिता । अनुलोम-प्रतिलोमार्द्ध । यादृशमनुलोमेनार्द्ध प्रतिलोमेनार्द्ध—प्रतिलोमेन तादृश द्वितीयमित्यर्थ ॥४५॥ [[6]तथापि एष दुर्जनो दुष्टो नृपतिसमूह अनुनयै सान्त्ववचनै न शाम्यति शान्तो न भवति । तदेवोदाहरति—और्व तनूनपाद् वडवानल नीरधे सागरस्य भूरिभि प्रचुरैर्नीरैरिव । यथा सागरस्थो वडवानलो वारिधेर्विपुल-वारिभिर्न शाम्यति तथाय दुर्जनोऽनुनयै प्रीतिवचनैर्न शान्तो भवतीति भाव ॥४६॥] युद्धानका इति—सदा-नघ ! सर्वदा निष्पाप ! तदनन्तर नोऽस्माक युद्धानका सग्रामपटहा भीमा नदन्ति स्म तथा सदानघना दन्ति-नोऽपि बवृंहिरे । सदाना समदाश्च ते घनदन्तिनश्च सदानघनदन्तिन तत्कालोत्पन्नमदा दन्तिनो जयाय शब्द चक्रु । शकुनत्वाज्जय सभाव्यते । [[7]तदा युद्धावसरे वीराणा शूराणाम् अन्तर्मध्ये हृदयेष्वित्यर्थ । मुद चिरसमरसमर्दजनिता हर्षा नो ममुर्न मान्तिस्म बहिश्च अङ्गेषु शरीरेषु सनाहा कवचा न ममु हर्षोत्फुल्ल-शरीरत्वादिति भाव । कथभूतेषु अङ्गेषु । उद्भिन्ना प्रकटिता रोमाञ्चा एव कञ्चुका येषु तेषु] ॥४७-४८॥

ला देंगे। जरा यह भी तो सोचो। क्या एक ही सिंहके द्वारा बहुतसे हरिण नहीं रोक लिये जाते ॥४३॥ तदनन्तर आपके प्रतापरूपी अग्निकी साक्षी पूर्वक विजयलक्ष्मीका विवाह करने-के लिए युद्धमें चित्त लगानेवाले सुषेण सेनापतिने राजाओंके दूतको वापिस कर दिया ॥४४॥ युद्धके क्रमका आमूल वर्णन करनेके लिए जो दूत भगवान् धर्मनाथके सामने आया था वह उनसे कहता है कि हे स्वामिन् ! यद्यपि सुषेण सेनापतिने मोहान्धकारसे भरी हुई युद्ध सम्बन्धी अपनी कोई भी इच्छा प्रकट नहीं की थी किन्तु कोयलके शब्दको जीतने वाली मीठी वाणीसे समता भावका ही विस्तार किया था। तथापि ससारमें यह बात प्रसिद्ध है कि जिस प्रकार समुद्रके बहुत भारी जलसे वडवानल शान्त नहीं होता उसी प्रकार अनुनयपूर्ण वचनोंसे दुर्जन शान्त नहीं हुआ था ॥४५-४६॥ तदनन्तर हे दोषरहित भगवन् ! हमारे युद्धके भयंकर नगाड़े बज उठे और जिनके मद झर रहा था ऐसे बहुत भारी हाथी विजय प्राप्त करनेके लिए जोरसे गर्जना करने लगे—चिंघाड़ें मारने लगे ॥४७॥ उस समय शूर-वीरोंके हृदयमें हर्ष नहीं समा रहा था और बाहर प्रकट हुए रोमांच रूपी कंचुकोंसे युक्त उनके शरीरों पर कवच नहीं समा रहे थे अर्थात् युद्ध जन्य हर्षसे शरीर फूल जानेके कारण

१ साक्षिकाम् छ० म० घ० । २ वित्त—घ० म० । ३ तत म० घ० । ४ वीराणा छ० । शूराणा ख० म० च० घ० द० । ५ अय पाठ सपादकेन मेलित सटीकपुस्तके नास्ति । ६ अय पाठ सपादकस्य सटीकपुस्तके तु नास्ति । ७ अय पाठ सपादकेन मेलित सटीकपुस्तके नास्ति ।

निजदोरदनोदीर्णश्रीरता घनताविभा । तरसारबल चेरुरिभा भूतहृतो भृशम् ॥४९॥
सभृतो हृतभूभारिरुचेऽल वरसारतः । भावितानघ तारश्रीर्न दीनो दरदोऽजनि ॥५०॥
[1]शङ्केऽनुकूलपवनप्रेङ्खितै स्यन्दनध्वजै. । निक्वणत्किङ्किणीक्वाणैर्योद्धु जुहुविरे द्विप ॥५१॥
नवप्रियेपु बिभ्राणाः सङ्गरागमनायकाः । [2]द्युयोषितोऽभवन्नोत्काः सगरागमनाय काः ॥५२॥
सद्दशावत्यनीकेऽत्र त्वत्प्रतापप्रदीपके । वधायैव निपेतुस्ते पतङ्गा इव शत्रव ॥५३॥

निजेति—चेरुरिभा गजाश्चरन्ति स्म । किं तत् । आरवलम् अरीणामङ्गादीना समूह आर तस्य वल सैन्य तरसा वेगेन बलेन वा भृशमतिशयेन । किंविशिष्टा इभा । भूतहृतो भूतानि प्राणिनो हरन्तीति भूतहृत प्राणिघातका । कथभूता इभा । निजदोरदनोदीर्णश्रीरता निजदोरदनाभ्या बाहुदन्ताभ्यामुदीर्णा या श्रीस्तस्या रता । घनताविभा घनाना समूहो घनता तद्वद्विभा येपा ते तथाभूता । प्रातिलोम्यानन्तरश्लोक ॥४९॥ सभृत इति—ततो हे हृतभूभारिरुचे ! भुवि भान्तीति भूभास्ते च तेऽरयश्च भूभारयस्तेपा रुचि प्रभा, हृता भूभारिरुचिर्येन स हृतभूभारिरुचिस्तस्य सबोधन हे हृतभूभारिरुचे ! अलमत्यर्थ वरसारत उत्कृष्टबलात् सभृत पूर्ण सेनापतिरित्यर्थ । दरदोऽजनि न दीन —दर भय ददातीति दरद । किंविशिष्ट । भावितानघतारश्री भाविता अधिगता अनघा तारा उज्ज्वला श्री क्षात्रलक्षणा शोभा येन स तथा ॥५०॥ [[3]शङ्क इति—शङ्के उत्प्रेक्षे । किमित्याह—स्यन्दनध्वजै रथपताकाभियोद्धु समराय द्विषोऽरय जुहुविरे आहूता । कथभूतै स्यन्दनध्वजै । अनुकूलेन पृष्ठत समागतेन पवनेन समीरेण प्रेङ्खितै । कम्पितैरित्यनुकूलपवनप्रेङ्खितै । कैर्जुहुविरे । निक्वणत्किङ्किणीक्वाणै नि क्वणन्तीना किङ्किणीना क्षुद्रघण्टिकाना क्वाणा शब्दास्तै करणभूतै ॥५१॥] नवेति—का द्युयोपित उत्का नाभवन् । अपि तु सर्वा अभवन् । कस्मै । सगरागमनाय । कथभूता । अनायका भर्तृरहिता । किं कुर्वाणा । बिभ्राणा । कम् । सङ्गरागम् । अनायकेपु नवप्रियेपु ॥५२॥ [[4]सद्दशावतीति—ते शत्रवोऽङ्गादिदेशजा रिपव अत्रानीके सैन्ये वधायैव मरणायैव निपेतु पतन्ति स्म । कुत्र । त्वत्प्रतापप्रदीपके तव प्रताप एव प्रदीपकस्तस्मिन् । कथभूतेऽनीके । सद्दशावति उत्तमावस्थायुक्ते । कथभूते त्वत्प्रतापप्रदीपके । सद्दशावति समीचीनवर्तिकायुक्ते । के इव । पतङ्गा इव शलभा इव । यथा पतङ्गा प्रदीपे मरणायैव पतन्ति तथा क्षुद्रशत्रवस्त्वत्प्र-

उन पर कवच ठीक नहीं बैठ रहे थे ॥४८॥ जो अपने हाथ, सूँड और दाँतोंके द्वारा प्राप्त हुई लक्ष्मी अथवा शोभामें लीन हैं, जिनकी कान्ति मेघसमूहके समान श्यामल है और जो प्राणियोंका विघात करनेवाले हैं ऐसे बहुतसे हाथी बड़े वेगसे शत्रु सेनाकी ओर चल पड़े ॥४९॥ जिन्होंने पृथ्वीतल पर रहनेवाले समस्त शत्रुओंकी रुचिका हरण कर लिया है ऐसे हे भगवन् धर्मनाथ ! निर्दोष एवं उज्ज्वल लक्ष्मीको धारण करनेवाला सुपुष्ट सेनापति सुषेण, अनेक राजाओंके उत्कृष्ट सैन्य बलसे दीन नहीं हुआ था प्रत्युत उन्हें ही भय देनेवाला हुआ था ॥५०॥ उस समय रथों पर लगी हुई ध्वजाएँ अनुकूल वायुसे चंचल हो रही थीं और साथ ही उन मे लगी हुई छोटी-छोटी घंटियाँ शब्द कर रही थीं जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो रथ युद्ध करनेके लिए शत्रुओंको बुला ही रहे हों ॥५१॥ अपने नये प्रियतमोंमें समागमके प्रेमको धारण करनेवाली कौन-सी पतिरहित देवांगनाएँ युद्धमे जानेके लिए उत्कण्ठित नहीं हो रही थीं ? ॥५२॥ हे भगवन् ! जिस प्रकार किसी उत्तम दशा—बातीसे युक्त दीपक पर पतगे केवल मरनेके लिए पड़ते हैं उसी प्रकार अच्छी दशा—अवस्था से युक्त इस सेनाके बीच आपके प्रतापरूपी दीपक पर जो शत्रु पड़ रहे थे—आक्रमण कर रहे थे वे

१ शङ्के दुकूल छ० । २. क्व योपितो—घ० म० । ३ कोष्ठकान्तर्गत पाठ सपादकेन मेलित । ४ कोष्ठकान्तर्गत पाठ सपादकेन मेलित । सटीकपुस्तके पाठो नास्ति ।

गङ्गोरगगुरूग्राङ्गगौरगोगुरुरुग्रगुः । रागागारिगरैरङ्गैरग्रेऽङ्गं गुरुगीरगात् ।।५४।। [द्व्यक्षरः]

अङ्गमुत्तुङ्गमातङ्गमायान्तं प्रत्यपद्यत । वात्येव वारिदानीकं सा सुषेणस्य वाहिनी ।।५५।।

अतस्तमानसे सेना सदाना सारवा रणे । अतस्तमानशे सेना सदानासारवारणे ।।५६।।

[समुद्गक]

कुम्भभूरिव निर्मग्नसपक्षानेकभूधरम् । उच्चुलुम्पाचकारोच्चैः स क्षणादङ्गवारिधिम् ।।५७।।

निस्त्रिंशदारितारातिहृदयाचलनिर्गता । न करिस्कन्धदघ्नासृङ्नदी दीनैरतीर्यत ।।५८।।

[निरौष्ठ्य]

तापप्रदीपे मरणायैव पतन्ति स्मेति भाव] ।।५३।। गङ्गोरगेति—स अग्र प्रथम अङ्ग राजानमगात् । कैं कृत्वा । अङ्गैः सेनाङ्गैश्चतुर्भि । किंविशिष्टैः । रागागारिगरैः राग एव अगार विद्यते येषा ते रागागारिण । यदि वा रागागा रागपर्वता ते च अरयश्च तेषा गरैर्विषप्रायैः । गुरुगीर्महानाद । पुन किंविशिष्ट । गङ्गोरगगुरूग्राङ्गगौरगोगुरु गङ्गा चोरगगुरुश्च उग्राङ्ग च तद्वत् गौरा श्वेता या गौर्वाणी तया गुरुर्बृहस्पति । उग्रगु उग्रास्तीक्ष्णा गावो बाणा मयूखा वा यस्य स उग्रगु ।।५४।। [[2]सुषेणस्य सेनापते सा प्रसिद्धा वाहिनी सेना अङ्गमङ्गदेशभूपाल प्रत्यपद्यत प्राप । कथभूतमङ्गम् । उत्तुङ्गमातङ्ग समुन्नतगजम् । पुन कथभूतम् । आयान्त सम्मुखमागच्छन्तम् । अत्रोपमामाह—वाताना समूहो वात्या वारिदानीक मेघसमूहमिव] ।।५५।। अज इति—अतोऽनन्तर सेना अङ्गम् आनशे व्याप । कथभूता सेना । सह इनेन वर्तते सेना सेनापतियुक्ता । सदाना सच्छोभन आनो बल यस्या सा सदाना । सारवा सशब्दा । क्व रणे । किंविशिष्टे । सदानासारवारणे सह दानासारेण वर्तन्ते सदानासारास्तथाभूता वारणा यत्र तस्मिन् तथा । अतस्तमानसे अतस्तमानान् अक्षीणाहकारान् श्यति तनूकरोतीति अतस्तमानसस्तस्मिन् । इति समुद्गक ।।५६।। [[3]कुम्भेति—स सुषेण क्षणादेव उच्चैरुन्नतम्, अङ्ग एव वारिधिस्तम् अङ्गदेशाधिपसागरम्, उच्चुलुम्पाचकार रिक्त विदधे । कथभूतमङ्गवारिधिम् । निर्मग्ना सगता सपक्षा ससहाया अनेकभूधरा अनेकनृपा यस्मिंस्त पक्षे निर्मग्ना अन्तर्ब्रुडिता सपक्षा सगरुत अनेकभूधरा नानापर्वता यस्मिंस्तम् । क इव कुम्भभूरिव अगस्त्य इव ।।] ।।५७।। [4][निस्त्रिंशेति— दीनै कातरै असृङ्नदी रक्तवाहिनी न अतीर्यत न तीर्णा । कथभूतासृङ्नदी । निस्त्रिंशै खड्गैर्दारितानि

सब मरनेके लिए ही कर रहे थे ।।५३।। जो गङ्गा नदी, शेषनाग, और शिवके शरीरके समान धवल वाणीके द्वारा बृहस्पतिके समान है, जिसके बाण अथवा किरण अत्यन्त तीक्ष्ण हैं, एवं जिसकी आवाज बहुत भारी है ऐसा सुषेण सेनापति, रागरूपी गृहस्वामियों अथवा रागके पर्वत रूपी शत्रुओंको नष्ट करनेके लिए विषके समान अपनी चतुरग सेनाके साथ अंगदेशके राजाके साथ युद्ध करनेके लिए आगे गया ।।५४।। जिस प्रकार आँधी मेघसमूहका सामना करती है उसी प्रकार सुषेणकी सेनाने ऊँचे हाथी पर बैठकर आते हुए अगदेशके राजाका सामना किया ।।५५।। जिनका मान कोई भी नष्ट नहीं कर सका, ऐसे लोगोंका भी मान जिसने नष्ट कर दिया है और साथ ही जिसके हाथी मद-जलकी वर्षा कर रहे हैं ऐसे युद्धमे स्वामी सहित, समीचीन बल सहित एव शब्द सहित सुषेणकी सेनाने अग देशके राजाको व्याप्त कर लिया—घेर लिया ।।५६।। जिसमे पंखों सहित अनेक पर्वत आकर डूबे हुए हैं ऐसे समुद्रको जिस प्रकार अगस्त्य ऋषिने क्षण भरमे उलीच दिया था—खाली कर दिया था उसी प्रकार जिसमे सहायकोंके साथ अनेक राजा लोग आकर निमग्न हो गये हैं—मिल गये है ऐसे अगदेशके राजा रूपी विशाल समुद्रको सुषेणने क्षणभरमे उलीच डाला —सुभटोंसे खाली कर दिया ।।५७।। उस युद्धमे तलवारके द्वारा विदीर्ण शत्रुओंके हृदयरूपी

१ -से म० घ० । २ कोष्ठकस्य पाठ सटीकपुस्तके नास्ति । सपादकेन मेलित । ३-४ ५७-५९ श्लोकाना टीका सटीकपुस्तके नास्ति । सपादकेन मेलिता ।

स्नेहपूर इव क्षीणे तत्रोद्रेकं महीभुजः। अस्त यियासवोऽन्येऽपि प्रदीपा इव भेजिरे ॥५९॥

[कुलकम्]

हेमवर्माणि सोऽद्राक्षीद्भाविना भाविनासिना। द्विड्बलान्युत्सुकेनेव निचितानि चिताग्निना ॥६०॥

तद्घनोत्क्षिप्तदुर्वारतरवारिमहोर्मयः। अरिक्ष्माधरवाहिन्यो रणक्षोणी प्रपेदिरे ॥६१॥

समुत्साह समुत्साहकारमाकारमादधत्। ससारार ससारारम्भवतो भवतो बलम् ॥६२॥

कोदण्डदण्डनिर्मुक्तकाण्डच्छन्ने विहायसि। चण्डांशुश्चण्डभीत्येव सवव्रे करसचयम् ॥६३॥

खण्डितानि यानि अरातिहृदयानि सपत्नवक्षासि तान्येवाचला पर्वतास्तेभ्यो निर्गता। पुनश्च कथभूता। करिस्कन्धा गजग्रीवापृष्ठभागा प्रमाण यस्यास्तथाभूता] ॥५८॥ [स्नेहेति—स्नेहपूरे तैलपूरे इव तत्राङ्गाधिपे क्षीणे सति अस्त यियासवो विनाशोन्मुखा अन्येऽपि महीभुजो राजान प्रदीपा इव उद्रेक औन्नत्य भेजिरे प्रापु] ॥५९॥ हेमेति—स द्विड्बलान्यद्राक्षीत्। कथभूतानि। हेमवर्माणि सुवर्णमनाहानि। कथभूतानि। निचितानि। केन। चिताग्निना। कथभूतेन उत्सुकेनेव। पुन कथभूतेन। भाविना भविष्यता। भाविनाशिना कान्त्यपहारिणा ॥६०॥ [१][तदिति—अरिक्ष्माधरवाहिन्य अरय शत्रव एव क्ष्माधरा राजान पक्षे पर्वतास्तेषा सबन्धिन्यो वाहिन्य सेना पक्षे नद्य रणक्षोणी समरवसुधा प्रपेदिरे प्रापु। कथभूतास्ता। तद्घनेति—तै शत्रुमहीधरैर्घन निबिड यथा स्यात्तथा उत्क्षिप्ता उन्नमिता दुर्वारा दु खेन निवारयितु शक्यास्तरवारय कृपाणा महोर्मय इव विशालतरङ्गा इव यासु ता सेना पक्षे त एव घनास्तद्घनास्तन्मेघास्तैरुत्क्षिप्ता उत्थापिता दुर्वारतरा अतिशयेन दुर्वारा वारिमहोर्मयो जलमहाकल्लोला यासु ता नद्य ॥६१॥] समुत्साहमिति—भवतो बलम् आरम् अरिसमूह ससार। कथभूतस्य भवत। ससारारम्भवत ससारा सोत्कर्षा सबला वा आरम्भा विद्यन्ते यस्य स ससारारम्भवान् तस्य। कि कुर्वद् बलम्। आदधत्, कम्। आकारम्, कथभूतम्। साहकारम्। समुत् सहर्षम्। कथ ससार। समुत्साह तद्विशेषण वा ॥६२॥ [२][कोदण्डेति—चण्डांशु सूर्य सवव्रे सवृतवान्, कम्। करसचय किरणसमूहम्, कुत। चण्डभीत्येव तीव्रभयेनेव। क्व सति। विहायसि नभसि कोदण्डदण्डेभ्यो धनुर्दण्डेभ्यो निर्मुक्तैर्निष्पतितै काण्डैर्बाणैश्छन्ने

पर्वतसे निकली, हाथियोंके कन्धों प्रमाण गहरी जो खूनकी नदी बह रही थी उसे दीन—कायर मनुष्य पार नहीं कर सके थे ॥५८॥ जिस प्रकार स्नेह अर्थात् तेलका प्रवाह क्षीण हो जाने पर जो दीपक बुझना चाहते हैं वे कुछ उद्रेकको—विशिष्ट प्रकाशको व्याप्त होते हैं उसी प्रकार स्नेह अर्थात् प्रेमका प्रवाह क्षीण हो जानेसे जो राजा अस्त होना चाहते थे—मरना चाहते थे वे अन्त समय कुछ उद्रेकको—विशिष्ट पराक्रमको व्याप्त हुए थे ॥५९॥ सुषेण सेनापतिने सुवर्णके देदीप्यमान कवचोंसे युक्त शत्रुओंकी सेनाओंको इस प्रकार देखा था मानो वे आगे होने वाली एव कान्तिको नष्ट करने वाली चिताकी अग्निसे ही उत्सुकतापूर्वक व्याप्त हो रही थीं ॥६०॥ शत्रु राजा रूपी मेघोंके द्वारा ऊपर उठायी हुई तलवारें ही जिनमें जलकी बडी-बड़ी लहरें उठ रही हैं ऐसी शत्रु राजाओंकी सेनारूपी नदियाँ युद्ध भूमिमे आ पहुँचीं। भावार्थ—जिस प्रकार मेघोंसे दुर्धर जलकी वर्षा होनेके कारण बडी-बडी लहरोंसे भरी पहाडी नदियाँ थोड़ी ही देरमें भूमि पर आकर बहने लगती हैं उसी प्रकार शत्रु राजाओंकी सेनाएँ तलवाररूपी बड़ी-बडी लहरोंके साथ युद्धके मैदानमें आ निकलीं ॥६१॥ जिसका उत्साह प्रशसनीय था, तथा जो हर्ष एवं अहंकारसहित आकारको धारण कर रही थी ऐसी सार पूर्ण आरम्भ करने वाले आपकी सेना उस समय बडे वेगसे चल रही थी ॥६२॥ उस समय धनुर्दण्डसे छूटे हुए बाणोंसे आकाश आच्छादित हो गया था और सूर्यका प्रकाश

१-२ कोष्ठकान्तर्गत पाठ सपादकस्य, सटीकपुस्तके पाठो नास्ति ।

सारसेनारसे नागा समरे समरेखया । न न दाननदाश्चेरुर्वाजिनो वाजिनोद्धताः ॥६४॥
उद्दण्डं यत्र यत्रासीत्पुण्डरीकं रणाम्बुधौ । निपेतुस्तव योधानां तत्र तत्र शिलीमुखाः ॥६५॥
के न बाणैर्नवबाणैस्ते सेनया सेनया हताः । मानवा मानबाधान्धाः सत्वराः सत्त्वराशयः ॥६६॥
बाणैर्बलमरातीनां सदापिहितसौरभैः । अपूरि सुरमुक्तैश्च त्वद्बलं कुसुमोत्करैः ॥६७॥
मूर्धानं दुधुवुस्तत्र कङ्कपत्रक्षता भटाः । प्रभोरर्थासमाप्तौ वा प्राणानां रोद्धुमुत्क्रमम् ॥६८॥

[अतालव्य]

त्रुट्यद्द्विट्कण्ठपीठास्थिटात्कारभरभैरवे । पेतुर्भयान्वितास्तत्र पत्रिणो न पतत्रिणः ॥६९॥
शरघाताद्गजैर्दीनरसितैरुत्पलायितम् । रक्ताब्धौ तत्करैश्छिन्नैरसितैरुत्पलायितम् ॥७०॥

व्याप्ते तथाभूते सति ॥६३॥] सारेति—समरे संग्रामे नागाः करिणः समरेखया तुल्यरेखया न न चेरुरपि तु चेरुः । कथंभूते समरे । सारसेनारसे सारसेनायाः रसः शब्दो रागो वा यत्र तस्मिन् । कथंभूता नागाः । दाननदा मदह्रदाः । न केवलं नागा वाजिनो वा अश्वाश्च । कथंभूताः । उद्धताः । जिनेति संबोधनपदम् ॥६४॥ [1][रणाम्बुधौ समरसागरे यत्र यत्र उद्दण्डं उन्नतदण्डयुक्तं पुण्डरीकं सितच्छत्रं पक्षे सिताब्जम् आसीत् तत्र तत्र तव योधानां सुभटानां शिलीमुखाः बाणाः पक्षे भ्रमराः निपेतुः ॥६५॥] के इति—ते तव सेनया मानवाः के न हताः सेनया कथंभूतया सेनया इनसहितया । कैः बाणैः, कथंभूतैर्नवबाणैर्नवशब्दैः । मानवाः किंविशिष्टाः । मानबाधान्धाः अहंकारपीडान्धाः । सत्वराः सवेगाः, सत्त्वराशयः सत्त्वसमूहान्विताः ॥६६॥ बाणैरिति—बाणैररातिबलमपूरि कुसुमोत्करैश्च त्वद्बलम् । कथंभूतैः । सदापिहितसौरभैः सर्वदाच्छादितभानुप्रभैर्बाणैः, द्वितीयपक्षे सदापिहितम् अनुकूलं सौरभं सौगन्ध्यं येषां तैः कुसुमोत्करैः ॥६७॥ [मूर्धानमिति—तत्र रणाजिरे भटाः शत्रुयोधाः मूर्धानं शिरो दुधुवुः कम्पयामासुः । कथंभूताः, भटाः । कङ्कपत्रैः बाणैः क्षता हताः । अत्रोत्प्रेक्षते—प्रभोः स्वामिनः अर्थासमाप्तौ प्रयोजनासिद्धौ प्राणानाम् उत्क्रमम् उद्गमनं रोद्धुमिव । अयं श्लोकस्तालव्याक्षररहितः] ॥६८॥ [2][त्रुट्यदिति—त्रुटयन्ति खण्डयमानानि द्विषां शत्रूणां कण्ठपीठस्य यान्यस्थीनि कीकसानि तेषां टात्कारभरेण टात्कारशब्दसमूहेन भैरवे भयंकरे तत्र युद्धक्षेत्रे भया कान्त्या अन्विताः सहिताः पत्रिणो बाणाः पेतुः भयेन भीत्या अन्विता इति भयान्विताः पतत्रिणो गृध्रकङ्कादयः पक्षिणो न पेतुः ॥६९॥] शरेति—शर-

कम हो गया था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो सूर्यने तीव्र भयसे ही अपनी किरणोंके समूहका संकोच कर लिया हो ॥६३॥ हे जिन ! सेनाके जोरदार शब्दोंसे भरे हुए युद्धके मैदानमें, जिनके दोनों गण्डस्थलोंसे एक सदृश रेखाके आकारसे मद जलकी नदियाँ बह रही थीं ऐसे हाथी और उद्दण्ड घोड़े इधर-उधर दौड़ रहे थे ॥६४॥ रणरूपी सागरमें जहाँ जहाँ छत्ररूपी सफेद कमल ऊँचे उठे हुए दिखाई देते थे वहीं-वहीं पर तुम्हारे योधाओंके बाणरूपी भ्रमर पड़ते थे ॥६५॥ हे भगवन् ! सेनापतिसे सहित आपकी सेनाने, नये-नये शब्द करने वाले बाणोंके द्वारा, मानकी बाधासे अन्धे, शीघ्रतासे भरे हुए एवं पराक्रमके पुंज स्वरूप किन मनुष्योंको नष्ट नहीं कर दिया था ॥६६॥ हे स्वामिन् ! शत्रुओंकी सेना तो सदा काल सूर्यकी दीप्तिको आच्छादित करने वाले बाणोंसे भरी रहती थी और आपकी सेना देवोंके द्वारा वर्षाये हुए अत्यन्त सुगन्धित फूलोंके समूहसे पूर्ण रहती थी ॥६७॥ उस युद्धमें बाणोंके द्वारा घायल हुए योद्धा अपना मस्तक हिला रहे थे उससे ऐसा जान पड़ता था मानो वे अपने स्वामीका कार्य समाप्त किये बिना ही प्राणोंका जो निर्गम हो रहा था उसे रोक ही रहे थे ॥६८॥ शत्रुओंकी कण्ठस्थलकी टूटने वाली हड्डियोंके टात्कार शब्दके समूहसे जो अत्यन्त भयंकर दिखाई देता था ऐसे उस युद्धस्थलमें प्रभासे परिपूर्ण—चमकते हुए बाण ही गिरते थे, भयसे युक्त पक्षी नहीं ॥६९॥ बाणोंके घातसे दीन शब्द करते हुए हाथी इधर-उधर भाग

१-२ कोष्ठकान्तर्गतः पाठः सपादकस्य, सटीकपुस्तके नास्ति ।

वेतालास्ते तृषोत्ताला. पश्यन्त शरलाघवम् । पाणिपात्रस्थमप्यत्र कीलाल न पपुर्युधि ॥७१॥
त्वद्बलैर्विषमारातिमारातिस्फुटविक्रमैः । अखग व्योम कुर्वाणे कुर्वाणैस्तस्तरे तदा ॥७२॥
ससारसारलक्ष्म्येव वैदर्भ्या स्वीकृतस्य ते । ईर्ष्यया वर्धितोत्साहा तत्र शत्रुपरम्परा ॥७३॥
पराजिताशु भवत सेनया यतमानया । पराजिता शुभवत सेनया यतमानया ॥७४॥ [युग्मम्]
ततो भग्ने बलेऽन्यस्मिन्पुलकस्फारसैनिक । एकहेल सहोत्तस्थे मालवेन्द्रेण कुन्तल ॥७५॥
सुषेणस्तद्बलव्यूह सन्नाहवपुष तत । हर्षेण वीक्ष्य सौवर्णसनाहवपुष तत ॥७६॥
चतुरङ्गबले तत्र परिसर्पति शात्रवे । सैन्यमाश्वासयामास व्याकुल स्व चमूपति ॥७७॥

घातादृगजैरुत्पलायित नष्टम् । कथभूतै । दीनरसितैर्दीनशब्दै । तत्करैर्गजहस्तैश्छिन्नैरसितै कृष्णैरुत्पलायितम् उत्पलवदाचरितम् ॥७०॥ [1][वेताला इति—ते रणदिदृक्षया समागता वेताला पिशाचा युधि समरक्षेत्रे अत्र पाणिपात्रस्थमपि करभाजनस्थितमपि कीलाल जल रुधिर वा न पपु न पिबन्ति स्म । कथभूता । तृषा पिपासया उत्ताला व्यग्रा अपि । किं कुर्वन्त । शरलाघव बाणाना क्षिप्रत्व पश्यन्तो विलोकमाना ।] ॥७१॥ त्वद्बलैरिति—त्वद्बलैस्त्वत्सैन्यै कु पृथ्वी तस्तरे । कै । बाणै । किं कुर्वद्भि । कुर्वाणै । किं तद् । व्योम, कथभूतम् । अखग सुरपक्षिरहितम् । त्वद्बलै किंविशिष्टै । विषमारातिमारातिस्फुटविक्रमै विषमारातीना मारेण अतिस्फुटो विक्रमो येषा तानि विषमारातिमारातिस्फुटविक्रमाणि तै ॥७२॥ ससारेति—ससारेत्यादि सुगमम् । शत्रुपरम्परा भवत सेनया यतमानया प्रयत्न कुर्वाणया आशु शीघ्र पराजिता । कथभूता । परै शत्रुभिरजिता अपराजिता । भवत किंविशिष्टस्य । शुभवत । सेनया कथभूतया । सेनया स्वामिसहितया, आयतमानया साहकारया ॥७३-७४॥ तत इति—सुगमम ॥७५॥ सुषेण इति—ततोऽनन्तर सुषेण स सेनापतिस्तद्बलव्यूह वीक्ष्य हर्षेण ततो व्यास । कथभूतम् । सौवर्णसन्नाहवपुष सौवर्णसन्नाह वपुर्यस्य त तथा । पुन किंविशिष्टम् । सन्नाहवपुषम्—सन्नमक्षीणमाहव पुष्णाति यस्त सन्नाहवपुषम् ॥७६॥ [2][चतुरङ्गेति—तत्र समरक्षेत्रे शात्रवे शत्रुसवन्धिनि चतुरङ्गबले चत्वारि हस्त्यादीनि अङ्गानि यस्य तथाभूत चतुरङ्ग तच्च तद्बल चेति चतुरङ्गबल तस्मिन् परिसर्पति समन्ता-

---

रहे थे और रुधिरके सागरमें कट-कट कर गिरे हुए हाथियोंके श्यामल शुण्डादण्ड नील कमलके समान जान पड़ते थे ॥७०॥ उस युद्धमे जो बेताल थे वे प्याससे पीड़ित होने पर भी बाण चलानेकी शीघ्रताको देखते हुए आश्चर्यवश अपने हाथरूपी पात्रमे रखे हुए भी रुधिर अथवा जलको नहीं पी रहे थे ॥७१॥ विषम शत्रुओंके मारनेसे जिनका पराक्रम अत्यन्त प्रकट है ऐसी आपकी सेनाओंने, आकाशको पक्षियों अथवा विद्याधरोंसे रहित करने वाले बाणोंके द्वारा उस समय युद्धकी भूमिको आच्छादित कर दिया था ॥७२॥ हे स्वामिन् ! संसारकी लक्ष्मीस्वरूप शृंगारवतीने जो आपको स्वीकृत किया था उससे ईर्ष्याके कारण आपकी शत्रु परम्पराका उत्साह बढ गया था । यद्यपि वह शत्रु परम्परा अन्य पुरुषोंके द्वारा अविजित थी—उसे कोई जीत नहीं सका था तो भी चूँकि आप कल्याणोंसे सहित थे अतः आपकी प्रयत्नशील, सेनापति युक्त एवं अहंकारिणी सेनाने उसे शीघ्र ही पराजित कर दिया ॥७३-७४॥ जब अन्य सेना पराजित होकर नष्ट हो गयी तब जिसके सैनिक हर्षसे रोमाचित हो रहे थे ऐसा कुन्तल देशका राजा मालव नरेशके साथ एकदम उठकर खड़ा हुआ ॥७५॥ सेनापति सुषेणने अक्षीण अथवा वर्तमान युद्धको पुष्ट करने वाले एवं सुवर्ण निर्मित कवचोंसे युक्त शरीरको धारण करने वाले उन दोनों राजाओंके सैन्य-व्यूहको बड़े हर्षसे देखा और युद्धके मैदानमे शत्रु सम्बन्धी चतुरग सेनाके इधर-उधर चलने पर कुछ घबड़ायी हुई अपनी

१-२ कोष्ठकान्तर्गत पाठ संपादकस्य ।

सारसेनारसे नागा समरे समरेखया । न न दाननदाश्चेरुर्वाजिनो वाजिनोद्धताः ॥६४॥
उद्दण्डं यत्र यत्रासीत्पुण्डरीकं रणाम्बुधौ । निपेतुस्तव योधानां तत्र तत्र शिलीमुखाः ॥६५॥
के न बाणैर्नवाणैस्ते सेनया सेनया हृताः । मानवा मानबाधान्धाः सत्वराः सत्त्वराशयः ॥६६॥
बाणैर्बलमरातीनां सदापिहितसौरभैः । अपूरि सुरमुक्तैश्च त्वद्बलं कुसुमोत्करैः ॥६७॥
मूर्धानि दुधुवुस्तत्र कङ्कपत्रक्षता भटाः । प्रभोरर्थासमाप्तौ वा प्राणानां रोद्धुमुत्क्रमम् ॥६८॥

[अतालव्य]

त्रुट्यद्द्विट्कण्ठपीठास्थिटात्कारभरभैरवे । पेतुर्भयान्वितास्तत्र पत्त्रिणो न पतत्त्रिणः ॥६९॥
शरघाताद्गजैर्दीनरसितैरुत्पलायितम् । रक्ताब्धौ तत्करैश्छिन्नैरसितैरुत्पलायितम् ॥७०॥

व्याप्ते तथाभूते सति ॥६३॥] सारेति—समरे संग्रामे नागाः करिणः समरेखया तुल्यरेखया न न चेरुरपि तु चेरुः । कथंभूते समरे । सारसेनारसे सारसेनायाः रसः शब्दो रागो वा यत्र तस्मिन् । कथंभूता नागाः । दाननदाः मदह्रदाः । न केवलं नागाः वाजिनो वा अश्वाश्च । कथंभूताः । उद्धताः । जिनेति संबोधनपदम् ॥६४॥ [१][रणाम्बुधौ समरसागरे यत्र यत्र उद्दण्डं उन्नतदण्डयुक्तं पुण्डरीकं सितच्छत्रं पक्षे सिताब्जम् आसीत् तत्र तत्र तव योधानां सुभटानां शिलीमुखाः बाणाः पक्षे भ्रमराः निपेतुः ॥६५॥] क इति—ते तव सेनया मानवाः के न हृताः सेनया कथंभूतया सेनया इनसहितया । कैः बाणैः, कथंभूतैर्नवाणैर्नवशब्दैः । मानवाः किंविशिष्टाः । मानबाधान्धाः अहंकारपीडान्धाः । सत्वराः सवेगाः, सत्त्वराशयः सत्त्वसमूहान्विताः ॥६६॥ बाणैरिति—बाणैररातिबलमपूरि कुसुमोत्करैश्च त्वद्बलम् । कथंभूतैः । सदापिहितसौरभैः सर्वदाच्छादितभानुप्रभैर्बाणैः, द्विट्पक्षे सदापिहितम् अनुकूलं सौरभं सौगन्ध्यं येषां तैः कुसुमोत्करैः ॥६७॥ [मूर्धानमिति—तत्र रणाजिरे भटाः शत्रुयोधाः मूर्धानि शिरो दुधुवुः कम्पयामासुः । कथंभूताः, भटाः । कङ्कपत्रैः बाणैः क्षताः हताः । अत्रोत्प्रेक्षते—प्रभोः स्वामिनः अर्थासमाप्तौ प्रयोजनासिद्धौ प्राणानाम् उत्क्रमम् उद्गमनं रोद्धुमिव । अयं श्लोकस्तालव्याक्षररहितः] ॥६८॥ [२][त्रुट्यदिति—त्रुटचन्ति खण्डयमानानि द्विषां शत्रूणां कण्ठपीठस्य यान्यस्थीनि कीकसानि तेषां टात्कारभरेण टात्कारशब्दसमूहेन भैरवे भयकरे तत्र युद्धक्षेत्रे भया कान्त्या अन्विताः सहिताः पत्त्रिणो बाणाः पेतुः भयेन भीत्या अन्विताः इति भयान्विताः पतत्त्रिणो गृध्रकङ्कादयः पक्षिणो न पेतुः ॥६९॥] शरेति—शर-

कम हो गया था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो सूर्यने तीव्र भयसे ही अपनी किरणोंके समूहका संकोच कर लिया हो ॥६३॥ हे जिन ! सेनाके जोरदार शब्दोंसे भरे हुए युद्धके मैदानमें, जिनके दोनों गण्डस्थलोंसे एक सदृश रेखाके आकारसे मद जलकी नदियाँ बह रही थीं ऐसे हाथी और उद्दण्ड घोड़े इधर-उधर दौड़ रहे थे ॥६४॥ रणरूपी सागरमें जहाँ जहाँ छत्ररूपी सफेद कमल ऊँचे उठे हुए दिखाई देते थे वहीं-वहीं पर तुम्हारे योधाओंके बाणरूपी भ्रमर पड़ते थे ॥६५॥ हे भगवन् ! सेनापतिसे सहित आपकी सेनाने, नये-नये शब्द करने वाले बाणोंके द्वारा, मानकी बाधासे अन्धे, शीघ्रतासे भरे हुए एवं पराक्रमके पुंज स्वरूप किन मनुष्योंको नष्ट नहीं कर दिया था ॥६६॥ हे स्वामिन् ! शत्रुओंकी सेना तो सदा काल सूर्यकी दीप्तिको आच्छादित करने वाले बाणोंसे भरी रहती थी और आपकी सेना देवोंके द्वारा वर्षाये हुए अत्यन्त सुगन्धित फूलोंके समूहसे पूर्ण रहती थी ॥६७॥ उस युद्धमें बाणोंके द्वारा घायल हुए योद्धा अपना मस्तक हिला रहे थे उससे ऐसा जान पड़ता था मानो वे अपने स्वामीका कार्य समाप्त किये बिना ही प्राणोंका जो निर्गम हो रहा था उसे रोक ही रहे थे ॥६८॥ शत्रुओंकी कण्ठस्थलकी टूटने वाली हड्डियोंके टात्कार शब्दके समूहसे जो अत्यन्त भयंकर दिखाई देता था ऐसे उस युद्धस्थलमें प्रभासे परिपूर्ण—चमकते हुए बाण ही गिरते थे, भयसे युक्त पक्षी नहीं ॥६९॥ बाणोंके घातसे दीन शब्द करते हुए हाथी इधर-उधर भाग

१-२ कोष्ठकान्तर्गत पाठः सपादकस्य, सटीकपुस्तके नास्ति ।

वेतालास्ते तृषोत्ताला. पश्यन्त शरलाघवम् । पाणिपात्रस्थमप्यत्र कोलाल न पपुर्युधि ॥७१॥
त्वद्बलैर्विषमारातिमारातिस्फुटविक्रमैः । अखग व्योम कुर्वाणै कुर्वाणैस्तस्तरे तदा ॥७२॥
ससारसारलक्ष्म्येव वैदर्भ्या स्वीकृतस्य ते । ईर्ष्यया वर्धितोत्साहा तत्र शत्रुपरम्परा ॥७३॥
पराजिताशु भवत सेनया यतमानया । पराजिता शुभवत सेनया यतमानया ॥७४॥ [युग्मम्]
ततो भग्ने बलेऽन्यस्मिन्पुलकस्फारसैनिक. । एकहेल सहोत्तस्थे मालवेन्द्रेण कुन्तल' ॥७५॥
सुषेणस्तद्बलव्यूह सन्नाहवपुष तत । हर्षेण वीक्ष्य सौवर्णसनाहवपुष तत ॥७६॥
चतुरङ्गबले तत्र परिसर्पति शात्रवे । सैन्यमाश्वासयामास व्याकुल स्व चमूपति ॥७७॥

घातादृगजैरुत्पलायित नष्टम् । कथभूतै । दीनरसितैर्दीनशब्दै । तत्करैर्गजहस्तैश्छिन्नैरसितै कृष्णैरुत्पलायितम् उत्पलवदाचरितम् ॥७०॥ [1][वेताला इति—ते रणदिदृक्षया समागता वेताला पिशाचा युधि समरक्षेत्रे अत्र पाणिपात्रस्थमपि करभाजनस्थितमपि कीलाल जल रुधिर वा न पपु न पिबन्ति स्म । कथभूता । तृपा पिपासया उत्ताला व्यग्रा अपि । किं कुर्वन्त । शरलाघव बाणाना क्षिप्रत्व पश्यन्तो विलोकमाना ।] ॥७१॥ त्वद्बलैरिति—त्वद्बलैस्त्वत्सैन्यै कु पृथ्वी तस्तरे । कै । बाणै । किं कुर्वद्भि । कुर्वाणै । किं तद् । व्योम, कथभूतम् । अखग सुरपक्षिरहितम् । त्वद्बलै किंविशिष्टै । विषमारातिमारातिस्फुटविक्रमै विषमारातीना मारेण अतिस्फुटो विक्रमो येषा तानि विषमारातिमारातिस्फुटविक्रमाणि तै ॥७२॥ ससारेति—ससारेत्यादि सुगमम् । शत्रुपरम्परा भवत सेनया यतमानया प्रयत्न कुर्वाणया आशु शीघ्र पराजिता । कथभूता । परै शत्रुभिरजिता अपराजिता । भवत किंविशिष्टस्य । शुभवत । सेनया कथभूतया । सेनया स्वामिसहितया, आयतमानया साहकारया ॥७३-७४॥ तत इति—सुगमम ॥७५॥ सुषेण इति—ततोऽनन्तर सुषेण स सेनापतिस्तद्बलव्यूह वीक्ष्य हर्षेण ततो व्यास । कथभूतम् । सौवर्णसन्नाहवपुप सौवर्णसन्नाह वपुर्यस्य त तथा । पुन किंविशिष्टम् । सन्नाहवपुषम्—सन्नमक्षीणमाहव पुष्णाति यस्त सन्नाहवपुषम् ॥७६॥ [2][चतुरङ्गेति—तत्र समरक्षेत्रे शात्रवे शत्रुसबन्धिनि चतुरङ्गबले चत्वारि हस्त्यादीनि अङ्गानि यस्य तथाभूत चतुरङ्ग तच्च तद्बल चेति चतुरङ्गबल तस्मिन् परिसर्पति समन्ता-

---

रहे थे और रुधिरके सागरमें कट-कट कर गिरे हुए हाथियोंके श्यामल शुण्डादण्ड नील कमलके समान जान पड़ते थे ॥७०॥ उस युद्धमे जो वेताल थे वे प्याससे पीडित होने पर भी बाण चलानेकी शीघ्रताको देखते हुए आश्चर्यवश अपने हाथरूपी पात्रमे रखे हुए भी रुधिर अथवा जलको नहीं पी रहे थे ॥७१॥ विषम शत्रुओंके मारनेसे जिनका पराक्रम अत्यन्त प्रकट है ऐसी आपकी सेनाओंने, आकाशको पक्षियों अथवा विद्याधरोंसे रहित करने वाले बाणोंके द्वारा उस समय युद्धकी भूमिको आच्छादित कर दिया था ॥७२॥ हे स्वामिन् ! संसारकी लक्ष्मीस्वरूप शृंगारवतीने जो आपको स्वीकृत किया था उससे ईर्ष्याके कारण आपकी शत्रु परम्पराका उत्साह बढ गया था। यद्यपि वह शत्रु परम्परा अन्य पुरुषोंके द्वारा अविजित थी—उसे कोई जीत नहीं सका था तो भी चूँकि आप कल्याणोंसे सहित थे अतः आपकी प्रयत्नशील, सेनापति युक्त एवं अहंकारिणी सेनाने उसे शीघ्र ही पराजित कर दिया ॥७३-७४॥ जब अन्य सेना पराजित होकर नष्ट हो गयी तब जिसके सैनिक हर्षसे रोमाचित हो रहे थे ऐसा कुन्तल देशका राजा मालव नरेशके साथ एकदम उठकर खडा हुआ ॥७५॥ सेनापति सुषेणने अक्षीण अथवा वर्तमान युद्धको पुष्ट करने वाले एवं सुवर्ण निर्मित कवचोंसे युक्त शरीरको धारण करने वाले उन दोनों राजाओंके सैन्य व्यूहको बडे हर्षसे देखा और युद्धके मैदानमे शत्रु सम्बन्धी चतुरग सेनाके इधर-उधर चलने पर कुछ घबड़ायी हुई अपनी

१-२ कोष्ठकान्तर्गत पाठ संपादकस्य ।

स वाजिसिन्धुरग्रामान्सभ्रमादभिधावितः । जवादसिं स्फुरद्धामा बिभ्रन्नादमधात्तत ॥७८॥
[गोमूत्रिक]

सगजं सरथः साश्वं सपदाति समन्ततः । क्रामन्नभिमुखं क्रोधात्तीव्रतेजाः शितायुधः ॥७९॥
समारेभे समारेभे समारेभे रणे रिपुः । स दानेन सदानेन सदानेन व्यपोहितुम् ॥८०॥
[युग्मम्]

अम्भोधिरिव कल्पान्ते खड्गकल्लोलभीषणः । स्खलितो न स भूपालैस्तत्र वेलाचलैरिव ॥८१॥

कङ्कः किं कोककेकाकी किं काकः केकिकोऽककम् । कौकः कुकैककाकैकः कः केकाकाकुकाङ्ककम् ॥८२॥
[एकाक्षर]

अनेकधातुरङ्गाढ्यान् कुञ्जराजिदुरासदान् । रिपुशैलानसिर्भिन्दन् जिष्णोर्वज्रमिवाबभौ ॥८३॥

त्परिक्रामति सति व्याकुलं भीतिव्यग्रं स्वं स्वकीयं सैन्यं चमूपतिः सुषेण आश्वासयामास] ॥७७॥ स इति— स सुषेणो वाजिसिन्धुरग्रामान् अभिलक्ष्यीकृत्य धावितः सन्नादमधात्तत । इति गोमूत्रिकः ॥७८॥ सगज इति—अभिमुखं धावन् स रिपुरनेन चमूपतिना व्यपोहितुं समारेभे । क्व । रणे, कथंभूते । समारेभे सहमारेण वर्तन्ते समाराः, समारा इभा यत्र तस्मिन् समारेभे । पुनः कथंभूते । समारेभे सम आरेभः शब्दो यत्र तस्मिन् । कथंभूतेनानेन । सदानेन सद्बलेन । कथम् । सदा सर्वदा दानेन खण्डनेन उत्सारयितुमुपक्रान्त इत्यर्थः ॥७९-८०॥ अम्भोधिरिवेति—सुगमम् ॥८१॥ कङ्क इति—कस्य ब्रह्मण ओकः कोकः स्वर्गः, कुः पृथ्वी, कं जलं तेषु एककोऽद्वितीयो गुरुत्वात् तस्य संबोधनं हे कौकः कुकैक जिन ! । एकः क आकः कुटिलं जगाम । कम् । केकाकाकुकाङ्ककम् केकाकाकुको मयूरः सोऽङ्कश्चिह्नं यस्य स केकाकाकुकाङ्कः कार्तिकेयस्तस्येव कं शरीरं यस्य तं तथाभूतं सेनापतिं क आकः अपि तु न कोऽपि। अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन दृढयति—कङ्को जलवायसः स जलचरोऽपि भूत्वा किं कोककेकाकी भवति अपि तु न भवति कोकश्चक्रवाकः केको हंसस्तौ अकति कुटिलं गच्छतीत्येवंशीलः कोककेकाकी। किं काकश्चिरजीवी केकिको भवति केकी मयूरस्तद्वत् क आत्मा स्वरूपं यस्य स केकिकः मयूरस्वरः काकः कदापि न स्यात् । तं कथंभूतमककम् अलोलमित्यर्थः । एकाक्षरः श्लोकः ॥८२॥ अनेकेति—तस्यासिः खड्गो रिपुशैलान् भिन्दन् जिष्णोर्वज्रमिवाबभौ । कथंभूतान् रिपून् शैलांश्च । अनेकधातुरङ्गाढ्यान् अनेकप्रकाराश्वेश्वरान् अन्यत्र अनेके च धातवश्च तेषां रङ्गो दर्पविशेषस्तेनाढ्यान् । कुञ्जराजिदुरासदान् गजसंग्रामदुर्धरान्

सेनाको आश्वासन दिया—धीरज बँधाया ॥७६–७७॥ जिसका तेज स्फुरायमान हो रहा है ऐसा सुषेण, तलवार धारण करता हुआ बड़े वेगसे सम्भ्रमपूर्वक घोड़ों और हाथियोंके समूहके सामने जा दौडा और जोरका शब्द करने लगा ॥७८॥ तीव्र प्रताप और तीक्ष्ण शस्त्रको धारण करने वाले सुषेणने, क्रोधवश हाथियों, रथों, घोड़ों एवं पैदल चलने वाले सिपाहियोंके साथ सब ओरसे शत्रुदलका सामना किया। जिसमें हाथी जुदे प्रहार कर रहे हैं और सब ओर एक जैसा कोलाहल हो रहा है ऐसे युद्धमें समीचीन बलके धारक सुषेण सेनापतिने खण्ड-खण्ड कर शत्रुको भगाना शुरू किया ॥७९–८०॥ जिस प्रकार प्रलय कालमें लहरोंसे भयंकर दिखनेवाला समुद्र, किनारे पर खड़े पर्वतोंसे नहीं रोका जाता उसी प्रकार तलवारसे भयंकर दिखने वाला सुषेण उस युद्धमें अन्य राजाओंसे नहीं रोका जा सका था ॥८१॥ हे स्वर्ग, पृथिवी तथा जलमें रहने वालोंमें अद्वितीय जिनेन्द्र ! कार्तिकेयकी समानता करनेवाले उस स्थिर सुषेणके साथ भला कौन कुटिल व्यवहार कर सकता था। अर्थात् कोई नहीं। क्यों कि क्या जलकाक, चकवा और हंसके समान चल सकता है। अथवा कौआ मयूर जैसा हो सकता है ॥८२॥ जिस प्रकार अनेक धातुओंके रंगोंसे युक्त और लतागृहोंसे दुर्गम पहाड़ोंको भेदन करता हुआ इन्द्रका वज्र सुशोभित होता है उसी प्रकार अनेक प्रकारके घोड़ोंसे युक्त एवं हाथियोंके युद्धसे दुर्गम शत्रुओंका भेदन करता हुआ विजयी सुषेणका खड्ग सुशो-

जघान करवालीयघातेनारेर्बलं वली । न नाप्ता ते निरालम्बा करे तेनावनिर्वरः ॥८४॥

(अर्धभ्रम

तेन सग्रामधीरेण तव नाथ पदातिना । एकहेलमनेकेभ्यः शत्रुभ्यो निशितासिना ॥८५॥

भर याममयारम्भरञ्जिता ददताजिरम् । याता क्षमा माक्षताया मदमार रमादम ॥८६॥

(युग्मम्) [सर्वतोभद्रम्]

धाम्ना धाराजलेनेव दृष्टमातङ्गसङ्गमाम् । अभ्युक्ष्याभ्युक्ष्य जग्राह तत्कृपाणो रिपुश्रियम् ॥८७॥

देवेन्दो विवद्वादिवाद दावदवाम्बुद । दिवं दददुदावेद दुद्ववृन्द विदेववत् ॥८८॥ (द्व्यक्षर)

पीत्वारिशोणित सद्य क्षीरगौर यशो वमन् । इन्द्रजाल तदीयासिः काममाविश्चकार स. ॥८९॥

अन्यत्र कुञ्जाना राजिर्निकुञ्जपङ्क्तिस्तया दुरासदान् ॥८३॥ जघानेति—वर इव वर । यथा वरस्य कस्यापि कर निरालम्बा कन्या प्राप्नोति तथावनिस्ते करे न नाप्ता अपितु प्राप्ता । केन कारणेन निरालम्बा । येन स वली करवालघातेनारेर्बल जघान ॥८४॥ तेनेति—हे आररमादम ! अरिसमूहलक्ष्मीदमन ! तव पदातिना क्षमा पृथ्वी याता प्राप्ता । कम् । मदम् । कस्या । माक्षताया मा लक्ष्मीस्तस्या अक्षता नित्यता तस्या । किं कुर्वता । ददता । किं तत् । अजिरमङ्गणम् । कथभूतम् । यामम् । केभ्य । अनेकेभ्य शत्रुभ्य । कथम् । भरम् अतिशयेन । किंविशिष्टा क्षमा । अयारम्भरञ्जिता अय शुभावहो विधिस्तस्यारम्भस्तेन रञ्जिता । अयमभिप्राय —शत्रवस्तव पदातिना क्षय नीता स्वय चायारम्भरञ्जिता इति कारणात्—श्रीनित्यतामदमगात् पृथ्वी । सर्वतोभद्रम् ॥८५-८६॥ धाम्नेति—सुगमम् ॥८७॥ देवेन्दो इति—देवानामिन्दुर्देवेन्दुस्तस्य सबोधन हे देवेन्दो जिन ! विवद्वादिवाददावदवाम्बुद ! विवदन्तश्च ते वादिनश्च विवद्वादिन सौगतादयस्तेषा वाद एव दावो वन तस्य दवस्तत्राम्बुदो मेघस्तस्य सबोधनम् । विदैववत् प्रतिकूलदैवयुक्तम् दुद्ववृन्द शत्रुवृन्दम् । इद तद् दुदाव । किं कुर्वन् । ददत् । काम् । दिवम् । इति द्व्यक्षर ॥८८॥ [1][पीत्वेति—स प्रसिद्ध तदीयासि सुषेणकृपाण काम यथेच्छ इन्द्रजाल मायिकविनोदम् आविश्चकार प्रकटयामास । किं कुर्वन् । अरिशोणित रिपुरुधिर पीत्वा सद्यो झटिति क्षीरगौर दुग्धधवल यशो वमन् उद्गिरन् । रक्त रुधिर पीत्वा श्वेत यशो ववामे-

---

भित हो रहा था ॥८३॥ बलवान् सुषेणने तलवारके घातसे शत्रुओंकी समस्त सेना नष्ट कर दी इसलिए निराधार होकर समस्त पृथिवी आपके हाथ आ गयी है । आप सचमुच ही उसके वर हो गये हैं ॥८४॥ हे नाथ ! हे शत्रु समूहकी लक्ष्मीको दमन करने वाले ! आपके अनुजीवी रणवीर सुषेणने पैनी तलवारके द्वारा एक ही साथ अनेक शत्रुओंके लिए अच्छी तरह यमराजका आगन प्रदान किया था अर्थात् उन्हें मारकर यमराजके घर भेज दिया था इसलिए पुण्यके प्रारम्भसे अनुरक्त हुई उनकी वह अखण्ड लक्ष्मीयुक्त पृथिवी उसने प्राप्त की है । ॥८५–८६॥ जिसका मातंगों अर्थात् हाथियों [पक्षमें चाण्डालो] के साथ समागम देखा गया है ऐसी शत्रुओंकी लक्ष्मीको सुषेणका कृपाण कान्तिरूप धाराके जलसे मानो सींच-सींच कर ही ग्रहण कर रहा था ॥८७॥ जो देवोंको आनन्दित करनेके लिए चन्द्रमाके समान हैं तथा विवाद करनेवाले वादियोंके वादरूपी दावानलको शान्त करनेके लिए मेघके समान हैं ऐसे हे धर्मनाथ जिनेन्द्र ! सुषेणने भाग्यहीन शत्रुओंके समूहमे से कितनों ही को स्वर्ग प्रदान किया और कितनों ही को संतापित किया ॥८८॥ शत्रुओंका खून पीकर तत्काल ही दूधके समान श्वेतवर्ण यशको उगलनेवाली उसकी तलवार मानो जादूका खेल प्रकट कर रही थी

---

१ कोष्ठकान्तर्गत पाठ सपादकस्य ।

स प्रसादेन देवस्य रसादेकपदे बलम् । सपदेऽजयदेव द्विट्कम्पदेन सदेवनम् ॥९०॥ (मुरजबन्ध)

तेन मालवचोलाङ्गकुन्तलव्याकुले रणे । भानुनेव तमःकीर्णे किं किं[1] नो तेजसा कृतम् ॥९१॥

काननाः कानने नुन्ना नाकेऽनीकाङ्क्का[2] किन. । के के नानीकिनीनेन नाकीनैकाकिना ननु ॥९२॥

सागरे भुवि कान्तारे सगरे वा गरीयसि । त्वद्भक्ति कस्य नो दत्ते कामधेनुरिवेहितम् ॥९३॥

देवनाथमनादृत्य भावनास्तम्भनादृते । त्वयीनासीत्स नास्तद्विड्जयी नाथमनास्तत. ॥९४॥

[मुरजबन्ध]

खड्गत्रासावशिष्टेऽथ प्रणष्टे विद्विषा बले । सुषेण· शोधयामास रणभूमिं महाबल· ॥९५॥

गजवाजिजवाजिजयानुगतः स रसात्तरसात्तयशोविभव· ।
क्रमवन्तमवन्तमिला श्रयितु स्वयमेत्ययमेत्य भवन्तमित· ॥९६॥

त्वद्भुतम्] ॥८९॥ स इति—सदेवन सक्रीडन यथा भवति एव एकपदे एकहेल बल सोऽजयदेव । किमर्थम् । सपदे । केन । प्रसादेन । कस्य । देवस्य । कथभूतेन । द्विट्कम्पदेन रसात् रागात् ॥९०॥ तेनेति—सुगमम् ॥९१॥ कानना इति—हे नाकीन ! देवेश ! ननु अनीकिनीनेन सेनापतिना एकाकिना न के के कानने नुन्ना अपि तु सर्वेऽपि वने क्षिप्ता । कथभूता । कानना कालमुखा· । नाके वानीकाङ्क्काकिन अनीकाङ्के सग्रामोत्सङ्गे ककन्तीत्येवशीला ये ते स्वर्गे क्षिप्ता । द्वयक्षर ॥९२॥ सागर इति—सुगमम् ॥९३॥ देवेति—तत स ना पुरुष सुषेणोऽस्तद्विट् सन् जयी आसीत् । कथभूत । नाथमना नाथे स्वामिनि मनो यस्य स नाथमना । यत कारणात् हे इन ! स्वामिन् ! त्वयि भावना श्रद्धा स्तम्भनादृते स्खलिता आसीत् । देवनाथमनादृत्य इन्द्रमप्यनादृत्येत्यर्थ ॥९४॥ खड्गेति—सुगमम् ॥९५॥ जित्वा सग्रामे गृहीत्वा सपदं स स्वतन्त्रो भूत्वा क्वापि स्थास्यतीति शङ्कायां प्राह—गजेति—इत अस्मात् अयमेत्य अनुकूलदैव प्राप्य भवन्त श्रयितु स्वयमेति । अतिनिकटत्वाद्वर्तमाननिर्देश । भवन्त कथभूतम् । क्रमवन्तम् अनुक्रमायातम् । अवन्त च । काम् । इलाम् । सुषेण किंविशिष्ट । गजवाजिजवाजिजयानुगत गजाश्च वाजिनश्च तेषा जवो वेगो यत्र स चासौ आजिश्च तस्या जयस्तेनानुगत । स रसात् रागात् आत्तयशो विभव । केन । तरसा बलेन वेगेन वा भवन्त श्रयितुमेतीत्यर्थ ॥९६॥

॥८९॥ हे नाथ ! शत्रुओंको कम्पन प्रदान करनेवाले आपके प्रसादसे सुषेणने सम्पदा प्राप्त करनेके लिए शत्रुओंकी सेनाको बड़े उत्साहसे एक ही साथ जीत लिया था ॥९०॥ अन्धकारसे भरे हुए स्थानमें सूर्यके समान, मालव, चोल, अंग और कुन्तल देशके राजाओंसे भरे हुए युद्धमें सुषेणने अपने तेजके द्वारा क्या-क्या नहीं किया था ? ॥९१॥ हे देवोंके स्वामी ! अकेले सेनापति सुषेणने कुत्सित मुखवाले एवं युद्धके मैदानमें आनेवाले किन-किन लोगोंको वनमें नहीं खदेड़ दिया अथवा स्वर्गमें नहीं भेज दिया ? ॥९२॥ हे भगवन् ! चाहे समुद्र हो, चाहे पृथिवी हो, चाहे वन हो, और चाहे विशाल सग्राम हो, सभी जगह आपकी भक्ति कामधेनुके समान किसके लिए मनोवाछित पदार्थ नहीं देती ? अर्थात् सभीके लिए देती है ॥९३॥ हे स्वामिन् ! इन्द्रका अनादर कर आपमें अपनी भावनाओंको रोके बिना वह सुषेण शत्रुओंको नष्टकर विजयी नहीं हो सकता था अतः उसका मन आपमें ही लगा हुआ है। भावार्थ—आपके ही ध्यानसे उसने शत्रुओंका नाशकर विजय प्राप्त की है अतः वह अपना मन आपमें ही लगाये हुए है ॥९४॥ तदनन्तर तलवारकी धारसे बाकी बची हुई शत्रुकी सेना जब भाग खड़ी हुई तब महाबलवान् सुषेणने रणभूमिका शोधन किया—निरीक्षण किया ॥९५॥ हाथियों और घोड़ोंके वेगपूर्ण युद्धमें जिसने बड़े उत्साहसे विजय प्राप्त की है साथ ही अपनी बलवत्तासे जिसने कीर्तिका वैभव प्राप्त किया है ऐसा यह सुषेण सेनापति, क्रमयुक्त

१. न तेजसा ख० ग० च० छ० ज० । २ कानिन म० घ० ज० च० ।

चन्द्राशुचन्दनरसादपि शीतमङ्ग पीयूषपूरमसकृद्वमतीव दृष्टि ।
क्वाय पुनर्वमति वैरिमहीशवंशसप्लोषणो भुवनभूषण ते प्रताप ॥९७॥
चक्रेऽरिसततिमिहाजिषु नष्टपद्माातिख्यातिमेकचकिताकृतिधारिणी यः ।
तिग्मासिरिष्टमतवत्स तवावति क्ष्मा किं तत्पर धरणिमित्र कृतिन्ब्रवीमि ॥९८॥
कः शर्मद वृजिनभीतिहर जितात्मा हर्षाय न स्मरति तेऽभिनव चरित्रम् ।
सपद्गुणातिशयपस्त्य रुच तवेति क कान्तिमानतिसुधाद्रवरोचमानाम् ॥९९॥
हतमोहतमोगतेस्तव क्षणदेक्षणदेशशोभिन[1] । समया समयात्स्वय तत कमला[2] कमलाभमैक्षत ।१००।
आतङ्कार्तिहरस्तपद्द्युमणिसद्भूरिप्रभाजिद्वसुर्द्रष्टव्य हृदि चिह्नरत्नमसम शौचं च पीनोन्नते ।
देहेऽधत्त हित त्वमन्दमहृदि क्षुद्रेऽप्यतो दर्शने वल्गुर्मद्रमहस्य रम्यमपर क्षीणव्यपाय पदम् ॥१०१॥

(इति श्लोकद्वयनिर्वर्तितषोडशदलकमलचित्रे कविकाव्यनामाङ्क । यथा कर्णिकाक्षरेण सह प्रथमदलाग्रदलाग्रेषु 'हरिचन्द्र'कृतधर्मजिनपतिचरितमिति) चन्द्राश्विति—सुगमम् ॥९७॥ चक्र इति—तव। तिग्मासिस्तीक्ष्ण खड्ग इष्टमतवद्दर्शनमिवावति पालयति क्ष्मा पृथ्वीम् । य किम् । यश्चक्रे, काम् अरिसततिम्, कथभूताम् । नष्टपद्मातिख्यातिम् । पद्मा लक्ष्मी अतिख्याति कीर्ति नष्टे पद्मातिख्याती यस्यास्ता तथा । पुन कथभूताम् । एकचकिताकृतिधारिणीम् एकभीतिमूर्त्तियुक्ताम् । अरय प्रत्यर्थिनोऽन्यत्र सौगतादय । शेष सुगमम् । पद्मबन्धीय श्लोकद्वयम् ॥९८॥ क इति—सुगमम् ॥९९॥ हतेति—तव समया समीपे यत स्वय समयात् तत कमला श्री कमलाभमैक्षत अपि तु न कमपि । तव कथभूतस्य । हतमोहतयोगते मोह एव तमो मोहतम हता मोहतमसो गतिर्येन तस्य । क्षणदेन उत्सवप्रदेन ईक्षणदेशेन लोचनप्रदेशेन शोभी तस्य तथाभूतस्य ॥१००॥ आतङ्केति—आतङ्कार्त्तिहर आतङ्को भयमार्त्ति पीडा ते हरतीति आतङ्कार्तिहर । तपद्द्युमणिसद्भूरिप्रभाजिद्वसु तपद्द्युमणे सच्छोभना भूरिप्रभा जयतीति तपद्द्युमणिसद्भूरिप्रभाजित् तथाविध वसु तेजो यस्य स तथा । यत् अधत्त, किं तत् । चिह्नरत्न श्रीवत्सलक्षणम् । कथभूतम् ।

तथा पृथिवीकी रक्षा करनेवाले आपकी सेवा करनेके लिए यहीं आ रहा है ॥९६॥ हे भुवनभूषण ! आपका शरीर चन्द्रमाकी किरणों तथा चन्दनके रससे भी कहीं अधिक शीतल है और आपकी दृष्टि मानो अमृतके पूरको उगल रही है फिर शत्रुओंके वंशरूपी—कुलरूपी बाँसोंको जलानेवाला आपका यह प्रताप कहाँ रहता है ? ॥९७॥ अनेक युद्धोंमे जिसने शत्रुओंकी सन्ततिको लक्ष्मी और कीर्तिसे रहित तथा भयभीत आकृतिको धारण करनेवाली किया है, तीक्ष्ण तलवारको धारण करनेवाला वह सुषेण इष्ट-मित्रकी तरह आपकी पृथिवीकी रक्षा कर रहा है । हे पृथ्वीके मित्र ! हे कुशल शिरोमणे ! इससे अधिक और क्या कहूँ ? ॥९८॥ हे सम्पत्ति और श्रेष्ठ गुणोंके भवन ! ऐसा कौन जितेन्द्रिय पुरुष है जो हर्ष प्राप्त करनेके लिए आपके सुखदायी एवं पापका भय हरनेवाले नूतन चरित्रका स्मरण नहीं करता हो ? तथा ऐसा कौन कान्तिमान् है जो अमृतके द्रवसे भी अधिक शोभायमान आपकी कान्तिको प्राप्त कर सकता हो ? अर्थात् कोई नहीं है ॥९९॥ [९८वें और ९९वें श्लोकोंसे सोलह दलका एक कमलाकार चित्र बनता है उसमे कवि और काव्यका नाम आ जाता है जैसे 'हरिचन्द्रकृतधर्मजिनपतिचरितम्' ।] चूँकि लक्ष्मी, मोहरूपी अन्धकारकी गतिको नष्ट करनेवाले और उत्सवप्रद नयन प्रदेशसे सुशोभित आपके पास स्वयं आयी है इसलिए उसने कौन-सा अलाभ देखा ? अर्थात् कोई भी नहीं ॥१००॥ हे भगवन् ! आप भयकी पीडाको हरनेवाले हैं,

---

१. शोभित घ० म० । २ कमला त्वा कमला म० म० घ० ।

दम्भलोभभ्रमा [1]आनिरुद्धा गुणैर्द्रष्टुमप्यक्षमा देव वक्त्रं तव ।
वर्जयित्वा ययुः सुश्रुत त्वां तथा ते भजन्ते यथा नेश भक्तानपि ॥१०२॥ [चक्रबन्धश्लोकद्वयम्]

स्फुटमिति कथयित्वा सत्कृतिं प्राप्य दूते गतवति निजगेहं तत्सुषेणः ससैन्यः ।
अहितविजयलब्धं वित्तमानीय भक्त्या नतिचिरमुपनिन्ये धर्मनाथाय तस्मै ॥१०३॥

द्रष्टव्यम् । क्व । हृदि । अन्यत् शौचं च निर्मलताम् । असमं सहजातिशयत्वात् । क्व । देहे । किंविशिष्टे । पीनोन्नते सहननसौन्दर्यातिशययोगात् । हितं तु अमन्दम् अधत्त । क्व । क्षुद्रेऽपि अहृदि अचेतने । त्वयि क्षुद्रः स एव स्याद्योऽचेतनः । अतः कारणात् त्वं पदं स्थानमसि । कस्य । मन्द्रमहस्य मनोज्ञोत्सवस्य । रम्यं मनोज्ञम् अपरमुत्कृष्टं क्षीणव्यपायमव्ययस्थानं मन्द्रोत्सवस्य त्वमसि । कथंभूतः । वल्गुर्मनोज्ञः । क्व । दर्शने तत्त्वश्रद्धाने । दम्भलोभभ्रमा इति । चक्रबन्धश्लोकद्वयम् । अत्र श्लोकद्वयनिर्मिते चक्रचित्रे प्रथमतृतीयषष्ठाष्टमाक्षररेखाक्रमेण कविनामाङ्कश्लोको यथा—'आर्द्रदेवसुतेनेदं काव्यं धर्मजिनोदयम् । रचितं हरिचन्द्रेण परमं रसमन्दिरम्' ॥ सुगमम् ॥१०१-१०२॥ [2][स्फुटमिति—दूते प्रणिधौ गतवति सति । क्व । निजगेहं स्वकीयसदनम् । किं कृत्वा । इतीत्थं स्फुटं यथा स्यात्तथा कथयित्वा समाचारं निवेद्य । पुनश्च किं कृत्वा । प्राप्य लब्ध्वा । काम् । सत्कृतिं सन्मानम् । सुषेणः सेनापतिः ससैन्यः सपृतनः अनतिचिरं शीघ्रम् । वित्तं द्रविणम् आनीय कथंभूतं । अहितानां शत्रूणां विजयेन लब्धं प्राप्तं भक्त्या गुणानुरागातिशयेन उपनिन्ये समर्पयामास । कस्मै । तस्मै धर्म-

---

आपकी किरणें देदीप्यमान सूर्यकी बहुत भारी प्रभाको जीतनेवाली हैं, आप अतिशय सुन्दर हैं, आप अपने बाह्यहृदय पर देखनेके योग्य कौस्तुभ मणिरूप अनुपम चिह्नको और आभ्यन्तर हृदयमें अनुपम शौचधर्मको धारण करते हैं, आप अपने स्थूल तथा उन्नत शरीरमें बहुत भारी हित धारण कर रहे हैं इसीलिए तो आपके इस अल्पकालिक दर्शनमें ही मैं रमणीय एवं निर्विघ्न किसी अद्भुत मनोज्ञ महोत्सवका अनुपम स्थान बन गया ॥१०१॥ हे देव ! आपके गुणोंने दम्भ, लोभ तथा भ्रम आदि दुर्गुणको ऐसा रोका है कि वे आपका मुख देखनेमें भी समर्थ नहीं रह सके। इसलिए हे उत्तम श्रुतके जानकार स्वामी ! वे दुर्गुण आपको छोड़कर इस प्रकार चले गये हैं कि आपकी बात तो दूर रही, आपके सेवकोंकी भी सेवा नहीं करते हैं। भावार्थ—हे भगवन् ! जिस प्रकार आप निर्दोष हैं उसी प्रकार आपके भक्त भी निर्दोष हैं ॥१०२॥ [१०१ और १०२ नम्बरके श्लोकोंसे चक्र रचना होती है उसकी पहली, तीसरी, छठवीं और आठवीं रेखाके अक्षरोंसे कविके नामको सूचित करनेवाला निम्न श्लोक निकल आता है—'आर्द्रदेव—जिसका अर्थ इस प्रकार है कि आर्द्रदेवके पुत्र हरिचन्द्र कविने धर्मनाथ जितेन्द्रके अभ्युदयका वर्णन करनेवाला रसका मन्दिर स्वरूप यह उत्कृष्ट काव्य रचा है' ।] इस प्रकार स्पष्ट समाचार कहकर और सत्कार प्राप्तकर जब वह दूत अपने घर चला गया तब सुषेण सेनापतिने शीघ्र ही साथ आकर शत्रुओंको जीत लेनेसे

---

१ आदिरुद्धा घ० म० । २ कोष्ठकान्तर्गतः पाठः सम्पादकस्य ।

लभ्या श्रीर्विनिहत्य सगरभुवि क्षुद्रद्विषोऽभ्युन्नता धिक्ता धर्मपरिच्युतामरमिति स्वीकारमन्दस्पृहः ।
तद्भूर्माभरुच दधद्वरमरिद्रव्य सदायो ददे देवोऽस्तालसमाधिभिक्तकृतधिया ताम्यन्महस्वी मुदे ॥१०४॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये
चित्रो नामैकोनविंश सर्ग. ॥१९॥

नाथाय] ॥१०३॥ लभ्येति—तद्वित्त देवो ददे कृतधिया ताम्यन् खिद्यन्, कस्यै । मुदे, किं कुर्वन् । दधत्, काम् । भर्माभरुच स्वर्णाभदीप्तिम्, यस्मात्स सदायो विरुद्ध द्रव्य न गृह्णाति । क्षुद्रद्विषो विनिहत्य या लभ्या श्रीस्ता धिक् धर्मच्युतामरमिति कारणात् तद्वित्तस्वीकारमन्दस्पृह, अरिद्रव्य कृतधियामस्तालस ददे । अत्र चक्रबन्धचित्रे तृतीयषष्ठाक्षररेखाभ्रमेण कविनामाङ्को यथा धर्मशर्माभ्युदयो हरिचन्द्रकाव्यम ॥१०४॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयश कीर्तिविरचिताया सन्देहध्वान्तदीपिकाया धर्मशर्माभ्युदयटीकायामेकोनविंशतितम सर्ग ॥१९॥

प्राप्त हुआ धन भक्तिपूर्वक भगवान् धर्मनाथके लिए समर्पित किया ॥१०३॥ जिन्हें प्रशस्त उपायोंसे आमदनी होती है, जिन्होंने मानसिक व्यथाएँ नष्ट कर दी है, जो सदा आलस्य रहित होकर देदीप्यमान रहते हैं और जो अतिशय तेजस्वी हैं ऐसे भगवान् धर्मनाथने विचार किया कि चूँकि 'यह लक्ष्मी युद्धभूमिमे क्षुद्र शत्रुओंको मारकर प्राप्त की गयी है अतः कितनी ही अधिक क्यों न हो, धर्मस रहित होनेके कारण निन्दनीय है—इसे धिक्कार है' ऐसा विचारकर उन्होंने उसे ग्रहण करनेमे अपनी इच्छा नहीं दिखायी और विद्वानोंके आनन्दके लिए सुवर्णके समान कान्तिको धारण करनेवाले उन्होंने वह शत्रुओंसे प्राप्त हुई समस्त सम्पत्ति दान कर दी ॥१०४॥

[विशेष—यह भी चक्रबन्ध है इसकी रचना करनेपर चित्रकी तीसरी और छठवीं रेखाके मण्डलसे काव्य और कविका नाम निकलता है जैसे 'श्रीधर्मशर्माभ्युदयः । हरिचन्द्रकाव्यम् ।]

इस प्रकार महाकवि श्री हरिचन्द्र विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें
चित्र नामका उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१९॥

विंशः सर्गः

इत्यब्दाना पञ्चलक्षाणि यावत्क्षीणक्षुद्रारातिरुद्यत्प्रभावः ।
देव[1] पारावारवेलावनान्त प्राज्य धर्मं पालयामास राज्यम् ॥१॥

रात्रौ तुङ्गे स्फाटिके सौधशृङ्गे तामास्थानीमेकदा स प्रतेने ।
चन्द्रज्योत्स्नान्तर्हितेऽस्मिन्प्रभावादाकाशस्था या सुधर्मेव रेजे ॥२॥

जीर्णं कालाज्जातरन्ध्र नु पश्यन् देवस्तारादन्तुर व्योमभागम् ।
ज्वालालीला बिभ्रती कल्पवह्नेरह्नायोल्का [2]निःपतन्ती ददर्श ॥३॥

[3]आवि कर्तुं स्फारमोहान्धकारच्छन्न मुक्तेर्मार्गमत्यन्तदुर्गम् ।
आदौ दिष्ट्या व्यञ्जिता या ज्वलन्ती वर्तिर्दीपस्येव शोभामभार्षीत् ॥४॥

व्यादायास्य विस्फुरत्तारतारादन्तश्रेणीभीष्ममत्तु जगन्ति ।
कालेनैका व्योम्नि विस्तार्यमाणा जिह्वेवाशु श्रद्धया या चकासे ॥५॥

इतीति—इति पञ्चवर्षलक्षाणि यावत् निर्मूलितकण्टक समुद्रवेलावनान्त श्रीधर्मनाथो भूरिसाम्राज्य पालयामास ॥१॥ रात्राविति—एकदा स्फाटिकसौधसमतले सभा विरचय्य स समुपविवेश । या सभा चन्द्रचन्द्रिकातिरोहिते स्फाटिकसौधशृङ्गे गगनोपविष्टा देवराजसभेव रराज । सावर्ण्याच्चन्द्रोदये स्फाटिकसौधो न दृश्यते ततो निरालम्बस्थितेवेति भाव ॥२॥ जीर्णमिति—तत्रोपविष्ट प्रभुस्तारानिकरकीर्णं व्योमतल पश्यन् नु इति वितर्के इद गगन कालाज्जीर्णमिव दृश्यते । तारकाणि नु छिद्राणीव इति विकल्पानन्तर प्रलयानलसदृशीमुल्का पतन्तीमद्राक्षीत् ॥३॥ आविः कर्तुमिति—दिष्टयेति मङ्गलार्थे या उल्का मोहध्वान्तच्छन्न मोक्षमार्गं प्रकटयितु प्रथम जाज्वल्यमानदीपवर्तिरिव । प्रभुणा मोक्षमार्गो दर्शयितव्य इति भाव । अभार्षीत् बिभराबभूव ॥४॥ व्यादायेति—या यमेन प्रसार्यमाणा जिह्वेव शुशुभे । श्रद्धया भक्षणतृष्णया देदीप्यमानतारादन्तभीष्म मुख

इस प्रकार जिन्होंने समस्त क्षुद्र शत्रुओंको नष्ट कर दिया है और जिनका प्रभाव बढ रहा है ऐसे श्रीधर्मनाथ देवने समुद्रके वेला वनान्त विशाल राज्यका पाँच लाख वर्ष पर्यन्त पालन किया ॥१॥ एक समय उन्होंने स्फटिक मणिमय उत्तुङ्ग महलके शिखरपर रात्रिके समय वह गोष्ठी की जो कि चन्द्रमाकी चाँदनीमे महलके अन्तर्हित हो जानेपर प्रभावसे आकाशमें स्थित देवसभाके समान सुशोभित हो रही थी ॥२॥ बहुत समयसे जीर्ण हो जानेके कारण ही मानो जिसमें छिद्र उत्पन्न हो गये हैं ऐसे ताराओंसे व्याप्त आकाशभागकी ओर भगवान् धर्मनाथ देख रहे थे। उसी समय उन्होंने प्रलयाग्निकी ज्वालाकी लीलाको धारण करनेवाली शीघ्र पडती हुई वह उल्का देखी ॥३॥ जो कि बहुत भारी मोहरूपी अन्धकारसे आवृत, अत्यन्त दुर्गम मुक्तिका मार्ग प्रकट करनेके लिए भगवान्‌के द्वारा पहलेसे ही प्रकटित दीपककी जलती हुई बत्तीके समान धारण कर रही थी ॥४॥ वह उल्का ऐसी जान पड़ती थी मानो तीनों लोकोंको खानेके लिए देदीप्यमान विशाल तारा रूपी दाँतोंकी श्रेणीसे भयंकर मुख खोलकर कालके द्वारा श्रद्धा—भक्षण विषयक तृष्णासे आकाशमे शीघ्र फैलायी हुई जिह्वा

---

१ शालिनी छन्द । २ निष्पतन्ती घ० म० ज० । ३ आविष्कर्तुं म० च० ।

कान्ति कालव्यालचूडामणे किं पिङ्गा स्थाणोर्व्योममूर्तेर्जटा वा ।
ज्वाला किं वास्यैव भालाक्षवह्नेर्दाहायेन्दोर्धाविता कामबन्धो ॥६॥

भूयोऽनेन त्रैपुर किं नु दाह कर्तुं मुक्तस्तप्तनाराच एष ।
इत्याशङ्काव्याकुल लोकचेतो या सर्पन्ती व्योम्नि दूरादकार्षीत् ॥७॥

कर्तुं कार्यं केवल स्वस्य नासौ देवो विश्वस्यापि धाता तपस्याम् ।
इत्यानन्दात्तस्य नीराजनेव व्योम्ना रेजे या समारभ्यमाणा ॥८॥

तामालोक्याकाशदेशादुदञ्चज्ज्योतिर्ज्वालादीपिताशा पतन्तीम् ।
इत्थ चित्ते प्राप्तनिर्वेदखेदो मीलच्चक्षुश्चिन्तयामास देव ॥९॥

देव कश्चिज्ज्योतिषा मध्यवर्ती दुर्गे तिष्ठन्नित्यमेषोऽन्तरिक्षे ।
यातो दैवादीदृशी चेदवस्था क स्याल्लोके निर्व्यपायस्तदन्य ॥१०॥

आयुः कर्मालानभङ्गे प्रसर्पन्नापद्वीथीदीर्घदोर्दण्डचण्ड ।
प्राणायामारामूलानि भिन्दन्कैरुन्मिण्ठ[1] सह्यते कालदन्ती ॥११॥

प्रस्तार्य । किं कर्तुम् । भुवनानि भक्षयितुम् । अत्रानुक्तमपि मुख रोदसी कुहर सभाव्य ॥५॥ कान्तिरिति—किं वा कालसर्पमणिद्योतिरेषा । यदि वा गगनमूर्तेरीश्वरस्य सरलविगलज्जटावल्लीयम् । उतस्विदस्यैव तृतीयलोचनज्वाला कन्दर्पमित्रस्य चन्द्रस्य दाहनिमित्त धाविता । काम दग्ध्वा तन्मित्र दिधक्षतीति भाव ॥६॥ भूय इति—अथवा पुनरप्यनेनैव पिनाकिना त्रिपुरदाह कर्तुं तप्तनाराचो मुक्तोऽयमिति सकललोकचित्त भ्रान्तिचिन्ता चक्रचटित सर्पन्ती गगने दूराद् या चकार ॥७॥ कर्तुमिति—अय श्रीधर्मनाथप्रभुर्न केवल स्वस्यैव कार्यं कर्तुं तपस्या तपश्चरण धास्यति किन्तु त्रिभुवनस्यार्थे स्वार्थं परार्थं चासौ पुरा तप्यते तप इति प्रमोदितेनेव व्योम्ना या आरार्तिकविधिरिव विधीयमानो रराज ॥८॥ तामिति—ता नभस्तलात्पतन्ती समुज्जृम्भमाणज्वालाकलापद्योतितदिग्भागामुल्का विलोक्य निमीलितलोचन सवैराग्यखेदश्चेतसि प्रभु किंचिद्विचारयामास ॥९॥ देव इति—अय च कश्चित् ज्योतिष्को देवो गगनमध्ये निरालम्बे तिष्ठन् कर्मविपाकाद्यदि मरणलक्षणामीदृशीमवस्था प्राप्तस्ततो मादृशो भुवने कथ निरपाय स्यात् । न भवेदित्यर्थ । स्वर्गदुर्गस्था देवा यदि म्रियन्ते का नाम मनुष्याणा मादृशा वार्तेति भाव ॥१०॥ आयुरिति—कालो यम एव व्याल कालदन्ती । किंविशिष्ट । उन्मिण्ठो ध्वस्तावरोहादिपरिकर । आयु कर्मस्तम्भभङ्गे सति धावमान । आपद्वीथ्यो रोगादिविघाता एव

ही हो ॥५॥ क्या यह कालरूपी नागेन्द्रके चूडामणिकी कान्ति है । क्या गगनमूर्ति महादेवजी की पीली जटा है । अथवा क्या कामदेवके बन्धु चन्द्रमाको जलानेके लिए दौड़ी हुई उन्हीं महादेवजीके ललाटगत लोचनाग्निकी ज्वाला है ॥६॥ अथवा क्या पुनः त्रिपुरदाह करनेके लिए उन्हीं महादेवजीके द्वारा छोड़ा हुआ सन्तप्त बाण है ? आकाशमे दूर तक फैलनेवाली उल्काने मनुष्योंके चित्तको इस प्रकार आशकाओंसे व्याकुल किया था ॥७॥ देव भगवान् धर्मनाथ न केवल अपना अपितु समस्त ससारका कार्य करनेके लिए तपस्या धारण करेंगे— इस आनन्दसे आकाशके द्वारा प्रारम्भ की हुई आरतीके समान वह उल्का सुशोभित हो रही थी ॥८॥ आकाशसे पडती एवं निकलती हुई किरणोंकी ज्वालाओंसे दिशाओंको प्रकाशित करती उस उल्काको देखकर जिन्हें चित्तमे बहुत ही निर्वेद और खेद उत्पन्न हुआ है ऐसे श्रीधर्मनाथ स्वामी नेत्र बन्द कर इस प्रकार चिन्तवन करने लगे ॥९॥ जब कि ज्योतिषी देवोंका मध्यवर्ती एव आकाशरूपी दुर्गमे निरन्तर रहनेवाला यह कोई देव दैववश इस अवस्थाको प्राप्त हुआ है तब ससारमे दूसरा कौन विनाशहीन हो सकता है ? ॥१०॥ यह महावतको

---

१ -रुत्सिक्त घ० म० ।

यत्ससक्तं प्राणिना क्षीरनीरन्यायेनोच्चैरङ्गमप्यन्तरङ्गम् ।
आयुश्छेदे[1] याति चेत्तत्तदास्था का बाह्येषु स्त्रीतनूजादिकेषु ॥१२॥

प्रत्यावृत्तिर्न व्यतीतस्य नून सौख्यस्यास्ति भ्रान्तिरागामिनोऽपि ।
तत्तत्कालोपस्थितस्यैव हेतोर्बध्नात्यास्था ससृतौ को विदग्ध ॥१३॥

वातान्दोलत्पद्मिनीपल्लवाम्भोबिन्दुच्छायाभङ्गुर जीवितव्यम् ।
तत्ससारासारसौख्याय कस्माज्जन्तुस्ताम्यत्यब्धिवीचीचलाय ॥१४॥

सारङ्गाक्षीचञ्चलापाङ्गनेत्रश्रेणीलीलालोकसक्रामित नु ।
व्यालोलत्व तत्क्षणाद्दृष्टनष्टा धत्ते नृणा हन्त तारुण्यलक्ष्मी ॥१५॥

हालाहेलासोदरा मन्दरागप्रादुर्भूता सत्यमेवात्र लक्ष्मी ।
नो चेच्चेतोमोहहेतुः कथ सा लोके राग मन्दमेवादधाति ॥१६॥

दीर्घशुण्डादण्डो यस्य स तथाविध । श्वासादिप्राणवनमुन्मूलयन् । गजो हि यावत्स्तम्भ न भनक्ति तावन्न प्रसर्तुं शक्नोति । अन्यच्च यथा हस्ती करेण गृह्णाति तथाय रोगादिना । स तथाविधो दुर्निवारण केन वार्यते। ॥११॥ यदिति—यद्दुग्धपानीयन्यायेन जीवेन सार्वं शरीर मिलितमन्तरङ्गमतिश्लिष्टतम तदपि चेदायु कर्मक्षये याति क्षीयते ततो विटपेटकसदृशेषु सध्यामिलितवृक्षपक्षिगणसदृशेषु च पुत्रकलत्रमित्रादिषु बाह्येषु कास्था स्वताबुद्धिर्न कापि ॥१२॥ प्रत्यावृत्तिरिति—भूतपूर्वस्य सौख्यस्य पुण्यजीवितादेर्वा न प्रत्यावृत्तिर्न व्याघुट्य पुन प्राप्ति आगन्तुकस्य च बहुविघ्नत्वात्सदेह तत्केवल वर्तमानकालोपस्थितस्यैव क्षणमात्रस्य कृते क ससारे ग्रहबुद्धि करोति ॥१३॥ वातेति—अनिलचञ्चलकमलिनीदलतलनिलीनतरलजलबिन्दुसदृश जीवित तस्मान्नि साराय सासारिकसौख्याय समुद्रकल्लोलचञ्चलाय कुत प्राणी खिद्यते । सौख्य क्षणिक सौख्योपभोक्ता च क्षणिक सौख्यसाधनानि च क्षणिकानि सर्वं क्षणिकपरम्परामय विश्वमिति ॥१४॥ सारङ्गेति—चटुलाक्षीचञ्चललोचनेभ्य सक्रान्तमतिचञ्चलत्व तारुण्यलक्ष्मीरपि धत्ते, अनवरतसपर्कातिशयहेतुत्वात्तरुणीनयनतरलत्व तारुण्ये सक्रान्ततत इव चञ्चलमिति भाव ॥१५॥ हालेति—इय मदिरालीलाभगिनी मन्दराद्रिमथनप्रादुर्भूता लक्ष्मीरिति लोकानुवाद सत्य एव यतो मदिरा शक्ति व्यनक्ति चेतोमोहकारिका जनेषु च मन्दरागप्रादुर्भूतत्वेन

नष्ट करनेवाला कालरूपी दुष्टहस्ती किनके द्वारा सहा जा सकता है ? जो कि आयु कर्मरूपी स्तम्भके भग होनेपर इधर-उधर फिर रहा है, आपत्तिकी परम्परारूपी विशाल भुजदण्डसे जो तीक्ष्ण है और जीवन रूपी उद्यानकी जडोंको उखाड रहा है ॥११॥ प्राणियोंका जो शरीर क्षीरनीरन्यायसे मिलकर अत्यन्त अन्तरंग हो रहा है वह भी जब आयु कर्मका छेद होनेसे दूर चला जाता है तब अत्यन्त बाह्य स्त्री-पुत्रादिकमें क्या आस्था है ? ॥१२॥ जो सुख व्यतीत हो चुकता है वह लौटकर नहीं आता और आगामी सुखकी केवल भ्रान्ति ही है अतः मात्र वर्तमान कालमें उपस्थित सुखके लिए कौन चतुर मनुष्य ससारमें आस्था—आदरबुद्धि करेगा ? ॥१३॥ जब कि यह जीवन वायुसे हिलती हुई कमलिनीके दलपर स्थित पानीकी बूँदकी छायाके समान नश्वर है तब समुद्रकी तरंगके समान तरल संसारके असार सुखके लिए यह जीव क्यो दुखी होता है ? ॥१४॥ खेद है कि तत्काल दिखकर नष्ट हो जानेवाली मनुष्योंकी यौवनलक्ष्मी मानो मृगलोचनाओंके चचल कटाक्षोंसे पूर्ण नेत्रसमूहकी लीलाके देखनेसे ही सक्रामित चचलताको धारण करती है ॥१५॥ सच है कि लक्ष्मी मदिराकी क्रीडा सखी और मन्दराग—मन्दरगिरि [पक्षमे मन्द राग] से उत्पन्न हुई है। यदि ऐसा न होता तो वह चित्तके मोहका कारण कैसे होती ? और लोक मन्दराग—मन्दरगिरि [पक्षमें अल्प-

१ आयुश्छेदैं घ० म० ।

विण्मूत्रादेर्धाम मध्य वधूना तन्नि ष्यन्दद्वारमेवेन्द्रियाणि ।
श्रोणीबिम्ब स्थूलमासास्थिकूट कामान्धाना प्रीतये धिक्तथापि ॥१७॥
मेदोमज्जाशोणिते पिच्छिलेऽन्तस्त्वक्प्रच्छन्ने स्नायुनद्धास्थिसन्धौ ।
साधुर्देहे कर्मचण्डालगेहे बध्नात्युद्यत्पूतिगन्धे रतिं क ॥१८॥
इन्द्रोपेन्द्रब्रह्मरुद्राहमिन्द्रा देवा केचिद् ये नरा पन्नगा वा ।
तेऽप्यन्येऽपि प्राणिना क्रूरकालव्यालाक्रान्त रक्षितु न क्षमन्ते ॥१९॥
बाल वर्षीयाँसमाढ्य दरिद्र धीर भीरु सज्जन दुर्जन च ।
अश्नात्येक कृष्णवर्त्मेव कक्ष सर्वग्रासी निर्विवेक कृतान्त ॥२०॥
स्वच्छामेवाच्छाद्य दृष्टि रजोभि. श्रेयोरत्न जाग्रतामप्यशेषे ।
दोषैर्येषा दस्युरूपैरुपात्त ससारेऽस्मिन् हा हतास्ते हताशाः ॥२१॥
वित्त गेहादङ्गमुच्चैश्चिताग्नेर्व्यावर्तन्ते बान्धवाश्च श्मशानात् ।
एक नानाजन्मवल्लीनिदान कर्म द्वेधा याति जीवेन सार्धम् ॥२२॥

मन्दमेव राग करोति । न स्निह्यतीति भाव ॥१६॥ विण्मूत्रेति—पुरीषप्रस्रवणादिकस्य गृह विचार्यमाण मध्य स्त्रीणा श्लेष्मादे प्रस्रवणद्वाराणि च घ्राणप्रभृतीन्द्रियाणि जघनस्थल च स्थूलमासास्थिस्थल काममोहिताना तथापि तत्प्रीतिहेतु ॥१७॥ मेद इति—क शुचितम पुमान् शरीरे क्रियाचण्डालगृहसदृशे प्रीतिं करोति । चण्डालगृहधर्मानारोपयन्नाह—मेदो वसा रुधिरैर्मध्ये कर्दमिते चर्मपटलप्रच्छादिते शिराबद्धास्थिसघाते ॥१८॥ इन्द्र इति—ये महेन्द्रप्रभृतयो देवाश्चक्रवर्तिप्रभृतयश्च नरा फणीन्द्राद्याश्च पन्नगास्तेऽप्यात्मान पर प्राणिन वा कालदुर्दान्तदन्तिग्रस्त न रक्षितु प्रभवन्ति ॥१९॥ बालमिति—बाल वृद्धमीश्वर दु स्थित सुभट कातर सज्जन दुर्जन वा यमो वह्निरिव सर्वमपि शुष्कतृणसघात निर्विचिकित्सया सहरति ॥२०॥ स्वच्छामिति—निर्मलामपि सम्यक्त्वविभूतिं रजोभिर्दर्शनज्ञानावरणकर्मभि प्रच्छाद्यानन्तचतुष्टयरत्न जाग्रता तत्त्वातत्त्व विचारयतामपि दोषै सासारिकैर्भावैर्गृहीत येषा ते ससारे हन्त हताशा निष्फलायतय । येषा किल सुदृशो धूलिं प्रक्षिप्य पश्यतामेव रत्नादिक तस्करा गृह्णन्ति ते कृतजनहानयो जनहासहेतवश्च भवन्ति ॥२१॥ वित्तमिति—एक शुभाशुभरूप पुण्यपापलक्षण कर्मैव जीवेन सार्द्धं प्रयाति । कथ तर्हि वित्तादिकमित्याह—अनेकप्रयासकष्टोपार्जित

स्नेह] क्यों धारण करता ? ॥१६॥ स्त्रियोंका मध्यभाग मलमूत्र आदिका स्थान है, उनकी इन्द्रियाँ मलमूत्रादिके निकलनेका द्वार हैं और उनका नितम्ब बिम्ब स्थूल मास तथा हड्डियोंका समूह है फिर भी धिक्कार है कि वह कामान्ध मनुष्योंकी प्रीतिके लिए होता है ॥१७॥ जो भीतर चर्बी मज्जा और रुधिरसे पकिल है, बाहर चर्मसे आच्छादित है, जिसकी हड्डियोकी सन्धियाँ स्नायुओंसे बँधी हुई है, जो कर्म रूपी चाण्डालके रहनेका घर है और जिससे दुर्गन्ध निकल रही है ऐसे शरीरमे कौन सत्पुरुष स्नेह करेगा ? ॥१८॥ जो कोई इन्द्र उपेन्द्र ब्रह्मा रुद्र अहमिन्द्र देव मनुष्य अथवा नागेन्द्र हैं वे सभी तथा अन्य लोग भी कालरूपी दुष्ट व्यालसे आक्रान्त प्राणीकी रक्षा करनेमे समर्थ नहीं हैं ॥१९॥ जिस प्रकार अग्नि समस्त वनको खा लेती है—जला देती है उसी प्रकार सबको असनेवाला यह विवेकहीन एक यम बालक, वृद्ध, धनाढ्य, दरिद्र, धीर, कायर, सज्जन और दुर्जन—सभीको खा लेता है—नष्ट कर देता है ॥२०॥ जागते रहनेपर भी जिनकी निर्मलदृष्टि [पक्षमे सम्यग्दर्शन] को धूलिसे [पक्षमें पापसे] आच्छादित कर चोर रूपी समस्त दोषोंने जिनका कल्याणकारी रत्न [पक्षमे मोक्षरूपी रत्न] छीन लिया है वे बेचारे इस संसारमे नष्ट हो चुके हैं—लुट चुके हैं ॥२१॥ धन घरसे, शरीर ऊँची चिताकी अग्निसे, और भाई-बान्धव श्मशानसे लौट जाते हैं, केवल

छेत्तु मूलात्कर्मपाशानशेषान्सद्यस्तीक्ष्णैस्तद्यतिष्ये तपोभि ।
को वा कारागाररुद्ध प्रबुद्ध' शुद्धात्मान वीक्ष्य कुर्यादुपेक्षाम् ॥२३॥
इत्थ यावत्प्राप्य वैराग्यभाव देवश्चित्ते चिन्तयामास धर्म ।
ऊचु स्वर्गादित्युपेत्यानुकूल देवास्तावत्केऽपि लौकान्तिकास्ते ॥२४॥
नि शेषापन्मूलभेदि त्वयेद देवेदानी चिन्तित साधु साधु ।
एतेनैक केवल नायमात्मा ससाराधेरुद्धृता जन्तवोऽपि ॥२५॥
नष्टा दृष्टिर्नष्टमिष्ट चरित्र नष्ट ज्ञान साधुधर्मादि नष्टम् ।
सन्तः पश्यन्त्वत्र मिथ्यान्धकारे त्वत्त' सर्वं केवलज्ञानदीपात् ॥२६॥
तैरानन्दादित्थमानन्द्यमान स्वर्दन्तीन्द्रारूढजम्भारिमुख्याः ।
आसेदुस्त दुन्दुभिध्वानवन्तस्ते चत्वारो निर्जराणा निकाया ॥२७॥
दत्वा प्राज्य नन्दनायाथ राज्य देवोऽतुच्छप्रीतिरापृच्छ्य बन्धून् ।
दत्तस्कन्ध याप्यमाने सुरेन्द्रैरारुह्यागात्सालपूर्वं वन सः ॥२८॥

वित्त गृहादेव व्याघुटति, शरीर च चिता प्राप्य तिष्ठति, सहोदरादयश्च पितृवनाद् व्यावर्तन्ते पर नानाजन्मवल्लीवितानकारण कर्मैगामीति ॥२२॥ छेत्तुमिति—अनादिससारसवद्धान् कर्मपाशास्तीव्रैस्तपोभि छेत्तु यान करिष्ये । को नाम वन्दीगृहगतमात्मान निरीक्ष्यावगणयति ॥२३॥ इत्थमिति—अथानन्तर यावदनेन प्रकारेण प्रभुर्वैराग्य भावयति तावद्ब्रह्मकल्पादागत्य तत्कालभावनोचित लौकान्तिका देवर्षयो बभाषिरे केऽप्यचिन्त्यप्रभावा ॥२४॥ नि शेषेति—दु खानन्त्यमूलभेदक यच्चिन्तित तत्साधु साधु । एतेन युष्मदारब्धेन चरित्रेण न केवल भवानेव ससारसमुद्रादमी प्राणिनोऽपि उत्तरीतार ॥२५॥ नष्टेति—रत्नत्रय साधुक्रियादिक च नष्ट । त्वत्त केवलज्ञानदीपात्साधव पश्यन्तु अत्र मिथ्यात्वान्धकारे जगति व्याप्ते सति ॥२६॥ तैरिति—इत्थ तैर्लौकान्तिकै प्रशस्यमान तमैरावणप्रभृतिनिजवाहनाधिरूढा भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिसमूहा आगत्याहतदुन्दुभय सिषेविरे ॥२७॥ दत्वेति—अथानन्तर पुत्राय साम्राज्यपद दत्त्वा स्वजनानापृच्छ्य माहेन्द्रदत्तस्कन्धया शिवि-

---

नाना जन्मरूपी लताओंका कारण पुण्य पापरूप द्विविध कर्म ही जीवके साथ जाता है ॥२२॥ इसलिए मैं तीक्ष्ण तपश्चरणोंके द्वारा कर्मरूपी समस्त पापोंको जडमूलसे काटनेका यत्न करूँगा। भला, ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो अपने शुद्ध आत्माको कारागारमे रुका हुआ देखकर भी उसकी उपेक्षा करेगा ? ॥२३॥ इस प्रकार वैराग्यभावको प्राप्त होकर भगवान् धर्मनाथ जबतक चित्तमें ऐसा चिन्तवन करते है तब तक कोई लोकोत्तर लौकान्तिकदेव स्वर्गसे आकर निम्नप्रकार अनुकूल निवेदन करने लगे ॥२४॥ हे देव ! इस समय आपने समस्त आपत्तियोंके मूलको नष्ट करनेवाला यह ठीक चिन्तवन किया। इस चिन्तवनसे आपने न केवल अपने आपको किन्तु समस्त जीवोंको भी ससार समुद्रसे उद्धृत किया है ॥२५॥ सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया, इष्टचारित्र नष्ट हो गया, ज्ञान नष्ट हो गया और उत्तम धर्मादि भी नष्ट हो गये। अब सज्जन पुरुष इस मिथ्यात्वरूप अन्धकारमे आपके केवल ज्ञानरूपी दीपकसे अपनी नष्ट हुई समस्त वस्तुओंको देखे ॥२६॥ ऐरावत हाथीपर बैठे हुए इन्द्र जिनमें मुख्य हैं और जो दुन्दुभि बाजोंके शब्दोंसे युक्त है ऐसे देवोंके चारों निकाय लौकान्तिक देवोंके द्वारा पूर्वोक्त प्रकारसे आनन्द्यमान भगवान् धर्मनाथके समीप बड़े आनन्दसे पहुँचे ॥२७॥ तदनन्तर अतुच्छ प्रेमको धारण करनेवाले भगवान् धर्मनाथने पुत्रके लिए विशाल राज्य दिया। फिर भाई-बन्धुओंसे पूछकर इन्द्रोंके द्वारा उठायी हुई शिविकामें आरूढ हो सालवनकी ओर

सिद्धान्नत्वा तत्र षष्ठोपवासी मौलौ मूलानीव कर्मद्रुमाणाम् ।
मुष्टिग्राहैः पञ्चभिः कुन्तलानां वृन्दान्युच्चैरुच्चखान क्षणेन ॥२९॥

केशास्तस्याधत्त माणिक्यपात्रे क्षीराम्भोधिप्रापणायामरेन्द्रः ।
भर्त्रा मूर्ध्नादाय मुक्तान्कथंचित्को वा विद्वान्नाददीतादरेण ॥३०॥

प्रालेयांशौ पुष्यमैत्री प्रयाते माघे शुक्ला या त्रयोदश्यनिन्द्या ।
धर्मस्तस्यामात्तदीक्षोऽपराह्णे जातः क्षोणीभृत्सहस्रेण सार्धम् ॥३१॥

तत्र त्यक्तालंकृतिर्मुक्तवासा रूपं बिभ्रज्जातमात्रानुरूपम् ।
देवो भेजे प्रावृषेण्याम्बुवाहश्रेणीमुक्तस्वर्णशैलोपमानम् ॥३२॥

गीतं वाद्यं नृत्यमप्यात्मशक्त्या कृत्वा चेतोहारि जम्भारिमुख्याः ।
देवाः सर्वे प्राप्तपुण्यातिरेका नत्वार्हन्तं स्वानि धामानि जग्मुः ॥३३॥

स्कन्धावारे पाटलीपुत्रनाम्नि क्षोणीभर्तुर्धन्यसेनस्य गेहे ।
क्षीरान्नेनाचारवित्पाणिपात्रे कृत्वा पञ्चाश्चर्यकृत्पारणं सः ॥३४॥

कयाधिरूढः सालवनं नाम तपोवनं जगाम ॥२८॥ सिद्धानिति—आगमोक्तत्वात्कृतोपवासद्वयः कर्मवल्लीमूलानीव केशमूलानि उत्पाटयामास । कैः । पञ्चमुष्टिग्राहैः ॥२९॥ केशानिति—तस्य प्रभोस्तानुत्खातकेशान् सुरेन्द्रो रत्नपात्रे निचिक्षेप । किमर्थमित्याह—क्षीरसमुद्रनिक्षेपणाय । युक्तमेतत् प्रभुणा मस्तके निधाय केनचित्कारणेन त्यक्तान् कः पण्डितः आदरेण न स्वीकुर्वीत ॥३०॥ प्रालेयेति—पुष्यनक्षत्रस्थे चन्द्रे माघमासे शुक्लपक्षे त्रयोदश्यां श्रीधर्मनाथो राजपुत्रेण सहस्रेण सार्द्धमपराह्णे प्रवव्राज ॥३१॥ तत्रेति—तत्र वने त्यक्तसर्ववस्त्राद्यलंकारो यथाजातरूपधारी वर्षामेघपङ्क्तिमुक्तसुवर्णशैलसादृश्यं निःप्रकम्पत्वात्सुवर्णवर्णत्वाच्च प्राप ॥३२॥ गीतमिति—निजभक्तिशक्तिसदृशं गीतवाद्यनृत्यादिकं विधाय शक्रमुख्या देवा उपार्जितपुण्यातिशया भगवन्तं प्रणिपत्य निजनिजगृहान् प्रति प्रतस्थिरे ॥३३॥ स्कन्धावार इति—पाटलीपुत्रनगरे धन्यसेननृपतिगृहे क्षीरान्नेन यथाविधि पाणिपात्रे पारणाविधिं विधाय दुन्दुभिनिनादपुष्परत्नगन्धोदकवृष्टिलक्षणपञ्चाश्चर्यकारी ॥३४॥

प्रस्थान किया ॥२८॥ वहाँ उन्होंने सिद्धोंको नमस्कार कर बेलाका नियम ले कर्मरूपी वृक्षोंके मूलके समान शिर पर स्थित बालोंके समूहको पंचमुष्टियोंके द्वारा क्षणभरमें उखाड डाला ॥२९॥ इन्द्रने भगवान्के उन केशोंको क्षीर समुद्रमें भेजनेके लिए मणिमय पात्रमें रख लिया सो ठीक ही है क्योंकि भगवान्ने जिन्हें अपने मस्तकपर धारण कर किसी प्रकार छोडा है उन्हें कौन विद्वान् आदरसे नहीं ग्रहण करेगा ? ॥३०॥ जिस दिन चन्द्रमा पुष्यनक्षत्रकी मित्रताको प्राप्त था ऐसे माघमासके शुक्लपक्षकी जो उत्तम त्रयोदशी तिथि थी उसी दिन सायंकालके समय श्री धर्मनाथ भगवान् एक हजार राजाओंके साथ दीक्षित हुए थे ॥३१॥ उस वनमें जिन्होंने वस्त्र और आभूषण छोड़ दिये हैं तथा जो तत्कालमें उत्पन्न बालकके अनुरूप नग्नवेष धारण कर रहे हैं ऐसे श्रीधर्मनाथ स्वामी वर्षाकालिक मेघसमूहसे मुक्त सुमेरु पर्वतकी शोभा धारण कर रहे थे ॥३२॥ इन्द्र आदि सभी देव अपनी शक्तिके अनुसार मनोहर गीत, वादित्र और नृत्य कर सातिशय पुण्य प्राप्त करते हुए अर्हन्त देवको नमस्कार कर अपने-अपने स्थानों पर चले गये ॥३३॥ आचारको जाननेवाले भगवान् धर्मनाथने पाटलिपुत्र नामके नगरमें धन्यसेन राजाके घर हस्त रूप पात्रमें क्षीरान्नके द्वारा पंचाश्चर्य

पुण्यारण्ये [1]प्रासुके क्वापि देशे नासाप्रान्तन्यस्तनि स्पन्दनेत्रः ।
कायोत्सर्गं बिभ्रदभ्रान्तचित्तो लोके लेप्याकारशङ्कामकार्षीत् ॥३५॥ (युग्मम्)

अध्यासीनो ध्यानमुद्रामतन्द्रः स्वामी रेजे लम्बमानोरुबाहु ।
ये निर्मग्ना श्वभ्रगर्भान्धकूपे व्यामोहान्धास्तानिवोद्धर्तुकामः ॥३६॥

मुक्ताहार॰ सर्वदोपत्यकान्तारब्धप्रीति. स्वीकृतानन्तवासाः ।
देवो धुन्वन्विग्रहस्थानरातीन्कान्तारेऽपि प्राप सौराज्यलीलाम् ॥३७॥

देवोऽक्षामक्षान्तिपाथोदपाथोधारासारैः सारसपत्फलाय ।
सिञ्चन्नुच्चैः सयमारामचक्र चक्रे क्रोधोद्दामदावाग्निशान्तिम् ॥३८॥

भिन्दन्मान मार्दवेनार्जवेन च्छिन्दन्माया निःस्पृहत्वास्तलोभः ।
मूलादेवोच्छेत्तुकाम स चक्रे कर्मारीणामास्रवद्वाररोधम् ॥३९॥

पुण्येति—कस्मिंश्चित्पुण्यारण्ये प्रासुकप्रदेशे नाशाग्रशाग्रे विन्यस्तनिर्निमेषनेत्रो नि प्रकम्पकायोत्सर्गं दधानो निश्चलचेता भुवने लेप्यघटितभ्रान्तिमुत्पादयामास सूक्ष्मजन्तुजातविवर्जिते ॥३५॥ अधीति—प्रभु शुद्धध्यानस्थ प्रलम्बबाहु शुशुभे । घोरनरकान्धकूपे व्यामोहवशात्पतितान् जन्तूनुद्दिधीर्षुरिव । कूपादौ पतितमन्यदपि सरल हस्तावलम्बेनाकृष्यते ॥३६॥ मुक्तेति—देवस्तपोवनेऽपि तदवस्था साम्राज्यलीलामधिरूढ इव कथमित्याह—मुक्ताहारो मुक्तामयो हारो यस्य स पक्षे त्यक्तभोजन । सर्वं यथाभिलषित ददातीति सर्वद । अपत्येषु कान्तासु च प्रारब्धा प्रीतिर्येन स पक्षे सर्वदापर्वतप्राग्भारबद्धस्थिति । उपत्यकाया अन्त उपत्यकान्तस्तत्रारब्धा प्रीतिर्येन स । स्वीकृतानन्तवासा स्वीकृतानि अनन्तानि वासासि वस्त्राणि येन स, पक्षे स्वीकृतमनन्त गगनमेव वासो येन स । सग्रामस्थान् रिपून् गृह्णन् पक्षे देहस्थानिन्द्रियादीन् ॥३७॥ देव इति—देव प्रबलक्षमामेघजलधारावेगवद्वृष्टिभि सयमाराम तपोवन सिञ्चन् क्रोधोत्कटदावाग्नि शमयाचकार मोक्षसौख्यफलाय ॥३८॥ भिन्दन्निति—स प्रभु सरलपरिणामेन माया भिन्दानो मृदुपरिणामेन च मान शौचेन च लोभ समूलमेव कर्म-

---

करनेवाला पारणा किया ॥३४॥ तदनन्तर पवित्र वनके किसी प्रासुक स्थानमें नासाग्रभाग पर निश्चल नेत्र धारण करनेवाले, कायोत्सर्गके धारक एव स्थिरचित्तसे युक्त भगवान्ने लोकमें चित्रलिखितकी शंका उत्पन्न की ॥३५॥ [युग्म] ध्यान मुद्रामें स्थित, आलस्य रहित और विशाल भुजाओंको लटकाये हुए स्वामी धर्मनाथ ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जो मिथ्यादर्शनसे अन्धे होकर नरक रूपी अन्धकूपमे निमग्न हैं उनका उद्धार ही करना चाहते हों ॥३६॥ वे धर्मनाथ मुक्ताहार थे—आहार छोड चुके थे, [पक्षमें मोतियोंके हारसे युक्त थे] सर्वदोपत्यकान्तारब्धप्रीति थे—हमेशा पर्वतोंकी तलहटियोंके अन्तमें प्रीति रखते थे [पक्षमे सर्व इच्छित वस्तुओंको देनेवाले थे एवं पुत्र तथा स्त्रियोंमें प्रीति करते थे], स्वीकृतानन्तवासा थे—आकाश रूपी वस्त्रको स्वीकृत करनेवाले थे, [पक्षमें अनन्त वस्त्रोंको स्वीकृत करने वाले थे] और विग्रहस्थ—शरीरमे स्थित [पक्षमे युद्धस्थित] शत्रुओंको नष्ट करते थे—इस प्रकार वनमे भी उत्तम राज्यकी लीलाको प्राप्त थे ॥३७॥ वे भगवान् श्रेष्ठ सम्पत्ति रूपी फलके लिए शान्तिरूपी विशाल मेघोंकी जलधाराके वर्षणसे अतिशय उत्कृष्ट सयम रूपी उपवनोंके समूहको सींचते हुए क्रोधरूपी दावानलकी शान्ति करते थे ॥३८॥ वे मार्दवसे मानको भेदते थे, आर्जवसे मायाको छेदते थे, और निःस्पृहतासे लोभको नष्ट करते थे, इस प्रकार कर्मरूपी शत्रुओंको जड़से उखाड़नेकी इच्छा करते हुए उनके आस्रव

---

१ प्राशुके घ० म० ।

कुर्वन् गुर्वीं वाङ्मन कायगुप्ति रक्षन्साक्षात्स्व समित्यर्गलाभि[1] ॥
बन्धन्नक्षाण्येष दीर्घैर्गुणौघैश्चित्त मोक्षायैव बद्धोद्यमोऽभूत् ॥४०॥

तस्यारण्ये ध्याननिष्कम्पमूर्तेर्वक्त्रस्येवामोदमाघ्रातुकामाः ।
बद्धावासाश्चन्दनस्येव तस्थु स्वस्था स्वैर स्कन्धबन्धे भुजङ्गा ॥४१॥

दृष्ट्वात्मान पुद्गलाद्भिन्नरूपं देवो देहे न स्वबुद्धि बबन्ध ।
तेनात्याक्षीत्तोयशीलातपार्त्तं श्रेयोनिष्ठ काष्ठवद्दूरमेनम् ॥४२॥

विघ्न निघ्नन्नाक्षिपन्नेष दोषाञ्जज्ञे स्वामी भाजन यत्क्षमायाः ।
सैषा काचिच्चातुरी तस्य भर्तुश्चित्तेऽस्माक चित्रमद्यापि दत्ते ॥४३॥

आससार साहचर्यंव्रतस्थ दु स्थीकुर्वन्रागमागन्तुकेऽपि ।
योगे मैत्री पक्षपात च मोक्षे बिभ्रच्चित्र स्व चरित्र स ऊचे ॥४४॥

वल्लीसतानमुन्मूलयितु कर्मागमद्वाराणि रुरोध ॥३९॥ कुर्वन्निति—स महती मनोवचनकायगुप्ति कुर्वन् स्वमात्मान समितय ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गलक्षणास्ता एवार्गलास्ताभि पालयन्, अक्षाणि इन्द्रियाणि दीर्घैस्तन्निग्रहकारिभिर्गुणैर्नियन्त्रयन् एव बद्धप्रारम्भोऽपि स मुक्तिनिमित्त बभूव । अथ च चित्रमेतत् दत्तार्गले गुप्तिगृहे दीर्घश्रृङ्खलाभि कीलकनिबद्धोऽपि मुक्तो भवति ॥४०॥ तस्येति—तस्य प्रभोर्वने ध्यानकाष्ठानिष्प्रकम्पस्य चन्दनद्रुमस्येव स्कन्धे कृतावासा स्वैर सर्पा खेलन्ति स्म मुखकमलामोद जिघ्रासव इव ॥४१॥ दृष्ट्वेति—देव परमध्यानाधीनलयेनात्मान पुद्गलात्पृथग्रूप दृष्ट्वा पुद्गलात्मके निजशरीरे स्वबुद्धिचैतन्यमयात्माभिप्राय मुमोच । ततश्च जलेन शीतेनातपेन च पीड्यमान स्व काष्ठवत्सोऽजीगणत् । अथ च परमात्मरहस्य प्राप्तस्य योगिनो घनतमपरीषहविज्ञान न स्यात् ॥४२॥ विघ्नमिति—विघ्न कोपपरिणाम निघ्नन् हिंसन् दोषान् मोक्षान्तरायसासारिकभावान् निर्दलयन् तथाविधोपशमैकपात्र जात इति तस्य प्रभोश्चातुर्यमद्यापि अस्माक चित्ते चित्रीयते । य पुनर्निघाताक्षेपकारी स्यात् स न क्षमाया पात्र स्यादिति चित्रम् ॥४३॥ आससारमिति—स प्रभुरात्मचरित्र गहन दुर्लक्ष्यमिति यावत् प्रतिपादयामास । कथमित्याह—स्वय महाव्रतस्थोऽपि साहचर्ये व्रते तिष्ठतीति साहचर्यव्रतस्थ राग कामाभिलाष निगृह्णन् ससारात्प्रभृति सघाटकमित्यर्थ । अनायतनदूरस्थोऽपि योगे कौलके आगमिष्यत्यपि प्रीतिं कुर्वन् मोक्षे मुक्तिमार्गे यज्ञस्य परिग्रहस्य पात कुर्वन् । अथ च यति आससारबद्ध राग

रूप द्वारका निरोध करते थे ॥३९॥ अतिशय श्रेष्ठ वचनगुप्ति, मनोगुप्ति और कायगुप्तिको करते हुए, समिति रूपी अर्गलाओंके द्वारा अपने आपकी रक्षा करते हुए और दीर्घगुणोंके समूहसे [पक्षमे रस्सियोंके समूहसे] इन्द्रियोंको बाँधते हुए वह भगवान् धर्मनाथ मोक्षके लिए बिलकुल बद्धोद्यम—तत्पर थे ॥४०॥ वनमे ध्यानसे निश्चल शरीरको धारण करनेवाले उन भगवान् धर्मनाथके मुखकी सुगन्धिको सूँघनेकी इच्छासे ही मानो उनके कन्धोंपर सर्प उस प्रकार निश्चिन्तताके साथ रहने लगे थे जिस प्रकार कि किसी चन्दन वृक्षके स्कन्धोंपर रहने लगते हैं ॥४१॥ कल्याणमार्गमे स्थित भगवान् धर्मनाथ चूँकि आत्माको पुद्गलसे भिन्नस्वरूप देखकर शरीरमें आत्मबुद्धि नहीं करते थे अतः उन्होंने पानी, ठण्ड और गर्मीसे पीड़ित शरीरको काष्ठके समान दूर ही छोड़ दिया था ॥४२॥ वे भगवान् विघ्नोंको नष्ट करते और दोषोंको दूर हटाते हुए क्षमाके पात्र थे अत उनकी वह अनुपम चतुराई हमारे चित्तमें अब भी आश्चर्य प्रदान करती है ॥४३॥ वह भगवान् जबसे ससार है तबसे साथ-साथ रहनेवाले रागको दुःखी करते थे और तत्काल प्राप्त हुए योगमे मित्रता तथा मोक्षमें पक्षपात

---

१ समित्यर्कभाभि घ० म० ।

तस्याशेष कर्षतो धीवरस्य स्फारीभूतं मानसान्मोहजालम् ।
तत्पाशान्त पीड्यमानैकमीनो मन्ये त्रासान्निर्ययौ मीनकेतु· ॥४५॥

कल्पान्तोद्यद्द्वादशद्वादशात्मश्रेणीतेजःपुञ्जतीव्रव्रतेऽस्मिन् ।
दृग्व्याघातत्रस्तचित्तेव चक्षुर्नो चिक्षेप प्रत्यह मोहलक्ष्मी· ॥४६॥

चक्रे कार्श्यं[1] सयमस्तस्य देहे तन्वानोऽपि ज्योतिरत्यन्तरम्यम् ।
माणिक्यस्येवावनीमण्डनार्थं शाणोल्लेखः सम्यगारभ्यमाणः ॥४७॥

[2]एकः पात्रं सौकुमार्यस्य तीव्रे तेज पुञ्जे तापसे वर्तमान ।
चण्डज्योतिर्मण्डलातिथ्यभाजो भेजे लक्ष्मी क्षीणपीयूषरश्मे ॥४८॥

भर्गादीना भग्नगर्वातिरेकः कः श्रीधर्मे मीनकेतुर्वराक. ।
अध्यारूढप्रौढिरग्नौ न कुर्याद्रत्नज्योति स्तम्भमम्भोनिषेक· ॥४९॥

विदूरयन् योगे परमसमाधौ मैत्री कुर्वन् मोक्षे च स्वीकारमिति ॥४४॥ तस्येति—तस्य धीवरस्य परमज्ञानोपेतस्य प्रसृत मोहजाल निजहृदयादाकर्षत समस्त तस्य मोहजालस्य पाशस्य मध्ये पीड्यमान एको मीनो यस्य स । तत शङ्केऽह मीनकेतु काम पलायाचक्रे । प्रभुत्रुटितमोहजाल धीवरे प्रसार्य कर्षति मीनप्रधान प्रणश्यति ॥४५॥ कल्पान्तेति—प्रलयकालोदयमानद्वादशादित्यशक्तिप्रतापतीव्रव्रतस्येऽस्मिन् प्रभौ नयन न चिक्षेप अन्धत्वभयेनेव मोहलक्ष्मी ॥४६॥ चक्र इति—तस्य प्रभो सयमश्चारित्रविशेष इन्द्रियप्राणिभेदाद् द्विभेदः शरीरे तेज प्रभाव वर्द्धयन्नपि दुर्बलत्व चकार । यथा रत्नस्य शाणोपल कार्श्यं तन्वानोऽपि जनमण्डनत्वमुत्पादयति ॥४७॥ एक इति—स प्रभु सहजसुकुमारशरीरो दु सहे तीव्रतपस्तेजसि वर्तमान शुशुभे चण्डकिरणमण्डलप्रविष्टश्चन्द्र इव। अत्र सौकुमार्यचन्द्रस्वभावयोस्तपस्तेजश्चन्द्रकिरणमण्डलयोश्चोपमानोपमेयभाव ॥४८॥ भर्गेति—उमापत्यादिविजेता काम श्रीधर्मनाथे किंकर । न किमपि। यत सलिलनिषेको वह्निशमनायैव समर्थ न रत्नकिरणमण्डलशमनाय समर्थ । यथा जलप्रक्षालनेन रत्नाना तेजो विवर्द्धते तथा भगवत कामभावासभावनेन

धारण करते थे—इस प्रकार आश्चर्यकारी अपना चरित्र स्वयं कह रहे थे ॥४४॥ वह भगवान् स्वयं धीवर थे—बुद्धिसे श्रेष्ठ थे [पक्षमें ढीमर थे] ज्योंही उन्होंने मानस—मनरूपी मानसरोवरसे मोहरूप जालको खींचा त्योंही उसके पाशके भीतर मीनकेतु—कामदेवका मीन फँसकर फड़फड़ाने लगा इसी भयसे मानो वह निकल भागा था ॥४५॥ जिनके व्रत, प्रलयकालके समय उदित द्वादश सूर्यसमूहके तेजःपुंजके समान अत्यन्त तीव्र थे ऐसे इन भगवान् धर्मनाथ पर मोहलक्ष्मी कभी भी नेत्र नहीं डाल सकती थी—आँख उठाकर उनकी ओर नहीं देख सकती थी मानो दर्शन—दृष्टि [पक्षमें दर्शनमोह] के व्याघातसे उसका चित्त भयभीत ही हो गया था ॥४६॥ जिस प्रकार अच्छी तरह प्रारम्भ किया हुआ शाणोल्लेख यद्यपि अत्यन्त रमणीय कान्तिको बढाता है तो भी पृथिवीको अलंकृत करनेके लिए मणिके शरीरमें कुछ कृशता ला देता है उसी प्रकार अच्छी तरह प्रारम्भ किया हुआ सयम यद्यपि अत्यन्त रमणीय कान्तिको बढ़ाता था तो भी उसने भूलोकको अलंकृत करनेके लिए उनके शरीरमें कुछ कृशता ला दी थी ॥४७॥ वे भगवान् यद्यपि सुकुमारताके एक मुख्य पात्र थे फिर भी तेजके पुजसे युक्त तीव्र तपश्चरणमें वर्तमान थे अतः सूर्यमण्डलके आतिथ्यको प्राप्त क्षीणकाय चन्द्रमाकी शोभाको प्राप्त हो रहे थे ॥४८॥ महादेव आदिके भारी अहंकारको नष्ट करनेवाला बेचारा कामदेव श्री धर्मनाथ स्वामीके विषयमें क्या सामर्थ्य रखता था ? क्योंकि अग्निके विषयमें प्रौढता दिखलानेवाला जलका सिंचन क्या रत्नकी ज्योतिमें बाधा कर सकता है ? ॥४९॥

[1] कार्यं म० घ० । [2] एक पात्र म० घ० ।

भ्रूचापेनाकर्णमाकृष्य मुक्ता स्वर्गस्त्रीभिस्तत्र दीर्घाः कटाक्षाः ।
हृत्संतोषाविर्भवद्वारबाणे बाणाः कामस्येव वैफल्यमीयुः ॥५०॥

भोगे रोगे काञ्चने वा तृणे वा मित्रे शत्रौ पत्तने वा वने वा ।
देवो दृष्टिं निर्विशेषां दधानोऽप्येकः सीमासीद्विशेषज्ञतायाः ॥५१॥

तथ्यं पथ्यं चेदभाषिष्ट किंचित्सिद्धं शुद्धं चेदभुङ्क्तान्यदत्तम् ।
मुक्त्वा नक्तं चेदयासीत्स पश्यन्सर्वं किंचित्तस्य शास्त्रानुरोधि ॥५२॥

तस्यावश्यं वायुरेकेन्द्रियोऽपि प्रत्यासत्तौ प्राप न प्रातिकूल्यम् ।
तत्किं चित्रं तत्र पञ्चेन्द्रियाणां सिंहादीनां यन्न दुःशीलभावः ॥५३॥

अन्तर्बाह्यैर्दीप्यमानैस्तपोऽग्निज्वालैर्नीत्वा दुर्जराण्याशु पाकम् ।
भुञ्जानोऽसौ कर्मवल्लीफलानि श्लाघ्यः स्वल्पैरप्यहोभिर्बभूव ॥५४॥

निर्व्यामोहो निर्मदो निष्प्रपञ्चो निःसङ्गोऽयं निर्भयो निर्ममश्च ।
देशे देशे पर्यटन् संयतानां केषां नासीन्मोक्षशिक्षैकहेतुः ॥५५॥

प्रस्तुतशुक्लध्याननैर्मल्यमेवेति भाव ॥४९॥ भ्रूचापेनेति—देवाङ्गनाभिर्भ्रूवल्लरीधनुषा समाकृष्य दीर्घा कटाक्षबाणा मुक्ता. कामबाणा इव नि फलीबभूवु । तत्र धर्मनाथे, किंविशिष्टे । हृदये संतोष एवाविर्भवन् संबध्यमानो वारबाणो वज्रसनाहो यस्य स तथाविधस्तस्मिन् ॥५०॥ भोग इति—देवो विशेषज्ञताया परमनिःस्पृहकाष्ठाया सीमा बभूव । किं कुर्वन् । तुल्यानुरागा दृष्टि दधान । भोगे स्रग्वनितादिविषये रोगे सर्पविषकण्टकादौ व्याधौ वा स्वर्णे जीर्णे तृणे वा इष्टेऽनिष्टे वा राज्यपल्यङ्के श्मशाने वेति ॥५१॥ तथ्यमिति—स भाषासमितिं प्रतिपालयन् तथ्य सत्य पथ्य लोकद्वयहितमेव यद्यवादीत् । यद्यन्येन श्रावकेण दत्त सिद्ध कृतकारितादिनवकोटीविशुद्ध षोडशभिरध कार्योद्दिश्यप्रभृतिभिर्दायकाश्रितोद्गमदोषै धायिकादूतप्रेषणप्रभृतिभिर्यत्याश्रितै षोडशभिरुत्पादनदोषै शङ्कितम्रक्षितादिभिर्दशभिराहाराश्रितदोषै संयोजनादिभिश्चतुर्भिरेव षट्चत्वारिंशद्दोषैर्विवर्जित यदि वा द्वात्रिंशदन्तरायैश्चतुर्दशमलैरहितमाहार गृह्णाति । यदि वा मार्गे जगाम तदा दिनोदये युगान्तरदृष्ट्या इति समितिपालनपर ॥५२॥ तस्येति—तस्य प्रभोरेकेन्द्रियो वायु संमुखो न ववौ किन्त्वनुकूलतया । तत किमाश्चर्यं यत्पञ्चेन्द्रिया सिंहादिश्वापदा उपसर्गं न चक्रु ॥५३॥ अन्तरिति—षड्विधबाह्यै षड्विधाभ्यन्तरलक्षणैर्द्वादशविधैस्तपोवह्निज्वालाकलापैर्दुर्जराणि कर्मवल्लीफलानि विपाच्य भुञ्जान स्तोकैरपि दिवसै श्लाघ्यतमो बभूव ॥५४॥ निर्व्यामोह इति—स प्रतिदेश विहरन् सर्वेषा मोक्षशिक्षाहेतुर्बभूव । किंविशिष्टो

भृकुटिरूपी धनुषसे कान तक खींचकर देवाङ्गनाओंके द्वारा छोड़े हुए दीर्घकटाक्ष, हृदयका संतोष ही जिनका कवच प्रकट हो रहा है ऐसे श्री धर्मनाथ स्वामीके विषयमें कामदेवके बाणोंके समान विफलताको प्राप्त हुए थे ॥५०॥ यद्यपि भगवान् भोगमें, रोगमें, सुवर्णमें तृणमें, मित्रमें, शत्रुमें और नगर तथा वनमें विशेषता रहित—समान दृष्टि रखते थे फिर भी विशेषज्ञता [पक्षमें वैदुष्य] की अद्वितीय सीमा थे ॥५१॥ वे यदि कुछ बोलते थे तो सत्य और हितकारी, यदि कुछ भोजन करते थे तो पक्व शुद्ध तथा दूसरेके द्वारा दिया हुआ और गमन करते थे तो रात्रिको छोड़कर देखते हुए—इस प्रकार उनका सभी कुछ शास्त्रानुकूल था ॥५२॥ उनके समीप एकेन्द्रिय वायु भी प्रतिकूलताको प्राप्त नहीं थी तब सिंहादि पञ्चेन्द्रिय जीवोंका दुष्ट स्वभाव नहीं था इसमें क्या आश्चर्य था ? ॥५३॥ बड़ी कठिनाईसे पकने योग्य कर्मरूपी लताओंके फलोंको देदीप्यमान अन्तरङ्ग बहिरङ्ग तपश्चरणरूपी अग्निकी ज्वालाओंसे शीघ्र ही पकाकर उनका उपभोग करनेवाले भगवान् धर्मनाथ थोड़े ही दिनोंमें प्रशंसनीय हो गये थे ॥५४॥ वे व्यामोह रहित थे, निर्मद थे, प्रपंच रहित थे, निष्परिग्रह थे, निर्भय थे और निर्मम थे। इस प्रकार प्रत्येक देशमें विहार करते हुए किन संयमी जीवोंके

छद्मस्थोऽसौ वर्षमेकं विहृत्य प्राप्तो दीक्षाकाननं शालरम्यम् ।
देवो मूले सप्तपर्णद्रुमस्य ध्यानं [१]शुक्लं सम्यगालम्ब्य तस्थौ ॥५६॥

माघे मासे पूर्णमास्यां सपुष्ये कृत्वा धर्मो घातिकर्मव्यपायम् ।
उत्पादान्तध्रौव्यवस्तुस्वभावोद्भासि ज्ञानं केवलं स प्रपेदे ॥५७॥

भित्त्वा कर्मध्वान्तमभ्युद्गतेऽस्मिन्दत्तानन्दे केवलज्ञानचन्द्रे ।
तत्कालोद्यद्दुन्दुभिध्वानदम्भाद् व्योमाम्भोधिर्गाढमभ्युज्जगर्ज ॥५८॥

जातं चेतो व्योमवन्नीरजस्कं नृणां पूर्वाद्या इवाशाः प्रसेदुः ।
[२]प्राप द्वेषी वानिलोऽप्यानुकूल्यं किं किं नासीन्निष्कलङ्कं तदानीम् ॥५९॥

तन्माहात्म्योत्कर्षवृत्त्येव हर्षं बिभ्राणासौ साधुगन्धोदवृष्ट्या ।
तत्कालोद्यत्सस्यसंपच्छलेन क्षोणी तत्राधत्त रोमाञ्चमुच्चैः ॥६०॥

नित्योपात्तानङ्गसंग्रामलीलासाहाय्येन व्यञ्जितात्मापराधम् ।
भीत्येवास्य क्रूरकंदर्पशत्रोः सेवां चक्रे चक्रमस्मिन्नृतूनाम् ॥६१॥

निर्मोहो निरहंकारो निर्मायो निःपरिग्रहो निर्भीतिको निर्ममश्च ॥५५॥ छद्मस्थ इति—एकवर्षं यावत्छद्मस्थोऽनुत्पादितकेवलज्ञानः पुनस्तदेव शालवनं प्राप्तः सप्तपर्णद्रुममूले शुक्लध्यानं पूरयामास ॥५६॥ माघ इति—माघमासे पूर्णमास्यां पुष्यनक्षत्रे घातिकर्मचतुष्टयं हत्वा उत्पादव्ययध्रौव्यपदार्थस्वभावप्रकाशकं केवलज्ञानमुत्पादयामास ॥५७॥ भित्त्वेति—कर्मध्वान्तपटलं भित्त्वा दत्तप्रमोदे केवलज्ञानचन्द्रेऽभ्युद्यते सति तत्कालदुन्दुभिध्वानव्याजेन गगनसमुद्रो गर्जितं चकार । चन्द्रोदये समुद्रप्रमोद इति प्रसिद्धम् ॥५८॥ जातमिति—तदानीं केवलज्ञानोत्पत्तिकाले जनानां चित्तं गगनवन्निर्मलं जातम् । न केवलं गगनमपि निर्मलं जातमिति भावः । आशा अभिलाषा नृणां प्रसन्ना बभूवुः ककुभ इव । न केवलं ताः प्रसन्ना दिशश्चेति भावः । वायुरपि धर्मानुकूलो बभूवेव । किं किं न सर्वसुखदं बभूव । अपि तु सर्वं सुखघटितं बभूव ॥५९॥ तन्माहात्म्येति—तत्प्रभावोत्कर्षदर्शनप्रमोदेनेव गन्धोदवर्षेण तत्कालाङ्कुरिता रोमाञ्चं दधानेव पृथ्वी शुशुभे ॥६०॥ नित्येति—अस्य भयेन कम्पमानमिव ऋतुचक्रं सेवां चक्रे । किमपराद्धमृतुचक्रेणेत्याह—सर्वदा कृतकामसंग्रामावसरसाहाय्यकेन व्यञ्जितं प्रकटितं आत्म-

लिए मोक्षविषयक शिक्षाके हेतु नहीं हुए थे ॥५५॥ वह भगवान् छद्मस्थ अवस्थामें एक वर्ष विहारकर शालवृक्षोंसे सुशोभित दीक्षावनमें पहुँचे और वहाँ शुक्लध्यानका अच्छी तरह आलम्बनकर सप्तपर्णवृक्षके नीचे विराजमान हो गये ॥५६॥ भगवान् धर्मनाथ माघमासकी पूर्णिमाके दिन पुष्पनक्षत्रके समय घातिकर्मोंका क्षयकर उत्पाद व्यय और ध्रौव्यरूप वस्तुके स्वभावको प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञानको प्राप्त हुए ॥५७॥ जिस समय आनन्दको देनेवाला केवलज्ञानरूपी चन्द्रमा कर्मरूपी अन्धकारको नष्टकर उदित हुआ उसी समय उत्पन्न होनेवाले दुन्दुभि बाजोंके शब्दोंके बहाने आकाशरूपी समुद्र भारी गर्जना करने लगा ॥५८॥ मनुष्योंके चित्त आकाशके समान निर्मल हो गये, उनकी आशाएँ पूर्वादि दिशाओंके समान प्रसन्न हो गयीं—उज्ज्वल हो गयीं। यही नहीं, वायु भी शत्रुके समान अनुकूलताको प्राप्त हो गया सो ठीक ही है क्योंकि उस समय कौन-कौन-सी वस्तु निष्कलङ्क नहीं हुई थी ? ॥५९॥ उनके माहात्म्यके उत्कर्षसे ही मानो उत्तम गन्धोदककी वृष्टिके द्वारा हर्षको धारण करती हुई पृथिवी तत्कालमें उत्पन्न धानरूपी सम्पत्तिके छलसे बड़े-बड़े रोमाञ्च धारण कर रही थी ॥६०॥ निरन्तर कामदेवकी युद्धलीलामें सहायता देनेसे जिसका अपना अपराध प्रकट है ऐसा ऋतुओंका समूह डरसे ही मानो दुष्ट कामदेवके शत्रुस्वरूप इन भगवान्‌की सेवा कर रहा था

१. शुक्लं घ० म० । २ पाप म० घ० ।

भाषाभेदैस्तैश्चतुर्भिश्चतुर्धा ससारस्यापारदुःखा प्रवृत्तिम् ।
वक्तु चातुर्वर्ण्यसघस्य हेतोर्मन्ये देवोऽसौ चतुर्वक्त्र आसीत् ॥६२॥
तस्य क्षीणासातवेद्योदयत्वान्नाभूद्भुक्तिर्नोपसर्गः कदाचित् ।
नि.स्पन्दाया ज्ञानदृष्टेरिवापुः पक्ष्मस्पन्द स्पर्धया नेक्षणानि ॥६३॥

नोऽपराधो राजद्विष्ट येन तथाविधम् ॥६१॥ भाषेति—चतसृभिर्भाषाभि ससारस्वरूप व्याख्यातु चतुर्वर्णसघनिमित्त प्रभुश्चतुर्वक्त्र आसीत् । तथाचोक्तम्—'देवा दैवीं नरा नारीं शबराश्चापि शाबरीम् । तिर्यञ्चोऽपि हि तैरश्ची मेनिरे भगवद्गिरम्' ॥६२॥ तस्येति—तस्य प्रभोर्नष्टाशुभवेदनीयस्य बुभुक्षाविनाशो बभूव, दुर्जनकृतोपसर्गाभावश्च, नयनानि च निमेषोन्मेषवर्जितानि । अतश्च ज्ञायन्ते निश्चयज्ञानलोचनस्येवानुकार कुर्वन्ति । ननु भवतु नाम नयननिश्चलतादिप्रभावातिशयो भगवतो यत्तु भुक्तिरपि नास्तीति निवेदित तन्न युक्तमुत्पश्याम । 'आ सयोगकेवलिन आहारिणो जीवा' इति सिद्धान्तवचनात् । अशरीरिण सिद्धा एवानाहारिणो न सशरीरा सर्वज्ञास्तीर्थकरादय । सत्यमेवमुक्तम् । ननु सकलविमलकेवलज्ञानमुपगतस्य भगवत आहारमात्र कल्प्यते कवलाहारो वा । प्रथमपक्षे कर्मनोकर्माहारग्रहणमात्रेण सिद्धसाध्यता । द्वितीयपक्षेऽपि क्षुत्सभवाभावान्न प्रादुर्भवतीति । देहस्थितेरन्यथानुपपत्तेरिति चेत् । देवदेहस्थित्या व्यभिचारदर्शनात् । तथाहि देवानामन्नकवलकवलनकलनामन्तरेणापि दृश्यते तादृक्कायकान्तिकलापकौतुकम् । मानसिकाहारस्तेषामिति चेत् । तर्हि भगवतोऽपि कर्मनोकर्माहार प्रागेव प्रोक्त अस्ति । अथ मनुष्यत्वात्कवलाहारेणैव भाव्यमस्मदादिशरीरवदिति चेत् । तर्हि युष्मदादिदेहवत् भगवत शरीरेऽपि स्वेदादिदोषप्रादुर्भूति किं न स्यात् । अतिशयित्वात्स्वेदादिदोषाणामभाव इति चेत् । तर्हि एषोऽपि अनाहारतालक्षणातिशय एव । किंचास्मदादौ दृष्टाना धर्माणा भगवत कल्पने सर्वज्ञत्वहानिप्रसङ्ग एव । तथाहि भगवतो ज्ञान स्तोकविषयमस्मदादिज्ञानवत् । अथ मनुष्यत्वाविशेषेऽपि भगवतो ज्ञानातिशयस्तर्हि भोजनाभावातिशयोऽपि स्यादेव । अथ वेदनीयसद्भावात्क्षुत्पीडाया कवलाहारेणैव भाव्यमिति चेत् । तदप्ययुक्तम्, मोहनीयकर्मसहायस्यैवासद्वेदनीयस्य क्षुदादिपीडाकरणसामर्थ्यात् । भोक्तुमिच्छा हि बुभुक्षा, सा च विघातितमोहे भगवति न स्यात् । तथा चोक्तम्—'वाञ्छा हि मोहनीय कर्मेति । अन्यथा स्रग्वनितावपि स्पृहा स्यात् तथा च सति वीतरागता न स्यात् । विपक्षभावनावशात् मोहादीना क्षयातिशयदर्शनात् । केवलिनि तत्परमप्रकर्षे सिद्धे वीतरागतासभवे भोजनाभावपरमप्रकर्षोऽपि किं न सबोभवीति । तद्भावनातो भोजनादावपि ह्रान्यतिशयदर्शनाविशेषात् । तथाहि, एकस्मिन्दिने योऽनेकशो भुङ्क्ते [विपक्षभावनावशात्स एव पुनरेकवार भुङ्क्ते] कश्चित्पुनस्तेनैव प्रकारेण एकदिनान्तरितभोजन , अन्य पुन पक्षमाससवत्सराद्यन्तरितभोजन इति । किंच बुभुक्षानलप्रशान्तिर्भोजनरसास्वादनाद् भवेत् तदास्वादनानुभवो हि नाम भगवतो रसनेन्द्रियात् केवलज्ञानाद्वा । रसनेन्द्रियाच्चेत् । तदिन्द्रियज ज्ञान न केवलज्ञानमिति । केवलज्ञानानुभवने च किं भोजनेन । सर्वदा सर्वत्र स्थितस्य सर्वरसस्य परिस्फुटानुभवनात् तेनैव सिद्धसाध्यता । कथ चास्य केवलज्ञानसभव , श्रेणीत पतितत्वेन प्रमत्तगुणस्थानवर्तित्वात् । अप्रमत्तो हि साधुराहारकथामात्रेण प्रमत्तो भवेन्नार्हन् भुञ्जानोऽपीति कौतुकम् । अत्र जाठरानलज्वालादन्दह्यमानास्थिकुटीरकस्य कथमनन्तचतुष्टयी । प्रक्षीणसुखत्वादीषत्प्रणष्टवीर्यत्वाच्च । अत्र क्षुधा तस्य पीडाकरी न भवतीति वाच्यम् 'क्षुधासमा नास्ति शरीरवेदना' इति वचनात् । अनेकवधवध्यमाननारकादिशरीरसचारिरुधिराद्यशुचिद्रव्याणि करतलकलितमुक्ताफलवत्पश्यन् कथ नाम भुञ्जीत । अन्तरायप्रसङ्गात् । बीभत्सुभावेन करुणारसेन च व्याकुलिता अल्पसत्त्वा अपि अन्तराय कुर्वन्ति । स न करोतीति चेत् । अल्पसत्त्वेभ्योऽपि अल्पसत्त्वताप्रसङ्ग । अथ नाम केवली भिक्षार्थं गृह गृह प्रतिव्रजति तदा एक गृहे वा। प्रथमपक्षे केवलज्ञानाभावो

॥६१॥ मैं ऐसा मानता हूँ कि चातुर्वर्ण संघके लिए भाषाओंके चार भेदोंके द्वारा चार प्रकारसे संसारकी अपरिमित दुःखदशाका वर्णन करनेके लिए ही मानो श्री धर्मनाथ देव चतुर्मुख हुए थे ॥६२॥ असातावेदनीयका तीव्र उदय नष्ट हो जानेसे न उनके कवलाहार था, न कभी कोई उपसर्ग था, निश्चल ज्ञान दृष्टिकी ईर्ष्यासे ही मानो उनके नेत्र पलकोंके संचारको प्राप्त नहीं

वृद्धिं प्रापुर्नाङ्गजा वा नखा वा तस्यावश्यं योगमुद्रा[1]स्थितस्य ।
का वार्ता वा कर्मणामान्तराणां येषां रेखा नाममात्रावशेषा ॥६४॥

पादन्यासे सर्वतो न्यस्यमानप्रेङ्खत्सद्माम्भोजलीलाशयेव ।
सेवानम्रप्राणिसंचारलक्ष्या पादाभ्यर्णं नास्य लक्ष्मीर्मुमोच ॥६५॥

नो दौर्भिक्ष्यं[2] नेतयो नोपसर्गा नो दारिद्र्यं नोपघातो न रोगाः ।
तन्माहात्म्याद्योजनानां शते द्वे नाभूत्किंचित्क्वापि कर्माप्यनिष्टम् ॥६६॥

नादैर्घण्टासिंहशङ्खानकानां कल्पज्योतिर्भावनव्यन्तरेन्द्राः ।
कर्तुं सेवां ते प्रचेलुर्गुणौघैर्हृत्संलग्नैः कृष्यमाणा इवास्य ॥६७॥

स्वर्गात्तत्रागच्छतामन्तराले रेजे पङ्क्तिः कापि वैमानिकानाम् ।
शुभ्रीकर्तुं कीर्तिसंपत्सुधाभिर्व्योमेवोच्चैर्मञ्चकाध्यासितानाम् ॥६८॥

वृथा बहुगृहपरिभ्रमणात् । द्वितीयपक्षे तु अधोदोषप्रसङ्गः । अथ गणधरानीतं भुङ्क्ते तन्न, परानीतस्याहारस्यानेकदोषसंभवात् । तथा सति निजप्रभुत्वसंभावना सपरिग्रहता च किं नाम । आयुःकर्मदृढतैव शरीरस्थितेः कारणमन्यत्सर्वं व्यामोहविलसितमिति ॥६३॥ वृद्धिमिति—तस्य केवलज्ञानिनोऽङ्गजाः केशा नखाश्च न वर्द्धन्ते स्म परमयोगलीनस्य । अन्येषामन्तरायलक्षणानां कर्मणां का वार्ता येषां नामापि नष्टं यतो हि ज्ञानदर्शनावरणीयमोहनीयान्तरायक्षये केवलज्ञानं समुत्पद्यत इति ॥६४॥ पादेति—दिक्षु विदिक्षु च तदन्तरालेषु अन्तरालानामप्यन्तरालेषु सप्त सप्त कमलानि भवन्ति तेषामुपरि संचरति ततः पादन्यासे कमलानां संख्या शतद्वयं पञ्चविंशत्यधिकम् ततस्तेषु कमलेषु वसन्ती लक्ष्मीः प्रभोः समीपं न तत्याज । कथं ज्ञायत इत्याह—विनयनम्राणां मनुष्याणां संक्रमणेन अकस्मादेव प्रणतसेवकेषु लक्ष्मीस्तेभ्यः कमलेभ्य इव संक्रान्तेति कमलयाननिरूपणम् ॥६५॥ नो इति—तस्य प्रभोर्माहात्म्यात् योजनशतद्वयमध्ये दुर्भिक्षमीतयः उपद्रवादिदारिद्र्यमपमृत्युव्याधयः इत्यन्यदप्यनिष्टं नाभूदित्यर्थः ॥६६॥ नादैरिति—कल्पवासिनः स्वयमेव घण्टानिनादात्, ज्योतिष्काः सिंहनादात्, पातालवासिनः शङ्खध्वानात्, व्यन्तराः पटहशब्दात् केवलज्ञानमुत्पन्नं ज्ञात्वा हृदयस्थितजिनगुणैराकृष्टा इवागत्य सिषेविरे ॥६७॥ स्वर्गादिति—स्वर्गादवतरतां देवानां विमानपङ्क्तिः शुशुभे व्योमाङ्गणं धवलीकर्तुं यशःसुधाभिर्मञ्चपङ्क्तिरिव

थे ॥६३॥ जब कि योगमुद्रामें स्थित भगवान्‌के रोम (केश) और नख भी वृद्धिको प्राप्त नहीं होते थे तब अन्तरङ्गमें स्थित उन कर्मोंकी बात ही क्या थी जिनकी कि रेखा नाममात्र की शेष रह गयी थी ॥६४॥ सेवासे नम्रीभूत प्राणियोंके पास जाना ही जिसका लक्ष्य है ऐसी लक्ष्मी चरण न्यासके समय सब ओर रखे जानेवाले चंचल कमलरूपी निवासगृहकी आशासे ही मानो इनके चरणोंकी समीपताको नहीं छोड़ती थी ॥६५॥ उनके माहात्म्यसे दो सौ योजन तक न दुर्भिक्ष था, न ईतियाँ थीं, न उपसर्ग थे, न दरिद्रता थी, न बाधा थी, न रोग थे और न कहीं कोई अनिष्ट कार्य ही था ॥६६॥ घण्टा, सिंह, शंख और भेरियोंके शब्दोंसे कल्पवासी, ज्योतिष्क, भवनवासी और व्यन्तरोंके इन्द्र हृदयमें लगे हुए इनके गुणोंके समूहसे खिंचे हुए के समान इनकी सेवा करनेके लिए चल पड़े ॥६७॥ उस समय स्वर्गसे आनेवाले वैमानिक देवोंकी कोई पंक्ति बीचमें ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो ऊँचे मंचपर बैठे हुए देवोंकी कीर्तिरूपी सम्पत्ति सुधा—चूनाके द्वारा आकाशको सफेद करनेके लिए ही आ रही

---

१ योगनिद्रा म० घ० । २ दौर्भिक्ष म० घ० ।

तस्मिन्काले ता सभा धर्मनाथस्येन्द्रादेशाद्व्योम्नि चक्रे कुबेर ।
यस्या नानारत्नमय्या प्रमाणं पञ्च प्राहुर्योजनान्यागमज्ञाः ॥६९॥

नेदीयस्या प्रेयसा विप्रलम्भव्याख्यादक्षा तेन वेणी विमोच्य ।
धूलीसाल[1]च्छद्मना पार्श्वतोऽस्या क्षिप्तं मुद्राकङ्कणं मुक्तिलक्ष्म्या ॥७०॥

ते प्रत्याश वायुवेल्लद्ध्वजाग्रा मानस्तम्भास्तत्र चत्वार आसन् ।
क्रोधादीना ये चतुर्णा निरासे ससल्लक्ष्म्यास्तर्जनीकार्यमीयुः ॥७१॥

तत्पर्यन्ते रत्नसोपानरम्या वाप्यो रेजुस्ताश्चतस्रश्चतस्र ।
प्रौढेनार्हत्तेजसा यत्र रात्रौ कोक शोक नाप कान्तावियोगात् ॥७२॥

आस्य तस्याः सालकान्त दधत्या शोभामङ्गे ससदः स्वा दिदृक्षो ।
तच्चत्वारि स्फाटिकस्वच्छनीराण्यापुर्लीलादर्पणत्व सरासि ॥७३॥

देवै कृता ॥६८॥ तस्मिन्निति—तदा सौधर्मादेशाद्धनदेन धनुषा पञ्चविंशतिसहस्रोत्सेध [पञ्चसहस्रोत्सेध] गगन व्याप्य पञ्चयोजनविस्तार समवसरण विदधे ॥६९॥ [2][नेदीयस्येति—नेदीयस्या अतिनिकटवर्तिन्या मुक्तिरेव लक्ष्मीस्तया मुक्तिश्रिया तेन पूर्वोक्तेन प्रेयसा वल्लभेन धर्मनाथेन भगवता सह विप्रलम्भस्य विरहस्य व्याख्याया प्रकटीकरणे दक्षा समर्था वेणी विमोच्य धूलीसालच्छद्मना धूलीप्राकारकपटेन अस्या धर्मसभाया पार्श्वत समीपे मुद्राकङ्कण नामाङ्कितकरवलय क्षिप्त मुक्तम् ॥७०॥] त इति—ते मानस्तम्भा माननिराकरणाय स्तम्भा मानस्तम्भा प्रत्याश प्रतिदिश चत्वारो बभूवु । ये क्रोधमानमायालोभादीना त्रासने तर्जन्या अङ्गुल्या कारण गता । यथा बलवतस्तर्जनीदर्शनेन शत्रव पलायन्ते तथा मानस्तम्भदर्शनेन कोपादय प्रणश्यन्ति ॥७१॥ तदिति—मानस्तम्भसमीपेषु चतस्रो रत्नघटितसोपाना वाप्य प्रभान्ति स्म यासु भगवद्भामण्डलतेजसा कोकाश्चक्रवाका रात्रौ कान्ताविरहदु ख नानुभवन्ति ॥७२॥ आस्यमिति—तस्या प्रभुसभायाश्चत्वारस्तडागा दर्पणसादृश्य जग्मु स्फटिकाच्छजला यत । किंविशिष्टाया । निजाङ्गशोभा दृष्टुमिच्छो । पुन किं कुर्वन्त्या । दधत्या आस्य प्रतोली सालकान्त प्राकारमनोहर पक्षे अलकै सह वर्तन्त इति सालकान्तो ललाट-

हो ॥६८॥ उस समय इन्द्रके आदेशसे कुबेरने आकाशमें श्री धर्मनाथ स्वामीकी वह धर्मसभा बनायी थी जो नानारत्नमयी थी और आगमके जानकार जिसका प्रमाण पाँच योजन कहते हैं ॥६९॥ हृदयवल्लभ श्री धर्मनाथ स्वामीके साथ विरहकी व्याख्यामे समर्थ वेणी खोलकर निकटवर्ती मुक्तिरूपी लक्ष्मीने इस धर्मसभाके समीप धूलिसालके छलसे मानो अपना मुद्रांकित कंकण ही डाल रखा था ॥७०॥ वहाँ प्रत्येक दिशामें वायुके द्वारा जिनकी ध्वजाओंके अग्रभाग फहरा रहे हैं ऐसे चार मानस्तम्भ थे जो क्रोधादि चार कषायोंके निराकरणमें सभा लक्ष्मीके तर्जनीके कार्यको प्राप्त थे—तर्जनी अंगुलीके समान जान पडते थे ॥७१॥ उनके समीप रत्नोंकी सीढियोंसे मनोहर वे चार-चार वापिकाएँ सुशोभित हो रही थीं जिनमे कि रात्रिके समय अर्हन्त भगवान्के प्रौढ तेजके द्वारा चकवा स्त्रीके वियोगसे शोकको प्राप्त नहीं होता था ॥७२॥ जिनमे स्फटिकके समान स्वच्छ जल भरा हुआ है ऐसे चार सरोवर सालकान्त-प्राकारसे सुन्दर [पक्षमे अलकोंके अन्तभागसे सहित] मुखको धारण करनेवाली एवं अपनी शरीर गत शोभाको देखनेके लिए इच्छुक उस धर्मसभाकी लीला, दर्पणताको प्राप्त हो रहे थे

१ जाल म० घ० । २ कोष्ठकान्तर्गत पाठ सपादकस्य ।

मन्दान्दोलद्वातलीलाचलोर्मिस्तेभ्योऽप्यग्रे खातिका तोयपूर्णा ।
जैनव्याख्याज्ञातससारदु खत्रस्यन्निष्क्रान्ताहिगर्भेव रेजे ॥७४॥
अन्तर्लीनैकैकनिष्कम्पभृङ्गप्रेङ्खत्पुष्पा पुष्पवाटी तदूर्ध्वम् ।
दत्ताश्चर्यां भूत्रयस्यापि भर्तुर्द्रष्टुं लक्ष्मी स्फारिताक्षीव रेजे ॥७५॥
साल शृङ्गालम्बिनक्षत्रमालस्तस्याः प्रान्ते नायमासीद्विशाल ।
भ्रष्ट किं तु प्रोतरत्नं तदानीमिन्द्रक्षोभात्कुण्डलं स्वर्गलक्ष्म्याः ॥७६॥
भृङ्गाराद्यैर्मङ्गलद्रव्यवृन्दै शङ्खध्वानै सुप्रधानैर्निधानैः ।
द्वारे द्वारे निस्पृहस्यापि भर्तुर्विश्वैश्वर्यं व्यज्यते स्म प्रभूतैः ॥७७॥
तस्यैवोच्चैर्गोपुराणा चतुर्णामन्तर्द्वे द्वे रेजतुर्नाट्यशाले ।
यत्रावर्ण शासन मीनकेतोरेणाक्षीणा लास्यमासीज्जनेषु ॥७८॥
द्वौ द्वौ मार्गे धूपकुम्भावभूता यद्वक्त्रेभ्यो निर्गता धूमराजिः ।
मुक्त्वा देह ज्ञातुरभ्रे भ्रमन्ती भर्तुः कर्मश्यामिकेवावभासे ॥७९॥

भागो यस्य तथाविधम् ॥७३॥ मन्देति—मन्दवातचञ्चलकल्लोलास्तडागाग्रे खातिका जलपूर्णा शोभते स्म जिनव्याख्याने ज्ञातससारदु खा विभ्यतो निष्क्रान्ता ये सर्पास्तैर्गर्भितेव व्याकुलेव । कल्लोलाना सर्पाणा चोपमानोपमेयभाव ॥७४॥ अन्तरिति—[1][तस्या खातिकाया ऊर्ध्वमग्रे पुष्पवाटी रेजे । कथभूता । अन्तर्मध्ये लीन स्थित एकैको निष्कम्प सौगन्ध्यपानतृप्तत्वेन निश्चलो भृङ्गो भ्रमरो येषु तथाविधानि प्रेङ्खन्ति सचलन्ति पुष्पाणि यस्या सा । कथमिवेत्याह भूत्रयस्यापि लोकत्रयस्यापि] दत्ताश्चर्यां जिनलक्ष्मी द्रष्टु विकसितलोचनेव । अत्र पुष्पवाटीस्त्रियो पुष्पनयनयोर्भ्रमरकनीनिकयोश्चोपमानोपमेयभाव ॥७५॥ साल इति—तथा पुष्पवाटिकानन्तर कपिशीर्षकोपविष्टमहारत्नप्राकार इन्द्रक्षोभाकुलितस्वर्गलक्ष्मीकङ्कणसदृश ॥७६॥ भृङ्गाराद्यैरिति—भृङ्गारतालवृन्तकलशध्वजसुप्रतीकश्वेतातपत्रवरदर्पणचामरलक्षणै प्रत्येकमष्टोत्तरशतसख्यैर्मङ्गलद्रव्यै शङ्खशब्दितैश्च प्रधानैरनन्यसाधारणैर्नवनिधिभि पद्मकालमहाकालसर्वरत्नपाण्डुकनैसर्पमाणवदक्षिणावर्तशङ्खपिङ्गललक्षणैर्द्वारे द्वारे तस्य प्रभो परमनि स्पृहस्यापि त्रैलोक्यैश्वर्यमेतै प्रकटीबभूव ॥७७॥ तस्येति—यस्य प्रतोलीचतुष्टयस्य द्वे द्वे नाट्यशाले शुशुभाते यत्र निरक्षर कामनृपशासन मृगाक्षीणा नृत्यमेव बभूव ॥७८॥ द्वाविति—प्रतिद्वार धूपघटौ

॥७३॥ उनसे आगे चलकर जलसे भरी हुई वह परिखा थी जिसमें कि मन्द-मन्द चलनेवाली वायुसे चचल तरंगें उठ रही थीं और उनसे जो ऐसी जान पडती थी मानो जिनेन्द्र भगवान्के व्याख्यानसे विदित संसारके दुःखसे डरकर बाहर निकले हुए सर्प ही उसके मध्यमें आ मिले हों ॥७४॥ उसके आगे चलकर वह पुष्पवाटिका थी जिसके कि कुछ-कुछ हिलते हुए फूलोंके भीतर एक-एक निश्चल भौंरा बैठा हुआ था और उनसे जो ऐसी जान पडती थी मानो लोकत्रयको आश्चर्य देनेवाली श्री जिनेन्द्र देवकी लक्ष्मीको देखनेके लिए उसने नेत्र ही खोल रखे हों ॥७५॥ उस समवसरण सभाके समीप नक्षत्रमाला जिसके शिखरोंका आलम्बन कर रही है ऐसा यह विशाल कोट नहीं था किन्तु उस समय इन्द्रके क्षोभसे गिरा हुआ स्वर्गलक्ष्मीका रत्नखचित कुण्डल था ॥७६॥ यद्यपि भगवान् निःस्पृह थे फिर भी प्रत्येक द्वारपर रखे हुए भृंगार आदि मंगल द्रव्योंके समूहसे, शखध्वनिसे और उत्तमोत्तम निधियोंसे उनका समस्त ऐश्वर्य प्रकट हो रहा था ॥७७॥ उस प्रकारके ऊँचे चारों गोपुरोंकी दोनों ओर दो-दो नाट्यशालाएँ सुशोभित हो रही थीं जिनमें कि मृगनयनी स्त्रियोंका वह नृत्य हो रहा था जो कि मनुष्योंके ऊपर कामदेवका निरक्षर शासन था ॥७८॥ प्रत्येक मार्गमें दो-दो

१ कोष्ठकान्तर्गत पाठ सपादकस्य ।

कृत्वा रूप दशपोतप्रमाण भीत्या कोणे क्वापि लोके स्थितस्य ।
पापस्येवोत्सारणार्थं सुगन्धो धूमस्तस्मिन्धूपजन्मोज्जजृम्भे ॥८०॥

क्रीडोद्यानान्यत्र चत्वारि ताभ्यामासन्नूद्र्ध्वप्रोल्लसत्पल्लवानि ।
इन्द्रोद्यान तच्चतुर्यागवृक्षव्याजाज्जेतु यैरुदस्ताः स्वहस्ता ॥८१॥

प्रेङ्खद्दोलासीनसेव्याम्बुधारैर्धारायन्त्रैस्तैर्लतामण्डपैश्च ।
स्वैर क्रीडल्लोकचित्तेक्षणैणास्तेऽप्यारेजु काञ्चना[1] क्रीडशैला ॥८२॥

नानारत्नस्तम्भशोभैरथासीत्सालकारा तोरणै स्वर्णवेदी ।
रात्रावन्तर्बिम्बितेन्दुग्रहोच्चैरास्थानीव श्रेयसो या विरेजे ॥८३॥

ऊद्ध्वं तस्यास्तार्क्ष्यहसोक्षमुख्या दिक्सख्यातास्ता बभुर्वैजयन्त्यः ।
यासु व्योमोद्वेल्लनाकृष्टगङ्गा भ्रान्ति चक्रुः स्यूतमुक्ताफलाभा ॥८४॥

कर्णाकार गोपुराणा चतुष्क बिभ्रत्सालस्तत्पर काञ्चनोऽन्य ।
धर्मव्याख्यामार्हतो श्रोतुमिच्छन्मन्ये मेरु कुण्डलीभूय तस्थौ ॥८५॥

बभूवतुः । यद्वक्त्रनिर्गता धूमराजिर्गगने प्रभुशरीरनिर्गता कर्मकालिकेव रेजे ॥७९॥ कृत्वेति—दशमशकरूप विधायेव कस्मिंश्चित् कोणे स्थितस्य कलमषस्य निर्घाटनार्थं धूपोद्भव सुगन्धधूमो भुवन व्यानशे ॥८०॥ क्रीडोद्यानेति—ततोऽनन्तर चत्वारि क्रीडोद्यानानि यैः स्वर्गवन जेतु यागवृक्षव्याजेन हस्ता इवोद्र्ध्वीकृता ॥८१॥ प्रेङ्खदिति—ततोऽनन्तर स्वर्णमयक्रीडापर्वता शुशुभिरे । किंविशिष्टा । उपलक्षिता । कैः । धारायन्त्रैर्दोलारूढमिथुनसेव्यसलिलधारैर्वल्लीवितानमण्डपैश्च । पुन किंभूता । स्वैर विसरज्जनमनोनयनमृगा ॥८२॥ नानेति—अनेकरत्नघटितस्तम्भलक्ष्मीकैः अथानन्तर सालकारैस्तोरणैर्विराजिता हेमवेदिका या नक्त प्रतिबिम्बितचन्द्रादिग्रहा पुण्यसभेव । शुभ्र चन्द्रादिप्रतिविम्ब पुण्यस्थानीयम् ॥८३॥ ऊद्र्ध्वमिति—तस्या वेदिकाया उपरितनभूमिकाया मालासिंहपद्मवस्त्रगरुडहस्तिवृषभचक्रमयूरहसवेषधारिण्यो ध्वजपङ्क्तय शुशुभिरे यासु व्योमवेल्लनसमाकृष्टगङ्गाभ्रान्ति स्थूलमुक्ताफलकिरणजालानि कुर्वन्ति ॥८४॥ कर्णाकारमिति—तत

धूपघट थे जिनके कि मुखोंसे निकली हुई धूमपक्ति ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो ज्ञानवान् भगवान्का शरीर छोड आकाशमे घूमती हुई कर्मोंकी कालिमा ही हो ॥७९॥ वहाँ जो धूपसे उत्पन्न हुआ धुआँ फल रहा था वह ऐसा जान पडता था मानो मच्छरके बच्चेके बराबर रूप बनाकर भयसे लोकके किसी कोनेमे स्थित पापके हटानेके लिए ही फैल रहा था ॥८०॥ तदनन्तर जिनके बहुत ऊँचे पल्लव लहलहा रहे हैं ऐसे वे चार क्रीडावन थे जिन्होंने कि चार चैत्य वृक्षोंके बहाने इन्द्रका उपवन जीतनेके लिए मानो अपने-अपने हाथ ही ऊपर उठा रखे थे ॥८१॥ उन उद्यानोंमे वे सुवर्णमय क्रीडापर्वत भी सुशोभित हो रहे थे जिनके कि चंचल दोलाओं पर आसीन स्त्री-पुरुषोंके द्वारा सेवनीय जलधारासे युक्त धारायन्त्रों और लतामण्डपोंसे मनुष्योंके मन और नेत्र रूपी मृग स्वच्छन्दता पूर्वक क्रीडा कर रहे थे ॥८२॥ तदनन्तर अनेक रत्नमय स्तम्भोंसे सुसज्जित तोरणोंसे अलकृत वह स्वर्णमय वेदी थी जो कि रात्रिके समय चन्द्रमा आदि ग्रहोंके भीतर प्रतिबिम्बित हो जाने पर कल्याणकी भूमि—पुण्यभूमिके समान सुशोभित हो रही थी ॥८३॥ उसके ऊपर गरुड, हंस और वृषभ आदिके मुख्य चिह्नोंसे युक्त वे दश पताकाएँ सुशोभित हो रही थीं जिनमे कि लगे हुए मुक्ताफलोंकी आभा आकाश मे सचलनसे खींची हुई गगाकी भ्रान्ति कर रही थीं ॥८४॥ तदनन्तर कर्णाकार चार गोपुरोंको धारण करता हुआ सुवर्णमय दूसरा कोट था जो कि ऐसा जान

---

१ काञ्चनाक्रीडशैला म० घ० ।

वाञ्छातीतं यच्छतोऽप्यस्य पार्श्वे वाञ्छामात्रत्यागिनः कल्पवृक्षाः।
तस्मिन्नुच्चैस्तस्थुरुद्धृत्य शाखा का वा लज्जा हन्त निश्चेतनानाम् ॥८६॥

ऊर्ध्वं तेभ्योऽभूच्चतुर्गोपुराङ्का विश्वानन्दोज्जीविनी वज्रवेदी।
रेजे पङ्क्तिस्तादृशाना दशाना रत्नज्योतिर्ज्यायसी तोरणानाम् ॥८७॥

स्तूपास्तेषामन्तरन्तर्नवोच्चैस्ते प्रत्येक रेजुरर्थै[1] सनाथाः।
तत्रैवासन्सन्मुनीना मनोज्ञा नानासंसन्मण्डपास्तुङ्गतुङ्गा[2] ॥८८॥

रुद्धक्रूरानङ्गहेतिप्रचारस्तत्प्राकारः स्फाटिकः प्रादुरासीत्।
तस्याप्यन्तश्चन्द्रकान्तप्रतिष्ठाः कोष्ठास्तत्र द्वादशासन्गरिष्ठाः ॥८९॥

वीतग्रन्थाः कल्पनार्योऽप्यथार्या ज्योतिर्भौमाहिस्त्रियो भावनाश्च।
भौमज्योतिः कल्पदेवा मनुष्यास्तिर्यग्यूथान्येषु तस्थुः क्रमेण ॥९०॥

ऊर्ध्वं तेभ्यो वल्लभ लोचनाना स्थान दिव्य गन्धकुट्याख्यमासीत्।
अन्तस्तस्योद्दाममाणिक्यदीप रेजे रम्य काञ्चन सिंहपीठम् ॥९१॥

परं स्वर्णप्राकारं कर्णसदृशप्रतोलीचतुष्टयधारी मेरुरिव धर्मव्याख्या शुश्रूषु कुण्डलीभूय तस्थौ ॥८५॥ वाञ्छेति—ततोऽनन्तरं कल्पितमात्रदायिनः कल्पद्रुमा प्रभो पार्श्वे तस्थु। किंविशिष्टस्य। प्रार्थनास्यधिकं ददानस्यापि। कथं नाम तेऽधिकगुणसमीपे तस्थु। अचेतनत्वान्निर्लज्जा इति ॥८६॥ ऊर्ध्वमिति—ततः ऊर्ध्वं चतुर्द्वारमण्डिता समस्तानन्दकारिका रत्नवेदिका यस्याः तेषां तादृशाना दशसंख्याना रत्नमयतोरणानां श्रेणी शुशुभे ॥८७॥ स्तूपा इति—तन्मध्ये नव नव रत्नस्तूपाः प्रत्येकं भान्ति स्म तत्र च मुनीनामुपवेशनस्थानमण्डपा ॥८८॥ रुद्धेति—तन्मध्ये कामप्रहरणनिवारणः स्फाटिकः प्राकारः। तस्यापि मध्ये चन्द्रकान्तमया सभ्यानामुपवेशनकोष्ठका ॥८९॥ वीतेति—ततः प्रथमकोष्ठे निर्ग्रन्था, द्वितीयकोष्ठे कल्पवासिस्त्रियः, तृतीये व्रतिकाः, चतुर्थे ज्योतिःस्त्रियः, पञ्चमे व्यन्तरस्त्रियः, षष्ठे नागस्त्रियः, सप्तमे फणीन्द्रा भवनवासिनः, अष्टमे व्यन्तराः, नवमे ज्योतिष्काः, दशमे कल्पवासिनः, एकादशे मनुष्याश्चक्रवर्तिमुखाः, द्वादशे च तिर्यञ्च इति क्रमेणोपविश्य धर्मव्याख्या शुश्रुवु ॥९०॥ ऊर्ध्वमिति—कोष्ठकानन्तरं मन्दारादिदेवपुष्पनिर्मिता

पड़ता था मानो अर्हन्त भगवान्‌के धर्मका व्याख्यान सुननेकी इच्छा करता हुआ सुमेरु पर्वत ही कुण्डलाकार होकर स्थित हो गया हो ॥८५॥ यद्यपि भगवान् इच्छासे अधिक देनेवाले थे और कल्पवृक्ष इच्छा प्रमाण ही त्याग करते थे फिर भी खेद है कि वे उनके समीप अपनी ऊँची शाखा तानकर खड़े हुए थे सो ठीक ही है क्योंकि अचेतनोंको क्या लज्जा? ॥८६॥ उनके आगे चार गोपुरोंसे युक्त एवं सबके आनन्दको उज्जीवित करनेवाली वह वज्रमय वेदिका थी जिसमें कि रत्नोंकी ज्योतिसे जगमगाती हुई दश तोरणोंकी पंक्ति सुशोभित हो रही थी ॥८७॥ उन तोरणोंके बीच-बीचमें बहुत ऊँचे-ऊँचे वे नौ स्तूप थे जो कि अनेक पदार्थोंसे सहित थे और जिनपर उत्तमोत्तम मुनियोंके ऊँचे-ऊँचे अनेक मनोहर सभामण्डप थे ॥८८॥ तदनन्तर जिसके आगे दुष्ट कामदेवके शस्त्रोंका प्रचार रुक गया है ऐसा स्फटिकका प्राकार था और उसके भीतर चन्द्रकान्त मणि निर्मित बारह श्रेष्ठ कोठे थे ॥८९॥ इन कोठोंमें क्रमसे निर्ग्रन्थ मुनि, कल्पवासिनी देवियाँ, आर्यिकाएँ, ज्योतिष्कदेवियाँ, व्यन्तरदेवियाँ, भवनवासिनी देवियाँ, व्यन्तर देव, ज्योतिष्क देव, कल्पवासी देव, मनुष्य और तिर्यंचोंके समूह बैठते थे ॥९०॥ उन सबसे ऊपर नेत्रोंके लिए प्रिय गन्धकुटी नामक दिव्य स्थान था और

---

१ -रर्थासनाथा ख० ग० घ० छ० ज० घ० म०। २ तुङ्गभृङ्गा छ० ज०।

रत्नज्योतिर्भासुरे तत्र पीठे तिष्ठन्देवः शुभ्रभामण्डलस्थ ।
क्षीराम्भोधे सिच्यमान पयोभिर्भूयो रेजे काञ्चनाद्राविवोच्चै ॥९२॥

गायन्नादेनेव भृङ्गाङ्गनाना नृत्यल्लोलैः पल्लवानामिवौघै ।
किं ब्रूमोऽन्यत्तस्य वृत्त गुणौघैर्जज्ञे रक्तो यस्य वृक्षोऽप्यशोक ॥९३॥

वृष्टि पौष्पी सा कुतोऽभून्नभस्तः सभाव्यन्ते नात्र पुष्पाणि यस्मात् ।
यद्वा ज्ञात द्रागनङ्गस्य हस्तादर्हद्भीत्या तत्र बाणा निपेतुः ॥९४॥

आविर्भूत यद्भूवद्भूतभावि ज्ञानाकार तुल्यमिन्दुत्रयेण ।
अव्याबाधामातपत्रत्रय तत्तस्यावोचद्भूत्रयैश्वर्यलक्ष्मीम् ॥९५॥

छाया कायस्यास्य सेवोपसर्पद्भास्वच्चक्रेणेव भामण्डलेन ।
क्षिप्ता नान्तश्चेत्कथ तत्प्रपेदे तीव्रा चेतस्तापसपत्प्रशान्तिम् ॥९६॥

रेजे मुक्तिश्रीकटाक्षच्छटाभा पार्श्वे पङ्क्तिश्चामराणा जिनस्य ।
ज्ञानालोके निष्फलानामिवेन्दोर्भासामुच्चैर्दण्डनिर्यन्त्रितानाम् ॥९७॥

गन्धकुटी तन्मध्ये महारत्नघटितहेममय पीठत्रय तस्योपरि रत्नसिंहासनम् ॥९१॥ रत्नेति—तत्र सिंहासनोपविष्ट प्रभु शुभ्रभामण्डलमध्यवर्ती मेरुरिव क्षीराब्धितोयैः पुनरपि सिच्यमान इव ॥९२॥ गायन्निति—भृङ्गस्वरैर्गीत कुर्वन्निव, चञ्चलपल्लवचयैर्नृत्यन्निव रक्ताशोकस्तस्य प्रभो पृष्ठप्रदेशे बभूव। अथ च किं ब्रूम । किं कथयाम । तस्य गुणैरास्ता चेतन अचेतनो द्रुमोऽपि रक्तो बभूव। अशोक सप्रमोद ॥९३॥ वृष्टिरिति—नभस्तलात्पुष्पवृष्टिरभूत् गगने पुष्पाणि न सभाव्यन्ते तत्किमित्याह—अमी जिनेन्द्रभीत्या कम्पमानस्य कामस्य करात् पुष्पबाणाश्च्युता । ते पुष्पवृष्टिभ्रममुत्पादयन्ति ॥९४॥ आविर्भूतमिति—तस्य सुरेन्द्रफणीन्द्रनरेन्द्रधृत श्वेतातपत्रत्रय भूतभविष्यद्वर्तमानज्ञानत्रयसदृशाकार केनाप्यतिपेध्य प्रभोस्त्रिभुवनसाम्राज्यपदलक्ष्मी कथयामास ॥९५॥ छायेति—सेवागतादित्यसहस्रसदृशेन भावलयेन प्रभो शरीरच्छाया बहिस्थिता शरीरमध्ये निक्षिप्ता। अलीकमिति चेत्। कथ सतप्तचेतसि तापसपत्प्रशान्तिरासीत्। प्रभोर्हृदये तापसपत्क्वापि नास्तीति घातिकर्मक्षयजनिश्छायत्वस्योत्प्रेक्षा ॥९६॥ रेज इति—प्रभो समीपे चतु षष्टिचामरश्रेणी सचार्यमाणा शुशुभे मुक्तिश्रीमुक्तकटाक्षपरम्परेव। ज्ञानज्योति प्रकटितपदार्थजाते चन्द्रकिरणकलापाना कृतकार्यत्वात् पङ्क्तिरिव। अतश्च

उसके भीतर उत्तम मणिरूपी दीपकोंसे युक्त सुवर्णमय सुन्दर सिंहासन था ॥९१॥ रत्नोंकी कान्तिसे सुशोभित सिंहासन पर उज्ज्वल भामण्डलके बीच स्थित श्री जिनेन्द्रदेव ऐसे जान पडते थे मानो उन्नत सुमेरु पर्वत पर क्षीरसमुद्रके जलसे पुन. अभिषिक्त हो रहे हों ॥९२॥ उन भगवान्का अन्य वृत्तान्त क्या कहें ? अशोक वृक्ष भी भ्रमरियोंके शब्दसे मानो गान कर रहा था, चंचल पल्लवोंके समूहसे मानो नृत्य कर रहा था और उनके गुणसमूहसे मानो रक्त वर्ण [पक्षमें अनुरागयुक्त] हो गया था ॥९३॥ जब कि आकाशमे पुष्पोंका होना सम्भव नहीं है तब उससे पुष्पवृष्टि कैसे सम्भव थी ? अथवा पता चल गया, अर्हन्त भगवान्के भयसे कामदेवके हाथसे बाण छूट छूट कर गिर रहे थे ॥९४॥ भगवान्के भूत भविष्यत् और वर्तमान पदार्थोंके ज्ञानके आकार चन्द्रत्रयके तुल्य जो छत्रत्रय प्रकट हुआ था वह उनकी त्रिलोक सम्बन्धी निर्बाध लक्ष्मीको प्रकट कर रहा था ॥९५॥ सेवाके लिए आये हुए सूर्यमण्डलके समान भामण्डलके द्वारा यदि भगवान्के शरीरकी छाया अपने भीतर न डाल ली जाती तो वह तीव्र प्रभा मानसिक सताप रूपी सम्पत्तिकी शान्तिको कैसे प्राप्त होती ? ॥९६॥ मुक्तिलक्ष्मीकी कटाक्षपरम्पराके समान आभावाली चमरोंकी पक्ति श्री जिनेन्द्र भगवान्के समीप ऐसी सुशोभित होती थी मानो ज्ञानका प्रकाश फैलने पर निष्फल अतएव ऊँचे दण्डमे

अप्युद्ग्रीवे श्रूयमाणा कुरङ्गै कर्णाभ्यर्णस्फारपीयूपधारा ।
आ गव्यूतिद्वन्द्वमभ्युल्लसन्तो दिव्या भापा कस्य नासीत्सुखाय ॥९८॥
क्वेय लक्ष्मी क्वेदृश नि स्पृहत्व क्वेद ज्ञान क्वास्त्यनौद्धत्यमीदृक् ।
रे रे ब्रूत द्राक्कुतीर्थ्या इतीव ज्ञाने भर्तुर्दुन्दुभिर्व्योम्न्यवादीत् ॥९९॥
लास्योल्लासा वाद्यविद्याविलासा गीतोद्गारा॰ कर्णपीयूषधारा॰ ।
स्थाने स्थाने तत्र ते ते बभूवुश्छायाप्यस्मिन्दुर्लभासीद्यदीया ॥१००॥
इति निरुपमलक्ष्मीरष्टभि प्रातिहार्यै-
रतिशयगुणशाली केवलज्ञानभानु ।
समवसरणमध्ये धर्मतत्त्व विवक्षु
सुरपरिषदि तस्थौ धर्मनाथो जिनेन्द्रः ॥१०१॥

इति महाकविश्रीहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये समुत्पन्न-
केवलज्ञाननाम विंशतितम सर्ग ॥२०॥

निष्कलत्वाद्दण्डनियन्त्रिता ॥९७॥ अपीति—उत्कन्धरैर्मृगै श्रूयमाणा कर्णामृतधारा योजनान्त यावत् प्रसरन्ती देवपशुनरशबराणा सुखहेतवे प्रभोर्दिव्यभापा बभूव ॥९८॥ क्वेति—क्वैतत्त्रिभुवनैश्वर्य क्व च सर्वथा ईदृक्ष नि स्पृहत्व, क्वेद लोकालोकभासक ज्ञान क्व च निरहकारत्वमित्यनायतनेश्वरानाक्षिपन्तीव दुन्दुभिर्जगर्ज ॥९९॥ लास्येति—सोल्लासा नृत्यप्रयोगा वाद्यकलाढ्यनटनानि मधुरा गीतोद्गाराः स्थाने स्थाने ते ते बभूवु येपा त्रिभुवने छायापि दुर्लभा ॥१००॥ इतीति—इत्यष्टभि प्रातिहार्यैर्निरुपमलक्ष्मीको दशभि सहजैर्दशभि-र्घातिक्षयजैश्चतुर्दशभिर्देवोपनीतैरेव चतुस्त्रिंशत्सख्यैरतिशयै शोभमान समवसरणमध्ये तत्त्व व्याख्यातुकामो धर्मनाथ केवलज्ञानादित्य स्थितवान् ॥१०१॥

इति श्रीमण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयश.कीर्तिविरचिताया
सदेहध्वान्तदीपिकाया धर्मशर्माभ्युदयटीकाया विंश सर्ग ॥२०॥

नियन्त्रित चन्द्रमाकी किरणोंकी पंक्ति ही हो ॥९७॥ जिसे मृग ग्रीवा उठा उठाकर सुन रहे थे, जो कानोंके समीप अमृतकी विशाल धाराके समान थी और जो चार कोश तक फैल रही थी ऐसी दिव्यध्वनि किसके सुखके लिए नहीं थी ? ॥९८॥ भगवज्जिनेन्द्रको केवलज्ञान होने पर आकाशमे बजती हुई दुन्दुभि मानो यही कह रही थी कि रे रे कुतीर्थो ! जरा कहो तो यह लक्ष्मी कहाँ ? और ऐसी निःस्पृहता कहाँ ? यह ज्ञान कहाँ ? और यह अनुद्धतता—नम्रता कहाँ ? ॥९९॥ वहाँ स्थान-स्थान पर नृत्यको उल्लासित करनेवाले वे वे वाद्यविद्याके विलास और कानोंमे अमृतधाराका काम करनेवाले वे वे संगीत हो रहे थे जिनकी कि यहाँ छाया भी दुर्लभ है ॥१००॥ इस प्रकार आठ प्रातिहार्योंसे सुशोभित चौंतीस अतिशय रूप गुणोंसे अलंकृत, केवलज्ञान रूपी सूर्यसे युक्त एवं धर्मतत्त्वको कहनेके इच्छुक श्री धर्मनाथ जिनेन्द्र समवसरणके मध्य देवसभामे विराजमान हुए ॥१०१॥

इस प्रकार महाकवि श्री हरिचन्द्र द्वारा विरचित धर्मशर्माभ्युदय
महाकाव्यमें केवलज्ञानकी उत्पत्तिका वर्णन करनेवाला
बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२०॥

एकविंशः सर्गः

तत्त्वं जगत्त्रयस्यापि बोधाय त्रिजगद्गुरुम् । तमापृच्छदथातुच्छज्ञानपण्यापण गणी ॥१॥

ततो भूतभवद्भाविपदार्थव्यक्तिसाक्षिणी । नि शेषदोषनिर्मुक्ता त्यक्तमिथ्यापथस्थितिः ॥२॥

विपक्षगर्वसर्वस्वदूरोच्चाटनडिण्डिम[1] । अपारपापसभारभूधरोपद्रवाशनि ॥३॥

स्याद्वादवादसाम्राज्यप्रतिष्ठाप्रणवस्थितिः[2] । अतुल्यधर्ममल्लोरुकरास्फोटस्फुटाकृति ॥४॥

भ्रूविभ्रमकरन्यासश्वासौष्ठस्पन्दवर्जिता । वर्णविन्यासशून्यापि वस्तुबोधविधायिनी ॥५॥

पृथक्पृथगभिप्रायवचसामपि देहिनाम् । तुल्यमेकाप्यनेकेषा स्पष्टमिष्टार्थसाधिका ॥६॥

सर्वाद्भुतमयी सृष्टि सुधावृष्टिश्च कर्णयो । प्रावर्तत ततो वाणी सर्वविद्येश्वराद्विभोः ॥७॥

[कुलकम्]

जीवाजीवास्रवा बन्धसवरावपि निर्जरा । मोक्षश्चेतीह तत्त्वानि सप्त स्युर्जिनशासने ॥८॥

तत्त्वमिति—अथानन्तर गणधर केवलिन वस्तुस्वरूप सकलबोधाय शुद्धानन्तज्ञानक्रय्याणा विपणि पप्रच्छ ॥१॥ तत इति—ततो भूतभविष्यद्वर्तमानपदार्थप्रकाशसाक्षिणी रागद्वेषादिदोषमुक्ता यथावद्वस्तुप्रकाशिका भगवतो भाषा प्रावर्त्ततेति सप्तभि संबन्ध ॥२॥ विपक्षेति—परवादिगर्वसर्वस्वदूरनिर्घाटनपटहध्वनि पापपर्वतवज्रदण्ड ॥३॥ [3][स्याद्वादेति—पुन कथभूता दिव्यभाषेत्याह—स्याद्वादवादोऽनेकान्तवाद एव साम्राज्य तस्य प्रतिष्ठाया प्रणवस्येव ओङ्कारस्येव स्थितिर्यस्यास्तथाविधा । पुनश्च किंभूता । अतुल्या अनुपमा ये धर्ममल्लास्तेषामूरुषु सक्थिषु करास्फोट इव हस्ततलाहतिरिव स्फुटा आकृतिर्यस्यास्तथाभूता] ॥४॥ भ्रूविभ्रमेति—भ्रूविभ्रमकराभिनयश्वासाकुलता ओष्ठस्पन्दादिदोषवर्जिता निरक्षरव्यक्तिरपि वस्तुस्वरूपप्रतिपादिनी ॥५॥ पृथगिति—पृथक्पृथगभिप्रायवचसा परस्परभिन्नाभिप्रायवचनानामपि प्राणिना सम सर्वभाषया परिणमन्ती सर्वेषा च हृदि स्थित सदेह निराकुर्वती ॥६॥ सर्वेति—सर्वाश्चर्यमयी सृष्टि कर्णपीयूषवर्षस्तदा सर्वज्ञात्सर्वर्द्धि-

---

तदनन्तर गणधरने अतुच्छ ज्ञान रूप विक्रेय वस्तुओंके बाजार रूप त्रिजगद्गुरु भगवान् धर्मनाथसे जगत्त्रयका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए तत्त्वका स्वरूप पूछा ॥१॥ तत्पश्चात् समस्त विद्याओंके अधिपति भगवान्से दिव्यध्वनि प्रकट हुई । वह दिव्यध्वनि भूत वर्तमान और भविष्यत् पदार्थोंका साक्षात् करनेवाली थी, समस्त दोषोंसे रहित थी और मिथ्यामार्गकी स्थितिको छोडनेवाली थी ॥२॥ प्रतिपक्षी—प्रतिवादियोंके गर्वको दूरसे ही नष्ट करनेके लिए वज्र तुल्य थी और अपार पाप रूपी पर्वतोंको नष्ट करनेके लिए वज्र तुल्य थी ॥३॥ स्याद्वाद सिद्धान्तरूप साम्राज्यकी प्रतिष्ठा बढानेवाली थी और धर्म रूपी अनुपम मल्लकी ताल ठोकनेके शब्दके समान थी ॥४॥ भौहोंका विलास, हाथका सचार, श्वास तथा ओठोंके हलन-चलनसे रहित थी । अक्षरोंके विन्याससे रहित होकर भी वस्तु ज्ञानको उत्पन्न करनेवाली थी ॥५॥ स्वयं एक रूप होकर भी भिन्न-भिन्न अभिप्राय और भिन्न-भिन्न वचनवाले अनेक प्राणियोंके इष्ट अर्थको एक साथ स्पष्ट रूपसे सिद्ध करनेवाली थी ॥६॥ समस्त

---

१ पाद घ० म० । २ प्रसवश्रुति घ० म० । ३ कोष्ठकान्तर्गत पाठ सपादकस्य ।

बन्धान्तर्भाविनो· पुण्यपापयो पृथगुक्तित । पदार्था नव जायन्ते तान्येव भुवनत्रये ॥९॥
अमूर्तश्चेतनाचिह्न· कर्ता भोक्ता तनुप्रम । ऊर्द्ध्वगामी स्मृतो जीवः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः ।१०।
सिद्धससारिभेदेन द्विप्रकारः स कीर्तित· । नरकादिगतेर्भेदात् ससारी स्याच्चतुर्विध· ॥११॥
नारक सप्तधा सप्तपृथ्वीभेदेन भिद्यते । अधिकाधिकसक्लेशप्रमाणायुर्विशेषत ॥१२॥
रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमःप्रभा । महातम प्रभा चेति सप्तैता श्वभ्रभूमयः ॥१३॥
तत्राद्या त्रिंशता लक्षैर्बिलानामतिभीषणा । द्वितीया पञ्चविंशत्या तृतीया च तिथिप्रमै· ॥१४॥
चतुर्थी दशभिर्युक्ता पञ्चमी त्रिभिरुल्बणे । षष्ठी पञ्चोनलक्षेण सप्तमी पञ्चभिर्बिलै· ॥१५॥
एव नरकलक्षाणामशीतिश्चतुरुत्तरा । विज्ञेया तासु दु खाना न सख्या निपुणैरपि ॥१६॥
षडङ्गुलास्त्रयो हस्ताः सप्त चापानि विग्रहे । इयत्येव प्रमा ज्ञेया प्राणिना प्रथमक्षितौ ॥१७॥

मागधीभाषा प्रवृत्ता । षड्भि कुलकम् ॥७॥ जीवेति—जैनमतेन सप्त तत्त्वानि । कानि तानीत्याह—जीवो ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षण, अजीव पुद्गलधर्माधर्माकाशकाललक्षण, आस्रव कर्मागमद्वारम्, जीवकर्मणोः परस्परप्रदेशानुप्रवेशेनैकीभावो बन्ध, आस्रवच्छुभाशुभकर्मनिरोध सवर, कर्मप्रदेशप्रक्षरण निर्जरा, सर्वकर्मक्षयादात्मनो निजस्वरूपोपलब्धिर्मोक्ष इति ॥८॥ बन्धेति—बन्धतत्त्वमध्यस्थयो पुण्यपापयो पृथक्कथनेन तान्येव सप्त तत्त्वानि पुण्यपापाभ्या सहितानि नव पदार्था स्यु ॥९॥ अमूर्तेति—अमूर्तोऽनिन्द्रियपरिच्छेद्य, चेतनाचिह्नो ज्ञानलक्षण, कर्ता सक्रिय, भोक्ता अनुभवनशील, तनुप्रम देहप्रमाण, ऊर्द्ध्वगामी सहजोर्द्ध्वगमनशील, स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मक उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप ॥१०॥ सिद्धेति—जीवा द्विभेदा· ससारिण सिद्धाश्च । ससारिणश्चतुर्भेदा नारकास्तिर्यञ्चो मनुष्या देवाश्च ॥११॥ नारक इति—नारका अपि सप्तपृथ्वीभेदेन सप्तभेदा । कस्तेषा भेद इत्याह—अधोऽध पृथिवीषु वरीवृद्धयमानाधिकाधिकक्रोधपरीमाणशरीरोत्सेधजीवितवृद्धिविशेषात्तेषा भेद ॥१२॥ रत्नेति—प्रथमनरकपृथ्वी रत्नप्रभानाम्नी, द्वितीया शर्कराप्रभा, तृतीया बालुकाप्रभा, चतुर्थी पङ्कप्रभा, पञ्चमी धूम प्रभा, षष्ठी तम प्रभा, सप्तमी महातम प्रभेति नरकभूमय ॥१३॥ तत्रेति—तत्र रत्नप्रभाया भूमौ नारकोत्पत्तिस्थानानि बिलानि त्रिंशल्लक्षाणि, द्वितीयाया पञ्चविंशतिलक्षाणि, तृतीयस्या पञ्चदशलक्षाणि ॥१४॥ चतुर्थीति—चतुर्थ्यां दशलक्षाणि, पञ्चम्या त्रीणि लक्षाणि, षष्ठ्या पञ्चभिर्बिलैर्हीन लक्ष सप्तम्या पञ्चैव बिलानि ॥१५॥ एवमिति—एव सप्तनरकसख्या चतुरशीतिलक्षाणि ॥१६॥ षडङ्गुला इति—

आश्चर्यमयी थी और कानोंमे अमृतवर्षा करनेवाली थी ॥७॥ उन्होंने कहा कि जिन शासनमें सात तत्त्व हैं—१ जीव, २ अजीव, ३ आस्रव, ४ बन्ध, ५ संवर, ६ निर्जरा और ७ मोक्ष ॥८॥ बन्ध तत्त्वके अन्तर्भूत होनेवाले पुण्य और पापका यदि पृथक् कथन किया जावे तो वही सात तत्त्व पुण्य और पापके साथ मिलकर लोकत्रयमें नव पदार्थ हो जाते हैं ॥९॥ उनमे से जीव तत्त्व अमूर्तिक है, चेतना लक्षणसे सहित है, कर्ता है, भोक्ता है, शरीर प्रमाण है, ऊर्ध्वगामी है और उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य रूप है ॥१०॥ सिद्ध और ससारीके भेदसे वह दो प्रकारका कहा गया है। नरकादि गतियोंके भेदसे संसारी जीव चार प्रकारका है ॥११॥ सात पृथिवियोंके भेदसे नारकी जीव सात प्रकारके हैं और उनमे अधिक अधिक सक्लेश शरीरका प्रमाण और आयुकी अपेक्षा विशेषता होती है ॥१२॥ रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तम प्रभा, और महातम·प्रभा ये नरककी सात भूमियाँ हैं ॥१३॥ उनमे-से पहली पृथिवी तीस लाख, दूसरी पचीस लाख, और तीसरी पन्द्रह लाख बिलोंसे अत्यन्त भयंकर है ॥१४॥ चौथी पृथिवी दश लाख, पाँचवीं तीन लाख, छठवीं पाँच कम एक लाख और सातवीं केवल पाँच बिलोंसे युक्त है ॥१५॥ इस प्रकार सब चौरासी लाख नरक-बिल हैं। उनमें जो दु'ख है उनकी सख्या बुद्धिमान् मनुष्य भी नहीं जान पाते ॥१६॥ प्रथम पृथिवीके

द्वितीयादिष्वतोऽन्यासु द्विगुणद्विगुणोदयः । उत्सेधः स्याद्धरित्रीषु यावत्पञ्चधनुःशती ॥१८॥
प्रसरद्दुःखसंतानमन्तर्मातुमिवाक्षमम् । वर्धयत्यङ्गमेतेषामधोऽधो धरणीष्वतः ॥१९॥
एकं आद्ये द्वितीये च त्रयः सप्त तृतीयके । चतुर्थे पञ्चमे च स्युर्दश सप्तदश क्रमात् ॥२०॥
षष्ठे द्वाविंशतिर्ज्ञेयास्त्रयस्त्रिंशच्च सप्तमे । आयुर्दुःखापवरके नरके सागरोपमा ॥२१॥
आद्ये वर्षसहस्राणि दशायुरधमं ततः । पूर्वस्मिन्यद्यदुत्कृष्टं निकृष्टं तत्तदग्रिमे ॥२२॥
कदाचिदपि नैतेषां विधिरेधयतीहितम् । दुःखिनामनभिप्रेतमिवायुर्वर्धयत्यसौ ॥२३॥
रौद्रध्यानानुबन्धेन बह्वारम्भपरिग्रहाः । तत्रौपपादिका जीवा जायन्ते दुःखखानयः ॥२४॥
तेषामालिङ्गिताङ्गानां सततं दुःखसंपदा । न कदापि कृतेर्ष्येव सुखश्रीर्मुखमीक्षते ॥२५॥
साश्रुणी लोचने वाणी गद्गदा विह्वलं मनः । स्यात्तदेषां कथं दुःखं वर्णयन्ति दयालवः ॥२६॥

तत्र प्रथमाया नरकभूमौ नारकाणां देहोदयप्रमाणं सप्तदण्डास्त्रयो हस्ताः षडङ्गुलाधिकाः ॥१७॥ द्वितीयेति— एवं द्वितीयादिषु पृथ्वीषु द्विगुणद्विगुणोदयः उत्सेधो भवति यावत्पञ्चशतदण्डगतानि सप्तम्यां पृथिव्याम् ॥१८॥ प्रसरदिति—एतेषां नारकाणां वरीवर्द्धमानमहादुःखसभारं वपुर्वर्द्धते प्रचुरदुःखसभारप्रणोदितमिवाधोऽधः पृथिवीषु ॥१९॥ एक इति—प्रथमनरके उत्कृष्टायुः सागरोपमैकप्रमाणं, द्वितीये त्रयः सागरोपमाः, तृतीये सप्त, चतुर्थे दश, पञ्चमे सप्तदश ॥२०॥ षष्ठ इति—षष्ठे द्वाविंशतिः सप्तमे त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः। दुःखगृहे ॥२१॥ आद्य इति—प्रथमनरकपृथिव्यां जघन्यमायुर्दशवर्षसहस्राणि भवति । द्वितीयायां जघन्यमायुरेकसागरोपमं तृतीयायां त्रयः सागरोपमाः, चतुर्थ्यां सप्तसागरोपमाः, पञ्चम्यां दश सागरोपमाः, षष्ठ्यां सप्तदश, सप्तम्यां द्वाविंशतिरिति जघन्यमायुः ॥२२॥ कदाचिदपीति—कदाचिदप्येतेषां सुखाभिलाषं विधिर्न पूरयति दुःखपीडितानां चायुर्वर्धयतीव ॥२३॥ रौद्रेति—हिंसकपरिणामानुबन्धेनानियमाः बह्वारम्भपरिग्रहाश्च ये जीवास्ते तत्रोत्पद्यन्ते ॥२४॥ तेषामिति—तेषां महादुःखसंपदा समालिङ्गितदेहानां सुखश्रीः कृतकोपेव कदाचिदपि मुखं न वीक्षते ॥२५॥ साश्रुणीति—तेषां हुण्डकसंस्थानं नपुंसकवेदः सर्वदा नयनयुगलं शोकवाष्पाविलं वाणीकटुनिष्ठुरगद्गदा विकलं मनश्च विपरीतावधिसहितं ततस्तेषां पञ्चविधं शारीरिक-क्षेत्रोद्भव-दानवोदित-मानसिक-परस्परकृत-

---

प्राणियोंके शरीरका प्रमाण सात धनुष तीन हाथ छह अंगुल है ॥१७॥ इसके आगे द्वितीयादि अन्य पृथिवियोंके जीवोंके शरीरकी ऊँचाई पाँचसौ धनुष तक क्रमशः दूनी दूनी होती जाती है ॥१८॥ बढते हुए दुःखोंका समूह छोटे शरीरमें समा नहीं सकता है इसीलिए मानो नीचे नीचेकी पृथिवियोंमें नारकियोंका शरीर बडा-बडा होता जाता है ॥१९॥ प्रथम नरकमे एक सागर, द्वितीयमे तीन सागर, तृतीयमें सात सागर, चतुर्थमे दश सागर और पंचममें सत्तरह सागरकी उत्कृष्ट आयु है ॥२०॥ दुःखके घर स्वरूप छठवें नरकमें बाईस सागर और सातवें नरकमे तैंतीस सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है ॥२१॥ प्रथम नरकमे दश हजार वर्षकी जघन्य आयु है और उसके आगे पिछले नरकमे जो उत्कृष्ट आयु है वही जघन्य आयु जानना चाहिए ॥२२॥ दैव, इन दुखी प्राणियोंके मनोवाछित कार्यको कभी पूरा नहीं करता और आयुको जिसे वे नहीं चाहते मानो बढाता रहता है ॥२३॥ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह रखनेवाले जीव रौद्रध्यानके सम्बन्धसे उन नरकोंमे उत्पन्न होते हैं। वहाँ उत्पन्न होनेवाले सभी जीव उपपाद जन्मसे उत्पन्न होते हैं और दुःखोंकी खान रहते हैं ॥२४॥ उनके शरीर सदा दुःख रूप सम्पदाके द्वारा आलिंगित रहते हैं अतः ईर्ष्यासे ही मानो सुखरूपी लक्ष्मी कभी उनका मुख नहीं देखती ॥२५॥ दयालु मनुष्य उनके दुःखोंका वर्णन कैसे कर सकते हैं ? क्योंकि वर्णन रते समय उनके नेत्र आँसुओंसे भर जाते हैं, वाणी गद्गद हो जाती है और मन विह्वल हो

सूतवद्भिन्नमप्यङ्गं यन्मिलत्यापदे पुनः । दुःखाकरोति[1] मच्चित्तं तेन वार्तापि तादृशाम् ॥२७॥
मधुमांसासवासक्त्यावगणय्य जिनागमम् । कौलादिदाम्भिकाचार्यसपर्याकारि यत्त्वया ॥२८॥
तस्येदं भुज्यतां पक्वं फलमित्यसुरामराः । उत्कृत्योत्कृत्य तन्मांसं तन्मुखे प्रक्षिपन्त्यमी ॥२९॥
पाययन्ति च निस्त्रिंशाः प्रतप्तकललं[2] मुहुः । घ्नन्ति बध्नन्ति मथ्नन्ति क्रकचैर्दारयन्ति च ॥३०॥
खण्डनं ताडनं तत्रोत्कर्तनं यन्त्रपीलनम्[3] । किं किं दुष्कर्मणः पाकात्सहन्ते ते न दुःसहम् ॥३१॥
कृता श्वभ्रगतेर्भेदात्तत्स्वरूपनिरूपणा । व्यावर्ण्यते कियानस्या भेदस्तिर्यग्गतेरपि ॥३२॥
तिर्यग्योनिर्द्विधा जीवस्त्रसस्थावरभेदतः । त्रसा द्वित्रिचतुःपञ्चकरणाः स्युश्चतुर्विधाः ॥३३॥
स्पर्शसाधारणेष्वेषु नूनमेकैकमिन्द्रियम् । वर्धते रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रमिति क्रमात् ॥३४॥
वर्षाणि द्वादशैवायुर्मानं द्वादशयोजनम् । विवृणोति प्रकर्षेण जीवो द्वीन्द्रियविग्रहः ॥३५॥

लक्षणं दुःखं केन वर्णयितुं शक्यते ॥२६॥ सूतेति—तेषामङ्गं खण्डशः खण्डितमपि पारदलववन्मिलति ततस्तेषां वार्तापि दुःखावहा ॥२७॥ मध्विति—यत्त्वया मद्यपानं मांसमधुभक्षणं च जिनागमनिन्दकेन कृतं नास्तिकादिपूजा कुर्वता । तस्य फलं सांप्रतमुपभुज्यताम् ॥२८॥ तस्येति—इति पूर्वोक्तविधिना तस्यैव शरीरमांसमुत्कृत्य तन्मुखेऽसुरप्रेरिता प्रक्षिपन्ति नारकाः ॥२९॥ पाययन्तीति—तुभ्यं मदिरा प्रतिभाति एवमालप्य तप्तसीसकद्रवं पाययन्ति अन्यैरप्युपायैः क्रकचादिभिर्घातयन्ति ॥३०॥ खण्डनमिति—खण्डनं खण्डशः करणं, ताडनं कशोपलयष्ट्यादिभिर्हननम्, उत्कर्तनं चर्मपृथक्करणम्, यन्त्रनिपीलनं घानकनिक्षेपणं बहुप्रकारमित्येवमादि दुःखसंभारं सहन्ते ॥३१॥ कृतेति—नरकगतिवर्णना कृता संप्रति कियती तिर्यग्गतिर्वर्ण्यते ॥३२॥ तिर्यगिति—तिर्यग्गतौ जीवा द्विविधास्त्रसाः स्थावराश्च । स्थावराः पञ्चविधाः पृथिवीकायिकाप्कायिकतेजस्कायिकवातकायिकवनस्पतिकायिका इति । त्रसाश्चतुर्भेदाः द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात् ॥३३॥ स्पर्शेति—स्पर्शनेन्द्रियस्थावरत्रसानां साधारणं द्वीन्द्रियेषु रसनेन्द्रियं वर्धते, त्रीन्द्रियेषु घ्राणेन्द्रियं चतुरिन्द्रियेषु चक्षुरिन्द्रियं पञ्चेन्द्रियेषु श्रोत्रेन्द्रियमिति क्रमेणेन्द्रियवृद्धिः ॥३४॥ वर्षाणीति—द्वीन्द्रियजीवस्य परमायुर्द्वादश

उठता है ॥२६॥ उनका शरीर यद्यपि खण्ड खण्ड हो जाता है फिर भी चूँकि दुःख भोगनेके लिए पारेकी तरह पुनः मिल जाता है अतः उनकी चर्चा भी मेरे चित्तको दुःखी बना देती है ॥२७॥ मधु मांस और मदिरामें आसक्ति होनेसे तूने जो जिनागमका अनादर कर कौल आदि कपटी गुरुओंकी पूजा की थी उसीका यह पका हुआ फल भोग ॥२८॥ इस प्रकार कहकर असुरकुमार देव उन्हींका मांस काट-काट कर उनके मुखमें डालते हैं ॥२९॥ और अतिशय क्रूर परिणामी असुरकुमार बार बार पिघला हुआ सीसा पिलाते हैं, मारते हैं, बाँधते हैं, मथते हैं, और आरेसे चीरते हैं ॥३०॥ खोटे कर्मके उदयसे वे नारकी वहाँ काटा जाना, पीटा जाना, छीला जाना और कोल्हूमें पेला जाना क्या क्या भयंकर दुःख नहीं सहते ? ॥३१॥ इस प्रकार नरकगतिसे स्वरूपका निरूपण किया । अब कुछ तिर्यंच गतिका भी भेद कहता हूँ ॥३२॥ त्रस और स्थावरके भेदसे तिर्यंच जीव दो प्रकारके है और त्रस, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रियके भेदसे चार प्रकारके हैं ॥३३॥ इनमें स्पर्शन इन्द्रिय तो सभी जीवोंके हैं । हाँ, रसना घ्राण चक्षु और कर्ण ये एक एक इन्द्रियाँ द्वीन्द्रियादि जीवोंके बढ़ती जाती हैं ॥३४॥ द्वीन्द्रिय जीवकी उत्कृष्ट आयु बारह वर्ष है और शरीरकी उत्कृष्ट

१ दुःखीकरोति घ० म० । २. कलिलं ग० छ०, कलकं च० । ३ यन्त्रपीडनम् घ० म० ।

दिनान्येकोनपञ्चाशदायुस्त्र्यक्षे शरीरिणि । पदोनयोजन मान जिना प्राहुः प्रकर्षत ॥३६॥
आयुर्योजनमानस्य चतुरक्षस्य देहिनः । षण्मासप्रमित प्रोक्त जिनै• केवललोचनै ॥३७॥
सहस्रमेकमुत्सेधो योजनाना प्रकीर्तितः । पूर्वकोटिमित चायु पञ्चेन्द्रियशरीरिणाम् ॥३८॥
पृथिवीमारुताप्तेजोवनस्पतिविभेदत । अद्वितीयेन्द्रियाः सर्वे स्थावरा पञ्चकायिका ॥३९॥
द्वाविंशति सहस्राणि वर्षाणामायुरादिमे । द्वितीये त्रीणि सप्त स्यात्तृतीयेऽपि यथाक्रमम् ॥४०॥
चतुर्थे त्रीण्यहान्येव पञ्चमस्य प्रकर्षत । पञ्चेन्द्रियाधिकोत्सेधस्याब्दानामयुत मतम् ॥४१॥
आर्तध्यानवशाज्जीवो लब्धजन्मात्र जायते । शीतवर्षातपक्लेशवधबन्धादिदु खभाक् ॥४२॥
इति तिर्यग्गतेर्भेदो यथागममुदीरित । मानवाना गतेः कोऽपि प्रकार कथ्यतेऽधुना ॥४३॥
द्विप्रकारा नरा भोगकर्मभूभेदतः स्मृता । देवकुर्वादयस्त्रिंशत्प्रसिद्धा भोगभूमय ॥४४॥
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदात्तास्त्रिविधा क्रमात् । द्विचतुःषड्धनुर्दण्डसहस्रोत्तुङ्गमानवा ॥४५॥

वर्षाणि शरीरप्रमाणमुत्कर्षेण द्वादशयोजनप्रमाणम्॥३५॥ दिनानीति—त्रीन्द्रियस्य एकोनपञ्चाशद्दिनानि परमायु' शरीरोत्सेधश्च क्रोशत्रयम् ॥३६॥ आयुरिति—चतुरिन्द्रियस्य योजनप्रमाण शरीर जीवित च षण्मासावधि ॥३७॥ सहस्रमिति—पञ्चेन्द्रियस्य शरीरोत्सेधो योजनसहस्र परमायु पूर्वकोटिरेका ॥३८॥ पृथिवीति—पृथिवीकायिकाना परमायुर्द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि, तेज कायिकाना त्रीणि दिनानि, वनस्पतिकायिकाना पञ्चेन्द्रियाधिकोत्सेधाना परमायुर्दशवर्षसहस्राणि ॥३९–४१॥ आर्तेति—आर्तध्यानेन तिर्यग्गतिर्भवति। तत्र निरावरणत्वात् प्रचुरशीतातपवर्षादिक देहावयवच्छेदादिक महादु ख तिर्यञ्च सहन्ते ॥४२॥ इतीति—इत्यागमानुसारेण तिर्यग्गतेर्भेद उद्देशतो वर्णित साप्रत मनुष्यगते कोऽपि भेद कथ्यते ॥४३॥ द्विप्रकारा इति—द्विप्रकारा मनुष्या कर्मभूमिजा भोगभूमिजाश्च । तत्र देवकुरूत्तरकुरुप्रभृतयस्त्रिंशद्भोगभूमय ॥४४॥ जघन्येति—जघन्यमध्यमोत्तमभेदात्त्रिधा, तत्रोत्कृष्टभोगभूमिषु क्रोशत्रयं शरीरोत्सेध । मध्यमभोगभूमिषु

उत्कृष्ट अवगाहना बारह योजन है ॥३५॥ तीन इन्द्रिय जीवकी उत्कृष्ट आयु उनचास दिनकी है और शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहना तीन कोश है—ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है ॥३६॥ केवलज्ञानरूपी लोचनको धारण करनेवाले जिनेन्द्रदेवने चतुरिन्द्रिय जीवकी उत्कृष्ट आयु छह माहकी और उत्कृष्ट अवगाहना एक योजनकी कही है ॥३७॥ पचेन्द्रिय जीवोंकी शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन और ऊँचाई एक करोड वर्ष पूर्वकी कही गयी है ॥३८॥ पृथिवी, वायु, जल, तेज और वनस्पतिके भेदसे एकेन्द्रिय जीव पॉच प्रकारके हैं, ये सभी स्थावर कहलाते हैं । इनमे पृथिवीकायिककी बाईस हजार वर्ष, वायुकायिककी तीन हजार वर्ष, जलकायिककी सात हजार वर्ष, अग्निकायिककी सिर्फ तीन दिन और वनस्पतिकायिककी दस हजार वर्षकी आयु है । वनस्पतिकायिककी उत्कृष्ट अवगाहना पंचेन्द्रियकी अवगाहनासे कुछ अधिक है[1] ॥३९–४१॥ आर्तध्यानके वशसे जीव इस तिर्यंचयोनिमे उत्पन्न होता है और शीत, वर्षा, आतप, वध, बन्धन आदिके क्लेश भोगता है ॥४२॥ इस प्रकार आगमके अनुसार तिर्यंच गतिका भेद कहा अब कुछ मनुष्यगतिकी विशेषता कही जाती है ॥४३॥ भोगभूमि और कर्मभूमिके भेदसे मनुष्य दो प्रकारके माने गये हैं । देवकुरु आदि तीस भोगभूमियाँ प्रसिद्ध हैं ॥४४॥ ये सभी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन-तीन प्रकार की हैं । इनमें

१ यह कथन मात्र लम्बाईकी अपेक्षा है। वनस्पतिकायिकोमें कमलकी साधिक एक हजार योजनकी अवगाहना है अवश्य, परन्तु वह मात्र लम्बाईकी अपेक्षा है । क्षेत्रफलकी अपेक्षा पचेन्द्रिय जीवोंमें मच्छकी ही उत्कृष्ट अवगाहना है ।

तास्वेकद्वित्रिपल्यायुर्जीविनो भुञ्जते नराः । दशानां कल्पवृक्षाणा पात्रदानार्जित फलम् ॥४६॥
कर्मभूमिभवास्तेऽपि द्विधार्यम्लेच्छभेदतः । भारताद्या पुन पञ्चदशोक्ता. कर्मभूमयः ॥४७॥
धनुःपञ्चशतैस्तासु सपादै. प्रमितोदया । उत्कर्षतो मनुष्या' स्युः पूर्वकोटिप्रमायुषः ॥४८॥
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः कालयोर्वृद्धिह्रासिनी । भरतैरावते स्याता विदेहस्त्वक्षतोदय. ॥४९॥
सागरोपमकोटीना कोटिभिर्दशभिर्मिता । आगमज्ञैरिह प्रोक्तोत्सर्पिणी चावसर्पिणी ॥५०॥
सुषमासुषमा प्रोक्ता सुषमा च ततो बुधै' । सुषमादु'षमान्यापि दु'षमासुषमा क्रमात् ॥५१॥
पञ्चमी दु'षमा षष्ठी दु षमादु षमा मता । प्रत्येकमिति भिद्यते ते षोढा कालभेदत ॥५२॥
चतस्र कोटयस्तिस्रो द्वे च पूर्वादिषु क्रमात् । तिसृष्वम्भोधिकोटीना मानमुक्त जिनागमे ॥५३॥
ऊना सहस्रै रब्दाना द्वाचत्वारिंशता तत । चतुर्थ्यम्भोधिकोटीना कोटिरेका प्रकीर्तिता ॥५४॥
पञ्चमी वत्सराणा स्यात्सहस्राण्येकविंशतिः । तत्प्रमाणैव तत्त्वज्ञैर्नून षष्ठी प्रतिष्ठिता ॥५५॥

क्रोशद्वय शरीरोत्सेध । जघन्यभोगभूमिषु क्रोशैकप्रमाणम् ॥४५॥ तास्विति—तासु मनुजाना जीवित किं प्रमाणमित्याह—उत्तमासु भोगभूमिषु त्रिपल्योपमप्रमाण मध्यमासु द्विपल्योपम जघन्यासु चैकपल्योपमप्रमाण प्राणितव्यम् । दशविधकल्पद्रुमैर्दत्तभोगोपभोगिन । उत्तममध्यमजघन्यपात्रदानात् भोगभूमयोऽपि तथाविधा लभ्यन्ते ॥४६॥ कर्मेति—कर्मभूमिभवा अपि मनुष्या द्विधा-आर्या म्लेच्छाश्च । कर्मभूमय पञ्चदश—पञ्च भरता पञ्चैरावता , पञ्च विदेहा तासु मनुष्या सपादपञ्चशतधनुर्दण्डोत्सेधशरीरा । उत्कर्षेण पूर्वकोटिप्रमितायु ॥४७–४८॥ उत्सर्पिणीति—तत्र कालचक्रे उत्सर्पिणी दशकोटीकोटीसागरोपमा वर्तते । अवसर्पिण्यपि तावन्मात्रम् ॥४९–५०॥ सुषमेति—प्रथम सुषमासुषमाभिधानश्चतु कोटीकोटीसागरोपमानो वर्तते । द्वितीय सुषमाभिधान त्रिकोटीकोटीसागरोपमानो वर्तते । तृतीय सुषमादु षमाभिधानो द्विकोटीकोटीसागरोपमानो वर्तते । चतुर्थो दु षमासुषमाभिधानो वर्षाणा सहस्रैर्द्वाचत्वारिंशता हीन एककोटीकोटीसागरोपमानो वर्तते । पञ्चमो दु षमाभिधान एकविंशतिवर्षसहस्राणि वर्तते । षष्ठोऽतिदु षमाभिधान एकविंशतिवर्षसहस्राणि प्रवर्तते ।

मनुष्योंकी ऊँचाई क्रम-क्रम से दो हजार, चार हजार और छह हजार मनुष्य है ॥४५॥ जघन्य भोगभूमिमे एक पल्य, मध्यममे दो पल्य और उत्तममे तीन पल्य मनुष्योंकी आयु होती है। वहाँ के मनुष्य अपने जीवन भर दश प्रकारके कल्पवृक्षोंसे प्राप्त पात्रदानका फल भोगते रहते हैं ॥४६॥ कर्मभूमिके मनुष्य भी आर्य और म्लेच्छोंके भेदसे दो प्रकारके हैं। भरतक्षेत्र आदि पन्द्रह कर्मभूमियाँ कहलाती हैं ॥४७॥ इनमें मनुष्य उत्कृष्टतासे पाँच सौ पचीस धनुष ऊँचे और एक कोटी वर्ष पूर्वकी आयुवाले होते हैं ॥४८॥ भरत और ऐरावत क्षेत्र उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी कालमे क्रमसे वृद्धि और हानिसे युक्त होते हैं परन्तु विदेह क्षेत्र सदा एकसा रहता है ॥४९॥ आगमके ज्ञाताओंने दश कोडाकोडी सागर वर्षोंकी उत्सर्पिणी और उतने ही वर्षोंकी अवसर्पिणी कही है ॥५०॥ सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमादुःषमा, दुःषमासुषमा, दुःषमा और दुःषमादुःषमा—इस प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनों ही कालभेदकी अपेक्षा छह-छह प्रकारसे भेदको प्राप्त होती हैं। प्रारम्भके तीन कालोंका प्रमाण जिनागममे क्रमसे चार कोडाकोडी, तीन कोड़ाकोड़ी और दो कोडाकोडी सागर कहा गया है। चौथे कालका प्रमाण बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोडी सागर कहा गया है। तत्त्वके ज्ञाताओंने पाँचवें और छठवें कालका प्रमाण इक्कीस-इक्कीस हजार वर्ष

१ भिद्यन्ते घ० म० ।

पोढा षट्कर्मभेदेन ते गुणस्थानभेदत । स्युश्चतुर्दश धात्रार्या म्लेच्छा पञ्च प्रकीर्तिता ॥५६॥
स्वभावमार्दवत्वेन स्वल्पारम्भपरिग्रहा । भवन्त्यत्र नरा पुण्यपापाप्तिप्रक्षयक्षमा[1] ॥५७॥
नारीगर्भेऽतिबीभत्से कफामासृड्मलाविले । कुम्भीपाकाधिकासाते जायते कृमिवन्नर ॥५८॥
वर्णितेति गतिर्नृणा देवानामपि सम्प्रति । कियत्यपि स्मरानन्दोज्जीविनी वर्णयिष्यते ॥५९॥
भावनव्यन्तरज्योतिर्वैमानिकविभेदत । देवाश्चतुर्विधास्तेपु भावना दशधोदिता ॥६०॥
असुराहिसुपर्णाग्निविद्युद्वातकुमारका । दिग्द्वीपस्तनिताम्भोधिकुमाराश्चेति भेदत ॥६१॥
तत्रासुरकुमाराणामुत्सेधः पञ्चविंशति । चापानि दश शेषाणामप्युदन्वत्परायुषाम् ॥६२॥
दशसप्तधनुर्मानाा व्यन्तरा किन्नरादय । शिष्टास्तेऽष्टविधा येषामायु पल्योपम परम् ॥६३॥

पञ्चश्लोका व्याख्याता ॥५१–५५॥ षोढेति—तत्रार्या देवपूजा-गुरूपास्तिस्वाध्यायसयमतपोदानभेदै पड्भेदा । यदि वा मिथ्यात्व-सासादन-मिश्राविरत-सम्यग्दृष्टि-देशविरतप्रमत्ताप्रमत्तापूर्वपरिणामानिवृत्ति-परिणामसूक्ष्म-परिणामोपशान्तपरिणाम-क्षीणमोहसयोगायोगकेवलिभेदैश्चतुर्दशत्रा । पञ्चम्लेच्छखण्डभेदेन म्लेच्छा पञ्चविधा ॥५६॥ स्वभावेति—स्वभावमृदुपरिणामा अल्पारम्भपरिग्रहा पुण्यपापाप्तिक्षयक्षमा नरा जायन्ते मनुष्यगतौ ॥५७॥ नारीति—स्त्रीगर्भे श्लेष्मरुधिरादिमलस्थाने कुम्भीपाकसदृशदु ख सहमान पुरुप पुरीपकीटवज्जायते ॥५८॥ वर्णितेति—वर्णिता मनुष्यगतिरिदानी देवगति कथ्यते स्मरहर्षोत्पादिका ॥५९॥ भावनेति—भवनवासिन पातालस्वर्गवासिनो व्यन्तरा समुद्रोपकण्ठादिवासिनो ज्योतिष्का सूर्यचन्द्रादयो,वैमानिका सोधर्मेन्द्रादय चतुर्विधा देवा । तत्रापि भवनवासिनो दशप्रकारा ॥६०॥ असुरेति—असुरकुमारा नागकुमारा गरुडकुमारा अग्निकुमारा विद्युत्कुमारा वातकुमारा दिक्कुमारा द्वीपकुमारा स्तनित-मेघकुमारा समुद्रकुमारा ॥६१॥ तत्रेति—तत्रासुरकुमाराणा देहोत्सेघ पञ्चविंशतिदण्डप्रमाण शेषाणा दशदण्डा । असुरकुमाराणामेकसागरोपमपरमायु ॥६२॥ दशेति—दशधनुर्दण्डप्रमाणा व्यन्तरा किंनरादयश्च सप्तदण्डप्रमाणा । व्यन्तराणा च पल्योपम परायु । शेपाणा किंनरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचानामागमानुसारेण जघन्य-

बतलाया है ॥५१–५५॥ आर्य मनुष्य, देव पूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, सयम, तप और दान इन छह पारमार्थिक कार्योंकी अपेक्षा छह प्रकार और गुणस्थानोंके भेदसे मिथ्यात्व-सासादन आदि चौदह प्रकारके होते है। भगवान् वृषभदेवने पाँच म्लेच्छ खण्डोंकी अपेक्षा म्लेच्छोंको पाँच प्रकारका कहा है ॥५६॥ थोडा आरम्भ और थोडा परिग्रह रखने वाले मनुष्य स्वभावकी कोमलतासे इस मनुष्यगतिमे उत्पन्न होते है। मनुष्य पुण्यकी प्राप्ति और पापका क्षय करनेमें समर्थ होते हैं अथवा पुण्य और पाप दोनोकी प्राप्तिका क्षय कर मोक्ष प्राप्त करनेमे समर्थ होते हैं ॥५७॥ यह मनुष्य स्त्रीके उस गर्भमे कृमिकी तरह उत्पन्न होता है जो कि अत्यन्त घृणित है, कफ, अपक्वरुधिर और मलसे भरा है तथा जिसमे कुम्भीपाकसे भी अधिक दुःख है ॥५८॥ इस प्रकार मनुष्य गतिका वर्णन किया अब कामके आनन्दसे उज्जीवित रहनेवाली देवगतिका भी कुछ वर्णन किया जायेगा ॥५९॥ भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिकोंके भेदसे देव चार प्रकारके हैं। उनमे भवनवासी दस प्रकारके कहे गये हैं ॥६०॥ भवनवासियोंके दश भेद इस प्रकार हैं—१ असुरकुमार, २ नागकुमार, ३ गरुडकुमार, ४ अग्निकुमार, ५ विद्युत्कुमार, ६ वायुकुमार, ७ दिक्कुमार, ८ द्वीपकुमार, ९ मेघकुमार और १० समुद्रकुमार ॥६१॥ उनमेसे एक सागरकी उत्कृष्ट आयुवाले असुरकुमारोंका शरीर पचीस धनुष ऊँचा है और शेप नव कुमारोंका दस धनुष, ॥६२॥ व्यन्तर, किन्नर आदिके भेदसे आठ प्रकारके हैं। उनके शरीरका प्रमाण दस

१ क्रमा घ० म०।

ज्योतिष्काः पञ्चधा प्रोक्ताः सूर्यचन्द्रादिभेदतः । येषामायुःप्रमाणं च व्यन्तराणामिवाधिकम् ॥६४॥
वर्षाणामयुतं भौमभावनानामिहाधमम्[1] । पल्यस्यैवाष्टमो भागो ज्योतिषामायुरीरितम् ॥६५॥
वैमानिका द्विधा कल्पसभूतातीतभेदतः । कल्पजास्तेऽच्युतादर्वाक्कल्पातीतास्ततः परे ॥६६॥
सौधर्मेशाननामानौ धर्मारम्भमहोद्यतौ[2][3] । [4]सानत्कुमारमाहेन्द्रौ ब्रह्मब्रह्मोत्तरावपि ॥६७॥
ततो लान्तवकापिष्ठौ शुक्रशुक्रोत्तरौ परौ । शताराख्यसहस्रारावानतप्राणतावपि ॥६८॥
अथारणाच्युतौ कल्पाः पोडशेति प्रकीर्तिताः । इदानीं तेषु देवानामायुर्मानं च कथ्यते ॥६९॥
हस्ताः सप्त द्वयोर्मानं षडूर्ध्वं नाकिषु द्वयोः । चतुर्णां पञ्च चत्वारस्तदूर्ध्वं तावता क्रमात् ॥७०॥
त्रयः सार्धा द्वयोरूर्ध्वमूर्ध्वमाभ्यां द्वयोस्त्रयः । इति षोडशकल्पानामूर्ध्वं ग्रैवेयकेष्वपि ॥७१॥
अधःस्थेषु करौ सार्धौ द्वौ मध्येषूर्ध्वगेषु च । त्रिषु सार्धकरास्तेभ्यः परे हस्तप्रमाः सुराः ॥७२॥

मायुर्दशवर्षसहस्रप्रमाणम् ॥६३॥ ज्योतिष्का इति—ज्योतिष्का पञ्चविधा सूर्याश्चन्द्रा ग्रहा नक्षत्राणि प्रकीर्णकतारकाश्च । एतेषामायुर्लक्षणं व्यन्तराणामिव । ज्योतिष्काणां पुनः पल्योपमाष्टमो भागो जघन्यमायुः ॥६४-६५॥ वैमानिका इति—वैमानिकाः पुनर्द्विविधाः कल्पसभूताः कल्पबहिर्भूताश्च । कल्पजाः सौधर्मादि-द्वादशकल्पजातास्ततः ऊर्ध्वं कल्पातीताः ॥६६॥ सौधर्म इति—प्रथमः कल्पः सौधर्मः, द्वितीय ईशानः, तृतीयः सनत्कुमारः, चतुर्थो माहेन्द्रः, पञ्चमो द्वाभ्यां ब्रह्मब्रह्मोत्तराभ्याम्, षष्ठो लान्तवकापिष्ठाभ्याम्, सप्तमः शुक्रमहाशुक्राभ्याम्, अष्टमः शतारसहस्राभ्याम्, नवमः आनतनामा, दशमः प्राणताभिधः, एकादश आरणाख्यः, अच्युतो द्वादशो मतः । इति द्वादशकल्पाः स्वर्गास्तु षोडशेति । इदानीं देवानामायुः शरीरप्रमाणं च कथ्यते ॥६७-६९॥ हस्ता इति—सौधर्मैशानयोः सप्तहस्तप्रमाणं शरीरं सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः षड्हस्तप्रमाणं शरीरं तदूर्ध्वं चतुःस्वर्गेषु पञ्चहस्तप्रमाणं शरीरं तदनन्तरमुपरिमस्वर्गचतुष्टये चतुःकरप्रमाणं वपुः ॥७०॥ त्रय इति—आनतप्राणतयोः सार्द्धत्रयहस्तप्रमाणो देहोच्छ्रयः, आरणाच्युतयोस्त्रिहस्तप्रमाणं वपुः । इति षोडशस्वर्गेषु देहोत्सेधः । अथ ग्रैवेयकादिषु कथ्यते ॥७१॥ अधःस्थेष्विति—प्रथमग्रैवेयकत्रये सार्धकरद्वयप्रमाणो देहः, मध्यमग्रैवेयकत्रये हस्तद्वयप्रमाणो देहः, उपरिमग्रैवेयकत्रये सार्धकरैकप्रमाणं परेषु चानुदिशादिषु हस्तैकप्रमाणं । इदानीमायु'

तथा सात धनुष प्रमाण है और उत्कृष्ट आयु एक पल्य प्रमाण है ॥६३॥ सूर्य, चन्द्र आदिके भेदसे ज्योतिषी देव पाँच प्रकारके हैं। इनकी आयु व्यन्तरोंकी तरह ही कुछ अधिक एक पल्य प्रमाण है। व्यन्तर और भवनवासी देवोंकी जघन्य आयु दश हजार वर्षकी है तथा ज्योतिषियोंकी पल्यके आठवें भाग ॥६४-६५॥ कल्पोपपन्न और कल्पातीतकी अपेक्षा वैमानिक देवोंके दो भेद हैं। कल्पोपपन्न वे हैं जो अच्युत स्वर्गके पहले रहते हैं और कल्पातीत वे हैं जो उसके ऊपर रहते हैं ॥६६॥ धार्मिक कार्योंके प्रारम्भमे महान् उद्यम करनेवाले सौधर्म-ऐशान, सनत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार, आनत-प्राणत, एवं आरण-अच्युत ये सोलह स्वर्ग कहे गये हैं। अब इन स्वर्गोंमें रहनेवाले देवोंकी आयु तथा शरीरका प्रमाण कहते हैं ॥६७-६९॥ आदिके दो स्वर्गोंमे देवोंकी ऊँचाई सात हाथ, उसके आगे दो स्वर्गोंमे छह हाथ, फिर चार स्वर्गोंमे पाँच हाथ, फिर चार स्वर्गोंमे चार हाथ प्रमाण शरीरकी ऊँचाई है ॥७०॥ तदनन्तर दो मे साढ़े तीन हाथ, और फिर दो मे तीन हाथ है। यह सोलह स्वर्गोंकी अवगाहना कही। इसके आगे ग्रैवेयकोंकी अवगाहना कही जाती है ॥७१॥ अधोग्रैवेयकमे अढाई हाथ, मध्यमग्रैवेयकमे दो हाथ, उपरिम ग्रैवेयकमे डेढ़ हाथ और उनके आगे अनुदिश तथा अनुत्तर विमानोंमे एक

---

१ -वमम् घ० म० । २ परम् छ० । ३ -द्यमौ घ० म० । ४ सनत्कुमार म० घ० ।

सौधर्मैशानयोरायुःस्थितिर्द्वौ सागरौ मतौ । सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोः सप्त सागराः ॥७३॥
दशैव कल्पयोर्ज्ञेया ब्रह्मब्रह्मोत्तराख्ययोः । निर्णीता लान्तवे कल्पे कापिष्ठे च चतुर्दश ॥७४॥
षोडशैव ततः शुक्रमहाशुक्राभिधानयोः । अष्टादश शतारे च सहस्रारे च निश्चितम्[1] ॥७५॥
वर्णिता विंशतिर्नूनमानतप्राणताख्ययोः । उक्ता द्वाविंशतिः प्राज्ञैरारणाच्युतयोरपि ॥७६॥
सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तेष्वतो ग्रैवेयकादिषु । एकैको वर्धते तावद्यावत्त्रिशत्त्रयाधिका ॥७७॥
अकामनिर्जराबालतपःसम्यक्त्वयोगतः । अत्रोपपादिका भूत्वा प्रपद्यन्ते सुराः सुखम् ॥७८॥
विलासोल्लाससर्वस्व रतिकोषसमुच्चयम् । शृङ्गाररससाम्राज्य भुञ्जते ते निरन्तरम् ॥७९॥
इति व्यावर्णितो जीवश्चतुर्गत्यादिभेदतः । सप्रत्यजीवतत्त्वस्य किंचिद्रूप निरूप्यते ॥८०॥
धर्माधर्मौ नभः कालः पुद्गलश्चेति पञ्चधा । अजीवः कथ्यते सम्यग्जिनैस्तत्त्वार्थवेदिभिः[3] ॥८१॥
षड्द्रव्याणीति वर्ण्यन्ते सम जीवेन तान्यपि । विना कालेन तान्येव यान्ति पञ्चास्तिकायताम् ॥८२॥

कथ्यते ॥७२॥ सौधर्म इति—प्रथमकल्पद्वये परमायु सागरोपमद्वयम् । ऊर्ध्वकल्पद्वये सागरोपमसप्तकम् ॥७३॥ दशैवेति—ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोर्दशसागरोपमा लान्तवकापिष्ठयोश्चतुर्दशसागरोपमा ॥७४॥ षोडशेति—शुक्रमहाशुक्रयो षोडशशतारसहस्रारयोश्चाष्टादश ॥७५॥ वर्णिता इति—आनतप्राणतयोर्विंशतिरारणाच्युतयोर्द्वाविंशति ॥७६॥ सर्वार्थेति—प्रथमग्रैवेयकात्प्रारम्य सर्वार्थसिद्धि यावदेकैकसागरोपमो वर्द्धते यावत्त्रयस्त्रिशत्सागरोपमा । सर्वार्थसिद्धौ त्रयस्त्रिशत्सागरोपमा भवन्ति ॥७७॥ अकामेति—अकामनिर्जरावशात् अज्ञानतप प्रभावाच्च केवलसम्यक्त्वयोगाच्च शिलासपुटे भूत्वा देवा सुखमनुभवन्ति ॥७८॥ विलास इति—तत्र विलासप्रकाशसर्वस्वमनुरागकोशसमुच्चयं शृङ्गाररससाम्राज्यमनुभवन्ति ॥७९॥ इतीति—इति चतुर्गतिषु जीवद्रव्य व्यावर्णित साम्प्रतमजीवद्रव्य निरूप्यते ॥८०॥ धर्मेति—गतिलक्षणो धर्म, स्थितिलक्षणोऽधर्म - अवगाहनलक्षणमाकाशम्, गलनपूरणस्वभावलक्षण पुद्गल, वर्तनालक्षण काल इत्यजीवद्रव्य जिनमतज्ञा कथयन्ति ॥८१॥ षडिति—तान्येव पूर्वोक्तानि धर्माधर्मनभ कालपुद्गललक्षणानि जीवेन सार्धं षड्द्रव्याणि कथ्यन्ते ।

हाथ प्रमाण देवोंकी अवगाहना चाहिए ॥७२॥ सौधर्म और ऐशान स्वर्गमे उत्कृष्ट आयु दो सागर तथा सनत्कुमार और महेन्द्रस्वर्गमे सात सागर है ॥७३॥ ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्गमे दश सागर और लान्तव तथा कापिष्ठ स्वर्गमे चौदह सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥७४॥ शुक्र-महाशुक्र स्वर्गमे सोलह सागर और शतार-सहस्रार स्वर्गमे अठारह सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है ॥७५॥ आनत-प्राणत स्वर्गमें बीस सागर और आरण-अच्युत स्वर्गमे बाईस सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है ॥७६॥ इसके आगे ग्रैवेयकसे लेकर सर्वार्थसिद्धि तक एक-एक सागरकी आयु बढती जाती है। सर्वार्थसिद्धिमे तैतीस सागरकी आयु है ॥७७॥ अकामनिर्जरा, बालतप और सम्यग्दर्शनके योगसे जीव इन स्वर्गोंमे उपपाद जन्मसे उत्पन्न होकर सुख भोगते हैं ॥७८॥ यहाँपर देव शृगार रसके उस साम्राज्यका निरन्तर उपभोग करते रहते है जो कि विलाससे परिपूर्ण और रतिसुखका कोष है ॥७९॥ इस प्रकार चतुर्गतिके भेदसे जीवतत्त्वका वर्णन किया अब कुछ अजीव तत्त्वका स्वरूप कहा जाता है ॥८०॥ सम्यक् प्रकारसे तत्त्वोंको जाननेवाले जिनेन्द्र भगवान्ने धर्म, अधर्म, आकाश और कालके भेदसे अजीव तत्त्वको पाँच प्रकारका कहा है ॥ ८१ ॥ जीवसहित उक्त पाँच भेद छह द्रव्य कहलाते हैं और कालको छोड अवशिष्ट पाँच द्रव्य पचास्तिकायताको

---

१ निश्चिता घ० म० । २ सपत्क घ० म० । ३ दर्शिभि घ० म० ।

धर्मः स तात्त्विकैरुक्तो यो भवेद्गतिकारणम् । जीवादीना पदार्थाना मत्स्यानामुदक यथा ॥८३॥
छायेव घर्मतप्तानामश्वादीनामिव क्षितिः । द्रव्याणा पुद्गलादीनामधर्मः स्थितिकारणम् ॥८४॥
लोकाकाशमभिव्याप्य स्थितावेतावनिष्क्रियौ । नित्यावप्रेरकौ हेतू मूर्तिहीनावुभावपि ॥८५॥
पुद्गलादिपदार्थानामवगाहैकलक्षणः । लोकाकाशः स्मृतो व्यापी शुद्धाकाशो बहिस्ततः ॥८६॥
धर्माधर्मैकजीवा स्युरसख्येयप्रदेशका. । व्योमानन्तप्रदेश तु सर्वज्ञै प्रतिपाद्यते ॥८७॥
जीवादीना पदार्थाना परिणामोपयोगत । वर्तनालक्षण कालोऽनशो नित्यश्च निश्चयात् ॥८८॥
कालो दिनकरादीनामुदयास्तक्रियात्मक । औपचारिक एवासौ मुख्यकालस्य सूचक ॥८९॥
रूपगन्धरसस्पर्शशब्दवन्तश्च पुद्गला । द्विधा स्कन्धाणुभेदेन त्रैलोक्यारम्भहेतवः ॥९०॥
भूमितैलतमोगन्धकर्माणुप्रकृति' क्रमात् । स्थूलास्थूलादिभेदाः स्युस्तेषा षोढा जिनागमे ॥९१॥
भाषाहारशरीराख्य[क्ष]प्राणापानादिमूर्तिमत् । यत्किंचिदस्ति तत्सर्वं स्थूल सूक्ष्म च पुद्गलम् ॥

[तान्येव द्रव्याणि काल विहाय पञ्चास्तिकायत्व प्राप्नुवन्ति][2] ॥८२॥ धर्म इति—जीवादीना पदार्थाना यद्गमनकारण स धर्म इति यथा मत्स्यादीना गतिहेतुक जलम् ॥८३॥ छायेवेति—यथा पथिकाना छाया स्थितिकारण तथा जीवादिद्रव्याणामधर्म ॥८४॥ लोकेति—एतौ धर्माधर्मौ नित्यौ लोकाकाशमध्यस्थितौ नि क्रियौ कार्यानुमेयौ॥८५॥ पुद्गलेति—पुद्गलादिद्रव्याणामवगाहनशालो लोकाकाशस्तद्बहिर्भूत शुद्धस्वरूपोऽलोकाकाशः ॥८६॥ धर्मेति—धर्मश्चाधर्मश्च एक जीवश्च एतेषा सख्यातीता प्रदेशा गगनमनन्तप्रदेशम् ॥८७॥ जीवादीनामिति—जीवादीना पदार्थाना परिणामक काल । निश्चयेन च कालस्याकायत्व नित्यत्व च ॥८८॥ काल इति—आदित्योदयास्तक्रियात्मक काल्पनिक कालो मुख्यकालस्य प्रतिपादक ॥८९॥ रूपेति—रूप च गन्धश्च रसश्च स्पर्शश्च शब्दश्च ते विद्यन्ते येषा ते तद्वन्त पुद्गला । तेऽपि द्विभेदा स्कन्धरूपा परमाणुरूपाश्च । द्वयेऽपि भुवननिर्माणकारणानि ॥९०॥ भूमेति—तत पुद्गलद्रव्य पृथ्वीरूप स्थूलतमम्, तैलजलादिक स्थूलतरम्, तरुच्छायारूप स्थूलसूक्ष्मम्, चतुरिन्द्रियविषयलक्षण सूक्ष्मस्थूलम्, कर्मलक्षण सूक्ष्मतरम्, परमाणुलक्षण सूक्ष्मतमम्, इति षड्विध पुद्गलद्रव्यम् ॥९१॥ भाषेति—या भाषा यच्चाहारकाख्यशरीर, यच्चोच्छ्वासनि श्वासादिक

प्राप्त होते हैं ॥८२॥ मछलियोंके चलनेमें पानीकी तरह जो जीवादि पदार्थोंके चलनेमें कारण है उसे तत्त्वज्ञ पुरुषोंने धर्मद्रव्य कहा है ॥८३॥ घामसे संतप्त मनुष्योंको छायाकी तरह अथवा घोडे आदिको पृथिवीकी तरह पुद्गलादि द्रव्योंके ठहरनेमे जो कारण है वह अधर्मद्रव्य है ॥८४॥ ये दोनों ही द्रव्य लोकाकाशमे व्याप्त होकर स्थित है, क्रियारहित हैं, नित्य हैं, अप्रेरक कारण हैं, और अमूर्तिक हैं ॥८५॥ पुद्गलादि पदार्थोंको अवगाह देनेवाला आकाश लोकाकाश और उसके बाहर सर्वत्र व्याप्त रहनेवाला आकाश शुद्धाकाश कहलाता है ॥८६॥ सर्वज्ञ देवने धर्म, अधम और एक जीवद्रव्यके असंख्यात तथा आकाशके अनन्त प्रदेश कहे हैं ॥८७॥ जीवादि पदार्थोंके परिवतनमें उपयोग आनेवाला वर्तना लक्षण सहित कालद्रव्य है । यह द्रव्य अप्रदेश तथा निश्चयकी अपेक्षा नित्य है ॥८८॥ सूर्य आदि की उदयास्त क्रियारूप जो काल है वह औपचारिक—व्यवहार काल है और मुख्य काल—निश्चय काल द्रव्यका सूचक है ॥८९॥ जो रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और शब्दसे सहित हैं वे पुद्गल हैं । ये स्कन्ध और आयुके भेदसे दो प्रकारके हैं तथा त्रिलोककी रचनाके कारण हैं ॥९०॥ पृथिवी, तैल, अन्धकार-छाया, गन्ध, कर्म और परमाणुके समान स्वभाव रखनेवाले वे पुद्गल जिनागममे स्थूल-स्थूल आदिके भेदसे छह प्रकारके होते है ॥९१॥ शब्द, आहार, शरीर, इन्द्रिय तथा

१ शैल घ० म० । २ कोष्ठकान्तर्गत पाठ सपादकस्य ।

यथागममजीवस्य कृता रूपनिरूपणा । इदानीमास्रवस्यापि कोषमुन्मुद्रयाम्यहम् ॥९३॥
शरीरवाङ्मन कर्मयोग एवास्रवो मत । शुभाशुभविकल्पोऽसौ पुण्यपापानुषङ्गतः ॥९४॥
गुरुनिह्नवदोषोक्तिमात्सर्यासादनादय । आस्रयत्वेन विज्ञेया दृग्ज्ञानावृतिकर्मणो ॥९५॥
दुःखशोकभयाक्रन्द-सताप-परिदेवनः । जीवो बध्नात्यसद्वेद्य स्वपरोभयसश्रये ॥९६॥
क्षान्तिशौचदयादानसरागसयमादय । भवन्ति हेतव सम्यक्[1] सातवेद्यस्य कर्मणः ॥९७॥
केवलिश्रुतसघार्हद्धर्माणामविवेकतः । अवर्णवाद एवाद्यो दृष्टिमोहस्य सभवः ॥९८॥
कषायोदयतस्तीव्रपरिणामो मनस्विनाम् । चारित्रमोहनीयस्य कर्मणः कारण परम् ॥९९॥
श्वभ्रायुषो निमित्तानि बह्वारम्भपरिग्रहा । मायार्तध्यानतामूल तिर्यग्योनिभवायुष ॥१००॥
नरायुषोऽपि हेतुः स्यादल्पारम्भपरिग्रहः । सरागसयमत्वादि-निदान त्रिदशायुषः ॥१०१॥
स्याद्विसंवादन योगवक्रता च निरत्यया । हेतुरशुभस्य नाम्नस्तदन्यस्य तदन्यथा ॥१०२॥

तत्सर्वं स्थूलसूक्ष्मभेद पुद्गलद्रव्यम् ॥९२॥ यथेति—आगमानुसारेण जीवनिरूपणा कृता । इदानी तृतीयतत्त्वस्यास्रवस्य स्वरूप निरूप्यते ॥९३॥ शरीरेति—कायवचनमन क्रियास्वरूप आस्रव । स च शुभरूपोऽशुभरूपश्च । शुभ पुण्यम् अशुभ पापम् ॥९४॥ गुर्विति—निजगुरुनिह्नवो गुरुमाहात्म्यलोपन दोपभापण कोपक्रिया आसादना गुणगणावज्ञा एते आस्रवप्राप्ता दर्शनज्ञानावरणकर्मणोर्निमित्त भवन्ति ॥९५॥ दु खेति—दु ख च शोकश्च भय आक्रन्दश्च सतापश्च परिदेवन रोदन च एतैश्च जीवोऽशुभवेदनीय बध्नाति स्वयकृतै परस्मिन्कारितैर्वा ॥९६॥ क्षान्तीति—क्षमानिर्लोभत्वदयादानश्रावकत्वम् एतानि शुभवेदनीयस्य निमित्त भवन्ति ॥९७॥ केवलीति—केवली सर्वज्ञस्तीर्थकरस्तत्प्रणीतागमसघा सघपूज्यो जिनमार्ग एतेपा दोपोद्भावन दर्शनमोहस्य कारणम् ॥९८॥ कषाय इति—क्रोधादिकषायोद्रेककृतस्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहनीयस्य कारणम् ॥ ९९ ॥ श्वभ्रेति—अनियमाद्बह्वारम्भो बहुपरिग्रहश्च नरकगतिकारणम् । आर्तध्यान मायाप्रपञ्चस्तिर्यग्गतिकारणम् ॥१००॥ नरेति—अल्पारम्भपरिग्रहत्व मनुष्यायुष कारण शुद्धश्रावकत्व बालतपश्चरणादिक च देवगते कारणम् ॥१०१॥ स्यादिति—नित्यमेव मनोवचनकायस्य दुष्टत्व विसवादन विप्रतिपत्तिकरणमशुभनामकारण

श्वासोच्छ्वास आदि जो कुछ भी मूर्तिमान् पदार्थ हैं वह सब स्थूल तथा सूक्ष्म भेदको लिये हुए पुद्गल ही हैं ॥९२॥ इस प्रकार आगमके अनुसार अजीव तत्त्वका निरूपण किया । अब कुछ आस्रव तत्त्वका रहस्य खोलता हूँ ॥९३॥ काय, वचन और मनकी क्रिया रूप योग ही आस्रव माना गया है । पुण्य और पापके योगसे उसके शुभ और अशुभ—दो भेद होते हैं ॥९४॥ गुरुका नाम छिपाना, उनकी निन्दा करना, मात्सर्य तथा आसादन आदि ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रव जानना चाहिए ॥९५॥ स्व, पर तथा दोनोंके आश्रयसे होनेवाले दुःख, शोक, भय, आक्रन्दन, सताप और परिदेवनसे यह जीव असातावेदनीयका बन्ध करता है ॥९६॥ क्षमा, शौच, दया, दान, तथा सरागसयम आदि सातावेदनीयके आस्रव होते हैं ॥९७॥ मूर्खतावश केवली, श्रुत, संघ तथा अर्हन्तदेवके द्वारा प्रणीत धर्मका अवर्णवाद करना—उनके अविद्यमान दोष कहना दर्शनमोहका आस्रव है ॥९८॥ तेजस्वी मनुष्योंका कषायके उदयसे जो तीव्र परिणाम हो जाता है वह चारित्र मोहनीय कर्मका कारण है ॥९९॥ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह रखना नरकायुके निमित्त हैं । माया और आर्तध्यान तिर्यंच योनिका कारण है ॥१००॥ अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह मनुष्यायुका कारण है तथा सराग संयमादि देवायुका आस्रव है ॥१०१॥ विसवाद और निरन्तर रहनेवाली योगोंकी

१ सम्यगसद्वेद्यस्य घ० म० ।

षोडशदृग्विशुद्धयाद्यास्तीर्थकृन्नामकर्मणः । स्वप्रशसान्यनिन्दाद्या नीचैर्गोत्रस्य हेतवः ॥१०३॥
विपरीताः पुनस्ते स्युरुच्चैर्गोत्रस्य साधकाः । अन्तराय सदानादिर्विघ्ननिर्वर्तनोदयः ॥१०४॥
रहस्यमिति निर्दिष्ट किमप्यास्रवगोचरम् । बन्धतत्त्वप्रबन्धोऽयमधुना विधिनोच्यते ॥१०५॥
सकषायतया दत्ते जीवोऽसख्यप्रदेशगान् । पुद्गलान्कर्मणो योग्यान् बन्ध स इह कथ्यते ॥१०६॥
मिथ्यादृक् च प्रमादाश्च योगाश्चाविरतिश्च[1] सा । कषायाश्च स्मृता जन्तोः पञ्चबन्धस्य हेतव ।१०७।
प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाना विभेदतः । चतुर्विध प्रणीतोऽसौ जैनागमविचक्षणे ॥१०८॥
अष्टौ प्रकृतय प्रोक्ता ज्ञानावृतिदृगावृती । वेद्य च मोहनीयायुर्नामगोत्रान्तराययुक् ॥१०९॥
तद्भेदा पञ्चनवद्वावष्टाविंशतिरप्यत । चत्वारो द्विचत्वारिंशद्द्वौ पञ्चापि स्मृता क्रमात्॥११०॥
आदितस्तिसृणा प्राज्ञैरन्तरायस्य च स्मृता । सागरोपमकोटीना त्रिंशत्कोट्य परा स्थितिः ॥१११॥
सप्ततिर्मोहनीयस्य विंशतिर्नामगोत्रयो । आयुषस्तु त्रयस्त्रिंशद्विज्ञेया सागरोपमाः ॥११२॥

सरलमनोवचनकायपरिणामोऽविसवादकरण शुभनामकारणम् ॥१०२॥ षोडशेति—दर्शनविशुद्धिर्विनयसपन्नता-शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुत-प्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणि मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति षोडशकारणानि तीर्थकरत्वस्य । आत्म-प्रशसा परनिन्दा च नीचैर्गोत्रस्य कारणम् ॥१०३॥ विपरीता इति—आत्मनिन्दा परप्रशसा च उच्चैर्गोत्रस्य कारणम् । दानलाभभोगोपभोगवीर्याणा विघ्नकरण पञ्चविधान्तरायकारणम् ॥१०४॥ रहस्यमिति—एतदास्रवमूल किंचित्कथितम् । बन्धतत्त्वमधुना कथ्यते ॥१०५॥ सकषायेति—कषायवशात् कर्मयोग्यान् पुद्गलपरमाणून् जीव आदत्ते स बन्ध ॥१०६॥ मिथ्येति—मिथ्यात्वादय पञ्चैते बन्धकारणानि ॥१०७॥ प्रकृतीति—स चतुर्धा प्रकृतिबन्ध स्थितिबन्ध अनुभागबन्ध. प्रदेशबन्धश्चेति ॥१०८॥ अष्टाविति—अष्टौ कर्मप्रकृतय ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेद्यमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाणि ॥१०९॥ तद्भेदा इति—ज्ञाना-वरणीय पञ्चभेद, दर्शनावरणीय नवभेद, वेद्य द्विभेद, मोहनीयमष्टाविंशतिभेदम् आयुश्चतुर्भेद, नामकर्म द्विचत्वारिंशद्भेद, गोत्र द्विभेदम्, अन्तराय पञ्चविधम् ॥११०॥ आदित इति—ज्ञानदर्शनावरणीयवेदनी-यान्तरायाणा प्रत्येक त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटच परा स्थिति ॥१११॥ सप्ततिरिति—सुगमम् ॥११२॥

कुटिलता अशुभ नामकर्मका तथा अविसंवाद और योगोंकी सरलता शुभ नामकर्मका आस्रव है ॥१०२॥ दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाएँ तीर्थंकर नामकर्मकी कारण हैं और स्वप्रशंसा तथा परनिन्दा आदि नीचगोत्रके निमित्त हैं ॥१०३॥ आत्मनिन्दा और परप्रशंसा उच्चगोत्रके साधक हैं तथा विघ्न करना दानान्तराय आदि अन्तराय कर्मके कारण हैं ॥१०४॥ इस प्रकार आस्रवतत्त्वका कुछ रहस्य कहा अब विधिपूर्वक बन्धतत्त्वका प्रबन्ध कहा जाता है ॥१०५॥ यह जीव सकषाय होनेसे कर्मरूप होनेके योग्य असंख्यात प्रदेशात्मक पुद्गलों को जो ग्रहण करता है वही बन्ध कहलाता है ॥१०६॥ मिथ्यादर्शन, प्रमाद, योग, अविरति और कषाय ये पाँच जीवके कर्म बन्धके कारण माने गये हैं ॥१०७॥ जैन वाङ्मयके जाननेवाले आचार्योंने प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशके भेदसे बन्धतत्त्व चार प्रकारका कहा है ॥१०८॥ कर्मोंकी निम्नलिखित आठ प्रकृतियाँ है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोह-नीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ॥१०९॥ उनके क्रमसे निम्न प्रकार भेद हैं—पाँच, नौ, अट्ठाईस, चार, ब्यालीस, दो और पाँच ॥११०॥ आदिके तीन तथा अन्तराय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति विद्वानोंके तीस कोड़ाकोड़ी सागर बतलायी है ॥१११॥ मोहनीयकी सत्तर कोड़ाकोडी

१ विरतिस्तथा घ० म० ।

अवरा[1] वेदनीयस्य मुहूर्ता द्वादश स्थिति । नाम्नो गोत्रस्य चाष्टौ स्याच्छेषास्त्वन्तर्मुहूर्तकम्॥११३॥
भावक्षेत्रादिसापेक्षो विपाक कोऽपि कर्मणाम् । अनुभागो जिनैरुक्त केवलज्ञानभानुभि ॥११४॥
ये सर्वात्मप्रदेशेषु सर्वतो बन्धभेदत । प्रदेशा कर्मणोऽनन्ता स प्रदेश स्मृतो बुधैः ॥११५॥
इत्येष बन्धतत्त्वस्य चतुर्धा वर्णित क्रम । पदैः[2] सव्रियते कैश्चित्सवरस्यापि डम्बर ॥११६॥
आस्रवाणामशेषाणा निरोध सवर स्मृतः । कर्म सव्रियते येनेत्यन्वयस्यावलोकनात् ॥११७॥
आस्रवद्वाररोधेन शुभाशुभविशेषत । कर्म सव्रियते येन सवर स निगद्यते ॥११८॥
[इति पाठान्तरम्]
धर्मात्समितिगुप्तिभ्यामनुप्रेक्षानुचिन्तनात् । असावुदेति चारित्रात्[3]परिषहजयादपि ॥११९॥
किमन्यैर्विस्तरैरेतद्रहस्य जिनशासने । आस्रव. ससृतेर्मूल मोक्षमूल तु सवर ॥१२०॥
सवरो विवृतः सैष सप्रति प्रतिपाद्यते । जर्जरीकृतकर्मायःपञ्जरा निर्जरा मया ॥१२१॥
दुर्जर निर्जरत्यात्मा यया कर्म शुभाशुभम् । निर्जरा सा द्विधा ज्ञेया सकामाकाममेदत ॥१२२॥

अवरेति—वेदनीयस्य जघन्या स्थितिर्द्वादश मुहूर्ता, नामगोत्रयोरष्टौ मुहूर्ता जघन्या स्थिति शेषाणा ज्ञानदर्शनावरणीयमोहनीयायुरन्तरायकर्मणामान्तर्मुहूर्तिकी स्थिति ॥११३॥ भावेति—द्रव्यक्षेत्रकालभावनामगीविशेषेण य कर्मविपाक सोऽनुभागोऽनुभव कथ्यते ॥११४॥ य इति—ये आत्मन सर्वप्रदेशेषु कर्मणो बन्धरूपेण अनन्ता परमाणव परिणता स प्रदेशबन्ध कथित ॥११५॥ इतीति—इति बन्धतत्त्व चतुर्भेद कथित कैश्चित्पदै सवरोऽपि कथ्यते ॥११६॥ आस्रवाणामिति—सर्वास्रवप्रतिषेधसबन्ध सवर । तथा च व्युत्पत्ति — कर्म सव्रियते सकोच्यते येन स सवर ॥११७॥ आस्रवेति—यदि वा शुभाशुभद्वारनिरोध सवर इति द्वितीया व्युत्पत्ति ॥११८॥ धर्मादिति—धर्माचरणात्समितिभावनात् गुप्तिप्रतिपालनात् द्वादशानुप्रेक्षाचिन्तनात्परिषहजयाच्चासौ सवर प्रभवति ॥११९॥ किमिति—अन्यैर्बहुजल्पितै किम् । जिनमतरहस्यमेतदेव ससारस्य मूलकारणमास्रव । मोक्षकारण तु सवर ॥१२०॥ सवर इति—सवर इति कथित साप्रत निर्जरा कथ्यते । किंविशिष्टा । जर्जरीकृत कर्माख्यलोहपञ्जर यया सा ॥१२१॥ दुर्जरमिति—दुर्जरमनन्यजार्यं शुभाशुभकर्म

और नाम तथा गोत्रकी बीस कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थिति है। आयु कर्मकी स्थिति केवल तेतीस सागर है ॥११२॥ वेदनीयकी जघन्यस्थिति बारह मुहूर्त, नाम और गोत्रकी आठ मुहूर्त तथा अवशिष्ट समस्त कर्मोंकी अन्तर्मुहूर्त है ॥११३॥ भाव तथा क्षेत्र आदिकी अपेक्षासे कर्मोंका जो विपाक होता है उसे केवलज्ञानरूपी सूर्यसे सम्पन्न जिनेन्द्र भगवान्ने अनुभागबन्ध कहा है ॥११४॥ आत्माके समस्त प्रदेशोंमे सब ओरसे कर्मके अनन्तानन्त प्रदेशोंका जो सम्बन्ध होता है उसे विद्वानोंने प्रदेशबन्ध कहा है ॥११५॥ इस प्रकार चार तरहके बन्धतत्त्व का क्रम कहा। अब कुछ पदोंके द्वारा सवरतत्त्वके विस्तारका भी संक्षेप किया जाता है ॥११६॥ जिससे कर्म रुक जावें ऐसी निरुक्ति होनेसे समस्त आस्रवोंका रुक जाना सवर कहलाता है ॥११७॥ जिसके द्वारा आस्रवका द्वार रुक जानेसे शुभ-अशुभ कर्मोंका आना बन्द हो जाता है वह संवर कहलाता है ॥११८॥ वह संवर धर्मसे, समितिसे, गुप्तिसे, अनुप्रेक्षाओंके चिन्तनसे, चारित्रसे और परिषह जयसे उदित होता है ॥११९॥ अन्य विस्तारसे क्या लाभ? जिनशासनका रहस्य इतना ही है कि आस्रव ससारका मूल कारण है और सवर मोक्षका ॥१२०॥ इस प्रकार सवरका वर्णन किया। अब कर्मरूप लोहेके पजरको जर्जर करनेवाली निर्जरा कही जाती है ॥१२१॥ आत्मा जिसके द्वारा शुभाशुभ भेदवाले दुर्जर कर्मोंको जीर्ण

१ अपरा छ० । २ सव्रियते क० । ३ –दरिषट्कजयादपि घ० म० ।

सा सकामा स्मृता जैनैर्या व्रतोपक्रमै कृता । अकामा स्वविपाकेन यथा श्वभ्रादिवासिनाम् ॥१२३॥
सागारमनगार च जैनैरुक्त व्रत द्विधा । अणुमहाव्रतभेदेन (?) तयो सागारमुच्यते ॥१२४॥
अणुव्रतानि पञ्च स्युस्त्रिप्रकार गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतानि चत्वारि सागाराणा जिनागमे ॥१२५॥
सम्यक्त्व भूमिरेषा यन्न सिध्यन्ति तदुज्झिता. । दूरोत्सारितससारात्यातपाव्रतपादपा ॥१२६॥
धर्माप्तगुरुतत्त्वाना श्रद्धान यत्सुनिर्मलम् । शङ्कादिदोषनिर्मुक्तं सम्यक्त्व तन्निगद्यते ॥१२७॥
तत्र धर्म स एवाप्तैर्य प्रोक्तो दशलक्षण । प्राप्तास्त एव ये दोषैरष्टादशभिरुज्झिता ॥१२८॥
गुरु स एव यो ग्रन्थैर्मुक्तो बाह्यैरिवान्तरै' । तत्त्व तदेव जीवादि यदुक्तं सर्वदर्शिभि. ॥१२९॥
शङ्काकाङ्क्षा विचिकित्सा मूढदृष्टिप्रशसनम् । सस्तवश्चेत्यतीचारा' सम्यग्दृष्टेरुदाहृता' ॥१३०॥

निर्जरति यया सा निर्जरा द्विविधा सकामा अकामा च ॥१२२॥ सेति—या तपश्चरणेन कृता सा सकामा स्वयमाविर्भवन्ती नारकाणामिवाकामा ॥१२३॥ सागारमिति—निर्जरानन्तर साम्प्रत मोक्षोपाय कथ्यते । सागार श्रावकाथितमनागार यत्याश्रितम् । तदपि एकदेशपरिपालनेनाणुव्रत सामस्त्यप्रतिपालनेन महाव्रतम् ॥१२४॥ अण्विति—तत्राणुव्रतानि हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहविरतिलक्षणानि, त्रीणि गुणव्रतानि—दिग्देशानर्थदण्डविरतिलक्षणानि, चत्वारि शिक्षाव्रतानि—सामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगनिवृत्तिलक्षणानि पश्चिमसल्लेखनासहितानि । एतानि श्रावकव्रतानि ॥१२५॥ सम्यक्त्वमिति—एषा पूर्वोक्तव्रताना सम्यक्त्व मूल यस्मात्तद्व्यतिरेकेण यथावाञ्छितार्थं न सभवति दूरनिराकृतससारदु खातपाव्रतवृक्षा ॥१२६॥ धर्मेति—वीतरागस्य तत्प्रणीतागमस्य तन्मुद्राधारिणा च यतीना यो याथातथ्येन निश्चय शङ्काद्यदोषवर्जितस्तत्सम्यक्त्वम् ॥१२७॥ तत्रेति—तत्र आप्तैर्वीतरागैर्य प्रोक्त स धर्म । स चोत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्यलक्षणो दशप्रकार । प्रकृष्टा आप्ता प्राप्तास्त एव येऽष्टादशदोषै 'क्षुधातृषाभय द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम् । जरा रुजा च मृत्युश्च स्वेद खेदो मदोऽरति ॥१॥ विस्मयो जनन निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवा ।' इत्येतल्लक्षणैर्निर्मुक्ता ॥१२८॥ गुरुरिति—गुरुः स एव यो बाह्यै. केशादिभि परिग्रहैराभ्यन्तरै क्रोधमानमायालोभादिलक्षणैश्च परिग्रहैर्विमुक्त । तत्त्व जिनोक्तमेव ॥१२९॥ शङ्केति—शङ्का उभयकोटिविलम्बिनी इद तत्त्व भवति न भवतीति वा सदिग्धरूपा । आकाङ्क्षा ससारसौख्याभिलाषबुद्धि । विचिकित्सा रोगाद्युपद्रुततपोधनादिशरीर प्रति बीभत्सुभावसभावनम् । मूढदृष्टिप्रशसन पाषण्डिप्रशसा । सस्तव पाषण्डि-

---

करता है वह निर्जरा है । इसके सकामनिर्जरा और अकामनिर्जराकी अपेक्षा दो भेद हैं ॥१२२॥ जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा प्रतिपादित व्रताचरणसे जो निर्जरा होती है वह सकाम निर्जरा है और नारकी आदि जीवोंके अपना फल देते हुए जो कर्म खिरते हैं वह अकाम निर्जरा है ॥१२३॥ जैनाचार्योंने सागार और अनागारके भेदसे व्रत दो प्रकारका कहा है । सागारव्रत अणुव्रतसे होता है और अनगारव्रत महाव्रतसे । उनमेसे यहाँ सागार व्रतका वर्णन किया जाता है ॥१२४॥ जिनागममे गृहस्थोंके पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत कहे गये हैं ॥१२५॥ सम्यग्दर्शन इन व्रतोंकी भूमि है क्योंकि उसके बिना ससारके दुःखरूप आतपको दूरसे ही नष्ट करनेवाले व्रतरूप वृक्ष सिद्ध नहीं होते—फल नहीं देते ॥१२६॥ धर्म, आप्त-गुरु तथा तत्त्वोंका शंकादि दोष रहित जो निर्मल श्रद्धान है वह सम्यग्दर्शन कहलाता है ॥१२७॥ उनमे धर्म वही है जो आप्त भगवान्‌के द्वारा क्षमादि दश प्रकारका कहा गया है और आप्त वही है जो अठारह दोषोंसे रहित हो ॥१२८॥ गुरु वही है जो बाह्याभ्यन्तर परिग्रहसे रहित हो और तत्त्व वही जीवादि हैं जो सर्वदर्शी-सर्वज्ञ जिनेन्द्र देवके द्वारा कहे गये हैं ॥१२९॥ शंका, आकाक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टिप्रशंसन और संस्तव—ये सम्यग्दर्शनके

अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरावपि । अतत्त्वे तत्त्वबुद्धिश्च तन्मिथ्यात्व विलक्षणम् ॥१३१॥
मधुमासासवत्याग पञ्चोदुम्बरवर्जनम् । अमी मूलगुणाः सम्यग्दृष्टेरष्टौ प्रकीर्तिता ॥१३२॥
द्यूत मास सुरा वेश्या पापर्द्धि स्तेयवृत्तिता । परदाराभियोगश्च त्याज्यो धर्मधुरन्धरैः ॥१३३॥
मोहादमूनि य सप्त व्यसनान्यत्र सेवते । अपारे दुःखकान्तारे ससारे बम्भ्रमीति सः ॥१३४॥
मुहूर्तद्वितयादूर्ध्वं भूयस्तोयमगालितम् । शीलयेन्नवनीत च न देशविरत क्वचित्[2] ॥१३५॥
दिनद्वयोषित तक्र दधि वा पुष्पितौदनम् । आमगोरससपृक्त द्विदल चाद्यान्न शुद्धधीः ॥१३६॥
विद्ध विचलितस्वाद धान्यमन्यद्विरूढकम् । तैलमम्भोऽथवाज्य वा चर्मपात्रापवित्रितम् ॥१३७॥
आर्द्रकन्द कलिङ्ग [कलिन्द]वा मूलक कुसुमानि च । अनन्तकायमज्ञातफल सधानकान्यपि १३८
एवमादि यदादिष्ट श्रावकाध्ययने सुधी । तज्जैनो पालयन्नाज्ञा क्षुत्क्षामोऽपि न भक्षयेत् ॥१३९॥

ससर्गकरणम् । एते सम्यक्त्वधारिणो दोषा ॥१३०॥ अदेव इति—रागाद्युपहते देवे देवबुद्धि सपरिग्रहेऽपि गुरौ गुरुबुद्धि, हिंसादिवादके ग्रन्थे तत्त्वबुद्धिरिति मिथ्यात्वलक्षणम् ॥१३१॥ मध्विति—मक्षिकोद्वान्ते मासे मदिराया च, वटपिप्पलादिपञ्चफलेषु च विरतिरित्यष्टौ मूलगुणा प्रथम श्रावकाणाम् ॥१३२॥ द्यूतमिति—द्यूत सारादिक्रीडन मास मदिरा पण्यस्त्री चौर्यमाखेटन परकलत्राभियोगश्च एतानि सप्त व्यसनानि सुदृष्टिना त्याज्यानि ॥१३३॥ मोहादिति—मोहादेतानि व्यसनानि ये सेवन्ते ते पौनपुन्येन ससारे भ्रमन्ति ॥१३४॥ मुहूर्तेति—घटिकाचतुष्टयानन्तरमगालितपानीय घटिकाचतुष्टयेन पुनर्गालनीय पानीय पिबेत् । नवनीत म्रक्षण च यो न भक्षयेत् स श्रावक ॥१३५॥ दिनेति—दिनद्वय मथितदध्यादिक पुष्पिकापिहितमोदन च मुद्गादिद्विदलमध्ये तक्रादिगोरस च सद्दृष्टिश्रावकस्त्यजति ॥१३६॥ विद्धमिति—विद्ध सुलित विचलितस्वाद सम्मूर्च्छित अङ्कुरित च विरूढादिधान्य त्याज्यम् । तैल जल घृत वा चर्मपात्रकुतुपादिस्थित नो ग्राह्यम् ॥१३७॥ आर्द्रकन्दमिति—सूरणशृङ्गवेरादिक किसलय कालिङ्ग फलविशेष मूलक कुसुम च सर्वमेतदनन्तकाय त्याज्यम् । अज्ञातफल सधानक च त्याज्यमेव ॥१३८॥ एवमिति—एव जिनागमे यदुक्त तज्जिनाज्ञा पालयन् बुभुक्षितोऽपि

अतिचार कहे गये हैं ॥१३०॥ जो अदेवमे देवबुद्धि, अगुरुमे गुरुबुद्धि और अतत्त्वमे तत्त्वबुद्धि है वही मिथ्यात्व है । यह मिथ्यात्व बडा विलक्षण पदार्थ है। [[3]अथवा मिथ्यात्व उक्त तीन लक्षणोंसे युक्त है] ॥१३१॥ मधु त्याग, मांस त्याग, मद्य त्याग और पॉच उदुम्बर फलोंका त्याग करना ये सम्यग्दृष्टिके आठ मूलगुण कहे गये हैं ॥१३२॥ धर्मात्मा पुरुषोंको जुआ, मास, मदिरा, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्रीसगका भी त्याग करना चाहिए ॥१३३॥ जो प्राणी मोहवश इन सात व्यसनोंका सेवन करता है वह इस ससाररूपी दुःखदायी अपार वनमे निरन्तर भ्रमण करता रहता है ॥१३४॥ देशविरत श्रावक दो मुहूर्त बाद फिरसे न छाने हुए पानी तथा मक्खनका कभी सेवन न करे ॥१३५॥ निर्मल बुद्धिवाला पुरुष दो दिनका तक्र, दही, जिसपर फूल (भकूडा) आ गया हो ऐसा ओदन तथा कच्चे गोरससे मिला हुआ द्विदल न खावे ॥१३६॥ घुना, चलितस्वाद तथा जिसमे नया अंकुर निकल आया हो ऐसा अनाज, चमडेके बर्तनमे रखनेसे अपवित्रित तैल, पानी, घी आदि नहीं ग्रहण करना चाहिए ॥१३७॥ अदरक, कलींदा (तरबूज), मूली, फूल, अनन्तकाय, अनजान फल और अचार-मुरब्बा आदि नहीं ग्रहण करना चाहिए ॥१३८॥ ऊपर कही हुई वस्तुओंको आदि लेकर उपासकाध्ययनमे जो-जो वस्तुएँ त्याज्य कही गयी हैं बुद्धिमान् श्रावक क्षुधासे क्षीण शरीर होनेपर भी उन्हें

---

१ देशविरति घ० म० । २ पुमान् छ० । ३ 'विलक्षण'मित्यस्य स्थाने 'त्रिलक्षणम्' इति पाठ सम्यक् प्रतिभाति ।

पापभीरुर्निशाभुक्तिं दिवा मैथुनमप्यसौ । मनोवाक्कायसंशुद्ध्या सम्यग्दृष्टिर्विवर्जयेत् ॥१४०॥
वर्तमानोऽनया स्थित्या सुसमाहितमानसः । भवत्यविकृतो नूनं श्रावकव्रतपालने ॥१४१॥
हिंसानृतवचःस्तेयस्त्रीमैथुनपरिग्रहात् । देशतो विरतिर्ज्ञेया पञ्चधाणुव्रतस्थितिः ॥१४२॥
दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो यत्त्रिधा विनिवर्तनम् । पोतायते भवाम्भोधौ त्रिविधं तद्गुणव्रतम् ॥१४३॥
शोधनीयन्त्रशस्त्राग्निमुसलोदूखलार्पणम् । ताम्रचूडश्वमार्जारशारिकाशुकपोषणम् ॥१४४॥
अङ्गारशकटारामभाटकास्फोटजीवनम् । तिलतोयेक्षुयन्त्राणां रोपणं दावदीपनम् ॥१४५॥
दन्तकेशनखास्थित्वग्रोम्णां निन्द्यरसस्य च । शणलाङ्गललाक्षायःक्ष्वेडादीनां च विक्रयः ॥१४६॥
वापीकूपतडागादिशोषणं कर्षणं भुवः । निर्लाञ्छनं भक्षरोधः पशूनामतिभारणम् ॥१४७॥
वनकेलिर्जलक्रीडा चित्रलेप्यादिकर्म वा । एवमन्येऽपि बहवोऽनर्थदण्डाः प्रकीर्तिताः ॥१४८॥
[कुलकम्]

सामायिकमथाद्यं स्याच्छिक्षाव्रतमगारिणाम् । आर्तरौद्रे परित्यज्य त्रिकालं जिनवन्दनात् ॥१४९॥
निवृत्तिर्भुक्तिभोगानां या स्यात्पर्वचतुष्टये । प्रोषधाख्यं द्वितीयं तच्छिक्षाव्रतमितीरितम् ॥१५०॥

सद्दृष्टिश्रावको न भक्षयति ॥१३९॥ पापेति—रात्रिभोजनं दिवससुरतं च मनोवाक्कायसंशुद्ध्या श्रावकः परित्यजेत् ॥१४०॥ वर्तमान इति—अनया स्थित्या प्रवर्तमानः सुस्थितचित्तः सम्यग्दृष्टिः श्रावकः स्यात् ॥१४१॥ हिंसेति—हिंसा प्राणोपघातः मिथ्यावचनं, चौर्यं मैथुनं स्त्रीणां सेवा, परिग्रहो वसुसत्त्वस्वीकारः एतेषामेकदेशेन विरतिः पञ्चाणुव्रतानि ॥१४२॥ दिगिति— यस्मिन् देशे दिग्भागे च धर्मलोपस्तस्मिन्गतिप्रतिषेधस्तद्गुणव्रतद्वयम्, अनर्थदण्डपरिहारश्च तृतीयं गुणव्रतं संसारमुत्तारयति ॥१४३॥ शोधनीति—समार्जनीयन्त्रिणीघानकादिशस्त्राग्नि–उदूखलादिकस्य परस्परं समर्पणं कुक्कुरमार्जारक्रूरजीवादीनां च पोषणम् । [अन्यत् स्पष्टम् । एतदनर्थदण्डानां प्रकारनिरूपणम् ।] ॥१४४–१४८॥ अनगारमिति– महाव्रतिनां तपश्चरणं द्विप्रकारं

नहीं खावे ॥१३९॥ पापसे डरनेवाला सम्यग्दृष्टि पुरुष मन, वचन, कायकी शुद्धिपूर्वक रात्रि-भोजन तथा दिवामैथुनका भी त्याग करे ॥१४०॥ उल्लिखित पद्धतिसे प्रवृत्ति करने एवं मनको सुस्थिर रखनेवाला पुरुष ही निश्चयसे श्रावकके व्रत पालन करनेका अधिकारी है ॥१४१॥ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापोंसे एक देशविरत होना पाँच अणुव्रत जानना चाहिए ॥१४२॥ दिग्, देश और अनर्थदण्डोंसे मन, वचन, कायपूर्वक निवृत्त होना तीन गुणव्रत है। यह गुणव्रत संसाररूपी समुद्रमें जहाजका काम देते हैं ॥१४३॥ झाड़ू, कोल्हू, शस्त्र, अग्नि, मूसल तथा ऊखली आदिका देना, मुर्गी, कुत्ता, बिलाव, मैना, तोता आदिका पालना, कोयला, गाड़ी, बाग-बगीचा, भाड़ा तथा फटाका आदिसे आजीविका करना, तिल, पानी तथा ईखके यन्त्र लगाना, वनमें अग्नि लगाना, दाँत, केश, नख, हड्डी, चमड़ा, रोम, निन्दनीय रस, सन, हल, लाख, लोहा तथा विष आदिका बेचना, बावड़ी, कुआँ, तालाब आदिका सुखाना, भूमिका जोतना, बैल आदि पशुओंको बधिया करना, उन्हें समयपर आहार-पानी नहीं देना, अधिक भार लादना, वनक्रीड़ा, जलक्रीड़ा, चित्रकर्म तथा लेप्यकर्म आदि बहुतसे अनर्थदण्ड कहे हैं। व्रती मनुष्यको इन सबका त्याग करना चाहिए ॥१४४–१४८॥ गृहस्थोंका प्रथम शिक्षाव्रत सामायिक है जो कि आर्त्त-रौद्र ध्यान छोड़कर त्रिकाल जिनवन्दना करनेसे होता है ॥१४९॥ चारों पर्वोंके दिन भोजन तथा अन्य भोगोंका त्याग करना दूसरा प्रोषध नामक शिक्षाव्रत है—ऐसा कहा गया है ॥१५०॥ सन्तोषी मनुष्यों-

---

१ १४९–१५४ श्लोकानां संस्कृतटीका नास्ति, सुगमत्वात्सम्पादकेनापि न मेलिता ।

भोगोपभोगसख्यान क्रियते यदलोलुपै । तृतीय तत्तदाख्य स्यादु खदावानलोदकम् ॥१५१॥
गृहागताय यत्काले शुद्ध दान यतात्मने । अन्ते सल्लेखना वान्यत्तच्चतुर्थं प्रकीर्त्यते ॥१५२॥
व्रतानि द्वादशैतानि सम्यग्दृष्टिर्बिभर्त्ति यः । जानुदघ्नीकृतागाधभवाम्भोधि स जायते ॥१५३॥
यथागममिति प्रोक्त व्रत देशयतात्मनाम् । अनगारमतः किंचिद्ब्रूमस्त्रैलोक्यमण्डनम् ॥१५४॥
अनगार व्रत द्वेधा बाह्याभ्यन्तरभेदत । षोढा बाह्य जिनैः प्रोक्तं तावत्सख्यानमान्तरम् ॥१५५॥
वृत्तिसख्यावमौदर्यमुपवासो रसोज्झनम् । रह स्थितितनुक्लेशौ षोढा बाह्यमिति व्रतम् ॥१५६॥
स्वाध्यायो विनयो ध्यान व्युत्सर्गो व्यावृतिस्तथा । प्रायश्चित्तमिति प्रोक्त तप षड्विधमान्तरम् ॥
यास्तिस्रो गुप्तय पञ्च ख्याता समितयोऽपि ता । जननात्पालनात्पोषादष्टौ तन्मातर स्मृता ।१५८।
निरूपितमिद रूप निर्जराया समासत । इयमक्षीणसौख्यस्य लक्ष्मीर्मोक्षस्य वर्ण्यते ॥१५९॥
अभावाद् बन्धहेतूना निर्जरायाश्च यो भवेत् । नि शेषकर्मनिर्मोक्ष स मोक्ष कथ्यते जिनै ॥१६०॥
ज्ञानदर्शनचारित्रैरुपायैः परिणामिन । भव्यस्यायमनेकान्ङ्गविकलैरेव जायते ॥१६१॥
तत्त्वस्यावगतिर्ज्ञान श्रद्धान तस्य दर्शनम् । पापारम्भनिवृत्तिस्तु चारित्र वर्ण्यते जिनै ॥१६२॥

बाह्यमाभ्यन्तर च । तत्र षड्विध बाह्य षड्विधमाभ्यन्तर च तप ॥१४९-१५५॥ स्वाध्याय इति—आभ्यन्तर कथ्यते—निरवद्यशास्त्राध्ययन यथोचितविनय बाह्यचिन्तानिराकरणेन परमात्मस्वरूपसभावन ध्यान, कायोत्सर्ग, यथोचित वैयावृत्यकरण, आगतदोषविशुद्धिविधान प्रायश्चित्तम् इति षड्विधमाभ्यन्तरम् ॥१५६–१५७॥ या इति—यास्तिस्रो मनोवचनकायनियन्त्रणलक्षणा गुप्तय, याश्च ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपलक्षणा समितयस्ता समुदिता अष्टौ प्रवचनमातर । कुत । प्रवचनजननपालनपोषणप्रधाना ॥१५८॥ निरूपितमिति—कथित निर्जरास्वरूप साम्प्रतमनन्तसौख्यलक्षणमोक्षस्य स्वरूप कथ्यते ॥१५९॥ अभावादिति—निर्जराभवनाद्बन्धाभावाच्च नि शेषकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष ॥१६०॥ ज्ञानेति—ज्ञानदर्शनचारित्रोपायेन भव्यस्य लब्धक्षेत्रद्रव्यकालभावसामग्रीकस्य परिणामिनो रत्नत्रयभावेन परिणमत ॥१६१॥ तत्त्वस्येति—तत्त्वावबोधो ज्ञान तत्त्वजिज्ञासा-

के द्वारा जो भोगोपभोगका नियम किया जाता है वह भोगोपभोग परिमाण व्रत है। यह व्रत दुःखरूपी दावानलको बुझानेके लिए पानीके समान है ॥१५१॥ घर आये साधुके लिए जो समयपर दान दिया जाता है, अथवा जीवनके अन्तमे जो सल्लेखना धारण की जाती है वह चौथा अतिथिसविभाग अथवा सल्लेखना नामक शिक्षाव्रत कहा जाता है ॥१५२॥ जो सम्यग्दृष्टि इन बारह व्रतोंको धारण करता है वह गहरे ससाररूप समुद्रको घुटनोंके बराबर उथला कर लेता है ॥१५३॥ इस प्रकार आगमके अनुसार श्रावकोंके व्रत कहे। अब यहाँसे त्रिलोकके आभरणभूत अनगार धर्मका कुछ वर्णन करते हैं ॥१५४॥ बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे अनगारधर्म—मुनिव्रत दो प्रकारका है। जिनेन्द्र भगवान्‌के बाह्यतपके छह भेद कहे हैं और आभ्यन्तर तपके भी उतने ही ॥१५५॥ वृत्तिपरिसख्यान, अवमौदर्य, उपवास, रस-परित्याग, एकान्त स्थिति और कायक्लेश ये छह बाह्य व्रत—तप हैं ॥१५६॥ स्वाध्याय, विनय, ध्यान, व्युत्सर्ग, वैयावृत्य और प्रायश्चित्त ये छह अन्तरगव्रत—तप हैं ॥१५७॥ जो तीन गुप्तियाँ और पाँच समितियाँ कही गयी हैं वे भी मुनिव्रतकी जनक, पालक और पोषक होनेसे अष्टमातृकाएँ कहलाती हैं ॥१५८॥ यह सक्षेपसे निर्जराका स्वरूप कहा, अब अविनाशी सुख-सम्पन्न मोक्षलक्ष्मीका वर्णन किया जाता है ॥१५९॥ बन्धके कारणोंका अभाव तथा निर्जरासे जो समस्त कर्मोंका क्षय होता है वह मोक्ष कहलाता है ॥१६०॥ वह मोक्ष उत्तम परिणामवाले जीवके एकरूपताको प्राप्त हुए ज्ञान, दर्शन और चारित्रके द्वारा ही होता है ॥१६१॥ तत्त्वोंका

ज्वालाकलापवद्वह्नेरूर्ध्वमेरण्डबीजवत् । तत. स्वभावतो याति जीवः प्रक्षीणबन्धन ॥१६३॥

लोकाग्रं प्राप्य तत्रैव स्थिति बध्नाति शाश्वतीम् । ऊर्ध्वं धर्मास्तिकायस्य विप्रयोगान्न यात्यसौ ॥१६४॥

तत्रानन्तमसप्राप्तमव्याबाधमसनिभम् । प्राग्देहात्किंचिदूनोऽसौ सुखं प्राप्नोति शाश्वतम् ॥१६५॥

इति तत्त्वप्रकाशेन नि शेषामपि ता सभाम् । प्रभु प्रह्लादयामास विवस्वानिव पद्मिनीम् ॥१६६॥

अथ पुण्यै समाकृष्टो भव्याना निःस्पृह प्रभुः । देशे देशे तमश्छेत्तु व्यहरद्भानुमानिव ॥१६७॥

दत्तविश्वावकाशोऽयमाकाशोऽतिगुरु क्षिते । गन्तुमित्यादृतस्तेन स्थानमुच्चैर्यियासुना ॥१६८॥

अनपायामिव प्राप्तु पादच्छाया नभस्तले । उपकण्ठे लुलोठास्य पादयो कमलोत्कर' ॥१६९॥

यत्तदा विदधे तस्य पादयो पर्युपासनम् । अद्यापि भाजन लक्ष्म्यास्तेनाय कमलाकर ॥१७०॥

तिलक तीर्थकृल्लक्ष्म्यास्तस्य प्राह पुरो भ्रमत् । धर्मचक्र जगच्चक्रे चक्रवर्तित्वमक्षतम् ॥१७१॥

सामान्यज्ञान वा दर्शनम्, आरम्भनिवृत्तिर्ज्ञानदर्शनस्थितिर्वा चारित्रम् ॥१६२॥ ज्वालेति—वह्निज्वालाकलापवत् स्फुटितैरण्डबीजवत्, जलत्रुडितमृत्तिकावलेपव्यपगमलघूकृततुम्बकवत् त्रुटितकर्मबन्धन आत्मा ऊर्ध्वं लोकाग्र प्रयाति ॥१६३॥ लोकाग्रमिति—तत्र लोकाग्रस्थो धर्मास्तिकायाभावात्क्वचिदपि न चलति शाश्वतमेव तिष्ठति ॥१६४॥ तत्रेति—अनन्तप्रमाण तथा अलब्धपूर्वमनौपम्य चरमशरीरत किंचिदूनो जीव शाश्वतसौख्य प्राप्नोति ॥१६५॥ इतीति—अनेन प्रकारेण देव सभा प्रमोदयामास सूर्य इव पद्मिनीम् ॥१६६॥ अथेति—अथ भव्यपुण्यप्रेरितो भगवान् प्रतिदेश विजहार ख्यातिलाभपूजाभिलाषविवर्जित । ध्वान्तमुन्मूलयितुमादित्य इव पक्षे तमो मोह ॥१६७॥ दत्तेति—अनेनाकाशेन त्रिभुवनस्याप्यवकाशो दत्त, अत इद पृथिव्या सकाशाद् गुरुतरमिति विचारयतेव प्रभुणा गगनस्थानमङ्गीकृतम् ॥१६८॥ अनपायामिति—चञ्चललक्ष्म्या निर्विण्ण शाश्वती लक्ष्मी यियासुरिव प्रभो पादप्रान्ते कमलप्रचयो लुठति स्म । पद्मयानेन [प्रभु] सचचारेति भाव ॥१६९॥ यदिति—यत्तदानी प्रभो पादतले लुठित कमलाकरस्तत्प्रभावेणेव अद्यापि लक्ष्मीस्थानमिति प्रसिद्ध ॥१७०॥ तिलकमिति—भुवनचक्रे त्रैलोक्ये तस्य प्रभोश्चक्रवर्तित्वमपरिभूत धर्मचक्र प्राह प्रभो पुरतो बम्भ्रम्य-

---

अवगम होना ज्ञान है, श्रद्धान होना दर्शन है और पापारम्भसे निवृत्ति होना चारित्र है—ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥१६२॥ बन्धन रहित जीव अग्निकी ज्वालाओंके समूहके समान अथवा एरण्डके बीजके समान अथवा स्वभावसे ही ऊर्ध्वगमन करता है ॥१६३॥ वह लोकाग्र-को पाकर वहींपर सदाके लिए स्थित हो जाता है। धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे आगे नहीं जाता ॥१६४॥ वहाँ वह पूर्व शरीरसे कुछ ही कम होता है तथा अनन्त, अप्राप्तपूर्व, अव्याबाध, अनुपम और अविनाशी सुखको प्राप्त होता है ॥१६५॥ इस प्रकार तत्त्वोंके प्रकाशसे भगवान् धर्मनाथने उस सभाको उस प्रकार आह्लादित कर दिया जिस प्रकार कि सूर्य कमलिनीको ॥१६६॥ तदनन्तर भव्य जीवोंके पुण्यसे खिंचे निःस्पृह भगवान्ने अज्ञान अन्ध-कारको नष्ट करनेके लिए सूर्यकी तरह प्रत्येक देशमे विहार किया ॥१६७॥ समस्त पदार्थोंको अवकाश देनेवाला यह आकाश पृथिवीसे कहीं श्रेष्ठ है—यह विचार कर ही मानो गमन करनेके इच्छुक भगवान्ने गमन करनेके लिए ऊँचा आकाश ही अच्छा समझा था ॥१६८॥ आकाशमे उनके चरणोंके समीप—कमलोंका समूह लोट रहा था जो ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान्के चरणोंकी अविनाशी शोभा पानेके लिए ही लोट रहा हो ॥१६९॥ चूँकि कमलोंके समूहने उस समय उनके चरणोंकी उपासना की थी इसलिए वह अब भी लक्ष्मीका पात्र बना हुआ है ॥१७०॥ उनके आगे-आगे चलता हुआ वह धर्मचक्र जो कि तीर्थंकर लक्ष्मी-के तिलकके समान जान पड़ता था, कह रहा था कि संसारमें भगवान्का चक्रवर्तीपना

विश्वप्रकाशकस्यास्य तेजोभिर्व्यर्थता गत' । सेवार्थं सचचाराग्रे धर्मचक्रच्छलाद्रवि ॥१७२॥
यत्रातिशयसपन्नो विजहार जिनेश्वरः । तत्र रोगग्रहातङ्कशोकशङ्कापि दुर्लभा ॥१७३॥
निष्कलाभा बभूवुस्ते विपक्षा इव सज्जना । प्रजा इव भुवोऽप्यासन्निष्कण्टकपरिग्रहा ॥१७४॥
के विपक्षा वराकास्ते प्रातिकूल्यविधौ प्रभो । महाबलोऽपि यद्वायुः प्राप तस्यानुकूलताम्॥१७५॥
हेमरम्य वपु पञ्चचत्वारिंशद्धनुर्मितम् । बिभ्रद्देवै श्रितो रेजे स्वर्णशैल इवापर ॥१७६॥
द्वाचत्वारिंशदेतस्य सभाया गणिनोऽभवन् । नवैव तीक्ष्णवुद्धीना शतानि पूर्वधारिणाम् ॥१७७॥
शिक्षकाणा सहस्राणि चत्वारि सप्तभि' शतै । सह षड्भि॰ शतैस्त्रीणि सहस्राण्यधिवोधिनाम् ।१७८।
केवलज्ञानिना पञ्चचत्वारिंशच्छतानि च । मन पर्ययनेत्राणा तावन्ति क्षपिताहसाम् ॥१७९॥
सप्तैव च सहस्राणि विक्रियर्द्धिमुपेयुषाम् । शतैरष्टाभिराश्लिष्टे द्वे सहस्रे च वादिनाम् ॥१८०॥
आर्यिकाणा सहस्राणि षट्चतुर्भि शतै सह । श्रावकाणा च लक्षे द्वे शुद्धसम्यक्त्वशालिनाम् ।१८१।

माण तीर्थंकरलक्ष्म्यास्तिलकसदृशम् ॥१७१॥ विश्वेति—अस्य त्रिभुवनप्रकाशकस्य तेजोभिर्विजित इव भास्वान् सेवार्थं पुरस्सर सन् धर्मचक्रव्याजेन सचचारेति भाव ॥१७२॥ यत्रेति—यत्र चतुस्त्रिंशदतिशयोपेतो भगवान् विहृतवान् तत्र व्याधिप्रभृतीना वार्तापि नष्टा ॥१७३॥ निष्केति—ते विपक्षा परवादिनो निष्कलाभा नि श्रीका बभूवु । सज्जना अपि निष्कस्य सुवर्णस्य लाभो येषा ते तद्विधा । प्रजाश्चौरवरटाद्युपद्रववर्जिता पक्षे भुवोऽपि कण्टकद्रुमवर्जिता ॥१७४॥ क इति—परवादिन प्रभो समीपे के । न केऽपीत्यर्थ । यतो महाबलो वायुरपि अनुकूलो वातिस्म ॥१७५॥ हेमरम्यमिति—स्वर्णवर्णपञ्चचत्वारिंशद्दण्डप्रमाण देवै श्रितशरीरं बिभ्राणोऽपरमेरुरिव बभौ ॥१७६॥ द्वाचत्वारिंशदिति—तत्र समवसरणे द्वाचत्वारिंशद्गणधरा बभूवु, नवशतानि तीक्ष्णवुद्धयश्च चतुर्दशपूर्वधारिणस्तपोधना ॥१७७॥ शिक्षकाणामिति—प्रभोश्चत्वारि सहस्राणि सप्त शताधिकानि शिक्षका । त्रीणि सहस्राणि षट्शताधिकानि अवधिज्ञानिन ॥१७८॥ केवलेति—चत्वारि सहस्राणि पञ्चशताधिकानि केवलज्ञानिना मन पर्ययज्ञानिना च ॥१७९॥ सप्तैवेति—वैक्रियिकर्द्धियुक्ता अष्टशताधिके द्वे सहस्रे च वादिनाम् ॥१८०॥ आर्यिकाणामिति—षट्सहस्राणि चतु शताधिकानि आर्यिकाणा

अखण्डित है ॥१७१॥ चूँकि समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले इन भगवान्‌के तेजसे सूर्य व्यर्थ हो गया था अतः मानो वह धर्मचक्रके छलसे सेवाके लिए उनके आगे-आगे ही चलने लगा हो ॥१७२॥ अतिशयसम्पन्न जिनेन्द्र देव जहाँ विहार करते थे वहाँ रोग, ग्रह, आतंक, शोक तथा शंका आदि सभी दुर्लभ हो जाते थे ॥१७३॥ उस समय साधु पुरुष परवादियोंके समान निष्कलाभ हुए थे अर्थात् जिस प्रकार परवादी निष्कलाभ—निःश्रीक—शोभारहित हुए थे उसी प्रकार साधु पुरुष भी निष्कलाभ—सुवर्णके लाभसे युक्त हुए थे और पृथिवी भी प्रजाके समान निष्कण्टक परिग्रह हुई थी अर्थात् जिस प्रकार निष्कण्टक परिग्रह—चोर तथा बर्र आदिके उपद्रवसे रहित थी उसी प्रकार पृथिवी भी निष्कण्टक—काँटोंसे रहित हुई थी ॥१७४॥ जब कि महाबलवान् वायु भी उनकी अनुकूलताको प्राप्त हो चुकी थी तब बेचारे अन्य शत्रु क्या थे जो कि उनकी प्रतिकूलतामें खड़े हो सकें ? ॥१७५॥ पैंतालीस धनुष ऊँचे सुवर्ण सुन्दर शरीरको धारण करनेवाले जिनेन्द्र, देवोंसे सेवित हो ऐसे जान पडते थे मानो दूसरा सुमेरु पर्वत ही हो ॥१७६॥ इनकी सभामें बयालीस गणधर थे और नौ सौ तीक्ष्ण बुद्धिवाले पूर्वधारी थे ॥१७७॥ चार हजार सात सौ शिक्षक थे और तीन हजार छह सौ अवधिज्ञानी थे ॥१७८॥ चार हजार पाँच सौ केवलज्ञानी थे और पापको नष्ट करनेवाले मनःपर्ययज्ञानी भी उतने ही थे ॥१७९॥ सात हजार विक्रिया ऋद्धिके धारक थे और दो हजार आठ सौ वादी थे ॥१८०॥ छह हजार चार सौ आर्यिकाएँ थीं, शुद्ध सम्यग्दर्शनसे सुशोभित दो लाख

श्राविकाणा तु चत्वारि लक्षाणि क्षपितनसाम् । निर्जराणा तिरश्चा च सख्याप्यत्र न बुध्यते॥१८२॥

इत्याश्वास्य चतुर्विधेन महता सघेन सभूषित
सैन्येनेव विपक्षवादिवदनाकृष्टामशेषा महीम् ।
दृप्यन्मोहचमू विजित्य विजयस्तम्भाय मान तदा
संमेदाचलमाससाद विजयी श्रीधर्मनाथ· प्रभु ॥१८३॥

तत्रामाद्य सिताशुभोगसुभगा चैत्रे चतुर्थी तिथिं
यामिन्या स नवोत्तरैर्यमवता साक शतैरष्टभि· ।
सार्धद्वादशवर्षलक्षपरमारस्यायुष प्रक्षये
ध्यानध्वस्तसमस्तकर्मनिगलो जातस्तदानी क्षणात् ॥१८४॥

अभजदथ विचित्रैर्वाक्प्रसूनोपचारैः प्रभुरिह हरिचन्द्राराधितो मोक्षलक्ष्मीम् ।
तदनु तदनुयायी प्राप्तपर्यन्तपूजोपचितसुकृतराशिः स्व पद नाकिलोक· ॥१८५॥

इति श्रीमहाकविहरिचन्द्रविरचिते धर्मशर्माभ्युदये महाकाव्ये श्रीधर्मनाथनिर्वाणगमनो नामैकविंश सर्गः समाप्त ॥२१॥

द्वे लक्षे श्रावकाणा च ॥१८१॥ श्राविकाणामिति—श्राविकाश्चत्वारि लक्षाणि देवाना तिरश्चा च सख्या न बुध्यते ॥१८२॥ इतीति—इत्याश्वास्य चतुर्विधसघोपेत समस्त भरतक्षेत्रार्यखण्ड मोहसेना जित्वा विजयस्तम्भसदृश समेदगिरिं प्राप्त ॥१८३॥ तत्रेति—तत्र [नवोत्तराष्टशतसख्याकैं] तपोधनैं साद्धं [सार्धं] द्वादशलक्षवर्षायुष क्षये ध्यानध्वस्तसमस्तकर्मनिचयश्चैत्रमासे शुक्लपक्षे चतुर्थ्यां रात्रौ निर्वृत्तो बभूव ॥१८४॥ अभजदिति—अथानन्तर भगवान् मोक्षलक्ष्मीमय शिश्राय । किंविशिष्ट । हरिचन्द्राराधित शक्रशशिसेवित । कै । वाक्प्रसूनोपचारैं स्तुतिभिरष्टविधपूजाभिश्च । तदनुपश्चात् तदनुयायी तत्सेवातत्पर सन् कृतनिर्वाण-कल्याणमहोत्सवोपार्जितपुण्यराशिर्निज निज स्थान चतुर्णिकायामरसघातो जगाम ॥१८५॥

इति श्रीमन्मण्डलाचार्यललितकीर्तिशिष्यपण्डितश्रीयशस्कीर्तिविरचिताया सदेहध्वान्त-दीपिकाया धर्मशर्माभ्युदयटीकायामेकविंशतितम सर्ग ॥२१॥

श्रावक थे ॥१८१॥ पापको नष्ट करनेवाली श्राविकाएँ चार लाख थीं और देव तथा तिर्यंचोंकी संख्या ज्ञात नहीं है अर्थात् वे असंख्यात थे ॥१८२॥ इस प्रकार सेनाकी तरह चार प्रकारके सघसे सुशोभित धर्मनाथ स्वामी मिथ्यावादियोंके मुखसे आकृष्ट समस्त पृथिवीको सान्त्वना देकर अहकारी मोह-राजाकी सेनाको जीत विजयी होते हुए विजयस्तम्भके समान आचरण करनेवाले सम्मेदाचलपर जा पहुँचे ॥१८३॥ वहाँ उन्होंने चैत्र मासकी शुक्ल चतुर्थीको पाकर रात्रिके समय साढे बारह लाख प्रमाण उत्तम आयुका क्षय होनेपर आठ सौ नौ मुनियोंके साथ क्षण भरमे ध्यानके द्वारा समस्त कर्मरूपी बेडियाँ नष्ट कर दीं ॥१८४॥ तदनन्तर विविध प्रकारके स्तोत्रों तथा पुष्पवृष्टि आदिसे [पक्षमे फूलोंके समान सुकुमार वचनोंसे] हरिचन्द्र—इन्द्र तथा चन्द्रमा [पक्षमे महाकवि हरिचन्द्र] के द्वारा पूजित भगवान् धर्मनाथ मोक्षलक्ष्मी-को प्राप्त हुए और निर्वाण कल्याणककी पूजासे पुण्य राशिका संचय करनेवाले भक्त देव लोग अपने-अपने स्थानोंको प्राप्त हुए ॥१८५॥

इस प्रकार महाकवि श्रीहरिचन्द्र-द्वारा विरचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यमें भगवान् धर्मनाथके निर्वाण महोत्सवका वर्णन करनेवाला इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२१॥

ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः

श्रीमाननेयमहिमास्ति स नोमकाना[2]
वंशः समस्तजगतीवलयावतंसः ।
हस्तावलम्बनमवाप्य यमुल्लसन्ती
वृद्धापि न स्खलति दुर्गपथेषु लक्ष्मीः ॥१॥

मुक्ताफलस्थितिरलंकृतिषु प्रसिद्ध-
स्तत्रार्द्रदेव इति निर्मलमूर्तिरासीत् ।
कायस्थ एव निरवद्यगुणग्रहः स-
न्नेकोऽपि यः कुलमशेषमलंचकार ॥२॥

लावण्याम्बुनिधिः कलाकुलगृहं सौभाग्यसद्भाग्ययोः
क्रीडावेश्म विलासवासवलभीभूषास्पदं संपदाम् ।
शौचाचारविवेकविस्मयमही प्राणप्रिया शूलिनः
शर्वाणीव पतिव्रता प्रणयिनी रथ्येति[3] तस्याभवत् ॥३॥

अर्हत्पदाम्भोरुहचञ्चरीकस्तयोः सुतः श्रीहरिचन्द्र आसीत् ।
गुरुप्रसादादमला बभूवुः सारस्वते स्रोतसि यस्य वाचः ॥४॥

भक्तेन शक्तेन च लक्ष्मणेन निर्व्याकुलो राम इवानुजेन ।
यः पारमासादितबुद्धिसेतुः शास्त्राम्बुराशेः परमाससाद ॥५॥

श्रीमान् तथा अपरिमित महिमाको धारण करनेवाला वह नोमक वंश था जो कि समस्त भूमण्डलका आभरण था जिसका हस्तावलम्बन पा लक्ष्मी वृद्ध होनेपर भी दुर्गम मार्गोंमें कभी स्खलित नहीं होती ॥१॥ उस नोमक वंशमें निर्मल मूर्तिके धारक वह आर्द्र देव हुए जो कि अलंकारोंमें मुक्ताफलकी तरह सुशोभित होते थे। वह कायस्थ थे, निर्दोष गुण-ग्राही थे और एक होकर भी समस्त कुलको अलंकृत करते थे ॥२॥ उनके महादेवके पार्वतीकी तरह रथ्या नामकी प्राणप्रिया थी जो कि सौन्दर्यकी समुद्र थी, कलाओंका कुलभवन थी, सौभाग्य और उत्तमभागका क्रीडाभवन थी, विलासके रहनेकी अट्टालिका थी, सम्पदाओंके आभूषणका स्थान थी, पवित्र आचार, विवेक और आश्चर्यकी भूमि थी ॥३॥ उन दोनोंके अरहन्त भगवान्के चरण कमलोंका भ्रमर हरिचन्द्र नामक वह पुत्र हुआ जिसके कि वचन गुरुओंके प्रसादसे सरस्वतीके प्रावहमें—शास्त्रोंमें अत्यन्त निर्मल थे ॥४॥ वह हरिचन्द्र श्रीरामचन्द्रकी तरह भक्त एवं सामर्थ लघु भाई लक्ष्मणके साथ निराकुल हो बुद्धिरूपी पुलको

---

१ प्रशस्तिरियं क० ख० ग० ज० पुस्तकेषु नास्ति । संस्कृतटीकाप्यस्या नास्ति । २ मूडविद्रीस्थजैनमठस्थित-२४ क्रमाङ्के पुस्तके 'नेमदाना' इति पाठः । ३ राधेति छ० ।

पदार्थवैचित्र्यरहस्यसम्पत्सर्वस्व-निर्वेशमयात्प्रसादात् ।
वाग्देवतायाः समवेदि सभ्यैर्यः पश्चिमोऽपि प्रथमस्तनूजः ॥६॥

स कर्णपीयूषरसप्रवाहं रसध्वनेरध्वनि सार्थवाहः ।
श्रीधर्मशर्माभ्युदयाभिधानं महाकविः काव्यमिदं व्यधत्त ॥७॥

एष्यत्यसारमपि काव्यमिदं मदीय-
मादेयतां जिनपतेरनघैश्चरित्रैः ।
पिण्डं मृदः स्वयमुदस्य नरा नरेन्द्र-
मुद्राङ्कितं किमु न मूर्धनि धारयन्ति ॥८॥

दक्षैः साधु परीक्षितं नवनवोल्लेखार्पणेनादराद्
यच्चेतः कषपट्टिकासु शतशः प्राप्तप्रकर्षोदयम्[1] ।
नानाभङ्गिविचित्रभावघटनासौभाग्यशोभास्पदं
तन्नः काव्यसुवर्णमस्तु कृतिनां कर्णद्वयीभूषणम् ॥९॥

जीयाज्जैनमिदं मतं शमयतु क्रूरानपीयं कृपा
भारत्या सह शीलयत्वविरतं श्रीः साहचर्यव्रतम् ।
मात्सर्यं गुणिषु त्यजन्तु पिशुनाः संतोषलीलाजुषः
सन्तः सन्तु भवन्तु च श्रमविदः सर्वे कवीनां जनाः ॥१०॥

पाकर शास्त्ररूपी समुद्रके द्वितीय तटको प्राप्त हुआ था ॥५॥ पदार्थोंकी विचित्रतारूप गुप्त सम्पत्तिके समर्पणरूप सरस्वतीके प्रसादसे सभ्योंने उसे सरस्वतीका अन्तिम पुत्र होनेपर भी प्रथम पुत्र माना था ॥६॥ जो रसरूप ध्वनिके मार्गका सार्थवाह था ऐसे उसी महाकविने कानोंमें अमृतरसके प्रवाहके समान यह धर्मशर्माभ्युदय नामका महाकाव्य रचा है ॥७॥ मेरा यह काव्य निःसार होनेपर भी जिनेन्द्र भगवान्‌के निर्दोष चरित्रसे उपादेयताको प्राप्त होगा। क्या राजमुद्रासे चिह्नित मिट्टीके पिण्डको लोग उठा-उठाकर स्वयं मस्तकपर धारण नहीं करते ॥८॥ समर्थ विद्वानोंने नये-नये उल्लेख अर्पण कर जिसकी बड़े आदरके साथ अच्छी परीक्षा की है, जो विद्वानोंके हृदयरूप कसौटीके ऊपर सैकड़ों बार खरा उतरा है और जो विविध उक्तियोंसे विचित्रभावकी घटनारूप सौभाग्यका शोभाशाली स्थान है वह हमारा काव्यरूपी सुवर्ण विद्वानोंके कर्णयुगलका आभूषण हो ॥९॥ यह जिनेन्द्र भगवान्‌का मत जयवन्त हो, यह दया क्रूर प्राणियोंको भी शान्त करे, लक्ष्मी निरन्तर सरस्वतीके साथ साहचर्यव्रत धारण करे, खलपुरुष गुणवान् मनुष्योंमें ईर्ष्याको छोड़ें, सज्जन सन्तोषकी लीलाको प्राप्त हों और सभी लोग कवियोंके परिश्रमको जाननेवाले हों ॥१०॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

१ प्रकर्षोत्सवम् च० छ० ।

धर्मशर्माभ्युदयस्यैकोनविंशसर्गस्थचित्राणामुद्धारः

१ गोमूत्रिकाबन्धः। (श्लोकः ७८)

स वा जि सि धु र ग्रा मा न्स भ्र मा द प्ति धा वि लं

ज वा द सि स्फु र द्धा मा वि भ्र न्ना द म धा म त.

२ अर्धभ्रमः। (श्लोकः ८४)

ज	घा	न	क	र	वा	ली	य
घा	ते	ना	रे	बं	ल	न	ली
न	ना	शा	ते	लि	रा	ल	वा
क	रे	ते	ना	व	नि	वं	र

३ सर्वतोभद्रम्। (श्लोकः ८६)

भ	र	या	म	म	या	र	भ
र	जि	ता	द	द	ता	जि	र
या	ता	क्ष	मा	मा	क्ष	ता	या
भ	द	मा	र	र	मा	द	भ
म	द	मा	र	र	मा	द	भ
या	ता	क्ष	मा	मा	क्ष	ता	या
रं	जि	ता	द	द	ता	जि	रं
भ	र	या	म	म	या	र	भ

४ मुरजबन्धः। (श्लोकः ९४)

दे व ना ध भ ना दे स्य

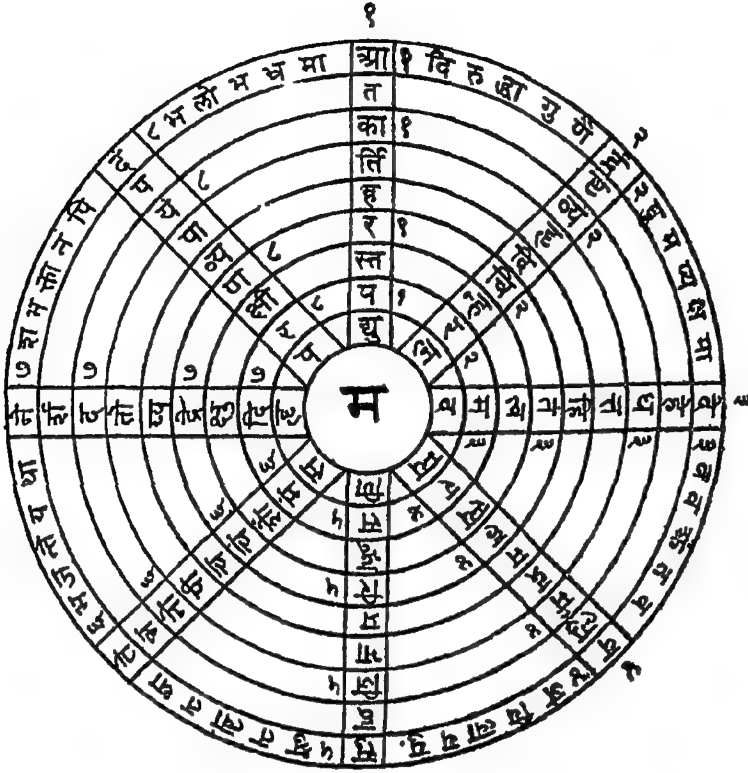
भा व ना स्त भ मा ह ते

त्व यी ना सी त्स न्ना स्त द्विड्

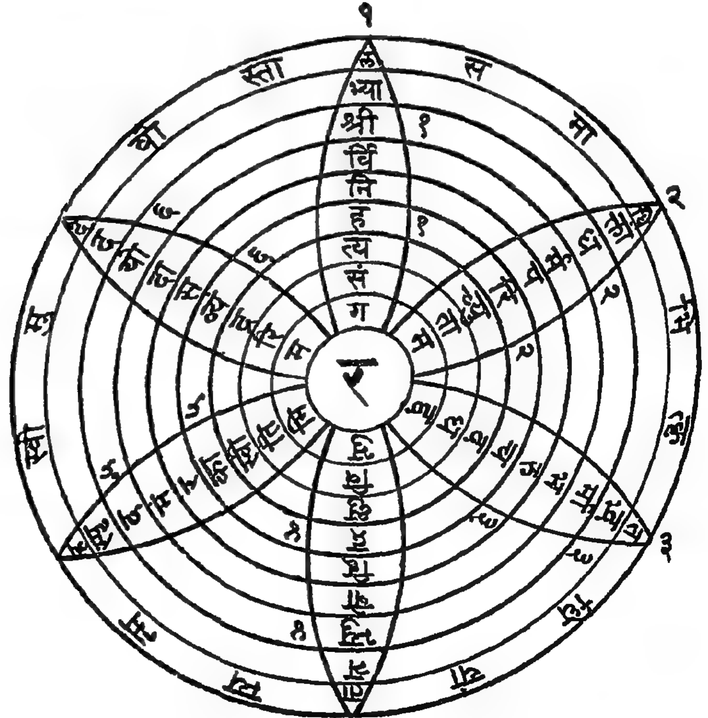
ज यी ना ध म ना स्त तः

५ षोडशदलपद्मबन्धः। (श्लोकौ ९८-९९)

ति१७



६ चक्रबन्धः ।
(श्लोकौ १०१-१०२)



७ चक्रबन्धः ।
(श्लोकः १०४)

श्लोकानुक्रमः

स०।श्लो०

[अ]

अकलुषतरवारिभिर्वि० १३।५४
अकामनिर्जराबालतप २१।७८
अकृत्रिमैश्चैत्यगृहैर्जि० ७।३६
अखण्डहैमाण्डकपुण्ड ७।११
अखिलमलिनपक्ष पूर्वं० ८।४४
अगुरुरिति सुगन्धिद्रव्य० ११८५
अगोचर चण्डरुचेरपि १२।४०
अग्रे प्रसर्पच्चतुरङ्गविस्तृता ९।५६
अग्रे भजन्तो विरसत्व० ४।७
अङ्गमुत्तुङ्गमातङ्गमा० १९।५५
अङ्गरागमपि कापि ५।४९
अङ्गवङ्गमगधान्ध्रनैषधं ५।१६
अङ्गसग्रहपर करपातं १५।४५
अङ्गसादमवसादितधै० १५।१०
अङ्गारशकटारामभा० २१।१४५
अङ्गेषु जातेष्वपि त १७।९४
अङ्गोऽप्यनङ्गो हरिणे० १७।४५
अचिन्त्यचिन्तामणि० १८।२१
अजस्रमासीद्घनसप० १८।६२
अट्टालशालापणचत्व १७।८९
अणुव्रतानि पञ्च स्यु० २१।१२५
अतस्तमानसे सेना १९।५६
अतिशयपरिभोगतो० १३।६२
अतुच्छमच्छाद्यमहो २।१०
अत्यन्त किमपि १६।८०
अत्यन्तनि सहैरङ्गैर्मु० ३।४२
अत्यन्तमव्याहतवेग० ९।२०
अत्र प्रचारो न वि० १०।५५
अत्रान्तरे वेत्रिनिवे० १७।१०६
अत्रोच्चरुक्मशिखरी १०।४६
अथ तथाविधभाविसु० ३।७५
अथ तं प्रेषितो दूत १९।४

स०।श्लो०

अथ दिदृक्षुममु रम० ११।६३
अथ पुण्यै समाकृष्टो २१।१६७
अथ प्रतीहारपदे १७।३२
अथ श्रुताशेषसुखप्र० १८।१
अथ श्लथीभूतविमो० १८।५५
अथ स तत्र निधीश्व० ११।१
अथ स दण्डधरेण २।७६
अथ सरभसमस्या ८।१
अथाङ्कदम्भेन सहो० १४।७५
अथाधिपेनार्थयितु १०।१
अथापनिद्रावधिबोध० ४।१
अथापराद्ध दयितेन १२।१४
अथाभवन्नम्बुदनाद० १७।८६
अथाभिषेक्तु सुरशैल० ७।९
अथायमन्येद्युरुदार० १७।१
- अथायमाहूय पतिं १७।१०७
अथारणाच्युतौ कल्पा २१।६९
अथास्तसध्यारुचिरा० १४।२१
अथास्ति जम्बूपपद १।३२
अथास्पद नभोगाना ३।४५
अथास्य पत्नी निखि० २।३५
अथैकदान्त पुरसार० २।६३
अथैकदा व्योम्नि निर० ४।४१
अथैनमापृच्छ्य सबा० ४।७७
अथैष मूर्च्छत्सु मृदङ्ग० १८।४५
अथैष शृङ्गारवतीमि० १८।६
अथोऽङ्घ्रिना नेत्रसह० १७।७
अथोचितसपर्यया ४।९३
अथो जिनेन्द्रानुचरा ७।५२
अथोत्थाय नृप पीठा० ३।१
अदेवे देवबुद्धिर्या २१।१३१
अदृष्टसतति स्पष्ट० ३।५७
अद्य भूप भवतोऽस्ति ५।३३

स०।श्लो०

अद्योत्क्षिप्य कर व्रवी० १६।८७
अध कृतस्तावदन० ७।२१
अध स्थेपु करी सा २१।७२
अधस्तात्तस्य विस्तीर्णे ३।३९
अधिक दरमेत्याहो १९।३१
अधिगतकरुणारसेव १३।१०
अधिगतनदमप्यगा० १३।२०
अधिश्रिय नीरदमा ७।३३
अधृष्यमन्यैरधिरुह्य ४।१५
अध्यासीनो ध्यानमु २०।३६
अनन्यनारीप्रणयिन्य १२।१५
अनपायामिव प्राप्तुं २१।१६९
अनागार व्रत द्वेधा २१।१५५
अनादरेणापि सुधा० २।५२
अनादृतोपक्रमकर्ण० १८।२३
अनारत वीररमाभि० ४।३५
अनारत मन्दरमेदु० १७।५३
अनिन्द्यदन्तद्युतिफे० २।५९
अनुकलितगुणस्य सौ० १३।६४
अनुगतभुजगेन्द्रान्म० ८।१४
अनुगतभुजमालाली० ८।२९
अनुगुणमनुभावस्यानु० ८।४
अनुज्झितस्नेहभर त्रि० १८।१८
अनेकधातुच्छविभा० १०।१८
अनेकधातुरङ्गाढ्या० १९।८३
अनेकपद्माप्सरस १।४४
अनेकपापरक्तो वा १९।२९
अनेकविटपस्पृष्टपयो० ३।२४
अनेन कोदण्डसखेन १७।६०
अनेन कोपज्वलनेन ४।२७
अनेन पूर्वापरदिग्वि० १०।४७
अन्त स्खलल्लोहखली० ९।६३
अन्त स्थितप्रथितरा० १।६८

	स०।श्लो०
अन्तरत्यन्तनिर्गूढप०	१९।३४
अन्तरस्थावकाशेन	३।४१
अन्तरूर्ध्वफणिवि०	५।७५
अन्तर्बाह्यदीप्यमान०	२०।५४
अन्तर्लीनैकैकनिष्क०	२०।७५
अन्तर्वपु प्रणयिन	६।३
अन्य जलाधारमित	१४।२३
अन्याङ्गनासगमलाल०	४।५५
अन्ये मियोपात्तपयो०	४।२८
अन्योन्यधट्टनरणन्म०	६।३७
अन्योन्यदत्त विसख०	१४।१६
अन्योन्यसचलनघ०	६।४२
अन्योन्यस्खलनवशा०	१६।५०
अपत्यमिच्छन्ति त०	१८।१२
अपहृतवसने जडेन	१३।२५
अपहृतवसने जलैर्नि०	१३।४२
अपारयन्नप्रतिरूपमङ्ग	७।४
अपास्तपीयूषमयूख०	१२।१६
अपास्य पूर्वामभिस०	१४।२
अपि जगत्सु मनोभ०	११।५६
अपेक्ष्य काल कमपि	१८।२५
अप्युदग्रीवैः श्रूयमाणा	२०।९८
अबला ता पुरस्कृत्य	१९।१६
अबालशैवालदला०	७।५६
अभजत जघन जघान	१३।४८
अभजदथ विचित्रै०	२१।१८५
अभावाद्बन्धहेतूना	२१।१६०
अभिनवमणिभुक्ता०	८।१२
अभिनवशशिनो	१३।६६
अभिमुखमभिदह्यमा०	१३।६९
अभूदथेक्ष्वाकुविशा०	२।१
अभ्युपात्तकमलै	५।७०
अमान्त इव हर्म्येभ्य०	३।६
अमितगुणगणाना	८।४७
अमी भ्रमन्तो वितत०	७।२७
अमूर्तश्चेतनाचिह्न	२१।१०
अम्भोधिरिव कल्पा०	१९।८१
अयं स कामी नियत	१७।६
अयमतिशयवृद्धो	८।११

	स०।श्लो०
अयमनङ्गगजस्य म०	११।५१
अयमस्माकमेणाक्षि	३।३२
अयमिह जटिलोर्मि०	८।२४
अयमुपरि सविद्युत्तो०	८।२१
अर्जिकाणां सहस्राणि	२१।१८१
अर्थे हृदिस्थेऽपि कवि	१।१४
अर्धोदितेन्दो शुकच०	१४।३६
अर्हत्पदाम्भोरुह० ग्र०प्र०	।४
अलंकृत मङ्गलसवि०	१८।३
अलमलममृतेनास्वा०	८।५५
अल्पीयसि स्वस्य फले	४।५३
अवकरनिकुरम्बे मारु०	८।५
अवन्तिनाथोऽयमनि०	१७।३३
अवरावेदनीयस्य	२१।११३
अवापुरेके रिपव	२।२७
अवासवाञ्छाम्यधि०	२।२४
अवाप्य तत्पाणिपुटा०	७।२
अवाप्य सर्पाधिपमौ०	१।३६
अविरतजलकेलिलो०	१३।५५
अविरलपलितायमा०	१३।२१
अविरललहरीप्रसार्य०	१३।४७
अव्याहतप्रसरवात०	६।४९
अशेषसुरसुन्दरीनय०	१०।१७
अश्मगर्भमणिकिङ्किणी०	५।७३
अश्मगर्भमयमूर्ध्वमु०	५।४७
अश्रान्त श्रिय इव	१६।४९
अश्रुगद्गदगिरामिह	१५।५७
अष्टोत्तरा दशशती	६।१५
अष्टौ प्रकृतय प्रोक्ता	२१।१०९
असक्तमाकारनिरीक्ष०	२।१३
असत्पथस्थापितदण्ड०	४।३७
असभृत मण्डनमङ्ग्य०	४।५९
असह्यहेतिप्रसरै प०	७।२९
असारससारमरुस्थ०	२।६८
असावनालोक्य कु०	२।७२
असुराहिसुपर्णाग्निवि०	२१।६१
अस्त गते भास्वति	१४।२४
अस्ताचलात्कालवली०	१४।२२
अस्ताद्रिमारुह्य रवि	१४।८

	स०।श्लो०
अहमिह गुरुलज्जया	१३।३९
अहमिह महमीहे	५।९०
अहमुदयवता जनेन	१३।५६
अहह निर्दहति स्म	११।११
अहेरिवापातमनोरमे०	४।५४
अहो खलस्यापि म०	१।२६
अहो समुन्मीलति	१७।१८
अस्य मानाधिकै सेना	१९।१३
अस्याः स्वरूप कथमे०	९।३५
अस्येदमावर्जितमौलि०	१७।३६
[आ]	
आ सचरन्नम्भसि	१४।७४
आः कोमलालापपरे०	१।२७
आकर्णपूर्ण कुटिलाल०	४।५८
आक्रान्ते चटुलतुरग०	१६।५१
आक्षिप्तप्रलयनटोद्भ०	१६।४४
आगतोऽयमिह तत्त०	५।३५
आगत्यासनकम्पक०	५।८९
आज्ञामतिक्रम्य मनो०	१४।२७
आज्ञामिव पुरि क्लेश०	३।३
आतङ्काकुलशबरीवि०	१६।५७
आतङ्कार्तिहरस्तपद्म०	१९।१०१
आदाय नेपथ्यमथो०	१४।६१
आदाय शब्दार्थम०	१।२८
आदितस्तिसृणा प्राज्ञै.	२१।१११
आद्ये वर्षसहस्राणि	२१।२२
आनन्दोच्छ्वसितमना	१६।८३
आयाति कान्ते हृदय	१४।७७
आयाति प्रबलतरप्र०	१६।३७
आयातो दुरधिगमा०	१६।२९
आयु कर्मालानभङ्गे	२०।११
आयुर्योजनयानस्य	२१।३७
आरम्भोच्छलिततुर०	१६।२४
आरूढस्तुरगमिम	१६।६७
आरोप्य चित्रा वरप०	१४।६०
आर्तध्यानवशाज्जीवो	२१।४२
आर्द्रकन्द कलिङ्ग वा	२१।१३८
आलापैरिति बहुमा०	१६।८२

स०।श्लो०

आलिङ्ग्य बालाय स० १७।९७
आवर्तगर्तान्तिरसी प० १४।१२
आविर्बभूवु स्मरसूर्य० १४।६९
आविर्भवद्ध्वान्तकृपाण० १४।९
आविर्भूत यद्भूवद्भूत० २०।९५
आविष्कर्तुं स्फारमो० २०।४
आस्रवद्वाररोधेन शु० २१।११८
आस्रवाणामशेषाणा २१।११७
आसंसार साहचर्यन्न० २०।४४
आंसज्योद्धृतचरणाप० १६।१६
आसिन्धुगङ्गाविजया० ९।६७
आ स्कन्ध जलमव० १६।६१
आस्कन्धमृज्वी तद० १।५१
आस्ता जगन्मणे० १९।४०
आस्य तस्या. साल० २०।७३
आहतानि पुरुषायित० १५।५८
आहवक्रममामूलमथ १९।१

[इ]

इक्ष्वाकुमुख्यक्षितिपा० १७।१०
इक्ष्वाकुवशप्रभव प्र० १७।७१
इत प्रभृत्यम्ब न ते २।३८
इतस्तत कज्जलकोम० १२।३०
इतस्ततो लोलनभाजि ७।६३
इति कयापि दयाप० ११।४३
इति कृतजलकेलिकौ० १३।५८
इति तत्त्वप्रकाशेन २१।१६६
इति तिर्यग्गतेर्भेदो २१।४३
इति निरुपमभक्ति ८।४३
इति निरुपमलक्ष्मीर० २०।१०१
इति निशम्य स स० ४।९२
इति प्रमोदादनुशास्य १८।४४
इति प्रसङ्गादुपलालि० १२।२५
इति प्रीतिप्राय बहल० ३।७७
इति मुहुरपरैर्यथार्थ० १३।१३
इति राजगणे तस्मि० १९।३२
इति वचनमुदार मा० ११।७२
इति विशङ्क्य मघोर्व० ११।२२
इति व्यतिक्रम्य दि० १८।५४

स०।श्लो०

इति व्यावर्णितो जीव० २१।८०
इति सरसिरुहभ्रमा० १३।४०
इतीव काचिन्नवचूत० १२।४६
इतीव भा स्तम्भित० १।७४
इत्थ यावत्प्राप्य वैरा० २०।२४
इत्थ वारिविहारके० १३।७१
इत्थ विचिन्त्यैष कृ० ९।४२
इत्थ विदर्भवसुधावि० १६।८८
इत्थ वियोगानलदा० १४।७६
इत्थ विलोक्य मघु० १५।७०
इत्थ स त्रिदशजनस्य १६।३८
इत्थ ग्रन्थिमिव प्रमथ्य ३।७४
इत्थ घने व्यञ्जितने० १४।७२
इत्थ चिन्तयतोऽथ २।७५
इत्थ तदर्थकथया हृदि ५।८७
इत्थ तयोक्ते द्विगु० १७।७८
इत्थ पुर. प्रेष्य जरा० ४।६०
इत्थ मिथ पौरकथा १७।८३
इत्यङ्गशोभातिशयेन १७।२३
इत्यब्दाना पञ्चलक्षाणि २०।१
इत्याकर्ण्य स तस्य १०।५७
इत्याकस्मिकविस्मया २।७९
इत्याराध्य त्रिभुवनगुरु ८।५७
इत्याश्वास्य चतुर्विधेन २१।१८३
इत्युच्चैर्निगदति वेत्रि० १६।४१
इत्युच्चैस्तनवप्रभूषणव० ९।८०
इत्युदीर्य च मिथ ५।४६
इत्येष सचिन्त्य वि० ४।६१
इत्येष नि शेषजगल्ल० ४।५०
इत्येष बन्धतत्त्वस्य २१।११६
इन्दुर्यदन्यासु कला १४।३७
इन्द्रोपेन्द्रब्रह्मरुद्राह० २०।१९
इमामनालोचनगोचरा २।५५
इय गिरेर्गैरिकरागर० १०।२३
इयमुदस्य करौ परि० ११।४६
इय प्राणप्रिया पत्नी ३।५६
इलामूलमिलन्मौलिर्न० ३।४६
इह क्षरन्निर्झरवारिहा० ७।६५
इह घनैर्मलिनैरपह० ११।३३

स०।श्लो०

इह तृषातुरमर्थिनमा० ११।३०
इह पिहितपदार्थे स० ८।५४
इह मृगनयनासु सा० १३।५
इह शुना रसनावद० ११।३१
इह हि मिलितरङ्ग० ८।२५
इह हि रोध्ररजासि ११।६१
इहाबभौ मारुतधूत० १२।२९
इहार्थकामाभिनिवेश० १८।३२
इहेहते यो नतवर्ग० १८।३३
इहोपभुक्ता कतमैर्न १८।४२

[उ]

उक्तमागमनिमित्तमा० ५।३०
उक्त्वा तमित्यनुचर १७।१०९
उग्रदग्घमघिरोप्य ५।६५
उचितमाप पलाश ११।१६
उच्चासनस्थोऽपि सता १।३०
उच्चैस्तनशिखोल्लासिप० ३।२२
उत्क्षिप्तकेतुपटपल्लवि० ६।२३
उत्क्षिप्तसहकाराग्रम ३।३०
उत्खातखड्गप्रतिबिम्ब० ४।३४
उत्खातपङ्क्तिलविसा० ६।८
उत्खाताचलशिखरै १६।५४
उत्तरीयमपकर्षति १५।३१
उत्तिष्ठ त्रिजगदधीश १६।२८
उत्तिष्ठन्नुदयगिरेरिवे० १६।३९
उत्तुङ्गद्रुमवलभीषु पा० १६।६४
उत्थितान्यपि रतो० १५।६४
उत्पालिकाभ्रूस्तिमितै० १।४७
उत्फालैर्द्रुतमवटस्थ० १६।५२
उत्सङ्गमारोप्य तमङ्गज ९।११
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो २१।४९
उत्साहशीलाभिरल ९।७७
उदशुमत्या कलया १४।३४
उदग्रशाखाकुसुमार्थ० १२।४२
उदग्रशाखाञ्चनचञ्च० १२।५०
उदञ्चति भ्रूलतिका १२।१२
उदञ्चदुच्चै स्तनवप्रशा० २।४१
उदधिनिहितनेत्रा० ८।१५

	स०।श्लो०
उदर्कवक्रा वनितास्व	२।२०
उदीरयन्नित्यमृतप्रपा	१२।३९
उदीरिते श्रीरतिकी०	२।५६
उदेति पातालतलात्सु०	१।७२
उद्गायतीव भ्रमदिक्षु०	४।६
उद्दण्ड यत्र यशासी०	१९।६५
उद्दामद्विरदेनाद्यो (?)	१९।२८
उद्दामरागरससागर०	६।३९
उद्दामसामोद्भवचीत्क०	१०।५०
उद्धर्तुमुद्दामतमिस्रप०	१४।३८
उद्भिद्य भीममवस०	१०।४०
उद्भिन्नोद्दामरोमाञ्चक०	१९।४८
उद्यत्पदाङ्गुष्ठनखांशुद०	९।१९
उद्यन्नूजालम्बितना०	१७।९८
उद्वल्गत्तुरगतरङ्गिता०	१६।५३
उन्निद्रयन्निव चिराय	६।३२
उन्मादिका शक्तिर०	४।७२
उन्मीलन्नवनलिनीम०	१६।६२
उन्मीलन्नवनलिनीव०	१०।२९
उन्मुद्रितो यत्नवतापि	१७।८२
उपचितमतिमात्र वा०	८।१३
उपनदि नलिनीवनेषु	१३।१८
उपनदि पुलिने प्रि०	१३।१६
उपर्युपारूढवधूमुखे०	१।८३
उपागमे तद्विपदाम०	४।५१
उपात्ततन्त्रोऽप्यखि०	१८।१६
उपात्ततारामणिभूष०	१४।५३
उपासनायास्य बला०	२।१४
उपेत्य वात्येव जरा०	१८।११
उपेयुषोऽनन्तपथा०	७।३८
उल्ललास विनिमीलि०	१५।१२
उल्लसत्केसरो रक्तप०	३।२५
उल्लासितानन्दपय०	१७।९
[ऊ]	
ऊना सहस्रैरब्दाना	२१।५४
ऊर्ध्वं तस्यास्ताक्ष्यह०	२०।८४
ऊर्ध्वं तेभ्योऽभून्चतु०	२०।८७
ऊर्ध्वं तेभ्यो वल्लभ	२०।९१

	स०।श्लो०
[ऋ]	
ऋतुकदम्बकमाह्वयती	११।६४
[ए]	
एक आद्ये द्वितीये च	२१।२०
एकका इह निशम्य	५।१९
एकत्र नक्षत्रपति.	१४।४०
एक पात्र सौकुमार्यस्य	२०।४८
एकया गुरुकलत्रमण्ड०	५।५४
एकान्त सुरसवरार्थ०	१६।६३
एकेन तेन बलिना	६।७
एके भुजैर्वारणसेतुभि	९।७६
एको न केवलमनेक०	६।१८
एणनाभिमभिवीक्ष्य	५।१५
एणनाभिरसनिर्मिते०	५।५१
एता. प्रवालहारिण्यो	३।३४
एता धनुर्यष्टिभिर्वि०	१७।१४
एतैत हे धावत प०	१७।८८
एन पति प्राप्य दि०	१७।३७
एव नरकलक्षाणाम०	२१।१६
एवमादि यदादिष्ट	२१।१३९
एष्यत्यसारम० ग्र०प्र०	१८
[ऐ]	
ऐरावणश्चटुलकर्णक्ष०	६।३५
ऐरावणस्याथ करात्क०	४।४३
ऐरावणेन प्रतिदन्ति०	१४।३३
[ओ]	
ओंकारवत्प्रस्तुतमङ्ग०	९।४७
ओष्ठखण्डननखक्षति०	१५।५५
[औ]	
औत्सुक्यतुन्ना शिशु०	९।६
[क]	
क शर्मद वृजिनभी०	१९।९९
क पण्डितो नाम	९।१३
कङ्क कि कोककेकाकी	१९।८२
कङ्कोलकैलालवली०	१७।६२
कटके सरोजवनस०	१०।४२
कण्ठीरवेणेव निशान्त०	९।२१
कतिपयैर्दशनैरिव	११।८
कथमधिकगुण कर	१३।२६

	स०।श्लो०
कथमपि तदिनोमगा०	१३।१९
कदाचिदपि नैतेषा	२१।२३
कदर्पकोदण्डलताभि०	१७।२६
कधरावधि तिरोहिता	५।३
कपोललावण्यमया०	२।५७
कपोलहेतोः खलु लो०	२।५०
कम्पाद्भुव क्षुभ्यदद्यो०	९।६०
कयाचिदुज्जृम्भित०	१२।४९
करणबन्धविवर्तनसा०	११।६२
करी करोत्क्षिप्तसरो०	७।५५
करेणुमारुह्य पतिवरा	१७।११
करेऽन्दुक कङ्कणम०	१७।८७
करैः प्रवालान्कुसुमानि	१२।४३
कर्कशस्तनयुगेन न	१५।३८
कर्णाकार गोपुराणा	२०।८५
कर्णाटलाटद्रविडान्ध्र०	१७।६५
कर्तुं कार्यं केवल स्वस्य	२०।८
कर्पूरपूरैरिव चन्दना०	१४।४८
कर्मकौशलदिदृक्षयात्र	५।१८
कर्मभूमिभवास्तेऽपि	२१।४७
कलमरालवधूमुखख०	११।५०
कलविराजिविराजित०	११।१०
कलापिनो मन्द्ररसा०	११।७०
कलुषमिह विपक्ष द०	८।३१
कल्पद्रुचिन्तामणिका०	९।५२
कल्पद्रुमान्कल्पितदा०	१।५५
कल्पान्तोद्यद्द्वादश०	२०।४६
कशाश्चने किंचिदवा०	७।४५
कश्चित्कराभ्या नख०	१७।३०
कषायोदयतस्तीव्रप०	२१।९९
काञ्चीव रत्नोच्चयगु०	९।७२
कानना कानने तुन्ना	१९।९२
कान्तकान्तदशनच्छ०	१५।२९
कान्तारतरवो नैते	३।२३
कान्ति कालव्यालचू०	२०।६
कान्तिकाण्डपटगु०	५।५
कापि भूत्रयजयाय	५।४८
कापिशायनरसैरभि०	१५।२३
काम प्रति प्रोज्झित०	४।१७

	सं०|श्लो०
कामसिद्धिमिव रूप०	५।४०
कामस्तदानी मिथुनानि	१४।१५
कामहेतुरुदितो मधु०	१५।१८
कामान्धमेव द्रुतमा०	१७।१००
कामिना द्रुतमपास्य	१५।३२
काम्बोजवानायुजवा०	९।५०
कायस्थ एव स्मर एष	१४।५८
कारुण्यद्रविणनिधे	१६।४०
कार्मणेनैव तेनोढा	१९।८
कार्यशेषमशेषज्ञोऽशे०	१९।२
काले कुलस्थितिरिति	६।१०
काले प्रजाना जन०	४।११
कालो दिनकरादीना०	२१।८९
कासारसीकरासारमु०	३।३१
किं सीधुना स्फाटि०	४।४२
किं चाग्रतस्तेन नि०	९।३३
किं तु सा स्थितिर०	५।२६
किं त्वत्र भूवल्लिज०	४।६५
किं न पश्यति पतिं	१५।१४
किमतनुतरपुण्यै	८।३
किमन्यदन्ये पिकप०	१२।४५
किमन्यैर्विस्तरैरेतद्रहस्य	२१।१२०
किमपि पाण्डुपयोध०	११।४७
किमपि मृदुमृदङ्गध्वा०	८।४१
किमप्यहो धाष्टर्यम०	१४।५०
किमुच्यतेऽन्यद्गुणर०	१८।४३
किमु दासतया स्था०	१९।२४
किमेणकेतु किमसा०	१७।१०२
किं भ्रूम शिरसि ज०	१६।७९
कुत सुवृत्त स्तनयु०	१७।२१
कुतश्चिर जीवति वा०	४।४७
कुन्तलाञ्जनविचक्षण०	१५।४१
कुपितकेसरिचक्रचपे०	१०।३७
कुमुद्वतीविभ्रमहास०	१४।४४
कुम्भभूरिव निर्मग्न०	१९।५७
कुम्भयुग्ममिव भङ्ग०	५।८४
कुर्वन्गुर्वी वाङ्मन	२०।४०
कुलेऽपि किं तात त०	३।५
कुशोपरुद्धा द्रुतमाल०	१०।५६
कुष्माण्डीफलभरगर्भ०	१६।७२
कृतश्रमा ये नववी०	७।४६
कृताप्यधो भोगिपुरी	१।६२
कृताभिषेको न पर	१८।५१
कृतार्थाविति मन्ये०	३।७२
कृतार्थीकृतार्थीहित	१०।५१
कृता स्वभ्रगतेर्भेदा०	२१।३२
कृतेऽपि पुष्पावचये	१२।५८
कृतेर्ष्ययेव त्वयि द०	१२।१७
कृतौ न चेत्तेन विर०	२।४७
कृत्वा रूप दशपोत०	२०।८०
के न वार्णनवार्णस्ते	१९।६६
केवलज्ञानिना पञ्चच०	२१।१७९
केवलिश्रुतसघार्हद्धर्मा०	२१।९८
के विपक्षा वराकास्ते	२१।१७५
केशास्तस्याधत्त मा०	२०।३०
केशेषु भङ्गस्तरलत्व०	१।७९
कोदण्डदण्डनिर्मुक्त०	१९।६३
कोलाहल कापि मुधा	१७।९५
कौमुदीरसविलासला०	५।६६
क्रान्ते तवाङ्गे वलिभि	४।५६
क्रीडाशैलप्रस्थपद्मास०	२।७८
क्रीडोद्यानान्यत्र च	२०।८१
क्रूर कृतान्तमहिष०	६।४०
क्वचिन्न चक्रे करवा०	१८।५७
क्व प्रयासि परिभूय	५।७६
क्व यामि तत्किं नु	२।७४
क्वायं जगल्लोचनवल्लभो	९।३८
क्वेदं नभ. क्व च दिश.	१०।४३
क्वेय लक्ष्मी क्वेदृश	२०।९९
क्षण वितर्कयंति स	४।४४
क्षान्तिशौचदयादा०	२१।९७
क्षालितोऽपि मधुना	१५।२१
क्षितितलविनिवेश०	१३।३
क्षुद्रतेज सविश्वोभि	३।७०
क्षेत्रच्छदे पूर्वविदे०	१।३३
क्षेत्रश्रीरचिकतिलोत्त०	१६।६९
क्षोदीयानहमस्मीति	३।६६
[ख]	
खड्गश्वासावशिष्टेऽथ	१९।९५
खण्डन ताडन तन्त्री०	२१।३१
खल विधात्रा सृजता	१।२२
खल इव द्विजराजमपि	११।३२
खलीनपर्याणमपास्य	७।६२
खिन्न मुहुश्चारुचको०	१७।५२
[ग]	
गङ्गामुपास्ते श्रयति	१७।४८
गङ्गोरगगुरुप्राङ्गणौर०	१९।५४
गच्छ त्वमाच्छादित०	१४।६२
गच्छन्नधश्चिरतर जि०	६।१६
गच्छन्ननलपतरकल्प०	६।३६
गजभ्रमान्मुग्धमृगा	७।३४
गजवाजिजवाजिज०	१९।९६
गजो न वन्यद्विपदा०	७।५४
गण्डमण्डलभुवि स्त०	१५।५१
गतश्रपो यस्त्रपुणीव	१८।२०
गतागतेषु स्खलित	१२।५
गतेऽपि दृग्गोचरमत्र	२।२
गन्तुमारभत कोऽपि	१५।६८
गभीरनाभिह्लदमज्जदु०	२।४२
गर्जितवल्गितदिग्ग०	५।६१
गर्भे वसन्नपि मलैर०	६।९
गहनकुञ्जलतान्तरित०	११।१७
गाढस्त्रीभुजपरिरम्भ०	१६।४
गायन्नटन्नमदनुन्नज०	६।३८
गायन्नादेनेव भृङ्गाङ्ग०	२०।९३
गिरीशलीलावनमित्यु०	१२।२७
गीत वाद्य नृत्यमप्या०	२०।३३
गुणदोषानविज्ञाय	१९।३८
गुणपरिकरमुच्चैं कुर्व०	८।५३
गुणलतेव धनुर्भ्रमरा०	११।७१
गुणातिरेकप्रतिपत्ति०	१७।७०
गुणानवस्तान्नयतो०	१।२९
गुणार्णव नक्तनराम०	१८।५८
गुणैर्घनोन्नते नून भ०	३।६७
गुरु स एव यो ग्र०	२१।१२९
गुरुनिह्नवदोषोक्तिसा०	२१।९५

स०।श्लो०

गुरुस्तनाभोगभरेण १।२।६
गुरोर्नितम्बादिह का० २।४६
गृहागताय यत्काले २१।१५२
गृहीतपाणिस्त्वमनेन १७।६१
ग्रीष्मार्कतेजोभिरिव १७।५०

[घ]

घनतरतरुणाढ्येनात्र ८।२०
घनसुषिरततानामुद्ध० ८।३०
घनानिलोत्थैः स्थलप० ७।२४

[च]

चकर्ष निर्मुक्तशिली० १७।५४
चकार यो नेत्रचकोर० २।६४
चकास्ति पर्यन्तपतत्प० १।३९
चक्राब्जशङ्खादिविलो० ९।१८
चक्रे कार्यं समस्तस्य २०।४७
चक्रेऽरिसततिमिहा० १९।९८
चतस्रः कोटयस्तिस्रो २१।५३
चतुरङ्गबले तत्र परी० १९।७७
चतुरङ्गां चमूं त्यक्त्वा १९।७
चतुर्थपुरुषार्थाय स्पृ० ३।५८
चतुर्थी दशभिर्युक्ता २१।१५
चतुर्थे त्रीण्यहान्येव २१।४१
चन्दनस्थासकैर्हास्य ३।५
चन्द्रप्रभं नौमि यदीय० १।२
चन्द्रांशुचन्दनरसादपि १९।९७
चन्द्रे सिञ्चति चान्द्र० १४।८४
चन्द्रोदयोज्जृम्भित० १४।५७
चित्रं किमेतज्जिनया० ९।२
चित्रमेतज्जगन्मित्रे ३।५१
चित्रं प्रचिक्रीड यथा ९।१२
चुम्बनेन हरिणीनय० १५।६९
चेतश्चमत्कारिणमत्यु० १७।५५
चेतस्ते यदि चपल १६।९

[छ]

छद्मस्थोऽसौ वर्षमेकं २०।५६
छाया कायस्यास्य २०।९६
छायेव धर्मतप्तानाम० २१।८४
छेत्तुं मूलात्कर्मपाशा० २०।२३

स०।श्लो०

[ज]

जगज्जनानन्दविधा० १२।१३
जगत्त्रयोत्तंसितमासि २।२२
जगत्तुर्मुहुरलक्तक० १५।२०
जघन्यमध्यमोत्कृष्ट० २१।४५
जघान करवालीयधा० १९।८४
जडं गुरुकृत्य नित० १।४२
जनेषु गायत्सु जगौ १८।५३
जनैः प्रतिग्रामसमी० १।४८
जनैरमूल्यस्य किय० १४।५४
जन्म वा जीवितव्यं ३।७३
जन्माभिषेकेऽस्य १७।७३
जन्मोत्सवप्रथमवार्ति० ६।२१
जयन्ति ते केऽपि १।९
जयश्रियमथोद्वोढु १९।४४
जरठविशदकन्दप्रो० ८।३२
जराधवलमौलिभिः १०।३५
जलधरेण पथः पिब० ११।३६
जलभरपरिरम्भदत्त० १३।२
जलविहरणकेलिमुत्सृ० १३।५९
जलेषु ते वक्त्रसरोज० १२।३५
जाड्यं यदि प्राप्यमु० १४।८१
जातं चेतो व्योम० २०।५९
जाते जगत्त्रयगुरौ ६।२९
जाते जिने भुवन० ६।४८
जितास्मदुत्तंसमहोत्प० २।५४
जिनागमे प्राज्यमणि० ७।३५
जीयाज्जैनमिदं मतं ग्र०प्र० ।१०
जीर्णं कालाज्जातरन्ध्रं २०।३
जीवः स्वसवेद्य इहा० ४।६८
जीवाजीवास्रवा ब० २१।८
जीवादीनां पदार्थानां २१।८८
जीवेति नन्देति जयेति ९।५५
ज्ञातप्रमाणस्य यशो० १७।४२
ज्ञानदर्शनचारित्रैरु० २१।१६१
ज्ञानैकसवेद्यममूर्तमेन ४।७०
ज्योतिष्का पञ्चधा २१।६४
ज्वालाकलापवदहृत्रैरु० २१।१६३

स०।श्लो०

[ढ]

ढक्का नदन्तीह भव० १०।४८

[त]

त यौवराज्ये नयशी० ९।२९
तटमनयत चारुचम्प १३।३४
तटे तटिन्यास्तरव ४।१२
तटैरुदञ्चन्मणिमण्ड० ७।३१
तव श्रुताम्भोनिधि० २।१६
तव सुभद्रावचनाव० १७।३८
ततो जयेच्छुर्विजि० १८।२७
ततोऽतिवेगेन मनो० १७।१०८
ततोऽधिक विस्मित० ९।३६
ततोऽनुमन्यस्व नयज्ञ १८।१३
ततो भग्ने बलेऽन्य० १९।७५
ततो भूतभवद्भावि० २१।२
ततो लान्तवकापिष्ठौ २१।६८
ततोऽवशिष्ट पुरुषार्थ० १८।१०
तत्कम्पकारणमवेक्षि० ६।३०
तत्कलत्रं कदाप्येव ३।६०
तत्कालजातस्य शि० ४।६९
तत्काललास्यरसला० ६।१९
तत्कालोत्सारिताशेष० ३।३६
तत्त्वं जगत्त्रयस्यापि २।११
तत्त्वस्यावगतिर्ज्ञानं २१।१६२
तत्र कारयितुमुत्सवं ५।१
तत्र कोकनदकोमलो० ५।११
तत्र त्यक्तालङ्कृतिर्मु० २०।३२
तत्र त्रयस्त्रिंशदुदन्व० ४।८४
तत्र धर्मः स एवा० २१।१३८
तत्र भूरिविबुधावतंस० ५।३८
तत्र हैममयसिंहविष्टरे ५।१७
तत्राद्या त्रिंशता लक्षैः० २१।१४
तत्रानन्तमसप्रासम० २१।१६५
तत्रायमुत्तीर्य करेणु० १७।१०४
तत्रारुह्य वितीर्णवि० १७।११०
तत्रार्यखण्डं त्रिदिवा० १।४३
तत्रासाद्य सिताशुभो० २१।१८४
तत्रासुरकुमाराणामु० २१।६२
तत्रास्ति तद्रत्नपुरं पुरं १।५६

	स०।श्लो०
तत्पर्यन्ते रत्नसोपान०	२०।७२
तत्प्रतिक्षणसमुल्लसद्य०	५।१२
तत्प्रयाथ जननी	५।३४
तथाप्यनुनयैरेप	१९।४६
तथा मे पोषिता कौ०	३।५३
तथाविधे सूचिमुखाग्र०	१४।२९
तथाश्रुतानेन जग०	१४।४३
तथा समुद्रामधिविभ्र०	४।८०
तथाहि दृष्टघोभयमा०	१७।६८
तथ्य पथ्य चेदभाषि०	२०।५२
तदङ्गरूपामृतमक्षिभा०	२।४
तदङ्घ्रियुग्मस्य नखे०	७।८
तदपि रूढिवशात्क०	११।५
तदभिधानपदैरिव	११।१२
तदस्तु सचिर्युवयो.	१२।१९
तदा तदुत्तुङ्गतुरगमक्र०	२।६
तदात्मन कर्मकलङ्कमू०	४।७५
तदादि भूमौ शिशुव०	७।६६
तदाननेन्दोरविरोहता	२।६०
तदा यदासीत्तनुराम०	१२।५७
तदीयनिस्त्रिंशलसद्दि०	२।१९
तद्दक्षिण भारतमस्ति	१।४१
तद्वनोत्क्षिप्तदुर्वारत०	१९।६१
तद्द्वारि द्विरदमदोक्षिते	१६।३५
तद्भेदा पञ्च नव द्वा०	२१।११०
तद्यत्र चित्र यदणी०	४।२४
तद्वाहन श्रीविमलादि०	४।७९
त निशम्य हृदि	५।८०
तनून प्रियविरहार्त०	१६।२०
तन्माहात्म्योत्कर्षवृ०	२०।६०
तन्वाना चन्दनोद्दा०	३।३३
तपोन्वितेन सूर्येण स०	३।५०
तमो ध्रुव प्राग्जिनना०	९।२२
तमादरादर्भकमप्यद०	७।५
तमिन्दुशुभ्रध्वज०	७।१४
त प्रेक्ष्य भूप परलो०	४।६२
तरङ्गिताम्भोधिदुकूल०	२।३४
तरून्निषङ्गानिव विभ्र०	१२।२३
तर्कयन्त्य इति ता	५।२०
तव वृषमधिरूढो	८।५०
तवानूरोरिवाकाशे	१९।६
तवापि शिक्षा भुवन०	१८।१४
तस्मादमूर्तश्च निरत्य०	४।७३
तस्मिन्काले ता सभा	२०।६९
तस्मिन्गुणैरेव नियम्य	९।३०
तस्य क्षोणाशातवेद्यो०	२०।६३
तस्य त्रियामाभरणा०	४।९०
तस्य प्रभाभासुररत्न०	४।८६
तस्य प्रभोर्धीवरता	१७।९९
तस्य व्रजद्वीरतुरगस०	९।६५
तस्या कपोलफलके	६।६
तस्यारण्ये ध्यानिनि०	२०।४१
तस्यावश्य वायुरेके०	२०।५३
तस्याशेष कर्षतो धी०	२०।४५
तस्येद भुज्यता पक्व	२१।२९
तस्यैकमुच्चैर्भुजशीर्ष०	९।२४
तस्यैवोच्चैर्गोपुराणा	२०।७८
तस्योत्क्रमालक्ष्यत	९।६४
तस्योद्धृताद्रिर्दशकधरो	९।१७
ता स यत्नपरकिंकरा०	५।२१
ता क्षितीश्वरनिरीक्ष०	५।२२
तादृक्कान्ताचरणकम०	१२।६३
ता नेत्रपेया विनि०	१।५१
तापापनोदाय सदैव	९।६८
तामनेकनरनाथसुन्द०	५।४१
तामादरादुदवरिणी	६।२
तामालोक्याकाशदे०	२०।९
तामुदीक्ष्य जितना०	५।४२
ता पूर्वगोत्रस्थिति०	१।४
ताम्बूलरागोल्वण०	१७।३१
तारका क्व नु दि०	५।२
तारापथे विचरता	६।४५
तावत्सती स्त्री ध्रुवम०	१४।५२
तावदङ्गादय क्षोणी०	१९।३
तावदेव किल कापि	५।५३
ताश्च कञ्चुकिपुरःसरा०	५।३७
तास्वेकाद्वित्रिपल्या०	२१।४६
तिर्यग्योनिर्द्विधा जी०	२१।३३
तिलक तीर्थकृल्ल०	२१।१७१
तिष्ठन्ती मृदुलभुजग०	१६।४६
तीरेऽपि यस्यास्त्रिज०	९।७४
तीर्थकर्तुरहमिन्द्रम०	५।७७
तृणकुटीरनिभे हृदि	११।४४
तृष्णाम्बुधेरपरपार०	६।४
ते गन्धवारिविरजी०	६।२२
तेजोनिरस्तद्विजराज०	१४।२५
तेन धर्मपरिवर्तदस्यु०	५।३२
तेन मालवचोलाङ्ग०	१९।९१
तेन सङ्ग्रामवीरेण तव	१९।८५
तेनाकलय्य जिनजन्म	६।३१
ते प्रत्याश वायुवेल्ल०	२०।७१
ते भावा करणवि०	१६।६
तेपामालिङ्गिताङ्गाना	२१।२५
तेषा परमतोपेण सप०	१९।२२
ते षोडशाभरणभूपि०	६।३३
तैरानन्दादित्थमान०	२०।२७
तैस्तैस्त्रिसन्ध्य मणि०	९।५
तोषितापि रुषमाहि०	१५।२५
तौर्यौं ध्वनि प्रतिगृह्य	६।२५
त्रय सार्धा द्वयो०	२१।७१
त्रिगुणवलितमुक्ता०	८।३७
त्रिनेत्रभालानलदाह०	१४।५५
त्रिनेत्रसग्रामभरे	१२।२१
त्रिसन्ध्यमागत्य पुरद०	१८।६५
त्रुटयद्रत्नु वेलाद्रितटेषु	१७।३४
त्रुटयद्दिक्कण्ठपीठा०	१९।६९
त्रैविक्रमक्रमभुजगम०	६।४६
त्यक्तावरोधोऽपि स०	४।७८
त्यज्यता पिपिपिपि०	१५।२२
त्व क्षमो भुवनस्यापि	१९।५
त्वङ्गत्तुङ्गतरगोर्मेस्तौ०	३।२९
त्वत्कीर्तिजह्नुकन्याया	३।६४
त्वत्पादपादपच्छाया	३।४८
त्वत्प्रदष्टमथवा कथ०	१५।१५
त्वत्सैनिकास्तुल्यमद०	१०।३३
त्वद्बलैर्विषमारातिमा०	१९।७२
त्वद्भक्तिनम्र जनमा०	१।८

स०।श्लो०

त्वद्वासवेश्माभिमुखे १४।६६
त्वमत्र पात्राय समी० १८।३६
त्वयि विभावपि भा० ११।३९
त्वामद्य केकिध्वनि० ११।६९
त्वामिहायुङ्क्त विश्व० १९।१२

[द]

दर्श. साधु परीक्षित ग्र प्र. । ९
दत्तनेत्रोत्सवारम्भ० ३।४०
दत्तविश्वावकाशोऽय० २१।१६८
दत्त्वा प्राज्य नन्दना० २०।२८
दत्त्वा स तस्योत्तर० ४।७६
ददत्प्रवालोष्ठमुपात्त० १२।३३
ददर्शाशोकमस्तोक० ३।२८
दधुर्वधूर्मनिशि सा० १४।३१
दन्तकान्तिशबल स० १५।१४
दन्तकेशनखास्थित्व० २१।१४६
दन्तीन्द्रमारुह्य स दा० ९।४५
दन्दह्यमानागुरुधूम० १।६६
दम्भलोभभ्रमा भा० १९।१०२
दर्शनज्ञानचारित्रत० ३।४४
दलानि सभोगभरा० ७।५९
दलितकमठपृष्ठ चारु० ८।४२
दधास सधनुर्मानां व्य० २१।६३
दशामन्त्या गतस्यापि ३।५९
दशैव कल्पयोर्ज्ञेया २१।७४
दाक्षिणात्यकविचक्र० ५।१३
दिवसैव पुण्यजननी १०।५३
दिगन्तरेभ्यो द्रुतमा० ७।२५
दिगम्बरपदप्रान्त ३।८
दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो २१।१४३
दिदृक्षया काननसपदा १२।१
दिनकरकिरणैरुपर्यध० १३।१७
दिनद्वयोषित तत्र २१।१३६
दिनमवलमथो गृहा० १३।५७
दिनाधिनाथस्य कुमु० १७।६३
दिनान्येकोनपञ्चाश० २१।३६
दिवाकरोत्तापितता० १०।२६
दिवार्कतसं कुमुदं १४।४५

स०।श्लो०

दिवोऽपि सदर्शित० ७।१७
दिशा समानेऽपि वि० १४।१४
दीपेनाम्बरमणिना १६।२६
दु खशोकभयाक्रन्दसं० २१।९६
दुरक्षरक्षोदधियेव १।३
दुरितमुदित पाकोद्वे० ८।५६
दुर्जन सत्सभा प्रष्टा० १९।३५
दुर्जर निर्जरत्यात्मा २१।१२२
दुष्कर्मचिन्तामिव यो १७।३९
दुष्प्रेक्ष्यतामस्य वला० ९।६६
दूरात्समुत्तंसितशास० ४।३९
दूरेण दावानलशङ्कया० १०।४४
दृग्दोषव्यपनयहेतवे १६।५
दृङ्निर्निमेषा द्युसदा १।६५
दृढैस्तुरगाग्रखुरप्रहारै० ७।४७
दृष्टापराधो दयित १४।६५
दृष्ट्वा कुवलयस्यापि० ३।१३
दृष्ट्वात्मान पुद्गलाद्भि० २०।४२
देव कश्चिज्ज्योतिषा० २०।१०
देवतागमकर विमान० ५।८५
देव त्वदारब्धमिद ४।६३
देवनाथमनादृत्य भा० १९।९४
देवि धन्यचरिता ५।८१
देवेन्द्रो विवदद्वाद्वि० १९।८८
देवोऽक्षामक्षान्तिपा० २०।३८
देवोऽपि प्रणयवशी० १६।७६
देव्य इत्यलमिमामुपा० ५।४५
देशश्रीहृतहृदयेक्षण १६।७३
दोषानुरक्तस्य खलस्य १।२३
दोषोच्चयेभ्यश्चकित ४।३२
द्यावापृथिव्यो पृथुर० १।४०
द्युयोषिता कर्षितकु० ७।५०
द्यूत मांसं सुरा वेश्या २१।१३३
द्रष्टु चिरेणात्मकुलप्र० ४।८
द्राघीयासमपि जवा० १६।६६
द्रुपङ्क्तिमि प्रांशुमनो० १०।२७
द्रुमोत्पलात्सौरभभिक्षु० २।६५
द्वाचत्वारिंशदेतस्य २१।१७७
द्वारि द्वारि नभस्तला० ६।५२

स०।श्लो०

द्वारि द्वारि पुरे पुरे १६।८५
द्वाविंशति सहस्राणि २१।४०
द्वि प्रकारा नारा भो० २१।४४
द्विगुणितमिव यात्रया १३।१
द्वितीयादिष्वतोऽन्यासु २१।१८
द्विरदतरुतुरगश्रीसु० ८।१८
द्विपत्सु कालो धवल २।२५
द्वीपेषु य. कोऽपि १।३४
द्वौ द्वौ मार्गे धूपकु० २०।७९

[ध]

धन ददानोऽपि न १८।३५
धनु पञ्चशतैस्तासु० २१।४८
धनुर्धराणा करवाल० २।३१
धनुर्लता भ्रूरिषद १७।१९
धन्यस्त्व गुणपण्या० ३।६३
धर्म स तात्त्विकैरुक्तो २१।८३
धर्मात्समितिगुप्तिभ्या० २१।११९
धर्माधर्मैकजीवा २१।८७
धर्माधर्मौ नभ काल. २१।८१
धर्मासगुरुतत्त्वाना २१।१२७
धर्मे बुद्धि परित्य० १९।३९
धाम्ना धाराजलेनेव १९।८७
धिनोति मित्राणि न १८।४०
धुतकरवलयस्वन १३।५३
धुन्वन्निवोर्वी दलय० ९।४६
ध्यानानुबन्धस्तिमि० ४।८१
ध्रुव वियोगे कुसुमे० १२।१८
ध्रुव त्रिनेत्रानलदाहत १२।२८
ध्रुवमिह भविताय ८।४०
ध्रुव भुजस्तम्भनिय० १८।६१
ध्वनत्सु तूर्येषु हरिप्र० ७।१०
ध्वनिविजितगुणो० १३।२२

[न]

न केवल दिग्विजये २।३
नक्षत्रैरुन्नतैर्युक्त ३।३७
न खलु तदपि चित्र ८।४९
न घनघर्मपय पृषतो० १।१४

स०।श्लो०

न चन्दनेन्दीवरहा० २।७१
न चापमृत्युर्न च १८।५९
न जन्मन प्राड् न ४।६४
नटदमरवधूना दृक्क० ८।३५
नदान्मिलच्छैवलजा० ७।६४
न नाकनारी न च २।६७
न नीरसत्व सलिला० १८।६३
न पर क्षत्रिय सर्वे ३।६५
न प्रेम नम्रेऽपि जने १।२४
न वद्धकोष स तथा १८।१७
नभसि दिक्षु वनेषु १।१६
नभसि निर्गतकोमल० ११।३७
नभो दिनेशेन नयेन २।७३
न मन्त्रिणस्तन्त्रजुषो० २।९
नयनमिव महोत्पल १३।१२
नरप्रकर्षोपनिषत्परी० १७।५७
न रमते स्मयते न ११।४२
नरायुषोऽपि हेतु २१।१०१
नव वयो लोचनहारि ४।८९
नवनखपदराजिरम्बु १३।३६
नवप्रियेपु बिभ्राणा १९।५२
न वप्रे नवप्रेमबद्धा १०।२१
नवमायोधन शक्त्या० १९।९
नवो घनी यो मद० १०।३९
नष्टा दृष्टिर्नष्टमिष्ट २०।२६
नागै समुत्सर्पिभि० ९।७८
नात्र काचिदपरा० १५।४०
नादैर्घण्टासिहशङ्खान० २०।६७
नानारत्नस्तम्भशोभै० २०।८३
नारक. सप्तधा सप्त० २१।१२
नारीगर्भेऽतिबीभत्से २१।५८
नार्थी स्वदोष यदि १४।६४
नासावशाग्रविन्यस्त० ३।४३
नि.शेष हृतजनजात० १६।२३
नि शेषनम्रावनिपाल० ४।२६
नि शेष भुवनविभुर्वि० १६।४२
नि शेषापन्मलभेदि २०।२५
नि सीमरूपातिशयो १७।५
नि सीमसौभाग्यपयो० १७।८१

स०।श्लो०

नि क्षत्रियादेव रणा० १७।३५
निजदोरदनोदीर्णश्री० १९।४९
नितम्बबिम्बप्रसराह० १२।९
नितम्बभूचुम्बिवना० ४।१४
नितम्बमाघ्राय मदा० ७।४९
नितम्बसवाहनबाहु० १२।७
नितम्बिनी सततमेव ७।२८
नितान्तघोर यदि न १८।३७
नित्योपात्तानङ्गसङ्ग्रा० २०।६१
निपतितमरविन्दमङ्ग० १३।४६
निपीतमातङ्गघटाग्र० २।१५
निभृतभृङ्गकुलाकुल० ११।३८
नियतमयमुदञ्चद्वो० ८।१६
नियम्य यद्राज्यतृणे० १८।७
नियोज्य कर्णोत्पलव० २।१२
निरञ्जनज्ञानमरीचिमा० २।३२
निरलकमपवस्त्रमस्त० १३।५१
निरामयश्रीसदनाग्र० ४।८३
निरुपममणिमाला ८।३८
निरूपयन्निति प्रीत्या ३।३५
निरूपितमिद रूप २१।१५९
निर्जयता निजरत्नरुचा १०।२४
निर्जरासुरनरोरगेषु ते ५।२९
निर्निमेष गलद्दोष ३।५४
निर्मज्य सिन्धौ सवि १४।१८
निर्मलाम्बरविशेषित० ५।२३
निर्माय निर्माय पुरी ४।१३
निर्मार्जिते यत्पदपङ्क० १।६
निर्मुक्तगर्भभरनिर्भ० १०।१३
निर्मूलमुन्मूल्य मही० १७।५९
निर्वर्तिताशेषविवा० १७।१०५
निर्व्याजपीयूषसहो० १७।९६
निर्व्यामोहो निर्मदो २०।५५
निवमनमिव शैवल १३।२७
निवृत्तिर्मुक्तभोगाना २१।१५०
निशासु नून मलिना० २।२०
निषादिने साधुनयप्र० ७।६१
निष्कलङ्कगलकन्दली० ५।८
निष्कलङ्कमणिभूषणो० ५।५२

स०।श्लो०

निष्कलाभा बभूवुस्ते २१।१७४
निष्ठितासवरसे मणि० १५।७
निसर्गतोऽप्यूर्ध्वगति ४।७४
निसर्गशुद्धस्य सतो न १।२१
निस्त्रिंशदारितारातिo १९।५८
नीरान्तरात्तप्रतिमाव० १।४९
नीरोपिताया अपि ४।५२
नीलाश्मलीलावलभी० १।८२
नीविबन्धभिदि वल्ल० १५।४६
नीविबन्धमतिलङ्घ्य० १५।४७
नून विहायैनमिय ९।३९
नून सहस्राशुसहस्र० ४।८८
नून महो ध्वान्तभया० १४।२६
नृपा सचारिण सर्वे ३।९
नृपो गुरूणा विनय १८।३४
नेदीयस्या प्रेयसा २०।७०
नेदृक्चिन्ताक्लमस्यासि ३।६२
नोत्पपात पतिता १५।५२
नो दौर्भिक्ष नेतयो २०।६६

[प]

पञ्चमी दु खमा षष्ठी २१।५२
पञ्चमी वत्सराणा २१।५५
पञ्चाननोत्क्षिप्तकरी० १०।७
पतितमेव तदा हिम० ११।५४
पत्राङ्कुरै कापि कपो० १७।९१
पथि प्रवृत्त विषमे १८।३९
पदप्रहारै पुरुषेण दध्रे ११।६८
पदार्थवैचित्र्यरह० ग्र प्र ६।१७९
पदे पदे यत्र परार्थ० १।७५
पद्मिन्यामहनि विधाय १६।१७
पयस्युदस्तोरुकर मि० ७।५७
पयोधरश्रीसमये प्रस० १७।१६
पयोधराणामुदय १४।५६
परमस्नेहनिष्ठास्थे प० १९।१८
परलोकभय बिभ्रत्प्र० १९।१४
परस्पराङ्गसघट्टभ्रष्ट० ३।१२
परस्य तुच्छेऽपि परो० १।१८
परागपुञ्जा यदि पु० १२।३२

	स०।श्लो०
पराङ्मुखोऽप्येष परो०	१।२०
पराजिताशु भवत	१९।७४
परिभ्रमन्त्य कुसुमो०	१२।४१
परिस्फुरत्काञ्चनकाय०	७।२२
पर्यन्तकान्तारसमीर०	९।७०
पर्यस्ते दिवसमणौ न	१६।१८
पलाय्य निर्यन्मदवा०	१०।२०
पल्लवव्यापृतास्याना	३।२८
पवनजववशेनोत्पत्य	८।१९
पश्यति प्रियतमेऽव०	१५।६७
पश्यन्तु ससारतमस्य०	१।३५
पाणिना परिमृशन्नव०	१५।४८
पातु बहिर्मास्तमङ्कसु०	१।३८
पाथोधेरधिगतविद्रु०	१६।२७
पाथोधेरुपजलतैलमु०	१६।२५
पादन्यासे सर्वतो०	२०।६५
पापभीरुर्निशाभुक्ति	२१।१४०
पाययन्ति च निस्त्रिशा	२१।३०
पारिजातकुसुमावत०	५।१०
पीत्वारिशोणित सद्य	१९।८९
पीनतुङ्गकठिनस्तन०	१५।३३
पीयूषधारागृहमत्र	९।३४
पीयूषधाराभिरिवाङ्ग	१७।१०३
पीवरोच्चकुचतुम्बक०	१५।४२
पीवरोच्चकुचमण्डल०	५।९
पीवरोच्चलहरिव्रजोद्धुर	५।७१
पुण्डरीककमलोत्पल०	१५।९
पुण्ड्रेक्षुव्यतिकरशा०	१६।७१
पुण्यारण्ये प्राशुके	२०।३५
पुत्रस्य तस्याङ्गसमा०	९।१०
पुद्गलादिपदार्थानाम०	२१।८६
पुन्नागनारङ्गलवङ्गज०	१०।८
पुरध्रीणा स वृद्धाना	३।१८
पुरमिव पुरुहूत प्रा०	६।५३
पुराणपारीणमुनीन्द्र०	१।१२
पुरा त्रिलोक्यामपि	१८।५०
पुष्प गते हिमरुचौ	६।१३
पुष्पै फलै किसलयै	६।४१
पूर्वशैलमिव तुङ्गकु०	१५।५३
पूर्वाद्रिभित्त्यन्तरितो०	१४।३२
पूर्वापराम्भोधितटी०	१०।१६
पूषा तपस्यत्यपरुचि.	४।८२
पृथक्पृथगभिप्रायव०	२९।६
पृथिवीमारुतातेजो०	२१।३९
पृथुतरजघनैर्नितम्बि०	१३।२४
पृथुतरजघनैर्विलो०	१३।२८
प्रवासिना तद्विरहा०	१४।१३
प्रकटय पुलिनानि	१३।११
प्रकटितपुलकेव सा	१३।१४
प्रकटितोरुपयोधरव०	१०।२२
प्रकाशितप्रेमगुणैर्व०	१४।७३
प्रकृतिस्थित्यनुभाग०	२१।१०८
प्रक्षिप्य पूर्वेण मही	४।२०
प्रगल्भता शीतकर	१४।७१
प्रणतशिरसा तेनानु०	१८।६७
प्रणयमथ जलाविला०	१३।६१
प्रणयिनि नवनीवीग्र०	१०।३८
प्रणिहितमनसो मृगे०	१३।१७
प्रचलवेणिलताञ्चल०	११।२३
प्रजा प्रशस्या खलु	१८।५६
प्रजापतिश्रीपतिधा०	१७।६७
प्रतापटङ्के शतकोटि०	१८।८
प्रतापवह्नौ किल दी०	२।२६
प्रतियुवति निषेव्य	१३।२९
प्रत्यङ्गलावण्यविलोक०	९।४१
प्रत्यावृत्तिर्न व्यतीतस्य	२०।१३
प्रदह्यमानागुरुधूमले०	७।१३
प्रदोषपञ्चास्यचपेटयो०	१४।२०
प्रध्वानैरनुकृतमन्द्रमे०	१६।६८
प्रभाकरे गच्छति	१८।४९
प्रभाप्रभावभाग्येन	१९।३७
प्रभावितानेकलताग०	११।६६
प्रभोदयाह्लादितलो०	१२।२६
प्रमत्तकान्ताकरस०	१२।४४
प्रमितिविधुरा ये	९।७९
प्रमोदबाष्पाम्बुकर०	७।३
प्रयच्छता तेन समो०	४।३८
प्रयाणलीलाजितराज०	२।३९
प्रयाणवेगानिलकृष्य०	७।१९
प्रलपता कृपयैव	११।४५
प्रवणय वरवीणा	८।८
प्रवालविम्बीफलविद्रु०	२।५१
प्रवालशालिन्यनपेत०	१२।८
प्रविश्य सद्मन्यथ	७।१
प्रशमयितुमिवार्ति	८।१७
प्रसरति जललीलया	१३।२३
प्रसरद्दु खसतानम०	२१।१९
प्रसह्य रक्षत्यपि नो०	१८।६४
प्रसीद दृष्ट्या स्वयमेप	१८।४७
प्रसूनलक्ष्मीमपहृत्य	१२।५९
प्रसूनशून्येऽपि तद०	१२।५६
प्रस्थातु तव विहि०	१६।३४
प्रस्थैरदुस्थै कलितो०	१०।५
प्रागल्भ्यं विहितम०	१६।१४
प्रागेव जगमुद्यान	३।११
प्रागेव विक्रम श्लाघ्यो	३।२१
प्राग्भाग द्विरदभया०	१६।५५
प्राग्रसातलगतस्य	५।६९
प्राच्या इवोत्थाय स	९।७
प्राप्त पुन प्रत्यगमो०	१४।६
प्राभाकरीरिति गिरो	१०।५२
प्रायोऽपदस्पृष्टमही०	९।६१
प्रार्थयैताश्चतुर्वर्गं	१९।१७
प्रालेयशैलेन्द्रविशाल०	१।८४
प्रालेयाशौ पुष्यमैत्री	२०।३१
प्रावृता शुचिपटैरति	१५।२८
प्रासादशृङ्गेषु निज०	१।६०
प्रियकरकलित विला०	१३।४
प्रियकरविहितामृता०	१३।४५
प्रियकरसलिलैर्मन०	१३।४१
प्रियकरसलिलोक्षि०	१३।३८
प्रियतमकरकल्पिते०	१३।३५
प्रियस्य कण्ठार्पितवा०	१२।१०
प्रियायुत सानुनि	१०।१९
प्रेक्ष्य तत्क्षणविनिद्र	५।७८
प्रेङ्खति प्रियतमे नि०	१५।५४
प्रेङ्खद्दोलासीनसेव्या०	२०।८२

स०।श्लो०

प्रेङ्खन्मरुच्चलितच० १०।४९
प्रेयसा धृतकरापि १५।३०
प्रेयसीपृथुपयोधरकुम्भे १५।६५
प्रोल्लसन्मृगदृशा मदनो १५।२४

[फ]

फल तथाप्यत्र यय० २।६९
फलावनम्राम्रविल० ४।९

[ब]

बन्धान्तर्भाविनो २१।९
बन्धाय वाहिनीशस्य १९।२६
बन्धुर तमवधार्य ५।७९
बभुस्तदस्त्राहतदन्त० २।१७
बभुस्तस्य मुखाम्भो० ३।१५
बभूव यत्पुष्पवताम्० १२।२
बभौ तदारक्तमलक्त० १२।४
बभौ पिशङ्ग कन० ७।१५
बभ्राम पूर्वं सुबिल० ९।९
बलभरोच्छलितै पि० ११।३
बहलकुङ्कुमपङ्कक्रता० ११।५५
बहलमलयजन्मोर्मी० ८।१०
बहिस्तोरणमागत्य ३।७
बहुधामरणेऽच्छद्यु० १९।२५
बहुशस्त्रासमाप्यैषा १९।२३
बाणैर्बलमरातीना सदा १९।६७
बाल वर्षीयासमाढच २०।२०
बालस्य तस्य महसा ६।२०
बाल्य व्यतिक्रम्य ९।१५
बाष्पाम्बुसम्प्लावितप० १४।७८
बिभ्रत्सविभ्रमश्चारु० ३।१६
बिम्ब विलोक्य नि० १०।१९
बिम्बितेन शशिना १५।१७
बिम्बेऽर्धमग्ने सवितु १४।१०
बुद्धिर्विशाला हृदय० १७।७६

[भ]

भग्नपाणिवलया १५।५९
भद्राश्च मन्दाश्च मृ० ९।४९

स०।श्लो०

भयातुरत्राणमयीम० २।२८
भर याममयारम्भर० १९।८६
भर्गभालनयनानलदग्ध १५।१
भर्गादीना भग्नगर्वा० २०।४९
भर्तु प्रतीहारनिवेदि० ९।३२
भव क्षण चण्डि वि० १२।३८
भव्यस्तवस्याद्यमल० १०।५४
भस्मास्थिप्रकरकपा० १६।२२
भात्येषा सुभगतम १६।१९
भारतीमिति निशम्य ५।२७
भाव विदित्वापि तथा १७।७९
भावनव्यन्तरज्योति० २१।६०
भाव्यक्षेत्रादिसापेक्षो २१।११४
भाषाभेदैस्तैश्चतुर्भि० २०।६२
भाषाहारशरीराख्य० २१।९२
भास्वन्त द्युतिरिव १६।४३
भित्त्वा कर्मध्वान्तम० २०।५८
भिन्दन्मानं मार्दवेना० २०।३९
भिन्नमानदृढवज्रक० १५।२७
भियेव धात्र्यास्तल० १०।३२
भुवनतापकमर्कमि० ११।३५
भूकण्ठलोठन्नवपुण्ड० १।५४
भूतिप्रयोगैरतिनिर्म० १७।५६
भूदेव्याः शिरसीव ७।६७
भूमितैलतमोगन्धक० २१।९१
भूयादगाध स विबो० १।५
भूयो जगद्भूषणमेव १४।११
भूयोऽनेन त्रैपुर किं २०।७
भूरिमद्यरसपानविनो० १५।६३
भृङ्गाराद्यैर्मङ्गलद्रव्य० २०।७७
भृश गुणानर्जय १८।१५
भृशमधार्यत नीपन० ११।३४
भोगीन्द्रवेश्मेदमिति १।५८
भोगे रोगे काञ्चने वा २०।५१
भोगोपभोगसख्यान २१।१५१
भ्रश्यन्त्याश्चरणभ० १६।४७
भ्रूकपोलचिबुकाधर० १५।४९
भ्रूचापेनाकर्णमाकृष्य २०।५०
भ्रूलता ललितलास्य० १५।२६

स०।श्लो०

भ्रूविभ्रमकरन्यासश्वा० २१।५

[म]

मङ्क्तु जले वाञ्छति १७।२०
मणिमयकटकाग्रप्रो० ८।३९
मत्तवारणविराजित ५।७४
मदनभिदमघास्य० ८।२
मदाञ्जनेनालिखिता ७।४४
मदेन मूर्धन्यमणिप्र० ७।४२
मद्दन्तद्वयवलभोनि० १६।६०
मद्यमन्यपुरुषेण नि० १५।१३
मद्वाजिनो नोर्ध्वधुरा १।८१
मधुनिवृत्तिजुषा शु० ११।२६
मधुमासासवत्याग २१।१३२
मधुमासासवासक्त्या० २१।२८
मध्यदिनेनैव सहस्र० ९।१६
मनुज इति मुनीना ८।४८
मन्त्राग्निपेठुस्तिलका० १७।२४
मन्थाचलामूलविलो० १।७३
मन्दाक्षमन्दा क्षणमत्र १०।३६
मन्दान्दोलद्वातली० २०।७४
मम चापलता वीक्ष्य १९।४१
मम यदि लवणो० १०।११
मरुच्चलत्केतुकराङ्गु० १।७०
मरुति वाति हिमोद० ११।५३
मरुदपहृतकङ्कणापि १३।६३
मरुद्ध्वनद्वंशमनेकताल ७।३०
मलयमारुतचूतपि० ११।१९
मलयशैलतटीमटतो ११।९
महानदीनोऽप्यजडा० २।३३
महीभुजा तेन गुणै० १७।४१
महीभुजो ये जिन० १७।६४
महोभिरन्यानिह १८।२४
माघे मासे पूर्णमास्या २०।५७
मानस्य गाढानुनयेन १४।८२
मारसारसमाकारा १९।११
मार्तण्डप्रखरकराग्रट० १६।३६
मार्तण्डप्रखरकराग्रपी० १६।३०
माल्यवप्रथितकीर्ति० ५।८३

स०।श्लो०

मा वदस्त्वमिति भूपते ५।२८
मासान्निशान्ते दश १७।७२
मिश्रं क्वचित्कूटनिधि० १४।१९
मिथः प्रदत्तैर्नवपुष्प० १२।५१
मिथ्यादृक्च प्रमादाश्च २१।१०७
मिलदुरसिजचक्रवा० १३।९
मीलितेक्षणपुटैं रति० १५।६१
मुक्ताफलस्थितिर० प्र. प्र २
मुक्तामया एव जनाः १।५७
मुक्तामयो कुङ्कुमप० १७।२
मुक्तामये स्वच्छरुचौ १७।९०
मुक्ताहारं सर्वदो० २०।३७
मुखतुहिनकरेऽपि १३।४३
मुखं निमीलन्नयनार० १४।३९
मुखमपहृतपत्रमङ्गना० १३।४९
मुखशशिविमुखीकृ० १३।६०
मुदा पुलिन्दीभिरिहै० १०।३०
मुनिभिरमलबोधैर० ८।४५
मुनेर्महिम्नामभितो १०।४
मुरलो मुरलोपीव १९।२७
मुहुर्मुहुः स्फाटिकह० ४।२२
मुहूर्तद्वितयादूर्ध्वं २१।१३५
मूर्धानं दुधुवुस्तत्र १९।६८
मूर्ध्नि रत्नपुरनाथयो० ५।५०
मूर्ध्नीव लीलावनकु० १४।७
मूर्ध्नीवोद्गतपलिताय० १६।१५
मृगदृशामिह सोत्कं० ११।५९
मृगमदघनसारसार० १३।६७
मेण्ठेन द्विपमपनी० १६।४५
मेदोमज्जाशोणितैः २०।१८
मोहादमूनि य. सम २१।१३४

[य]

यः स्वप्नविज्ञानगते० ९।३७
यच्चक्षुरस्या श्रुति० १७।६६
यच्चतुष्टयमनन्तती० ५।३१
यतिभावपरं कान्ति ३।१९
यत्कन्यकायामुपव० ९।४०
यत्कम्पते निःश्वसितैः १४।६८
यत्तदा विदधे तस्य २१।१७०
यत्पुण्डरीकाक्षमपि ४।३१
यत्पृष्टमिष्टं भवतार्य० ४।२
यत्रातिशयसपन्नो २१।१७३
यात्रानुकूलं ज्वलदर्क० ४।१०
यात्राम्बुजेषु भ्रमरा० १०।१२
यत्रालिमाला स्थल० १।५२
यत्राश्मगर्भोज्ज्वलवे० १।६९
यत्रोच्चकैश्चैत्यनिकेत० १।६७
यत्रोच्चहर्म्याग्रजुषामु० ४।१६
यत्रोच्चहर्म्याग्रहरि० ४।१८
यत्रोच्चहर्म्येषु पतत्स० १।६८
यत्ससक्तः प्राणिना २०।१२
यत्सिन्धुगङ्गान्तरवर्ति० १।४२
यथागममजीवस्य कृता २१।९३
यथागममिति प्रोक्त २१।१५४
यथाभवन्नूपुरपाणि० १२।११
यथा यथा चण्डरुचि १४।५
यथावदारम्भविदो १८।२८
यदघरितसुधौघैरर्हत ८।३४
यदभूदस्ति यच्च भा० ३।४९
यदल्पपुण्यैर्मनुजैर्दुरा० १८।४
यदि स्फुरिष्यन्ति १२।३७
यद्गुणेन गुरुणा गरी० ५।२५
यद्दोषोपचिततमोऽपि १६।७
यद्यत्र चक्षुः पतित १७।१५
यद्यदिष्टतममुत्तमं च ५।५६
यद्यस्ति तारुण्यविला० १७।४९
यद्वर्ण्यते निर्वृतिधाम १७।२२
यद्वा निवेद्य प्रणय १४।६३
य तादृशं देशमपास्य १।५३
यन्त्रप्रणालीचषकैरज० १।४५
यन्निस्तुलेनापि तदा० ९।२६
यन्मन्दमन्दं बहला० १४।५१
यशः सुधाकूर्चिकयेव १७।३
यशो जगन्मण्डलम० १८।९
या सारसर्वस्वनिधान० ४।२५
या चैषा भवतः पत्नी ३।६८
यामिनीप्रथमसगम० १५।५
यामिन्यामनिशमनो० १६।३१
यावज्जिनेश्वरपुर हरि० ६।५०
यावदाहितपरिस्रुति १५।३
यास्तिस्रो गुप्तय पञ्च २१।१५८
यास्तूर्यारवहारिगीत० १६।८६
यियासतस्तस्य नरे० १७।९२
युक्तं तदाच्छिद्य व० ४।३०
युक्तोऽप्युत्तालपुनागैः ३।१७
युद्धानका स्म तद्भीमा १९।४७
युवतिदीर्घकटाक्षनि० ११।१४
युवतिदृष्टिरिवासवपा० ११।२८
युष्मत्पदप्रयोगेण पुरुष ३।५२
युष्माभिः प्रकटितका० १६।१३
ये सर्वात्मप्रदेशेषु० २१।११५
यो नारङ्ग सरल इति १०।३४
योषिता सरसपाणि० १५।३७
यौवनेन मदनेन मदेन १५।८

[र]

रक्तोत्पलं हरितपत्र० ६।४४
रङ्गावलीध्वजपटोच्छ्र० ६।२८
रणज्झणत्किङ्किणिका० १।७७
रतावसाने लतिकागृहा १२।५३
रतिरमणविलासोल्ला० १३।७०
रतिविरतिषु बलाका ८।२३
रत्नज्योतिर्भासुरे तत्र २०।९२
रत्नत्रय तज्जननार्ति० १।७
रत्नभूषणरुचा प्रपञ्चिते ५।४
रत्नशर्करावालुकापङ्क० २१।१३
रत्नाण्डकैः शुभ्रसहस्र० १।७१
रत्नावनीबिम्बितचारु० ९।५३
रथ्यासु त्वदमलकीर्ति० १६।२
रम्याननेन्दोर्धृतकान० ९।५८
रवीन्दुरस्योभयपार्श्व० ७।२३
रसैर्विलासविशेषविदो ११।१८
रसाढ्यमप्याशु विका० ४।५७
रहस्यमिति निर्दिष्ट २१।१०५
राकाकामुकवद्दिगम्ब० २।७७
रागिताजिवरा कापि० १९।४५

	स०।श्लो०
राजन्ति यत्र स्फुटपु०	४।५
राजा च दूतेन च तेन	९।४३
राजान जगति निरस्य	१६।८
राजानस्ते जग०	१९।१९
राज्ञा प्रयुक्ता स्वय०	९।४८
रात्रिशेषसमये किले०	५।५८
रात्री तम पीतसिते०	१।८०
रात्रौ तुङ्गे स्फाटिके	२०।२
रात्रौ नभश्चत्वरमा०	१४।४२
रावरोषदलिताम्बु०	५।६२
रिङ्खत्पदाक्रान्तमही०	९।८
रुद्धक्रूरानङ्गहेतिप्रचा०	२०।८९
रुद्धे जनैर्नेत्रपथेऽत्र	१७।९३
रूपगन्धरसस्पर्शश०	२१।९०
रेखात्रयाधिष्ठितक०	४।८७
रेखात्रयणेव जगत्त्र०	९।२५
रेजे जिन स्नपयितु	६।४७
रेजे मुक्तिश्रीकटाक्ष०	२०।९७
रे रे भवभ्रमणजन्म०	६।१७
रैरोऽरीरोरुररुरत्का०	१९।३३
रोद्धु पुनर्ग्रहपथ लघु	१०।२५
रौद्रध्यानानुबन्धेन	२१।२४
ल	
लक्ष्मीजिघृक्षया तुल्य	१९।१०
लक्ष्मीरिहान्त पुरसु०	९।२३
लताग्रदोलाङ्खनलीलया	१२।४७
लप्स्यसे सपदि भूत्र०	५।८६
लप्स्यामहे तीर्णभवा०	९।३
लब्धात्मलाभा बहु०	१।१०
लब्ध्वा पयोमज्जनपू०	१४।१७
लब्ध्वा समृद्धि रतये	१४।२८
लब्ध्वा श्रीविनिहत्य	१९।१०४
ललाटलेखाशकले०	२।५३
लवणिमरसपूर्णना०	१३।६८
लावण्यकासारतर०	९।५४
लावण्यपीयूषपयो०	१७।१३
लावण्यमङ्गे भवती	१४।८०
लावण्यलक्ष्मीजित०	१७।७४

	स०।श्लो०
लावण्याम्बुनिधि प्र प्र	३
लास्योल्लासा वाद्यवि०	२०।१००
लीलाचलत्कुण्डलम०	१७।५८
लीलाचलत्कुण्डलर०	१७।२८
लीलाप्रचारेषु यथा	९।६२
लेभे शशी शोणरुच	१४।४१
लोकस्त्रिलोक्या सक०	९।४
लोकाकाशमभिव्याप्य	२१।८५
लोकाग्रे प्राप्य तत्रैव	२१।१६४
व	
वक्त्राब्जेन जयश्रिय	१८।६६
वक्त्रेषु विद्वेषिविलासि०	१७।४६
वक्ष स्थलात्प्राज्यगु०	१७।७५
वक्षसा पृथुपयोधरभार	१५।३४
वज्रानलादि न ससर्ज	६।१२
वज्राब्जसारैरिव वे०	९।२८
वदनमनु मृगीदृशो	१३।६
वधूवृत वीक्ष्य वर	१७।८४
वनकेलिर्जलक्रीडा	२१।१४८
वनविहरणखेदनि सहं	१३।८
वनान्मकरकेतन०	१२।६२
वनेऽत्र पाकोल्बणदा०	१०।४१
वनेऽत्र ससच्छदग०	७।६०
वपु सुधाशो स्मर०	१४।४९
वपुर्वयोवेषविवेकवा०	२।६६
वपुषि चन्दनमुज्ज्वल०	११।२९
वप्रक्रीडाप्रहतिषु	१०।१०
वमन्नमन्द रिपुवर्मयो०	२।२३
वरतनुजघनाहृतैर्म०	१३।३०
वर्णिता विंशतिर्नून०	२१।७६
वर्णितेति गतिर्नृणा	२१।५९
वर्तमानोऽनया स्थित्या	२१।१४१
वर्षाणामयुत भौमभा०	२१।६५
वर्षाणि द्वादशैवायुर्मान	२१।३५
वलिफलकुसुमस्रग०	८।७
वल्गद्घनोरुलहरीनि०	६।५१
वलितभ्रु नवविभ्रमे०	५।५५
ववौ समीर सुखहे०	१८।६०

	स०।श्लो०
वसन्तलीलामलया०	१२।२४
वाञ्छातीत यच्छतो०	२०।८६
वाणी भवेत्कस्यचि०	१।१६
वातान्दोलत्पद्मिनी०	२०।१४
वापीकूपतडागादि०	२१।१४७
वारणेन्द्रमिव दानव०	५।८२
वार्तादौ तदनु रज०	१६।७४
वाहिन्यो हिममलिला	१६।६५
विकासिपुष्पद्रुणि का०	१२।३
विघटयन्नखिलेन्द्रि०	११।५८
विघटिताम्बुपटानि	११।४८
विघ्न निघ्नन्नाक्षिपन्नेप	२०।४३
विचारयैतद्यदि केऽपि	१८।४१
विजित्य बाणैर्मदनस्य	१२।३१
विण्मूत्रादेर्धाम मध्य	२०।१७
वितीर्णमस्मभ्यमनेन	२।८
वित्त गेहादङ्गमुच्चैश्च	२०।२२
विदारयन्ती विषमे०	१७।४३
विदारितारिद्विपगण्ड०	२।२१
विद्ध विचलितस्वाद	२१।१३७
विधाय कान्तारसमा०	४।४०
विधूयमानामरमण्ड	७।१२
विधेयमार्गेषु पदे पदे	१८।२९
विध्वस्ता निजवसतिं	१६।११
विनिहतोऽयमनाथ०	११।२१
विपक्षगर्वसर्वस्वद०	२१।३
विपक्षनामापि कुर०	१२।५२
विपद्विधास्यतेऽत्राह०	१९।४३
विपरीता पुनस्ते	२१।१०४
विभाति रात्री मणि०	१।६४
विभान्त्यमी शत्रुनि०	२।७
विभावयन्तीत्यथ	१७।६९
विभिद्य मान कल०	१२।२०
विभूषयन्पूर्वविदेहमस्य	४।४
वियत्पथप्रान्तपरीक्ष०	१।११
वियोगनामापि न	७।५१
विलङ्घ्य पन्थानमथा०	७।३७
विलासवत्या सरित	७।५८
विलासिनीचित्तकर०	१४।४६

	स०।श्लो०
स दृष्टमात्रोऽपि	१०।१४
सदृशावत्यनीकेऽत्र	१९।५३
स धातकीखण्ड इति	४।३
स नन्दनालोकनजा०	१८।५
सदष्टे प्रियविधिना०	१६।१०
स पञ्जरेस्य कलके०	१८।५२
सपदि वरतनोरत०	१३।५०
सपाञ्चजन्य कररु०	२।४९
सप्ततिर्मोहनीयस्य	२१।११२
सप्तैव च सहस्राणि	२१।१८०
स प्रसादेन देवस्य	१९।९०
सभूषणे तत्परिधाप्य	१८।४६
सभ्रूभङ्ग करकिसल०	१४।८३
समग्रसौन्दर्यविधिद्विषो	२।६१
समधिगम्य पय	११।४०
समधिरुह्य शिर कु०	११।१३
समन्तत काञ्चनभू०	७।४८
स मन्दरागोपह० प०	१८।१९
समसिचत मुहुर्मुहु	१३।३१
स महिमोदयत	११।५७
समुचितमिति कृत्य	८।९
समुचितसमयेन म०	१३।६५
समुच्छ्वसन्नीवि गल०	१४।७९
समुत्साह समुत्सा०	१९।६२
समुन्नमत्कूटपरम्प०	१०।२
समुल्लसत्खङ्गलतापह०	२।११
समुल्लसत्समदबाष्प०	१२।६०
समेत्य यस्मिन्मणि०	१।५९
संपूर्णचन्द्राननमुन्न०	१७।५१
संप्रत्यपाया स्म इति	१।४
सप्रविश्य वलभीषु	१५।६६
सभृतभ्रमरसङ्गिविभ्रम	५।६४
सभृतो हुतभूभारिरु०	१९।५०
सभोग प्रविदधता	१६।३
सभोगश्रमसलिलैरि०	१६।१२
सभ्रमभ्रमितलोलल्लो०	५।३९
सम्यक्त्वपायेयमवा०	१।३७
——	२१
सर इव मरुमार्गे	८।५१
सरभसमधिपेन सि०	१३।३७
सरभसमिह यत्तटा०	१३।४४
सरस्वतीवार्थमनिन्द्य०	२।६२
सरागमुर्व्या मृगना०	४।३६
सर्पत्सु द्विरदबलेपु	१६।५९
सर्वतोऽपि सुमनो०	५।५७
सर्वथाहमपदोष एव	५।६७
सर्वस्वोपनयनमत्र	१६।८१
सर्वाद्भुतमयी सृष्टि	२१।७
सर्वार्थसिद्धिपर्यन्ते०	२१।७७
सर्वाशाद्विपमदवा०	१६।५६
सलीलमैरावणवाम०	७।४०
स वाजिसिन्धुरग्रामा०	१९।७८
स वारितो मत्तमरु०	७।५३
स वारिधेरन्तरनन्त०	७।२०
सविक्रम क्रामति ह्रा०	७।४१
सविभ्रम वीक्ष्य तवे०	१२।३६
स श्रीमानहमिन्द्र	५।८८
ससभ्रमेणाभ्रमुवल्लभस्य	७।६
सस्यस्थलीपालकवा०	१।५०
सहसा सह सौरभ०	१९।२१
सहस्रधा सत्यपि गो०	२।७०
सहस्रमेकमुत्सेधो	२१।३८
सागरे भुवि कान्ता०	१९।९३
सागरोपमकोटीना	२१।५०
सा गर्भनिर्भरतया	६।११
सागारमनगार च	२१।१२४
सा तत्र मुक्ताभरणा०	४।८५
साधोर्विनिर्माणविधौ	१।१९
सा भारतीव चतुरा०	६।१
सामाजिकमथाद्य	२१।१४९
सारङ्गाक्षीचञ्चलापाङ्ग०	२०।९५
सारसेनारसे नागा	१९।६४
सारेषु रत्नेषु यया	४।२१
साल शृङ्गालम्बिन०	२०।७६
सा वागुरा नेत्रकुर०	१७।१२
साश्रुणी लोचने वाणी	२१।२६
स्मता	२१।१२३
सिंहासने शृङ्ग इवो०	१७।८
सिक्त सुरैरित्यमुपेत्य	९।१
सितातपत्र द्रविडो	१८।४८
सिताब्दरुद्धार्थहिरण्य०	७।२६
सिद्धमिष्ट त्वदालोका०	३।५५
सिद्धससारिभेदेन द्वि०	२१।११
सिद्धान्नत्वा तत्र	२०।२९
सिन्दूरद्युतिमिह मूर्ध्नि	१६।३२
सीत्कृतानि कलहस०	१५।५०
सीधुपानविधिना किल	१५।११
सीमा सौभाग्यभा०	१९।३६
सुख समुत्सारितक०	१७।४०
सुखमासुखमा प्रोक्ता	२१।५१
सुख फल राज्यपदस्य	१८।३१
सुदुर्धरध्वान्तमलि०	४।४९
सुधाकरेणाप्यजरा०	४।४८
सुधाद्रवैर्मन्मथमात्म०	४।४६
सुधाप्रवाहैरिव हारि०	७।१६
सुधासुधारश्मिमृणा०	२।३६
सुप्त इत्यतिविविक्त०	१५।३९
सुमन्त्रबीजोपचय	१८।३८
सुरभिपत्रवत कुसु०	११।६०
सुरसमितिरसस्यै	८।२७
सुरस्रवन्तीकनकार०	२।४८
सुराङ्गनानामपि दुर्लभ	१७।७७
सुवृत्तमप्यासजडोरु०	२।४०
सुषेणस्तद्बलद्व्यूहं	१९।७६
सुस्वरश्रुतिमुदाररूपका	५।१४
सुहृत्तम सोऽथ स०	१०।१५
सुहृत्तमावेकत उन्नतो	२।४४
सुहृदमात्यगणाननु०	११।२
सूतवद्भिन्नमप्यङ्ग	२१।२७
सूर्यस्य तापेन दिवा०	९।७३
सूर्योपगामिभिरिभै०	६।४३
सेना सुराणाममना	११।६५
सेवायै समयविदागत	१६।१
सैन्यकोलाहलोत्तिष्ठ०	३।२६
सोऽङ्गलावण्यसक्रा०	३।१४
सोत्सवे करणस०	१५।५६

	स०।श्लो०
विलासोल्लाससर्वस्वं	२१।७९
विवर्णता लोकबहि	१२।२२
विशदमणिमयास्या	८।३६
विशालदन्त घनदान०	७।३२
विशुद्धपार्ष्णि प्रकृ०	१८।२६
विश्वप्रकाशकस्यास्य	२१।१७२
विष्णोरिवाङ्घ्रेर्नखर०	९।७१
विस्तार पथि पुरतो०	१०।२८
विस्तार्य तारा रभ०	१।४६
विस्फारैरविदितविभ्रमै	१६।७०
विहाय तद्दृष्टमदृष्टहे०	४।६६
विहाय मान स्मरवा०	१०।६
वीक्ष्याङ्गना सलिल०	११।६७
वीतग्रन्था' कल्पना०	२०।९०
वृत्तिर्मरुद्द्वीपवतीव	१।३१
वृत्तिसख्यानमौदर्यमु०	२१।१५६
वृद्धि परामुदरमाप	६।५
वृद्धि प्रापुर्नाङ्गजा या	२०।६४
वृष्टि. पौष्पी सा कु०	२०।९४
वेतालास्ते तुणोत्ता०	१९।७१
वैधव्यदग्धारिवधूप्र०	४।२९
वैमानिका द्विधा क०	२१।६६
व्यराजतान्यो निज०	१७।२९
व्यादायास्य विस्फुर०	२०।५
व्यानशे ककुभस्तस्या	३।४
व्यापारितेनेन्द्रककु०	१४।३५
व्यापार्य सज्जालक०	४।१९
व्रतानि द्वादशैतानि	२१।१५३

श

शङ्काकाङ्क्षा विचिकि०	२१।१३०
शङ्केऽनुकूलपवनप्रे०	१९।५१
शम्भोर्जटाजूटदरीवि०	९।६९
शरघाताद्गजैर्दन्तिर०	१९।७०
शरद्‌लादूर्ध्वमितश्च्युत	४।९१
शरीरवाड्मन कर्मयोग	२१।९४
शशिमुखीवदनासव०	११।१५
शशी जगत्ताडनकु०	१४।४७
शस्त्रेषु शास्त्रेषु कलासु	९।१४

	स०।श्लो०
शाखानगरमालोक्य	३।२०
शातोदरी शयनसनि०	६।१४
शिक्षकाणा सहस्राणि	२१।१७८
शिखण्डिना ताण्डव०	१२।३४
शीतदीधितिवियाभि०	५।६
शीतदीधितिविकासि	१५।२
शीलवृत्तिरपराजिता	५।४४
शुभ्र नमोऽभवदमूद०	६।२६
शुभ्राम्भोजविशाललो०	१२।६१
शुभ्रा यदभ्रलिहम०	१।६१
शृङ्गसन्ततिकदर्थितग्रह	५।६०
शृङ्गारलीलामुकुराय०	१७।१०१
शृङ्गारवत्या दुहितु	९।३१
शृङ्गारवत्याश्चिरसचि०	१७।१०१
शृङ्गारसारङ्गविहार०	१७।४
शोधनीयन्त्रशस्त्राग्नि०	२१।१४४
शोभा स विभ्रत्कर०	९।४४
श्रवणपथरतापि का०	१३।५२
श्रव्य भवेत्काव्यम०	१।२५
श्रव्येऽपि काव्ये रचिते	१।१७
श्राविकाणा तु चत्वारि	२१।१८२
श्रीधर्मनाथस्य तत.	१।१३
श्रीधर्मनाथस्य मनो०	१७।८०
श्रीनाभिसूनोश्चिरम०	१।१
श्रीमानमेयमहिमा० प्र प्र	१
श्रीरशेषसुखदा प्रिय०	५।४३
श्रुत च शील च बल	२।१८
श्रुत्वेति प्रत्युवाचेद	३।६१
श्रुत्वेत्यवादीन्नृपतिर्वि०	४।६७
श्रेणीव रेणूद्गमनिष्ठि०	९।५९
श्लक्ष्ण यदेवात्ररणाय	१४।५९
श्लाघ्य मे कुलमखिल	१६।७७
श्लिष्टमिष्टवनिताव०	१५।३५
श्लिष्यतापि जघनस्त०	१५।३६
श्वभ्रायुषो निमित्तानि	२१।१००
श्वसिति रोदिति मु०	११।२०
श्वासकीर्णनवनीरज०	१५।६

ष

षडङ्गुलास्त्रयो हस्ता	२१।१७

	स०।श्लो०
षड्द्रव्याणीति वर्ण्यन्ते	२१।८२
षण्मासादूर्ध्वमेतस्या	३।७१
षष्ठे द्वाविंशतिर्ज्ञेया	२१।२१
षोडशैव तत. शुक्रम०	२१।७५
षोढा षट्कर्मभेदेन	२१।५६

स

संयोगतो भूतचतुष्ट०	४।७१
संवदन्तमिति भारती	५।३६
सवरो विवृत सैष	२१।१२१
सवाहयन्निव मना०	६।२४
सवितेनुरधिक मिथु०	१५।६२
ससर्पद्बलभररुद्धसि०	१६।५८
ससारसारलक्ष्म्येव	१९।७३
संसारसारसर्वस्व भू०	३।६९
ससारार्तिमिव व्यतीत्य	७।६८
सकज्जलाश्रुव्यपदे०	४।३३
स कर्णपीयूषरस० प्र.प्र.	७
सकलजगदवध्यस्यै०	८।२६
सकलदिग्विजये वर०	११।२७
सकषायतया दत्ते	२१।१०६
सकृपाणा स्थित	१९।२०
स कोऽपि चेदेकत०	२।२९
सगज सरथ साश्व.	१९।७९
सक्रान्तबिम्ब. स्तव०	१।६३
सख्येषु साक्षीकृतमा०	१७।४७
सगीतकारम्भरसन्मृ०	१।७६
स चन्द्रमाश्चन्द्रिकयेव	१८।२
स चित्रमन्तर्हितभा०	७।१८
सचज्जालकानसौ तत्र	३।१०
सचरच्चञ्चरीकाणा	३।२७
सचरत्पदभरेण निर्भर	५।५९
सचरन्नित इतो नत०	१५।४४
सचार्यमाणा निशि	१४।३०
सचेलु प्रचलितक०	१६।४८
स तत्र चामीकरचा०	७।७
स तस्मै वनपालाय	३।२
सती च सौन्दर्यवती	२।४५
सत्सूत्रमत्र तरुतीर०	१०।३१

	स०।श्लो०
स दृष्टमात्रोऽपि	१०।१४
सदृशावत्यनीकेऽत्र	१९।५३
स धातकीखण्ड इति	४।३
स नन्दनालोकनजा०	१८।५
सदष्टे प्रियविधिना०	१६।१०
स पञ्जरेभ्य कलके०	१८।५२
सपदि वरतनोरत०	१३।५०
सपाञ्चजन्य करुo	२।४९
सप्ततिर्मोहनीयस्य	२१।११२
सप्तैव च सहस्राणि	२१।१८०
स प्रसादेन देवस्य	१९।९०
सभूषणे तत्परिधाप्य	१८।४६
सभ्रूभङ्ग करकिसल०	१४।८३
समग्रसौन्दर्यविधिद्विषो	२।६१
समधिगम्य पय	११।४०
समधिरुह्य चिर कु०	११।१३
समन्तत काञ्चनभू०	७।४८
स मन्दरागोपह० प०	१८।१९
समसिचत मुहुर्मुहु	१३।३१
स महिमोदयत	११।५७
समुचितमिति कृत्य	८।९
समुचितसमयेन म०	१३।६५
समुच्छ्वसन्नीवि गल०	१४।७९
समुत्साह समुत्सा०	१९।६२
समुन्नमत्कूटपरम्प०	१०।२
समुल्लसत्खड्गलतापह०	२।११
समुल्लसत्समदबाष्प०	१२।६०
समेत्य यस्मिन्मणि०	१।५९
सपूर्णचन्द्राननमुन्न०	१७।५१
सप्रत्यपापा स्म इति	१।४
सप्रविश्य वलभीषु	१५।६६
सभृतभ्रमरसङ्गिविभ्रम	५।६४
सभृतो हुतभूभारिरु०	१९।५०
सभोग प्रविदधता	१६।३
सभोगश्रमसलिलैरि०	१६।१२
सभ्रमभ्रमितलोलल्लो०	५।३९
सम्यक्त्वपाथेयमवा०	१।३७
सम्यक्त्व भूमिरेषा	२१।१२६
स यावत्सेनानीरल०	१६।८४

	स०।श्लो०
सर इव मरुमार्गे	८।५१
सरभससमचिपेन सि०	१३।३७
सरभसमिह यत्तटा०	१३।४४
सरस्वतीवार्यमनिन्द्य०	२।६२
सरागमुर्व्या मृगना०	४।३६
सर्पत्सु द्विरदबलेपु	१६।५९
सर्वतोऽपि सुमनो०	५।५७
सर्वथाहमपदोष एव	५।६७
सर्वस्वोपनयनमत्र	१६।८१
सर्वाद्भुतमयी सृष्टि	२१।७
सर्वार्थसिद्धिपर्यन्ते०	२१।७७
सर्वाशाद्विपमदवा०	१६।५६
सलीलमैरावणवाम०	७।४०
स वाजिसिन्धुरग्रामा०	१९।७८
स वारितो मत्तमरु०	७।५३
स वारिधेरन्तरनन्त०	७।२०
सविक्रम क्रामति हा०	७।४१
सविभ्रम वीक्ष्य तवे०	१२।३६
स श्रीमानहमिन्द्र	५।८८
ससंभ्रमेणाभ्रमुवल्लभस्य	७।६
सस्यस्थलीपालकबा०	१।५०
सहसा सह सौरभ०	१९।२१
सहस्रधा सत्यपि गो०	२।७०
सहस्रमेकमुत्सेधो	२१।३८
सागरे भुवि कान्ता०	१९।९३
सागरोपमकोटीना	२१।५०
सा गर्भनिर्भरतया	६।११
सागारमनगार च	२१।१२४
सा तत्र मुक्ताभरणा०	४।८५
साधोर्विनिर्माणविधौ	१।१९
सा भारतीव चतुरा०	६।१
सामाजिकमथाद्य	२१।१४९
सारङ्गाक्षीचञ्चलापाङ्ग०	२०।९५
सारसेनारसे नागा	१९।६४
सारेषु रत्नेषु यया	४।२१
साल शृङ्गालम्बिन०	२०।७६
सा वागुरा नेत्रकुर०	१७।१२
साश्रुणी लोचने वाणी	२१।२६
सा सकामा स्मृता	२१।१२३

	स०।श्लो०
सिहासने शृङ्ग इवो०	१७।८
सिक्त सुरैरित्यमुपेत्य	९।१
सितातपत्रं द्रविडो	१८।४८
सिताब्दरुद्धार्धहिरण्य०	७।२६
सिद्धमिष्ट त्वदालोका०	३।५५
सिद्धससारिभेदेन द्वि०	२१।११
सिद्धान्नत्वा तत्र	२०।२९
सिन्दूरद्युतिमिह मूर्ध्नि	१६।३२
सीत्कृतानि कलहस०	१५।५०
सीधुपानविधिना किल	१५।११
सीमा सौभाग्यभा०	१९।३६
सुख समुत्सारितक०	१७।४०
सुखमासुखमा प्रोक्ता	२१।५१
सुख फल राज्यपदस्य	१८।३१
सुदुर्धरध्वान्तमलि०	४।४९
सुधाकरेणाप्यजरा०	४।४८
सुधाद्रवैर्मन्मथमात्म०	४।४६
सुधाप्रवाहैरिव हारि०	७।१६
सुधासुधारश्मिमृणा०	२।३६
सुप्त इत्यतिविविक्त०	१५।२९
सुमन्त्रबीजोपचय	१८।३८
सुरभिपत्रवत कुसु०	११।६०
सुरसमितिरसख्यै	८।२७
सुरस्रवन्तीकनकार०	२।४८
सुराङ्गनानामपि दुर्लभ	१७।७७
सुवृत्तमप्यासजडोरु०	२।४०
सुषेणस्तद्बलद्व्यूह	१९।७६
सुस्वरश्रुतिमुदाररूपका	५।१४
सुहृत्तम सोऽथ स०	१०।१५
सुहृत्तमावेकत उन्नतो	२।४४
सुहृदमात्यगणाननु०	११।२
सूतवद्भिभ्रमप्यङ्ग	२१।२७
सूर्यस्य तापेन दिवा०	९।७३
सूर्योपगामिभिरिभै०	६।४३
सेना सुराणाममना	११।६५
सेवार्थं समयविदागत	१६।१
सैन्यकोलाहलोत्तिष्ठ०	३।२६
सोऽङ्गलावण्यसक्ता०	३।१४
सोत्सवै करणस०	१५।५६

स०।श्लो०
सोऽथ दन्तकरकुन्द० ५।२४
सोऽप्यन्तर्मनसि १६।७८
सोल्लास कतिपयवेग० १६।७५
सौजन्यसेतुमुद्भिन्द० १९।४२
सौधर्मेशाननामानौ २१।६७
सौधर्मेशानयोरायु २१।७३
स्कन्धावारे पाटली० २०।३४
स्कन्धे मुहुर्वक्रितक० १७।२७
स्तनतटपरिघट्टितै १३।३२
स्तम्भितभ्रमितकुक्षि० ५।६८
स्तुत्वा दिने रात्रिमहश्च १४।७०
स्तूपास्तेपामन्तरन्त० २०।८८
स्त्रीत्वादरुद्धप्रसरो १४।६७
स्त्रीमुखानि च मधूनि १५।१६
स्थितेऽपि कोपे नृप० १८।२२
स्नपनविधिनिमित्तो० ८।२८
स्नाता इवातिशयशा० ६।२७
स्निग्धा बभुर्मूर्धनि ९।२७
स्नेहपूर इव क्षणे त० १९।५९
स्पर्शभाजि न परं १५।४३
स्पर्शसाधारणेष्वेषु २१।३४
स्पष्टधाष्टर्चमविरो० १५।६०
स्पृशति किमपि चेत० ८।४६
स्फारकान्तिलहरीपर० ५।६३
स्फुटकुमुदपराग सा० ८।२२
स्फुटमिति कथयित्वा १९।१०३
स्फुरत्प्रतापस्य ततो० १७।४४

स०।श्लो०
स्फुरदमन्दतडिद्द्युति० ११।४९
स्मरति स्म रतिप्रि० १०।४५
स्मरवशीकरणौषध० ११।२४
स्मरेण कालागुरुप० २।५८
स्मरेण तस्या किल २।३७
स्मित विलासस्य १२।५५
स्मितमिव नवफेनमु० १३।१५
स्याद्वादवादसाम्राज्य० २१।४
स्याद्दिसवादन योग० २१।१०२
स्रजो विचित्रा हृदि १२।५४
स्रष्टा दधात्येव महा० १०।३
स्रस्तोडुक्रमपरिणामि० १६।२१
स्व ससधा स्यन्दन० १४।१
स्वगुणगरिमदो स्थ ८।५२
स्वच्छन्द विघुमभि० १६।३३
स्वच्छामेवाच्छाद्य २०।२१
स्वभावमार्दवत्वेन २१।५७
स्वभावशोणौ चरणौ १७।१७
स्वमूर्ध्नि चूडामणि० १२।४८
स्वयवर द्रष्टुमुपाग० १७।८५
स्वयमगाद्दसर्ति कलि० ११।२५
स्वयमनम्बुजमेव ११।४१
स्वयमयमिह धत्ते ८।६
स्वर्ग सप्रति क पुना० ३।७६
स्वर्गात्तत्रागच्छताम २०।६८
स्वर्दन्तिन तदनु द० ६।३४
स्वस्थो धृताच्छदाग० ४।२३

स०।श्लो०
स्वस्वदीधितिपरिग्रह० ५।७२
स्वाध्यायो विनयो २१।१५७
स्वानुभावत्रभृतभूरीभू० ५।७
स्वैराभिसारोत्सवसं० १४।३

ह

हतमोहतमोगतेस्तव १९।१००
हरेर्द्विपो हारिहिरण्य० ७।३९
हर्म्यैरिवोत्तम्भितकु० ९।५७
हस्ता सप्त द्वयोर्मान २१।७०
हारावलीनिर्झरहारि १।७८
हालाहेलासोदरा म० २०।१६
हा हा महाकष्टमचि० ४।४५
हिंसानृतवच स्तेयस्त्री०२१।१४२
हितहेतु वचस्तुभ्यम० १९।३०
हिनस्ति धर्मं हृदया० १८।१०
हिमगिरिमिव मेरु ८।३३
हिममहामहिमानम० ११।७
हिरण्यभूभृद्द्विरदैस्त० ७।४३
हृदयहारिहरिन्मणिक० ११।५२
हृदि निहितघटेव १३।२३
हृद्यार्थबन्ध्या पदव० १।१५
हेमरम्य वपु पञ्च० २१।१७६
हेमवर्माणि सोऽद्रा० १९।६०
हेलोत्तरत्तुङ्गमतङ्ग० ९।७५
ह्रीविमोहमपनीय १५।१९

•

सुभाषितानि

जयन्ति ते केऽपि महाकवीना स्वर्गप्रदेशा इव वाग्विलासा ।
पीयूषनिष्यन्दिषु येषु हर्षं केषा न धत्ते सुरसार्थलीला ॥१।९॥

लब्धात्मलाभा बहुधान्यवृद्धयै निर्मूलयन्ती घननीरसत्वम् ।
सा मेघसंघातमपेतपङ्का शरत्सता ससदपि क्षिणोतु ॥१।१०॥

परस्य तुच्छेऽपि परोऽनुरागो महत्यपि स्वस्य गुणे न तोष ।
एवविधो यस्य मनोविवेक किं प्रार्थ्यते सोऽत्र हिताय साधु ॥१।१८॥

खल विधात्रा सृजता प्रयत्नात्किं सज्जनस्योपकृत न तेन ।
ऋते तमांसि द्युमणिर्मणिर्वा विना न काचं स्वगुण व्यनक्ति ॥१।२२॥

अहो खलस्यापि महोपयोग. स्नेहद्रुहो यत्परिशीलनेन ।
आकर्णमापूरितपात्रमेता क्षीर क्षरन्त्यक्षतमेव गाव ॥१।२६॥

आ कोमलालापपरेऽपि मा गा प्रमादमन्त.कठिने खलेऽस्मिन् ।
शेवालशालिन्युपले छलेन पातो भवेत् केवलदु खहेतु ॥१।२७॥

उच्चासनस्थोऽपि सता न किंचिन्नीच स चित्तेषु चमत्करोति ।
स्वर्णाद्रिशृङ्गाग्रमधिष्ठितोऽपि काको वराक खलु काक एव ॥१।३०॥

न चन्दनेन्दीवरहारयष्टयो न चन्द्ररोचीषि न चामृतच्छटा ।
सुताङ्गसस्पर्शसुखस्य निस्तुला कलामयन्ते खलु षोडशीमपि ॥२।७१॥

'न पर विनय श्रीणामाश्रय श्रेयसामपि ।' ३।४६॥

'नैत्राधृष्य क्वचित्तेजस्तमसा नाभिभूयते ।' ३।६२॥

न ह्युदात्तस्य माहात्म्य लङ्घयन्तीतरे स्वरा ।' ३।६५॥

'कथा कथचित्कथिता श्रुता वा जैनी यतश्चिन्तितकामधेनु ।' ४।२॥

'यद्वा किमुल्लङ्घयितु कथचित्केनापि शक्यो नियतेर्नियोग ।' ४।४५

'मृग सतृष्णो मृगतृष्णिकासु प्रतार्यते तोयधिया न धीमान् ।' ४।५४॥

'किं वा विमोहाय विवेकिना स्यात्' ४।६१॥

'को वा स्तनाग्राण्यवधूय धेनोर्दुग्ध विदग्धो ननु दोग्धि शृङ्गम्' । ४।६६

'मणेरनर्घस्य कुतोऽपि लग्न को वा न पङ्क परिमार्ष्टि तोयै ' ॥४।७५

'को वा स्थितिं सम्यगवैति राज्ञाम्' ॥४।७८॥

'जायते व्रतविशेषशालिना स्वप्नवृन्दमफल हि न क्वचित् ।' ४।८६॥

'यद्वा नितान्तकठिना प्रकृतिं भजन्तो
मध्यस्थमप्युदयिन न जडा सहन्ते ।' ६।५॥

'तुङ्गोदयाद्रिगहनान्तरितोऽपि धाम
किं नाम मुञ्चति कदाचन तिग्मरश्मि ।' ६।९॥

	स०।श्लो०
सोऽथ दन्तकरकुन्द०	५।२४
सोऽप्यन्तर्मनसि	१६।७८
सोल्लास कतिपयवेग०	१६।७५
सौजन्यसेतुमुद्भिन्द०	१९।४२
सौधर्मेशाननामानौ	२१।६७
सौधर्मेशानयोरायु	२१।७३
स्कन्धावारे पाटली०	२०।३४
स्कन्धे मुहुर्वक्रितक०	१७।२७
स्तनतटपरिघट्टितं	१३।३२
स्तम्भितभ्रमितकुक्षि०	५।६८
स्तुत्वा दिने रात्रिमहश्च	१४।७०
स्तूपास्तेषामन्तरन्त०	२०।८८
स्त्रीत्वादरुद्धप्रसरो	१४।६७
स्त्रीमुखानि च मधूनि	१५।१६
स्थितेऽपि कोपे नृप०	१८।२२
स्नपनविधिनिमित्तो०	८।२८
स्नाता इवातिशयशा०	६।२७
स्निग्धा बभुर्मूर्धनि	९।२७
स्नेहपूर इव क्षणे त०	१९।५९
स्पर्शभाजि न पर	१५।४३
स्पर्शसावारणेष्वेषु	२१।३४
स्पष्टषाड्गुण्यमविरो०	१५।६०
स्पृशति किमपि चेत०	८।४६
स्फारकान्तिलहरीपर०	५।६३
स्फुटकुमुदपराग सा०	८।२२
स्फुटमिति कथयित्वा	१९।१०३
स्फुरत्प्रतापस्य ततो०	१७।४४
स्फुरदमन्दतडिद्द्युति०	११।४९
स्मरति स्म रतिप्रि०	१०।४५
स्मरवशीकरणौषध०	११।२४
स्मरेण कालागुरुप०	२।५८
स्मरेण तस्याः किल	२।३७
स्मितं विलासस्य	१२।५५
स्मितमिव नवफेनमु०	१३।१५
स्याद्वादवादसाम्राज्य०	२१।४
स्याद्विसवादन योग०	२१।१०२
स्रजो विचित्रा हृदि	१२।५४
स्रष्टा दधात्येव महा०	१०।३
स्रस्तोडुक्रमपरिणामि०	१६।२१
स्व ससखा स्यन्दन०	१४।१
स्वगुणगरिमदीःस्थ्यं	८।५२
स्वच्छन्द विधुमभि०	१६।३३
स्वच्छामेवाच्छाद्य	२०।२१
स्वभावमार्दवत्वेन	२१।५७
स्वभावशोणौ चरणौ	१७।१७
स्वमूर्ध्नि चूडामणि०	१२।४८
स्वयवर द्रष्टुमुपाग०	१७।८५
स्वयमगाद्वसति कलि०	११।२५
स्वयमनम्बुजमेव	११।४१
स्वयमयमिह धत्ते	८।६
स्वर्गं संप्रति कः पुना०	३।७६
स्वर्गात्तत्रागच्छताम	२०।६८
स्वर्दन्तिन तदनु व०	६।३४
स्वस्थो धृताच्छदागु०	४।२३
स्वस्वदीधितिपरिग्रह०	५।७२
स्वाध्यायो विनयो	२१।१५७
स्वानुभावधृतभूरीमू०	५।७
स्वैराभिसारोत्सवस०	१४।३

ह

हतमोहतमोगतेस्तव	१९।१००
हरेर्द्विपो हारिहिरण्य०	७।३९
हर्म्यैरिवोत्तम्भितकु०	९।५७
हस्ता सप्त द्वयोर्मानं	२१।७०
हारावलीनिर्झरहारि	१।७८
हालाहलासोदरा म०	२०।१६
हा हा महाकष्टमचि०	४।४५
हिंसानृतवच स्तेयस्त्री०	२१।१४२
हितहेतु वचस्तुभ्यम०	१९।३०
हिनस्ति धर्मं हृदया०	१८।३०
हिमगिरिमिव मेरु	८।३३
हिममहामहिमानम०	११।७
हिरण्मयभूभृद्द्विरदैस्त०	७।४३
हृदयहारिहरिन्मणिक०	११।५२
हृदि निहितघटेव	१३।३३
हृद्यार्थबन्ध्या पदब०	१।१५
हेमरम्य वपु पञ्च०	२१।१७६
हेमवर्माणि सोऽद्रा०	१९।६०
हेलोत्तरत्तुङ्गमतङ्ग०	९।७५
ह्रीविमोहमपनीय	१५।१९

सुभाषितानि

जयन्ति ते केऽपि महाकवीना स्वर्गप्रदेशा इव वाग्विलासा ।
पीयूषनिष्यन्दिषु येषु हर्षं केषा न धत्ते सुरसार्थलीला ॥१।९॥

लब्धात्मलाभा बहुधान्यवृद्धयै निर्मूलयन्ती घननीरसत्वम् ।
सा मेघसघातमपेतपङ्का शरत्सता ससदपि क्षिणोतु ॥१।१०॥

परस्य तुच्छेऽपि परोऽनुरागो महत्यपि स्वस्य गुणे न तोष ।
एवविधो यस्य मनोविवेक किं प्रार्थ्यते सोऽत्र हिताय साधु ॥१।१८॥

खल विधात्रा सृजता प्रयत्नात्किं सज्जनस्योपकृत न तेन ।
ऋते तमासि द्युमणिर्मणिर्वा विना न काचं स्वगुण व्यनक्ति ॥१।२२॥

अहो खलस्यापि महोपयोग. स्नेहद्रुहो यत्परिशीलनेन ।
आकर्णमापूरितपात्रमेता क्षीर क्षरन्त्यक्षतमेव गाव ॥१।२६॥

आ कोमलालापपरेऽपि मा गा प्रमादमन्त कठिने खलेऽस्मिन् ।
शैवालशालिन्युपले छलेन पातो भवेत् केवलदु खहेतु ॥१।२७॥

उच्चासनस्थोऽपि सता न किंचिन्नीच स चित्तेषु चमत्करोति ।
स्वर्णाद्रिशृङ्गाग्रमधिष्ठितोऽपि काको वराक. खलु काक एव ॥१।३०॥

न चन्दनेन्दीवरहारयष्टयो न चन्द्ररोचीषि न चामृतच्छटा ।
सुताङ्गसस्पर्शसुखस्य निस्तुला कलामयन्ते खलु षोडशीमपि ॥२।७१॥

'न पर विनय श्रीणामाश्रय श्रेयसामपि ।' ३।४६॥

'नैत्राधृष्य क्वचित्तेजस्तमसा नाभिभूयते ।' ३।६२॥

न ह्युदात्तस्य माहात्म्य लङ्घयन्तीतरे स्वरा ।' ३।६५॥

'कथा कथंचित्कथिता श्रुता वा जैनी यतश्चिन्तितकामधेनु ।' ४।२॥

'यद्वा किमुल्लङ्घयितु कथंचित्केनापि शक्यो नियतेर्नियोग' ।' ४।४५

'मृग सतृष्णो मृगतृष्णिकासु प्रतार्यते तोयधिया न धीमान् ।' ४।५४॥

'किं वा विमोहाय विवेकिना स्यात्' ४।६१॥

'को वा स्तनाग्राण्यवधूय धेनोर्दुग्ध विदग्धो ननु दोग्धि शृङ्गम्' । ४।६६

'मणेरनर्घस्य कुतोऽपि लग्न को वा न पङ्क परिमार्ष्टि तोयै' ॥४।७५

'को वा स्थितिं सम्यगवैति राज्ञाम्' ॥४।७८॥

'जायते व्रतविशेषशालिना स्वप्नवृन्दमफल हि न क्वचित् ।' ८।८६॥

'यद्वा नितान्तकठिना प्रकृतिं भजन्तो
मध्यस्थमप्युदयिन न जडा सहन्ते ।' ६।५॥

'तुङ्गोदयाद्रिगहनान्तरितोऽपि धाम
किं नाम मुञ्चति कदाचन तिग्मरश्मि ।' ६।९॥

'अहो मदान्धस्य कुतो विवेक ।' ७।५३॥

'स्वजीवितेभ्योऽपि महोन्नतानामहो गरीयानभिमान एव' ७।५४॥

'कुतोऽथवा स्यान्महोदय स्त्री व्यसनालसानाम् ।' ७।५८॥

'अवसरमुखरत्व प्रीतये कस्य न स्यात् ।' ८।१५॥

'न खलु मतिविकासादर्शदृष्टाखिलार्था
कथमपि विततार्थां वाचमाचक्षते ते ।' ८।४०॥

'प्रतिशिखरि वनानि ग्रीष्ममध्येऽपि कुर्यात्
किमु न जलदकाल प्रोल्लसत्पल्लवानि ।' ८।४९॥

'य स्वप्नविज्ञानगतेरगोचरश्चरन्ति नो यत्र गिर कवेरपि ।
य नानुबध्नन्ति मन प्रवृत्तय स हेलयार्थो विधिनैव साध्यते ॥' ९।३७॥

'इह विकृतिमुपैति पण्डितोऽपि प्रणयवतीषु न किं जडस्वभाव.' ॥१३।३०॥

'अधिगतहृदया मनस्विनीना किमु विलसन्मकरध्वजा न कुर्यु ' ॥१३।३२॥

'अहो दुरन्तो बलवद्विरोध ' ॥१४।१२॥

'क स्त्रीणा गहनमवैति तच्चरित्रम् ।' १६।३३॥

'को वा चरित्र महतामवैति ।' १७।४५॥

'द्रष्टु दृढोपायमनङ्ग एव चक्षुस्तृतीय सुदृशामुपैति' ॥१७।९५॥

'अपत्यमिच्छन्ति तदेव साधवो न येन जातेन पतन्ति पूर्वजा. ।' १८।१२॥

'श्रिया पिशाच्येव नृपत्वचत्वरे परिस्खलन्कश्छलितो न भूपति ' ॥१८।१६॥

'इहार्थकामाभिनिवेशलालसः स्वधर्ममर्माणि भिनत्ति यो नृप ।
फलाभिलाषेण समीहते तरुं समूलमुन्मूलयितु स दुर्मति ॥' १८।३२॥

'यत्संसक्त प्राणिना क्षीरनीरन्यायेनोच्चैरङ्गमप्यन्तरङ्गम् ।
आयुश्छेदे याति चेत्तत्तदास्था का बाह्येषु स्त्रीतनूजादिकेषु ।' २०।१३॥



पारिभाषिक शब्दकोश

अकामनिर्जरा–भूख-प्यास आदिकी बाधाको समताभावसे सह लेनेपर जो कर्मोंका एक देश क्षय होता है वह अकामनिर्जरा है २।१७८

अकामनिर्जरा–नारकी आदि जीवोंके, स्थिति पूर्ण होनेपर कर्मोंकी जो स्वय निर्जरा होती है वह अकामनिर्जरा है इसका दूसरा नाम सविपाकनिर्जरा है २।१३३

अग्नि–भवनवासी देवोका एकभेद २।१६१

अच्युत–सोलहवाँ स्वर्ग २।१६९

अजीव–चेतना लक्षणसे रहित अजीव तत्त्व। इसके पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालकी अपेक्षा ५ भेद हैं २।८

अणु–पुद्गलद्रव्यका अविभाज्य एक प्रदेश २।९०

अणुव्रत–हिंसादि पाँच पापोका एक देश त्याग करना। ये पाँच हैं—१ अहिंसाणु व्रत, २ सत्याणु व्रत, ३ अचौर्याणुव्रत, ४ ब्रह्मचर्याणु व्रत, ५ परिग्रहपरिमाणाणुव्रत २।१२५

अधर्म–अधर्मास्तिकाय, जो जीव और पुद्गलको स्थितिमें सहकारी है २।८१

अनन्तकाय–जिसमें एक शरीरके आश्रित अनेक जीव रहते है, जैसे अदरक, आलू, घुइंया आदि २।१३८

अनुभाग–कर्मबन्धका एक भेद २।१०८

अन्त–पूर्वपर्यायका विनाश २०।५७

अन्तरङ्ग तप–१ प्रायश्चित्त, २ विनय, ३ वैयावृत्य, ४ स्वाध्याय, ५ व्युत्सर्ग और ६ ध्यान २।१५७

अम्भोधिकुमार–भवनवासी देवोका एक भेद। दूसरा प्रचलित नाम उदधिकुमार २।१६१

अवसर्पिणी–जिसमें मनुष्योके बल, शरीर, आदिका ह्रास होता है, इसके सुषमासुषमा आदि छह भेद हैं। १० कोटीकोटी सागर का एक अवसर्पिणी होता है २।४९

अवर्णवाद–झूठा दोष लगाना २।९८

अविरति–असयमभाव, इसके बारह भेद हैं। पाँच इन्द्रियो और मनको वश नही करना तथा पाँच स्थावर और एक त्रस इन छह कायके जीवोकी रक्षा नही करना २।१०७

अष्टप्रवचनमातृका–ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और प्रतिष्ठापन ये पाँच समितियाँ तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति ये तीन गुप्तियाँ आठ प्रवचन मातृका है २।१५८

असुरकुमार–भवनवासी देवोका एक भेद २।१६१

अहि–भवनवासी देवोका एक भेद, दूसरा नाम नागकुमार २।१६१

आठ प्रकृतियाँ–१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र और ८ अन्तराय ये आठ प्रकृतियाँ हैं २।१०९

आनत–तेरहवाँ स्वर्ग २।१६८

आप्त–वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी २।१२८

आरण–पन्द्रहवाँ स्वर्ग २।१६९

आर्तध्यान–खोटाध्यान। इसके चार भेद हैं—१ इष्टवियोगज, २ अनिष्टसयोगज, ३ वेदनाजन्य, ४ निदानजन्य २।१००

आर्य–जिनमें धर्म-कर्मकी प्रवृत्ति होती है वे आर्य हैं। इनके ऋद्धि प्राप्त और अनृद्धि प्राप्तकी अपेक्षा दो भेद है २।४७

आसादन–प्रशस्त ज्ञानमें दोष लगाना २।९५

आस्रव–बन्धके कारणको आस्रव कहते है। इसके मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये प्रमुख भेद हैं २।८

ईति–अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषक, शलभ, शुक और निकटवर्ती शत्रु ये छह ईतियाँ है २०।१३

उत्पाद–नवीन पर्यायकी उत्पत्ति २०।५७

उत्सर्पिणी–जिसमें जीवोके सद्‌गुणोकी वृद्धि होती है। इसके दु षमादु षमा आदि छह भेद हैं। १० कोटीकोटी सागरकी एक उत्सर्पिणी होती है २१।४९

उपसर्ग–१ देवकृत, २ मनुष्यकृत, ३ तिर्यंचकृत और ४ अचेतनकृत इस प्रकार उपसर्ग-उपद्रवके चार भेद हैं २०।६६

ऐरावत–एक क्षेत्रका नाम। जम्बूद्वीपमें एक, धातकी खण्डमें दो और पुष्करवरद्वीपमें दो इस प्रकार कुल ५ ऐरावत क्षेत्र हैं २१।४९

ऐशान–दूसरा स्वर्ग २१।६७

औपपादिक–निश्चित उपपाद शय्यापर उत्पन्न होनेवाले नारकी औपपादिक कहे जाते हैं २१।७८

कल्पज–वैमानिक देवोका एक भेद। पहलेसे लेकर सोलहवें स्वर्ग तकके देव कल्पज या कल्पवासी कहलाते हैं २१।६६

कल्पातीत–वैमानिक देवोका एक भेद। सोलहवें स्वर्गसे ऊपरके देव कल्पातीत कहलाते हैं २१।६४

कर्मभूमि–जहाँ असि, मषि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्याके द्वारा आजीविका होती है २१।४७

काङ्क्षा–सम्यग्दर्शनका एक अतिचार—सासारिक सुखकी इच्छा करना २१।१३०

कापिष्ठ–आठवां स्वर्ग २१।६८

काल–जो सब द्रव्योकी हालतोके बदलनेमें सहकारी कारण है २१।८१

किन्नरादि–व्यन्तर देवोके आठ भेद—१ किन्नर, २ किम्पुरुष, ३ महोरग, ४ गन्धर्व, ५ यक्ष, ६ राक्षस, ७ भूत और ८ पिशाच २१।६३

केवल–लोक-अलोकको जाननेवाला ज्ञान। इसके होनेपर मनुष्य सर्वज्ञ कहलाने लगता है। २०।५७

गुणव्रत–अणुव्रतोके उपकारक तीन व्रत—१ दिग्व्रत, २ देशव्रत, ३ अनर्थदण्डव्रत २१।१२५

गुणस्थान–मोह और योगके निमित्तसे होनेवाले आत्माके परिणामोके तारतम्यको गुणस्थान कहते हैं। वे १४ होते हैं—१ मिथ्यात्व, २ सासादन, ३ मिश्र, ४ असयत, ५ देशविरत, ६ प्रमत्तविरत, ७ अप्रमत्तविरत, ८ अपूर्वकरण, ९ अनिवृत्तिकरण, १० सूक्ष्मसाम्पराय, ११ उपशान्तमोह, १२ क्षीणमोह, १३ सयोगकेवली, १४ अयोगकेवली २१-५६

गुरुनिह्नव–गुरुका नाम छिपाना २१।९५

ग्रैवेयक–सोलहवें स्वर्गके ऊपर स्थित ९ विमान २१।७७

चतुर्भाषाभेद–सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश और भूतभाषित ये चार भाषाके भेद हैं २०।६२

चातुर्वर्ण्य सङ्घ–ऋषि, मुनि, यति और अनगार इन चार प्रकारके मुनियोका सघ चातुर्वर्ण्य सघ कहलाता है २०।६२

चाप–धनुष—चार हाथका एक धनुष होता है २१।१७

छद्मस्थ–तीर्थंकरकी केवलज्ञान प्राप्त होनेकी पूर्व अवस्था छद्मस्थ अवस्था कहलाती है। छद्म=अज्ञान २०।५६

जीव–चेतना—ज्ञान-दर्शन लक्षणसे युक्त जीव तत्त्व २१।८

ज्योतिष्क–देवोका एक भेद। इसके सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे इस तरह पाँच भेद हैं २१।६४

त्रस–चलने-फिरनेवाले जीव—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय २१।३३

दशलक्षणधर्म–१ क्षमा, २ मार्दव, ३ आर्जव, ४ शौच, ५ सत्य, ६ सयम, ७ तप, ८ त्याग, ९ आकिंचन्य और १० ब्रह्मचर्य २१।१२८

दु षमा–अवसर्पिणीका पांचवां काल २१।५१

दु षमादु षमा–अवसर्पिणीका छठवां काल २१।५१

दुःषमासुषमा–अवसर्पिणीका चौथा काल २१।५१

दिक्कुमार–भवनवासी देवोका एक भेद २१।६१

दृग्विशुद्धि आदि–दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाएँ—१ दर्शनविशुद्धि, २ विनयसम्पन्नता, ३ शीलव्रतेष्वनतीचार, ४ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, ५ सवेग, ६ शक्तितस्त्याग, ७ शक्तितस्तप, ८ साधुसमाधि, ९ वैयावृत्यकरण, १० अर्हद्भक्ति, ११ आचार्यभक्ति, १२ बहुश्रुतभक्ति,

१३ प्रवचनभक्ति, १४ आवश्यकापरिहाणि, १५ मार्गप्रभावना और १६ प्रवचन वत्सलत्व २१।१०३

द्विदल–कच्चे दूध, दही और छांछके साथ दाल वाली चीजोको खाना द्विदल है २१।१३६

द्वीपकुमार–भवनवासी देवोका एक भेद २१।६१

धर्म–धर्मास्तिकाय, जो जीव और पुद्गलोके चलनेमें निमित्त है २१।८१

ध्रौव्य–पूर्व और उत्तर पर्यायमें रहनेवाला सामान्य धर्म २०।५७

नभस्–आकाशद्रव्य, जो सब द्रव्योके लिए स्थान देता है २१।८१

नवपदार्थ–१ जीव, २ अजीव, ३ आस्रव, ४ बन्ध, ५ संवर, ६ निर्जरा, ७ मोक्ष, ८ पुण्य और ९ पाप २१।९

निर्जरा–पूर्वबद्ध कर्मोंका एकदेशक्षय होना निर्जरा है। इसके दो भेद हैं—१ सविपाक, २ अविपाक २१।८

पञ्चास्तिकाय–बहुप्रदेशी द्रव्यको अस्तिकाय कहते है। वे पांच हैं—१ जीवास्तिकाय, २ पुद्गलास्तिकाय, ३ धर्मास्तिकाय, ४ अधर्मास्तिकाय और ५ आकाशास्तिकाय २१।८२

परिदेवन–करुणा-जनक विलाप करना २१।९६

पर्वचतुष्टय–प्रत्येक मासकी २ अष्टमी और २ चतुर्दशी २१।१५०

पुद्गल–जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाया जावे २१।८१

पूर्वकोटी–चौरासी लाखमें चौरासी लाखका गुणा करनेपर एक पूर्वांग होता है। चौरासी लाख पूर्वांगका एक पूर्वांग होता है और एक करोड पूर्वोंका एक पूर्वकोटी होता है। कर्म भूमिके मनुष्यकी उत्कृष्ट स्थिति एकपूर्वकोटीवर्षकी है २१।४८

प्रकृति–कर्म बन्धका एक भेद २१।१०८

प्रमाद–धार्मिक कार्योंमें अनादर। इसके १५ भेद हैं—४ विकथा (स्त्री, देश, भोजन, राज-) ४ कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) स्पर्शनादि पांच इन्द्रियोके विषय, १ निद्रा, १ स्नेह २१।१०७

प्राणत–चौदहवां स्वर्ग २१।६८

प्रातिहार्य–तीर्थंकरके समवसरणमें निम्नलिखित आठ प्रातिहार्य होते हैं—१ अशोक वृक्ष, २ सिंहासन, ३ छत्रत्रय, ४ भामण्डल, ५ दिव्यध्वनि, ६ पुष्पवृष्टि, ७ चौसठ चमर, ८ दुन्दुभि बाजोका बजना २०।१०१

बन्ध–जीव और ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्मोंका एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होना २१।८

बालतप–अज्ञानमूलकतप, जैसे पचाग्नि तपना आदि २१।७८

बाह्यतप–१ उपवास, २ ऊनोदर, ३ वृत्तिपरिसंख्यात, ४ रसपरित्याग, ५ विविक्त शय्यासन और ६ कायक्लेश २१।१५६

ब्रह्म–पांचवां स्वर्ग २१।६७

ब्रह्मोत्तर–छठा स्वर्ग २१।६७

भरत–एक क्षेत्र, जम्बूद्वीपमें एक, धातकी खण्डमें दो और पुष्करार्धमें दो इस प्रकार सब मिलाकर ५ भरत क्षेत्र हैं २१।४९

भवन–भवनवासी देव २१।६०

भोगभूमि–जहां कल्पवृक्षोसे भोजन, वस्त्र आदि भोगोकी प्राप्ति होती है २१।४४

महाव्रत–हिंसादि पांच पापोका सर्वदेश त्याग करना। ये पांच हैं—१ अहिंसामहाव्रत, २ सत्यमहाव्रत, ३ अचौर्यमहाव्रत, ४ ब्रह्मचर्यमहाव्रत और ५ अपरिग्रहमहाव्रत २१।१२४

माहेन्द्र–चौथा स्वर्ग २१।६७

मिथ्यादृश्–अतत्त्वश्रद्धान २१।१०७

मूढदृष्टिप्रशंसा–सम्यग्दर्शनका एक अतिचार २१।१३०

मोक्ष समस्त कर्मोंका सदाके लिए आत्मासे सम्बन्ध छूट जाना २१।८

म्लेच्छ–जिनमें धर्म-कर्मकी प्रवृत्ति नही रहती। क्षेत्रम्लेच्छ और कर्मम्लेच्छकी अपेक्षा इनके २ भेद हैं २१।४७

योजन–चार कोशका एक योजन होता है। अकृत्रिम चीजोंके नापमें २००० कोशका योजन लिया जाता है २०।६६

योग–मन, वचन, कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोमें कम्पन होना २१।१०७

रौद्रध्यान–हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रहकी प्रबलतासे होनेवाला खोटा ध्यान २१।२४

लान्तव–सातवाँ स्वर्ग २१।६८
वातकुमार–भवनवासी देवोंका एक भेद २१।६१
विचिकित्सा–सम्यग्दर्शनका एक अतिचार–ग्लानि करना २१।१३०
विद्युत्–भवनवासी देवोंका एक भेद—विद्युत्कुमार २१।६१
विद्ध–घुना हुआ २१।१३७
विरूढक–जिस धान्यमें नया अंकुर फूट पड़ा हो २१।१३७
व्यन्तर–देवोंका एक भेद २१।६३
शंका–सम्यग्दर्शनका एक अतिचार—सूक्ष्म अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंमें शंका करना २१।१३०
शतार–ग्यारहवाँ स्वर्ग २१।६८
शिक्षाव्रत–जिनसे महाव्रतोंकी शिक्षा मिले। वे चार हैं—१ सामायिक, २ प्रोषधोपवास, ३ भोगोपभोगपरिमाण, ४ अतिथिसंविभाग २१।१२५
शुक्र–नौवाँ स्वर्ग २१।६८
शुक्रोत्तर–दसवाँ स्वर्ग, दूसरा नाम महाशुक्र २१।६८
शुक्लध्यान–मोहके विकारसे रहित उत्तम ध्यान। यह ध्यान आठवें गुणस्थानसे होता है। इसके ४ भेद हैं—१ पृथक्त्ववितर्क वीचार, २ एकत्ववितर्क, ३ सूक्ष्मक्रिया प्रतिघाती और व्युपरत क्रिया निवर्ती २०।५६
श्रावकके अष्ट मूलगुण–१ मद्यत्याग, २ मांस त्याग, ३ मधुत्याग, ४ बड, ५ पीपर, ६ पाकर, ७ ऊमर और ८ अंजीर इन पाँच उदुम्बर फलोंका त्याग २१।१३२
सकामनिर्जरा–व्रत तथा तप आदिसे जो निर्जरा होती है वह सकाम निर्जरा है २१।१२३
सप्तव्यसन–१ द्यूत, २ मांस, ३ मदिरा, ४ वेश्या, ५ शिकार, ६ चोरी और ७ परस्त्रीका सेवन २१।१३३
सप्ततत्त्व–१ जीव, २ अजीव, ३ आस्रव, ४ बन्ध, ५ संवर, ६ निर्जरा, ७ मोक्ष २१।८
सप्तश्वभ्रभूमि–सात नरकभूमियाँ—१ रत्नप्रभा, २ शर्कराप्रभा, ३ बालुकाप्रभा, ४ पंकप्रभा, ५ धूमप्रभा, ६ तम प्रभा और ७ महातम.-प्रभा २१।१३
सल्लेखना–समाधिमरणकी भावना रखना २१।१५२
सहस्रार–बारहवाँ स्वर्ग २१।६८
संधानक–आचार, मुरब्बा आदि २१।१३८
संवर–आस्रवका रुक जाना—नवीन कर्मोंका आना बन्द हो जाना संवर है २१।८
संस्तव–सम्यग्दर्शनका एक अतिचार—अन्य दृष्टियोंकी वचनोंसे प्रशंसा करना २८।१३०
सानत्कुमार–तीसरा स्वर्ग २१।६७
सुपर्णकुमार–भवनवासी देवोंका एक भेद २१।६१
सुषमा–अवसर्पिणीका दूसरा काल २१।५१
सुषमा सुषमा–अवसर्पिणीका पहला काल २१।५१
सुषमा दुःषमा–अवसर्पिणीका तीसरा काल २१।५१
सौधर्म–पहला स्वर्ग २१।६७
स्कन्ध–दो या उससे अधिक परमाणुओंका पिण्ड २१।९०
स्तनितकुमार–भवनवासी देवोंका एक भेद २१।६१
स्थावर–नहीं चलनेवाले जीव—एकेन्द्रिय १ पृथ्वीकायिक, २ जलकायिक, ३ अग्निकायिक, ४ वायुकायिक और ५ वनस्पतिकायिक २१।३३
स्थिति–कर्मबन्धका एक भेद २१।१०८
स्थूलस्थूलादि–१ स्थूलस्थूल जैसे पत्थर आदि, २ स्थूल जैसे पानी, तेल आदि, ३ स्थूल सूक्ष्म जैसे चाँदनी धूप आदि, ४ सूक्ष्म स्थूल जैसे रस, गन्ध, शब्द आदि, ५ सूक्ष्म जैसे कर्म, ६ सूक्ष्म सूक्ष्म, जैसे द्व्यणुक २१।९१
स्याद्वाद–विवक्षावश पदार्थके समस्त विरोधी धर्मों—गुणोंका कहना २१।४

व्यक्तिवाचक शब्दकोश

आर्द्रदेव–ग्रन्थकर्ता हरिचन्द्र कविके पिता १९।१०१-१०२

इक्ष्वाकुपति–धर्मनाथ तीर्थंकर १२।१

चन्द्रप्रभ–अष्टम तीर्थंकर १।२

दशकन्धर–रावण ९।१७

दशरथ–धातकी खण्डद्वीप सम्बन्धी पूर्व विदेह–क्षेत्रके वत्स देशकी सुसीमा नगरीका राजा ४।२६

धन्यसेन–पाटलीपुत्रका राजा २०।३४

धर्मनाथ–पन्द्रहवें तीर्थंकर (कथानायक) १।३

नाभिसूनु–अन्तिम कुलकर नाभि राजाके पुत्र प्रथम तीर्थंकर–वृषभदेव १।१

प्रतापराज–विदर्भके राजा, शृङ्गारवतीके पिता, धर्मनाथ तीर्थंकरके श्वसुर ९।३१

प्रभाकर–धर्मनाथ तीर्थंकरका मित्र १०।१५

महासेन–रत्नपुरके राजा—भगवान् धर्मनाथके पिता २।१

रथ्या–महाकवि हरिचन्द्रकी माता प्रशस्ति ३

लक्ष्मण–महाकवि हरिचन्द्रका छोटा भाई " ५

विमलवाहन–एक मुनि, जिनके पास राजा दशरथने दीक्षा ली ४।७९

वीर–भगवान् महावीर-अन्तिम तीर्थंकर १।५

शान्ति–सोलहवे तीर्थंकर १।४

शृङ्गारवती–विदर्भ देश-कुण्डिनपुरके राजा प्रतापराजकी पुत्री, भगवान् धर्मनाथकी स्त्री १६।८७

सुभद्रा–राजा प्रतापराजकी प्रतीहारी १७।३२

सुव्रता–राजा महासेनकी स्त्री, भगवान् धर्मनाथ की माता २।३५

सुषेण–भगवान् धर्मनाथका सेनापति १७।१०७

हरिचन्द्र–ग्रन्थकर्ता १९।१०१-१०२

भौगोलिक शब्दकोश

अवन्ति–मालवदेश १७।३३

आन्ध्र–दक्षिण भारतका एक देश १७।६५

उत्तरकोशल–अयोध्याका समीपवर्ती एक देश १।६३

कर्णाट–दक्षिण भारतका एक देश १७।६५

कलिंग–वर्तमान उडीसा प्रान्तका एक देश, भुवनेश्वरका निकटवर्ती स्थान १७।५१

कुण्डिन–विदर्भ देशकी राजधानी १६।८४

क्षीराम्भोधि–पाँचवाँ क्षीरसागर २०।३०

द्रविड–मद्रासका एक भाग १७।६५

देव कुरु आदि तीस भोगभूमियाँ—
मेरु पर्वतके दक्षिणमें स्थित विदेह क्षेत्रका एक भाग देव कुरु कहलाता है और मेरु पर्वतके उत्तरमें स्थित विदेहका एक भाग उत्तर कुरु कहलाता है। पाँच मेरु सम्बन्धी, पाँच देव कुरु, पाँच उत्तर कुरु, पाँच हैमवत, पाँच हरिवर्ष, पाँच रम्यक, और पाँच हैरण्यवत क्षेत्र इस तरह सब मिला कर तीस भोगभूमियाँ होती हैं २१।४४

धातकी खण्ड–दूसरा द्वीप ४।३

पाटलीपुत्र–बिहारका प्रसिद्ध शहर—पटना २०।३४

पूर्वमेरु–धातकी खण्ड द्वीपकी पूर्व दिशा सम्बन्धी पूर्व मेरु ४।३

पूर्वविदेह–धातकीखण्ड द्वीपके पूर्व दिशा सम्बन्धी मेरु पर्वतसे पूर्वकी ओरका विदेह क्षेत्र ४।४

मगध–वर्तमान बिहार प्रान्तका एक भाग, राजगृहीका निकटवर्ती स्थान १७।३९

रत्नपुर–उत्तर कोशल देशका एक नगर १।५६

लाट–गुजरात प्रान्त १७।६५

वत्स–धातकी खण्ड द्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रका एक देश ४।४

वरदा–विदर्भकी एक प्रसिद्ध नदी १६।८३

विजयार्ध–भरत क्षेत्रके मध्यमें विद्यमान एक पर्वत जिस पर विद्याधरोका निवास है १।४२

सम्मेदाचल–बिहार प्रान्तका पार्श्वनाथ हिल २१।१८३

सर्वार्थसिद्धि–पाँच अनुत्तर विमानोका मध्यवर्ती विमान ४।८३

सिप्रा–अवन्तीदेशमें उज्जयिनी नगरीके निकटवर्ती एक नदी १७।३७

सीतासरित्–विदेह क्षेत्रकी एक नदी ४।४

सुसीमा–धातकी खण्ड द्वीपके पूर्व विदेह सम्बन्धी वत्स देशकी एक नगरी ४।१३

विशिष्ट साहित्यिक शब्दकोश

[अ]

अकुलीनत्व–ऊँचाई, नीच कुलीनता ३।२४
अक्ष–रथ ३।३५
अक्ष–भौंरा–गाडीके दोनो पहियोके बीचमें रहने वाला मजबूत दण्ड १।४०
अक्षतक्रम–विवाहोत्तर कालमें होनेवाला एक नेग १८।३
अक्षतदूर्वा–अखण्डदूवा, चावल और दूर्वा ३।३३
अक्षाम–अकृश—बहुत बडे २०।३८
अगम्यभाव–अप्राप्य और असेव्य अवस्था ४।२८
अगुरु–अगुरु नामका सुगन्धित चन्दन १।८५
अङ्गदेश–वर्तमान विहार प्रान्तका एक भाग—भागलपुरका निकटवर्ती प्रदेश १७।४४
अङ्गज–केश, रोम २०।६४
अञ्जन—काजल, वृक्षविशेष ३।१६
अजडाशय–प्रबुद्ध, जल रहित ३।३३
अजस्रम्–सदा १।४५
अतनुतामरस–बडे-बडे कमलोंसे युक्त ११।४५
अतन्द्र–आलस्य रहित २०।३६
अतमस्क–अन्धकारसे रहित ८।५५
अतिगार्ध्य–अतितृष्णा ८।२४
अतिग्मतेजस्–चन्द्रमा ५।६६
अतिवृद्ध–अत्यन्त बूढा, अत्यन्त विस्तृत ४।३७
अतुल्यपरिग्रह–अनुपम वैभवसे युक्त, असमान स्त्रीसे युक्त १७।४२
अथर्वसार मन्त्राक्षर–अथर्ववेदमें उल्लिखित श्रेष्ठ मन्त्राक्षरोंका समूह १३।३८
अदभ्रघृणि–बडी-बडी किरणों से युक्त ६।२२
अदर्शन–अनवलोकन ३।५८
अदर्शनायते–मिथ्यादर्शनके समान आचरण करता है ३।५८
अदार–स्त्रीरहित पुरुष ११।१२
अदृष्ट–परोक्ष ४।६६
अधिरोहणी–सीढी-नसैनी १।१२
अध्यारूढप्रौढि–सामर्थ्यको प्राप्त २०।४९
अध्यासित–अधिष्ठित, युक्त १०।५३
अनङ्ग–अग देशसे रहित, कामदेव १७।४५
अनङ्गवेश्मन्–योनि १५।५१
अनन्तालय–अनन्तोका घर, अनन्त-नामेन्द्रका घर—पाताल ३।५३
अनपेत–अरहित, सहित १।१८
अनवम–उत्कृष्ट ११।२९
अनर्धहायन–आधा वर्ष—छह माह कम ५।३१
अनष्टसिद्धि–अणिमा, महिमा आदि आठ सिद्धियोसे रहित, जिसकी सिद्धि—सफलता नष्ट नही हुई २।३३
अनुकूलम्–किनारोके समीप ४।१०
अनूरु–सूर्यका सारथि ४।१८
अनेकान्त–दोप ४।७१
अन्तकगुप्ता–यमराजसे रक्षित दक्षिण दिशा १०।४७
अन्तरीय–वस्त्र ४।१४
अन्दुक–नूपुर—पैरका कडा १७।८७
अन्यपुष्टवधू–कोकिला १०।३६
अन्येद्यु–दूसरे दिन १७।१
अपक्ष्मल–टिमकार रहित ३।५४
अपत्रपा–लज्जारहित, अपत्रपा—श्रेष्ठ वाहनोसे रहित २।२
अपनिद्र–खुला हुआ ४।१
अपराजिता–अपराजिता नामकी देवी, जो किसीसे पराजित नही ५।४३
अपवर्ग–मोक्ष १।३७
अपहस्तित–दूर किया २।११
अपाची–दक्षिण दिशा ९।५१
अबल–क्षीण—समाप्तप्राय १३।५७
अब्द–वर्ष २०।१
अभिसारण–सभोगके लिए गमन ४।३४
अभीक–कामुक ७।५०
अभीष्ट–प्रिय १।७
अभ्रलिह–गगनचुम्बी—ऊँचे १।६१

अभ्रमातङ्ग–ऐरावत हाथी ८।१
अभ्रमुवल्लभ–ऐरावत हाथी ७।६
अभ्यर्णता–निकटता ३।३२
अमध्यम–श्रेष्ठ २।३६
अमरविलासिनी–देवी ५।१
अमृतभानु–चन्द्रमा ८।४४
अयस्त्रिपदी–लोहेकी सांकल ११।५१
अर्क–सूर्य १४।३
अर्कतुरङ्गपक्ति–सूर्यके घोडोकी पक्ति १।५६
अर्थपति–कुबेर ५।१८
अर्थपतिकान्ता–राजाकी स्त्री, रानी ५।५३
अर्धनारीश्वर–शिव, महादेव ७।२६
अर्भक–बालक ९।४
अर्वाक्–पहले ४।८४
अर्हणा–पूजा ४।९३
अलिन्–भ्रमर ११।१७
अल्परुचि–मन्दकान्तिवाला, मन्द इच्छावाला ४।८२
अवगूहित–आलिंगन ५।८
अवट–गड्ढे १६।५४
अवटस्थली–गड्ढोसे युक्त भूमि १६।५२
अवतसक–कर्णाभरण ५।३८
अवधिनयन–अवधिज्ञान रूपी नेत्र ३।७७
अवन–रक्षक १०।५
अवरोध–अन्त.पुर २।३५
अवरोधमन्दिर–अन्त.पुरका घर ५।३७
अवरोधरक्षा–प्रतीहारी सुभद्रा १७।५७
अवाची–दक्षिणदिशा १।८१
अवाञ्चितास्य–जिसका मुख नीचेकी ओर हो रहा है ७।४५
अवार्त–अत्यधिक २।७९
अविनीतता–विनयका अभाव, अवि–मेष वाहनता २।३१
अविभव–ऐश्वर्यसे रहित, मेषसे उत्पन्न १।८५
अश्मगर्भ–नीलमणि ११।१
अश्वीय–घोडोका समूह १६।५४
असत्पथ–अयोग्य मार्ग, पृथिवी ४।३७
असख्य–अगणित १७।६०
असख्यहिरण्यगर्भ–असख्यात ब्रह्मा, अपरिमित स्वर्ण जिसके गर्भमें है १।४४
असाधुपद्म–दुर्जनरूपी कमल १।२९
असृज्–रक्त २।२३
असियष्टि–तलवार ४।७०
अस्त दूषण–दोषोसे रहित, दूषण नामक राक्षस को नष्ट करनेवाले ९।५१
अस्तोकस्तवक–बडे-बडे गुच्छे ३।३८
अस्रधाराभ्रम–रुधिरकी धाराका सन्देह १७।३०
अहार्यशिला–पर्वतकी शिला ७।४४
अहीन–अहि + इन = शेषनाग, अरहित—सहित १७।४५
अहीश्वर—शेषनाग २।६
अहीनभूषा–उत्कृष्ट आभूषणो से युक्त, अहि + इन = शेषनाग रूपी आभूषणसे युक्त १।६२
अह्नाय–शीघ्र १।४

[आ]

आकल्पम्–कल्पकाल पर्यन्त ३।७३
आकाशमणि–सूर्य १०।४१
आक्रीडशैल–उद्यान पर्वत १।७४
आताम्ररुचि–लालकान्तिवाला १४।१
आत्त–गृहीत १।४९
आत्मभू–काम ५।६५
आनद्ध–तबला आदि चमडेसे मढे हुए वाद्य ८।३०
आनन्दोदवसित–आनन्द गृह १६।६२
आन्तर–भीतरी ३।५०
आपणचत्वर–बाजारके चौराहे १७।७९
आभिचारिक मन्त्र–बलिदान-सम्बन्धी हिंसाके समय पढ़ा जानेवाला मन्त्र १२।५२
आमोद–मनोज्ञ सुगन्धि ३।३२
आराम–बगीचा ३।२५
आर्ति–बुढापा १।७
आवर्तवृत्ति–वर्तुलाकार भ्रमण ८।४२
आशाद्विप–दिग्गज १६।५६
आसन्न–निकटवर्ती ३।३८
आसार–अविरलवर्षा ३।३१
आसेचनक–जिसके सेवनसे तृप्ति न हो ऐसा लगता रहे और भी अधिक सेवन करे २।४
आस्था–आदर, स्थायित्व बुद्धि २०।१२
आस्थानी–गोष्ठी २०।२

[इ]

इन–सूर्य ११।५८
इला–पृथिवी ११।६७
इलामूल–पृथिवीतल ३।४६

[उ]

उक्षित–सींचे गये १३।३८
उग्र–महादेव ५।६५
उग्रतरवारिमिज्जित क्ष्माभृत्–जिसके गहरे पानी-में पर्वत डूबे हैं, पैनीतलवारसे जिसने राजाओंको खण्डित कर दिया है ५।७१
उच्चैस्तनगुच्छ–उन्नतस्तनरूपी गुच्छे, ऊँचाई पर लगे फूलोंके गुच्छे १२।८
उच्चैस्तन–ऊँचे उठे हुए स्तन, ऊँचे रहने वाली ३।२३
उज्जृम्भित–खड़ा किया हुआ ४।३
उत्तमाङ्ग–शिखर ७।४३
उत्तरकोसलेश्वर–भगवान् धर्मनाथ १२।५६
उत्तानिताक्षी–जिसने नेत्र खोल रखे हैं ऐसी स्त्री १।६४
उत्ताल–उच्च १।५५
उत्सङ्गिता–गोदमें धारण की हुई १०।३५
उत्सेध–ऊँचाई २१।३८
उत्कोरक–जिनमें फूलोंकी बोंडियाँ निकल रही हैं १।१६
उत्खात–ऊपर उठाया हुआ ४।३४
उत्पालिका–तालाब आदिका बँधान १।४७
उत्फाल–छलाँग-कूदना १६।५२
उदपान–कुँआ ४।५७
उदन्वत्–सागर ४।८
उदरिणी–गर्भिणी स्त्री ६।२
उदस्त–ऊपर उठाया हुआ १।३७
उदात्त–व्याकरणका तीन मात्रावाला एक स्वर ३।६५
उदाररूपका–उत्कृष्ट रूपवाली, उत्कृष्ट रूपका-लकारसे युक्त ५।१४
उद्यतराजमण्डल–आगे आनेवाले राजाओंका समूह, उगता हुआ चन्द्रमाका बिम्ब २।४९
उन्निद्र–खुला हुआ ३।५४
उन्मिष्ठ–महावतकी आज्ञाको उल्लंघन करने वाले २०।११
उपकर्णम्–कानोंके पास १।८
उपरिष्टात्–ऊपर १०।१
उपपत्ति–मुक्ति १२।१४
उपल–पत्थर १।२७
उपात्त पयोधिगोत्र–जिन्होंने समुद्र और पर्वत प्राप्त किये हैं—भयसे भागकर जो समुद्रके तटपर पहुँचे हैं अथवा पर्वतोंमें जा छिपे हैं। जिन्होंने समुद्रका गोत्र-वश स्वीकृत कर लिया है। ४।२८
उपाधि–क्रोधादि विकार १।२१
उरोजपान–स्तनपान ४।६९
उर्वी–पृथिवी, ध्यानकी एक मुद्रा ४।८०
उलूकपोत–उल्लूका बच्चा १।९३
उल्वण–उत्कट—खूब व्याप्त २।४९
उल्का–तारा टूटना २०।३
उल्लून–काट लिया १६।५३

[ऋ]

ऋक्ष–नक्षत्र ३।४७
ऋज्वी–सीधी १।५१
ऋते–विना १।२२

[ए]

एकहेलम्–एक साथ ४।३६
एणकेतन–चन्द्रमा ५।६१
एणनाभि–कस्तूरी ५।१५
एणयूथ–मृगसमूह १।५०
एणावली–मृगोंकी पंक्ति १०।१२
एनोमयी–पापमयी ९।२१
एनोविषच्छेदि–पापरूपी विषको नष्ट करने वाला ३।६९

[ऐ]

ऐलविल–कुबेर ६।१२

[ओ]

ओषधीश्वर–चन्द्रमा ५।६५

[क]

ककुप्करीन्द्र–दिग्गजेन्द्र २।२६
कङ्कण–हाथका आभूषण, जलके छींटे ८।२६
कङ्केलिवल्ली–अशोकलता ८।२४
कण्टक–क्षुद्रशत्रु १७।४०
कटक–सेना, वलय चूडा २।२६
कटक–शिखर १०।१३
कडार–पीली ५।६२
कण्ठीरव–सिंह ३।२५
कदर्थित–पीडित २।४०
कदर्यद्रविण–कंजूसका धन १८।३७
कबरी–स्त्रीकी चोटी ५।४८
कमल, कमला–कमल पुष्प, लक्ष्मी ११।५७
कम्बु–शङ्ख ९।२५
कर–हाथ, किरणें ४।१९
कर–किरण, टेक्स ४।११
करज–नाखून १३।२५
करण सपरिवर्त–सभोगके समय आसनोंका बदलना ११।६२
करणबन्ध विवर्तन–सभोग कालमें आसनोंका बदलना
करवाल–तलवार, हाथोंमें स्थित बालक २।३०
करवाल शालिनी–तलवारसे सुशोभित, हाथ और केशोंसे सुशोभित ९।४४
कराग्र–हाथोंका अग्रभाग, किरणोंका अग्रभाग ३।३७
करेणु–हस्तिनी १७।११
करोपचय–टेक्सकी वसूली, किरणोंका सग्रह ११।५७
कर्णमोटिका–कानों तक लम्बी, चामुण्डा देवी ५।४३
कर्मवल्ली फल–ज्ञानावरणादि कर्मरूपी लताके फल २०।५४
कलता–मनोज्ञता-सुन्दरता ११।६६
कलत्र–स्त्री १८।१
कलत्र–नितम्ब ५।५४
कलभ–हाथीका बच्चा ८।२३
कलम–धान्य के अंकुर १।४७
कलविं–कोयल ११।१०
कलापिन्–मयूर ११।६४
कलिन्दकन्या–यमुना ९।२७
कल्पगन्ध वह–प्रलय कालकी वायु ५।५९
कल्पनाथ–इन्द्र ७।६५
कवीश्वर–श्रेष्ठ जलपक्षी, बड़े-बड़े कवि ५।७०
कशाञ्जन–हण्टरके प्रहार ७।४५
कन्दर्पस्–कामदेवको, किस अहकार को ? २।२
काकुत्स्थ–राम ९।५१
काञ्चन सुन्दरी–सुवर्णके समान सुन्दर, अद्भुत सुन्दरी ९।१
काञ्चनाद्रि–सुमेरु १।३६
काण्डपट–परदा ५।५
कादम्बिनी–मेघमाला ३।४
कान्तारतरव–वनके वृक्ष, कान्ता–स्त्रीके रत–सभोगका रव–शब्द ३।२३
कान्ति–दीप्ति, कान्ति नामका गुण १।२३
कान्ति–दीप्ति, स्त्री २।४४
कापिशायन–मदिरा १५।७
कामनिगम–काम-शास्त्र १०।३१
कामिक–इष्ट २।४६
काम्बोज–कम्बोजके घोडे ९।४९
कायोत्सर्ग–खडे होकर ध्यान करना २०।३५
कार्तस्वर–सुवर्ण ९।१९
काल–कृष्णवर्ण, यमराज २।२५
कालवलीमुख–कालरूपी वानर १४।२२
कालिका–कालीदेवी, श्यामवर्ण ५।४३
कासार–तालाब ३।३१
काहला–वाद्यविशेष ११।२८
कीलाल धारा–खूनकी धारा १४।३५
कुकूल कृशानु–तुषाग्नि-(भभूदर) १३।७
कुञ्ज–लतागृह ११।१७
कुञ्जराजित–कुञ्ज-लतागृहोंसे सुशोभित, कुञ्जर हाथियोंके द्वारा अजित ३।२२
कुण्डिन मण्डन–कुण्डिनपुरके अलकार स्वरूप राजा-प्रतापराज १७।३
कुन्तल–केश २०।२९
कुन्तल–कुन्तल देशका राजा १८।४८
कुबेर गुप्ता–उत्तर दिशा १०।४७
कुम्भभू–अगस्त्य ऋषि १०।१८
कुम्भोद्भव–अगस्त्य ऋषि ८।२७
कुरङ्गनाभि–कस्तूरी १७।८७
कुवलय–नीलकमल, पृथ्वीमण्डल ३।१३
कुश–दर्भ, कुश नामका सीताका पुत्र १०।५६

कुसुमेषु सुन्दर–फूलोंके रहते हुए सुन्दर, फूलरूपी वाणोंसे सुन्दर १०।२६
कूट–शिखर, कपट ९।७९
कूटस्थली–शिखर-प्रदेश ११।६७
कूष्माण्डी-फल–कुम्हड़े (काशी फल) १६।७२
कृतिन्–कुशल ३।७४
कृपाणपुत्री–छुरी १२।३५
कृष्णवर्त्मन्–अग्नि, मलिनमार्ग ४।१७
केसर–सिंहकी गरदनके बाल, मौलश्रीका वृक्ष ३।२५
केसर–सिंहकी गरदनके बाल ११।४९
केसर–किंजल्क-केशर ११।१०
केसर–वकुल-मौलश्रीका वृक्ष ११।१०
केरल–केरल देशका राजा १८।४८
कैटभद्विष्–कृष्ण नारायण २।४९
कैवल्यशिला–सिद्धशिला ७।६८
कोक–चकवा २०।७२
कोकनद–लालकमल ५।११
कोषदण्डभाज्–बोंडी और नालसे युक्त, खजाना और सेनासे युक्त २।३९
कौमुदम्–कुमुदोंका समूह, कौ-पृथिवीपर मुद-हर्षको १।१
कौमुदी–चाँदनी ५।३५
कौसुम–फूलोंका समूह ५।६४
क्रम–पैर २।६
क्रमकिङ्करी–चरणदासी २।२१
क्विप्–पाणिनीय व्याकरणका एक प्रसिद्ध प्रत्यय जिसका सर्वापहारी लोप हो जाता है २।३०
क्षणक्षपा–पूर्णिमा की रात्रि ४।४१
क्षणदाधिनाथ–रात्रिपति-चन्द्रमा ४।४१
क्षमा–पृथिवी १६।४६
क्षान्तिपाथोद–शान्तिरूपी मेघ २०।३८
क्षीरसरित् दूध की धारा १।१५
क्षेत्रच्छद–क्षेत्ररूपी पत्ते १।३३
क्षोणीभृत्सहस्र–एक हजार राजा २०।३१
क्षोद–नष्ट करना–मिटाना १।३
क्षोदीयस्–अत्यन्त क्षुद्र-छोटा ३।६६

[ख]

खल–दुर्जन, गाय, भैसोंको खिलाई जानेवाली खली १।२६
खलीन–लगाम ९।६३
खलीभवन्–दुर्जन होना हुआ, खलीरूप होता हुआ १८।१८

[ग]

गञ्जा–पानशाला (मदिरा पीनेका स्थान) १६।६४
गतरसा–निर्जल ११।३०
गन्धर्व–घोड़ा, देवविशेष ३।१४
गरिष्ठ–गुरुतर—बहुत भारी १।२०
गलग्रन्थि–फाँसी ४।४९
गवल–भैंसाका सींग ६।८
गव्यूति–दो कोश १६।६६
गहनैकसत्त्ववत्–जगली जानवरके समान १८।७
गाम्भीर्य–गहराई, धैर्य ८।२६
गिरिश–महादेव १७।६
गिरिशलीलावन–महादेवका क्रीडावन १२।२७
गिरीश्वर–बड़े-बड़े पर्वत, नैयायिक आदि वादी ९।७०
गुण–धनुषकी डोरी, दया, दाक्षिण्य आदि गुण १८।१५
गुम्फविचक्षण–रचनाचतुर १।१४
गुरु–विशाल, पिता ९।७
गुरु–बृहस्पति, मुनि ३।४५
गुरु–स्थूल, उपाध्याय २।४४
गुरु–बृहस्पति, गुरु ४।२३
गुरु–पिता ३।६६
गुहान्वित–गुफाओंसे सहित, कार्तिकेयसे सहित १०।७
गृहमेधा–गार्हस्थ्य ३।७३
गोमण्डल–पृथिवीमण्डल, गायोंका समूह १७।४१
गो–गायें, वाणी १।२६
ग्रहग्राम–ग्रहोंका समूह ५।७२
ग्रहिल–उन्मत्त अथवा पिशाचसे आक्रान्त ८।१८
ग्रामेयी–ग्रामीण स्त्रियाँ १६।७०

[घ]

घन–काँसेकी झाँझ आदि वाद्य ८।३०
घनगाना–निरन्तर गानसे युक्त ११।७२
घनिर्नीर सत्व–अत्यधिक नीरसता, मेघोंमें जलका सद्भाव १।१०
घनसपदागम–मेघरूपी सपत्तिकी प्राप्ति, अत्यधिक सम्पत्तिकी प्राप्ति १८।६२

घनसार–कपूर ६।३

[च]

चकित–भयभीत ४।३२
चक्र–समूह १।१
चक्रवाल–समूह ६।३६
चञ्चत्–सुशोभित २।९
चण्डरुचि–सूर्य, प्रदीप्तकान्ति वाला १७।४५
चतुरंग–चारित्र ८।५०
चतुर्दिगन्ताधिपपत्तन–चारो दिक्पालोके नगर १।७०
चतुर्दशाधिक–पन्द्रहवां ३।७१
चतुर्वर्ग–धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका समूह १।३५
चतुष्क–चौक १७।१०५
चन्द्रपाद–चन्द्रमाकी किरणें १।८२
चन्द्राश्म–चन्द्रकान्तमणि १।८
चन्द्रोपराग–चन्द्रग्रहण ४।४४
चलाक्षी–चचल नेत्रोवाली सुन्दरी १।१७
चषक–कटोरा १।४५
चान्द्रमसी–चन्द्रमा सम्बन्धी १।२
चामीकरचारुमूर्ति–सुवर्णके समान सुन्दर शरीर वाला ७।७
चारणमुनि–आकाशमें चलनेवाले मुनि २।७७
चित्रकूट–नाना शिखरोंवाला, चित्रकूट नामका पर्वत १०।४६
चित्रीयमाणा–आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली ४।६२
चिरदु स्थ–बहुत कालके गरीब ८।५१
चिर्भट–ककरा, ककरिया १६।७२

[छ]

छन्न–व्याप्त ३।२८
छाया–प्रतिबिम्ब १।६२

[ज]

जगच्चक्षुर्ज्योतिः–सूर्यकी प्रभा ३।७०
जगत्त्रयगुरु-तीनो लोकोके गुरु—तीर्थंकर ३।६६
जगत्पुट–जगत्रूपी घरिया २।२६
जगद्बान्धव–सूर्य १३।७१
जगन्मित्र–सूर्य ३।५१
जङ्गल–मास ११।६
जड–मूर्ख, स्थूल २।४२
जडजठरतया–बडा पेट होनेके कारण, मध्यमें जल होनेके कारण ८।१२
जडद्विज–मूर्ख ब्राह्मण, हस पक्षी १७।६६
जडाशय–मूर्ख, तालाब ३।५१
जडाशया–नदियाँ, मूर्खा १।५३
जतु–लाखका महावर १३।२१
जम्भाराति–इन्द्र ५।८९
जम्भारि–इन्द्र १६।२१
जह्नुकन्या–गगा ३।६४
जाड्य–स्थूलता, शीतलता १४।८१
जाल–झरोखा १।८२
जाह्नवौघ–गगाका प्रवाह ५।४७
जिघृक्षा–पकडनेकी इच्छा १।३९
जितामर–स्वर्ग लोकको जीतनेवाले १।६५
जिनेन्द्रागम–जिनेन्द्र जन्म १।४१
जिष्णु–इन्द्र ४।२३
जिह्वाञ्चल–जिह्वाका छोर १।१४
ज्ञानत्रय–मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान ६।९

[झ]

झलझला–हाथीके कानकी गति—फटकार ६।३५

[त]

तटिनी–नदी ४।१२
तडित्वान्–मेघ ७।३९
तत–वीणादिक वाद्य ८।३०
ततारति–जिसका खेद बढ रहा है ११।३३
तनुत्व–कृशता ११।४
तन्त्रजुट्–परराष्ट्रकी चिन्ता रखनेवाले, तन्त्र-टोटका आदिका उपयोग करनेवाले २।९
तपस्–तपश्चरण, माघका महीना ३।५०
तपस्–माघका महीना ११।६२
तपनीय–स्वर्ण ६।२
तमीश्वर–चन्द्रमा १०।१५
तमोधुनाना–अन्धकारको नष्ट करनेवाली १।१६
तमोलुलाय–अन्धकाररूपी भैंसा १४।३५
तमोऽवकाश–अज्ञानरूपी अन्धकारका अवकाश २।३२
तरल–चपल, बुद्धिहीन १।१३
तरङ्गिणी–नदी ४।१०
तलिन–शय्या ५।७८
ताटङ्क–कर्णाभूषण १।८
तापनोपल–सूर्यकान्तमणि १०।२६

तारादन्तुर–ताराओंसे व्याप्त २०।३
तार्क्ष्य–गरुड २०।८४
तिग्मांशु–सूर्य ४।१५
तिथिप्रम–पन्द्रह लाख २१।१४
तीक्ष्णरुचि–सूर्य ६।१३
तीर्थ–सीढ़ियाँ, धर्मको आम्नाय ५।८५
तुषारत्विष्–चन्द्रमा ४।१६
तुहिनकाल–शीतऋतु ११।५५
तौर्यत्रिक–नृत्य, गान, सगीत ८।४१
त्रयस्त्रिंशदुदन्वदायुः–तेंतीस सागरकी आयु वाला ४।८४
त्रि–तीनवार ६।५३
त्रिजया–त्रयोदशीतिथि—ज्योतिषमे प्रतिपदासे लेकर पाँच तिथियोंके क्रमसे नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता और पूर्णा ये पाँच नाम है। फिर षष्ठीसे दशमी तक यही नाम है। इसी तरह एकादशीसे पचदशी तक भी यही नाम है। इस तरह नन्दा आदि तिथियाँ एक-एक पक्षमें तीन-तीन वार पडती है। ६।१३
त्रिजगद्धुरन्धर–तीनो लोकोका भार धारण करनेवाले ९।१७
त्रिदशावास–तीन गुणित दश-तीसका आवास, देवोका आवास ३।५३
त्रिदशाद्रिदम्भ–सुमेरु पर्वतके बहाने १।३४
त्रिनेत्र–महादेव ११७८
त्रियामाभरण–चन्द्रमा ४।९०
त्रैपुर–त्रिपुरसम्बन्धी २०।७
त्रैविक्रम–विष्णुसम्बन्धी ६।४६

[द]

दक्षिण–सब स्त्रियोके साथ प्रेम रखनेवाला नायक १४।४८
दक्षिण मारुत–दक्षिण दिशासे आनेवाली वायु, दक्षिण नायक १२।७
दण्ड–सजा, लाठी ४।३७
दण्डधर–द्वारपाल २।७६
दन्त–गजदन्त पर्वत, दाँत ७।३२
दन्तपद–दन्तक्षत ११।५५
दन्दह्यमान–खूब जलती हुई १।६६
दरी–गुफा १०।५०
दशकन्धर–रावण ९।१७
दशाङ्का–दशवी अवस्था १०।२१
दाक्ष्य–चतुराई ४।१३
दारपरिग्रहक्षम–विवाहके योग्य ९।४२
दासेर–ऊँट १६।५५
दिगम्बर पथ–दिशाओसे युक्त आकाशरूपी मार्ग, नग्नमुनियोका मार्ग २।७७
दिदक्षा–देखनेकी इच्छा १।६४
दिधक्षु–जलानेका इच्छुक ११।१३
दिन–दिवस, पुण्य १।२९
दिवस्पति–इन्द्र ६।३४
दिष्टि–दैव २०।४
दीर्घिका–परिखा १।५८
दु खापवरक–दु खोका घर २१।२१
दुरक्षर–दुर्भाग्यसूचक खोटे अक्षर १।३१
दृष्ट–प्रत्यक्ष ४।६६
दोला–झूला ९।१९
दोषानुरक्त–दोषोमें अनुरक्त, दोषा—रात्रिमें अनुरक्त १।२३
दोषोच्चय–दोषोका समूह ४।३२
दोष्–भुजा ४।९०
दोहद–दोहला—गर्भिणी स्त्रीकी इच्छा ६।४
दौवारिकी–प्रतीहारी—सुभद्रा १७।५१
दौःस्थ्य–दारिद्रय ५।१८
द्यावापृथिवी–आकाश और पृथिवीका अन्तराल १।४०
द्युगङ्गा–आकाशगङ्गा १।६०
द्युत्–किरण १।१६
द्युप्रसव–स्वर्गके फूल ९।४७
द्युमणि–सूर्य १।२२
द्युसद्–देव १।६५
द्योति कुरङ्गरिपु–ज्योतिषी देवोके वाहन सिंह ६।४०
द्रविड–द्रविड देशका राजा १८।४८
द्राघीयसी–अत्यन्त दीर्घ ४।८६
द्रुमोत्पल–कनेरका फूल २।६५
द्रुतमालपल्लवा–जिसका लव नामका पुत्र शीघ्र-शीघ्र बात कर रहा है ऐसी सीता, तमाल वृक्ष के पल्लवोसे युक्त १०।५६
द्रुतम्–शीघ्र ४।९३

द्वादशात्मन्–सूर्य २०।४६
द्विज–दाँत = ब्राह्मण २।३०
द्विज–पक्षी, ब्राह्मण २।१९
द्विजराज–चन्द्रमा, ब्राह्मण ११।३२
द्विजनाथ–चन्द्रमा १५।५
द्विजरत्नसहति–दाँतरूपी रत्नोका समूह २।५३
द्विरेफोच्चय–भौंरोका समूह ४।४२

[ध]

धराधर–पर्वत १०।११
धर्मदिश्–यमकी दिशा—दक्षिण दिशा ११।५८
धवल–सफेद वर्ण, बैल २।२५
धातकी–आँवला ४।६५
धात्री–पृथिवी १।३
धारा–जलकी धारा, तलवारकी धार २।१०
धीवर–बुद्धिसे श्रेष्ठ, ढीमर—कहार २०।४५
धृतकाननश्रि–वनकी शोभाको धारण करनेवाला, कुत्सित मुखकी शोभाको धारण करने वाला ९।५८
धोरणि–पङ्क्ति ३।२७
ध्यामल–मलिन २।७०
ध्वजिनी–सेना ९।४३

[न]

नकुलप्रसूता–नेवलेसे उत्पन्न, नीच, कुलमें उत्पन्न ४।२४
नन्दन–पुत्र ३।५८
नन्दन–पुत्र, नन्दन वन १८।५
नन्दनद्रुम–पुत्ररूपी वृक्ष ९।११
नवकाननश्री–नूतन मुखकी शोभा [नवक + आनन + श्री], नूतन वनकी शोभा १४।६०
नवकन्दल–नवीन अंकुर, नवीन कलह ११।३२
नवनखपदराजि–सभोगके समय पुरुषके द्वारा स्त्रीके शरीरमें दिये हुए नखक्षतोका समूह १३।३६
नगनिशागति–पर्वतरूपी राक्षस १०।४३
नवपाटला–नये गुलाब ११।२८
नभस्–सावनका महीना ११।३७
नभोग–आकाशमें गमन करनेवाले देव, विद्याधर ३।४५
नववीथिका–घोडोके सचारकी नौ गलियाँ। विशेषके लिए श्लोककी टिप्पणी अथवा शिशुपाल वध ५।६० की मल्लिनाथीय टीका देखो ७।४६
नाकिलोक–स्वर्ग लोक १।३२
नाकिन्–देव ११।१९
नागरखण्डवल्ली–पानकी लताएँ १७।६२
नाभिपल्वल–नाभिरूपी तलैया ९।२२
नारङ्ग–नारंगीका वृक्ष, मायारहित मनुष्य [अरङ्गो मायाहीनो ना नर.] १०।३४
नाराचनिकाय–वाणोका समूह १४।३१
नारीहितपूरणक्षम–स्त्रियोके हितके पूर्ण करनेमें समर्थ, शत्रुओकी चेष्टाओके पूर्ण करनेमें समर्थ नही ९।४४
नासिका–द्वारके ऊपर स्थित काष्ठ पटोटी १७।९८
निकार–तिरस्कार अथवा दु ख २।३३
निकुरम्बक–समूह ५।६
निधानेशपुरी–कुवेरकी नगरी १०।५५
निधीश्वर–कुबेर १।११
निधुवन–मैथुन १६।१३
निम्नगात्व–नदीत्व, नीचके पास जाना १।५३
नियति–भाग्य ४।४५
निरामयश्री–मुक्ति लक्ष्मी ४।८३
निर्मलाम्बर–स्वच्छ आकाश, स्वच्छ वस्त्र ५।२३
निर्मुक्तनिर्मोकनिभा–छोडी हुई काचलीके समान १।५८
निर्जरराजधानी–स्वर्गपुरी १।८४
निर्जराणां चत्वारो निकाया –१ भवनवासी, २ व्यन्तर, ३ ज्योतिष्क, वैमानिक २०।२७
निर्यामिक–पहरेदारोसे रहित ६।२८
निर्वाण–बुझना, मोक्ष ३।५९
निर्व्यपाय–निर्वाध २०।१०
निर्व्यपेक्ष–सहायकसे रहित ३।५४
निशानपट्ट–बाण आदिके पैने करनेका पहिया १४।४७
निशान्त–घर १७।७२
निशान्तवर्तिनी–अन्त पुरमें वर्तमान ५।३५
निशीथ–रात्रि २।७३
निष्कुटा–गृहाराम-घरके बगीचे १६।६९
निष्क्रय–मूल्य ३।२

निस्त्रिंश–तलवार २।१९
नीपनभस्वत्–कदम्बके फूलसे सुवासित
 वरसाती वायु ११।३४
नीरद–मेघ, दाँतोसे रहित वृद्ध मनुष्य ७।३२
नीराजनापात्र–आरतीका पात्र १।६५
नीरोषिता–पानीमें निवास करनेवाली
 (नीर + उषिता), क्रोध रहित
 (निर् रोपिता) ४।५२
नीलकण्ठ–मयूर, कालाकण्ठ १०।७
नीलाश्मलीलावलभी–नील पत्थरकी बनी
 क्रीडाकी अट्टालिकाएँ १।८२
नीवी–स्त्रीके अधोवस्त्रकी गाँठ १०।३८
नीवृत्–देश १६।७१
नीहारगिरि–हिमालय ९।७३
नेत्र–आँख, वृक्षकी जडे ३।१६
नैषध–निषध देशका राजा १८।४७
न्यक्कृत–तिरस्कृत १।३२

[प]

पङ्क–पाप, कीचड १।१०
पङ्कजात–पापोका समूह, कमल ३।५१
पञ्चसायक–काम, पाँच बाण २।२
पञ्चता–मृत्यु ४।६४
पञ्चधारा–घोडोकी पाँच प्रकारकी गति—
 १ आस्कन्दित, २ धौरितक, ३ रेचित,
 ४ वल्गित, ५ प्लुत, विशेषके लिए
 ग्रन्थका टिप्पण अथवा शिशुपाल वध
 ५।६० की मल्लिनाथीय टीका देखो ७।४६
पञ्चेषु–कामदेव २।४०
पटीयसी–अत्यन्त चतुर ३।३
पतङ्ग–सूर्य, पक्षी-भुनगा १।३९
पत्तन–नगर २०।५१
पताकिनी–सेना ९।५६
पतिवरा–कन्या १७।२
पद–व्याज-छल ४।३६
पद–स्थान २।१
पदक्रम–चरणप्रचार, वेदप्रसिद्ध पाठविशेष १७।६६
पद्माप्सरस्–कमलोसे युक्त सरोवर, पद्मा–लक्ष्मी
 आदि अप्सराएँ १।४४
पयोधर–मेघ, स्तन २।६०
पयोधरतट–स्तनका तट, मेघका तट ३।२४
पयोधरश्रीसमय–मेघलक्ष्मीका समय-वर्षाऋतु,
 स्तनोकी शोभाके समय-यौवनकालमे १७।१६
परमोह–परम + ऊह–श्रेष्ठ तर्क, परमोह–
 दूसरेका मोह-ममता २।३०
परमेश्वर–उत्कृष्ट वैभवसे युक्त, शिव २।३३
परमेश्वर–धर्मनाथ तीर्थंकर १।११
पराभूति–तिरस्कार, उत्कृष्ट विभूति १८।६२
परासु–मृत २।४७
परिणति–समाप्ति १६।१
परिणाहि–विशाल ९।२१
परिमल–सुगन्धि ११।५१
परिमर्शन–स्पर्श १२।४
परिशीलन–सेवन १।२६
पर्यन्त–समीप १।३९
पर्यन्तकान्तार–निकटवर्ती वन ९।७०
पर्वन्–पूर्णिमा ४।१६
पल्य–असख्यात वर्षका एक पल्य होता है ५।३१
पलित–बुढापेके कारण होनेवाली बालोकी
 सफेदी ४।५६
पाञ्चजन्य–कृष्णनारायणका शख २।४९
पाटल–कुछ लाल वर्ण ३।३८
पाण्ड्य–दक्षिण भारतके पाण्ड्य देशका राजा १७।५८
पाण्डुपयोधर मण्डल–सफेद मेघोका समूह,
 गौरवर्ण, स्तनमण्डल ११।४७
पाथोद–मेघ १।१९
पापर्द्धि–शिकार २१।१३३
पारसीक–पारसके घोडे ९।५०
पारीण–निपुण १।१२
पार्ष्णि–पाँवका पिछला भाग, ऐडी, सुरक्षित सेवा २।३९
पाशधर–वरुण १४।२
पिकी–कोयल २।५२
पिच्छिल–गीला ६।२३
पिनाकिन्–महादेव ११।१९
पिशुन–चुगलखोर प्र० १०
पीडित–पेला हुआ, पीडित किया हुआ १८।१८
पीत–पीले वर्णवाला, देखा हुआ २।२५
पीताम्बरधाम–विष्णुके मन्दिर, गगनचुम्बी
 महल १।४४
पीयूषमयूखमालिन्–चन्द्रमा ९।१५

पीयूषमयूख—चन्द्रमा २।२२
पीवरोच्चलहरिव्रजोद्धुर—मोटे और उछलते हुए घोडोंके समूहसे उत्कट, मोटी और ऊँची लहरोंके समूहसे युक्त ५।७१
पुङ्ख—बाणकी मूठ ५।२२
पुण्यविशेष सस्य—पुण्यविशेषरूपी धान्य १।४१
पुण्यवल्लीप्ररोह—पुण्यरूपीलताका अंकुर ८।३०
पुण्डरीकाक्ष—कमलके समान नेत्रोंवाला, विष्णु ४।३१
पुद्गल—शरीररूप पुद्गलद्रव्य २०।४२
पुनाग—श्रेष्ठ पुरुष, नागकेसरके वृक्ष ३।१७
पुरन्दर—इन्द्र ५।२८
पुरुषायितक्रिया—सभोगकी एक आसन जिसमें पुरुष नीचे और स्त्री ऊपर रहती है १२।४७
पुरुष—मनुष्य, व्याकरणमें प्रसिद्ध क्रियाका पुरुष ३।५२
पुरुहूत—इन्द्र ५।९०
पुलोमपुत्री—इन्द्राणी ७।५
पुवरप्रसू—श्रेष्ठ पुरुषको जन्म देनेवाली २।४५
पुष्पधन्वन्—कामदेव ५।४८
पुष्पवती—फूलोंसे युक्त, रजस्वला स्त्री १२।२
पुष्पवन्तौ—सूर्य और चन्द्रमा १०।४३
पूर्वगोत्रस्थिति—कुलकी पूर्ण मर्यादा-पूर्वाचल-उदयाचलपर स्थित १२।४
पूर्वपक्ष—शंकापक्ष, कृष्णपक्ष, ८।४४
पूषन्—सूर्य ४।८२
पृथु—स्थूल १।४०
पृथ्वी—विशाल ८।३२
पृथ्वी—भूमि ८।३३
पृथ्वीधर—पर्वत १०।१७
पोत—जहाज ४।५१
पौरन्दरी दिक्—पूर्वदिशा ६।१
प्रगल्भ कान्ता—प्रौढ स्त्री २।३०
प्रचेतस्—एक मुनि २।७८
प्रजाप—प्रजाकी रक्षा करनेवाला, प्रकृष्ट जापसे युक्त ४।८०
प्रणयिनीकुचकञ्चुक—स्त्रियोंके स्तनरूपी कवच ११।२२
प्रतिकर्म—सजावट १४।५३
प्रतिनिष्क्रय—बदलेका मूल्य ४।१२
प्रतीची—पश्चिम दिशा १४।५
प्रत्यय—विश्वास १२।२१
प्रत्यय—कारण ५।९
प्रत्याशम्—प्रत्येक दिशामें २०।७१
प्रत्यासत्ति—समीप २०।५३
प्रत्यारव—प्रतिध्वनि १०।५०
प्रत्यूष—प्रातःकाल १६।१३
प्रत्यार्थिनाशपिशुन—शत्रुओंके नाशको सूचित करनेवाला १।८६
प्रथितनेपथ्य—प्रसिद्ध वेषभूषासे युक्त ३।६
प्रदोष—सायकाल—रात्रिका प्रारम्भ भाग, प्रकृष्टभारी दोष-अवगुण १।२४
प्रदोषपञ्चास्य—सायकालरूपी सिंह १४।२०
प्रबन्ध—काव्य १।२३
प्रभाकर—सूर्य १८।४९
प्रभूत—बहुत अधिक ४।८९
प्रमथेश—महादेव २।४६
प्रमाणशास्त्र—न्यायशास्त्र २।३०
प्रमितिविधुर—प्रमाण-नापसे रहित, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे रहित ९।७९
प्रवण—निपुण १।२०
प्रवाल—प्रकृष्ट-श्रेष्ठ बाल-केश नये पत्ते १२।८
प्रवालहारिणी—पल्लवोंसे सुशोभित, प्रकृष्ट बालोंसे सुन्दर ३।२४
प्रसर्पद्धारावली—हिलते हुए हारों की लडी, फैलती हुई जलकी धाराओंकी पंक्ति १७।१६
प्राज्य—श्रेष्ठ २०।१
प्राभाकरी—प्रभाकर—मित्रसम्बन्धी १०।५२
प्राभृत—उपहार २।३
प्रालेयशैलेन्द्र—हिमगिरि १।८४
प्रालेयांशु—चन्द्रमा २०।३१
प्रावृषेण्य—वर्षाकालिक २०।३२
प्रासुक—निर्जन्तु २०।३५
प्राहरिक—पहरेदार १।६३
प्रेयसी—प्रियतमा ३।२२
प्रोद्धार—उठाना १।२०
प्लुष्ट—दग्ध ५।८५

[फ]

फणिचक्रवर्तिन्—शेषनाग २।११
फणीन्द्र—शेषनाग १।३३
फलित—प्रतिबिम्बित ९।१२

[व]

वन्धकी–कुलटा स्त्रियाँ १४।३
वन्धुरा–सुन्दर ऊँची-नीची ११।१५
वहलपुलक–अत्यधिक रोमाञ्चित ३।७७
वहुलहरियुत–बहुतभारी लहरोसे युक्त, अत्यधिक घोडोसे सहित ८।२६
वहुधान्यवृद्धयै–वहुतधान्यकी वृद्धिके लिए, अनेक प्रकारसे अन्य-इतर मनुष्योकी वृद्धिके लिए ११।१०
वहुलक्षणमन्दिर–अनेक लक्षणोका घर, अत्यधिक उत्सवोका स्थान ३।२०
वहीयसि–अत्यन्त विशाल ८।२४
वाह्लिक–देश विशेषके घोडे ९।५०
विडौजस्–इन्द्र ७।२

[भ]

भङ्गुरालक–घुँघुराले बाल २।५९
भद्र–हाथियोकी एक जाति ९।४९
भयान्वित–भयसे सहित, भयाकान्त्या—कान्तिसे अन्वित-सहित ३।५०
भवानीतनय–कार्तिकेय, भव-ससारमें आनीत–उपस्थापित है नय नीति जिसके द्वारा—ससारमें नीतिको उपस्थित करनेवाला ३।२१
भवित्री–होनेवाली १।१२
भारती–वाणी, सरस्वती देवी ५।४३
भुजङ्ग–साँप, गुण्डे ४।२४
भूतचतुष्टय–पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ४।७१
भूत्रयदुर्धर –त्रिलोक विजयी १।७८
भूति–सम्पत्ति, भस्म १७।५६
भूधर–पर्वत, राजा २।३
भूमीध्र–पर्वत ८।३०
भृगुपुत्र–शुक्र ८।३६
भोग–पचेन्द्रियोके विषय, शेषनागके फन १७।४५
भोगभङ्ग–फनका नाश, पचेन्द्रियोके विषयोंका अभाव ४।११
भोगिवर्ग–साँपोंका समूह, भोगी-विलासी जनोका समूह १।७२
भोगिपुरी–शेषनागकी पुरी—पातालपुरी १।६२
भोगीन्द्र–शेषनाग, भोगियोमें श्रेष्ठ १।५८
भ्रमरसंगता–भौरोसे सहित, गोलाकार फिरकी के रसको प्राप्त ३।३४

[म]

मणित–रतिकूजित—सभोगके समय होनेवाला शब्द ८।२५
मत्कोटक–मकोडा—चिंवटा ४।५३
मत्तमातङ्ग–मत्तहाथी, मत्तचाण्डाल ९।६१
मत्तवारण–मदोन्मत्त हाथी, मकानके छज्जे ३।१०
मत्तवारण–वरण्डा, मदोन्मत्त हाथी ५।७४
मदन–मैनारके वृक्ष, काम ९।८०
मदन–मैन ११।५५
मधु–वसन्त ११।७
मधु–वसन्त, मदिरा ११।२६
मधुवार–मदिरा १५।१०
मधुव्रत–भौंरा ९।२७
मधुव्रतावलि–भ्रमर पक्ति २।४३
मनसिज–कामदेव ५।१९
मन्त्रिन्–सचिव, मन्त्रवादी २।९
मन्द–हाथियोकी एकजाति ९।४९
मन्दरसानुगता–अल्पस्नेहसे युक्त १०।२४
मन्दरसानुगा–मेरुकी शिखरको प्राप्त ११।७०
मन्दरागोपहत–अल्पस्नेहसे ताडित, मन्दरगिरिसे मथित १८।१९
मन्दाक्ष–लज्जा १।८३
मन्दाक्षमन्दा–लज्जासे सकुचाती हुई १०।३६
मन्दुरा–घुडशाल १०।५७
मन्द्र–गम्भीर १६।६८
मरुत्तरुणी–देवो ७।१६
मरुत्वान्–इन्द्र १७।७
मरुद्दीपवती–गगानदी १।३१
मलयजन्मन्–चन्दन ८।१०
मलिनाम्बर–मलिन—अन्धकारसे युक्त आकाश, मैले वस्त्र २।३०
मलिम्लुच–चोर ४।४९
मलीमसास्य–कृष्णमुख १४।५६
मलीमस-दोष १।२३
मह–उत्सव ५।९०
महत्तर–कुलके वृद्धजन १८।१३

सहस्विन्–तेजस्वी, सूर्य-चन्द्रमा आदि ज्योतिषी देव २।१०
महानदीन–महासागर, महान्-बड़ा, अदीन-दीनतासे रहित २।३३
महासेन–कार्तिकेय ३।२१
महासेनावृत–बड़ी भारी सेनासे आवृत–घिरा हुआ ३।२१
महिषी–भैंसे, रानियाँ ४।३०
महीधर–पर्वत, राजा १७।५९
महीभृत्–राजा, पर्वत ९।७
महेश्वरत्व–शिवत्व, प्रभुत्व ४।१७
मातङ्ग–हाथी, चाण्डाल २।१५
मातङ्गघटा–हाथियोंका समूह ९।२१
मात्राधिक–कुछ अधिक १।११
मानवेन–हे मनुष्योंके नाथ (मानव + इन) ११।६९
मानस–मन, मानसरोवर १४।७२
मानस्तम्भ–समवसरण–तीर्थंकरकी धर्मसभाकी चारों दिशाओंमें पाये जानेवाले चार रत्नमय स्तम्भ। इनके प्रभावसे अहंकारी मनुष्योंका अहंकार नष्ट हो जाता है २०।७१
मार्ग–मृग सम्बन्धी, अथवा मृगसमूह ३।१२
मार्गण–बाण २।३१
मारुत–वायु १।३८
मित्र–सूर्य-मित्र १।७७
मिमङ्क्षु–डूबनेका इच्छुक ७।५७
मीनकेतु–कामदेव २०।४५
मीनकेतु नृपति–कामदेवरूपी राजा ५।६६
मुक्ताभरणाभिरामा–मुक्तजीवरूपी आभरणोंसे सुन्दर, मोतियोंके आभूषणोंसे सुन्दर ४।८५
मुक्तामय–मोतियोंसे निर्मित, नीरोग १।५७
मुक्तामय निग्रह–नीरोग शरीरवाला, मोतीरूप शरीरवाला २।१
मुक्ताहार–मोतियोंके हारसे युक्त, आहार जिसने छोड़ दिया है २०।३७
मुक्तोत्तमालङ्करण– जिसने उत्तम अलंकार छोड़ दिये हैं, जो मोतियोंके उत्तम अलंकार धारण किये है ४।८०
मुनि–अगस्त्य ऋषि १०।४
मुनीन्द्र–प्रचेतस् मुनि, नाट्य-शास्त्रके निर्माता भरत मुनि ३।९
मृग–हाथीकी एक जाति ९।४९
मृगनाभि–कस्तूरी २।६५
मृगमदतिलक–कस्तूरीका तिलक १३।६५
मृगाङ्क–चन्द्रमा १।६७
मेकलस्य कन्या–नर्मदा नदी १०।२८
मेघसघात–मे-मेरे अघसघात–पापोंका समूह, मेघोंका समूह (मे + अघसघात मेघसघात) १।१०
मेचक–काला ६।८
मेण्ठ–महावत १६।४५
मौलि–मस्तक १।३६

[य]

यति–मुनि, किसी छन्दके विरामका स्थान ३।१९
यदृच्छा–इच्छानुसार २।४
यन्त्रवाह–यन्त्रका चालक ४।६५
यशःसुधाकूर्चिका–कीर्तिरूपी कलईकी कुची १७।३
याप्ययान–पालकी २०।२८
यामिनीश–चन्द्रमा २।७९
यामिनीरिपु–सूर्य ५।३
यियासु–जानेका इच्छुक ४।६१
युग–रथका जुआँ १।४०
युष्मत्पदप्रयोग–व्याकरणमें प्रसिद्ध युष्मद् शब्दके योगसे, आपके चरणोंके संयोगसे ३।५२
योग–ध्यान २०।४४

[र]

रक्त–लालवर्ण, अनुरागसे युक्त २।२५
रक्तपलाश–खून और मांसको खानेवाला, लाल-लाल ढाकके वृक्षोंसे युक्त ३।२५
रक्ताक्षता–भैंसापना, लाल नेत्रोंसे युक्त पना ४।३०
रजनिवियोगिविहगम–चकवा चकवी १३।४३
रजनिविरामवत्–रात्रिके अन्त भागके समान १८।४९
रति–प्रीति, रतिनामक देवी ५।४३
रतिप्रिय–कामदेव १०।९
रत्नत्रय–सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र १।५
रत्नाण्डक–रत्नोंका कलश १।७१
रथाङ्ग–रथके पहिये १।४०
रदच्छद–ओठ ४।२२

रम्भा–रम्भा नामकी अप्सरा ६।४९
रम्भा–केलाका वृक्ष ६।४९
रस–स्नेह, गन्नेका रस ४।७
रस–स्नेह १२।१५
रसकल–रससे सुन्दर ११।६४
रसाढ्य–रससे सहित, जलसे सहित ४।५७
रसाल–आम ११।१०
राकाकामुक–पूर्णिमाका चन्द्रमा २।७७
रागापनिनीषा–लालिमाको दूर करनेकी इच्छा ४।२२
राजन्–राजा, चन्द्रमा १।२९
राजहस–श्रेष्ठ राजा, जिनकी चोच और चरण लाल रगके हो ऐसे हस २।१०
राजा–चन्द्रमा ३।३७
रीणा–खिन्न ८
रुक्माचल–सुमेरुपर्वत १।३३
रोहित–हरिण १०।४८
रौद्रभाव–महादेवत्व, क्रूरत्व १०।७

[ल]

लक्षण–व्याकरण ३।५३
लक्षण–सामुद्रिक चिह्न, व्याकरण २।६२
लक्ष्यशुद्धि–निशानकी पहचान १४।१५
लडह–सुन्दर ६।३४
लवणिम रसपूर्ण–सौन्दर्यरूपी रससे भरी १३।६८
ललामवत्–आभूषणके समान १।४३
लावण्य–खारापन, सौन्दर्य १४।८०
लेप्याकार–चित्रलिखित सा २०।३५
लोकत्रयातिथि–तीनो लोकोमें व्याप्त ३।९४
लोलशिलीमुख–चचल भौंरे २।२१
लोलन–लोटना ७।६३
लोलरुचि–बिजली ५।६२
लोला–सतृष्ण १३।७०
लोलाध्वगलोचन–पथिकोके चचल नेत्र १।५२

[व]

वज्र–हीरा, वज्र १।५७
वज्रिन्–इन्द्र १६।६८
वनसैरिभी–जगली भैंसे १०।३२
वन्ध्या–रहित १।१५
वप्र–खेत ४।१५
वप्रक्रीडा–हाथियोकी एक क्रीडा जिसमें वे दांतोसे मिट्टीके टीले या पर्वतोके किनारो-पर तिरछा प्रहार करते हैं १०।१०
वप्रावनी–खेतकी भूमि ५।८७
वप्तृ–पिता, बोनेवाला ९।१
वरतनु–सुन्दरी स्त्री ११।५३
वराक–बेचारा १।३०
वराप्सरस्–उत्कृष्ट सरोवर, उत्कृष्ट अप्सराएँ १०।५६
वरार्थिनी–कन्या ९।३९
वरोरुदेश–वर–उत्कृष्ट ऊरुदेश—जघा प्रदेश, वर श्रेष्ठ उरु—विशालदेश २।१४
वलि–वृद्धावस्थाके कारण शरीरमें पडनेवाली सिकुडनें ४।५६
वलिन–सिकुडनोसे युक्त १३।२१
वल्लकी–वीणा २।५२
वश–बाँस, कुल १७।५९
वसन्तशाखिन्–आमका वृक्ष १२।४५
वागधिदेवता–सरस्वती देवी १।१३
वागुरा–जाल १७।१२
वानायुज–वनायुज देशके घोडे ९।५०
वामन–छोटे कदका मनुष्य १।१२
वारबाण–कवच २०।५०
वारण व्रज–हाथियोका समूह २।१७
वारिधिराजकन्या–लक्ष्मी ४।२८
वारिदात्यय दिन–शरद् ऋतुके दिन ५।२१
वारुणी–पश्चिम दिशा, मदिरा १४।४
वार्तिक–सन्देश लानेवाला ६।२१
वार्घटीयन्त्रचक्र–अरहँट ८।२९
वालव्यजन–चमर ८।६
वास्तुक–बथुआकी शाक १६।७२
वाहिनी–नदी, सेना ८।१२
विकच–खिला हुआ १३।६३
विकासिकाशसकाश–फूले कासके समान ४।५७
विक्रमश्लाघ्य–पराक्रमसे प्रशसनीय, वि—गरुड पक्षीके क्रम—सचारसे श्लाघ्य—प्रशसनीय ३।२१
विग्रह–युद्ध, शरीर ३।१३
विग्रह–कलह १२।१३
विग्रहस्थ–युद्धमें स्थित, शरीरमें स्थित २०।३७

विचकिल–मालती ११।२६
विजृम्भमाण–बढ़ता हुआ २।२२
विटप–गुण्डे, वृक्षोंकी शाखाएँ ३।२४
विदग्ध–चतुर ४।६६
विधातृ–ब्रह्मा १।१९
विधि–ब्रह्मा २।५०
विधिहेमकार–विधातारूपी स्वर्णकार १४।११
विधु–चन्द्रमा २।७०
विधुन्तुद–राहु २।१९
विनिष्क्रय–बदला ४।४७
विपश्चित्–विद्वान् १।१७
विप्रिय–विरुद्ध १२।१५
विबोधवार्धि–सम्यग्ज्ञानरूपी समुद्र १।५
विभावरी–रात्रि २।३३
विभ्रम–हाव-भाव—विलास, वि—पक्षियोंका भ्रम—सचार १२।८
विभावरीजरती–रात्रिरूपी बुढ़िया स्त्री १६।१५
विरञ्चि–ब्रह्मा २।४७
विरुद्ध–प्रतिकूल, वि—पक्षियोंके द्वारा रुद्ध—घिरे हुए १।८५
विरूपाक्ष–विषम नेत्रोंवाला, शिव ४।३१
विरूपाकृति–कुरूप, रूप तथा आकृतिसे रहित १।७
विरोचन–सूर्य ५।२१
विलीनकार्तस्वर–पिघला स्वर्ण ४।१०
विलोमता–प्रतिकूलता, रोमोंका अभाव २।४०
विवर्णता–वर्णरहितता, नीचता २।२५
विशदांशुक–सफेद वस्त्रवाला, निर्मल किरणोंवाला ३।४५
विशालवंश–उत्कृष्टकुल, ऊँचा बाँस २।१
विशिखा–गली ९।५६
विशुद्धपक्षा–निर्दोष मातृपितृकुल, निर्दोषपखोंसे युक्त १७।१६
विश्वम्भरा–पृथिवी ९।९
विष–जहर, जल ४।२५
विषय–देश ४।४
विषमेषु–काम ५।२२
विषादिन्–विष खानेवाला, विषाद—खेदसे युक्त ४।१७
विसंस्थुल–विषम—ऊँचे नीचे ६।२४
विस्फुरज्जटालवाल–जिनके जटायुक्त बाल लहरा रहे थे, जिनकी क्यारीमें जड़ें प्रकट थी ९।१
विस्रम्भ–विश्वास २।२०
विहितस्थिति–मर्यादाकी रक्षा करनेवाला, बैठनेवाला ४।३७
वीतग्रन्थ–दिगम्बर मुनि २०।९०
वृजिन–पाप ८।४६
वृन्ताक स्तवक–भटो (बैंगनो)के गुच्छे-समह १६।७२
वृष–धर्म ५।६०
वृष–धर्म, बैल ८।४९
वृषप्रणयिनी–इन्द्राणी, धर्मके स्नेहसे युक्त ५।४४
वृषाढ्य–धार्मिक जन १।४८
वृषोत्तम–बैलोंमें उत्तम, धर्मसे उत्तम ४।३०
वेत्रभृत्–प्रतीहारी १७।८०
वेत्रिन्–द्वारपाल ३।१२
वैजयन्त–इन्द्रका प्रासाद १७।७
वैमानिक–विमानसे आगतदेव १७।४
वैवस्वतसोदरी–यमुना नदी १।३१
व्यञ्जिता–प्रकटिता २०।४
व्याल–सर्प ४।८१
व्यालम्बमान–नीचेकी ओर आनेवाली १।८२
व्युदस्त–ऊपर उठाया १।३४

[श]

शकलेन्दु–खण्ड चन्द्र २।५३
शतकोटि–वज्र १।८८
शबलिता–चितकबरी ११।१२
शरद्–वर्ष ४।९१
शरद्–शरद् ऋतु १।१०
शरदिता–बाणोंके द्वारा खण्डित ११।७१
शरद्दल–छह माह ४।९१
शरभ–अष्टापद जन्तु ८।१
शर्मन्–सुख १।३
शाकवाटक–शाक लगानेके खेत १६।७२
शाखानगर–बड़े नगरके निकटवर्ती छोटे नगर १।७०
शातकुम्भ कुम्भ–स्वर्ण कलश १।३६
शातकुम्भीय–स्वर्ण निर्मित ८।२८
शाद्वल–हरी घास ४।५
शातोदरी–कृशोदरी ६।१४

शारदभूरुह–सप्तपर्ण वृक्ष ११।५१
शारिका–मैना २१।१४४
शीतदीधिति–चन्द्रमा ५।६
शिखिभेकगण–मयूर और मेढकोंका समूह ११।४४
शिता–पैनी ४।७०
शिलीमुख–बाण, भौंरे १२।५९
शिलीमुख–बाण ११।२०
शिव–शृगाल १०।४४
शिवा–पार्वती, शृगाली १०।७
शिशयिषु–सोनेका इच्छुक ८।२१
शिष्ट–सभ्य पुरुष १।७
शुचि–ग्रीष्म ऋतु, पवित्र पुरुष ११।२६
शुचिरोचिष्–चन्द्रमा ५।३९
शैलपुत्री–पार्वती ४।३१
शैलेन्द्र–सुमेरु १।३६
शैलवामलूर–पर्वतरूपी वामी १०।२८
शोधनी–झाड़ू २१।१४४
शौरि–कृष्ण ८।२१
श्रवणहस्त–कान और हाथ, श्रवण और हस्त नक्षत्र ५।२३
श्रव्य–सुननेके योग्य सुन्दर १।१७
श्रुति–कान, वेद १७।६६
श्री–लक्ष्मीदेवी, शोभा ५।४३
श्रीकण्ठ–महादेव ६।६
श्रीदानवारातिविराजमान–लक्ष्मी सहित दानवाराति—कृष्णसे सुशोभित, लक्ष्मीके दान जलसे अत्यन्त सुशोभित ४।२३
श्वभ्र–नरक २०।३६
श्वसन कुरङ्ग–पवनका वाहन हरिण १६।५२
श्वित्र–कोढ ९।२६

[ष]

षष्ठोपवासी–दो दिनका उपवास करनेवाला २०।२९

[स]

सङ्गराजिर–युद्धका आँगन २।१७
सचेतस्–सहृदय १।१७
सज्जनक्रमकर–सज्जनोंके क्रम परिपाटीको करनेवाला, जिसमें नाके और मगर सज्ज हैं—तैयार हैं ऐसा समुद्र। ५।७१
सज्जालक–सत् + जालक–जिसमें अच्छे झरोखे हैं, सज्ज + अलक—जिनके बाल सजे हुए हैं ३।१०
सता ससद्–सज्जनोंकी गोष्ठी १।१०
सत्तमरावलीना–उत्तम शब्दमें लीन १०।१२
सदनाश्रय–सज्जनोंका अनाश्रय, सदनो–गृहोंका आश्रय ९।५९
सदागमाभ्यास–अच्छे आगमका अभ्यास, सदा + अग + मा + अभ्यास—निरन्तर वृक्षकी लक्ष्मीका अभ्यास १२।४४
सदोष–दोषा-रात्रिसे सहित, दोषो—अवगुणोंसे सहित ३।५०
समकर–समान टेक्ससे युक्त, मगरोंसे सहित ९।८०
समग्रशक्ति–पूर्णशक्तिसे युक्त १७।३३
समय–आचार १।१६
समया–समीप १९।१००
समिध्–युद्ध, ईंधन २।१५
समित्यर्गला–ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और प्रतिष्ठापन ये पाँच समितिरूप अर्गला, अर्गला—आगल–बेंडा २०।४०
समिद्गृह–युद्धरूपी घर २।१२
समीरणपथ–आकाश ५।१०
समुत्तेजित–तपाया हुआ १।३६
समुल्ललत्–उड़ते हुए २।२१
सम्यक्त्वपाथेय–सम्यग्दर्शनरूपी सबल-कलेवा १।३७
सरल–देवदारुका वृक्ष, सीधा मनुष्य १०।३४
सर्पाधिप–शेषनाग १।३६
सर्वदोपत्यकान्तारब्धप्रीति–सदा उपत्यकाओंके अन्तमें प्रीतिको आरब्ध करनेवाले, सर्वद-सब कुछ देनेवाले तथा अपत्य-पुत्र और कान्ता-स्त्रीसे प्रीति रखनेवाले २०।३७
सल्लेख्य लीला मय–चित्रलिखित जैसा १।५०
सवितृ–सूर्य ९।७
सवित्री–उत्पन्न करनेवाली ३।७०
सहस्राक्ष–इन्द्र ३।१४
सहस्रांशुसहस्र–हजारों सूर्य ४।८८
सक्रान्त–प्रतिबिम्बित ३।१४
सख्य–युद्ध १७।४७
समरसगत–युद्धमें उपस्थित, समरस गत—समागममें रसको प्राप्त २।२

संचारिन्–सब ओर चलनेवाले, काव्य-शास्त्रमें प्रसिद्ध रसके ३३ सचारीभाव ३।१९
संतति–समूह २।२३
सदर्भ–रचना १।१६
संयमारामचक्र–सयमरूपी बगीचेका समूह २०।३८
सयुग–युद्ध २।८
संवीत–आवृत—लिपटा हुआ ४।३४
संसद्गृह–सभागृह ९।३२
संसूत्रितार्थ–सार्थक नामवाला २।७८
सात्त्विक–उत्साह, रोमाच आदि आठ सात्त्विक भाव ३।१९
साधु–सज्जन १।१८
सामोद्भव–हाथी १०।५०
सारणिधोरणी–नहरोका समूह ४।५८
सार्थ–समूह १।५०
सालकान्त–साल-प्राकारसे सुन्दर, अलक—केशोके अन्तसे सहित २०।७३
सांशुक–किरणसहित, वस्त्रसहित १३।७१
सितकरमणि–चन्द्रकान्तमणि १०।११
सितसिचयपदात्–सफेद वस्त्रोके बहाने १३।६२
सितांशु–चन्द्रमा १।६१
सिद्धार्थसमूह–पोले सरसोका समूह, कृतकृत्य १८।१८
सिरासहस्र–हजारो झिरें-स्रोत १।७२
सीकर–जलके छीटे ३।३१
सीधु–मदिरा ४।४२
सीवन व्रण–सीनेका घाव २।५०
सुखप्रवृत्ति–सुख समाचार १८।१
सुगत–बुद्ध, सुन्दरचाल १७।६६
सुदर्शन–सुन्दर, सम्यग्दृष्टि ४।८७
सुधर्मा–देवसभा १०।५१
सुधाधुनी–अमृतवाहिनी १।१६
सुधारश्मि–चन्द्रमा २।३६
सुभग–सुन्दर ११।११
सुमध्यमा–सुन्दर कमरवाली २।३६
सुमनस्–देव ४।९३
सुमनोगण–फूलोका समूह, विद्वानोका समूह १२।४४
सुमनोरमा–देवागनाएँ, अत्यन्त सुन्दर ५।५७
सुरगुरु–बृहस्पति ८।३६
सुरभि–वसन्त ऋतु ११।२१
सुरतार्थिन्–सुरत—सभोगके इच्छुक, सुरता—देवत्वके इच्छुक २।१५
सुरसवरार्थम्–उत्तमरससे युक्त वरके लिए १६।६३
सुरसवरार्थम्–देवरूपी भीलके लिए १६।६३
सुरस्कन्धावार–देवोकी नगरी १६।८४
सुरस्रवन्ती–आकाश गगा २।४८
सुरसार्थलीला–स्वर्ग पक्षमें देव समूहकी क्रीडा, काव्य पक्षमें उत्तम रस और अर्थकी लीला १।९
सुराग–सुर + अग–सुमेरु पर्वत १८।५
सुराणा–स्तुतिसे मुखर ११।६५
सुराबला–देवागना १०।१८
सुवर्णसार–उत्तमवर्णसे श्रेष्ठ, उत्तम स्वर्णसे श्रेष्ठ ९।४४
सुवासिनी–सौभाग्यवती स्त्रियाँ १७।१०४
सुवृत्त–गोल, सदाचारसे युक्त १२।५
सुषिर–बाँसुरी आदि सछिद्र वाद्य ८।३०
सुहृत्तम–घनिष्ठमित्र, एक सदृश २।४४
सूचिमुखाग्रदुर्भेद्य–सघन १४।२९
सूतवत्–पारेकी तरह २१।२७
सूर–सूर्य ३।२८
सेना–इ—कामसे सहित ११।६५
सैंहिकेय–राहु ४।१६
सोमोद्भवा–नर्मदा नदी १०।११
सौमनस–पुष्प सम्बन्धी ११।२४
सौरभेय–बैल ५।८२
सौरभ्य–सुगन्धि १।५२
सौविदल्ल–कञ्चुकी–अन्त पुरका पहरेदार ४।३७
स्तिमित–निश्चल १।४७
स्तूप–समूह, राशि १।७४
स्थल पङ्कज–गुलाब १।५२
स्थाणु–महादेव ४।४६
स्थासक–तिलक ३।५
स्नेह–तेल, प्रीति १८।१८
स्नेहद्रुह्–प्रेमसे द्रोह करनेवाला, तेलसे द्रोह करनेवाला १।२६
स्नेहभर–तेलका समूह, प्रीतिका समूह १२।१६
स्नुही–थूबर १।१५
स्यन्दन सप्ति–रथके घोडे १४।१
स्फार–विशाल १।३३

स्फुटकुमुदपराग–फूले हुए कुमुदोकी परागसे युक्त, जिसका पृथिवीके हर्षसे अपराग—विद्वेष प्रकट है ८।२२
स्मरद्विरदन–कामरूपी हाथी ११।३८
स्मरनिषाद कशा–कामदेवरूपी भीलके कोडे ११।२३
स्मरारिभाल–शिवजीका ललाट १०।२६
स्मृतिजातधर्म–कामदेवका धनुष्, स्मृतियो द्वारा प्रणीत धर्म १७।६६
स्मेर–मन्दहास्यसे युक्त ८।३५
स्व–धन, अपने आपको २।१९
स्वर्गिन्–देव १।३
स्वर्दन्तीन्द्र–ऐरावत हाथी २०।२७
स्वीकृतानन्तवासस्–अनन्त–अत्यधिक वस्त्रको धारण करनेवाले, अनन्त–आकाशरूपी वस्त्रको धारण करने वाले–दिगम्बर २०।३७

[ह]

हतद्विजिह्व–साँपोको नष्ट करनेवाला, चुगलखोरोंको नष्ट करनेवाला १७।४५
हयानना–किन्नरी ७।६२
हरि–सिंह ५।६२
हरित–हरे वर्णवाला, इन्द्रसे २।२५
हरिचाप–इन्द्रधनुष १०।१३
हरिपीठ–सिंहासन ८।१
हरिपुरन्ध्री–इन्द्राणी ८।३५
हरिसेना–घोडोकी सेना वानरोकी सेना ९।५१
हरिराजधानी–इन्द्रकी नगरी ६।५०
हरिहयासन–इन्द्रका आसन ६।२९
हर्म्यावली–बडे-बडे महलोकी पक्ति, स्त्री १।७७
हारावचूल–हारकी लडें ४।४९
हारिहेमहरिविष्टर–स्वर्णका सुन्दर सिंहासन ५।४१
हारिदश्व–सूर्य सम्बन्धी १०।२५
हारिहिरण्यरूप–स्वर्णकी सुन्दर मालासे युक्त ७।३९
हाला–मदिरा २०।१६
हास्तिक–हाथियोका समूह ७।४१
हाहा–देवोका गवैया ६।३९
हिरण्यरेतस्–ब्रह्मा २।३१
हुतभुक्कण–अग्निके तिलगे २।१७
हुताशन–अग्नि ४।७४
हूहू–देवोका गवैया ६।३९
हृत्कक्ष–हृदयरूपी वन १४।२९
हृद्य–सुन्दर १।१५
हेति–हथियार, किरण ५।७४
हेमाण्डक प्रान्त–स्वर्ण कलशका स्थान १।६०
ह्रदिनी–नदी १३।१७
ह्रीता–लज्जितता ४।१४